इतिहास समिति प्रकाशन–३

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग

(तीर्थंकर खण्ड)

लेखक एवं निर्देशक

आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक-मण्डल

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पं० रत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म०,

पं०-शशिकान्त झा, डॉ० नरेन्द्र भानावत,

गजसिंह राठोड़, जैन न्यायतीर्थ

प्रकाशक

जैन इतिहास समिति

जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक
जैन इतिहास समिति
आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

•

•

प्रथम संस्करण १९७१

मूल्य . २५ रु०

•

आवरण
पारस भन्साली

•

मुद्रक
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड, जयपुर

विषय-सूची

प्रकाशकीय

किसी भी देश या समाज के उत्थान में उसके इतिहास का महत्त्वपूर्ण योग-
ता है। विश्व-इतिहास मे ऐसा कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नही होता
कोई देश या समाज अपने गौरवमय इतिहास को भूलकर सम्मानित रह
। जो अपने पूर्वजो के जीवनवृत्त से, उनके मूल्यवान् कृतित्व से अपरिचित
भला प्रगति के दौर मे कैसे अग्रसर हो सकता है ?

इतिहास जीवन को समुन्नत वनाने मे अमोघ वरदान है। वह हतप्रभ
मे नवजीवन का सचार कर, कायरो को शूरवीर, धर्महीन को धर्मप्रेमी
कर्त्तव्यविमुख-जनो को कर्त्तव्यपरायण वनाता है। जैन परम्परा का इति-
पने में कई सार्वभौम मूल्यों और सार्वकालिक जीवन-सत्यो को समेटे हुए
नसे प्रेरणा लेकर हम अपने वर्तमान को अतीत के सदृश उज्ज्वल तथा
वना सकते हैं।

र दुर्भाग्य से जैन परम्परा का इतिहास अव तक धुधला-सा वना हुआ
वन के हर क्षेत्र मे शक्ति और स्फूर्ति पैदा करने वाला यह समाज सम्प्रति
रवपूर्ण इतिहास विस्मृत कर सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र मे पीछे रह गया
तूरी-मृग की तरह वह अपनी सुगन्ध से स्वयं भी अनजान तथा
ान वनाये हुए है।

तिहास लिखने या तत्सम्बन्धी सामग्री को सजोकर रखने
प्राचीन सन्तो की अनोखी परम्परा और पद्धति थी। वे ग्रन्थ
सुगन्ध जितना महत्त्व देते थे, उतना प्रणेता के इतिवृत्त को नहीं
ण एक मध्यकाल की यथावत् जानकारी से हमारा समाज सर्वथा
ग नजर आता है।

ाधुनिक युग की चेतना के साथ इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति विकसित
समाज भी इससे अछूता नही रहा। कई स्फुट प्रयत्न हुए, वे उपयोगी
होते हुए भी जैन परम्परा के शृखलावद्ध इतिहास-ग्रन्थ का रूप
। ऐसे इतिहास-ग्रंथ की वर्षो से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी
परम्परा को समीचीन शोध के फलस्वरूप प्रामाणिकता के साथ वैज्ञानिक
से, उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत कर सके। सम्वत् २०२२ के
के प्रकाण्ड विद्वान् महामनीषि आचार्य श्री हस्तीमलजी

चन्दजी वाफ
हरीमलजी मूणोत
जी पगारिया,
नी भडारी, श्री
रावमलज

म सा. ने ऐसे व्यापक इतिहास-ग्रन्थ के प्रणयन का प्रभावशील उद्बो
फलस्वरूप वर्तमान जैन इतिहास समिति गठित की गई जिसके अध्यक्ष
इन्द्रनाथ मोदी, मन्त्री सोहनमल कोठारी और कोषाध्यक्ष पूनम,
मनोनीत किये गये।

इतिहास-लेखन की प्रारम्भिक प्रक्रिया के रूप मे बालोतरा में
श्री हस्तीमलजी म सा के सान्निध्य में लालभाई, दलपतभाई भारतीय
विद्या मन्दिर, अहमदाबाद के निर्देशक प० दलसुखभाई मालवणिया
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्राध्यापक डॉ० नरेन्द्र भानावत
सयुक्त परामर्श से एक सम्भाव्य रूपरेखा बनाई गई और अन्तत यह निश्च
गया कि जैन परम्परा का यह इतिहास तीन भागो मे प्रकाशित किया

(१) भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक
(२) भगवान् महावीर स्वामी के बाद से लेकर लौंकाशाह तक
(३) लौंकाशाह से लेकर आज तक

इस महत्त्वपूर्ण एव चिर अभिलषित कार्य को सम्पन्न करने के
परम्पराओ से सम्बद्ध विद्वान् मुनियो और लेखको से प्रामाणिक
मार्गदर्शन लेने का हमारा विनम्र प्रयत्न रहा, पत्राचार भी किया पर
से इस दिशा मे हम आगे नही बढ सके।

पर आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा मनोयोगपूर्वक इसी कार्य मे
ऐतिहासिक तथ्यो के सकलन, गवेषणापूर्ण अन्वेषणा और यथावत् आ
लिये आचार्यश्री ने राजस्थान का ग्रामानुग्राम विहार करते हुये गुजरात
प्रस्थान किया और वहा के पाटन, सिद्धपुर, पालनपुर, कलोल, खेड
पचम औदा, अहमदाबाद आदि नगरो के ज्ञान-भडारो का निरीक्ष
लिखित ग्रन्थो का अवलोकन किया।

यात्रा मे जो महत्त्वपूर्ण पट्टावलिया सामने आईं, डॉ० नरेन्द्र
दन मे उनका प्रकाशन इतिहास समिति ने "पट्टावली प्रबन्ध स
किया है। आचार्यश्री की यह प्रबल धारणा रही कि सरल सुबोध शैल
परम्परा की एक सक्षिप्त झाकी सामान्य पाठको के लिये भी प्रस्तुत
यह कार्य भी आचार्यश्री द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उन्होने जैन परम्परा
काव्यबद्ध रूप प्रदान किया। श्री गजसिंह राठौड के सम्पादकत्व मे इस
प्रकाशन भी "जैन आचार्य चरितावली" नाम से इतिहास समिति कर चु

आचार्यश्री के अहमदाबाद चातुर्मास मे इतिहास के प्रथम भाग
कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ। आज जिस रूप मे यह ग्रन्थ आपके समक्ष
उसके मूल मे भी आचार्यश्री हस्तीमलजी म सा का विशिष्ट चिन्तन और
निर्देशन रहा है। इसके प्रणयन मे आपने जो अनवरत श्रम और अ
किया वह कल्पनातीत है। आचार्यश्रीजी के प्रति अपना आभार प्रकट

रे कोष मे शब्द ही नही है। पडित-रत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म और श्री देवेन्द्र मुनिजी का ग्रन्थ-सम्पादन मे पूरा सक्रिय सहयोग रहा है, ये हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करते है। डॉ० नरेन्द्र भानावत, कान्तजी झा व श्री गजसिहजी राठोड, न्यायतीर्थ ने हमारा निवेदन कर ग्रन्थ सम्पादन मे जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उसके लिये हम ह अत्यन्त आभारी हैं। श्री गजसिहजी ने पूरा समय देकर ग्रन्थ को रूप देने मे विशेष तत्परता दिखलाई, जिसके लिये वे हमारी वधाई के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान् श्री अगरचन्दजी नाहटा से हमे कई उपयोगी ौर भोगीलाल साडेसरा से सहायता एव सहयोग प्राप्त होते रहे। उनके हम अपना आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझते है।

ादरणीय श्री देवेन्द्र मुनिजी ने अपनी सुन्दर शैली मे इस ग्रन्थ के लिए लिखकर हमे विशेष रूप से अनुगृहीत किया है। अनुक्रमणिका तैयार श्रीमती शान्ता भानावत, एम०ए० का, प्रूफ सशोधन मे श्री प्रेमराजजी - साहित्य मत्री सम्यक् ज्ञान प्रचारक मडल का, प्रतिलेखन आदि मे ालजी गान्धी, श्री चन्दूलाल केशवलाल मेहता, श्री सरदारमलजी सांड, चन्दजी मूणोत आदि का वडा स्नेहपूर्ण सहयोग मिलता रहा। समिति ध्यक्ष श्री पूनमचन्दजी वडेर, श्रीचन्दजी गोलेछा, श्री सोहननाथजी मोदी, मलजी हीरावत, श्री इन्द्रचन्दजी हीरावत, श्री धनराजजी चौपड़ा, चन्दजी भंडारी, श्री घासीलालजी कोठारी, श्री खेलशकर दुर्लभजी, रहमलजी वम्व, श्री उमरावमलजी सेठ, श्री जतनराजजी मेहता, ावमलजी ढड्ढा, श्री केशरीमलजी सुराणा, श्री पृथ्वीराजजी कवाड, ीमलजी सिघवी, श्री भीकमचन्दजी चौधरी, श्री प्यारचन्दजी रांका, लालजी पालड़ेचा, श्री भवरलालजी गोठी, श्री माणकचन्दजी नाहर, चन्दजी मेहता, श्री जालमचन्दजी रिखबचन्दजी बाफना, श्री पुखराजजी श्री चंपालालजी कोठारी, श्री जौहरीमलजी मूणोत, श्री सिरहमलजी ा, श्री सुकनराजजी भोपालचन्दजी पगारिया, श्री कालुरामजी ाजी मुथा, श्री मुकनचन्दजी खुशालचन्दजी भंडारी, श्री उगरसिहजी वोथरा, मलजी उदयराजजी, श्री सरदारमलजी उमरावमलजी ढड्ढा, श्री जड़ाव- माणकचन्दजी वैताला, श्रीमती चकावाई, श्री जसराजजी गोलेछा, ावचन्दजी हजारीमलजी वोथरा, श्री मोहनलालजी दुग्गड, श्री छोटमलजी श्री रतिभाई, कान्तिभाई, जयपुर श्री सघ, मद्रास श्री सघ, अहमदाबाद , वालोतरा श्रीसघ, आचार्यश्री विनयचन्द ज्ञान भंडार तथा प्रत्यक्ष- र रूप से सहायता करने वाले, सभी सदस्यों ने समय-समय पर रुचि लेकर तेहासिक कार्य को सम्पन्न करने मे जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके लिये वसर पर हम उन सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहते स ग्रन्थ की छपाई के कार्य मे जयपुर प्रिण्टर्स के सचालक श्री सोहनलालजी प्रेस के अधिकारियो, विशेषत. सर्वश्री रामाधारजी तिवारी, राधेश्यामजी,

सूरजप्रकाशजी शर्मा एव दौलतरामजी का पूर्ण सहयोग रहा, अत: स
ओर से उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

आशा है जैन धर्म के मौलिक इतिहास का यह प्रथम भाग संत
विद्वानो, शोधकर्त्ताओ और सामान्य पाठको के लिए परितोपकर सिद्ध ह

अन्त में हम अपने हृदय के अन्तःस्तल से आह्लादित ही नही अपि
आपको परम सौभाग्यशाली अनुभव करते है कि परम श्रद्धेय आ
श्री हस्तीमलजी म सा के वर्णनातीत परिश्रम तथा कौशलपूर्ण नि
फलस्वरूप हम इस ऐतिहासिक रचना को भगवान् महावीर की २
निर्वाण-जयन्ती के पुण्यावसर पर प्रकाशित करने मे सफल हुए है। हमे
नही वरन् प्रबल विश्वास है कि हमारा यह प्रयास सुविज्ञ पाठकजनो
महान् एव पुनीत अवसर के उपलक्ष मे एक विनम्र भेंट के रूप मे स्वीकार्य

इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग के यथाशीघ्र प्रस्तुतीकरण मे भी हमें
पूर्ववत् सहयोग मिलता रहेगा, इसी विश्वास के साथ।

इन्द्रनाथ मोदी
अध्यक्ष,
जैन इतिहास समिति, जयपुर

सोहनमल क
मन्त्री,
जैन इतिहास समि

अपनी बात

[आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज]

धार्मिक इतिहास का आकर्षण

किसी भी देश, जाति, धर्म अथवा व्यक्ति के पूर्वकालीन इतिवृत्त को इतिहास कहा जाता है। उसके पीछे विशिष्ट पुरुषो की स्मृति भी हेतु होती है। इतिहास-लेखन के पीछे मुख्य भावना होती है – महापुरुषो की महिमा प्रकट करते हुए भावी पीढी को तदनुकूल आचरण करने एव अनुगमन करने की प्रेरणा प्रदान करना।

सामान्यत: जिस प्रकार देश, जाति और व्यक्तियों के विविध इतिहास ्चुर मात्रा मे उपलब्ध होते है उस प्रकार धार्मिक इतिहासो की उपलब्धि दृष्टि-ोचर नही होती। इसके परिणामस्वरूप केवल जनसाधारण ही नही अपितु ाच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भी अधिकांशत यही समझ रहे है कि जैन धर्म का कोई ाचीन प्रामाणिक इतिहास आज उपलब्ध नही है।

परंतु वास्तव मे ऐसी वात नही है। जैन धर्म के इतिहास-ग्रन्थ यद्यपि रकाल से उपलब्ध हैं – और उनमें आदिकाल से प्राय. सभी प्रमुख धार्मिक ्नाएं उल्लिखित हैं, तथापि ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध (सिलसिलेवार) ं रुचिकर आलेखन किसी एक ग्रथ के रूप मे नही होने, तथा ऐतिहासिक मग्रीपूर्ण ग्रन्थ प्राकृत एवं सस्कृत भापा मे आवद्ध होने के कारण वे सर्व-धारण के लिए सहसा वोधगम्य, आकर्षण के केन्द्र एवं सर्वप्रिय नही ा सके।

यह मानव की दुर्वलता है कि वह प्राय: भोग एवं भोग्य सामग्री की ओर हज ही आकृष्ट हो जाता है अत ससार के दृश्य, मोहक पदार्थ और मानवीय वन के स्थूल व्यवहारो के प्रति जैसा पाठकों का आकर्षण होता है वैसा धर्म थवा धार्मिक इतिहास के प्रति नही होता। क्योकि धर्म एव धार्मिक इतिहास मुख्यत त्याग-तप की वात होती है।

ा धर्म का इतिहास

धर्म का स्वतन्त्र इतिहास नही होता। सम्यक् विचार व आचार रूप धर्म ृय की वस्तु है, जिसका कव कहाँ और कैसे उदय, विकास अथवा ह्रास हुआ ा कैसे विनाश होगा यह अतिशय ज्ञानी के अतिरिक्त किसी को ज्ञात नही।

ऐसी स्थिति मे उसका इतिहास कैसे लिखा जाय यह समस्या है। अत. इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म धर्म का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये धार्मिक महापुरुषो का जीवन और उनका उपदेश ही धर्म का परिचायक है। धर्म का आविर्भाव, तिरोभाव एव विकास मनुष्य आदि धार्मिक जीवो मे ही होता है क्योकि धर्म बिना धर्मी अर्थात् गुणी के नही होता। अत. धार्मिक मानवो का इतिहास ही धर्म का इतिहास है। धार्मिक पुरुपो मे आचार-विचार, उनके देश मे प्रचार एव प्रसार तथा विस्तार का इतिवृत्त ही धर्म का इतिहास है।

सम्यक् विचार और सम्यक् आचार से रागादि दोपों को जीतने का मार्ग ही जैन धर्म है। वह किसी जाति या देश-विशेष का नही, वह तो मानवमात्र के लिए शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग है। धर्म का अस्तित्व कब से है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकारो ने बतलाया है कि जैसे पचास्तिकायात्मक लोक सदा-काल से है उसी प्रकार आचारांग आदि द्वादशागी गणिपिटक रूप सम्यक्श्रुत भी अनादि है।

भारतवर्ष जैसे क्षेत्र एव धर्म को मानने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा से भोगयुग के पश्चात् धर्म का आदिकाल और अवसर्पिणी के दु.पमकाल के अन्त में धर्म का विच्छेद होने से इसका अन्त भी कहा जा सकता है। इस उद्भव और अवसान के मध्य की अवधि का धार्मिक इतिवृत्त ही धर्म का पूर्ण इतिहास है।

प्रस्तुत इतिहास भारतवर्प और इस अवसर्पिणीकाल की दृष्टि से है अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरक के अन्त मे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋपभदेव हुए और उन्ही से देश मे विधिपूर्वक श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का प्रादुर्भाव हु अतः क्षेत्र तथा काल की दृष्टि से यही जैन धर्म का आदिकाल कहा गया है। के अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायो ने भी अपने-अपने धर्म को प्राचीन बतलाने प्रयत्न किया है पर जैन-सघ की तरह अन्यत्र कही भी धर्म के आदिकाल लेकर उनके प्रचार, प्रसार एव विस्तार की आचार्य-परम्परा का क्रमबद्ध नि नही मिलता। प्राय वहा राज्य-परम्परा का ही प्रमुखता से उल्लेख मिलता है

ग्रन्थ का नामकरण

जैन शास्त्रो के अनुसार इस अवसर्पिणीकाल मे २४ तीर्थंकर, १२ च वर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव – ये ६३ उत्तम पुरुप हुए प्रकृति के सहज नियमानुसार मानव समाज के शारीरिक, मानसिक आदि ऐ और आध्यात्मिक सरक्षण, सगोपन एवं संवर्द्धन के लिए लोकनायक धर्मनायक दोनो का नेतृत्व आवश्यक माना गया है।

चक्री या अर्द्धचक्री जहा मानव-समाज मे व्याप्त सघर्प और पापाचार दण्डभय से दमन करते एव जनता को नीति-मार्ग पर आरूढ करते है वहा ध नायक-तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करके उपदेशो द्वारा लोगो का हृदय-परिव करते हुए जन-जन के मनमे पाप के प्रति घृणा उत्पन्न करते है। दण्ड-नीति

का दमन मात्र होता है पर धर्म-नीति ज्ञानामृत से दोषो को सदा के लिए शान्त ही नही करती अपितु दोषो के प्रादुर्भाव के द्वारो को अवरुद्ध है।

धर्मनायक तीर्थंकर मानव के अन्तर्मन मे सोई हुई आत्मशक्ति को जागृत और उसे विश्वास दिलाते हैं कि मानव ! तू ही अपने सुख-दुख का निर्माता है, मे किसी को शत्रु या मित्र समझ कर व्यर्थ के रागद्वेष से आकुल-ल मत बन।

ऐसे धर्मोत्तम महापुरुष तीर्थंकरो का प्राचीन ग्रन्थो के आधार से यहां परिचय दिया गया है अत इस ग्रन्थ का नाम 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' रखा गया है।

इतिहास का मूलाधार

यो तो इतिहास-लेखन मे प्राय सभी प्राचीन ग्रन्थ आधारभूत होते हैं पर उन सब का मूलभूत आधार दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के पांच भेदो मे से चौथा अनुयोग है, जिसे वस्तुत जैन धर्म के इतिहास का मूल स्रोत या उद्भव स्थान हा जा सकता है। समवायाग और नन्दीसूत्र मे उल्लिखित हुण्डी के अनुसार थमानुयोग मे (१) तीर्थकरो के पूर्वभव, (२) देवलोक मे उत्पत्ति, (३) आयु, ४) च्यवन, (५) जन्म, (६) अभिषेक, (७) राज्यश्री, (८) मुनिदीक्षा, ९) उग्रतप, (१०) केवल ज्ञानोत्पत्ति, (११) प्रथम प्रवचन, (१२) शिष्य, १३) गण और गणधर, (१४) आर्याप्रवर्तिनी, (१५) चतुर्विध संघ का परि-ाण, (१६) केवलज्ञानी, (१७) मन.पर्यवज्ञानी, (१८) अवधिज्ञानी, १९) समस्त श्रुतज्ञानी – द्वादशांगी, (२०) वादी, (२१) अनुत्तरोपपात वाले, २२) उत्तरवैक्रिय वाले, (२३) सिद्धगति को प्राप्त होने वाले, (२४) जैसे सिद्धिमार्ग बतलाया और (२५) पादोपगमन मे जितने भक्त का तप कर अन्तक्रिया की उसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भाव आबद्ध होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

मूल प्रथमानुयोग की तरह गण्डिकानुयोग मे कुलकर, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, दशार्ह, बलदेव, वासुदेव, गणधर और भद्रबाहु गाण्डिका का विचार है। उसमे हरिवंश तथा उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणीकाल का चित्रण भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुयोग रूप दृष्टिवाद मे इतिहास का सम्पूर्ण मूल बीज निहित कर दिया गया था।

इन उपरोक्त उल्लेखो से निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म का सम्पूर्ण, सर्वागपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास बारहवे अंग दृष्टिवाद मे विद्य-मान था। ऐसी दशा मे डॉ० हर्मन, जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानो का यह अभिमत कि रामायण की कथा जैनो के मूल आगम मे नही है, वह वाल्मिकीय

रामायण अथवा अन्य हिन्दू ग्रन्थो से उधार ली गई है – नितान्त भ्रान्तिपूर्ण
निराधार सिद्ध होता है। द्रया-

प्रथमानुयोग धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना गया है। जै रूपो
के इतिहास मे जितने भी ज्ञात, अज्ञात, उपलव्ध तथा अनुपलव्ध ग्रन्थ हैं सर्व,
मूल स्रोत अथवा आधार प्रथमानुयोग ही रहा है। आज श्वेताम्वर एवं दि धर्म
परम्परा के आगम-ग्रन्थो, समवायाग, नन्दी, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्यु स ही
जो इतिहास की यत्र-तत्र झाकी मिलती है वह सव प्रथमानुयोग की ही देन चार

कालप्रभावजन्य क्रमिक स्मृति-शैथिल्य के कारण शनै. शनै च-
पूर्वो के साथ-साथ इतिहास का अक्षय भण्डार प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयो
रूप वह शास्त्र आज विलुप्त हो गया। वही हमारा मूलावार हैं।

इतिहास-लेखन में पूर्वाचार्यो का उपकार

प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग के विलुप्त हो जाने के वाद जैन इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय एकमात्र पूर्वाचार्यों की श्रुतसेवा को है। इस विषय मे उन्होने जो योगदान दिया है वह कभी भुलाया नही जा सकता। आगमाश्रित निर्यु क्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका आदि ग्रन्थो के माध्यम से उन्होने जो उपकार किया है वह आज के इतिहास-गवेशको के लिए वड़ा ही सहायक सिद्ध हो रहा है।

पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत नही की होती तो आज हम सर्वथा अन्धकार में रहते अतः यहा उन कतिपय ग्रन्थकारों और लेखको का कृतज्ञतावश स्मरण करना आवश्यक समझते हैं।

(१) उनमे सर्वप्रथम आचार्य भद्रवाहु है जिन्होने दशवैकालिक आवश्यक आदि १० सूत्रो पर निर्यु क्ति की रचना की। आपका रचनाकाल वीर संवत् १७० से पहले का है।

(२) जिनदास गणी महत्तर। आपने आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथो की रचना की। आपका रचनाकाल ई० सन् ६००–६५० है।

(३) अगस्त्य सिंह ने दशवैकालिक सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताव्दी (वल्लभी-वाचना से २००-३०० वर्ष पूर्व का) है।

(४) सघदास गणी ने वृहत्कल्प भाष्य और वसुदेव हिण्डी की रचना की। आपका रचनाकाल ई० सन् ६०९ है।

(५) जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना की आपका रचनाकाल विक्रम स ६४५ है।

(६) विमळ सूरि ने पउमचरिय आदि इतिहास ग्रन्थो की रचना की आपका रचनाकाल विक्रम सवत् ६० है।

(७) यतिवृषभ ने तिळोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थो की रचना की। आपका
ल ई० चौथी शताब्दी के आसपास माना गया है।

(८) जिनसेन ने ई० ९ वी शताब्दी के प्रारम्भकाल मे आदि पुराण और
पुराण की रचना की।

(९) आचार्य गुणभद्र ने शक सम्वत् ८२० मे उत्तर पुराण की
की।

(१०) रविषेण ने ई० सन् ६७८ मे पद्मपुराण की रचना की।

(११) आचार्य शीळाक ने ई० सन् ८६८ मे चउवन महापुरिसचरियम्
ना की।

(१२) पुष्पदन्त ने विक्रम सम्वत् १०१६ से १०२२ में अपभ्रश भाषा के
ाण नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की।

(१३) भद्रेश्वर ने ईसा की ११वी शताव्दी मे कहावली ग्रन्थ की
की।

(१४) आचार्य हेमचन्द्र ने ई० स १२२६ से १२२९ मे त्रिषष्टि-
पुरुषचरित्र नामक इतिहास-ग्रंथ की रचना की।

(१५) धर्मसागर गणी ने तपागच्छ-पट्टावली सूत्रवृत्ति नामक (प्राकृत-
इतिहास-ग्रन्थ की रचना वि स. १६४६ मे की।

इन संस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश भापा के इतिहास-ग्रन्थो के अतिरिक्त
ज्ञात और अगणित अज्ञात विद्वानो ने जैन इतिहास के सम्बन्ध मे हिन्दी,
ती आदि प्रान्तीय भापाओं मे रचनायें की है। जागरूक सन्त-समाज ने
स्थाविरावळियां, सैकडो पट्टावळियां आदि लिखकर भी इतिहास की
द्ध करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी है। उन सबके प्रति हम
से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

स की विश्वसनीयता

उपरोक्त पर्यालोचन के वाद यह कहना किंचित्मात्र भी अतिशयोक्तिपूर्ण
ोगा कि हमारा जैन-इतिहास वहुत गहरी सुदृढ नीव पर खड़ा है।
धर-उधर की किवदन्ती या कल्पना के आधार से नही पर प्रामाणिक
ार्यो की अविरळ परम्परा से प्राप्त है। अतः इसकी विश्वसनीयता मे
त्र भी शका की गुजाइश नही रहती। जैसाकि आचार्य विमळसूरि ने
पउमचरियम् ग्रन्थ मे लिखा है –

> नामावलिय निवद्ध आयरियपरम्परागय सव्व।
> वोच्छामि पउम चरिय, अहाणुपुव्वि समासेण॥

अर्थात् आचार्य परम्परागत सव इतिहास जो नामावळी मे निवद्ध है वह
मे कहूंगा। उन्होने फिर कहा है –

परम्परा से होती हुई पूर्व-ग्रन्थो के अर्थ की हानि को काल क
समझ कर विद्वज्जनो को खिन्न नही होना चाहिये । यथा —

एवं परम्पराए परिहाणि पुव्वगथ अत्थाण ।
नाऊण काळभावं न रुसियव्व वुहजणेणं ।।

इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन समय मे नामावली के रूप मे
रूप से इतिहास को सुरक्षित रखने की पद्धति बहुमान्य थी । धर्म-संप्रव
तरह राजवंशो मे भी इस प्रकार इतिहास को सुरक्षित रखने का क्रम
था । जैसा कि बीकानेर राज्य के राजवंश की एक ऐतिहासिक उक्ति रे
होता है :-

बीको नरो लूणसी जैतो कलो राय ।
दळपत सूरो करणसी अनूप सरूप सुजाय ।।
जोरो गजो राजसी प्रतापो सूरत्त ।
रतनसी सरदारसी, डूंग गग महिपत्त ।।

इस प्रकार नामावलि-निबद्ध इतिहास के प्राचीन एव प्रामाणिक
से इसकी विश्वसनीयता मे कोई शका नही रहती ।

तीर्थंकर और केवली

केवली और तीर्थंकरो मे समानता होते हुए भी अतर है । घाती-क
क्षय कर केवलज्ञान का उपार्जन करने वाले केवली कहलाते है । तीर्थंकर
तरह उनमें केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है फिर भी वे तीर्थंकर
कहलाते ।

ऋषभ देव से वर्धमान-महावीर तक चौवीसो अरिहत केवली
साथ-साथ तीर्थंकर भी है । केवली और तीर्थंकर मे वीतरागता एवं ज्ञा
समानता होते हुए भी अन्तर है । तीर्थंकर स्वकल्याण के साथ परकल्या
भी विशिष्ट योग्यता रखते है । वे त्रिजगत् के उद्धारक होते हैं । उनक
असुर, मानव, पशु, पक्षी, सब पर उपकार होता है । उनकी कई बाते
होती है । वे जन्म से ही कुछ विलक्षणता लिए होते हैं जो केवली
होती । जैसे तीर्थंकर के शरीर पर १००८ लक्षण होते हैं[1] केवली के
तीर्थंकर की तरह केवली मे विशिष्ट वागतिशय और नरेन्द्र-देवेन्द्र कृत पूजा
नही होता । उनमे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त
होता है पर महाप्रातिहार्य नही होते । तीर्थंकर की यह खास विशेषता
उनके साथ (१) अशोक वृक्ष, (२) सुरकृत पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य
(४) चामर, (५) स्फटिक सिंहासन, (६) भामण्डल-प्रभामण्डल,
देव-दुन्दुभि और (८) छत्रत्रय – ये अतिशय होते हैं । इनको प्रातिहार्य कहत

[1] अट्ठसहस्सलक्खणधरो " ',उत्तराध्ययन २२।५

स्पंग्ग तीर्थंकर से बारह गुना ऊंचा अशोक वृक्ष होता है। इसके अतिरिक्त की ३४ अतिशयमयी विशेषतायें होती हैं। उनकी वाणी भी ३५ विशिष्ट होती है। सामान्य केवली के ये अतिशय नहीं होते।

ां का बल

तीर्थंकर धर्मतीर्थ के संस्थापक और चालक होते हैं अत: उनका बलवीर्य ही अमित होता है। नरेन्द्र-चक्रवर्ती ही नही सुरेन्द्र से भी तीर्थंकर का नन्त गुना अधिक माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ३५६ पर तीर्थकर को तुलना से समझाया गया है। विशेषावश्यक भाष्य और निर्युक्ति में प्रकारान्तर से भी बतलाया है। वसुदेव से द्विगुणित बल चक्रवर्ती का क्रवर्ती से अपरिमित बल तीर्थंकर का कहा गया है। वहां उदाहरणपूर्वक गया है कि :–

कूप तट पर बैठे हुए वासुदेव को साकलो से बाधकर सोलह हजार राजा सेनाओ के साथ पूरी शक्ति लगाकर खीचे तब भी वह लीला से बैठे खाना है, तिलमात्र भी हिले-डुले नही।[1]

तीर्थंकरो का बल इन्द्रो को भी इसलिए हरा देता है कि उनमे तन-बल ग-साथ अतुल मनोबल और अदम्य आत्मबल होता है। कथा-साहित्य मे त शिशु महावीर द्वारा चरणागुष्ठ से सुमेरु पर्वत को प्रकम्पित कर देने त इसीलिए अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा असम्भव नही कही जा सकती क्योकि र के अतुल बल के समक्ष ऐसी घटनाए साधारण समझनी चाहिये। ा, सयम और तप रूप धर्म मे जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव स्कार करते और सेवा करते रहते हैं' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थंकर भगवान् व-देवेन्द्रो द्वारा सेवित रहते हैं।

लस रायसहस्सा, सव्व-बलेण तु सकलनिवद्ध।
छति वासुदेवं, अगडतडम्मि ठिय सत ॥ ७० ॥

तूण संकल सो, वाम हत्येण अछमाणाण।
ुंजिज्ज विलिपिज्ज व, महुमण ते न चाएति ॥ ७१ ॥

ि सोला बत्तीसा, सव्व बलेण तु सकलनिवद्ध।
छति चक्कवट्टि, अगडतडम्मि ठिय सत ॥ ७२ ॥

तूण सकल सो, वामगहत्थेण अछमाणाण।
ुंजिज्ज विलिपिज्ज व, चक्कहर ते न चायन्ति ॥ ७३ ॥

केसवस्स बल, त दुगुण होइ चक्कवट्टिस्स।
तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥ ७४ ॥

[विशेषावश्यक भाष्य, मूल, पृ ५७-५८, गा ७०-७१]

तीर्थंकर और क्षत्रिय-कुल

तीर्थंकरो ने साधना और सिद्धान्त मे सर्वत्र गुण और तप की वतलाई है,[1] जाति या कुल की प्रधानता नही मानी। ऐसी स्थिति होता है कि तीर्थंकरो का जन्म क्षात्र-कुलो मे ही क्यो माना गया? व जातिवाद की गन्ध नही है? जैन शास्त्रानुसार जाति मे जन्म की गुणकर्म की प्रधानता मानी गई है। जैसी कि उक्ति प्रसिद्ध है—

'कम्मुणा वंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।' [उत्त०

'ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार होता है। ब्राह्मण—ब्रह्मचर्य सतोष-प्रधान भिक्षाजीवी होता है जवकि क्षत्रिय ओजस्वी, तेजस्वी, र प्रधान प्रभावशाली होता है। धर्म-शासन के संचालन और रक्षण मे अ सत्य शीलादि गुणो के साथ-साथ ओजस्विता की भी परम आवश्यकत है अन्यथा दुर्वल की दया के समान साधारण जन-मन पर धर्म का प्रभ होगा। ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शान्त, सुशील एवं मृदु स्वभाव वाला है तेज-प्रधान नही। उसके द्वारा किया गया अहिंसा-प्रचार प्रभावोत्पाद होता। क्षात्र-तेज वाला शस्त्रास्त्र-सम्पन्न व्यक्ति राज्य-वैभव को साह्ने त्यागकर अहिसा की बात करता है तो अवश्य उसका प्रभाव होता है क कारण है कि जातिवाद से दूर रहकर भी जैन धर्म ने तीर्थंकरों का क्षात्र ही जन्म मान्य किया किया है।[2] दरिद्र, भिक्षुक-कुल, कृपण-कुल आ खास निषेध किया है। ऋषभदेव से महावीर तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय-र विमल गगन में उदय पाकर ससार को विमल ज्योति से चमकाते कठोर से कठोर कर्म काटने मे भी उन्होने अपने तपोवल से सिद्धि प्राप्त की

तीर्थंकर की स्वाश्रित साधना

देव-देवेन्द्रो से पूजित होकर भी तीर्थंकर अपनी तप-साधना मे स्वा होते हैं। वे किसी देव-दानव या मानव का कभी सहारा नही चाहते। पार्श्वनाथ और महावीर की साधना में धरणेन्द्र, सिद्धार्थ देव और शक्र सेवा मे आकर उपसर्ग-दाताओ को हटाने का उल्लेख आता है पर पा या महावीर ने मारणान्तिक कष्टो मे भी उनकी साहाय्य की इच्छा नही जव भी श्रमण भगवान् महावीर से देवेन्द्र ने निवेदन किया—"भगवन्! पर भयकर कष्ट और उपसर्ग आने वाले हैं। आज्ञा हो तो मैं आपकी से रहकर कष्ट निवारण करना चाहता हू।"

उत्तर मे प्रभु ने यही कहा—"शक्र! स्वय द्वारा वाधे हुये कर्म स्व ही काटने होते है। दूसरो की सहायता से फलभोग का समय आगे-प

[1] तवो विसेसो, न जाइ विसेस कोइ। उ १२।३७

[2] देखें कल्पसूत्र।

ा पर कर्म नही कटते । तीर्थंकर स्वयं ही कर्म काट कर अरिहंत-पद प्राप्त करते हैं।[1] इसी भाव से प्रभु ने शूलपाणि यक्ष के उपसर्ग और एक रात मे कृत बीस उपसर्गों को समतापूर्वक सहन किया।[2] प्रभु यदि मन में भी ऐसा क्यों हो रहा है तो इन्द्र सेवा में तैयार था पर प्रभु अडोल रहे।

प्रत्येक तीर्थंकर के शासन-रक्षक यक्ष, यक्षिणी[3] होते है, जो समय-समय शासन की संकट से रक्षा और तीर्थंकरों के भक्तो की इच्छा पूर्ण करते हैं। तीर्थंकर भगवान् अपने कष्ट-निवारणार्थ उन्हे भी याद नही

इसके अतिरिक्त भी जब भगवान् महावीर ने देखा कि परिचित भूमि में न पर कष्ट और परीषह नही आने देते है तब अपने कर्मों को काटने हेतु भूमि, शुभ्रभूमि जैसे अनार्य-खण्ड मे चले गये जहां कोई भी परिचित न कारण उनकी सहाय या कष्ट-निवारण न कर सके। वहा कैसे-कैसे , यह विहारचर्या में पढें।[4]

इस प्रकार की अपनी कठोरतम दिनचर्या एव जीवनचर्या से तीर्थंकरो ने को यह पाठ पढाया कि प्रत्येक व्यक्ति को साहस के साथ अपने कर्मो को मे जुट जाना चाहिये। फलभोग के समय घबराकर भागना वीरता नहीं। फल के भोगने में भी धीरता के साथ डटे रहना और शुभ ध्यान से कर्म ा ही वीरत्व है। यही शान्ति का मार्ग है।

ों का अंतरकाल

एक तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर के निर्वाण तक के काल -प्राप्ति का अन्तरकाल कहते है। एक तीर्थंकर के जन्म से दूसरे तीर्थंकर तक और एक की केवलोत्पत्ति से दूसरे की केवलोत्पत्ति तक का अन्तर-ा होता है पर यह निर्वाणकाल की अपेक्षा अन्तरकाल है। प्रवचन सारो-र तिलोयपण्णत्ती मे इसी दृष्टि से तीर्थंकरो का अन्तरकाल बताया गया चन सारोद्धार की टीका एव अर्थ मे स्पष्ट रूप से कहा है कि समुत्पन्न का न्मना नही करके 'सिद्धत्वेन समुत्पन्नः' अर्थात् सिद्ध हुए करना चाहिये। रावर काल की गणना बैठ सकती है। तीर्थंकरो के अन्तरकालो मे उनके वर्ती आचार्य और स्थविर तीर्थंकर-वाणी के आधार पर धर्म-तीर्थ का सचालन करते है। आत्मार्थी साधक शास्त्रानुकूल आचरण कर सिद्धि

---

[1] हाम का पृ ३६३

[2] ,, ३८८-८९

[3] समवायाग

[4] तिलोयपण्णत्ती ४/ ९३४-३६/ ९३७-३९

[5] ,, ३८१-८२

भी प्राप्त करते है। प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक
अन्तर और शान्तिनाथ से महावीर तक के ८ उन कुल १६ अंतरो में संघ
का विच्छेद नही हुआ। पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के सात
धर्मतीर्थ का विच्छेद हो गया।

सभव है उस समय कोई खास राजनैतिक या सामाजिक सघर्ष से
जैन धर्म पर बडा सकट आया हो। आचार्य के अनुसार सुविधिनाथ के
और शीतलनाथ से पूर्व इतना विषम समय था कि लोग जैन धर्म की वा
मे भी भय खाते थे। कोई धर्म-श्रवण के लिये भी तैयार नही होता।

इस प्रकार चतुर्विध सघ मे नई वृद्धि नही होने से तीर्थ का वि
गया। भरतकालीन ब्राह्मण जो धर्मच्युत हो गये थे उनका प्रभुत्व बढ़
ब्राह्मणो को अन्न-धन-स्वर्णादि का दान करना ही धर्म का मुख्य अंग मा
लगा। भ० शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग मे राजा मेघरथ भी इस
से प्रभावित हुआ और उसने मंत्री की वीतराग-मार्गानुकूल सलाह को भी
कार कर दिया।[1]

सभव है शीतलनाथ के शासनकाल की तरह अन्य सात तीर्थंकरों
मे भी ऐसे ही किसी विशेष कारण से तीर्थ का विच्छेद हुआ हो। तीर्थ-
का कुल समय पौने तीन पल्य बताया गया है।

वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के
मे दृष्टिवाद को छोडकर ग्यारह अग-शास्त्र विद्यमान रहते है पर सुविधि
शान्तिनाथ तक के अतरो मे बारहो अग-शास्त्रो का पूर्ण विच्छेद माना ग
शान्तिनाथ से महावीर के पूर्व तक भी दृष्टिवाद का ही विच्छेद होता है
ग्यारह अग-शास्त्रो का नही जैसा कि कहा है –

मुत्तूण दिट्ठिवाय, हवति एक्कारसेव अगाइ।
अट्ठसु जिणतरेसु, उसह जिणिंदाओ जा सुविही ॥४३४॥

सत्तसु जिणतरेसु, वोच्छिन्नाइ दुवालसगाइ।
सुविहि जिणा जा सति, कालपमाण कमेणेसि ॥४३५॥

अट्ठसु जिणतरेसु, वोच्छिन्नाइ न हुन्ति अगाइं।
सति जिणा जा वीर, वुच्छिन्नो दिट्ठिवाउ तहि ॥४३६॥

[प्रवचन सारोद्धार, द्वा

ऋषभदेव से भगवान् वर्द्धमान – महावीर तक चौवीस तीर्थंकरो के
काल मे सात अतरो को छोडकर निरतर धर्मतीर्थ चलता रहा। स
न्यूनाधिक होने पर भी कभी भी चतुर्विध सघ का सर्वथा अभाव नही
कारण कि धर्मशास्त्र – ग्यारह अग परंपरा से सुरक्षित रहे। शास्त्ररक्षा
रक्षा का सर्वोपरि साधन है।

[1] उत्तरपुराण, पर्व ५६, श्लो ६६-६६

लोयपण्णत्ती के अनुसार चौबीस तीर्थंकरो के जन्म से २३ अन्तरकाल र हैं –

तीय काल के चौरासी लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और एक पक्ष शेष भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

भगवान् ऋषभदेव की उत्पत्ति के पश्चात् पचास लाख करोड सागर ह लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अजितनाथ का जन्म हुआ।

भगवान् अजितनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् ३० लाख करोड़ सागर रह लाख पूर्व वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् संभवनाथ का जन्म हुआ।

. भगवान् सभवनाथ के जन्म के पश्चात् १० लाख करोड सागर और पूर्व बीत जाने पर भगवान् अभिनन्दन का जन्म हुआ।

भगवान् अभिनन्दन की उत्पत्ति के पश्चात् ९ लाख करोड़ सागर और पूर्व व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुमतिनाथ का जन्म हुआ।

भगवान् सुमतिनाथ के जन्म के अनन्तर ९० हजार करोड सागर और पूर्व वर्ष बीत जाने पर भगवान् पद्मप्रभ का जन्म हुआ।

. भगवान् पद्मप्रभ के जन्म के पश्चात् ९ हजार करोड़ सागर और पूर्व व्यतीत होने पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ।

. भगवान् सुपार्श्वनाथ की उत्पत्ति के ९०० करोड सागर और दस लाख बीतने पर भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ।

भगवान् चन्द्रप्रभ के जन्म के पश्चात् ९० करोड सागर और ८ लाख व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदंत) का जन्म हुआ।

. भगवान् सुविधिनाथ के जन्म से ९ करोड सागर और एक लाख पूर्व त् भगवान् शीतलनाथ का जन्म हुआ।

. भगवान् शीतलनाथ के जन्म के अनन्तर एक करोड़ सागर और पूर्व मे एक सौ सागर एव एक करोड़ पचास लाख छब्बीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ।

११. भगवान् श्रेयांसनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन सागर और १२ लाख ने पर भगवान् वासुपूज्य का जन्म हुआ।

१२ भगवान् वासुपूज्य के जन्म के पश्चात् ३० सागर और १२ लाख ने पर भगवान् विमलनाथ का जन्म हुआ।

३. भगवान् विमलनाथ के जन्म के अनन्तर ९ सागर और ३० लाख त होने पर भगवान् अनन्तनाथ का जन्म हुआ।

४ भगवान् अनन्तनाथ के जन्म के पश्चात् ४ सागर और २० लाख त होने पर भगवान् धर्मनाथ का जन्म हुआ।

१५ भगवान् धर्मनाथ के जन्म के पश्चात् पौन पल्य कम तीन
और ९ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हुआ ।

१६ भगवान् शान्तिनाथ के जन्म के पश्चात् आधा पल्य और ५
वर्ष बीतने पर भगवान् श्री कुंथुनाथ का जन्म हुआ ।

१७ भगवान् कुंथुनाथ के जन्म के पश्चात् ग्यारह हजार वर्ष क
हजार करोड वर्ष न्यून पाव पल्य बीतने पर भगवान् अरनाथ का जन्म हु

१८ भगवान् अरनाथ के जन्म के पश्चात् गुनतीस हजार वर्ष अ
हजार करोड वर्ष बीतने पर भगवान् मल्लिनाथ का जन्म हुआ ।

१९ भगवान् मल्लिनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन लाख पचीस
वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म हुआ ।

२० भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के जन्म के पश्चात् ६ लाख बीस
वर्ष बीतने पर भगवान् नमिनाथ का जन्म हुआ ।

२१ भगवान् नमिनाथ के जन्म के पश्चात् पाँच लाख नौ हजार
बीतने पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ ।

२२ भगवान् अरिष्टनेमि के जन्म के पश्चात् चौरासी हजार ६
व्यतीत होने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ ।

२३ भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म के पश्चात् दो सौ अठहत्तर
वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ ।

विचार और आचार

सामान्यरूप से देखा जाता है कि अच्छे से अच्छे महात्मा भी उ
जैसे उच्च विचार प्रस्तुत करते है, आचार उनके अनुरूप नही पाल सकते
तो उससे विपरीत आचरण करने वाले भी मिलेगे। परन्तु तीर्थंकरों के ज
यह विशेषता होती है कि वे जिस प्रकार के उच्च विचार रखते हैं
वैसा का वैसा ही प्रचार, समुच्चार, और आचार भी रखते है। उनका
उनके विचारो से भिन्न अथवा विदिशागामी नही होता ।

फिर भी तीर्थंकरो की जीवन घटनाए देखकर कई स्थलो पर स
व्यक्ति को शकाए हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ आचार्यो ने लिख
भगवान् महावीर ने दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् ज्योही विहार किया
दरिद्र ब्राह्मण मार्ग मे आ करुणाजनक स्थिति मे उनसे कुछ याचना कर
दया से द्रवित हो प्रभु ने देवदूष्य का एक खण्ड फाडकर उसे दे दिया।
लिये गृहस्थ को रागवृद्धि के कारणरूप वस्त्रादि दान का निषेध करने
स्वय वैसा करे यह कैसे सभव है ? क्योकि प्रभु मे अनन्त दया होती है
फाडकर देने रूप सीमित दया नही होती। मान ले कि भगवान् का हृदय
पिघल गया तो भी देवदूष्य को फाडने की उनको आवश्यकता नही थी।

हने वाले सिद्धार्थ आदि किसी देव ने ऐसा किया हो। उस दशा में आचार्यों
ा लिखना संगत हो सकता है।
सी प्रकार तीर्थंकर का सर्वथा अपरिग्रही होकर भी देवकृत छत्र, चाम-
भूतियो के बीच रहना साधारण जन के लिये शका का कारण हो सकता
के बुद्धिवादी तीर्थंकर की देवकृत भक्ति का गलत अनुकरण करना चाहते
त्व मे तीर्थंकर की स्थिति दूसरे प्रकार की थी। देवकृत महिमा के समय
को केवलज्ञान हो चुका था। वे पूर्ण वीतरागी वन चुके थे। आज के संत
छद्मस्थ होने के कारण सरागी हैं। तीर्थंकर के तीर्थंकर नामकर्म के
े से देव स्वय शाश्वत नियमानुसार छत्र चामरादि विभूतियो से उनकी
रते वैसी आज के सतो की विशिष्ट पुण्य प्रकृतियो का उदय नही है
तीर्थंकरो के समवशरण की तरह पुष्पवर्षा कर भक्तो को बाह्याडम्बर
त्त बनना पड़े। रागादि का उदय होने से आज की महिमा पूजा दोनो के
का कारण हो सकती है अत· शासनप्रेमियो को तीर्थंकर के नाम का
रण नही करना चाहिये।

और व्यवहार

ीतराग और कल्पातीत होने के कारण तीर्थंकर व्यवहार की मर्यादाओ
ही होते। इतना होते हुए भी तीर्थंकरों ने हमे निश्चय एवं व्यवहार रूप
का उपदेश दिया और स्वयं ने व्यवहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नही की। फिर भी
ने केवलज्ञान के पश्चात् भगवान् महावीर का रात्रि मे विहार कर महा-
धारना माना है। यह ठीक है कि केवलज्ञानी के लिये रात-दिन का
होता फिर भी यह व्यवहार-विरुद्ध है। बृहत्कल्पसूत्र की वृत्ति के अनुसार
वहार-पालन हेतु प्यास और भूख से पीड़ित साधुओ को जगल मे सहज
नी एव अचित्त तिलो के होते हुए भी खाने-पीने की अनुमति नही दी।[1]
र ने 'राईए संपत्तो महसेणवणम्मि उज्जाणे' लिखा है। वैसे आवश्यक
द मे दरिद्र ब्राह्मण को वस्त्र खण्ड देने का भी उल्लेख है। इन सबकी
त हो सकती है इस पर गीतार्थ गम्भीरता से विचार करे।
र इतना निश्चित रूप से कह सकते है कि तीर्थंकर 'जहा वाई तहा
न भवइ' होते हैं। उनका आचार विचारानुगामी और व्यवहार में अविरुद्ध
निश्चय मार्ग के पूर्ण अधिकारी होते हुए भी तीर्थंकर व्यवहार-विरुद्ध
करते। तीर्थंकरो का रात्रि-विहार नही करना और मल्लिनाथ का
के बाद भी साधु-सभा मे न रहकर साध्वी-सभा मे रहना आदि,
रुद्ध प्रवृत्ति नही करने के ही प्रमाण हैं।

लीन महापुरुष

गवान् ऋषभदेव से महावीर तक २४ तीर्थंकरो के समय में अनेक ऐसे
हुए हैं जो राज्याधिकारी होकर भी मुक्तिगामी माने गये हैं। उनमे

[1] भा०, भा० २, गा० ९९७ से ९९९, पृ०-३१४-१५

२४ तीर्थकरो के साथ बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव इस
मिलाकर ५४ महापुरुष कहे गये हैं। पीछे और नव प्रतिवासुदेवों को
से त्रिषष्टि शलाका-पुरुष के रूप मे कहे जाने लगे।

भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के समय मे हुए जिनके स
जैन, हिन्दू और बौद्ध — ये भारत की तीनो प्रमुख परम्पराए एक मत से मं
करती हैं कि इन्ही ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर हमारे र
नाम भारत पडा। का

सगर चक्रवर्ती दूसरे तीर्थकर भगवान् अजितनाथ के समय मे, म
सनत्कुमार भगवान् धर्मनाथ एव शान्तिनाथ के अन्तरकाल मे हुए। र
शान्तिनाथ, कुथुनाथ एव अरनाथ चक्री और तीर्थकर दोनो ही थे। आठ ान्
चक्रवर्ती भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल मे हुए। नौवे म
पद्म भगवान् मल्लिनाथ और भगवान् मुनिसुव्रत के अन्तरकाल मे हुए र्ती
चक्रवर्ती हरिषेण भगवान् मुनिसुव्रत और भगवान् नमिनाथ के अन्त स
हुए। ग्यारहवे चक्रवर्ती जय भगवान् नमिनाथ और भगवान् अरिष्टनेमि के
काल मे तथा बारहवे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भगवान् अरिष्टनेमि और तर
पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल मे हुए। वा

त्रिपृष्ठ आदि पाच वासुदेव भगवान् श्रेयासनाथ आदि पाच ती
काल मे हुए। भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल मे रो
भगवान् मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत के अन्तरकाल मे दत्त नामक वासु डरी
भगवान् मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तरकाल मे लक्ष्मण वासुदेव औ हुए।
अरिष्टनेमि के समय मे श्रीकृष्ण वासुदेव हुए। भगवान्

वासुदेव आदि की तरह ग्यारह रुद्र, ९ नारद और कही बाहुब
चौबीस कामदेव भी माने गये हैं। आदि

(१) भीमावलि, (२) जितशत्रु, (३) रुद्र, (४) वैश्वानर, (
तिष्ठ, (६) अचल, (७) पुण्डरीक, (८) अजितधर, (९) अ ५) सुप्र-
(१०) पीठ और (११) सात्यकि — ये ग्यारह रुद्र माने गये है। तनाभि,

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) रुद्र, (४) महारुद्र, (
(६) महाकाल, (७) दुर्मुख, (८) नरमुख और (९) अधोमुख नामक ५) काल,
हुए। ये सभी भव्य एव मोक्षगामी माने गये हैं। नौ नारद

प्रथम रुद्र भगवान् ऋषभदेव के समय मे, दूसरे रुद्र भगवान् अ
के समय मे, तीसरे रुद्र से नौवे रुद्र तक सुविधिनाथ आदि सात तीर्थकर अजितनाथ
मे, दसवे रुद्र भगवान् शान्तिनाथ के समय मे और ग्यारहवे रुद्र भगवान ों के समय
के समय मे हुए। अन्तिम दोनो रुद्र नरक के अधिकारी माने गये है। महावीर

प्रस्तुत ग्रन्थ मे धार्मिक इतिहास-लेखन का मुख्य दृष्टिकोण होने
वर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि का यथावत् विस्तृत वर्णन नही किया से चक्र-
गया है।

चक्रवर्तियो मे से भरत और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का, वासुदेवो मे श्रीकृष्ण का और प्रतिवासुदेवो में से जरासन्ध का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त वर्णन किया गया है। रुद्र एवं नारदो के लिये तिलोयपण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकार मे पठनीय सामग्री उल्लिखित है।

भगवान् महावीर के भक्त राजाओ मे श्रेणिक, कूणिक, चेटक, उदायन आदि प्रमुख राजाओ का परिचय दिया गया है। श्रेणिक भगवान् महावीर के शासन का प्रभावक भूपति हुआ है। उसने शासन-सेवा से तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया। पूर्ववद्ध निकाचित कर्म के कारण उसे प्रथम नरकभूमि मे जाना पडा। उसने अपने नरक-गति के वध को काटने हेतु सभी प्रकार के प्रयत्न किये। श्रमण भगवान् महावीर की चरण-शरण ग्रहण कर उसने अपने नरक-गमन से वचने का कारण पूछा। आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रभु ने उसे नरक से वचने के दो उपाय – क्रमश: कालशौकरिक से हिंसा छुडाना और कपिला ब्राह्मणी से भिक्षा दिलाना वताये। श्रेणिक चरित्र में नमुक्कारसी पच्चखाण, श्रेणिक की दादी द्वारा मुनि-दर्शन और पूणिया श्रावक से सामायिक का फल खरीदना – ये तीन कारण अधिक वताये गये हैं। श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया पर नमुक्कारसी का व्रत करने मे सफल नही हो सका। अपनी दादी द्वारा मुनिदर्शन के दूसरे उपाय के सम्वन्ध मे उसे विश्वास था कि उसकी प्रार्थना पर उसकी दादी अवश्य ही मुनिदर्शन कर लेगी और उसके फलस्वरूप सहज ही वह नरक-गमन से वच जायगा। परन्तु श्रेणिक द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी दादी ने मुनि-दर्शन करना स्वीकार नही किया। नरक से वचने का तीसरा उपाय पूणिया श्रावक की सामायिक खरीदना था। पर पूणिया श्रावक की सामायिक तो त्रैलोक्य की समस्त सम्पत्ति से भी अधिक कीमती एव अमूल्य थी अत: वह कीमत से मिलती ही कैसे ? अन्त मे श्रेणिक ने समझ लिया कि उसका नरक-गमन अवश्यंभावी है।

तीर्थंकर और नाथ-संप्रदाय

तीर्थंकरो का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त वेद, पुराण आदि वैदिक और त्रिपिटक आदि वौद्ध धर्म-ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है। परन्तु उनमें ऋषभ, सभव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि आदि रूप से ही उल्लेख मिलता है, कही भी नाथ पद से युक्त तीर्थंकरो के नाम उपलव्ध नही होते। समवायाग, आवश्यक और नदीसूत्र मे भी नाथ-पद के साथ नामो का उल्लेख नही मिलता। ऐसी स्थिति मे सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तीर्थंकरो के नाम के साथ 'नाथ' शव्द कव से और किस अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा।

शव्दार्थ की दृष्टि से विचार करते है तो नाथ शव्द का अर्थ स्वामी या प्रभु होता है। आगम मे वशीकृत-आत्मा के लिये भी नाथ शव्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र मे अनाथी मुनि के शव्दो मे कहा गया है :–

खन्तो दन्तो निरारभो, पव्वइओ अणगारिय।
तो ह नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ॥३४॥
[उ०, ३५]

अर्थात् "जब मै शान्त, दान्त और निरारम्भी रूप से प्रव्रजित हो गया तब अपना और पर का नाथ हो गया।"

प्रत्येक तीर्थंकर त्रिलोकस्वामी और उपरोक्त महान् गुणो से सम्पन्न होते है अत उनके नाम के साथ 'नाथ' उपपद का लगाया जाना नितान्त उपयुक्त एव उचित ही है। प्रभु, नाथ, देव एव स्वामी आदि शब्द एकार्थक है अत तीर्थंकर के नाम के साथ देव, नाथ अथवा स्वामी उपपद लगाया गया है।

सर्वप्रथम भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर का और आवश्यक सूत्र मे अरिहन्तो का उत्कीर्तन करते हुए 'लोगनाहेण', 'लोग नाहाण' विशेषण से उन्हे लोकनाथ कहा है।

टीकाकार ने 'नाथ' शब्द की एक दूसरी व्याख्या भी की है। 'योगक्षेम-कृन्नाथ' अलभ्यलाभो योग, लब्धस्य परिपालन क्षेमः। इस दृष्टि से तीर्थंकर भव्य जीवो के लिये अलब्ध सम्यग्दर्शन आदि का लाभ और लब्ध सम्यग्दर्शन का परिपालन करवाते हैं अत वे इस अपेक्षा से भी नाथ कहे जा सकते है।

चौथी शताब्दी के आस-पास हुए दिगम्बर आचार्य यतिवृषभ ने अपने ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती' में अधोलिखित कतिपय स्थलो पर तीर्थंकरो के नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है —

'भरणी रिक्खम्मि सतिणाहो य।' ति० प० ४।५४१।
'विमलस्स तीसलक्खा, अणतणाहस्स पचदसलक्खा।'
[ति० प० ४।५६६]

आचार्य यतिवृषभ तीर्थंकरो के नाम के आगे नाथ शब्द की तरह ईसर और सामी पदो का भी उल्लेख किया है। यथा :—

'रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं'
[ति० प० ४।१२८३]
'लक्खा पण्णमाणा वासाण धम्मसामिस्स।'
[ति० प०, ४।५६६]

इससे इतना तो सुनिश्चित एव निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी मे यतिवृषभ के समय मे तीर्थंकरो के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग लिखने-पढने व बोलने मे आने लगा था।

जैन तीर्थंकरो के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनैः शनै इतनी बढी कि शैवमती योगी अपने नाम के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि रूप से नाथ शब्द जोडने लगे फलस्वरूप इस सप्रदाय का नाम ही 'नाथ सप्रदाय' से रूप मे पहिचाना जाने लगा।

इतर सम्प्रदाय के साधारण लोग जो सर्वथा आदिनाथ, अजितनाथ आदि तीर्थंकरो की महिमा और उनके इतिहास से अनभिज्ञ है, गोरखनाथ की परम्परा मे नीमनाथी, पारसनाथी नाम देख कर भ्रान्ति मे पड सकते है कि गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ हुए या नेमनाथ पारसनाथ से गोरखपंथी हुए। सही स्थिति यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ जो नाथ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक[1] एवं आदि आचार्य माने जाते हैं उनका समय ईसा की आठवी शताब्दी माना गया है जबकि तीर्थंकर भगवान् नेमनाथ, पारसनाथ और जैन धर्मानुयायी हजारो वर्ष पहले से हैं। नेमनाथ पार्श्वनाथ से ८३ हजार वर्ष पूर्व हो चुके हैं। दोनो मे बडा कालभेद है। अत. गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ या जैन धर्मानुयायियों के होने की तो सभावना ही नही हो सकती। ऐसी मिथ्या कल्पना विद्वानो के लिये किसी भी तरह विश्वसनीय नही हो सकती। हाँ नेमनाथ पारसनाथ से गोरखनाथ की सभावना की जा सकती है। पर विचारने पर वह भी ठीक नही बैठती क्यों कि भगवान् पार्श्वनाथ विक्रम संवत से ७२५ वर्ष से भी अधिक पहले हो चुके है जब कि गोरखनाथ को विद्वानो ने बप्पा रावल का भी समकालीन माना है। हो सकता है कि भगवान् नेमनाथ के व्यापक अहिंसा प्रचार का जिसने कि पूरे यादव वंश का मोड़ बदल दिया था नाथ परम्परा पर प्रभाव पड़ा हो और पार्श्वनाथ के कमठ प्रतिबोध की कथा से नाथ परम्परा के योगियो का मन प्रभावित हुआ हो और इस आधार से नीमनाथी, पारसनाथी परम्परा प्रचलित हुई हो। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'नाथ सप्रदाय' नामक पुस्तक में लिखा है.—

"चादनाथ संभवत: वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरो के अनुयायी जान पडते है। जैन साधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।"[2]

ऐतिहासिक मान्यताओं में मतभेद

"यहां यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैन इतिहास का मूलाधार जब सब का एक है तो फिर विभिन्न आचार्यों के लिखने मे मतभेद क्यो ?

वास्तविकता यह है कि जैन परम्परा का सम्पूर्ण श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा से प्राय: मौखिक ही चलता रहा। एक गुरु के शिष्यो मे भी मौखिक ज्ञान क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। एक की स्मृति मे एक बात एक तरह से है तो दूसरे की स्मृति मे वही बात दूसरी तरह

---

[1] हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग ८वी शताब्दी के आसपास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे।—हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि। पृ० ३२७

[2] 'नाथ संप्रदाय' – हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १९० –

से और तीसरे को संभव है उसका विलकुल ही स्मरण न हो। अति सन्निकट काल के घटनाचक्र के सबन्ध मे जब इस प्रकार की मतवैचित्र्य की स्थिति है तो प्राचीनकाल की ऐतिहासिक घटनाओ के सम्वन्ध मे दीर्घकाल की अनेक दुष्कालियों के समय स्मरण, चिन्तन एव परावर्तन के वरावर अवसर प्राप्त न होने की दशा मे कतिपय मतभेदो का होना स्वाभाविक है। जैसा कि विमलसूरि ने पउम चरिय मे कहा है :–

एव परम्पराए परिहाणी पुव्व गथ अत्थाण।
नाऊण कालभाव, न रूसियव्व वुहजणेण ॥

निकट भूत मे हुए अनेक सतो, उनकी परम्पराओ एवं उनके जन्मकाल आदि के सम्वन्ध मे वडा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कवीर को कोई हिन्दू मानते है तो कई मुस्लिम। उनके जन्मकाल, माता-पिता के नाम आदि के सम्वन्ध मे भी आज मतैक्य दृष्टिगोचर नही होता। पूज्य धर्मदासजी महाराज जिनके नाम पर स्थानकवासी समाज मे कितनी ही उपसंप्रदाये चल रही है उनके माता-पिता, जन्मकाल और स्वर्गवास-तिथि के सम्वन्ध मे आज मतभेद चल रहा है। ऐसी स्थिति मे हजारो वर्प पहले हुए तीर्थकरो के विपय मे मतभेद हो तो इसमे विशेप आश्चर्य की वात नही है। कालप्रभाव, स्मृतिभेद, दृष्टिभेद के अतिरिक्त लेखक और वाचक के दृष्टिदोप के कारण भी मान्यताओं मे कुछ विभेद आ गये है, जो कालान्तर मे ईसा की तीसरी शती के आसपास श्वेताम्वर-दिगम्वर परम्पराओ की मध्यवर्ती यापनीय नामक तीसरी परम्परा के भी जनक रहे है। पाठको को इस मतभेद से खिन्न होने की अपेक्षा यह देख कर अधिक गौरवानुभव करना चाहिये कि तीर्थंकरो के माता-पिता, जन्मस्थान, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म नक्षत्र, वर्ण, लक्षण, कुमारकाल, दीक्षातप, दीक्षाकाल, साधनाकाल, निर्वाणतप, निर्वाणकाल आदि मान्यताओ मे श्वेताम्वर एव दिगम्वर दोनो परम्पराओ का प्राय साम्य है। नाम, स्थान, तिथि आदि का भेद, श्रुतिभेद या गणनाभेद से हो गया है उससे मूल वस्तु मे कोई अन्तर नही पडता।

भगवान् वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाच तीर्थकरो को दोनो परम्पराओ मे कुमार माना गया है। अरिष्टनेमि, मल्ली, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाचो ने कुमारकाल मे और शेष १९ तीर्थंकरो ने राज्य करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की[1] इस प्रकार का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती मे किया गया है। कुमारकाल के साथ राज्य का उल्लेख होने के कारण वे पाचो तीर्थकर अविवाहित ही दीक्षित हुए हो ऐसा स्पष्ट नही होता। इस अस्पष्टता के कारण दोनो परम्पराओ मे पार्श्व, वासुपूज्य और महावीर के विवाह के विषय मे मतैक्य नही रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीर्थंकर परिचय-पत्र एव प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन-परिचय मे यथास्थान उन मतभेद के स्थलो का भी निर्देश किया है। कुछ ऐसे भी

[1] तिलो० प०, ४।६७०

मतभेद है जो परम्परा से विपरीत होने के कारण मुख्यरूपेण विचारणीय है। जैसे–सब आचार्यो ने क्षत्रियकुड को महाराज सिद्धार्थ का निवासस्थल माना है परन्तु आचार्य शीलांक ने उसे सिद्धार्थ का विहारस्थल (Hill Station) लिखा है।[1]

आचारॉंग सूत्र, कल्पसूत्र आदि मे नन्दीवर्धन को श्रमण भगवान् महावीर का ज्येष्ठ भाई लिखा है जबकि आचार्य शीलाक ने नन्दीवर्धन को महावीर का छोटा भाई बताया है।[2]

भगवती सूत्र के अनुसार गोशालक द्वारा सर्वानुभूति और सुनक्षत्र अणगार पर तेजोलेश्या का प्रक्षेपण और समवसरण मे मुनिद्वय का प्राणान्त होना बताया गया है जब कि आचार्य शीलाक ने चउवन महापुरिस चरियम् मे गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या से किसी मुनि की मृत्यु का उल्लेख नही किया है। उन्होने लिखा है कि सर्वानुभूति अणगार के साथ विवाद होने पर गोशालक ने उन पर तेजोलेश्या फेकी। बदले मे सर्वानुभूति ने भी तेजोलेश्या प्रकट की। दोनो तेजोलेश्याए टकराई। भगवान् महावीर ने तेजोलेश्याओ द्वारा होने वाले अनर्थ को रोकने के लिये शीतललेश्या प्रकट की। उसके प्रबल प्रभाव को नही सह सकने के कारण वह तेजोलेश्या गोशालक पर गिर कर उसे जलाने लगी। तेजोलेश्या की तीव्र ज्वालाओ से भयभीत हो गोशालक भगवान् महावीर के चरणो मे गिर पड़ा। प्रभु के चरणो की कृपा से उस पर आया हुआ तेजोलेश्या का उपसर्ग शान्त हो गया।[3]

गोशालक को अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए उसने शुभ-लेश्या प्राप्त की और मरकर अन्त मे अच्युत स्वर्ग मे देवरूप से उत्पन्न हुआ।[4]

---

[1] अण्णया य गामाणुगाम गच्छमाणो कीलाणिमित्तमागओ णियभुत्तिपरिसठिय कुडपुर णामनयर।

[चउपन्नमहापुरिसचरिय, पृ. २७०]

[2] परलोयमइगतेसु जणणि-जणएसु पणामिऊण णियकणिट्ठस्स भाउणो रज्ज

[चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, पृ० २७२]

[3] अण्णया य भिक्खु सव्वाणभूईहि सम विवाओ सजाओ। तओ विवायवमुप्प...णे सयेणाय पक्खित्ता ताणोवरि तेउलेसा, तेहिपि तस्स सतेउलेम त्ति। ताण च प: प्रमाणि- माणं मपलग्ग जुज्झ एत्थावसरम्मि य भयवया तस्सुवसमणणिमित्त पेसिय्ययन-मनन के तओ सीयलेसापहावमसहमाणा विवलाया तेउलेसा, मदसाहियकिच्च व्व प गोसालयं। णवरमसहमाणो तेयजलणप्पहाव ममल्लीणो जयगुरु। ज हावपणट्ठोवसग्गपसरो य सबुद्धो पयत्तो चिंतिउ हा ! दुट्ठु मे कय ज सीमिमारुहतेण अच्चासायणा कया।

[4] एव च पइदिण णिदणाइय कुणमाणो कालमासे कयपाणपरिच्चाओ देवलोए त्ति।

र आजीवक मत
यह लिखना कि
[डी भूल है। आज
व्यर्थ चेष्टा करते
करते हैं कि हमारे
[त के प्रमुख धर्म

उपरोक्त मन्तव्यो से प्रतीत होता है कि आचार्य शीलांक के समय में भी गोशालक द्वारा भगवान् के पास सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर तेजोलेश्या फेकने के सम्बन्ध मे विचार-विभेद था। आचार्य शीलाक जैसे शास्त्रज्ञ मुनि द्वारा परम्परागत मान्यता के विपरीत लिखने के पीछे कोई कारण अवश्य होना चाहिये। इतने बडे विद्वान् यो ही बिना सोचे कुछ लिख डाले इस पर विश्वास नही होता। यह विषय विद्वानो की गहन गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

तीर्थंकरकालीन प्रचार-नीति

तीर्थंकरो के समय मे देव, देवेन्द्र और नरेन्द्रो का पूर्णरूपेण सहयोग होते हुए भी जैन धर्म का देश-देशान्तरो मे व्यापक प्रचार क्यो नही हुआ, तीर्थंकरकाल की प्रचार-नीति कैसी थी जिससे कि भरत जैसे चक्रधर, श्रीकृष्ण जैसे शक्तिधर और मगधनरेश श्रेणिक जैसे भक्तिधरो के सत्ताकाल मे भी देश में जैन धर्म का प्रचुर प्रचार नही हो सका। साधु-सत और शक्तिशाली भक्तो ने प्रचारक भेजकर तथा अधिकारियो ने राजाज्ञा प्रसारित कर अहिंसा एव जैन धर्म का सर्वत्र व्यापक प्रचार क्यो नही किया, इस प्रकार के प्रश्न सहज ही प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे उत्पन्न हो सकते हैं।

तत्कालीन स्थिति का सम्यक् अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि तीर्थंकरो के मार्ग मे प्रचार का मूल सम्यग्विचार और आचारनिष्ठा ही माना गया था। उनके उपदेश का मूल लक्ष्य हृदय-परिवर्तन रहता था। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् ने अपने पास आये हुए श्रोताओ को भी सम्यग्दर्शन आदि मार्ग का ज्ञान कराया पर किसी को बलपूर्वक अथवा आग्रहपूर्वक यह नही कहा कि तुम्हे अमुक व्रत ग्रहण करना होगा। उपदेशश्रवण के पश्चात् जो भी इच्छापूर्वक साधुधर्म अथवा श्रावकधर्म ग्रहण करने के लिए खडा होता उसे यही कहा जाता – 'यथा-सुखम्' अर्थात् जिसमे सुख हो उसमें प्रमाद मत करो।

भावना उत्पन्न करने के बाद क्या करना, इसका निर्णय श्रोता पर ही छोड दिया जाता। आज की तरह बल प्रयोग या आडम्बर से प्रचार नही किया जाता था। कारण कि प्रचार की अपेक्षा आचार की प्रधानता थी। अन्यथा
---चक्रवर्ती और वासुदेवो के राज्यकाल मे अनार्य-खण्ड मे भी जैन धर्म के प्रति
१६ तीर्थंकरो ...दर हो जाता और लाखो ही नही करोडो मानव जैन धर्म के श्रद्धालु
तिलोयपण्णत्ती ...न जाते एव सर्वत्र वीतराग-वाणी का प्रचार एवं प्रसार हो जाता।
कारण वे पाचो त...रो के समय के प्रचार को देखते हुए प्रतीत होता है कि उन्होने
इस अस्पष्टता के ...द्ध प्रचार को ही उपादेय मान रखा था। सत्ताबल, धनबल अथवा
विवाह के विषय मे ...प्रसन्न कर, किसी को भय, प्रलोभन या प्रशसा से चढ़ाकर बिना
प्रस्तुत ग्रन्थ म...के तैयार करना उचित नही माना जाता था। जैन साधु
मे यथास्थान उन म...में ठहरते, बिना भेद-भाव के सब जातियो के अनिद्यकुलो से

[1] तिलो० प०, ४।६७०...ते और सबको उपदेश देते थे। धर्म, संप्रदाय या पथ-परिवर्तन
...न रस नही लिया जाता था। बोध पाकर कोई स्वय धर्म ग्रहण

करना चाहता उसे ही दीक्षित किया जाता। जैनाचार्यो अथवा शासको द्वारा कोई वलात् धर्म-परिवर्तन का उदाहरण नही मिलेगा।

उस समय स्थिति ऐसी थी कि समाज के शुभ वातावरण मे अनायास ही लोग धर्मानुकूल जीवन जी सकते थे। सस्कारों का पाया इतना दृढ था कि अनार्य लोग भी उनके प्रभाव से प्रभावित हो जाते। अभय कुमार ने अनार्य देशस्थ अपने पिता के मित्र अनार्य नरेश के राजकुमार को धर्मप्रेमी बनाने के लिये धर्मोपकरण की भेट भेजी और सेठ जिनदत्त ने अनार्यभूप को धर्मरत्न की ओर आकृष्ट कर भगवान् महावीर की सेवा मे उपस्थित किया। इसी प्रकार मत्री चित्त ने केशिश्रमण को श्वेताम्विका नगरी ले जा कर नास्तिक नरेश प्रदेशी को आस्तिक एव धर्मानुरागी वनाया।

प्रचार का तरीका यह था कि किसी विशिष्ट पुरुष को ऐसा तैयार करना कि वह हजारो को धर्मनिष्ठ बना सके। उस समय किसी की धार्मिक साधना मे बाधा पहुँचाना या किसी को धर्मच्युत करना जघन्य कृत्य समझा जाता था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज अनार्य देश मे भी आर्यजन आते-जाते तथा रहते है एव कई अनार्य लोग भारत की आर्यधरा में भी रहने लगे है। एक दूसरे का परस्पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति मे आवश्यक है कि उनमें अहिंसा, सत्य एव सदाचार का खुलकर प्रचार किया जाय। उन्हे खाद्याखाद्य का स्वरूप समझाया जाय। अन्यथा वढते हुए हिसा और मांसाहार के युग में निर्वल मन वाले धार्मिक लोग विदेशियो से प्रभावित हो धर्मानुकूल व्यवहार से विमुख हो जावेगे। प्रचार आवश्यक है पर वह अपनी सस्कृति के अनुरूप होना चाहिए। हमारी प्रचार-नीति आचार-प्रधान और ज्ञानपूर्वक हृदय-परिवर्तन की भूमिका पर ही आधारित होनी चाहिये। इसी से हम जिन-शासन का हित कर सकते हैं और यही तीर्थंकरकालीन सस्कृति के अनुरूप प्रचार का मार्ग हो सकता है।

आज के इतिहास लेखक

जैन इतिहास के इस प्रकार के प्रामाणिक आधार होने पर भी आधुनिक विद्वान् उसको बिना देखे जैन धर्म और तीर्थंकरो के विषय मे भ्रन्ति-पूर्ण लेख लिख डालते हैं, यह आश्चर्य एवं खेद की वात है। इतिहासज्ञ को प्रामाणिक ग्रन्थो का अध्ययन कर जिस धर्म या सप्रदाय के विषय मे लिखना हो प्रामाणिकता से लिखना चाहिये। साप्रदायिक अभिनिवेश या विना पूरे अध्ययन-मनन के सुनी-सुनाई वात पर लिख डालना उचित नही।

गोशालक द्वारा महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करना और आजीवक मत पर महावीर के सिद्धान्त का प्रभाव शास्त्रसिद्ध होने पर भी यह लिखना कि महावीर ने गोशालक से अचेलधर्म स्वीकार किया, कितनी वडी भूल है। आज भी कुछ विद्वान् जैन धर्म को वैदिक मत की शाखा वताने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं, यह उनकी गहरी भूल है। हम आशा ही नही पूर्ण विश्वास करते है कि हमारे विज्ञ इतिहासज्ञ इस ओर विशेष सतर्क रहकर जैन धर्म जैसे भारत के प्रमुख धर्म

का सही परिचय प्रस्तुत कर राष्ट्र को तत्विषयक अज्ञान से हटा आलोक मे रखने का प्रयास करेगे।

ग्रन्थ परिचय

'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' नाम का प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथमानुयोग की प्राचीन आगमीय परम्परा के अनुसार लिखा गया है। इस तीर्थंकर-खड मे तीर्थंकरो के पूर्व-भव, देवगति का आयु, च्यवन, च्यवनकाल, जन्म, जन्मकाल, राज्याभिषेक, विवाह, वर्षीदान, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना, गणधर, प्रमुख आर्या, साधु-साध्वी आदि परिवारमान एव किये हुए विशेष उपकार का परिचय दिया गया है। ऋषभदेव से महावीर तक चौवीसो तीर्थंकरो का परिचय आचाराग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, समवायाग, आवश्यक आदि सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, प्रवचन सारोद्धार, सत्तरिसय द्वार और दिगम्बर परम्परा के महापुराण, उत्तर पुराण, तिलोय पण्णत्ती आदि प्राचीन ग्रन्थो के आधार से लिखा गया है।

मतभेद के स्थलो मे त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र, आगमीय मत और सत्तरिसय प्रकरण को सामने रखकर शास्त्रसम्मत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया है। भगवान् ऋषभदेव के प्रकरण मे अत्यधिक अनुसन्धान अपेक्षित था पर प्रारम्भिक होने के कारण सर्वप्रथम उसे अन्तिम रूप दे दिया गया अत' हमारी इच्छानुसार वह अतिशय सुन्दर नही बन पाया है। तथापि अरिष्टनेमि आदि आगे के तीर्थंकरो का विस्तार से सर्वागपूर्ण परिचय लिखने का प्रयास किया गया है।

ऐतिहासिक तथ्यो की गवेषणा के लिये जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध साहित्य से भी यथाशक्य सामग्री सकलन का लक्ष्य रखा है। गवेषणा मे हमने किसी साहित्य की उपेक्षा नही की है।

मौलिक ग्रन्थो के अतिरिक्त आधुनिक लेखको के साहित्य का भी पूरा उपयोग किया गया है। पार्श्वनाथ मे श्री देवेन्द्र मुनि, जो सम्पादक-मंडल मे प्रमुख है, के साहित्य का और भगवान् महावीर के प्रकरण मे श्री विजयेन्द्र सूरि, श्री कल्याण विजयजी आदि के साहित्य का भी यथेष्ट उपयोग किया गया है। लिखते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि कोई भी चीज शास्त्र के विपरीत नही जावे और निर्ग्रन्थ परम्परा के विरुद्ध न हो। फिर भी साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश कोई अप्रामाणिक बात नही आवे इस बात का ध्यान रखा गया है। इस खण्ड मे मुख्यतया तीर्थंकरो का ही परिचय है अत. इसे तीर्थंकर खण्ड कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्पराओ की मान्यतानुसार तीर्थंकरो का तुलनात्मक परिचय और आवश्यक टिप्पण भी दिये हैं।

सस्मरण –

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन, सकलन एव सम्पादन कार्य मे प० शशिकान्तजी झा और गजसिहजी राठोड़ का श्रमपूर्ण सहयोग भुलाया नही जा सकता। वैदिक

साहित्य के माध्यम से अलभ्य उपलब्धियां श्री राठोड़ के लगनपूर्ण अनवरत चिन्तन एवं गवेषणा का ही प्रतिफल है। उनका इतिहास के लिये रात-दिन तन्मयता से चिन्तन सचमुच अनुकरणीय कहा जा सकता है। मेरे कार्य-सहायक प० मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, सेवाव्रती मुनि लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, श्री चौथमलजी प्रभृति का व्याख्यान आदि कार्य मे और हीरा मुनि, शीतल मुनि आदि छोटे मुनियो का सेवा कार्य से अनवरत सहयोग मिलता रहा है। उन सबके सहयोग से ही कार्य सपन्न हो सका है।

प्रूफ सशोधन एवं प्रकाशन की समीचीन व्यवस्था में सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल के साहित्य मत्री श्री प्रेमराजजी बोगावत का एव ग्रन्थ को सुन्दर बनाने मे डॉ नरेन्द्र भानावत का सहयोग भी भुलाया नही जा सकता। और भी ज्ञात, अज्ञात, छोटे-बड़े कार्यो मे जिन-जिन का सहयोग रहा है उन सबका नामपूर्वक स्मरण यहा सभव नही है।

भाव, भाषा और सिद्धान्त का यथाशक्य खयाल रखते हुए भी मानव-स्वभाव की अपूर्णता के कारण यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिये मिच्छा मे दुक्कडं। विद्वज्जन सुहृद्भाव से उन त्रुटियो की सूचना करेंगे तो भविष्य मे उन्हे सुधारने का ध्यान रखा जा सकेगा।

सम्पादकीय

ससार के विविध विपयो मे इतिहास का भी एक वड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारको द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, संस्कृति एव सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, सभ्यता अथवा सस्कृति का इतिहास जितना अधिक समुन्नत, समृद्ध एव सर्वांगपूर्ण होता है उतना ही अधिक वह धर्म, देश और समाज उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर होता हुआ संसार में चिरंजीवी और स्थायी सम्मान का अधिकारी होता है। वास्तव मे इतिहास मानव की वह जीवनी-शक्ति है, वह शक्ति का अक्षय्य अजस्र स्रोत है जिससे निरन्तर अनुप्राणित एवं सशक्त हो मानव उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त मे अपने चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफलकाम होता है।

यो तो संसार मे सत्ता, सभ्यता, सस्कृति, समृद्धि, सन्मान, सन्तान आदि सभी को प्रिय हैं परन्तु तत्त्वदर्शियो ने वडे गहन चिन्तन के पश्चात् आत्मानुभव से इन सव ऐहिक सुखो को क्षणविध्वसी समझ कर धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हुए यह ध्रुव-सत्य ससार के समक्ष रखा कि –

"धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।"

अर्थात् जिसने अपने धर्म की रक्षा नही की उसका सम्मान, सुख, समृद्धि, सत्ता, सभ्यता आदि सव कुछ चौपट होने के साथ वह स्वयं भी चौपट हो गया पर जिसने अपने धर्म को नही छोडा, प्राणपण से भी धर्म की रक्षा की उसने अपने धर्म की रक्षा के साथ-साथ सत्ता, सम्मान, समृद्धि आदि की और अपनी स्वय की भी रक्षा कर ली।

चिन्तको ने ससार की सारभूत वस्तुओ का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार विभागो मे वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण मे भी धर्म को मूर्धन्य स्थान दिया है। क्योकि यह प्राणी का परम हितैषी, सच्चा मित्र और चिरसगी है। ऐसे परम कल्याणकारी अद्वितीय सखा धर्म की रक्षा करने का प्रत्येक प्राणी तभी प्रयत्न करेगा जवकि वह धर्म का सर्वांगीण स्वरूप, परमोत्कृष्ट महत्त्व अच्छी तरह से समझता हो। धर्म के महत्त्व और स्वरूप को भलीभांति समझने और जानने का माध्यम उस धर्म का इतिहास है।

इसके अतिरिक्त इतिहास की एक और महती उपयोगिता है। वह हमे हमारी अतीत की भूलो, अतीत के हमारे सही निर्णयो, सामयिक सुन्दर विचारो

और प्रयासो का पर्यवेक्षण कराने के साथ-साथ भूतकाल की भूलों से बचने एवं अच्छाइयों को दृढता के साथ पकड कर उन्नति के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करता रहता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी धर्म, देश और संस्कृति का सच्चा इतिहास वास्तव मे उस धर्म, देश और संस्कृति का प्राण, जीवन-शक्ति, प्रकाशस्तम्भ, प्रेरणास्रोत, पथ-प्रदर्शक, अभ्युन्नति का प्रशस्त मार्ग, खतरो मे सावधान कर विनाश के गहरे गर्त मे बचाने वाला सच्चा मित्र और सब कुछ है।

इतिहास वस्तुतः मानव को उस प्रशस्त मार्ग का, उस सीधी और सुन्दर सडक का दिग्दर्शन कराता है जिस पर निरन्तर चलते रहने से पथिक निश्चित रूप से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इतिहास मानव को चरमोत्कर्ष के प्रशस्त मार्ग का केवल दिग्दर्शन मात्र ही नही कराता अपितु वह उस प्रशस्त पथ के पथिको को उस मार्ग मे आने वाली समस्त बाधाओं, रुकावटों, स्खलनाओ और छलनाओ से भी हर डग पर बचते रहने के लिये सावधान करता है। इतिहास मे वर्णित साधना-पथ के अतीत के पथिकों के भले-बुरे अनुभवो से साधना-पथ पर अग्रसर होने वाला प्रत्येक नवीन पथिक लाभ उठा कर मार्ग मे आने वाली सभी कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करता हुआ निर्बाध गति से अपने इप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

जैन समाज, खासकर श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज मे जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास की कमी चिरकाल से खटक रही थी। जैन कान्फ्रेन्स और मुनिमण्डल ने सन्मेलन मे भी अनेक वार जैन धर्म का प्रामाणिक इतिहास निर्मित करवाने का निर्णय किया पर किसी कर्मठ इतिहासज्ञ विद्वान् ने इस अतिकष्टसाध्य कार्य को सम्पन्न करने का भार अपने जिम्मे नही लिया अतः इसे मूर्त स्वरूप नही मिल सका।

समाज द्वारा चिराभिलपित इस कार्य को सम्पन्न करने की दृष्टि से स्वनामधन्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने 'स्वान्त सुखाय परजनहिताय च' इस भावना से प्रेरित हो जैन धर्म का प्रारम्भ से लेकर आज तक का सही, प्रामाणिक, सर्वांगपूर्ण और क्रमवद्ध इतिहास लिखने का भगीरथ प्रयास प्रारम्भ किया। वास्तव मे आचार्यश्री ने इस दुस्साध्य एव गुरुतर महान दायित्व को अपने ऊपर लेकर अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

इतिहास-लेखन जैसे कार्य के लिये गहन अध्ययन, क्षीरनीर विवेकमयी तीव्र बुद्धि, उत्कृष्ट कोटि की स्मरणशक्ति, उत्कट साहस, अथाह ज्ञान, अडिग अध्यवसाय, पूर्ण निष्पक्षता, घोर परिश्रम आदि अत्युच्चकोटि के गुणो की आवश्यकता रहती है। वे सभी गुण आचार्यश्री मे विद्यमान है। पर इतिहास-लेखन का कार्य लेखक से इस वात की अपेक्षा करता है कि वह अपना अधिकाधिक

समय लेखन के लिये दे। ध्यान, स्वाध्याय, अध्यापन, व्याख्यान, सघ-व्यवस्था एव विहारादि अनिवार्य कार्यो के कारण पहले से ही अपनी अतिव्यस्त दिनचर्या का निर्वहण करने के साथ-साथ "जैन धर्म के मौलिक इतिहास" का यह प्रथम भाग पूर्ण कर आचार्यश्री ने नीतिकार की इस सूक्ति को अक्षरश: चरितार्थ कर दिखाया –

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना,
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

इस महान् कार्य को सम्पन्न करने मे आचार्यश्री को कितना घोर परिश्रम, गहन चिन्तन-मनन-अध्ययन करना पडा है इसकी कल्पनामात्र से प्रत्यक्षदर्शी सिहर उठते हैं। आचार्यश्री के अक्षय शक्तिभण्डार, बौद्धिक एव शारीरिक प्रबल परिश्रम का इस ही से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्यश्री से आशुलिपि मे डिक्टेशन लेने, उसे नागरी लिपि मे लिखने तथा स्पष्ट एवं विस्तृत निर्देशन के अनुसार लेखन-सम्पादन के एक वर्षमात्र के कार्य से मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव होता कि कही मेरे मस्तिष्क की शिराए फट न जाय। पर ज्यो ही प्रात काल इन महान् योगी को पूर्ण मनोयोग से नित्यनवीन शतगुणित शक्ति मे इतिहास-लेखन मे व्यस्त देखता तो मुझे अपनी दुर्बलता पर लज्जा का अनुभव होता, अन्तर के कर्णरन्ध्रो में एक उद्घोष सा उद्भूत होता –

कुतस्त्वा कश्मलमिद विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मास्म गम पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्र हृदयदौर्बल्य, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप ॥

और तत्क्षण ऐसा अनुभव होता मानो अतर का तार विद्युत् के बहुत बड़े जनरेटर से जुड गया है। मैं पुन. यथावत् कार्य मे जुट जाता।

श्रमणश्रेष्ठ-जीवन और आचार्य-पद के दैनिक दायित्वो का निर्वहण करने के साथ-साथ अहर्निश इतिहास-लेखन मे तन्मयता के साथ लीन रहने पर भी आचार्यश्री के प्रशस्त भाल पर थकान की कोई हल्की सी रेखा तक भी कभी दृष्टिगोचर नही हुई। चेहरे पर वही सहज मुस्कान आखो में महर्घ्य मुक्ताफल की सी स्वच्छ-अद्भुत चमक सदा अक्षुण्ण विराजमान रहती।

जिस प्रकार ससार और ससार के मूलभुत-द्रव्य अनादि एव अनत है उसी प्रकार आत्मधर्म होने के कारण जैन धर्म तथा उसका इतिहास भी अनादि तथा अनन्त है। अत जैन इतिहास को किसी एक ग्रन्थ अथवा अनेक ग्रन्थों मे सम्पूर्ण रूप से आबद्ध करने का प्रयास करना वस्तुत अनन्त आकाश को बांहो मे समेट लेने के प्रयास के तुल्य असाध्य और असंभव है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ मे

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना से प्रारम्भ कर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण-समय तक का जैन धर्म का क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। इसके साथ ही साथ कुलकर-काल एवं अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल को मिला कर वीस कोडाकोडी सागर के पूर्ण काल-चक्र का एक रेखाचित्र की तरह अति संक्षिप्त स्थूल विवरण भी यथाप्रसंग दिया गया है।

इस प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल मे भरतक्षेत्र मे सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने तृतीय आरक की समाप्ति मे ६६६ वर्ष ३ मास १५ दिन कम एक लाख पूर्व का समय अवशेष रहा उस समय धर्म-तीर्थ की स्थापना की। उसी समय से इस अवसर्पिणीकालीन जैन धर्म का इतिहास प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन के काल से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाणकाल तक का इतिहास प्रस्तुत ग्रन्थ मे देने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ आरक के समाप्त होने मे जब तीन वर्ष और साढे आठ मास अवशेष रहे तब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ।

इस प्रकार यह इतिहास एक क्रोडा-क्रोडी सागर, ७० शंख, ५५ पद्म, निन्यानवे नील, निन्यानवे खरब, निन्यानवे अरब, निन्यानवें करोड़, निन्यानवे लाख और सत्तावन हजार वर्ष का अति संक्षिप्त इतिहास है।

कल्पना द्वारा भी अपरिमेय इस सुदीर्घ अतीत मे असंख्य बार भरत-क्षेत्र की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वौद्धिक एव भौगोलिक स्थिति मे उतार-चढ़ाव आये, उन सब का लेखा-जोखा रखना वास्तव मे दुस्साध्य ही नही नितान्त असंभव कहा जा सकता है। पर इस लम्बी अवधि मे भी आर्यधरा पर समय-समय पर चौवीस तीर्थंकर प्रकट हुए और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को हस्तामलक की तरह युगपद् देखने-जानने वाले त्रिकालदर्शी उन तीर्थकरो ने विस्मृति के गर्भ मे छुपे उन सभी उपयोगी तथ्यो को समय-समय पर वाणी द्वारा प्रकाशित किया।

तीर्थंकरो द्वारा प्रकट किये गये उन ध्रुव-तथ्यों मे से कतिपय तथ्य तो सुदीर्घ अतीत के अन्धकार मे विलीन हो गये पर नियतकालभावी अधिकांश तथ्य सर्वज्ञभाषित आगम परम्परा के कारण आज भी अपना असदिग्ध स्वरूप लिये हमारी अमूल्य थाती के रूप मे विद्यमान हैं। जो कतिपय तथ्य विस्मृति के गह्वर मे विलीन हुए उनमें से भी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राचीन आचार्यो ने अपनी कृतियो मे आवद्ध कर सुरक्षित रखे हैं। उन विखरे तथ्यो को यदि पूरी शक्ति लगा कर क्रमवद्ध रूप से एकत्रित करने का सामूहिक प्रयास किया जाय तो हस्तलिखित प्राचीन पुस्तको में और भी ऐसी विपुल सामग्री उपलब्ध होने की सभावना है जिससे कि केवल जैन इतिहास के ही नही अपितु भारतवर्ष के समूचे प्राचीन इतिहास के कई धूमिल एव लुप्तप्राय तथ्यो के प्रकाश मे आने और अनेक नई ऐतिहासिक उपलब्धियां होने की आशा की जा सकती है।

हमारा अतीत बड़ा आदर्श, सुन्दर और स्वर्णिम रहा है। हम लोगो के ही प्रमाद के कारण वह धूमिल हो रहा है। आज भी भारतीय दर्शन की ससार के उच्चकोटि के तत्त्वचिन्तको के हृदय पर गहरी छाप है। पाश्चात्य विद्वानो ने समय-समय पर यह स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है कि भारतीय दर्शन एव चिन्तको का ससार मे सदा से सर्वोच्च स्थान रहा है और भारतीय संस्कृति मानव-सस्कृति का आदि-स्रोत है। सर्वतोमुखी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हमारे पूर्वज अत्यधिक वढ़े-चढे थे, यह तथ्य हमारे शास्त्र और धार्मिक ग्रन्थ डिण्डिम घोष से प्रकट कर रहे हैं। अमोघ शक्तिया, अमोघवाण, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वैष्णवास्त्र, वरुणास्त्र, रथमूसलास्त्र (आधुनिक टैंको से भी अत्यधिक सहारक स्वचालित भीषण अस्त्र), महाशिलाकण्टक (अद्भुत प्रक्षेपणास्त्र), शतघ्नी आदि सहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग हमारे पूर्वज जानते थे, यह हमारे प्राचीन ग्रन्थ पुकार-पुकार कर कहते हैं पर हमारा सम्मोह और मतिविभ्रम हमे इस ध्रुव सत्य को स्वीकार नही करने देता। इतिहास साक्षी है कि जब तक भारतीयो ने अपने उज्ज्वल अतीत के सही इतिहास को विस्मृत नही किया तव तक वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर आसीन रहे और जब से अपने इतिहास को भुलाया उसी दिन से अध.पतन प्रारम्भ हो गया। हमने हमारे प्राचीन – "सगच्छध्वं सवदध्व स वो मनासि जानताम्, समानो मन्त्रस्समितिस्समानी समान मनस्सहचित्तमेपाम्। समानी व आकूतिस्समाना हृदयानि व.। समानमस्तु वो मनो यथा वस्सुसहासति।" और

"सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह नौ वीर्यं करवावहै तेजस्वी नावधीतमस्तु मा विद्विपावहै।" इन सिंहनादो को भुला कर सफलता की कुजी ही खो दी।

यदि हम वास्तव में सच्चे हृदय से अपनी खोई हुई समृद्धि प्रतिष्ठा और गौरवगरिमा को पुन प्राप्त करना चाहते हैं तो हमे अपने इतिहास का वास्तविक ज्ञान करना होगा। क्योकि इतिहास वह सीढ़ी है जो सदा ऊपर की ओर ही चढाती है और कभी नीचे नही गिरने देती।

उन्नति के इस मूलमन्त्र को श्रद्धेय जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहव ने अच्छी तरह अनुभव करने के पश्चात् जैन धर्म के मौलिक इतिहास के रूप मे एक महान् सम्वल और अक्षय्य पाथेय हमे प्रदान किया है जिसमे जीवन को समुन्नत वनाने वाले प्रशस्त मार्ग के साथ-साथ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के दर्शन होते हैं।

अत्युच्चकोटि के विचारक, इतिहासज्ञ और महान् सत की कृति का सपादन करना किसी बडे विद्वान् का कार्य हो सकता है जिसने सम्पूर्ण जैनागम और प्राचीन साहित्य का समीचीन रूप से अध्ययन किया हो और जो स्वयं उच्च कोटि का इतिहासज्ञ एवं इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म वारीकियो को परखने मे कुशल हो। पर इन पंक्तियो के प्रस्तुतकर्त्ता मे इस प्रकार की कोई भी योग्यता नाम मात्र को भी नही है। जो कुछ सम्पादन कार्य वन पडा है वह इस पुस्तक के

लेखक करुणाकर आचार्यश्री की असीम कृपा और इस पुस्तक के सपादक-मण्डल के सम्माननीय विद्वानो के विश्वास और स्नेह का ही फल है।

इस पुस्तक मे यदि कोई त्रुटि अथवा आगम-विरुद्ध बात रह गई हो तो पूरी ईमानदारी के साथ कार्य करते रहने पर भी अल्पज्ञ होने के कारण यह सम्पादकीय का लेखक ही उसके लिये पूर्णरूपेण दोषी है।

'यदत्रासौष्ठव किञ्चित्तन्ममैव न कस्यचित्' इस पद के माध्यम से सम्भावित अपनी सभी त्रुटियो के लिये विद्वद्वृन्द के समक्ष मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रद्धेय आचार्यश्री ने जैन धर्म के इतिहास के सम्बन्ध मे नोट्स, लेख आदि सामग्री तैयार की है वह इतनी विपुल मात्रा मे है कि यदि उसमे से सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण सामग्री को प्रकाशनार्थ लिया जाता तो तीर्थंकरकाल के ही प्रस्तुत ग्रन्थ के समान आकार वाले अनेक भाग तैयार हो जाते अत अतीव संक्षिप्त रूप मे प्रमुख ऐतिहासिक सामग्री को ही इस ग्रन्थ मे स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आद्योपान्त सम्यक् अध्ययन से धर्म एव इतिहास के विज्ञ पाठको को विदित होगा कि आचार्यश्री ने भारतीय इतिहास को अनेक नवीन उपलब्धियो से समृद्ध, सुन्दर और अलंकृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के कालचक्र, कुलकर तुलनात्मक विश्लेषण, धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था, श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराओ की तुलना, भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख, हरिवश की उत्पत्ति, उपरिचर वसु (पूरा उपाख्यान), वसुदेव – सम्मोहक व्यक्तित्व, उस समय की राजनीति, अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन, अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन, क्षमामूर्ति गज सुकुमाल, वैदिक साहित्य मे अरिष्टनेमि और उनका वशवर्णन, भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव, आर्य केशिश्रमण, गोशालक का परिचय, कुतर्कपूर्ण भ्रम, कालचक्र का वर्णन, एक बहुत बडा भ्रम, भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या, महाशिलाकटक युद्ध, रथ-मूसल सग्राम, ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल तथा भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण आदि शीर्षको मे आचार्यश्री की ललित लेखन-कला के अद्भुत चमत्कार के साथ-साथ आचार्यश्री के विराट् स्वरूप, महान् व्यक्तित्व, अनुपम बहुमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अधिकारिकता के दर्शन होते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल आगमो, चूर्णियो, वृत्तियो और प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ मे वर्णित प्राय सभी तथ्य धर्म एव इतिहास के मूल ग्रन्थो से लिये गये है एव जैन धर्म का इतिहास इसके प्रारम्भिक मूलकाल से लिखा गया है अत इसका नाम "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" रखा गया है। तीर्थंकरो की धर्म-परिषद् के लिये आदि के स्थलो मे समवसरण और आगे के स्थलो मे समवशरण लिखा गया है। विद्वान् दिगम्बर मुनिश्री ज्ञानसागरजी ने अपने 'वीरोदय काव्य' के अधोलिखित श्लोक मे –

समवशरणमेतन्नामतो विश्रुतासी –
जिनपतिपदपूता संसदेषा सुभाशीः
जनिमरणदु खाद्दुखितो जीवराशि –
रिह समुपगत सन् संभवेदाशु काशीः

समवशरण शब्द का प्रयोग करते हुए 'समवशरण' शब्द की व्याख्या मे अन्यत्र लिखा है :–

"ख्यात च नाम्ना समवेत्य यत्र, ययुर्जना. श्रीशरणं यदत्र ।"

अर्थात् उसमे चारो ओर से आकर सभी प्रकार के जीव श्री वीर भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, इसलिये वह समवशरण के नाम से ससार मे प्रसिद्ध हुआ ।

'सम्यग्-एकी भावेन, अवसरण-एकत्र गमन-मेलापक. समवसरणम्' अभिधान-राजेन्द्र-कोष मे दी हुई इस समवसरण की व्याख्या से उपरिवर्णित व्याख्या अधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत हुई अत. प्रस्तुत ग्रन्थ मे आगे चलकर समवशरण शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे जिन प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन विद्वान् लेखको की पुस्तको से सहायता ली गई है उनकी सूची लेखको के नाम सहित दे दी गई है । हम उन सभी विद्वान् लेखको के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते है ।

इस ग्रंथ के सम्पादन-काल मे मुझे आगम-साहित्य के साथ-साथ अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों को पढने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उनमे एकत्रित अपार ऐतिहासिक सामग्री वस्तुतः अमूल्य है । मेरा यह निश्चित अभिमत है कि प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के दृष्टिकोण से जैन धर्मानुयायी अन्य सभी धर्मावलम्बियो से बहुत अधिक समृद्ध हैं ।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री के स्वामी होते हुए भी आज जैन धर्मावलम्बी चारो ओर से यह आवाज क्यो उठा रहे है कि जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास का अभाव हमें खटक रहा है अत. जैन धर्म के एक सर्वांगपूर्ण प्रामाणिक इतिहास का निर्माण किया जाना चाहिये ।

अटल दृढ विश्वास के साथ मेरा तो यही उत्तर होगा कि आज जैन धर्म का इतिहास प्राकृत, अपभ्रश तथा सस्कृत के वज्रकपाटों में वन्द पड़ा है और जो बाहर है वह यत्र तत्र विभिन्न ग्रन्थो एवं ग्रन्थ-भण्डारो मे बिखरा पड़ा है । इतिहास की विपुल सामग्री के विद्यमान होते हुए भी सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य भाषा मे क्रमबद्ध एवं सर्वांगपूर्ण जैन इतिहास आज समाज के समक्ष नही है ।

आवश्यकता थी एक ऐसे भगीरथ की जो सुदूर के विभिन्न स्थानों मे रुधे-रुके पडे इतिहास के अजस्र निर्मल स्रोतो की धाराओ को एकत्र प्रवाहित कर

कलकल-निनादिनी, उत्ताल-तरगिणी इतिहास-गगा को सर्वसाधारण के हृदयो मे प्रवाहित कर दे ।

जन-जन के अन्तस्तल मे उद्‌भूत हुई भावनाए कभी निष्फल नही होती । आज जैन समाज के सौभाग्य से एक महान् सन्त इतिहास की गगा प्रवाहित करने के लिये भगीरथ बनकर प्रयास कर रहे है । देखिये, आज के इन भगीरथ द्वारा प्रवाहित त्रिवेणी (गंगा – तीर्थंकरकाल का इतिहास, यमुना-निर्वाण पश्चात् लौंकाशाह तक का इतिहास और सरस्वती – लौकाशाह से आज दिन तक का इतिहास) की यह पहली गगधारा आप ही की ओर बढ रही है । जी भर कर अमृत-पान कर इसमे मज्जन कीजिये और एक साथ बोलिये–

अभय प्रदायिनि अघदलदारिणि,
जय, जय, जय इतिहास तरगिणि ।

पूजनीय आचार्यश्री ने मानव को परमोत्कर्ष पर पहुँचाने एवं जनकल्याण की भावना से ओत प्रोत हो इस ग्रन्थ के लेखन का जो अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य सम्पन्न किया है, उस भावना के अनुरूप ही पाठकगण मानवीय दृष्टिकोण को अपना कर आत्मोन्नति के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय उन्नति के पथ पर अग्रसर होगे तो आचार्यश्री को परम सतोष प्राप्त होगा ।

गजसिह राठोड़
न्या० व्या० तीर्थ,
सिद्धान्त विशारद

भूमिका

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन मनुष्य के लिए आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य है। जब मानव चिन्तन के सागर मे गहराई से डुबकी लगाता है तब दर्शन का और जब वह उस चिन्तन का अपने जीवन मे प्रयोग करता है तब धर्म का जन्म होता है। मानव के जीवन की उलझन को सुलझाने के लिए ही धर्म और दर्शन का जन्म हुआ। धर्म और दर्शन ये दोनो सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक है।

महान् दार्शनिक सुकरात से किसी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि शान्ति कहाँ है और क्या है ?

उस दार्शनिक ने समाधान करते हुए कहा – "मेरे लिए शान्ति मेरा धर्म और दर्शन है, वह बाहर नही अपितु मेरे अन्दर है।"

सुकरात की दृष्टि से धर्म और दर्शन भिन्न नही अपितु अभिन्न है। उसके पश्चात् ग्रीक व यूरोपीय दार्शनिकों में धर्म और दर्शन को लेकर मतभेद उपस्थित हुआ। सुकरात ने जो दर्शन और धर्म का निरूपण किया वह जैन धर्म से बहुत कुछ सगत प्रतीत होता है। जैन धर्म में आचार के पाँच भेद माने गये हैं[1] उसमे ज्ञानाचार भी एक है। ज्ञान और आचार परस्पर सापेक्ष है, इस दृष्टि से विचार दर्शन और आचार धर्म है।

पाश्चात्य चिन्तको ने धर्म के लिए 'रिलीजन' और दर्शन के लिए 'फिलोसफी' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु धर्म और दर्शन शब्द मे जो गम्भीरता व व्यापकता है वह रिलीजन और फिलोसफी शब्द मे नही है। भारतीय विचारको ने धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् स्वीकार नही किया है। जो धर्म है वही दर्शन भी है। दर्शन तर्क पर आधारित है और धर्म श्रद्धा पर, वे एक दूसरे के बाधक नही अपितु साधक रहे हैं। वेदान्त मे जो पूर्व मीमासा है वह धर्म है और उत्तर मीमांसा है वह दर्शन है। योग आचार है तो सांख्य विचार है। बौद्ध परम्परा मे हीनयान दर्शन है तो महायान धर्म है। जैन धर्म मे मुख्य रूप से दो तत्त्व है एक अहिंसा और दूसरा अनेकान्त। अहिंसा धर्म है और अनेकान्त दर्शन है। इस प्रकार दर्शन धर्म है और धर्म दर्शन है। विचार में आचार और आचार मे विचार यही भारतीय चिन्तन की विशेषता है।

---

[1] स्थानाङ्ग ५, उद्दे २, सूत्र ४३२

ग्रीक और यूरोप मे धर्म और दर्शन दोनों साथ-साथ नही अपितु एक दूसरे के विरोध मे खड़े हैं, जिसके फलस्वरूप जीवन मे जो आनन्द की अनुभूति होनी चाहिये वह नही हो पाती।

पाश्चात्य विचारको ने धर्म मे बुद्धि, भावना और क्रिया ये तीन तत्त्व माने है। बुद्धि का तात्पर्य है ज्ञान, भावना का अर्थ है श्रद्धा और क्रिया का अर्थ है आचार। जैन दृष्टि से भी सम्यक् श्रद्धा, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों धर्म हैं।

'हेगेल' और 'मैक्स मूलर' ने धर्म की जो परिभाषा की है उसमे ज्ञानात्मक पहलू पर ही वल दिया है और दो अशो की उपेक्षा की है। काण्ट ने धर्म की जो परिभाषा की उसमे ज्ञानात्मक के साथ क्रियात्मक पहलू पर भी लक्ष्य किया पर भावात्मक पहलू की उसने भी उपेक्षा कर दी। किन्तु मार्टिन्यू ने धर्म की जो परिभाषा प्रस्तुत की उसमे विश्वास, विचार और आचार इन तीनो का मधुर समन्वय है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनो को उसने अपनी परिभाषा में समेट लिया है।

पाश्चात्य विचारको की दृष्टि से धर्म और दर्शन का विषय सम्पूर्ण विश्व है। दर्शन मानव की अनुभूतियो की तर्कपुरस्सर व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तों की अन्वेषणा करता है। धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यो के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का विवेचन करने का प्रयास करता है। धर्म और दर्शन मे दूसरी समता यह है कि दोनो मानवीय ज्ञान की योग्यता मे, यथार्थता मे तथा चरम तत्त्व मे विश्वास करते है। दर्शन में बौद्धिकता की प्रधानता है तो धर्म में आध्यात्मिकता की। दर्शन सिद्धान्त को प्रधानता देता है तो धर्म व्यवहार को।

आज के युग मे यह प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म और दर्शन का जन्म कब से हुआ? इस प्रश्न के उत्तर मे संक्षेप मे इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वर्तमान इतिहास की दृष्टि से इसकी आदि का पता लगाना कठिन है। उसके लिए हमे प्रागैतिहासिक काल मे जाना होगा, जिस पर हम अगले पृष्ठों पर चिन्तन करेंगे। यह सदा स्मरण रखना होगा कि दर्शन के अभाव में धर्म अपूर्ण है और धर्म के अभाव मे दर्शन भी अपूर्ण है। मानव-जीवन को सुन्दर, सरस व मधुर बनाने के लिए दोनो ही की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है।

आधुनिक युग मे एक नवीन प्रश्न भी उपस्थित हो रहा है कि धर्म और विज्ञान का क्या सम्बन्ध है? यहाँ विस्तार से विवेचन करने का प्रसग नही है। सक्षेप मे इतना ही बताना आवश्यक है कि धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से अधिक है और विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य-जगत् प्रकृति से है। धर्म का प्रधान उद्देश्य मुक्ति की साधना है और विज्ञान का प्रधान उद्देश्य है प्रकृति का अनुसधान। विज्ञान मे सत्य की तो प्रधानता है पर शिव और सुन्दरता का उसमें अभाव है जबकि धर्म मे 'सत्य' 'शिव' और 'सुन्दर' तीनो हैं।

जैन धर्म

जैन धर्म विश्व का एक महान् धर्म है, दर्शन है। आजतक प्रचलित और प्रतिपादित सभी धर्म तथा दर्शनो मे यह अद्भुत अनन्य एवं अपराजेय है। विश्व का कोई भी धर्म और दर्शन इसकी प्रतिस्पर्धा नही कर सकता। इसमे हजार-हजार विशेषताएं हैं जिनके कारण यह आज भी विश्व के विचारको के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि प्रस्तुत विचारणा के पीछे विशुद्ध सत्य-तथ्य की भावना ही अठखेलिया कर रही है, न कि किसी भी धर्म के प्रति उपेक्षा, आक्षेप और ईर्ष्या की भावना।

सहज ही प्रश्न हो सकता है कि जैन धर्म और दर्शन यदि इतना महान् व श्रेष्ठ है तो उसके अनुसरण करने वालो की सख्या इतनी अल्प क्यो है? उत्तर मे निवेदन है कि मानव सदा से सुविधावाद को पसन्द करता रहा है, वह सरल मार्ग चाहता है, कठिन मार्ग नही। आज भौतिक-भक्ति के युग में यह प्रवृत्ति द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ रही है। मानव अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधाए प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए वह अहर्निश प्रयत्न कर रहा है तथा उसमे अपने जीवन की सार्थकता अनुभव कर रहा है जबकि जैन धर्म भौतिकता पर नही आध्यात्मिकता पर बल देता है, वह स्वार्थ को नही परमार्थ को अपनाने का सकेत करता है, वह प्रवृत्ति की नही निवृत्ति की प्रेरणा देता है, वह भोग नही त्याग को बढ़ावा देता है, वासना नही उपासना को अपनाने का सकेत करता है, जिसके फलस्वरूप ही जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या अल्प व अल्पतर होती जा रही है पर यह असमर्थता, अयोग्यता व दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मानव का है न कि जैन धर्म और दर्शन का है। अनुयायियो की अधिकता और न्यूनता के आधार से किसी भी धर्म को श्रेष्ठ और कनिष्ठ मानना यह बुद्धिमानी नही है। जैन धर्म की उपयोगिता और महानता जितनी अतीत काल मे थी उससे भी अधिक आधुनिक युग मे है। आज विश्व के भाग्य-विधाता चिन्तित है। भौतिकवाद की पराकाष्ठा होने पर भी जीवन मे आनन्द की अनुभूति नही हो रही है। वे अनुभव करने लगे है कि बिना आध्यात्मिकता के भौतिक उन्नति जीवन के लिए वरदान नही अपितु अभिशाप है

समघा. समाहित
तैत्तिरीयारण्यक भ

जैन धर्म की प्राचीनता

यह साधिकार कहा जा सकता है वि चु तैत्तिरीयरण्यक २१ सबसे प्राचीन धर्म है। यह न वैदिक धर्म की शाखा है और किन्तु यह सर्वतन्त्र स्वतंत्र धर्म है, दर्शन है। यह सत्य है कि 'जैन ध भारतीय विद्या प्र का प्रयोग वेदो मे, त्रिपिटको मे और आगमो मे देखने को नही मिलता है जिसके कारण तथा साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण कितने ही इतिहासकारो ने जैन धर्म को अर्वाचीन मानने की भयंकर भूल की है। हमे उनके ऐतिहासिक ज्ञान पर तरस आती है।

'वैदिक सस्कृति का विकास' पुस्तक मे श्री लक्ष्मरण शास्त्री जोशी ने लिखा है – जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक सस्कृति की ही शाखाए है। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हे वैदिक नही मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओ के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनो और बौद्धो की तीन अन्तिम कल्पनाए-कर्म-विपाक, ससार का वधन और मोक्ष या मुक्ति – अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।"[1]

शास्त्री महोदय ने जिन अन्तिम कल्पनाओ – कर्म-विपाक, ससार का वधन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वास्तव मे वे मूलतः अवैदिक है।

वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नही है। और इन को बिना माने कर्म-विपाक और बधन की कल्पना का विशेष मूल्य नही है। ए०ए० मैकडोनेल का मन्तव्य है – पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदो मे कोई सकेत नही मिलता है किन्तु एक ब्राह्मण मे यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नही करते वह मृत्यु के बाद पुन. जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते है।[2]

वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्व है – यज्ञ, ऋण, और वर्ण-व्यवस्था। इन तीनो का विरोध श्रमण सस्कृति की जैन और बौद्ध दोनो धाराओं ने किया है। अत· शास्त्री का मन्तव्य आधाररहित है। यह स्पष्ट है कि जैन धर्म वैदिक धर्म की शाखा नही है।

प्रो० लासेन ने लिखा है – "बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति है क्योकि जैन और बुद्ध परम्परा की मान्यताओ मे अनेक विध समानता है।"[3]

प्रो० बेबर ने लिखा है – जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा है वह उससे स्वतत्र नही है।"[4]

उपर्युक्त दोनो मतो का निरसन प्रो० याकोबी ने अनेक अकाट्य तर्कों के आधार से किया और अन्त मे यह स्पष्ट बताया कि जैन और बौद्ध दोनो सम्प्रदाय स्वतंत्र हैं रग। ... नही वलिक जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र के अभाव ... सम्प्रदाय के अन्तिम पुरस्कर्ता मात्र हैं।"[5]

के लिए दोनो ही का

जब ह... े जैन धर्म का अध्ययन करते है तब सूर्य के प्रकाश की तरह ... युग मे एक नवीन ... कि जैन धर्म विभिन्न युगो मे विभिन्न नामो

सम्बन्ध है ? यह

[1] वैदिक सस्कृति का वताना पृष्ठ १५-१६

[2] वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० ३१५

[3] S B E Vol. 22 Introduction P 19

[4] वही पृ० १८

[5] वही

द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिक काल से आरण्यक काल तक वह वातरशन मुनि या वातरशन श्रमणों के नाम से पहचाना गया है। ऋग्वेद मे वातरशन मुनि का वर्णन है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक मे केतु अरुण और वातरशन ऋषियों की स्तुति की गई है।[2] आचार्य सायण के मतानुसार केतु, अरुण और वातरशन ये तीनो ऋषियों के संघ थे।[3] वे अप्रमादी थे।[4] श्रीमद्भागवत के अनुसार भी वातरशन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभदेव ने किया।[5]

तैत्तिरीयारण्यक मे भगवान् ऋषभदेव के शिष्यो को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[6] व्रात्य शब्द भी वातरशन शब्द का सहचारी है। वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नही थे। क्योकि प्रारम्भ में वैदिक परम्परा में संन्यास और मुनिपद का स्थान नही था।[7]

जैन धर्म का दूसरा नाम आर्हत भी अत्यधिक विश्रुत रहा है। जो 'अर्हत्' के उपासक थे वे 'आर्हत्' कहलाते थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नही मानते थे। ऋग्वेद मे वेद और ब्रह्म के उपासको को 'वार्हत' कहा गया है। वेदवाणी को वृहती कहते हैं। वृहती की उपासना करने वाले वार्हत कहलाते है। वेदों की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी होते थे। वे इन्द्रियो का सयमन और नियमन कर वीर्य की रक्षा करते थे और इस प्रकार वेदों की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी साधक 'वार्हत' कहलाते थे।[8] वार्हत ब्रह्म या ब्राह्मण संस्कृति के पुरस्कर्त्ता थे। वे वैदिक यज्ञ-याग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे।

आर्हत लोग यज्ञों में विश्वास न कर कर्म-वंध और कर्म-निर्जरा को मानते थे। प्रस्तुत आर्हत धर्म को 'पद्मपुराण' में सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है।[9] इस धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं।

---

[1] मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला। ऋग्वेद सहिता १०।११।१३६।२

[2] केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशना प्रतिष्ठा शतधा हि समाहितासो सहस्रधायसम्॥
तैत्तिरीय आरण्यक १।२१।३, १।२४,

[3] (ख) तैत्तिरीय आरण्यक १।३१।६

[4] केत्वरुणवातरशनशब्दा ऋषिसघानाचक्षते। ते सर्वेऽपि ऋषिमघा समाहितासोऽप्रमत्ता नन्त उपदधतु। तैत्तिरीयारण्यक भाष्य १।२१।३

[5] श्रीमद्भागवत ११।२।२०

[6] वातरशनाह वा ऋपय श्रमणा ऊर्ध्वमयिनो वभूवु तैत्तिरीयरण्यक २।७।१

[7] साहित्य और सस्कृति पृ० २०८, देवेन्द्र मुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, कचौडी गली, वाराणसी।

[8] आच्छद्विधानैर्गपितो वार्हतै. सोमरक्षितः ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिव.। ऋग्वेद १०।८५।४।

[9] आर्हत सर्वमेतच्च, मुक्तिद्वारमसवृतम्। धर्माद् विमुक्तेरर्होऽय, न तस्मादपर पर.॥
पद्मपुराण १३।३५०

ऋग्वेद मे अर्हन् को विश्व की रक्षा करने वाला सर्वश्रेष्ठ कहा है।[1] शतपथ ब्राह्मण मे भी अर्हन् का आह्वान किया गया है और अन्य कई स्थलों पर उन्हे 'श्रेष्ठ' कहा गया है।[2] सायण के अनुसार भी अर्हन् का अर्थ योग्य है।

आचार्यप्रवर श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कल्पसूत्र मे भगवान् अरिष्टनेमि व अन्य तीर्थकरो का विशेषण अर्हत् प्रयोग किया है।[3] इसिभापिय के अनुसार भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थकाल मे प्रत्येक बुद्ध भी अर्हत् कहलाते थे।[4]

पद्मपुराण[5] और विष्णुपुराण[6] मे जैन धर्म के लिए आर्हत्-धर्म का प्रयोग मिलता है।

आर्हत शब्द की मुख्यता भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल तक चलती रही।[7]

महावीरयुगीन साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि उस समय निर्ग्रन्थ शब्द मुख्य रूप से व्यवहृत हुआ है।[8] बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर भगवान् महावीर को 'निग्गथ नायपुत्त' कहा है।[9] अशोक के शिलालेखो मे भी 'निग्गठ' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[10] भगवान् महावीर के पश्चात् आठ गणधरो या आचार्यों तक 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्य रूप से रहा है।[11] वैदिक ग्रन्थो मे भी निर्ग्रन्थ शब्द मिलता है।[12] सातवी शताब्दी मे बगाल मे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय प्रभावशाली था।[13]

---

१ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१।३, ७।१८।२२, १०।२।२। ९९।७। तथा १०।८५।४
ऐआ० ५।२।२, शा० १५।४। १८।२, २३।१, ऐ० ४।१०

२ ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तै आ० ४।५।७, ५।४।१०, आदि-आदि

३ कल्पसूत्र, देवेन्द्र मुनि सम्पादित, सूत्र १६१, १६२ आदि

४ इसिभापिय १।२०

५ पद्मपुराण १३।३५०

६ विष्णुपुराण ३।१८।१२

७ बाबू छोटेलाल स्मृतिग्रन्थ, पृ० २०१
(ख) अतीत का अनावरण, पृ० ६०

८ आचाराग १।३।१।१०८
(ख) निग्गथ पावयण [भगवती ९।६।३८६]

९ दीघनिकाय सामयफल सुत्त १८।२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग, पृ० २४२

१० इमे वियापटा होहति त्ति निग्गठेसु पि मे कटे
[प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन द्वि० खण्ड, पृ० १९]

११ श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्था साधवोऽनगारा इत्यादि सामान्यार्थाभिधायिन्याख्यासी
— पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृ० ४५

१२ कन्याकौपीनोत्तरासङ्गादीना त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहा — इति सवर्तश्रुतिः [तैत्तिरीय आरण्यक १०।६३, सायणभाष्य भाग — २, पृ० ७७८]
(ग) जाबालोपनिषद्

१३ द एज आव इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २८८

दशवैकालिक,[1] उत्तराध्ययन[2] और सूत्रकृताङ्ग[3] आदि आगमो मे जिन शासन, जिनमार्ग, जिनवचन शब्दो का प्रयोग हुआ है। किन्तु 'जैन धर्म' इस शब्द का प्रयोग आगम ग्रन्थो में नही मिलता। सर्वप्रथम 'जैन' शब्द का प्रयोग जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य मे देखने को प्राप्त होता है।[4] उसके पश्चात् के साहित्य मे जैन धर्म शब्द का प्रयोग विशेषरूप से व्यवहृत हुआ है। मत्स्यपुराण[5] में जिनधर्म और देवी भागवत[6] में जैन धर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि देश काल के अनुसार शब्द बदलते रहे हैं, पर शब्दों के बदलते रहने से जैन धर्म अर्वाचीन नही हो सकता। परम्परा की दृष्टि से उसका सम्बन्ध भगवान् ऋषभदेव से है।

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैव धर्म विष्णु के नाम पर वैष्णव धर्म और बुद्ध के नाम पर बौद्ध धर्म प्रचलित है वैसे ही जैन धर्म किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर प्रचलित नही है और न यह धर्म किसी व्यक्ति-विशेष का ही है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर का धर्म नही कहा है। यह आर्हतो का धर्म है, जिनधर्म है। जैन धर्म के मूल मत्र 'नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूण'[7] मे किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार नही किया गया है। जैन धर्म का स्पष्ट अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष कर मानव से महामानव बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है।

---

[1] सोच्चाण जिण-सासण
[दशवैकालिक ८।२५]
(ख) जिणमय
[वही ९।३।१५]

[2] जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयण जे करेति भावेण
[उत्तराध्ययन ३६।२६४]

[3] अणुत्तर धम्ममिणं जिणाण
[सूत्रकृताङ्ग]

[4] जेण तित्थ – विशेषावश्यक भाष्य गा० १०४३
(ख) तित्थ-जइण – वही गा० १०४५-१०४६
(ग) जइण समुग्घायगईए
[वही, गा० ३८३]

[5] मत्स्यपुराण ४।१३।५४

[6] गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति
जिनधर्म समास्थाय वेदबाह्य स वेदवित् ॥
छद्मरूपधर सोम्य बोधयन्त छलेन तान्
जैनधर्मकृत स्वेन, यज्ञनिन्दापर तथा ॥
[देवीभागवत ४।१३।५४]

[7] -भगवती मगलाचरण

तीर्थंकर

तीर्थंकर-शब्द जैन साहित्य का मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कब और किस समय प्रचलित हुआ यह कहना अत्यधिक कठिन है। वर्तमान इतिहास से इसकी आदि नही ढूढी जा सकती। निस्सदेह यह शब्द उपलब्ध इतिहास से वहुत पहले प्राग् ऐतिहासिक काल मे भी प्रचलित था। जैन परम्परा में इस शब्द का प्राधान्य रहने के कारण बौद्ध साहित्य मे भी इसका प्रयोग किया गया है। बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर 'तीर्थंकर' शब्द व्यवहृत हुआ है।[1] सामञ्ञफल सुत्त मे छह तीर्थंकरो का उल्लेख किया गया है[2] किन्तु यह स्पष्ट है कि जैन साहित्य की तरह मुख्य रूप से यह शब्द वहाँ प्रचलित नही रहा है। कुछ ही स्थलो पर उसका उल्लेख हुआ है किन्तु जैन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है। तीर्थंकर जैन धर्म-सघ का पिता है, सर्वेसर्वा है। जैन साहित्य मे खूब ही विस्तार से तीर्थंकर का महत्त्व उट्टङ्कित किया गया है। आगम साहित्य से लेकर स्तोत्र साहित्य तक मे तीर्थंकर का महत्त्व प्रतिपादित है। चतुर्विंशतिस्तव और शक्रस्तव में तीर्थंकर के गुणो का जो उत्कीर्तन किया गया है उसे पढकर साधक का हृदय श्रद्धा से नत हो जाता है।

(जो तीर्थ का कर्त्ता या निर्माता होता है वह तीर्थंकर कहलाता है)। जैन परिभाषा के अनुसार तीर्थ शब्द का अर्थ धर्म-शासन है। जो संसार-समुद्र से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की संस्थापना करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म हैं। इस धर्म को धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका हैं। इस चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा गया है।[3] इस तीर्थ की जो स्थापना करते है उन विशिष्ट व्यक्तियो को तीर्थंकर कहते है।)

सस्कृत साहित्य मे तीर्थशब्द 'घाट' के लिए भी व्यवहृत हुआ है। जो घाट के निर्माता हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। सरिता को पार करने के लिए घाट की कितनी उपयोगिता है यह प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति जानता है। संसाररूपी एक महान् नदी है, उसमे कही पर क्रोध के मगरमच्छ मुह फाडे हुए है, कही पर माया के जहरीले साँप फूत्कार कर रहे है तो कही पर लोभ के भवर हैं। इन सभी को पार करना कठिन है। साधारण साधक विकारो के भंवर मे फस जाते हैं। कषाय के मगर उन्हे निगल जाते हैं। अनन्त दया के अवतार तीर्थंकर प्रभु ने साधको की सुविधा के लिए धर्म का घाट वनाया, अणुव्रत और महाव्रतो की निश्चित योजना प्रस्तुत की, जिससे प्रत्येक साधक इस ससाररूपी भयंकर नदी को सहज ही पार कर सकता है।

---

[1] देखिए बौद्ध साहित्य का लकावतार-सूत्र

[2] दीघ निकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० १६-२२, हिन्दी अनुवाद

[3] तित्थ पुण चाउवण्णाइन्ने समण सघो — समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ
(ख) स्थानाग ४।३ [भगवती सूत्र शतक २, उ० ८, सूत्र ६८२]

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। चाहे कितनी ही बड़ी से बड़ी नदी क्यो न हो, यदि उस पर पुल है तो निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमता से पार कर सकता है। तीर्थकरों ने ससाररूपी नदी को पार करने के लिए धर्म-शासन अथवा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूपी संघस्वरूप पुल का निर्माण किया है। आप अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार इस पुल पर चढकर संसार को पार कर सकते है। धार्मिक साधना के द्वारा अपने जीवन को पावन वना सकते हैं। तीर्थकरो के शासनकाल मे हजारो लाखों व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर जीवन को परम पवित्र वनाकर मुक्त होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम तीर्थ की सस्थापना की अतः उन्हे तीर्थकर कहना चाहिए परन्तु उनके पश्चाद्वर्ती तेवीस महापुरुषो को तीर्थकर क्यों कहा जाय ?

कुछ विद्वान् यह भी कहते है कि धर्म की व्यवस्था जैसी एक तीर्थकर करते हैं वैसी ही व्यवस्था दूसरे तीर्थंकर भी करते है अत. एक ऋषभदेव को ही तीर्थकर मानना चाहिए अन्य को नही।

उल्लिखित प्रश्नो के उत्तर मे निवेदन है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त आदि जो धर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्त हैं वे शाश्वतसत्य और सदा-सर्वदा अपरिवर्तनीय हैं। अतीत के अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान मे जो श्री सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर है और अनागत अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थकर होने वाले हैं उन सवके द्वारा धर्म के मूल स्तंभस्वरूप इन शाश्वत सत्यो के सम्बन्ध में समान रूप से प्ररूपणा की जाती रही हैं, की जा रही है और की जाती रहेगी। धर्म के मूल तत्त्वों के निरूपण मे एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर का किंचित्मात्र भी भेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा परन्तु प्रत्येक तीर्थकर अपने-अपने समय मे देश-काल, जनमानस की ऋजुता, तत्कालीन मानव की शक्ति, वुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान मे रखते हुए उस काल और उस काल के मानव के अनुरूप साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका के लिये अपनी-अपनी एक नवीन आचार-सहिता का निर्माण करते हैं।

एक तीर्थकर द्वारा संस्थापित श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकारूपी तीर्थ मे काल-प्रभाव से जव एक अथवा अनेक प्रकार की विकृतिया उत्पन्न हो जाती हैं, तीर्थ मे लम्वे अतीत तथा अन्य कारणो से भ्रान्तिया पनपने लगती हैं, कभी-कभी तीर्थ विलुप्त, विलुप्तप्राय, विशृंखल अथवा शिथिल हो जाता है उस समय दूसरे तीर्थंकर का समुद्भव होता है और वे विशुद्धरूपेण नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं अत. एव वे तीर्थकर कहलाते हैं। उनके द्वारा धर्म के प्राणभूत ध्रुव सिद्धान्त उसी रूप मे उपदिष्ट किये जाते हैं केवल वाह्य क्रियाओं एवं आचार-व्यवहार आदि का प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे न्यूनाधिक वैभिन्य होता है।

जब पुराने घाट ढह जाते हैं, वे विकृत अथवा अनुपयुक्त हो जाते हैं तब नवीन घाट निर्माण किये जाते हैं। जब धार्मिक विधि-विधानो मे विकृति आ जाती है तब तीर्थंकर उन विकृतियो को नष्ट कर अपनी दृष्टि से पुनः धार्मिक विधानों का निर्माण करते हैं। तीर्थंकरों का शासन-भेद इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। मैंने इस सम्बन्ध मे 'भगवान् पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन' ग्रन्थ मे विस्तार से विवेचन किया है। जिज्ञासु पाठको को वहा देखना चाहिए।[1]

तीर्थंकर अवतार नहीं

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन धर्म ने तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार या अश नही माना है और न दैवी सृष्टि का अजीव प्राणी ही स्वीकार किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर का जीव अतीत में एक दिन हमारी ही तरह वासना के दल-दल मे फसा हुआ था। पापरूपी पक से लिप्त था। कषाय की कालिमा से कलुपित था, मोह की मदिरा से मत्त था। आधि, व्याधि और उपाधियो से सत्रस्त था। हेय, ज्ञेय और उपादेय का उसे तनिक भी ध्यान नही था। वैराग्य से विमुख रहकर वह विकारो को अपनाता था। उपासना को छोडकर वासना का दास बना हुआ था। त्याग के बदले वह राग में फसा हुआ था। भौतिक व इन्द्रियजन्य सुखों को सच्चा सुख समझकर पागल की तरह उसके पीछे दौड रहा था किन्तु एक दिन महान् पुरुषो के सग से उसके नेत्र खुल गये। भेद-विज्ञान की उपलब्धि होने से तत्त्व की अभिरुचि जागृत हुई। सही व सत्य स्थिति का उसे परिज्ञान हुआ।

किन्तु कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि मिथ्यात्व के पुनः आक्रमण से उसके ज्ञान-नेत्र धुधले हो जाते है और वह पुन॰ मार्ग को विस्मृत कर कुमार्ग पर आरूढ हो जाता है और लम्बे समय के पश्चात् पुनः सन्मार्ग पर आता है तब वासना से मुह मोडकर साधना को अपनाता है, उत्कृष्ट तप व संयम की आराधना करता हुआ एक दिन भावो की परम निर्मलता से तीर्थंकर नाम कर्म का बधन करता है और फिर वह तृतीय भव से तीर्थंकर बनता है[2] किन्तु यह भी नही भूलना चाहिए कि जब तक तीर्थंकर का जीव संसार के भोग-विलास मे उलझा हुआ है, सोने के सिंहासन के मोह मे फसा हुआ है तब तक वह वस्तुतः तीर्थंकर नही है। तीर्थंकर बनने के लिए उस अन्तिम भव मे भी राज्य-वैभव को छोडना होता है। श्रमण बन कर स्वय को पहले महाव्रतो का पालन करना होता है, एकान्त शान्त निर्जन स्थानो मे रहकर आत्म-मनन करना होता है, भयकर से भयकर उपसर्गों को शान्त भाव से सहन करना होता है। जब साधना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं तब

---

[1] भ० पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ३-२५, प्रकाशन प० मुनि श्रीमल प्रकाशन, २५६ नाना पेठ, पूना न० २, सन् १९६९

[2] समवायाङ्ग सूत्र १५७

चौबीस अवतार

जैन धर्म मे चौवीस तीर्थंकरो की इतनी अत्यधिक प्रतिष्ठा रही कि वैदिक और बौद्ध परम्परा ने भी उसका अनुसरण किया है। वैदिक परम्परा अवतारवादी है इसलिए उसने तीर्थंकर के स्थान पर चौबीस अवतार की कल्पना की है। जब हम पुराण साहित्य का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करते है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि अवतारों की सख्या एक सी नही है। भागवत पुराण मे अवतारो के तीन विवरण मिलते हैं, जो अन्य पुराणो मे प्राप्त होने वाली दशावतार परम्परा से किञ्चित् पृथक् है। भागवत मे एक स्थान पर भगवान् के असख्य अवतार बताए है।[1] दूसरे स्थान पर सोलह, बावीस और चौवीस को प्रमुख माना है।[2] दशमस्कव की एक सूची मे बारह अवतारो के नाम गिनाए गए हैं।[3] इससे दशावतारो की परम्परा का परिज्ञान होता है। उक्त सूची मे आगे चलकर पाँचरात्र वासुदेव के ही पर्याय विभवों की सख्या २४ से बढकर ३९ तक हो गई है।[4]

---

[1] भागवत पुराण १।३।२६

[2] भागवत पुराण १०।२।४०

[3] भागवत पुराण १०।२।४०

[4] भाण्डारकर ने हेमाद्रि द्वारा उद्धृत और वृहद्हारितस्मृति १०।५।१४५ मे प्राप्त उन २४ विभवो का उल्लेख किया है। उन विभवो के नाम इस प्रकार हैं – (१) केशव, (२) नारायण, (३) माधव, (४) गोविन्द, (५) विष्णु, (६) मधुसूदन, (७) त्रिविक्रम, (८) वामन, (९) श्रीधर, (१०) हरिकेश, (११) पद्मनाभ, (१२) दामोदर, (१३) सकर्षण, (१४) वासुदेव, (१५) प्रद्युम्न, (१६) अनिरुद्ध, (१७) पुरुषोत्तम, (१८) अधोक्षज, (१९) नरसिंह, (२०) अच्युत, (२१) जनार्दन, (२२) उपेन्द्र, (२३) हरि, (२४) श्रीकृष्ण।

ये विष्णु के चौवीस अवतारो की अपेक्षा चौबीस नाम ही अधिक उचित प्रतीत होते हैं क्योकि अवतार और विभवो मे यह अन्तर है कि अवतारो को उत्पन्न होने वाला माना है वहाँ पर विभव 'अजहत्' स्वभाव वाले हैं। जिस प्रकार दीप से दीप प्रज्वलित होता है वैसे ही वे उत्पन्न होते हैं।

'तत्त्वत्रय' पृष्ठ १९२ के अभिमतानुसार पाँचरात्रो मे पृष्ठ २६ एव पृष्ठ ११२-११३ मे उद्धृत 'विष्वकूसेन सहिता' और 'अहिवुन्य सहिता' (५, ५०-५७) मे ३९ विभवो के नाम दिये हैं।

श्रेडर ने 'इन्ट्रोडक्शन टू अहिवुध्न्य सहिता' पृष्ठ ४२-४९ पर भागवत के अवतारो के साथ तुलना करते हुए उनमे चौवीस अवतारो का समावेश किया है। ३९ विभवो के नाम इस प्रकार हैं – (१) पद्मनाभ, (२) ध्रुव, (३) अनन्त, (४) शक्त्यात्मन, (५) मधुसूदन, (६) विद्याधिदेव, (७) कपिल, (८) विश्वरूप, (९) विहङ्गम, (१०) क्रोधात्मन, (११) वाडवायक्त्र, (१२) धर्म, (१३) वागीश्वर, (१४) एकार्णवशायी, (१५) कमठेश्वर, (१६) वराह, (१७) नृसिंह, (१८) पीयूष-हरन,

भागवत के आधार पर विकसित लघु-भागवतामृत मे यह सख्या २५ तथा 'सात्वत तत्र' मे लगभग ४१ से भी अधिक हो गई है।[1] इस तरह मध्य-कालीन वैष्णव सम्प्रदायो मे भी कोई सर्वमान्य सूची गृहीत नही हुई है।

हिन्दी साहित्य मे चौबीस अवतारो का वर्णन है उसमे भागवत की तीनो सूचियो का समावेश किया गया है। सूरदास[2], वारहह[3], रामानन्द,[4] रज्जव,[5] बैजू,[6] लखनदास[7], नाभादास[8] आदि ने भी चौवीस अवतार का वर्णन किया है।

इन चौवीस अवतारो में मत्स्य, वराह, कूर्म, आदि अवतार पशु है। हस पक्षी है। कुछ अवतार पशु और मानव दोनो के मिश्रित हैं जैसे नृसिह, हयग्रीव आदि।

वैदिक परम्परा मे अवतारो की सख्या मे क्रमश. परिवर्तन होता रहा है। जैन तीर्थंकरो की तरह उनका व्यवस्थित रूप नही मिलता। इतिहासकारो ने 'भागवत' की प्रचलित चौवीस अवतारो की परम्परा को जैनो से प्रभावित माना है। श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा का मन्तव्य है कि चौवीस अवतारो की यह कल्पना भी वौद्धो के चौबीस वुद्ध और जैनो के चौवीस तीर्थंकरो की कल्पना के आधार पर हुई है।[9]

चौबीस बुद्ध

भागवत मे जिस प्रकार विष्णु, वासुदेव या नारायण के अनेक अवतारो की चर्चा की गई है उसी प्रकार लकावतार सूत्र मे कहा गया है कि बुद्ध अनन्त

---

(१९) श्री पति, (२०) कान्तात्मन, (२१) राहुजीत, (२२) कालनेमिघ्न, (२३) पारिजातहर, (२४) लोकनाथ, (२५) शान्तात्मा, (२६) दत्तात्रेय, (२७) न्यग्रोधशायी, (२८) एकशृङ्गतनु, (२९) वामनदेव, (३०) त्रिविक्रम, (३१) नर, (३२) नारायण, (३३) हरि, (३४) कृष्ण (३५) परशुराम, (३६) राम, (३७) देवविध, (३८) कल्कि, (३९) पातालशयन।

[कलेक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भण्डारकर, पृ० ६६-६७]

[1] लघुभागवतामृत, पृ० ७० श्लोक ३२, सात्वत तत्र, द्वितीय पटल

[2] सूरसागर पृ० १२६, पद ३७८

[3] अवतार चरित, स० १७३३, नागरी प्रचारिणी सभा (हस्तलिखित प्रति)

[4] न तहाँ चौवीस् वप वरन,

[रामानन्द की हिन्दी रचनाए नागरी प्रचारिणी, सभा ८६]

[5] एक कहै अवतार दस, एक कहै चौवीस। [रज्जव जी की वानी, पृ० ११८]

[6] आप अवतार भये, चौवीस वपुधर। [रागकल्पद्रुम, जिल्द १, पृ० ४५]

[7] चतुर्विश लीलावतारी। [राग कल्पद्रुम, जि० १, पृ० ५१९]

[8] चौवीस रूप लीला रुचिर

[9] मध्यकालीन भारतीय सस्कृति (१९५१ स०), पृ० १३

रूपो में अवतीर्ण होगे और सर्वत्र अज्ञानियो मे धर्म-देशना करेगे।[1] लकावतार मे भागवत के समान चौवीस वुद्धो का उल्लेख है।

सूत्रालकार[2] मे बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्न का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कोई भी पुरुष प्रारम्भ से ही बुद्ध नही होता। बुद्धत्व की उपलब्धि के लिए पुण्य और ज्ञान-सभार की आवश्यकता होती है। तथापि वुद्धों की सख्या में अभिवृद्धि होती गई। प्रारम्भ में यह मान्यता रही कि एक साथ दो वुद्ध नही हो सकते किन्तु महायान मत ने एक समय मे अनेक वुद्धो का अस्तित्व स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि एक लोक मे अनेक वुद्ध एक साथ नही हो सकते।[3]

इससे बुद्धो की संख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई। सद्धर्म पुडरीक मे अनन्त वोधिसत्व वताए गए हैं और उनकी तुलना गगा के रेती के कणों से की गई है। इन सभी वोधिसत्वों को लोकेन्द्र माना है।[4] उसके पश्चात् यह उपमा वुद्धो के लिए रूढ सी हो गई।[5]

लकावतार सूत्र मे यह भी कहा गया है कि बुद्ध किसी भी रूप को धारण कर सकते हैं, कितने ही सूत्रो मे यह भी वताया गया है कि गंगा की रेती के समान असख्य वुद्ध भूत, वर्तमान और भविष्य मे तथागत रूप होते है।[6] जैसे विष्णुपुराण और भागवत मे विष्णु के असख्य अवतार माने गए है वैसे ही वुद्ध भी असख्य अवतरित होते हैं। जहाँ भी लोग अज्ञान अंधकार मे छटपटाते है वहाँ पर वुद्ध का धर्मोपदेश सुनने को मिलता है।[7]

वौद्ध साहित्य मे प्रारभ मे पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए वुद्ध के असख्य अवतारो की कल्पना की गई किन्तु वाद मे चलकर बुद्ध के अवतारों की संख्या ५, ७, २४ और ३६ तक सीमित हो गई।

जातककथाओ का। दूरेनिदान, अविदूरेनिदान, और सन्तिकेनिदान के नाम से 'जो विभाजन किया गया है उनमे से दूरेनिदान[8] मे एक कथा इस प्रकार प्राप्त होती है –

"प्राचीनकाल मे एक सुमेघ नामक परिव्राजक थे। उन्ही के समय दीपकर वुद्ध उत्पन्न हुए। लोग दीपकर वुद्ध के स्वागत हेतु मार्ग सजा रहे थे। सुमेध

---

१ लकावतार, सूत्र ४०, पृ० २२६

२ सूत्रालंकार – ६।७७

३ वौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १०४, १०५

४ सद्धर्मपुण्डरीक, १४।६, पृ० ३०२

५ मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, पृ० २३

६ लकावतार सूत्र, पृ० १६८

७ लकावतार, सूत्र ४०, पृ० २२६

८ जातक अट्ठकथा, दूरेनिदान, पृ० २ से ३६

परिव्राजक उस कीचड मे मृगचर्म विछाकर लेट गया। उस मार्ग से जाते समय सुमेध की श्रद्धा व भक्ति को देखकर बुद्ध ने भविष्यवाणी की – "यह कालान्तर मे बुद्ध होगा।" उसके पश्चात् सुमेध ने अनेक जन्मो में सभी पारमिताओं की साधना पूर्ण की। उन्होने विभिन्न कल्पो मे चौवीस बुद्धो की सेवा की और अन्त मे लुम्विनी मे सिद्धार्थ नाम से उत्पन्न हुए।"[1]

प्रस्तुत कथा मे पुनर्जन्म की ससिद्धि के साथ ही विभिन्न कल्पो मे चौवीस बुद्ध हुए यह वताया गया है।

भदन्त शान्तिभिक्षु का मन्तव्य है कि ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी मे चौवीस बुद्धो का उल्लेख हो चुका था।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से जव हम चिन्तन करते है तव स्पष्ट ज्ञात होता है चौवीस तीर्थंकर और चौवीस बुद्ध की अपेक्षा, वैदिक चौवीस अवतार की कल्पना परवर्ती है, क्योकि महाभारत के परिवर्द्धित रूप में भी दशावतारो का ही उल्लेख है। महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक के अन्य पुराणों में १०, ११, १२, १४ और २२ तक की संख्या मिलती है किन्तु चौवीस अवतार का स्पष्ट उल्लेख भागवत (२।७) मे ही मिलता है। श्री मद्भागवत का काल विद्वान् अधिक से अधिक छट्ठी शताव्दी मानते है।[3]

वैदिक परम्परा की तरह बुद्धो की संख्या भी निश्चित नही है। बुद्धो की सख्या अनन्त भी मानी गई है। उसके वाद सात मानुषी बुद्ध माने गए है[4] और फिर चौवीस बुद्ध माने गए हैं।[5] महायान की एक सूची में ३२ बुद्धो के नाम मिलते है।[6] किन्तु जैन साहित्य मे इस प्रकार की विभिन्नता नही है। वहाँ तीर्थंकरो की संख्या मे एकरूपता है। चाहे श्वेताम्वर ग्रन्थ हो चाहे दिगम्वर सम्प्रदाय के ग्रन्थ हो, उनमे सभी जगह चौवीस तीर्थंकरो का ही उल्लेख है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चौवीस तीर्थंकरो का उल्लेख समवायाङ्ग भगवती जैसे अग ग्रन्थो मे हुआ है। अग ग्रन्थो के अर्थ के प्ररूपक स्वयं भगवान् महावीर हैं और वर्तमान मे जो अग सूत्र प्राप्त है उनके सूत्र-रचयिता गणधर सुधर्मा हैं। भगवान् महावीर को ई० पूर्व ५५७ में केवलज्ञान हुआ और ५२७ में उनका परिनिर्वाण हुआ।[7] इस दृष्टि से समवायाग का रचनाकाल ५५७[8] से

---

[1] महायान–भदन्त शान्तिभिक्षु, प्रस्तावना, पृ० १५

[2] मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, पृ० २४

[3] भागवत सम्प्रदाय, पृ० १५२, पं० वलदेव उपाध्याय

[4] बौद्धधर्म दर्शन, पृ० १२१, आचार्य नरेन्द्रदेव

[5] वही, पृ० १०५

[6] दी वौद्धिष्ट इकानोग्राफी, पृ० १०, विजयघोष भट्टाचार्य

[7] आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ० ११७

[8] कितने ही विद्वान् ९८० वीर-निर्वाण की रचना मानते हैं, पर वह लेखन का समय है रचना का नहीं।

५२७ के मध्य मे है। स्पष्ट है कि चौवीस तीर्थकरो का ७ ब्रह्मावर्त मे अपने पुत्रों
चौवीस अवतारों की अपेक्षा बहुत ही प्राचीन है। जब जैनो ोडे हुए प्रस्तुत अष्ट-
की महिमा और गरिमा अत्यधिक बढ गई तब सभव है बौद्धों ब्रह्म के अवतार
परम्परा वालों ने अपनी अपनी दृष्टि से बुद्ध और अवतारो की कल्प
जैनियो के तीर्थंकरों की तरह उनमे व्यवस्थित रूप न आ सका। चौवीस ती परब्रह्म
की जितनी सुव्यवस्थित सामग्री जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है उतनी बौद्ध साहि
मे तथा वैदिक वाङ्मय में अवतारो की नही मिलती। जैन तीर्थंकर कोई भी पशु-पक्षी आदि नही हुए हैं; जब कि बुद्ध और वैदिक अवतारो मे यह बात नही है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अनेक स्थलो पर यह कहा है कि "जो पूर्व-तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है वही मैं कह रहा हू।"[1] पर त्रिपिटक में बुद्ध ने कही भी यह नही कहा कि पूर्व-बुद्धों ने[2] यह कहा है जो मैं कह रहा हूं पर वे सर्वत्र यही कहते हैं "मैं ऐसा मानता हू।" इससे भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के पूर्व बौद्ध धर्म की कोई भी परम्परा नही थी; जबकि महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा चल रही थी।

ऋषभदेव

चौवीस तीर्थकरो मे सबसे प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव है। उनके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए आगम व आगमेतर साहित्य ही प्रबल प्रमाण है। जैन दृष्टि से भगवान् ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे के उपसंहारकाल मे हुए हैं।[3] चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर और ऋषभदेव के बीच का समय असख्यात वर्ष का है।[4] वैदिक दृष्टि से ऋषभदेव प्रथम सतयुग के अन्त मे हुए है और राम व कृष्ण के अवतारो से पूर्व हुए है।[5] जैन दृष्टि से आत्मविद्या के प्रथम पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभदेव हैं।[6] वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे।[7] ब्रह्माण्ड पुराण मे ऋषभदेव को दस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक माना है।[8]

---

[1] व्याख्या प्रज्ञप्ति, श० ५, उद्दे० ६, सू० २२७
वही, श० ६। उद्दे० ३२,

[2] मज्झिमनिकाय ५६ अगुत्तर निकाय

[3] (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (ख) कल्पसूत्र

[4] कल्पसूत्र

[5] जिनेन्द्र मत दर्पण, भाग १, पृष्ठ १०

[6] धम्माण कासवो मुह, उत्तराध्ययन १६, अ० २५

[7] उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे, पढम केवली पढमतित्थयरे पढम-धम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे [जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, २।३०]

[8] इह हि इक्ष्वाकुकुलवशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दस प्रकारो धर्म स्वयमेव चीर्ण [ब्रह्माण्डपुराण]

परिव्राजक उस कीच इसी बात की पुष्टि होती है। वहां यह बताया गया सुमेध की श्रद्धा आठवा अवतार नाभि और मरुदेवी के वहा धारण किया। मे बुद्ध होगा. में अवतरित हुए और उन्होने सब आश्रमो द्वारा नमस्कृत मार्ग साधना ।[1] एतदर्थ ही ऋषभदेव को मोक्षधर्म की विवक्षा से 'वासुदेवाश' मे है।[2]

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। वे सभी ब्रह्मविद्या के पारगामी थे।[3] उनके नौ पुत्रो को आत्मविद्या विशारद भी कहा है।[4] उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत तो महायोगी थे।[5] स्वयं ऋषभदेव को योगेश्वर कहा गया है।[6] उन्होने विविध योगचर्याओं का चरण किया था।[7] जैन आचार्य उन्हे योगविद्या के प्रणेता मानते हैं।[8] हठयोग प्रदीपिका मे भगवान् ऋषभदेव को हठयोगविद्या के उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया है।[9]

ऋषभदेव अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण वैदिक परम्परा मे काफी मान्य रहे है।

महाकवि सूरदास ने उनके व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखा है नाभि ने पुत्र के लिए यज्ञ किया, उस समय यज्ञपुरुष[10] ने स्वय दर्शन देकर जन्म लेने का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ऋषभ की उत्पत्ति हुई।[11]

सूरसारावली मे कहा गया है कि प्रियव्रत के वश में उत्पन्न हरि के ही शरीर का नाम ऋषभदेव था। उन्होने इस रूप मे भक्तो के सभी कार्य पूर्ण

---

[1] अष्टमे मरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रम-
दर्शयन् वर्त्म धीराणा, सर्वाश्रमनमस्कृतम् [श्रीमद्‌भागवत १।३।१३]

[2] तमाहुर्वासुदेवाश मोक्षधर्मविवक्षया [श्रीमद्‌भागवत ११।२।१६]

[3] अवतीर्ण सुतशत, तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् [वही ११।२।१६]

[4] नवाभवन् महाभागा, मुनयोह्यर्थशसिन
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा [वही ११।२।२०]

[5] येषा खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीत्
[वही ५।४।६]

[6] भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर [वही ५।४।३]

[7] नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभ
[वही ५।५।२५]

[8] योगिकल्पतरु नौमि, देव-देव वृषध्वजम् [ज्ञानार्णव १।२]

[9] श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

[10] नाभि नृपति सुत हित जग कियौ
जज्ञ-पुरुष तब दरसन दियौ [सूरसागर, पृष्ठ १५०, पद ४०९]

[11] में हरता करता ससार में लैहौं नृप गृह अवतार
रिषभदेव तब जनमे आइ, राजा के गृह बजी बधाई ॥ [सूरसागर पृष्ठ, १५०]

किये।[1] अनावृष्टि होने पर स्वय वर्षा होकर वरसे और ब्रह्मावर्त मे अपने पुत्रों को ज्ञानोपदेश कर स्वय ने संन्यास ग्रहण किया। हाथ जोडे हुए प्रस्तुत अष्ट-सिद्धियों को उन्होने स्वीकार नही किया। ये ऋषभदेव मुनि परब्रह्म के अवतार वताए गए हैं।[2]

नरहरिदास ने भी इनकी अवतार कथा का वर्णन करते हुए इन्हे परब्रह्म परम पावन पुरुष व अविनाशी कहा है।[3]

ऋग्वेद मे भगवान् श्री ऋपभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दु खो का नाश करने करने वाला वतलाते हुए कहा है– "जैसे जल से भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को वुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी ज्ञान के प्रतिपादक ऋपभ महान् हैं उनका शासन वर दे। उनके शासन मे ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्वज्ञान आत्मा के शत्रुओ क्रोधादिक का विध्वसक हो। दोनो (ससारी और मुक्त) आत्माए अपने ही आत्म गुणो से चमकती हैं। अत: वे राजा है। वे पूर्ण ज्ञान के आगार है। और आत्म-पतन नही होने देते।"[4]

(तीर्थंकर ऋपभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उद्घोपणा की थी कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा वन सकता है। प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा विद्यमान है जो आत्म-साधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है वही परमात्मा वन जाता है।) उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की ऋचा से होती है, – "जिसके चार शृ ग – अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य है। तीन पाद हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। दो शीर्ष केवलज्ञान और मुक्ति है। तथा जो मन-वचन और काय इन तीनों योगो से वद्ध है (संयत हैं) उस ऋषभ ने घोपणा की कि महादेव (परमात्मा) मानव के भीतर ही आवास करता है।"[5]

अथर्ववेद[6] और यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं। कही-कही वे प्रतीक शैली से वर्णित हैं और कही-कही पर सकेत रूप से उल्लेख है।

अमेरिका और यूरोप के वनस्पति-शास्त्रियो ने अपनी अन्वेषणा से यह सिद्ध किया है कि खाद्य गेहूँ का उत्पादन सव से पहले हिन्दूकुश और हिमालय

---

[1] प्रियव्रत वरेउ हरि निज वपु ऋपभदेव यह नाम।
किन्हे व्याज सकल भक्तन को अग अग अभिराम॥ [सूरसारावली, पृष्ठ ४]

[2] आठो सिद्धि भई सन्मुख जव करी न अगीकार
जय जय जय श्री ऋपभदेव मुनि परब्रह्म अवतार [सूरसारावली, पृष्ठ ४]

[3] अवतारलीला – (हस्तलिखित)

[4] असूतपूर्वा वृपभो ज्यायनिया अरय शुरुध सन्ति पूर्वी दिवो न पाता विदयस्य धीभि क्षत्र राजाना पुदिवोदधाथे [ऋग्वेद ५२,। ३८]

[5] चत्वारि शृ गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा वद्धो वृपभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश॥ [ऋग्वेद]

[6] अथर्ववेद १९। ४२। ४

के मध्यवर्ती प्रदेश मे हुआ।[1] सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी यही पता लगता है कि कृषि का प्रारम्भ सर्वप्रथम इस देश मे हुआ था। जैन दृष्टि से भी कृषि-विद्या के जनक ऋषभदेव है। उन्होने असि, मसि, और कृपि का प्रारम्भ किया था। भारतवर्ष मे ही नही अपितु विदेशो मे भी कही पर वे कृपि के देवता माने जाकर उपास्य रहे है, कही पर वर्षा के देवता माने गये हैं और कही पर 'सूर्यदेव' मानकर पूजे गये है। सूर्यदेव – उनके केवलज्ञान का प्रतीक रहा है।

चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे हैं। चीनी त्रिपिटको मे उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको 'रोकशव' (Rokshab) कहकर पुकारते हैं।

मध्य एशिया, मिश्र और यूनान तथा फोनेशिया एव फणिक लोगो की भाषा मे वे 'रेशेफ' कहलाये, जिसका अर्थ सीगो वाला देवता है जो ऋषभ का अपभ्रश रूप है[2]।

शिवपुराण के अध्ययन से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।[3] डाक्टर राजकुमार जैन ने 'वृषभदेव तथा शिव-सम्वन्धी प्राच्य मान्यताए' शीर्षक लेख मे विस्तार से ऊहापोह किया है कि भगवान् ऋषभदेव और शिव दोनो एक थे। अत जिज्ञासु पाठको को वह लेख पढने की प्रेरणा देता हूँ।[4]

अक्कड और सुमेरो की सयुक्त प्रवृत्तियो से उत्पन्न बेवीलोनिया की सस्कृति और सभ्यता वहुत प्राचीन मानी जाती है। उनके विजयी राजा हम्मुरावी (२१२३–२०८१ ई० पू०) के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि स्वर्ग और पृथ्वी का देवता वृषभ था।[5]

सुमेर के लोग कृषि के देवता के रूप मे अर्चना करते थे। जिसे आवू या तामुज कहते थे[6]। वे बैल को विशेष पवित्र समझते थे।[7] सुमेर तथा वावुल

---

[1] बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ ५२, लेखक – भरतसिंह उपाध्याय

[2] (क) भगवान् ऋपभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता, लेखक – कामता प्रसाद जैन, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ द्वि ख पृ ४

(ख) वावू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ पृ २०४

[3] इत्थ प्रभाव ऋषभोऽवतार शकरस्य मे ।
सता गतिर्दीनवन्धुर्नवम कथितस्तव ॥
ऋपभस्य चरित्र हि परम पावन महत् ।
स्वर्ग्ययशस्यमायुष्य श्रोतव्य वै प्रयत्नत ॥ [शिवपुराण ४।४७–४८]

[4] मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ ६०९–६२९

[5] वावू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ पृ २०५

[6] विल ड्यूरेण्ट द स्टोरी ऑव सिविलिजेशन (ओवर अरियण्टल हेरिटेज) न्यूयार्क, १९५४ पृ० २१९

[7] वही पृ १२७

के एक धर्मशास्त्र मे 'अर्हंशम्म' का उल्लेख मिलता है।[1] 'अर्हं' शब्द अर्हंत का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है।

हित्ती जाति पर भी भगवान् ऋषभदेव का प्रभाव जान पडता है। उनका मुख्य देवता 'ऋतुदेव' था। उसका वाहन बैल था, जिसे 'तेशुव' कहा जाता था, जो तित्थयर 'उसभ' का अपभ्रंश ज्ञात होता है।[2]

ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभ का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है।[3] किन्तु टीकाकारों ने साम्प्रदायिकता के कारण अर्थ मे परिवर्तन कर दिया है जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गये है। जब हम उन ऋचाओ का साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का चश्मा उतार कर अध्ययन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध मे ही कहा गया है।

वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर ऋषभदेव की स्तुति करता हुआ कहता है–

"हे आत्मद्रष्टा प्रभो! परमसुख पाने के लिए मैं तेरी शरण मे आना चाहता हूँ, क्योकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है–उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यो और देवो मे तुम्ही पहले पूर्वयाया (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।"[4]

ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण परम्परा मे ही नही अपितु ब्राह्मण परम्परा मे भी रहा है। वहा उन्हे आराध्यदेव मानकर मुक्तकठ से गुणानुवाद किया गया है। सुप्रसिद्ध वैदिक साहित्य के विद्वान् प्रो० विरूपाक्ष एम ए, वेदतीर्थ और आचार्य विनोबा भावे जैसे बहुश्रुत विचारक ऋग्वेद आदि मे ऋषभदेव की स्तुति के स्वर सुनते हैं।[5]

---

[1] वही, पृ० १६६

[2] विदेशी संस्कृतियो में अहिंसा – डॉ० कामता प्रसाद जैन गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४०३

[3] ऋग्वेद संहिता

मण्डल १	अध्याय २४	सूत्र १६०	मत्र १
„ २	„ ४	„ ३३	„ १५
„ ५	„ २	„ २८	„ ४
„ ६	„ १	„ १	„ ८
„ ६	„ २	„ १६	„ ११
„ १०	„ १२	„ २६	„ १
			आदि २

[4] मरवस्य ते तीवपस्य प्रजूतिमियर्भि वाचमृताय भूपन्
इन्द्र क्षितीमामाम मानुषीणा विशा दैवी नामुत पूर्वयामा [ऋग्वेद २।३४।२]

[5] पूज्य गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ इतिवृत्त

ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभदेव के लिए 'केशी' शब्द का प्रयोग हुआ है। वातरशन मुनि के प्रकरण मे केशी की स्तुति की गई है जो स्पष्ट रूप से भगवान् ऋषभदेव से सम्बन्धित है।[1]

ऋग्वेद के दूसरे स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ है।[2] जिस सूक्त मे यह ऋचा आयी है उसकी प्रस्तावना मे निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृता गाव' प्रभृति श्लोक उट्टङ्कित किए गए है, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायें तस्कर चुरा कर ले गये थे। उन्हे लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से गाये आगे न भाग कर पीछे की ओर लौट पडी। प्रस्तुत ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बताया किन्तु प्रकारान्तर से उन्होने उसे स्वीकार किया है।[3]

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओ का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फल स्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गाये (इन्द्रिया) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पडी।

साराश यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्मुखी थी, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई।

जैन साहित्य के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव साधु बने उस समय उन्होने चार मुष्टि केशो का लोच किया था।[4] सामान्य रूप से पाच-मुष्टि केश लोच करने की परम्परा रही है। भगवान् केशो का लोच कर रहे थे। दोनो भागो के केशो का लोच करना अवशेष था। उस समय शक्रेन्द्र की प्रार्थना से भगवान् ने उसी प्रकार रहने दिया।[5] यही कारण है केश रखने से वे केशी या केशरियाजी के नाम से विश्रुत हुए। जैसे सिह अपने केशो के कारण से केशरी

---

[1] केश्यग्नि केशी विप केशी विभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते ॥ [ऋग्वेद १०।१३६, १]

[2] ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी
दुधर्युक्तस्य द्रवत सहानस
ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥ [ऋग्वेद १०।१०२, ६]

[3] अथवा, अस्य सारथि सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो
वृषभ अवावचीत् अगमशब्दयत् इत्यादि [सायणभाष्य]

[4] (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति [वक्षस्कार २, सूत्र ३०]
(ख) सयमेव चउमुट्ठिय लोय करेइ [कल्पसूत्र, सूत्र १९५]
(ग) उच्चखान चतुसृभिर्मुष्टिभि शिरस कचान्
चतुसृभ्यो दिग्भ्य शेषामिव दातुमना प्रभु [त्रिषष्टि १।३।६७]

[5] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सूत्र ३० की वृत्ति

कहलाता है वैसे ही ऋषभदेव भी केशी, केशरी और केशरियाजी के नाम से पुकारे जाते हैं।

भगवान् ऋषभदेव, आदिनाथ[1] 'हिरण्यगर्भ'[2] और ब्रह्मा आदि[3] नामो से भी अभिहित हुए है।

जैन और वैदिक साहित्य मे जिस प्रकार विस्तार से भगवान् ऋषभदेव का चरित्र चित्रित किया गया है वैसा बौद्ध साहित्य मे नही हुआ है। केवल कही-कही पर नाम निर्देश अवश्य हुआ है। जैसे धम्मपद मे 'उसभ पवर वीर।[4] गाथा मे अस्पष्ट रीति से ऋषभदेव और महावीर का उल्लेख हुआ है।[5] बौद्धाचार्य धर्मकीति ने सर्वज्ञ आप्त के उदाहरण मे ऋषभ और महावीर का निर्देश किया है और बौद्धाचार्य आर्य देव भी ऋषभदेव को ही जैन धर्म का आद्य-प्रचारक मानते हैं। 'आर्य मजुश्री मूलकल्प' मे भारत के आदि सम्राटों मे नाभि-पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की गणना की गई है।[6]

आधुनिक प्रतिभा-सम्पन्न मूर्धन्य चिन्तक भी इस सत्य तथ्य को बिना संकोच स्वीकार करने लगे हैं कि भगवान् ऋषभदेव से ही जैन धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है।

डॉक्टर हर्मन जेकोवी लिखते है कि इसमे कोई प्रमाण नही कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के सस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को ही जैन धर्म का सस्थापक मानने मे एकमत है। इस मान्यता मे ऐतिहासिक सत्य की अत्यधिक सभावना है।[7]

डॉक्टर राधाकृष्णन्[8], डॉक्टर स्टीवेन्सन[9] और जयचन्द्र विद्यालंकार[10] प्रभृति अन्य अनेक विज्ञो का भी यही अभिमत रहा है।[11]

\तीर्थंकर, अजित, सभव, सुमति, श्रेयास, अनन्त, शान्ति और अर आदि

---

[1] ऋपभदेव . एक परिशीलन, पृ० ६६ [देवेन्द्र मुनि]

[2] (क) हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्य: पुरातन [महाभारत, शान्ति पर्व]
(ख) विशेष विवेचन के लिए देखिए कल्पसूत्र की प्रस्तावना [देवेन्द्र मुनि]

[3] ऋषभदेव . एक परिशीलन [देवेन्द्र मुनि पृ० ६१–६२]

[4] धम्मपद ४।२२

[5] इण्डियन हिस्टारिक क्वार्टरली, भाग ३, पृ० ४७३–७५

[6] प्रजापते सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति नाभिनो ऋपभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रत
[आर्य मजु श्री मूलकल्प ३९०]

[7] इण्डि० एण्डि०, जिल्द ९, पृ० १६३

[8] भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २८७

[9] कल्पसूत्र की भूमिका डॉ स्टीवेन्सन

[10] भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३८४

[11] (क) जैन साहित्य का इतिहास – पूर्व पीठिका, पृ० १०८
(ख) हिन्दी विश्वकोप, भाग ३, पृ० ४४४

तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे वैदिक और बौद्ध परम्परा मे भी उल्लेख है।[1] ये सभी तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल मे हुए हैं।

अरिष्टनेमि

भगवान् अरिष्टनेमि बाईसवे तीर्थंकर हैं। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान, जो साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से मुक्त हैं और शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि सम्पन्न हैं, वे भगवान् अरिष्टनेमि को भी एक ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण दोनो समकालीन ही नही, एक वशोद्भव भाई-भाई है। दोनो अपने समय के महान् व्यक्ति हैं किन्तु दोनो की जीवन-दिशाए भिन्न-भिन्न रही है। एक धर्मवीर है तो दूसरे कर्मवीर हैं। एक निवृत्तिपरायण है तो दूसरे प्रवृत्तिपरायण हैं। एक प्रवृत्ति के द्वारा लौकिक प्रगति के पथ पर अग्रसर होते है तो दूसरे निवृत्ति को प्रधान बनाकर आध्यात्मिक विकास के सोपानो पर आरूढ़ होते हे।

भगवान् अरिष्टनेमि के युग का गभीरतापूर्वक पर्यालोचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के क्षत्रियो मे मास-भक्षण की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा मे बढ गई थी। उनके विवाह के अवसर पर पशुओ का एकत्र किया जाना इस तथ्य को उजागर करता है। हिंसा की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन-सामान्य का ध्यान आकर्षित करने के लिए और क्षत्रियों को मास-भक्षण से विरत करने के लिए श्री अरिष्टनेमि ने जो पद्धति अपनाई, वह अद्भुत और असाधारण थी। उनका विवाह किये विना लौट जाना मानो समग्र क्षत्रिय-जाति के पापो का प्रायश्चित्त था। उसका बिजली का सा प्रभाव दूर-दूर तक और बहुत गहरा हुआ।

एक सुप्रतिष्ठित महान् राजकुमार का दूल्हा बनकर जाना और ऐसे मौके पर विवाह किए बिना लौट जाना क्या साधारण घटना थी? भगवान् अरिष्टनेमि का वह बडे से बडा त्याग था और उस त्याग ने एक बार समाज को झकझोर दिया था। समाज के हित के लिए आत्मबलिदान का ऐसा दूसरा कोई उदाहरण मिलना कठिन है। इस आत्मोत्सर्ग ने अभक्ष्य-भक्षण करने वाले और अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरो के जीवन के साथ खिलवाड करने वाले क्षत्रियो की आँखे खोल दी, आत्मालोचन के लिए विवश कर दिया और उन्हे अपने कर्तव्य एव दायित्व का स्मरण करा दिया। इस प्रकार परम्परागत अहिसा के शिथिल एव विस्मृत बने सस्कारो को उन्होने पुन. पुष्ट, जागृत व सजीव कर दिया और अहिसा की सकीर्ण बनी परिधि को विशालता प्रदान की – पशुओं और पक्षियो को भी अहिसा की परिधि मे समाहित कर दिया। जगत् के लिए भगवान् का यह उद्बोधन एक अपूर्व वरदान था और वह आज तक भी भुलाया नही जा सकता है।

---

[1] देखिये कल्पसूत्र की प्रस्तावना [देवेन्द्र मुनि, पृ० २५ से २७ श्री अमरजैन आगम शोध सस्थान, गढ सिवाना से प्रकाशित]

वेद, पुराण और इतिहासकारो की दृष्टि से भगवान् अरिष्टनेमि का क्या महत्त्व है, इस प्रश्न पर प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'ऐतिहासिक परिपार्श्व'[1] शीर्षक के अन्तर्गत प्रमाण-पुरस्सर विवेचन किया गया है।

जैन ग्रन्थो की तरह वैदिक हरिवश पुराण मे श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि का वश वर्णन प्राप्त है।[2] उसमें श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई होना लिखा है। जैन और वैदिक परम्परा मे अन्तर यही है कि जैन परम्परा मे भगवान् अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा भाई माना है। वे दोनो सहोदर थे, जबकि वैदिक हरिवश पुराण मे चित्रक और वसुदेव को चचेरा भाई माना है। श्रीमद्भागवत मे चित्रक का नाम चित्ररथ दिया है। सभव है वैदिक ग्रन्थो मे समुद्रविजय का ही अपर नाम चित्रक या चित्ररथ आया हो।

मैंने अपने 'भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण . एक अनुशीलन'[3] ग्रन्थ में विस्तार से प्रकाश डाला है तथा प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी इस पर खासी अच्छी चर्चा की गई है। अतः यहाँ पर पुनरावृत्ति करना उचित नही है। पाठको को वे स्थल ध्यानपूर्वक पढने चाहिए जिससे अनेक शकाओ का स्वत' ही निरसन हो जायेगा।

भगवान् पार्श्व

भगवान् पार्श्व को पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी इतिहासविज्ञो ने ऐतिहासिक पुरुष माना है, जिसके सम्बन्ध मे सप्रमाण वर्णन मूल ग्रन्थ में किया गया है।[4]

भगवान् पार्श्व भारतीय सस्कृति के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र रहे हैं। वे श्रमण-संस्कृति के उन्नायक थे। जैन और बौद्ध ये दोनो परम्पराएँ उनसे प्रभावित रही हैं।

तथागत बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहा – "सारिपुत्र! बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढी-मूछो का लुचन करता था। मै खड़ा रहकर तपस्या करता था। उकडू बैठकर तपस्या करता था, मैं नगा रहता था। लौकिक आचारो का पालन नही करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमन्त्रण को भी स्वीकार नही करता था।"[5]

---

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० २३९ से २४१ तक

[2] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २४१ से २४८

[3] प्रकाशक – श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, पदराड़ा, जिला उदयपुर (राजस्थान), परिशिष्ट ३, वश-परिचय ३८७ से ३९४

[4] जैन धर्म का मौलिक इतिहास – 'भ० पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता', पृ० ३०३-३०५

[5] (क) मज्झिमनिकाय – महासिहनाद सुत्त १।१।२
(ख) भगवान् बुद्ध – धर्मानन्द कोसाम्बी, पृ० ६८-६९

यह सारा आचार जैन श्रमणो का है। कुछ स्थविर कल्पिक है और कुछ जिन कल्पिक है। दोनो प्रकार के आचारो का उनके जीवन में संमिश्रण है। प० सुखलालजी[1] और प० धर्मानन्द कौसाम्बी[2] ने भी यही अभिप्राय अभिव्यक्त किया है कि बुद्ध ने कुछ समय के लिए भगवान् पार्श्व की परम्परा भी स्वीकार की थी।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० राधा मुकर्जी[3] और श्रीमती राइस डेविड्स[4] का भी यही मत है। स्पष्ट है कि बुद्ध की साधना-पद्धति भगवान् पार्श्वनाथ के सिद्धान्तो से प्रभावित थी।

श्रमण संस्कृति ही नही अपितु वैदिक संस्कृति भी भगवान् पार्श्वनाथ से प्रभावित हुई। वैदिक संस्कृति मे पहले भौतिकता का स्वर मुखरित था। भगवान् पार्श्व ने उस भौतिकवादी स्वर को आध्यात्मिकता की ओर मोडा।

वैदिक संस्कृति का मूल वेद है। वेदो मे आध्यात्मिक चर्चाएँ नही हैं। उसमें अनेक देवो की भव्य-स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की गई है। द्युतिमान होना देवत्व का मुख्य लक्षण है। प्रकृति के जो रमणीय दृश्य और विस्मयजनक व चमत्कार-पूर्ण जो घटनाएँ थी उनको सामान्य रूप से देवकृत कहा गया। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन देव के प्रकार माने गए हैं। इन तीनो दृष्टियो से देवत्व का प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। स्थान-विशेष से तीन देवता प्रमुख हैं। पृथ्वी स्थान देव—इसमे अग्नि को मुख्य माना गया है। अन्तरिक्ष स्थान देव—इसमे इन्द्र और वायु को मुख्य स्थान दिया गया है। द्यु-स्थान देव—जिनमे सूर्य और सविता मुख्य हैं। इन तीन देवो की स्तुति ही विभिन्न रूपो मे विभिन्न स्थानो पर की गई है। इन देवों के अतिरिक्त अन्य देवो की भी स्तुतियाँ की गई है। ऋग्वेद की तरह, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद मे भी यही है।

उसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं। उनमे भी यज्ञ के विधि-विधानो का ही विस्तार से वर्णन है—यज्ञ किस प्रकार किया जाय, उनके लिए किन साधनो की आवश्यकता है। यज्ञो के लिए कौन अधिकारी है। यज्ञो के सम्बन्ध मे कुछ विरोध भी प्रतीत होता है। उसका परिहार भी ब्राह्मण ग्रन्थो मे किया गया है। उसके पश्चात् संहिता साहित्य आता है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थो मे मुख्य भेद यही है कि संहिता स्तुति-प्रधान है और ब्राह्मण विधि-प्रधान है।

उसके पश्चात् उपनिषद् साहित्य आता है। उसमे यज्ञो का विरोध है।

---

[1] चार तीर्थंकर, जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, वाराणसी, पृ० १४०–१४१

[2] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८–३१

[3] हिन्दू सभ्यता, ले० राधाकुमुद मुकर्जी, अनु० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९५५, पृ० २३९

[4] Mrs Rhys Davids Gautama The Man, pp 22–25

अध्यात्म-विद्या की चर्चा है – हम कौन है, कहाँ से आये है, कहा जायेंगे – आदि प्रश्नो पर विचार किया गया है।[1] अध्यात्म-विद्या श्रमण सस्कृति की देन है।

आचार्य शकर ने दस उपनिपदो पर भाष्य लिखा है। उनके नाम इस प्रकार है – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक।

डॉक्टर वेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिपदो मे मुख्य ये हैं – छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ईश, कठ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकी, केन और प्रश्न[2]।

आर्थर ए० मैकडॉनल के अभिमतानुसार प्राचीनतम वर्ग वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौपीतकी उपनिपद् का रचनाकाल ईसा पूर्व ६०० है।[3]

एच० सी० राय चौधरी का मत है कि विदेह के महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य, वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पात्र पाँच है। उनका काल-मान ईसा पूर्व सातवी शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ९७ मे लिखा है – "जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाणकाल ईसा पूर्व ७७७ है।" इससे भी यही सिद्ध है कि प्राचीनतम उपनिपद् पार्श्व के पश्चात् के हैं।[4]

डाक्टर राधाकृष्णन् की धारणा के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदो का काल-मान ईसा पूर्व आठवी शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक है।[5]

स्पष्ट है कि उपनिषद् साहित्य भगवान् पार्श्व के पश्चात् निर्मित हुआ है। भगवान् पार्श्व ने यज्ञ आदि का अत्यधिक विरोध किया था। आध्यात्मिक साधना पर वल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियो पर भी पड़ा और उन्होने उपनिषदो मे यज्ञो का विरोध किया[6]। उन्होने स्पष्ट कहा – "यज्ञ विनाशी और दुर्वल साधन है। जो मूढ हैं, वे इनको श्रेय मानते है, वे वार-वार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते है।"

मुण्डकोपनिषद् मे विद्या के दो प्रकार वताए है–परा और अपरा। परा विद्या वह है जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है और इससे भिन्न अपरा विद्या है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द अ ज्योतिष–यह अपरा है[7]।

---

[1] केनोपनिपद् १

[2] हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ८७–९०।

[3] History of the Sanskrit Literature, p 226

[4] पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ५२।

[5] दी प्रिंसिपल उपनिपदाज्, पृ० २२।

[6] प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येपु कर्म।
५ प्रो॰ एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति॥ [ग

६ सस्कृति ाण्डूक्य १।१।४।५

महाभारत मे महर्षि वृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा – "मैने ऋक्, साम, यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्र-गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँच महाभूतो के उपादान कारण को न जान सका।"[1]

प्रजापति मनु ने कहा – "मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो, इसीलिए कर्मो का अनुष्ठान प्रारम्भ किया गया है। इष्ट और अनिष्ट दोनो ही मुझे प्राप्त न हो एतदर्थ ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है। वेद में जो कर्मो के प्रयोग वताए गए हैं वे प्राय सकाम भाव से युक्त है। जो इन कामनाओ से मुक्त होता है वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्ममार्ग में सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मानव परमात्मा को प्राप्त नही होता।"[2]

उपनिषदो के अतिरिक्त महाभारत और अन्य पुराणो मे भी ऐसे अनेक स्थल है जहा आत्म-विद्या या मोक्ष के लिए वेदो की असारता प्रकट की गई है। आचार्य शकर ने श्वेताश्वतर भाष्य मे एक प्रसंग उट्टङ्कित किया है। भृगु ने अपने पिता से कहा – "त्रयी-धर्म अधर्म का हेतु है। यह किंपाक फल के समान है। हे तात! सैकडो दु खो से पूर्ण इस कर्म-काण्ड में कुछ भी सुख नही है। अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी-धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हू।"[3]

गीता मे भी यही कहा है कि त्रयी-धर्म (वैदिक धर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष ससार मे आवागमन करते रहते हैं।[4] आत्म-विद्या के लिए वेदो की असारता और यज्ञो के विरोध मे आत्मयज्ञ की स्थापना यह वैदिकेतर परम्परा की ही देन है।[5]

उपनिषदो मे श्रमण सस्कृति के शव्द भी व्यवहृत हुए हैं। जैन आगम साहित्य मे 'कषाय' शव्द का प्रयोग सहस्राधिक वार हुआ है किन्तु वैदिक साहित्य मे रागद्वेप के अर्थ मे इस शव्द का प्रयोग नही हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् मे 'कषाय' शव्द का राग-द्वेष के अर्थ मे प्रयोग हुआ है।[6] इसी प्रकार 'तायी'

विरो महाभारत शान्तिपर्व २०१।८

उसके महाभारत, शान्तिपर्व २०१।१०।११

भेद यही धर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसन्निभम्।
न तात! सुख किंचिदत्र दु खशताकुले ॥
उसकेमोक्षाय यतता कथ सेव्या मया त्रयी। [श्वेताश्वतर, पृ० २३]

---

१ चार तीर्थंकर, गु, ६।२१

२ पार्श्वनाथ का चातु निपद् ८।५।१,

३ हिन्दू सभ्यता, ले० २।६, १०
प्रकाशन, दिल्ली १९५५, [छान्दोग्य उपनिषद् ७।२६]

४ Mrs Rhys Davids Ga र भाष्य लिखा है – मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव कषायो
य रजना रुपत्वात्]

शब्द भी जैन साहित्य मे अनेक स्थलों पर आया है पर वैदिक साहित्य में नही। जैन साहित्य की तरह ही माण्डुक्य उपनिषद् मे भी 'तायी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

मुण्डक छान्दोग्य प्रभृति उपनिषदों मे ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर श्रमण संस्कृति की विचारधाराएं स्पष्ट रूप से झलक रही हैं। जर्मन विद्वान् हर्टले ने यह सिद्ध किया है कि मुण्डकोपनिषद् मे प्रायः जैन-सिद्धान्त जैसा वर्णन है और जैन पारिभाषिक शब्द भी वहाँ व्यवहृत हुए हैं।[2]

बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल से कहते हैं – "यह वही आत्मा है जिसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से मुंह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं। भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते हैं।

.... जो पुत्रैषणा है, वही लोकैषणा है।"[3]

इसिभासियं में भी इसिभासिय को याज्ञवल्क्य एषणा-त्याग के पश्चात् भिक्षा से संतुष्ट रहने की बात कहते है।[4] तुलनात्मक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तब ज्ञात होता है कि दोनों के कथन मे कितनी समानता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना है। वहाँ पर पुत्रैषणा के त्याग को कोई स्थान नही है। बृहदारण्यक में एषणा-त्याग का विचार आया है वह श्रमण-संस्कृति की देन है।

एम० विण्टरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदो को अवैदिक माना है[5] किन्तु यह भी सत्य है कि प्राचीनतम उपनिषद् भी पूर्ण रूप से वैदिक विचारधारा के निकट नही हैं, उन पर भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्वनाथ की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

यह माना जाता है कि यूनान के महान् दार्शनिक 'पाईथोगारेस' भारत आये थे और वे भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणो के सम्पर्क में रहे।[6] उन्होने उन श्रमणो से आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म आदि जैन सिद्धान्तों का अध्ययन किया और फिर वे विचार उन्होने यूनान की जनता में प्रसारित किये। उन्होंने मांसाहार का विरोध किया। कितनी ही वनस्पतियो का भक्षण भी धार्मिक दृष्टि से त्याज्य वतलाया। उन्होंने पुनर्जन्म को सिद्ध किया। आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से इस पर अन्वेषण करने की।

---

[1] माण्डूक्य उपनिषद् ६६

[2] इण्डो इरेनियन मूलग्रन्थ और सशोधन, भाग ३

[3] बृहदारण्यक ३।५।१

[4] इसिभासियाइं १२।१-२

[5] प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० १६०-१६१

[6] सस्कृति के अचल मे – देवेन्द्र मुनि, पृ० ३३-३४

भगवान् पार्श्व का विहार-क्षेत्र आर्य और अनार्य दोनो देश रहे है। दोनों ही देश के निवासी उनके परम भक्त रहे है।[1]

भारतीय इतिहास का जब हम गहराई से पर्यवेक्षण करते है तब सहज ही परिज्ञात होता है कि आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व भारत की सामाजिक व धार्मिक स्थिति बडी विचित्र थी। धर्म का आध्यात्मिक पक्ष प्राय. गौण हो चुका था। धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड का अधिक चलन था। बाह्य क्रिया-काण्ड और आडम्बर धर्म की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का मापदण्ड बन गया था, जिसका नेतृत्व एक वर्ग-विशेष ने अपने हाथ मे ले रखा था। उन्होने धार्मिक साहित्य को सरल-सरस जन-भाषा मे न रखकर जटिल व दुरूह सस्कृत भाषा मे आबद्ध कर दिया था। वे ग्रन्थ जनभोग्य न होकर विद्वद्भोग्य हो गए थे। जन-साधारण का सम्बन्ध उन धार्मिक ग्रन्थो से छूट गया था। उन्होने जन्मजात जातिमद से ग्रसित होकर 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्' प्रभृति आज्ञाए प्रसारित की जिनसे जनमानस विक्षुब्ध हो उठा। ऊँच-नीच की भावनाए पनपने लगी। उस समय धर्म भावशून्य बाह्य कर्मकाण्डो और मिथ्या आडम्बरो के निविड बंधनो में आबद्ध किया जा चुका था।

भारत का पूर्वीय भाग मुख्य रूप से हिंसापूर्ण यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डो का केन्द्र था। धार्मिक दासता चारो ओर अपना प्रभुत्व जमा रही थी। जन-मानस उस विकृत वातावरण से ऊब चुका था और वह किसी दिव्य-भव्य प्रकाश-पुञ्ज की अपलक प्रतीक्षा कर रहा था जो उसे धर्म का प्रशस्त एव सही मार्गदर्शन कर सके।

ऐसे समय मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन मगध के विदेह जनपद में वैशाली के क्षत्रिय कुण्ड के अधिपति राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहा भगवान् महावीर का जन्म हुआ।[2]

उनका बचपन यौवन के चौखट पर पहुँचता है, पर उसमे न मर्यादाहीन उन्माद है, न भोगलिप्सा और न विह्वलता है। माता-पिता के आग्रह पर वे विवाह करते हैं, ससार मे रहते भी हैं पर जल-कमलवत् निर्लिप्त स्थिति मे।

मार्गशीर्ष दशमी के दिन तीस वर्ष की अवस्था मे वे एकाकी सयम के कठोर कटकाकीर्ण महामार्ग पर बढते हैं। साधनाकाल मे वे एकान्त-शान्त निर्जन स्थानो मे जाकर खडे हो जाते हैं। चिन्तन की गहराई मे उतरते जाते हैं। उनके साधनाकाल का रोमाचकारी वर्णन आवश्यक चूर्णी, महावीर चरित्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि ग्रन्थो मे विस्तार के साथ दिया गया है। महावीर की प्रस्तुत उग्र साधना जैन तीर्थंकरों के जीवन मे सबसे कठोर थी।

---

[1] देखिए – भगवान् पार्श्व · एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ १११-११४

[2] कल्पसूत्र ९३

इतिहासकार आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दो मे लिखा है "सब अर्हंतो एव तीर्थंकरों में वर्धमान महावीर का तप.कर्म उग्र था।"[1]

वारह वर्ष, छह मास तक उन्होने कठोर साधना मे अपने को तपाया, दु सह कष्टो को सहन किया और आधिभौतिक एवं आधिदैविक घोर उपसर्गो के झंझावात मे भी अचल हिमालय की भाति साधना का निष्कंप दीप जलाते रहे। अन्त मे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन उन्होने महाप्रकाश प्राप्त कर लिया। वे स्वयं ज्योतिर्मय वन गये। अल्पज्ञ से सर्वज्ञ वन गये।

भगवान् वहा से मध्यम पावापुरी पधारे। समवसरण की रचना हुई। सभी उपस्थित हुए। उस युग के दिग्गज विद्वान् सर्वशास्त्र-पारंगत इन्द्रभूति भी आये। प्रभु की तेजोदीप्त मुखमुद्रा ने पहले ही क्षण इन्द्रभूति को खीच लिया और जव प्रभु की वाणी में स्वतः उनके मानसिक संदेह का निराकरण हुआ, तो वे श्रद्धा से गद्‌गद हो उठे। वे प्रभु के चरणो में झुक गये, परम सत्य का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। प्रभु ने इन्द्रभूति की चिन्तनधारा को नया मोड दिया, अनेकान्त की दृष्टि दी, सत्य को समझने के नये मान और विधान दिये। द्वादशाङ्गी के गहन ज्ञान की कुञ्जी 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' के रूप मे प्रदान की। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विलय की यह त्रिपदी वामन रूप धारी विष्णु के तीन पैरो की तरह विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान को नापने वाली सिद्ध हुई।

भगवान् महावीर कहा-कहां पर किस रूप मे धर्म की ज्योति जगाते रहे, कौन-कौन उनके अनुयायी वने, कौन-कौन उनके प्रतिस्पर्धी थे, आदि पर विस्तार से प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचन किया गया है अतः मैं उन सभी विषयो पर प्रकाश न डालकर मूल ग्रन्थ पढने की प्रवल प्रेरणा देता हूं।

महावीर के सिद्धान्त

श्रमण भगवान् महावीर ने आचार के क्षेत्र मे अहिंसा की प्रतिष्ठा की। अहिंसा जैनाचार का प्राण है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण जैन आचार-परम्परा मे उपलब्ध है उतना किसी भी जैनेतर परम्परा मे नही। अहिंसा का मूल आधार आत्मसाम्य है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीकाय हो, अपकाय हो, तेउकाय हो, वायुकाय हो, वनस्पतिकाय हो, या त्रसकाय हो, तात्त्विक दृष्टि से सभी समान है। सुख-दु ख का अनुभव, जीवन-मरण की प्रतीति, प्रत्येक प्राणी मे समान होती है, जैसे हमे अपना जीवन प्रिय है मरण अप्रिय है, सुख प्रिय है दु.ख अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है प्रतिकूलता अप्रिय है, मृदुता प्रिय है कठोरता अप्रिय है, स्वतन्त्रता प्रिय है और परतन्त्रता अप्रिय है। एतदर्थ हमारा कर्तव्य है कि हम किसी को भी कष्ट एव वाधा न

[1] उग्ग च तवोकम्म विसेसओ वद्धमाणस्स [आवश्यक निर्युक्ति, गा० २००]

पहुँचावे। केवल तन से ही नहीं अपितु मन और वचन से भी इस प्रकार चिन्तन और उच्चारण न करे। मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को किञ्चित् मात्र भी कष्ट नहीं देना पूर्ण अहिंसा है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक यह अहिंसक भावना जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है।

अहिसा को केन्द्र-विन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह का विकास हुआ। आत्मिक विकास के लिए और कर्म-बंधन को रोकने के लिए इनकी अनिवार्यता स्वीकार की गई।

जिस प्रकार आचार के क्षेत्र मे अहिंसा को प्रधानता दी गई उसी प्रकार विचार के क्षेत्र मे अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी गई। अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। उनमें से किसी एक धर्म का ही आग्रह न रखते हुए अपेक्षा-भेद से सभी धर्मों के साथ समान रूप से चिन्तन करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के निरूपण के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यात्' का अर्थ है किसी अपेक्षा-विशेष से, किसी एक धर्म की दृष्टि से कथन करना। वस्तु के अनन्त धर्मों मे से किसी एक धर्म का विचार उसी एक दृष्टि से किया जाता है। दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस तरह वस्तु के धर्मभेद से ही दृष्टिभेद उत्पन्न होता है। इस अपेक्षावाद या सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जीवन के उलझे हुए प्रश्नो को सुलझाने की एक विशेष पद्धति है। उसमें न अर्धसत्य को स्थान है और न सशयवाद को ही। पर खेद है कि भारत के मूर्धन्य मनीषी-गण भी स्याद्वाद के सही स्वरूप को न समझ सके। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शकर[1], भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉक्टर एस राधाकृष्णन्।[2] सुप्रसिद्ध साख्यदर्शन के विद्वान् प्रो० महलोनोविस प्रभृति विद्वानो ने स्याद्वाद को अर्द्धसत्य, और सशयवाद की सज्ञा दी है। उन्ही विद्वानो का अनुसरण अन्य अनेक साहित्यकारो ने किया है। अभी-अभी प्रकाशित 'गाधी-युग पुराण' के द्वितीय खण्ड मे सेठ गोविन्ददास तथा डॉक्टर ओमप्रकाश ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे स्याद्वाद का सशयवाद के रूप मे उल्लेख किया है। ग्रन्थ की भूमिका में डॉक्टर कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने भी उसी बात की पुष्टि की है। विद्वान् स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझ सकें इसी दृष्टि से ये पक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

जीवन का व्यवहार विधि-निषेध के युगल पार्श्वों के मध्य में से होकर चलता है। दार्शनिक शब्दावली मे इसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य आदि कहा गया है। व्यवहार मे विधि-निषेध का क्रम चलता रहता है। प्रश्न है – विरोधी युगलो का एक ही पदार्थ में कैसे प्ररूपण किया जाय? जिस पदार्थ मे जिस सत्ता को ग्रहण किया जाता है, क्या उसी पदार्थ

---

[1] शाकर भाष्य २।२।३३

[2] इण्डियन फिलासफी जिल्द १ पृ ३०५–६

मे प्रतिशोध भी हो सकता है ? स्वीकार और निषेध, अस्तित्व ~~म आदि विषयों अपने मे एक कठिन समस्या है, यही से सशय का प्रारम्भ होता है। महावीर ने 'स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति' के आधार से प्रस्तुत समस्या ~ने सुलझाया है। सापेक्ष या निरपेक्ष उभय स्वरूपात्मक वस्तु के स्वभाव को ग्रहण करना ही यथार्थ दृष्टि है। किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक निषेध और आत्यन्तिक विधान नही होता। जिस अपेक्षा से वह है उस अपेक्षा से वह पूर्ण है जिस अपेक्षा से नही है उस अपेक्षा से वह नही है।

हरएक पदार्थ में अनन्त धर्मो की सत्ता है और उस स्वभाव मे वह दूसरे स्वभाव की प्रतिरोधिनी नही है। एतदर्थ ही विरोधी युगलो का सहअस्तित्व सहज रूप से सभाव्य है। पानी जीवन भी है और डूबने वालो के लिए संहारक भी है। अग्नि जीवन प्रदान करने वाला तत्त्व भी है और उग्र रूप धारण करने पर नाश भी करता है। ऊनी वस्त्र सर्दी मे उपयोगी है और गर्मी में निरुपयोगी है। गरिष्ठ भोजन स्वस्थ व्यक्ति के लिए स्वास्थ्यप्रद है पर रुग्ण व्यक्ति के लिए हानिकर है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमा से आवद्ध है।

प्रत्येक पदार्थ मे विरोधी युगल का युगपत् अस्तित्व है। उसी से व्यक्ति चक्कर मे पड जाता है क्योकि व्यक्ति का चिन्तन हमेशा निरपेक्ष होकर चलता है जब कि उसका हरएक व्यवहार अपेक्षा के साथ वधा हुआ है। जिस समय पदार्थ के अस्तित्व-पक्ष की विवक्षा की जाती है उस समय उसी पदार्थ के इतर पक्षो का नास्तित्व भी तो अभिवाच्य नही होता। केवल मुख्य और गौण का ही प्रश्न होता है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद और व्यय होता है और साथ ही वह ध्रुव भी रहता है जिससे वह सत् असत् मे नही वदलता।

सत्य अनुभूतिगम्य है, अनुभूति एकाशग्राही और सर्वांशग्राही उभयरूप होती है, किन्तु अभिव्यक्ति सर्वांशग्राही नही एकांशग्राही होती है। वह सदा एक अंश ही प्रस्तुत करती है। ज्ञान के अनन्त पर्याय हैं, व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उन्हे अधिकृत करता है। अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है। अनुभूति की पूर्णता और अधिकता होने पर भी वह एक अश को ही प्रस्तुत करती है। वक्ता अपनी समस्त अनुभूतियों को एक साथ व्यक्त नही कर सकता, जितनी वह व्यक्त करता हैं उतनी सुनने वाला ग्रहण नही कर पाता, जितना ग्रहण होता है वह अपेक्षा के साथ सयुक्त होकर होता है अत सत्य सदा अपेक्षा के साथ वधा हुआ है।

भगवान् महावीर ने सापेक्षवाद के रूप मे स्याद्वाद का प्ररूपण किया। विज्ञान के क्षेत्रमे अल्वर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के रूप में उसका विस्तार किया। स्याद्वाद का मुख्य विषय जड और चेतन रहा है; जव कि आइन्स्टीन

.. और काल की योजना कर उसे विशेष आधुनिक शैली मे प्रस्तुत पहुँचावे । दोनो मे अद्भुत सामजस्य है ।

और

जिन विद्वानो ने स्याद्वाद को सशयवाद और अर्धसत्य कहा है उनका सापेक्षवाद के सम्बन्ध मे यह मन्तव्य नही है । आश्चर्य की बात है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद के विवेचन मे शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त और कोई मौलिक अन्तर नही होते हुए भी उन्होने इन दोनो के सम्बन्ध मे विभिन्न मत किस आधार पर अभिव्यक्त किया है ?

प्रश्न सहज ही पैदा होता है कि विज्ञो द्वारा यह भूल किस प्रकार हुई ? इसके अनेक कारण है । स्याद्वाद यह 'स्याद् और वाद' इन दो शब्दो के मिलने से बना है । 'स्याद्' यह अव्यय है । इसके अनेक अर्थ है सभावना, विधान, प्रश्न, 'कथचित्', अपेक्षा-विशेष, दृष्टि-विशेष, किसी एक धर्म की विवक्षा आदि किन्तु विज्ञो ने केवल इसके सभावनात्मक अर्थ पर ही ध्यान दिया और उसी दृष्टि से उन्होने स्याद्वाद को सशयवाद कहा ।

आचार्य शकर के समय शास्त्रार्थ की परम्परा थी और उसमे एक दूसरे का खण्डन-मण्डन प्रमुख रूप से चलता था । स्याद्वाद का उपहास करने की दृष्टि से उन्होने उसे 'सशयवाद' के रूप मे उपस्थित किया, जो सर्वथा गलत था ।

भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० एस० राधाकृष्णन्, प्रो० महलोनोबीस, डॉक्टर रामधारीसिह दिनकर डॉ० सेठ गोविन्ददास आदि परिहास की परम्परा से बहुत ही दूर हैं तथापि आचार्य शकर के द्वारा कथित सभावनात्मक अर्थ से किञ्चित् मात्र भी दूर नही हट पाये हैं । शब्दो के हेरफेर के साथ अपने ग्रन्थो मे व लेखो मे वही दुहराते रहे हैं । खेद है कि हम अपनी दृष्टि से किसी भी विषय के अन्तस्तल तक नही पहुँचते और पुरानी लकीर के ही फकीर बने हुए हैं । विद्वानो को चाहिए कि प्राचीन त्रुटियो को न दुहराकर स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझे ।

लेखक

जैन जगत के महान् आध्यात्मिक नेता, ज्ञान और साधना के अप्रतिम धनी, आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज स्थानकवासी जैन परम्परा के एक जाने-माने हुए सन्त-रत्न है ।

एक ओर वे अध्यात्म योगी है, जप, तप, ध्यान और योग आदि विषय उनको अत्यधिक प्रिय हैं । तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का उन्होने गहराई से अध्ययन ही नही किया है, अपितु प्रतिदिन घटो तक साधना कर अनुभव का अमृत भी प्राप्त किया है ।

दूसरी ओर वे मूर्धन्य साहित्यकार भी है । उन्होने दशवैकालिक, नन्दी, प्रश्न व्याकरण अन्तकृतदशाग, कल्पसूत्र, वृहत्कल्प आदि आगम साहित्य का

विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। धर्म, दर्शन, इतिहास और अध्यात्म आदि विषयो पर शोधप्रधान निबन्ध भी लिखे हैं।

जैन धर्म के इतिहास के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि रही है। उन्होने जीवन के उषाकाल मे जैन इतिहास पर विस्तृत लेखमाला भी लिखी थी, जो जिनवाणी के अनेक अको मे जिज्ञासु के नाम से प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० की अपनी सम्प्रदाय के ज्योतिर्धर सन्तो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक पुस्तके भी लिखी हैं जो सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल से प्रकाशित हुईं।

इतिहास का इतिहास

सन् १९६५ मे श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज और परमादरणीय पडित प्रवर आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज का समदडी मे परस्पर मिलन हुआ। मै उस समय 'महावीर जीवन दर्शन' ग्रन्थ लिख रहा था।

आचार्यश्री ने उसकी पाण्डुलिपि देखकर कहा "अन्य तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार प्रमाण-पुरस्सर लिखा जाय तो महान् श्रुत-सेवा होगी।"

प्रसगवश अन्य सामाजिक, धार्मिक एव दार्शनिक चर्चाओ के साथ इतिहास के सम्बन्ध मे भी चर्चाएं चली कि हमने श्रमण-सम्मेलनो मे प्रस्ताव तो अनेक वार पारित किये हैं किन्तु जैन धर्म का कोई प्रामाणिक इतिहास हम प्रस्तुत नही कर सके हैं। हम लोगो ने उधर जितना लक्ष्य देना चाहिए उतना नही दिया है।

यह सत्य है कि स्थानकवासी जैन समाज मे सर्वप्रथम महान् चिन्तक वाडीलाल मोतीलाल शाह ने 'ऐतिहासिक नोध', श्री मणीलालजी म० ने 'वीर पट्टावली', प० सुशील मुनिजी ने 'जैन धर्म का इतिहास' और पाथर्डी बोर्ड ने 'हमारा इतिहास' निकाला है और अन्य कई साम्प्रदायिक इतिहास भी निकले हैं किन्तु उनमे अन्वेषणा के अभाव मे अनेक स्खलनाए रह गई हैं। इतिहास का लिखना कोई साधारण कार्य नही है, यह अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। जितना अधिक श्रम किया जायेगा उतना ही अधिक मधुर फल प्राप्त होगा।

मैंने नम्र निवेदन किया कि यह कार्य आपश्री अपने हाथ मे ले लेवें। अन्य कार्य को गौण कर इसे प्रमुखता देवे। आपश्री जो भी लेखन, सम्पादन आदि मे मेरे से सहयोग चाहेगे वह मैं गुरुदेवश्री की आज्ञा से सहर्ष देने को प्रस्तुत हू।

उस वर्ष आचार्यश्री का वर्षावास बालोतरा मे हुआ और गुरुदेवश्री का खाण्डप मे। खाण्डप वर्षावास मे मैंने 'ऋषभदेव, एक परिशीलन' ग्रन्थ लिखा जो बाद मे सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ।

बालोतरा वर्षावास मे आचार्यश्री ने स्वय इतिहास लिखने का व दूसरो से लिखवाने का पूर्ण निश्चय किया। लेखक व सम्पादक-मण्डल मे मेरा भी नाम

रखा गया और चौबीस तीर्थंकरो पर लिखने के लिए मुझे कहा गया, अतः मैं चौबीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे अन्वेषणा करता रहा। ज्यो-ज्यों अन्वेषणा करता गया त्यो-त्यो मुझे नित्य नवीन सामग्री प्राप्त होती रही।

बालोतरा वर्षावास के पश्चात् इतिहास लिखने के लिए आचार्यश्री ने स्वय राजस्थान एव गुजरात के स्थानकवासी जैन भण्डारो को ही नही, अपितु मन्दिर मार्गी समाज व यतियो के प्राचीनतम भण्डारो को भी टटोला। अनेक प्रशस्तिया, पट्टावलिया और अलभ्य ग्रन्थ प्राप्त किये। पट्टावलियों का एक महत्त्वपूर्ण सग्रह आपश्री ने सम्पादित कर 'पट्टावली प्रबन्ध संग्रह' के नाम से प्रकाशित करवाया, जिसका इतिहासप्रेमियो ने हृदय से स्वागत किया।

सन् १९६८ का वर्षावास श्रद्धेय गुरुदेवश्री का घोड़नदी (महाराष्ट्र) मे था और आचार्यश्री का 'पाली' (राजस्थान) में। उस समय 'जैन इतिहास समिति', जयपुर की ओर से 'पदमचन्दजी मेहता' इतिहास का प्रथम खण्ड लिखने के लिए मेरे पास उपस्थित हुए। साथ ही समिति की यह प्रबल प्रेरणा रही कि अतिशीघ्र यह कार्य सम्पन्न करे। मैंने अपने लेखन के अनुभव के आधार पर कहा – "यह कार्य शीघ्रता का नही है। इसके लिए समय व विपुल ग्रन्थो को टटोलने की आवश्यकता है।" तथापि समिति के अधिकारीगण अत्यधिक शीघ्रता करते रहे। फलस्वरूप मैंने अपने लिखे हुए 'ऋषभदेव . एक परिशीलन', 'भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन', 'महावीर जीवन-दर्शन तथा कल्पसूत्र' आदि ग्रन्थो से उपयोगी सामग्री लेकर तथा अन्य अनेक ग्रन्थो के आधार से एक माह के स्वल्प समय मे तीन सौ से भी अधिक पृष्ठो का लेखन व सम्पादन किया। उसमे मैंने चौबीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध में ऐतिहासिक व तुलनात्मक दृष्टि से लिखा। तीर्थंकरो के पूर्वभव, वासुदेव, चक्रवर्तियो का परिचय मैंने जानकर नही लिखा।

इतिहास की पाण्डुलिपि को देखकर आचार्यश्री ने प्रसन्नता व्यक्त की। पर साथ ही यह भी सूचना दी कि पूर्वभव आदि सारी सामग्री का भी इसमे आना आवश्यक है किन्तु आचार्यश्री राजस्थान मे थे और हम महाराष्ट्र में। अत क्षेत्र की दूरी से परस्पर मिलकर उनके निर्देशानुसार लेखन करना संभव नही था, अत. मैंने नम्र निवेदन किया कि अवशेष कार्य आपश्री के नेतृत्व मे ही सम्पन्न कराया जाय। इस पर स्वय आचार्यश्री ने इसके लेखन का कार्य अपने हाथ मे लिया और नवीनतम ढंग से इस प्रस्तुत खोजपूर्ण ग्रन्थ के लेखन-सम्पादन को सम्पन्न करवाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ

मुझे परम प्रसन्नता है कि सात वर्ष के निरन्तर श्रम के पश्चात् "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" का यह प्रथम खण्ड प्रकाश मे आ रहा है। अन्य दो खण्ड अभी अवशेष है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे ही महत्त्वपूर्ण होगे. उन खण्डों की अधिकांश सामग्री एकत्रित की जा चुकी है।

प्रस्तुत खण्ड मे प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युग का सम्मिश्रण है। चौवीस तीर्थंकरो मे से इक्कीस तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल मे गिने गये हैं। भगवान् अरिष्टनेमि, भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर ये तीन तीर्थंकर ऐतिहासिक युग मे आते हैं। आधुनिक इतिहासकार इन्हे ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। प्रस्तुत खण्ड में चौवीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थों के प्रकाश में अनुशीलनात्मक, प्रामाणिक और सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की गई है और साथ ही उन बातो का निरसन किया गया है जो भ्रामक थी।

सभी तीर्थंकरो के सम्बन्ध में एक साथ इतने व्यवस्थित रूप से प्रथम वार ही लिखा गया है। यह मैं अधिकार की भाषा मे तो नहीं कह सकता कि चौवीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे इसमे सव कुछ आ गया है, पर यह सत्य है कि अधिकाधिक प्रामाणिक सामग्री को इसमे संकलित किया गया है।

तीर्थंकरो के साथ ही भरत व ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के सम्बन्ध मे भी तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। जैन दृष्टि से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। वैदिक और जैन ग्रन्थो के आधार पर भगवान् अरिष्टनेमि का वंश-परिचय भी दिया गया है। परिशिष्ट विभाग मे भी उपयोगी सामग्री का सकलन-आकलन किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ साधारण पाठको के लिए और विशिष्ट ज्ञाताओ के लिए भी समान उपयोगी है। भाव-भाषा और शैली सभी दृष्टियो से सुन्दर ही नही, अति सुन्दर है। सर्वत्र शैली की सुघडता, भाषा की सरसता एवं प्रवाहपूर्णता के दर्शन होते हैं।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज की एकनिष्ठा व इतिहास प्रेम के कारण ही प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आ रहा है। उनके भगीरथ प्रयास के कारण ही ग्रन्थ इतना सुन्दर वन सका है। मैं आचार्यश्री के इस अथक परिश्रम का हृदय से अभिनन्दन करता हू और आशा करता हू कि वे अन्य दो खण्ड भी यथाशीघ्र स्वय तैयार करेंगे या अन्य से तैयार करवाने का अनुग्रह करेंगे।

मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि इतिहासप्रेमी सज्जन प्रस्तुत ग्रन्थ का स्नेह से स्वागत करेंगे। चौवीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे गहराई से अध्ययन, चिन्तन, मनन कर अपने जीवन को आचार और विचार की दृष्टि से उत्तम व समुन्नत वनाएगे। इसी शुभाशा के साथ,

श्री मेघजी थोभण जैन धर्म स्थानक
१७०, कादावाडी, वम्वई
अक्षय तृतीया, २७–४–७१

देवेन्द्र मुनि

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

कालचक्र और कुलकर

जैन शास्त्रो के अनुसार ससार अनादि काल से सतत गतिशील चलता आ रहा है। इसका न कभी आदि है और न कभी अन्त।

यह दृश्यमान् समस्त जगत् परिवर्तनशील परिणामी नित्य है। मूल द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से परिवर्तन सदा चालू रहता है। प्रत्येक जड-चेतन का परिवर्तन नैसर्गिक ध्रुव एव सहज स्वभाव है। जिस प्रकार दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन, प्रकाश के पश्चात् अन्धकार और अन्धकार के पश्चात् प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, हेमन्त, शरद् और वसन्त इन षड्ऋतुओ का एक के बाद दूसरी का आगमन, गमन, पुनरागमन और प्रतिगमन का चक्र अनादि काल से निरन्तर चलता आ रहा है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का केवल फेनलेखा तुल्य चन्द्र क्रमश वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पूर्णचन्द्र बन जाता है और फिर कृष्णपक्ष के आगमन पर वही ज्योतिपुज षोडश कलाधारी पूर्णचन्द्र क्षय रोगी की तरह धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होता हुआ क्रमश. अमावस्या की काली अधेरी रात्रि मे पूर्णरूपेण तिरोहित हो अस्तित्वविहीन सा हो जाता है। अभ्युदय के पश्चात् अभ्युत्थान एव अभ्युत्थान की पराकाष्ठा के पश्चात् अध पतन का प्रारम्भ और इसके पश्चात् क्रमशः पूर्ण पतन, फिर अभ्युदय, अभ्युत्थान, उत्कर्ष और पूर्ण उत्कर्ष, इस प्रकार चराचर जगत् का अनादि काल से अनवरत क्रम चला आ रहा है। ससार के इस अपकर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र को क्रमश अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की सज्ञा दी गई है। कृष्णपक्ष के चन्द्र मे क्रमिक ह्रास की तरह ह्रासोन्मुख काल को अवसर्पिणी काल और शुक्लपक्ष के चन्द्र के क्रमिक उत्कर्ष की तरह विकासोन्मुख काल को उत्सर्पिणी काल के नाम से कहा जाता है।

*अवसर्पिणी का क्रमिक अपकर्ष काल निम्नाकित छ भागो मे विभक्त किया गया है —

(१)	सुषमा सुषम	चार कोडाकोडी† सागर† का।
(२)	सुषम	तीन कोडाकोडी सागर का।
(३)	सुषमा दुषम	दो कोड़ाकोड़ी सागर का।
(४)	दुषमा सुषम	४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोडी सागर का।
(५)	दुषम	इक्कीस हजार वर्ष का।
(६)	दुषमा दुषम	इक्कीस हजार वर्ष का।

* कृपया परिशिष्ट देखें।

† कृपया परिशिष्ट देखें।

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के क्रमिक उत्कर्ष काल को भी छः भागों मे विभक्त कर अवसर्पिणी काल के उल्टे क्रम मे (१) दुषमा दुषम, (२) दुषम, (३) दुषमा सुषम, (४) सुषमा दुषम, (५) सुषम और (६) सुषमा सुषम नाम से समझना चाहिए।

दोनो मिलकर वीस कोडाकोडी सागर का एक कालचक्र होता है[1]।

हम सव इस ह्रासोन्मुख अवसर्पिणी काल के दौर से ही गुजर रहे हैं। अवसर्पिणी के परमोत्कर्ष काल मे अर्थात् प्रथम सुषमा सुषम आरे में पृथ्वी परमोत्कृष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और सर्वोत्कृष्ट समृद्धियो से सम्पन्न होती है। इस समय के प्राणियो को जीवनोपयोगी सर्वोत्कृष्ट सामग्री विना प्रयास के ही कल्पवृक्षो से सहज सुलभ होती है अत उनका जीवन अपने आप में मग्न एवं परम सुखमय होता है। प्रकृति की सुखद सुन्दर एव मन्द मधुर वयार से उस समय के मानव का मन-मयूर प्रतिक्षण आनन्द-विभोर हो अपनी अद्भुत मस्ती में मस्त रहता है। सहज-सुलभ भोग्य सामग्री मे, उपभोग मे, मानव मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओ को झकृत होने का भी अवसर नही मिलता और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओ की झकृति के अभाव मे मस्तिष्क की चचलता, चिन्तन, मनन एवं विचार सघर्ष का कोई कारण ही उसके समक्ष उपस्थित नही होता। जिस प्रकार वीणा की मधुर झकार से विमुग्ध हरिण मन्त्रमुग्ध सा अपने आपको भूल जाता है उसी प्रकार प्रकृति के परमोत्कृष्ट मादक माधुर्य मे विमुग्ध उस समय का मानव सव प्रकार की चिन्ताओ से विमुक्त हो ऐहिक आनन्द से ओत-प्रोत जीवन यापन करता है। इसे भोगयुग की सज्ञा दी जाती है।

प्रकृति के परिवर्तनशील अटल स्वभाव के कारण ससार की वह परमोत्कर्षता और मानव की वह मधुर मादकता भरी अवस्था भी चिरकाल तक स्थिर नही रह पाती। उसमे क्रमश परिवर्तन आता है और पृथ्वी का वह परमोत्कर्ष काल शनै शनै सुषमा सुषम आरे से सुषम, सुषमा दुषम आदि अपकर्ष काल की ओर गतिशील होता है। फलत पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एव माधुर्य मे और यहा तक कि हर अच्छाई मे क्रमिक ह्रास आता रहता है। प्रकृति की इस ह्रासोन्मुख दशा मे मानव के शारीरिक विकास और उसकी सुख शान्ति मे भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यो-ज्यो मानव की सुख सामग्री मे कमी आती जाती है और उसे अभाव का सामना करना पड़ता है त्यो-त्यो उसके मस्तिष्क मे चचलता पैदा होती जाती है और उसका शान्त मस्तिष्क शनै. शनैः विचार-सघर्ष का केन्द्र बनता जाता है। "अभाव से अभियोगो का जन्म होता है" इस उक्ति के अनुसार ज्यो-ज्यो अभाव वढते जाते हैं त्यो-त्यो विचार-सघर्ष और अभियोग भी वढते जाते है।

इस प्रकार अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का जब आधे से अधिक समय व्यतीत हो जाता है तो पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उर्वरता आदि

[1] आरक के सम्वन्ध मे विशेष जानकारी के लिये जवूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २ देखें।

गुणो का पहले से काफी मात्रा में ह्रास हो जाता है। कल्पवृक्षो के क्रमिक विलोप के कारण सहज सुलभ जीवनोपयोगी सामग्री भी आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध नही होती।[1] अभाव की उस भयावह स्थिति मे जनमन आन्दोलित हो उठता है। फलत. विचार-सघर्ष, कपाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल, प्रपंच, स्वार्थ, अहकार और वैर-विरोध की पाशविक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है और शनै. शनै इन दोषो के दावानल मे मानव-समाज जलने लगता है। अशान्ति की असह्य आग से त्रस्त एव दिग्विमूढ मानव के मन मे शान्ति की पिपासा जागृत होती है उस समय उस दिशाभ्रान्त मानव समाज के अन्दर से ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति सयोग पाकर भूमि मे दवे हुए वीज की तरह ऊपर आते हैं जो उन त्रस्त मानवो को भौतिक शान्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं।

पूर्वकालीन स्थिति और कुलकर काल

ऐसे विशिष्ट वल, बुद्धि एव प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही मानव समाज मे कुलो की स्थापना करने के कारण कुलकर कहलाते हैं। कुलकरो के द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है जिससे तात्कालिक समस्या का आशिक समाधान होता है किन्तु जव वढती समस्याओ को हल करना कुलकरो की सामर्थ्य से वाहर हो जाता है तव समय के प्रभाव और जनता के सद्भाग्य से एक तेजोमूर्ति नर-रत्न का जन्म होता है, जो धर्म-तीर्थ का आविष्कर्त्ता होकर जन-जन को नीति एव धर्म की शिक्षा देता और मानव समुदाय को परम शान्ति और अक्षय सुख के सही मार्ग पर आरूढ करता है।

इसी समय मानव जाति के सामाजिक, धार्मिक एव सास्कृतिक इतिहास का सूत्रपात होता है, जिसका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

भगवान् ऋषभदेव के पूर्ववर्त्ती मानव स्वभाव से शान्त, शरीर से स्वस्थ एवं स्वतन्त्र जीवन जीने वाले थे। सहज शान्त और निर्दोप जीवन जीने के कारण उस समय के मनुष्यो को धर्म की आवश्यकता ही नही थी। अत उनमे भौतिक मर्यादाओ का अभाव था। वे केवल सहज भाव से व्यवहार करते और उसमें कभी पुण्य का और कभी पाप का उपार्जन भी कर लेते। वे न किसी नर या पशु से सेवा-सहयोग ग्रहण करते और न किसी के लिये अपना सेवा-सहयोग अर्पित ही करते। दश प्रकार के कल्पवृक्षो[2] के द्वारा सहज-प्राप्त फल-फूलो से वे

---

[1] तेसु परिहीयतेसु कसाया उप्पएणा — [आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ (१)]

[2] स्थानाग सूत्र मे कल्पवृक्षो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का उल्लेख है –
सुसम-सुसमाएण समाए दसविहा रुक्खा उपभोगत्ताए हव्वमागच्छन्ति, तजहा –
मत्तगयाय भिगा, तुडियगा दीवजोइ चित्तगा।
चित्तरसा मणियगा, गेहागारा अणियणा य॥　　[सुत्तागम मूल, सू० १०५८]

सुषमा-सुषम काल मे १० प्रकार के वृक्ष मनुष्यो के उपभोगार्थ काम आते हैं। जैसे – (१) मत्तगा-मद्य-रस को देने वाले, (२) भृगाग-पात्र-भाजन देने वाले,

अपना जीवन चलाते थे, उनका जीवन रोग, शोक और वियोग रहित था। जब कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाली भोग्य सामग्री क्षीण होने लगी और मानव की आवश्यकता पूर्ति नही होने लगी तो उनकी सहज शान्ति भग हो गई, परस्पर सघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी। तब उन्होने मिल कर छोटे-छोटे कुलो के रूप मे अपनी व्यवस्था बनाई और कुलो की उस व्यवस्था को करनेवाले कुलकर कहलाये। ऐसे मुख्य कुलकरो के नाम इस प्रकार हैं –

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वी, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव और (७) नाभि।[१] कुलकरो की सख्या के सम्बन्ध मे ग्रन्थकारो मे मतभेद है। जबूद्वीप प्रज्ञप्ति मे १५ कुलकरो का उल्लेख है।

तीसरे आरे मे जब पल्योपम का अष्टम भाग शेष रहा तब सात कुलकर उत्पन्न हुए। प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए। किसी समय वन प्रदेश मे घूमते हुए एक मानव युगल को किसी श्वेतवर्ण सुन्दर हाथी ने देखा और पूर्व जन्म के स्नेह से उसको उसने अपनी पीठ पर बिठा लिया तो लोगो ने उस युगल को गजारूढ देख कर सोचा-"यह मनुष्य हम से अधिक शक्तिशाली है।" उज्वल वाहन वाला होने के कारण लोग उसे विमलवाहन कहने लगे।[२]

उस समय कल्पवृक्षो की कमी होने से लोगों मे परस्पर विवाद होने लगा, जिससे उनकी शान्ति भग हो गई। उन्होने मिल कर अपने से अधिक प्रभावशाली

---

(३) त्रुटिताग-आमोद-प्रमोद के लिए वाद्य देने वाले, (४) दीपाग–प्रकाश के लिए दीपक के समान फल देने वाले, (५) ज्योति-अग्नि की तरह ताप–उष्णता देने वाले, (६) चित्राग-विविध वर्णों के फूल देने वाले, (७) चित्तरस–अनेक प्रकार के रस देने वाले, (८) मणियग–मणि रत्नादि की तरह चमकदार आभूषणो की पूर्ति करने वाले, (९) गेहागार–घर, शाला आदि आकार वाले और (१०) अनग्न-नग्नता दूर करने वाले अर्थात् वल्कल की तरह वस्त्र की पूर्ति करने वाले।

इन वृक्षो से युगलिक मनुष्यो की आहार-विहार और निवास आदि की आवश्यकताए पूर्ण हो जाती थी, अत इन्हे कल्पवृक्ष की सज्ञा दी है। कोषकारो ने कल्पवृक्ष का अपर नाम सुरतरु भी दिया है। कल्पवृक्ष के लिए साधारण जनो की मान्यता है कि ये मनचाहे पदार्थ देते हैं, इनसे उत्तमोत्तम पक्वान्न और रत्नजटित आभूषण आदि जो मांगा जाय वही मिलता है। पर वस्तुत ऐसी बात नही है। युगलिको को शास्त्र मे 'पुढवीपुप्फफलाहारा', पृथ्वी,पुष्प और फलमय आहार वाले कहा गया है। यदि दैवी प्रभाव से कल्पवृक्ष इच्छानुसार वस्तुए देते तो उनकी दश जातिया नही बताई जाती। हा, कल्पवृक्ष की विभिन्न जातियो से तत्कालीन मनुष्यो की सभी आवश्यकताए पूर्ण हो जाती थी इस दृष्टि से उन्हे मनोकामना पूर्ण करने वाला कहा जा सकता है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखें।

[१] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ गा० १५२

[२] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५३

विमलवाहन को अपना नेता बना लिया। विमलवाहन ने सब के लिये मर्यादा निश्चित की और मर्यादा उल्लघन का अपराध करने पर दड देने की घोपणा की।

जब कोई मर्यादा का उल्लघन करता तब "हा" तूने क्या किया, ऐसा कह कर अपराधी को दंडित किया जाता। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इसी दड को सर्वस्वहरण जैसा कठोर दड मानता और एक बार का दडित अपराधी व्यक्ति द्वारा फिर कभी गलती नही करता। इस प्रकार चिरकाल तक "हा" कार की दड नीति से व्यवस्था चलती रही।

कालान्तर मे विमलवाहन की चन्द्रजसा युगलिनी से दूसरा युगल उत्पन्न हुआ। इसी क्रम से तीसरे, चौथे, पांचवे, छठे और सातवे कुलकर हुए। तत्कालीन मनुज कुलो की व्यवस्था करने से वे कुलकर कहलाये। विमलवाहन और दूसरे कुलकर चक्षुष्मान तक "हाकार" नीति चलती रही। तीसरे और चौथे कुलकर तक "माकार" नीति एव पाचवे, छठे और सातवे कुलकर तक "धिक्कार" नीति से व्यवस्था चलती रही।

जब अपराधी को "हा" कहने से काम नही चलता तब जरा उच्च स्वर मे कहा जाता "मा" यानि मत करो, और इससे लोग अपराध करना छोड देते। समय की रुक्षता और स्वभाव की कठोरता से जब लोग 'हाकार' और 'माकार' नीति के प्रभावक्षेत्र से बाहर हो चले तब 'धिक्कार' नीति का आविर्भाव हुआ। पिछले ३ कुलकरो के समय यही नीति चलती रही[१]।

कुलकर : तुलनात्मक विश्लेषण

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पिछले तीसरे भाग मे समय के प्रभाव से जब भूमि के सत्व एव उर्वरकता का शनै शनै. ह्रास होने के कारण कल्पवृक्षो ने फल देना बन्द कर दिया, तब केवल कल्पवृक्षो पर आश्रित रहने वाले लोगो मे उन वृक्षो को लेकर झगड़े होने लगे। अधिक से अधिक कल्पवृक्षो को अपने अधिकार मे रखने की प्रवृत्ति उनमे उत्पन्न होने लगी। कल्पवृक्षो पर स्वामित्व के इस प्रश्न को लेकर जब कलह व्यापक रूप धारण करने लगा और इतस्तत. अव्यवस्था उग्र रूप धारण करने लगी, तब कुलकर व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

वन विहारी उन स्वतन्त्र मानवो ने एकत्र होकर छोटे छोटे कुल बनाये और प्रतिभाशाली विशिष्ट पुरुष को अपना नेता स्वीकार किया। कुल की सुव्यवस्था करने के कारण उन कुलनायको को कुलकर कहा जाने लगा। आदि पुराण और वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि मे मननशील होने से इनको

---

[१] (क) हक्कारे, मक्कारे धिक्कारे चेव। [आ० नि०, पृ० १५६ (२)]
　　दड कुव्वन्ति 'हाकार'। [ति० पन्नत्ति, गा० ४५२]
(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

मनु कहा गया और जैन साहित्य की परिभाषा मे कुल की व्यवस्था करने से कुलकर नाम दिया गया। कुलकरो की व्यवस्था और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से मतैक्य होने पर भी कुलकरो की सख्या के सम्बन्ध मे शास्त्रो मे मतभेद है। जैनागम – स्थानाग, समवायाग और भगवती मे सात कुलकर बताये गये है और आवश्यक चूर्णि एव आवश्यक निर्युक्ति मे भी उसी के अनुरूप सात कुलकर मान्य किये गये है। स्थानाग, समवायाग, आवश्यक निर्युक्ति आदि के अनुसार सात कुलकरो के नाम इस प्रकार है :–

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान्, (३) यशोमान्, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित्, (६) मरुदेव और (७) नाभि। जैसा कि कहा हैं –

"जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे इमिसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था। त जहा –

"पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुम जसम चउत्थमभिचन्दे।
ततो अ पसेणई पुण मरुदेव चेव नाभी य।।

[स्थानाग, ७ स्वरमण्डलाधिकार – आव० चूर्णि
पृ० २८ – २९ = आव० नि० गा० १५२ = समवायाग]

महापुराण मे चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे १५ कुलकर बताये गये हैं। पउम चरिय मे – (१) सुमति, (२) प्रतिश्रुति, (३) सीमकर, (४) सीमधर, (५) क्षेमकर, (६) क्षेमधर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वी, (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) प्रसेनजित्, (१३) मरुदेव और (१४) नाभि, इस प्रकार चौदह नाम गिनाये है, जबकि महापुराण मे पहले प्रतिश्रुत, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमकृत्, चौथे क्षेमधर, पाचवे सीमकर और छठे सीमधर, इस प्रकार कुछ व्युत्क्रम मे सख्या दी गई है।[१] विमलवाहन से आगे के नाम दोनो मे समान है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे पउम चरिय के १४ नामो के साथ ऋषभ को जोडकर पन्द्रह कुलकर बतलाये गये हैं – जो अपेक्षा से सख्या भेद होने पर भी बाधक नही है। चौदह कुलकरो मे प्रथम के छ और ग्यारहवे चन्द्राभ के अतिरिक्त सात नाम वे ही स्थानाग के अनुसार हैं। सभव है प्रथम के छ कुलकर उस समय के मनुष्यो के लिये योगक्षेम मे मार्गदर्शक मात्र रहे हों।

---

[१] आद्य प्रतिश्रुतिः प्रोक्त, द्वितीय सन्मतिर्मत।
तृतीय क्षेमकृन्नाम्ना, चतुर्थ क्षेमधृन्मनु ।।
सीमकृत्पचमो ज्ञेय, पष्ठ सीमधृदिष्यते।
ततो विमल वाहाकश्चक्षुष्मानष्टमो मत ।।
यशस्वान्नवमस्तस्मान्नाभि चन्द्रोऽप्यनन्तर।
चन्द्राभोऽस्मात्पर ज्ञेयो, मरुदेवस्तत परम् ।।
प्रसेनजित् पर तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दश।

[महापुराण जिनसेनाचार्य, प्रथम भाग, पर्व ३, श्लो० २२९–२३२, पृष्ठ ६६]

पिछले कुलकरो की तरह दण्ड व्यवस्था आदि मे उनका सक्रिय योग नही होने के कारण इनको गौण मानकर केवल सात ही कुलकर गिने गये हो और ऋषभदेव को प्रथम भूपति होने व यौगलिक रूप को समाप्त कर कर्मभूमि के रूप मे नवीन राज्य व्यवस्था स्थापित कर राजा होने के कारण कुलकर रूप मे नही गिना गया हो और सभव है जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुल का सामान्य अर्थ मानव-समूह लेकर उनकी भी बडे कुलकर के रूप में गणना कर ली गई हो।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे कुलकरो की सख्या इस प्रकार है –

"तीसे समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमद्धभागावसेसे, एत्थरण इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, तं जहा–सुमई, पडिस्सुई, सीमकरे, सीमधरे, खेमकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, चक्खुम, जसम, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, णाभी उसभोत्ति।"

[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पत्र १३२]

जैन साहित्य की तरह वैदिक साहित्य मे भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। वहा पर कुलकरो के स्थान पर प्राय. मनु शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति मे स्थानाग के सात कुलकरो की तरह सात महातेजस्वी मनु इस प्रकार बतलाये गये हैं :–

(१) स्वयम्भू, (४) तामस, (७) वैवस्वत।
(२) स्वारोचिष्, (५) रैवत,
(३) उत्तम, (६) चाक्षुष,

यथा :– स्वायभुवस्यास्य मनो. पड्वश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजा स्वा स्वा महात्मानो महौजस ॥
स्वारोचिपश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुपश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥
स्वायम्भुवाद्या सप्तैते मनवो भूरि तेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥

[मनुस्मृति, अ १/श्लो ६१–६२–६३]

अन्यत्र चौदह मनुओ का भी उल्लेख मिलता है–

(१) स्वायम्भुव, (६) चाक्षुप, (११) धर्म सावर्णि,
(२) स्वारोचिष, (७) वैवस्वत, (१२) रुद्र सावर्णि,
(३) औत्तमि, (८) सावर्णि, (१३) रौच्य देव सावर्णि,
(४) तापस, (९) दक्षसावर्णि, (१४) इन्द्र सावर्णि।
(५) रैवत, (१०) ब्रह्मसावर्णि,

[मोन्योर-मोन्योर विलियम सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८४]

मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, दैवी भागवत और विष्णु पुराण मे स्वायभुव आदि चौदह मनु बतलाये गये है।

(१) स्वायंभुव, (६) चाक्षुष, (११) मेरु सार्वाणि,
(२) स्वारोचिष, (७) वैवस्वत, (१२) ऋभु,
(३) औत्तमि, (८) सार्वाणि, (१३) ऋतुधामा,
(४) तामस, (९) रौच्य, (१४) विश्वक्सेन।
(५) रैवत, (१०) भौत्य,

वैवस्वत के बाद मार्कण्डेय पुराण मे ५ सार्वाणि, तथा रौच्य और भौत्य ये सात मनु और माने गये है।

श्रीमद्भागवत मे अष्टम मनु–

(८) सार्वाणि, (१२) रुद्र सार्वाणि,
(९) दक्ष सार्वाणि, (१३) देव सार्वाणि,
(१०) ब्रह्म सार्वाणि, (१४) इन्द्र सार्वाणि,
(११) धर्म सार्वाणि,

इस प्रकार १४ मनुओ के नाम बतलाये गये हैं। [भागवत ८/५ अ.]

चतुर्दश मनु का काल-प्रमाण सहस्र युग* है। [भाग स्कंध ८ अ० १४]
[हिन्दी विश्वकोष, १६ वा भाग, पृ ६४८ से ६५५]

मनुओ के विस्तृत परिचय के लिए मत्स्यपुराण के ९ वे अध्याय से २१ वे अध्याय तक और जैन प्राचीन ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकारी की ४२१ से ५०९ तक की गाथाए पठनीय हैं। तिलोय पण्णत्ती मे जो १४ कुलकरो और उनके समय की परिस्थितियो का वर्णन किया गया है उसे परिशिष्ट मे देखे।

उपरोक्त तुलनात्मक विवेचन से भारतीय मानवो की आदि व्यवस्था की ऐतिहासिकता पर अच्छा प्रकाश पडता है।

---

* कृपया परिशिष्ट देखें।

भगवान् ऋषभदेव

तीर्थंकर पद प्राप्ति के साधन

भगवान् ऋषभदेव मानव समाज के आदि व्यवस्थापक और प्रथम धर्म-नायक रहे हैं। जब तीसरे आरे के ८४ लाख पूर्व, तीन वर्ष, साढे आठ मास अवशेष रहे[१] और अन्तिम कुलकर महाराज नाभि जब कुलो की व्यवस्था करने मे अपने आपको असमर्थ और मानव कुलो की बढती हुई विषमता को देखकर चिन्तित रहने लगे तब पुण्यशाली जीवो के पुण्य प्रभाव और समय के स्वभाव से महाराज नाभि पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। आस्तिक दर्शनो का मन्तव्य है कि आत्मा त्रिकाल सत् है, वह अनन्त काल पहले था और भविष्य मे भी रहेगा। वह पूर्व जन्म मे जैसी करणी करता है वैसे ही फल भोग प्राप्त करता है। प्रकृति का सहज नियम है कि वर्तमान की सुख समृद्धि और विकसित दशा किसी पूर्व कर्म के फलस्वरूप ही मिलती है। पौधो को फला-फूला देख कर हम उनकी बुआई और सिंचाई का भी अनुमान करते हैं वैसे ही भगवान् ऋषभदेव के महा महिमामय पद के पीछे भी उनकी विशिष्ट साधनाएँ रही हुई हैं।

जब साधारण पुण्य-फल की उपलब्धि के लिए भी साधना और करणी की आवश्यकता होती है तब त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर पद जैसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति सहज ही किसी को कैसे प्राप्त हो सकती है? उसके लिए बडी तपस्या, भक्ति और साधना की जाय तब कही उसकी उपलब्धि हो सकती है। जैनागम ज्ञाताधर्म कथा मे तीर्थंकर गोत्र के उपार्जन के लिए वैसे बीस स्थानो का आराधन आवश्यक कारण भूत माना गया है, जो इस प्रकार है –

"इमेहियरण बीसाए कारणेहि आसेविय बहुलीकएहि तित्थयर नाम गोय कम्म निर्वत्तिसु" त जहा :–

अरहत सिद्ध पवयरण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सिसु।
वच्छलयाय एसि, अभिक्खनाणोवओगे य॥
दसरण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खरणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥

१ (क) सुसम दुस्समाए ततियाएवि बहुवितिक्कताए चउरासीए पुव्वसयसहस्सेहि सेसएहि एगूणणउइए य पक्खेहि सेसएहि आसाढबहुलपक्खे चउत्थीए उत्तरासाढाजोगजुत्ते मियके विणीयाए भूमिए नाभिस्स कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिसि गब्भत्ताए उववन्नो। [आवश्यक चूर्णि (जिनदास) पूर्व भाग पृ० १३५]

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अप्पुव्वनाण गहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहि कारणेहि, तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥
[आव नि० १७६-७८–ज्ञाता० ध क. ८]

अर्थात् (१) अरिहत की भक्ति, (२) सिद्ध की भक्ति, (३) प्रवचन की भक्ति, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी मुनि की भक्ति-सेवा करना, (८) निरतर ज्ञान मे उपयोग रखना, (९) निर्दोप सम्यक्त्व का पालन करना, (१०) गुणवानो का विनय करना, (११) विधिपूर्वक षडावश्यक करना, (१२) शील और व्रत का निर्दोप पालन करना, (१३) वैराग्यभाव की वृद्धि करना, (१४) शक्तिपूर्वक तप और त्याग करना, (१५) चतुर्विध सघ को समाधि उत्पन्न करना, (१६) व्रतियो की सेवा करना, (१७) अपूर्वज्ञान का अभ्यास, (१८) वीतराग के वचनो पर श्रद्धा करना, (१९) सुपात्र दान करना और (२०) जिन-शासन की प्रभावना करना ।

सब के लिए यह आवश्यक नही है कि बीसो ही बोलो की आराधना की जाय, कोई एक दो बोल की उत्कृष्ट साधना एव अध्यवसायो की उच्चता से भी तीर्थंकर बनने की योग्यता पा लेते है ।

महापुराण मे तीर्थकर बनने के लिए षोडश कारण भावनाओ का आराधन आवश्यक बतलाया गया है । उनमे दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता को प्राथमिकता दी है, जब कि ज्ञाताधर्म कथा मे अर्हद्भक्ति आदि से पहले विनय को ।

इनमे सिद्ध, स्थविर और तपस्वी के बोल नही है, इन सबका अन्तर्भाव षोडश-कारण भावनाओ मे हो जाता है । अत. सख्या-भेद होते हुए भी मूल वस्तु मे भेद नही है ।

तत्वार्थ सूत्र मे षोडश कारण भावना इस प्रकार है –

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग-सवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी, सघ-साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यका परिहाणिर्मार्ग प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ।
[तत्त्वार्थ सूत्र ६–२३]

भगवान् ऋषभदेव के जीव ने कहां किस भव मे इन बोलो की आराधना कर तीर्थकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया इसको समझने के लिए उनके पूर्व भवो का परिचय आवश्यक है, जो इस प्रकार है –

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भव व साधना

भगवान् ऋषभदेव का जीव एक बार महाविदेह के क्षितिप्रतिष्ठ नगर मे धन्ना नामक सार्थवाह के रूप मे उत्पन्न हुआ । उसके पास विपुल सम्पदा थी, दूर-दूर के देशो मे उसका व्यापार चलता था । एक बार उसने यह घोषणा कराई कि जिस किसी को अर्थोपार्जन के लिए विदेश चलना हो, वह मेरे साथ चले । मैं

उसको सभी प्रकार की सुविधाएं दू गा। यह घोषणा सुन कर सैकडो लोग उसके साथ व्यापार के लिए चल पड़े।

आचार्य धर्मघोष को भी वसतपुर जाना था, उन्होंने निर्जन अटवी पार करने के लिए सहज प्राप्त इस सयोग को अनुकूल समझा और अपनी शिष्यमडली सहित धन्ना सेठ के साथ हो लिए। सेठ ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरो को आदेश दिया कि आचार्य के भोजनादि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आचार्य ने बताया कि श्रमणो को अपने लिए बनाया हुआ आधाकर्मी और औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम्रफल लेकर आया। सेठ ने आचार्य से आम्रफल ग्रहण करने की प्रार्थना की तो पता चला कि श्रमणो के लिए फल-फूल आदि हरे पदार्थ भी अग्राह्य हैं। श्रमणो की इस कठोर चर्या को सुन कर सेठ का हृदय भक्ति से आप्लावित और मस्तक श्रद्धावनत हो गया।

सार्थवाह के साथ आचार्य भी पथ को पार करते हुए आगे बढ रहे थे। तदनन्तर वर्षा का समय आया और उमड़ घुमड़ कर घनघोर घटाए बरसने लगी। सार्थवाह ने वर्षा के कारण मार्ग मे पक व पानी आदि की प्रतिकूलता देख कर जगल में ही एक सुरक्षित स्थान पर वर्षावास बिताने का निश्चय किया। आचार्य धर्मघोष भी वही पर एक अन्य निर्दोष स्थान पर ठहर गये। सभावना से अधिक समय तक जगल मे रुकने के कारण सार्थ की सम्पूर्ण खाद्य सामग्री समाप्त हो गई, लोग वन के फल, मूल, कन्दादि से जीवन बिताने लगे।

ज्यों ही वर्षा की समाप्ति हुई कि सेठ को अकस्मात् आचार्य की स्मृति हो आई। उसने सोचा, आचार्य धर्मघोष भी हमारे साथ थे। मैंने अब तक उनकी कोई सुधि नही ली। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वह शीघ्र आचार्य के पास गया और आहार की अभ्यर्थना करने लगा। आचार्य ने उसको श्रमण-आचार की मर्यादा समझाई। विधि-अविधि का ज्ञान प्राप्त कर सेठ ने भी परम उल्लास-भाव से मुनि को विपुल घृत का दान दिया। उत्तम पात्र, श्रेष्ठ द्रव्य और उच्च अध्यवसाय के कारण उसको वहां सम्यग्दर्शन की प्रथम वार उपलब्धि हुई अत पहले के अनन्त भवो को छोड कर यही से ऋषभदेव का प्रथम भव गिना गया है। ऋषभदेव के अन्तिम तेरह भवो में यह प्रथम भव है।[1]

धन्ना सार्थवाह के भव से निकल कर देव तथा मनुष्य के विविध भव करते हुए आप सुविधि वैद्य के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। यह ऋषभदेव का नवमा भव है। इनका नाम जीवानन्द रखा गया। जीवानन्द के चार अन्तरग मित्र थे, पहला राजपुत्र महीधर, दूसरा श्रेष्ठिपुत्र, तीसरा मंत्री-पुत्र और चौथा सार्थवाह-पुत्र। एक बार जब वह अपने साथियो के साथ घर मे वार्तालाप कर रहा था, उस समय उसके यहा एक दीर्घ-तपस्वी मुनि भिक्षार्थ पधारे। प्रतिकूल आहार-विहारादि कारणों से मुनि के शरीर मे कृमिकुष्ट की व्याधि उत्पन्न हो गई थी। राजपुत्र महीधर ने मुनि की कुष्ट के कारण विपन्न स्थिति को देख कर जीवानन्द से कहा,

मित्र ! तुम सव लोगो की चिकित्सा करते हो, पर खेद की वात है कि इन तपस्वी मुनि की भीषण व्याधि को देखकर भी तुम कुछ करने को तत्पर नही हो रहे हो। उत्तर मे जीवानन्द ने कहा, भाई ! तुम्हारा कथन सत्य है पर इस रोग की चिकित्सा के लिए मुझे जिन वस्तुओ की आवश्यकता है, उनके अभाव मे मैं इस दिशा मे कर ही क्या सकता हू ? मित्र के पूछने पर जीवानन्द ने वतलाया कि मुनि की चिकित्सा के लिए रत्नकम्वल, गौशीर्ष चन्दन और लक्ष पाक तेल, ये तीन वस्तुए आवश्यक है। लक्ष पाक तेल तो मेरे पास है पर अन्य दो वस्तुए मेरे पास नही है। ये दोनो वस्तुए प्राप्त हो जाय तो मुनि की चिकित्सा हो सकती है।

यह सुन कर महीधर ने अपने चारो मित्रो के साथ उसी समय अभीष्ट वस्तुए उपलब्ध करने की इच्छा से वाजार की ओर प्रस्थान कर दिया और नगर के एक बड़े व्यापारी के यहा पहुच कर रत्नकम्बल और गौशीर्ष चन्दन की गवेषणा की। व्यापारी ने इन तरुणो को इन दोनो वस्तुओ का मूल्य एक-एक लाख मोहरे बताया और पूछा कि इन दोनो वस्तुओ की किनके लिए आवश्यकता है ? उन लोगो के इस उत्तर से कि कुष्ठ-रोग-पीडित तपस्वी मुनि की चिकित्सा के लिए उन्हे इन दो वहुमूल्य वस्तुओ की आवश्यकता है, वह सेठ वडा प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि जव इन वालको के मन मे मुनि के प्रति इतनी अगाध श्रद्धा है तो क्या मैं स्वय इस सेवा का लाभ नही ले सकता ? मुनि के लिए विना कुछ लिए ही दवा देना उचित है, यह सोच कर उसने विना मूल्य लिए ही वे दोनो वस्तुए दे दी। वैद्य जीवानन्द और उसके साथी तीनो आवश्यक औषधिया लेकर साधु के पास उद्यान मे गये जहा कि मुनि ध्यानावस्थित थे। वैद्य-पुत्र जीवानन्द ने वन्दन कर मुनि के शरीर पर पहले तेल का मर्दन किया। जव तेल रोम-कूपो से शरीर मे समा गया तो तेल के अन्दर पहुचते ही कुष्ठकृमि कुलवुला कर बाहर निकलने लगे। तदनन्तर वैद्यपुत्र ने रत्नकम्बल से साधु के शरीर को ढक दिया और सारे कीडे शीतल रत्नकम्वल मे आ गये। इस पर वैद्य जीवानन्द ने कम्वल को किसी पशु के मृत कलेवर पर रख दिया जिससे वे सव कीट उस मे समा गये। फिर जीवानन्द ने मुनि के शरीर पर गौशीर्ष चन्दन का लेप किया। इस प्रकार तीन वार मालिश करके जीवानन्द ने अपने चिकित्सा कौशल से उन मुनि को पूर्णरूपेण रोग से मुक्त कर दिया।[1]

मुनि की इस प्रकार निश्छल सेवा से जीवानन्द आदि मित्रो ने महान् पुण्य-लाभ प्राप्त किया। मुनि को पूर्ण रूप से स्वस्थ देख कर उनका अन्तर्मन गद्गद् हो गया। जीवानन्द ने मुनि से ध्यानान्तराय के लिए क्षमा याचना की। मुनि ने उनको त्याग विरागपूर्ण उपदेश दिया जिससे प्रभावित होकर जीवानन्द ने अपने चारो मित्रो के साथ श्रावकधर्म ग्रहण किया। तदनन्तर श्रमणधर्म की आराधना कर आयु पूर्ण होने पर पाचो मित्र अच्युतकल्प विमान मे देव पद के अधिकारी वने।

[1] आवश्यक मलय वृत्ति पृ० १९५

जीवानन्द ने अपनी विशिष्ट शुभ साधना के फलस्वरूप देवलोक की आयु पूर्ण कर पुष्कलावती विजय में महाराज वज्रसेन की रानी धारिणी के यहा पुत्र रूप से जन्म ग्रहण किया। गर्भ-काल में माता ने चौदह महा-स्वप्न देखे। फलस्वरूप पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा गया, जो आगे चल कर षट्खण्ड राज्य का अधिकारी चक्रवर्ती बना। जीवानन्द के अन्य चार मित्र बाहु, सुबाहु, पीठ, और महापीठ के नाम से सहोदर भाई के रूप मे उत्पन्न हुए। वज्रनाभ ने पूर्व जन्म की मुनि सेवा के फलस्वरूप चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया और अन्य भाई माण्डलिक राजा हुए। इनके पिता तीर्थंकर वज्रसेन ने जब केवली होकर देशना आरम्भ की तब पूर्वजन्म के संस्कारवश चक्रवर्ती वज्रनाभ भी वैराग्यभाव मे रंग कर दीक्षित हो गये और चिर काल तक संयम धर्म की साधना करते हुए उन्होंने दीर्घकाल तक तपस्या की और अर्हद्भक्ति आदि बीस स्थानो की सम्यक् आराधना कर उसी जन्म में तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

जन्म

वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्ध मे देव हुआ। स्थिति पूर्ण कर अषाढ कृष्णा चतुर्थी को[1] सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत हुए और उत्तराषाढा नक्षत्र के योग मे माता मरुदेवी की कुक्षि मे गर्भरूप से उत्पन्न हुए।

सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यव कर जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जीव मरुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, उस दिन रात्रि के पिछले भाग में माता मरुदेवी ने निम्नलिखित चौदह शुभ स्वप्न देखे :–

(१) गज,	(६) चन्द्र,	(११) क्षीर समुद्र,
(२) वृषभ,	(७) सूर्य,	(१२) विमान,
(३) सिंह,	(८) ध्वजा,	(१३) रत्नराशि और,
(४) लक्ष्मी,	(९) कुंभ,	(१४) निर्धूम अग्नि।[2]
(५) पुष्पमाला,	(१०) पद्मसरोवर,	

कल्पसूत्र मे उल्लिखित गाथा में विमान के साथ एक नाम 'भवन' भी दिया है। इसका भाव यह है कि जो जीव नरक भूमि से आते उनकी माता भवन का स्वप्न देखती और देवलोक से आने वालो के लिए विमान का शुभ-स्वप्न बतलाया गया है। सख्या से तीर्थंकर और चक्रवर्ती की माताएं चौदह स्वप्न ही देखती है। दिगम्बर परम्परा मे सोलह स्वप्न देखना बतलाया है।[3]

---

[1] उववातो सव्वट्ठे सव्वेसिं पढमतो चुतो उसभो।
रिक्खेण असाढाहिं, असाढ बहुले चउत्थिए॥ [आवश्यक निर्युक्ति गा० १८२।]

[2] गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम ससि-दिणयरं-झय-कुम्भ।
पउमसर, सागर, विमाण-भवण-रयणुच्चय सिहिं च॥ [कल्पसूत्र, सू० ३३।]

[3] आचार्य जिनसेन ने मत्स्य-युगल और सिंहासन ये दो स्वप्न बढा कर सोलह स्वप्न बतलाये हैं। [महापुराण पर्व १२ पृ० १०३–१२०।]

यहा यह स्मरणीय है कि अन्य सब तीर्थंकरो की माताए प्रथम स्वप्न मे हाथी को मुख मे प्रवेश करते हुए देखती हैं, जबकि मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न मे वृषभ को अपने मुख मे प्रवेश करते हुए देखा ।

स्वप्नदर्शन के पश्चात् जागृत होकर मरुदेवी महाराज नाभि के पास आई और उसने मृदु व मनोहर शब्दो मे सारा वृत्तान्त नाभि कुलकर से कह सुनाया । उस समय स्वप्न-पाठक नही थे अत स्वय महाराज नाभि ने औत्पातिकी बुद्धि से स्वप्नो का फल सुनाया । सुखपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर चैत्र कृष्णा अष्टमी[1] को उत्तराषाढा नक्षत्र के योग मे माता मरुदेवी ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । कही-कही अष्टमी के बदले नवमी को[2] जन्म होना लिखा गया है । सभव है उदय तिथि, अस्ततिथि की दृष्टि से ऐसा तिथिभेद लिखा गया हो ।

जन्मकाल और महिमा

भगवान् ऋषभदेव के जन्मकाल के सम्बन्ध मे इतिहासविद् मौन हैं । आगम और आगमेतर साहित्य के द्वारा ही उनके जन्मकाल एव जीवन-गाथा सम्बन्धी परिचय का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । जैन परम्परा की तरह वैदिक परम्परा के आचार्यो ने प्रथम मनु स्वायभुव के मन्वन्तर मे ही उनके वशज अग्नीध्र से नाभि का जन्म होना माना है, जो ऋषभदेव के पिता कहे गये है । इस प्रकार ऋषभदेव का जन्मकाल सतयुग के अन्त मे व रामावतार से बहुत पूर्व माना गया है ।

जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, सभी दिशाए शान्त थी । प्रभु के जन्म से सम्पूर्ण लोक मे उद्योत हो गया । क्षण भर के लिए नारक भूमि के जीवो को भी विश्रान्ति प्राप्त हुई । छप्पन दिक्कुमारियों और देव-देवेन्द्रो ने आकर जन्म-महोत्सव मनाया । जन्माभिषेक की विशेष जानकारी के लिए जम्बूदीव पन्नत्ती, पाचवा वक्षस्कार और आवश्यक चूर्णि द्रष्टव्य है ।

जन्मकाल मे वैश्रमण देव ने तीर्थंकर के जन्म भवन पर बत्तीस कोटि हिरण्य की वर्षा की ।[3] महाराज नाभि ने भी पुत्र-जन्म का हर्ष से उत्सव मनाया । तत्कालीन मानवो के लिए जन्म-महोत्सव मनाने का यह पहला ही प्रसग था ।

नामकरण

जन्म-महोत्सव के बाद नामकरण का अवसर आया । माता मरुदेवी ने बालक के गर्भ मे आते ही प्रथम वृषभ का स्वप्न देखा और बालक के उरुस्थल पर भी वृषभ का शुभ-लाछन (चिह्न)[4] था अत उनका नाम ऋषभदेव रखा

---

[1] चेत्त बहुलट्ठमीए जाओ उसभो आसाढ नक्खत्ते ।
[आवश्यक निर्युक्ति० गा० १८४ व कल्पसूत्र, सू० १९३]

[2] चैत्रे मास्यसिते पक्षे, नवम्यामुदये रवे । [महापुराण जिनसेन सर्ग १३ श्लो २-३]

[3] जम्बू दीव पन्नत्ती, पाँचवा वक्षस्कार ।

[4] ऊरुसु उसभलछण, उसभो सुमिणमि तेण कारणेण उसभो त्ति णाम कय ।
[आव० चू० (जिनदास) पृ० १५१]

गया। भगवती आदि आगम और आगमेतर साहित्य मे ऋषभ के साथ 'नाथ' एव 'देव' का भी प्रयोग किया गया है, जो ऋषभ के प्रति भक्ति भाव का द्योतक हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा मे ऋषभ का कई स्थानो पर वृषभदेव नाम मिलता है। वृषभदेव जगत् मे ज्येष्ठ है। ये जगत् के लिए हितकारक धर्म रूपी अमृत की वर्षा करने वाले हैं, इसलिए इन्द्र ने उनका नाम वृषभदेव रखा।[1] भागवतकार के मन्तव्यानुसार सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, वल, यश और पराक्रम आदि सद्गुणो के कारण महाराज नाभि ने इनका नाम ऋषभ रखा।[2] महापुराण के अनुसार श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान होने के कारण इन्द्र ने इन्हे वृषभ स्वामी नाम से सम्बोधित किया।[3]

जैन ऐतिहासज्ञो ने धर्म कर्म के आद्य प्रवर्तक होने से आदिनाथ के रूप मे भी इनका उल्लेख किया है। जनसाधारण मे ये इसी नाम से अधिक जाने जाते है। भगवान् ऋषभदेव जव माता के गर्भ मे आये तव कुवेर ने हिरण्य की वृष्टि की, इसलिए इनका एक नाम हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है।[4] चूर्णिकार के अनुसार इनका नाम काश्यप भी माना गया है। इक्षु के विकार, रस (परिवर्तित स्वरूप) को कास्य कहा है, उसका पान करने से ये काश्यप कहे गये है।[5]

कल्पसूत्र मे ऋषभदेव के ५ नाम वतलाये गये है –

(१) ऋषभ (२) प्रथम राजा (३) प्रथम भिक्षाचर (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थंकर।[6]

वंश और गोत्र

भगवान् ऋषभदेव का कोई वंश नही था क्योकि युगलिको के समय मे मानव समाज किसी कुल, जाति या वश के विभाग से विभक्त नही था। जव ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम की वाल्यवय मे अपने पिता की गोद मे वैठे हुए क्रीडा कर रहे थे, तव हाथ मे इक्षुदण्ड लेकर इन्द्र उपस्थित हुए। इन्द्र के हाथ मे इक्षु-यष्टि देख कर ऋषभ ने उसे प्राप्त करने के लिए अपना प्रशस्त लक्षणयुक्त दाहिना हाथ आगे वढाया। तव सर्वप्रथम इन्द्र ने इक्षु-भक्षण की रुचि जानकर

---

[1] महापुराण, जिनसेन पर्व १४, श्लोक १६०, पृ० ३१६

[2] श्रीमद्भागवत ५-४-२ प्रथम खण्ड गोरखपुर सस्करण ३, पृ० ५५६।

[3] महापुराण श्लोक १६१, पर्व १४, पृ० ३१६।

[4] सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव वोधयितु जगत्॥ [महापुराण, पर्व १२ श्लोक ६५]

[5] कास उच्छु तस्य विकारो कास्य रस, सो जस्स पाण सो कासवो-उसभस्वामी।
दशवैकालिक, अध्ययन चौथा, अगस्त्य ऋषि की चूर्णि।

[6] उसभे इवा, पढमराया इवा, पढमभिक्खाचरे इवा, पढम जिणे इवा, पढम तित्थकरे इवा।
[कल्पसूत्र १६४]

प्रभु के वश का नाम इक्ष्वाकु वश[1] रखा। तभी से इनकी जन्मभूमि भी इक्ष्वाकु भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] पानी की क्यारी को काटने से जैसे पानी की धारा वह चलती है वैसे ही इक्षु के काटने और छेदन करने से रस का स्राव होता है अत भगवान का गोत्र कास्यप कहा गया।[3]

भगवान् ऋषभदेव से जन्म ही तीन ज्ञान के धारक थे। इनके मतिज्ञान, एव श्रुतिज्ञान भी निर्मल थे। इन्हे जाति स्मरण ज्ञान से अपने पूर्व जन्म का सम्यक् परिज्ञान था।[4] यही कारण है कि इन्हे किसी कलागुरु से शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नही हुई। ये स्वय लोकगुरु थे।

जब देवपति शकेन्द्र ने इनकी विवाह योग्य अवस्था समझी तब सुनन्दा और सुमगला के साथ नवीन विधि से इनका विवाह सम्पन्न किया। इससे पूर्व तत्कालीन मानव समाज मे ऐसी कोई वैवाहिक प्रथा प्रचलित नही थी। इससे पहले के मनुष्य केवल नर-नारी के रूप से युगल रूप मे जन्म पाते और समयान्तर मे पति-पत्नी के रूप मे परिवर्तित हो जाया करते थे। पति-पत्नी या भाई-बहिन का उनके बीच कोई नाता नही हुआ करता था। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही भावी मानव-समाज के हितार्थ विवाह-परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने मानव-मन की बदली हुई परिस्थिति का अध्ययन किया और उनमे बढती हुई वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी मे गिरने से बचाया।[5]

बीस लाख पूर्व तक कुमारावस्था मे रहने के पश्चात् प्रभु का विवाह हुआ। देवेन्द्र ने वर सम्बन्धी कार्य किये और देवियो ने सुनन्दा एव सुमगला के लिए वधूपक्ष का कार्य सम्पन्न किया। तभी से अविवाहित स्त्री-पुरुष के बीच सबध होना निन्दित माना जाने लगा।

अवसर्पिणी काल मे विवाह-प्रथा का यही प्रथम आरम्भ काल था।

भगवान् ऋषभदेव की सन्तति

विवाह के पश्चात् ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ।[6] छ लाख पूर्व[7] से कुछ न्यून काल तक सुनन्दा एव सुमंगला के साथ विवाह सम्बन्ध से रहते हुए भगवान् को सतानोत्पत्ति हुई। सुमगला ने भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप मे जन्म दिया। सुमगला ने कालान्तर मे

---

[1] (क) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १८६ (ख) निर्युक्ति दीपिका गाथा १८६

[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० १५२

[3] आव० म० पूर्व भाग, पृ० १९२। –चूर्णि पृ० १५३।

[4] आ० म० १८६ पृ० १४३०

[5] भोग सम्मत्थ नाउ, वरकम्म तस्स कासि देविन्दो।
दोण्ह वरमहिलाण, बहुकम्म कासि देवीतो॥ आवश्यक निर्युक्ति गा० १९१ पृ० १९३

[6] तीर्थंकर-महावीर, पृ० ३०, भा० १

[7] कृपया परिशिष्ट देखे।

युगल रूप से ४६ बार मे कुल ६८ पुत्रो को और जन्म दिया। इस प्रकार प्रभु के १०० पुत्र और दो पुत्रिया उत्पन्न हुई।[1] उनके नाम इस प्रकार है –

१. भरत
२. वाहुवली
३ शङ्ख
४ विश्वकर्मा
५ विमल
६. सुलक्षण
७ अमल
८. चित्राङ्ग
९. ख्यातकीर्ति
१० वरदत्त
११ दत्त
१२ सागर
१३ यशोधर
१४. अवर
१५. थवर
१६ कामदेव
१७ ध्रुव
१८ वत्स
१९ नन्द
२० सूर
२१ सुनन्द
२२ कुरु
२३. अग
२४ वग
२५. कौशल
२६. वीर
२७ कलिग
२८ मागध
२९ विदेह
३० सगम
३१. दशार्ण
३२ गम्भीर
३३ वसुवर्मा
३४. सुवर्मा
३५ राष्ट्र
३६ सुराष्ट्र
३७ वुद्धिकर
३८. विविधकर
३९. सुयश
४०. यशःकीर्ति
४१ यशस्कर
४२ कीर्तिकर
४३ सुषेण
४४ ब्रह्मसेण
४५. विक्रान्त
४६. नरोत्तम
४७. चन्द्रसेन
४८ महसेन
४९. सुसेण
५०. भानु
५१. कान्त
५२. पुष्पयुत
५३ श्रीधर
५४. दुर्द्धर्ष
५५ सुसुमार
५६ दुर्जय
५७ अजयमान
५८ सुधर्मा
५९. धर्मसेन
६० आनन्दन
६१ आनन्द
६२ नन्द
६३. अपराजित
६४ विश्वसेन
६५ हरिषेण
६६ जय
६७ विजय
६८ विजयन्त
६९ प्रभाकर
७० अरिदमन
७१ मान
७२. महावाहु
७३. दीर्घवाहु
७४. मेघ
७५. सुघोष
७६. विश्व
७७. वराह
७८ वसु
७९. सेन
८० कपिल
८१. शैल विचारी
८२. अरिजय
८३ कुञ्जरवल
८४ जयदेव
८५. नागदत्त
८६. काश्यप
८७ वल
८८ वीर
८९ शुभमति
९०. सुमति
९१. पद्मनाभ
९२ सिंह
९३ सुजाति
९४. सञ्जय
९५ सुनाम
९६ नरदेव

[1] कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–२

९७ चित्तहर ९८ मुखर ९९. दृढरथ १०० प्रभजन[1]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने है। एक नाम वृषभसेन अधिक दिया है।[2]

भगवान् ऋषभदेव की पुत्रियो के नाम – १ ब्राह्मी २ सुन्दरी।

आहार विधि

भगवान् ऋषभदेव की राज्य व्यवस्था से पूर्व मानव कल्पवृक्ष के फल और कद-मूल आदि के भोजन पर ही निर्भर थे। जब जनसख्या दिन प्रतिदिन वढने लगी, तब कन्द-मूल आदि भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होने लगे और कल्प-वृक्षो की सख्या भी कम हो चुकी थी, फलत मानवो ने स्वत उत्पन्न जगली शालि आदि अन्न का कच्चे रूप मे उपयोग करना आरभ किया।

उस समय अग्नि आदि पकाने के साधनो का सर्वथा अभाव था अत. वे उसे कच्चा ही खाने लगे। जब कच्चा अन्न खाने से लोगो को अपच की बीमारी होने लगी तब वे ऋषभदेव के पास पहुचे और उनसे इस समस्या के समाधान की प्रार्थना की। ऋषभदेव ने उनको शालियो का छिलका हटा कर एव हाथों से उन्हे मसल कर खाने की सलाह दी। जब वह भी सुपच नही हो सका तो जल मे भिगो कर और मुट्ठी व बगल मे रख कर गर्म करके खाने की राय दी, परन्तु अपच की बाधा उससे भी दूर नही हुई।

ऋषभदेव अतिशय ज्ञानी होने के कारण अग्नि के विषय मे जानते थे। वे यह भी जानते थे कि काल की एकान्त स्निग्धता से अभी अग्नि उत्पन्न नही हो सकती, अत जब काल की स्निग्धता कुछ कम हुई तब उन्होने लकडियो को घिस कर अग्नि[3] उत्पन्न की और लोगो को पाक कला का ज्ञान कराया।

चूर्णिकार ने लिखा है कि सयोगवश एक दिन जगल के वृक्षो मे अनायास सघर्ष हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हो गई। वह भूमि पर गिरे सूखे पत्ते और घास को जलाने लगी। युगलियो ने उसे रत्न समझ कर ग्रहण करना चाहा किन्तु उसको छूते ही जब हाथ जलने लगे तो वे अगारो को छोड कर ऋषभदेव के पास आये और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषभ ने कहा, आसपास की घास साफ करने से आग आगे नही वढ सकेगी। उन लोगो ने वैसा ही किया और आग का वढना वन्द हो गया।

फिर प्रभु ने वताया कि इसी आग मे कच्चे धान्य को पका कर खाया जाता है। युगलियो ने आग मे धान्य को डाला तो वह जल गया। इस पर

[1] (क) कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–५२
(ख) कल्पसूत्र सुवोधिका टीका, व्याख्यान ७, पृ० ४९८

[2] महापुराण पर्व १६, पृ० ३४६

[3] आवश्यक चूर्णि, पृ० १५५

युगलिक समुदाय पुन ऋषभ के पास आया और बोला कि आग तो स्वय ही सारा धान्य खा जाती है। तब भगवान् ने मिट्टी गीली कर हाथी के कुभस्थल पर उसे जमा कर पात्र बनाया और बोले कि ऐसे बर्तन बना कर धान्य को उन बर्तनो मे रख कर आग पर पकाने से वह जलेगा नही। इस प्रकार वे लोग आग मे पका कर खाद्य तैयार करने लगे। मिट्टी के बर्तन और भोजन पकाने की कला सिखा कर ऋषभदेव ने उन लोगो की समस्या हल की इसलिये लोग उन्हे धाता एव प्रजापति कहने लगे। सब लोग शान्ति से अपना जीवन बिताने लगे।

राज्याभिषेक

अन्तिम कुलकर नाभि के समय मे ही जब उनके द्वारा अपराध-निरोध के लिये निर्धारित की गई धिक्कार नीति का उल्लघन होने लगा और अपराध-निवारण मे उनकी नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई, तब युगलिक लोग घबरा कर ऋषभदेव के पास आए और उन्हे वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए सहयोग की प्रार्थना की।

ऋषभदेव ने कहा – जनता मे अपराधी मनोवृत्ति नही फैले और मर्यादा का यथोचित पालन हो इसके लिये दण्ड-व्यवस्था होती है, जिसका संचालन राजा किया करता है और वही समय-समय पर दण्डनीति मे सुधार करता रहता है। राजा का राज्यपद पर अभिषेक किया जाता है।

यह सुन कर युगलियो ने कहा – महाराज! आप ही हमारे राजा बन जाइये।

इस पर ऋषभ ने नाभि के सम्मानार्थ कहा – जाओ इसके लिये तुम सब महाराज नाभि से निवेदन करो।

युगलियों ने नाभि के पास जाकर निवेदन किया। समय के जानकार नाभि ने भी युगलियो की नम्र प्रार्थना सुन कर कहा – मैं तो वृद्ध हूं, अत तुम सब ऋषभदेव को राज्यपद देकर उन्हे राजा बना लो।

नाभि की आज्ञा पाकर युगलिक-जन पद्म सरोवर पर गये और कमल के पत्तो मे पानी ले कर आए। उसी समय आसन चलायमान होने से देवेन्द्र भी वहा आगये। उन्होने सविधि सम्मानपूर्वक देवगण के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया और उन्हे राज-योग्य अलकारो से विभूषित कर दिया।

युगलियो ने सोचा कि अलकारविभूषित ऋषभ के शरीर पर पानी कैसे डाला जाय। ऐसा सोच कर उन्होने ऋषभदेव के चरणो पर पानी डाल कर अभिषेक किया[1] और उन्हे अपना राजा स्वीकार किया।

इस प्रकार ऋषभदेव उस समय के प्रथम राजा घोषित हुए। इन्होने पहले से चली आ रही कुलकर व्यवस्था को समाप्त कर नवीन राज्य व्यवस्था का निर्माण किया।

---

[1] आव० चूर्णि, पृ० १५४

युगलियो के इस विनीत स्वभाव को देख कर शक्रेन्द्र ने उस जगह विनीता नगरी के नाम से उनकी वसति कायम कर दी। उस नगरी का दूसरा नाम अयोध्या भी कहा जाता है।

शासन व्यवस्था का विकास

राज्याभिषेक के पश्चात् ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था और विकास के लिये प्रथम आरक्षक दल की स्थापना की। उसके अधिकारी 'उग्र' नाम से कहे जाने लगे। फिर राजकीय व्यवस्था मे परामर्श के लिये एक मत्रिमडल का निर्माण किया गया, जिसके अधिकारी को 'भोग' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त एक परामर्श-मंडल की स्थापना की गई जो सम्राट् के सन्निकट रह कर उन्हे समय-समय पर परामर्श देता रहे। परामर्श-मडल के सदस्यो को 'राजन्य' और सामान्य कर्मचारियो को 'क्षत्रिय' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।[1]

विरोधी तत्त्वो से राज्य की रक्षा करने तथा दुष्टो को दण्डित करने के लिये उन्होने चार प्रकार की सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की। अपराधी की खोज एव अपराध-निरोध के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद नीति तथा निम्नलिखित चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था का भी नियोजन किया गया –

(१) **परिभाषण** अपराधी को कुछ समय के लिये आक्रोशपूर्ण शब्दो से दण्डित करना।

(२) **मण्डलीबन्ध** अपराधी को कुछ समय के लिये सीमित क्षेत्र-मंडल मे रोके रखना।

(३) **चारकबन्ध** बन्दीगृह जैसे किसी एक स्थान मे अपराधी को बन्द रखना।

(४) **छविविच्छेद** . अपराधी के हाथ पैर जैसे शरीर के किसी अग-उपाग का छेदन करना।

उपर्युक्त चार नीतियो के सम्बन्ध मे कुछ आचार्यो का मत है कि अतिम दो नीतिया भरत के समय से प्रचलित हुई थी परन्तु भद्रबाहु के मन्तव्यानुसार बन्ध और घातनीति भी ऋषभदेव के समय मे ही प्रचलित हो गई थी।[2]

धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था

राष्ट्र की सुरक्षा और उत्तम व्यवस्था कर लेने के पश्चात् ऋषभदेव ने लोक जीवन को स्वावलम्बी बनाना अवश्यक समझा। राष्ट्रवासी अपना जीवन स्वय सरलता से अल्पारभपूर्वक बिता सके ऐसी शिक्षा देने के विचार से उन्होने

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति गाथा १९८

[2] आव० नि०, गा० २ से १४

१०० शिल्प और असि, मसि, कृषिरूप तीन कर्मों का प्रजा के हितार्थ उपदेश दिया। शिल्प कर्म का उपदेश देते हुए आपने प्रथम कुंभकार का कर्म सिखाया। फिर वस्त्र-वृक्षों के क्षीण होने पर पटकार-कर्म और गेहागार-वृक्षो के अभाव मे वर्धकी कर्म सिखाया, फिर चित्रकार-कर्म और रोम-नखो के बढने पर काश्यपक अर्थात् नापित-कर्म सिखाया। इन पाच मूल शिल्पो के वीस २ भेदो से १०० (सौ) प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए[1]। व्यवहार की दृष्टि से उन्होने मान, उन्मान, अवमान और प्रतिमान का भी ज्ञान कराया।[2]

कला विज्ञान

आपने भरत और ब्राह्मी-सुन्दरी के माध्यम से अपनी प्रजा को लेखन आदि वहत्तर (७२) पुरुषो की कलाएं और ६४ महिला-गुण अर्थात् स्त्रियो की कलाएं सिखाईं।[3]

लोक स्थिति एवं कलाज्ञान

इस प्रकार लोकनायक और राष्ट्रस्थविर के रूप मे उन्होने विविध व्यवहारोपयोगी विधियो से तत्कालीन जन-समाज को परिचित कराया। इस समय तक ऋषभदेव आरभ, परिग्रह की हेयता को समझते हुए भी उसके त्यागी नहीं थे। अत जनहित और उदय-कर्म के फल भोगार्थ आरंभयुक्त कार्य भी करते-करवाते रहे। पर इसका अर्थ यह नही कि वे इन कर्मो को निष्पाप समझ रहे थे। उन्होने मानव जाति को अभक्ष्य-भक्षण जैसे महारम्भी जीवन से बचा कर अल्पारम्भी जीवन जीने के लिये असि, मसि, कृषि-रूप कर्म की शिक्षा दी और समझाया कि आवश्यकता से कभी सदोष प्रवृत्ति भी करनी पडे तो पाप को पाप समझ कर निष्पाप जीवन की ओर लक्ष्य रखते हुए चलना चाहिये। यही सम्यग्दर्शीपन है।

लोकजीवन को स्वाश्रयी वनाने के साथ ही साथ उसे सुन्दर एवं स्वपर-हितकारी वनाने के लिये उन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया[4] और सुन्दरी को वायें हाथ से गणित-ज्ञान

---

[1] एव ता पढम कुभकारा उपपन्ना ...इमाणि सिप्पाणि उप्पाएयव्वाणि, तत्थ पच्छा वत्थरुक्खा परिहीणा ताएणतिक्का उप्पाडया, पच्छा गेहागारा परिहीणा ताए वड्ढती उप्पाइता, पच्छा रोमनखाणि वड्ढति ताहे कम्मकरा उप्पाइत्ता ण्हाविया य'' एव सिप्पसय एव ता सिप्पाण उप्पत्ति ॥ आव० चू० पृ० १५६ पूर्व भाग ॥

[2] आवश्यक निर्युक्ति, गा० २१३–१४

[3] तेवर्ट्ठि च पुव्वसयसहस्साइ रज्जवास मज्झे वसमाणे लेहाइयाए गणियप्पहाणाओ सउणरुय-पज्जवसाणाओ वावत्तरि कलाओ, चउसर्ट्ठि महिला गुणे, सिप्पसय च कम्माण तिन्नि वि पयाहियाए उवदिसइ'''। —कल्पसूत्र सु० टीका, सूत्र २११ प० ४४४

[4] लेह लिवीविहाण जिणेण बंभीए दाहिण करेण।

की शिक्षा दी।[1] फिर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुष की बहत्तर कलाओं[2] का और बाहुबली को प्राणी-लक्षण का ज्ञान कराया[3]।

बहत्तर कलाएं इस प्रकार है –

(१)	लेह	लेखनकला।
(२)	गरिणय	गरिणत-कला।
(३)	रूव	रूप-कला।
(४)	नट्ट	नाट्य-कला।
(५)	गीय	सगीत-कला।
(६)	वाइयं	वाद्य वजाने की कला।
(७)	सरगय	स्वर जानने की कला।
(८)	पुक्खरगय	ढोल आदि वाद्य वजाने की कला।
(९)	समताल	ताल देने की कला।
(१०)	जूय	द्यूत यानी जूवा खेलने की कला।
(११)	जणवाय	वार्तालाप करने की कला।
(१२)	पारेकिच्च[4]	नगर के सरक्षण की कला।
(१३)	अट्ठावय	पासा खेलने की कला।
(१४)	दगमट्टिय	पानी और मिट्टी के योग से वस्तु वनाने की कला।
(१५)	अन्नविहि	अन्नोत्पादन की कला।
(१६)	पाणविहि	पानी को शुद्ध करने की कला।
(१७)	वत्थविहि	वस्त्र वनाने आदि की कला।
(१८)	सयणविहि	शय्या-निर्माण की कला।
(१९)	अज्ज	सस्कृत (आर्य) भाषा मे कविता-निर्माण की कला।
(२०)	पहेलिय	प्रहेलिका-निर्माण की कला।
(२१)	मागहिय	छन्द वनाने की कला।

---

[1] गरिणय सखाण सुन्दरीए वामेण उवइट्ठ ॥ २१२ ॥ आ० नि०

(क) विशेपावश्यक, भाष्य ४६४ की टीका मे लिपियो के नाम (१) ब्राह्मी, (२) हस, (३) भूत, (४) यक्षी, (५) राक्षसी, (६) उड्डी, (७) यवनी, (८) तुरुष्की, (९) कीरी, (१०) द्राविडी, (११) सिंघविय, (१२) मालविनी, (१३) नागरी, (१४) लाटी, (१५) पारसी, (१६) अनिमित्ती, (१७) चाणक्यी और (१८) मूलदेवी।

(ख) भारतीय जैनश्रमण सस्कृति अने लेखनकला पृ० ६

[2] सम० सूत्र समवाय ७२। कल्पसूत्र सु० टीका

[3] भरहस्स रूवकम्म, नराइलक्खमहोइय वलिणो।
माणुम्माणवमाण, पमाणगणिमाइ वत्थूण ॥ –आव० नि० २१३

[4] पोरेकत्व उववाई दृढ प्रतिज्ञाधिकार।

(२२)	गाहं	प्राकृत भापा मे गाथा-निर्माण की कला।
(२३)	सिलोगं	श्लोक वनाने की कला।
(२४)	गन्धजुत्ति	सुगन्धित पदार्थ वनाने की कला।
(२५)	मधुसित्थ	मधुरादि पट् रस वनाने की कला।
(२६)	आभरणविहि	अलकार-निर्माण तथा धारण करने की कला।
(२७)	तरुणी पडिकम्म	स्त्री को शिक्षा देने की कला।
(२८)	इत्थी लक्खणं	स्त्री के लक्षण जानने की कला।
(२९)	पुरिस लक्खण	पुरुप के लक्षण जानने की कला।
(३०)	हय लक्खण	घोड़े के लक्षण जानने की कला।
(३१)	गय लक्खण	हाथी (गज) के लक्षण जानने की कला।
(३२)	गोलक्खणं	गाय, एव वृपभ के लक्षण जानने की कला।
(३३)	कुक्कुड लक्खण	कुक्कुट के लक्षण जानने की कला।
(३४)	मिंढय लक्खण	मेढे के लक्षण जानने की कला।
(३५)	चक्क लक्खणं	चक्र-लक्षण जानने की कला।
(३६)	छत्त लक्खण	छत्र-लक्षण जानने की कला।
(३७)	दड लक्खण	दण्ड-लक्षण जानने की कला।
(३८)	असिलक्खण	तलवार के लक्षण जानने की कला।
(३९)	मणिलक्खण	मणि-लक्षण जानने की कला।
(४०)	कागणि लक्खणं	काकिणी (चक्रवर्ती के रत्न विशेष) के लक्षण जानने की कला।
(४१)	चम्मलक्खण	चर्म-लक्षण जानने की कला।
(४२)	चन्द लक्खण	चन्द्र-लक्षण जानने की कला।
(४३)	सूर चरियं	सूर्य आदि की गति जानने की कला।
(४४)	राहु चरिय	राहु की गति जानने की कला।
(४५)	गह चरियं	ग्रहो की गति जानने की कला।
(४६)	सोभाग करं	सौभाग्य का ज्ञान।
(४७)	दोभाग कर	दुर्भाग्य का ज्ञान।
(४८)	विज्जागय	रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान।
(४९)	मंतगय	मन्त्र-साधना आदि का ज्ञान
(५०)	रहस्सगय	गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान
(५१)	समास	प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान।
(५२)	चार	सैन्य का प्रमाण आदि जानना।
(५३)	पडिवूह	प्रतिव्यूह रचने की कला।
(५४)	पडिचार	सेना को रणक्षेत्र मे उतारने की कला।
(५५)	वूह	व्यूह रचने की कला।
(५६)	खधावारमाणं	सेना के पडाव का जमाव जानना।

(५७) नगरमाण	: नगर का प्रमाण जानने की कला।
(५८) वत्थुमाण	वस्तु का प्रमाण जानने की कला।
(५९) खधावार निवेस	. सेना का पड़ाव आदि कहां डालना इत्यादि का परिज्ञान।
(६०) वत्थु निवेस	प्रत्येक वस्तु के स्थापन करने की कला।
(६१) नगर निवेस	नगर-निर्माण का ज्ञान।
(६२) ईसत्थ	थोडे को वहुत करने की कला।
(६३) रूप्पवाय	तलवार आदि की मूठ वनाने की कला।
(६४) आससिक्ख	अश्व-शिक्षा।
(६५) हत्थिसिक्ख	हस्ति-शिक्षा।
(६६) धणु वेय	धनुर्वेद।
(६७) हिरण्णपाग सुवन्नपाग मणिपाग, धातुपाग	हिरण्यपाक, सुवर्णपाक मणिपाक और धातुपाक वनाने की कला।
(६८) वाहुजुद्ध, दडजुद्ध, मुट्ठिजुद्ध, अट्ठिजुद्ध, जुद्ध, निजुद्ध, जुद्धाईजुद्ध	वाहुयुद्ध, दडयुद्ध मु ष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला।
(६९) सुत्ताखेड, नालियाखेड, वट्टखेड, चम्मखेड	सूत वनाने की, नली वनाने की, गेद खेलने की, वस्तु के स्वभाव जानने की और चमडा वनाने आदि की कलाएं।
(७०) पत्तच्छेज्जं-कडगच्छेज्ज	पत्र छेदन एव कड्ग-वृक्षाग विशेष छेदने की कला।
(७१) सजीव, निज्जीव	सजीवन, निर्जीवन-कला।
(७२) सउणरूय	पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला।

पुरुषो के लिये कला-विज्ञान की शिक्षा देकर प्रभु ने महिलाओ के जीवन को उपयोगी व शिक्षासम्पन्न करना भी आवश्यक समझा।

अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से उन्होने लिपि-ज्ञान तो दिया ही, अपितु साथ मे महिला-गुणो के रूप मे उनको ६४ कलाए भी सिखलाई। वे ६४ कलाए इस प्रकार है —

(१) कीरी, (	९ दम्भ	१७ धर्म विचार
(१४) लाटी	१० जलस्तम्भ	१८ शकुनसार
(१८) ...-कला	११ गीतमान	१९ क्रियाकल्प
भाग वादित्र-कला	१२ तालमा	२० सस्कृत जल्प
५ मत्र	१३ मेघवृष्टि	२१ प्रसाद नीति
६ तन्त्र	१४ फलाकृष्टि	२२ धर्म रीति
७ ज्ञान	१५ आराम रोपण	२३ वणिकावृद्धि
८ विज्ञान	१६ आकार गोपन	२४ सुवर्ण सिद्धि

२५ सुरभितैलकरण	३८ चूर्णयोग	५२. भूषण-परिधान
२६. लीला संचरण	३९. हस्तलाघव	५३ भृत्योपचार
२७ हय-गजपरीक्षण	४०. वचन-पाटव	५४. गृहाचार
२८ पुरुष-स्त्रीलक्षण	४१ भोज्य विधि	५५ व्याकरण
२९ हेमरत्न भेद	४२ वाणिज्य विधि	५६ परनिराकरण
३०. अष्टादश लिपि-परिच्छेद	४३. मुखमण्डन	५७. रन्धन
	४४. शालि खण्डन	५८ केश वन्धन
३१ तत्काल वुद्धि	४५ कथाकथन	५९. वीणानाद
३२ वस्तु सिद्धि	४६ पुष्प ग्रथन	६० वितण्डावाद
३३. काम विक्रिया	४७ वक्रोक्ति	६१ अङ्क विचार
३४. वैद्यक क्रिया	४८. काव्यशक्ति	६२ लोक व्यवहार
३५ कुम्भभ्रम	४९ स्फारविधिवेष	६३ अन्त्याक्षरिका
३६. सारिश्रम	५० सर्वभाषा विशेष	६४. प्रश्न प्रहेलिका[1]
३७. अजनयोग	५१ अभिधान ज्ञान	

भगवान् ऋषभदेव द्वारा वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ

भगवान् आदिनाथ से पूर्व भारतवर्ष मे कोई वर्ण या जाति की व्यवस्था नही थी, सव लोगो की एक ही – मानव जाति थी। उनमें ऊच-नीच का भेद नही था। सव लोग वल, वुद्धि और वैभव मे समान थे। कोई किसी के अधीन नही था। प्राप्त सामग्री से सव को संतोष था, अत. उनमे कोई जाति-भेद की आवश्यकता ही नही हुई। जव लोगो मे विषमता वढी और जनमन मे लोभ-मोह का सचार हुआ तो भगवान् आदिनाथ ने वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

भोग-युग से कृत-युग (कर्म-युग) का प्रारम्भ करते हुए उन्होने ग्राम, कस्वे, नगर, पत्तन आदि के निर्माण की, शिल्प एव दान आदि की, उस समय के जन-समुदाय को शिक्षा दी।

चिर-काल से भोग-युग के अभ्यस्त उन लोगो के लिए कर्मक्षेत्र मे उतर कर अथक एव अनवरत परिश्रम करने की यह सर्वथा नवीन शिक्षा थी। इस कार्य मे भगवान् को कितना अनथक प्रयास करना पडा होगा, इसकी आज कल्पना भी नही की जा सकती। इस सव भगीरथ-प्रयास के साथ ही ऋषभदेव ने सामाजिक जीवन से नितान्त अनभिज्ञ उस समय के मानव का सुन्दर, शान्त और सुखमय जीवन वनाने के लिए सह-अस्तित्व का पाठ पढाते हुए सव प्रकार से समीचीन समाज व्यवस्था की आधारशिला रखी।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और शक्ति-सम्पन्न थे उन्हे प्रजा की रक्षा के कार्य मे नियुक्त कर पहिचान के लिए 'क्षत्रिय' शब्द की सज्ञा दी।

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, टीका पत्र १३९–२,१४०–१–कल्पसूत्र सुवोधिका टीका

जो लोग कृषि, पशुपालन व वस्तुओ के क्रय-विक्रय-वितरण अर्थात् वाणिज्य मे निपुण सिद्ध हुए उन लोगो के वर्ग को वैश्य वर्ण की सज्ञा दी ।

जिन कार्यो को करने मे क्षत्रिय और वैश्य लोग प्राय अनिच्छा एव अरुचि अभिव्यक्त करते, उन कार्यो को करने मे भी जो लोग तत्पर हुए व जनसमुदाय की सेवा मे विशेष अभिरुचि प्रकट की, उस वर्ग के लोगो को 'शूद्र' की सज्ञा दी ।

इस प्रकार ऋषभदेव के समय मे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई ।[1]

भगवान् ऋषभदेव ने मानव को सर्वप्रथम सह-अस्तित्व, सहयोग, सहृदयता, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द एव समानता का पाठ पढाकर मानव के हृदय मे मानव के प्रति भ्रातृभाव को जन्म दिया । उन्होने गुण-कर्म के अनुसार वर्ण-विभाग किये, जन्म को प्रधानता नही दी और लोगो को समझाया कि सब अपना-अपना काम करते हुए एक-दूसरे का सम्मान करते रहो, किसी को तिरस्कार की भावना से मत देखो ।

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है कि कुछ समय के बाद जब भरत चक्रवर्ती पद पर आसीन हुए तो उनके मन मे विचार पैदा हुआ कि मैंने दिग्विजय करके बहुत वैभव व साधन इकट्ठे किये है । अन्य लोग भी रातदिन मेहनत कर अपनी शक्ति-भर धनार्जन करते हैं किन्तु इसका उपयोग कहा किया जाय, जो सब तरह से लाभप्रद हो । इस विचार के साथ उन्हे यह भी ध्यान मे आया कि यदि बुद्धिजीवी लोगो का एक वर्ग तैयार किया जाय तो उनके द्वारा त्रिवर्ग के अन्य लोगों को भी नैतिक जीवन-निर्माण मे बौद्धिक सहयोग मिलता रहेगा और समाज का नैतिक स्तर भी नही गिरेगा ।

इस विचार को मूर्त्तरूप देने के लिए उन्होने सभी शिष्ट लोगो को अपने यहा आमन्त्रित किया और परीक्षा के लिए मार्ग मे हरी घास बिछवा दी ।

हरी घास मे भी जीव होते हैं, जिनकी हमारे चलने से विराधना होगी, इस बात का बिना विचार किये ही बहुत-से लोग भरत के प्रासाद मे चले आये, परन्तु कुछ विवेकशील लोग मार्ग मे हरी घास बिछी होने के कारण प्रासाद के अन्दर नही गये ।

भरत द्वारा प्रासाद के अन्दर नही आने का कारण पूछने पर उन्होने कहा – हमारे आने से वनस्पति के जीवो की विराधना होती, इसलिए हम प्रासाद के अन्दर नही आये ।

महाराज भरत ने उनकी दयावृत्ति की सराहना करते हुए उन्हे दूसरे मार्ग से प्रासाद मे बुलाया और उन्हे सम्मानित कर 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' की सज्ञा से सम्बोधित किया ।

---

[1] आदिपुराण, पर्व १६, श्लोक २४३ से २४६

आवश्यक चूर्णि (जिनदास गणी) के अनुसार भरत अपने ६८ भाइयो को प्रव्रजित हुए जानकर अधीर हो उठे और मन मे विचार करने लगे कि इतनी बड़ी अतुल सम्पदा किस काम की जो अपने स्वजनो के भी काम न आ सके। यदि मेरे भाई चाहे तो मैं यह भोग उन्हे अर्पण कर दूँ।

जब भगवान् विनीता नगरी पधारे तो भरत ने अपने दीक्षित भाइयो को भोगों के लिए निमन्त्रित किया पर उन्होने त्यागे हुए भोगो को ग्रहण करना स्वीकार नही किया। तब भरत ने उन परिग्रह-त्यागी मुनियो का आहार आदि के दान द्वारा सेवा-सत्कार करना चाहा और असनादि से ५०० गाड़े भरा कर उन मुनियो के पास पहुँचे एव वन्दन-नमस्कार कर उन्हे असन-पानादि के उपभोग के लिए आमन्त्रित करने लगे।

भगवान् ऋषभदेव ने फरमाया – इस प्रकार का साधुओ के लिए बना हुआ आधाकर्मी या उनके लिए लाया हुआ आहार साधुओ के लिए ग्राह्य नही होता।

इस पर भरत ने प्रभु से प्रार्थना की – भगवन्! यदि ऐसी वात है तो मेरे लिए पहले ही से वने हुए भोजन को स्वीकार किया जाय।

जव भगवान् ने उसे भी 'राजपिण्ड' कह कर अग्राह्य वताया तो भरत वड़े खिन्न एवं चिन्तित हो सोचने लगे – क्या पिता ने मुझे सर्वथा परित्यक्त कर दिया है।

इसी वीच देवराज शक्रेन्द्र ने भरत की व्यथा एव चिन्ता का निवारण करने के लिए प्रभु से पृच्छा की – भगवन्! अवग्रह कितने प्रकार के होते है?

प्रभु ने पचविध अवग्रह मे देवेन्द्र और राजा का भी अवग्रह वताया।

भरत ने इस पर प्रभु से निवेदन किया – भगवन्! मैं अपने भारतवर्ष मे श्रमण-निर्ग्रन्थो को सुखपूर्वक विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

इसके वाद श्रमणो के लिए लाये हुए आहार-पानादि के सदुपयोग के सम्वन्ध मे भरत द्वारा पूछे जाने पर शक्र ने कहा – राजन्! जो तुम से गुणाधिक है, उनका इस असन-पानादि से सत्कार करो।

भरत ने मन ही मन सोचा – कुल, जाति और वैभव आदि मे तो कोई मुझ से अधिक नही है। जहा तक गुणाधिक्य का प्रश्न है, इसमे मुझ से अधिक (गुण वाले) त्यागी, साधु व मुनिराज है, वे तो मेरे इस पिण्ड को स्वीकार ही नही करते। अव रहे गुणाधिक कुछ श्रावक – तो उन्हे ही यह सामग्री दे दी जाय।

ऐसा सोच कर भरत ने वह भोजन श्रावको को दे दिया और उन्हे वुला कर कहा – आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करे, मैं आप लोगो की जीविका की व्यवस्था करूगा। आपका

कार्य केवल शास्त्रो का श्रवण, पठन एव मनन व देव, गुरु की सेवा करते रहना है।

इस प्रकार अनेको श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला में भोजन करते और बोलते – 'वर्द्धते भय, मा हरण, मा हरण' – भय वढ रहा है, हिसा मत करो, हिंसा मत करो।

भरत की ओर से श्रावको के नाम इस साधारण निमन्त्रण को पाकर अन्य लोग भी अधिकाधिक सख्या मे भरत की भोजनशाला मे आकर भोजन करने लगे। भोजन वनाने वालो ने भोजन के लिए आने वालो की दिन प्रतिदिन वढती हुई सख्या को देख कर सोचा कि यह तो अव्यवस्था है और उन्होंने सारी स्थिति भरत के सम्मुख रखी।

भरत ने कहा – तुम लोग प्रत्येक व्यक्ति से पूछताछ करने के पश्चात् जो श्रावक हो उसे भोजन खिलाओ।

भोजनशाला के व्यवस्थापको ने आगन्तुको से पूछताछ करना प्रारम्भ किया और जिन लोगो ने अपने व्रतो के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से वताया उनको योग्य समझ कर भरत के पास ले गये और भरत ने कागणी रत्न से उन्हे चिह्नित किया और कहा – छ छ महीनो से ऐसा परीक्षण करते रहो।

इस प्रकार माहण उत्पन्न हुए। उनके जो पुत्र-पौत्र होते उन्हे भी साधुओं के पास ले जाया जाता और व्रत स्वीकार करने पर कागणी रत्न से चिह्नित किया जाता। वे लोग आरम्भ, परिग्रह की प्रवृत्तियो से अलग रहकर लोगो को 'मा हन, मा हन' ऐसी शिक्षा देते, अत उन्हे 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा।[1]

भरत द्वारा प्रत्येक श्रावक के – देव, गुरु, धर्म अथवा ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना के कारण – कागणी रत्न से तीन रेखाए की जाती।

समय पाकर वे ही तीन रेखाए यज्ञोपवीत के रूप मे परिणत हो गई।

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई। जब भरत के पुत्र आदित्य यश सिहासनारूढ हुए तो उन्होने सुवर्णमय यज्ञोपवीत धारण करवाई। यह स्वर्ण की यज्ञोपवीत धारण करने की परिपाटी आदित्य यश से आठवी पीढी तक चलती रही।[2]

इस तरह भगवान् आदिनाथ से लेकर भरत के राज्यकाल तक चार वर्णो की स्थापना हुई।

---

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० २१३–१४

[2] एव ते उप्पन्ना माहणा, काम जदा आइच्चजसो जातो तदा सोवन्नियाणि जन्नोवइयाणि। एव तेसि अट्ठ पुरिसजुगाणि ताव सोवन्नियाणि ॥ आव० चू० प्र० भा०, पृष्ठ २१४

साधक जीवन

आदि नरेन्द्र ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक लोकनायक के रूप से राज्य का संचालन कर प्रेम और न्यायपूर्वक ६३ लाख पूर्व तक प्रजा का पालन किया। उन्होने लोक-जीवन मे व्याप्त अव्यवस्था को दूर कर न्याय, नीति एव व्यवस्था का संचार किया और फिर स्थायी शान्ति प्राप्त करने एव निष्पाप जीवन जीने के लिये भोग-मार्ग से योग-मार्ग अपनाना आवश्यक समझा। उनका विश्वास था कि अध्यात्म-साधन के विना मानव की शान्ति स्थायी नही हो सकती। यही सोच कर उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी वनाया और शेष निन्यानवे पुत्रो को पृथक्-पृथक् राज्य देकर गृहस्थ जीवन के दायित्व से स्वय छुटकारा पाया और आत्म-साधना के मार्ग पर वढ़ने का सकल्प किया।

प्रभु के इस मानसिक निश्चय को जानकर नव लोकान्तिक देवो ने अपना कर्त्तव्य पालन करने हेतु प्रभु के चरणों मे प्रार्थना की कि – भगवन्! सम्पूर्ण जगत् के कल्याणार्थ धर्म-तीर्थ को प्रकट कीजिये। लोकान्तिक देवो की प्रार्थना सुनकर प्रभु ने वर्षी-दान प्रारम्भ किया, ससार त्याग की भावना से उन्होने प्रतिदिन[1] प्रभात की पुण्य वेला मे एक करोड और आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओ का एक वर्ष तक दान किया। इस प्रकार कुल तीन अरब अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओ का दान दिया गया। दान के द्वारा उन्होने जन-मानस मे यह भावना भर दी कि द्रव्य के भोग का महत्त्व नही, अपितु उसके त्याग का महत्त्व है।

अभिनिष्क्रमण-श्रमण दीक्षा

इस प्रकार ८३ लाख पूर्व गृहस्थ-पर्याय मे विता कर चैत्र कृष्णा अष्टमी[2] के दिन उत्तराषाढा नक्षत्र मे ऋषभदेव ने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। उन्होने विशाल राज्य-वैभव और परिवार को छोडकर भव्य भोग-सामग्री को तिलाजलि दी और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिये देव-मानवो के विशाल समुदाय के साथ विनीता नगरी से निकल कर षष्टमभक्त के निर्मल तप से अशोक वृक्ष के नीचे अपने सम्पूर्ण पापो को त्याग कर मुनि-दीक्षा स्वीकार की और सिद्ध की साक्षी से यह प्रतिज्ञा की कि 'सव्वं अकरणिज्जं पाव-कम्मं पच्चक्खामि', हिसा आदि सव पापकर्म अकरणीय है, अत मैं उनका सर्वथा त्याग करता हूं। शिर के वालो का चतुर्मुष्टिक लुचन कर प्रभु ने वतलाया कि शिर के वालो की तरह हमे पापो को भी जडमूल से उखाड फेंकना है। इन्द्र की प्रार्थना से भगवान्

---

[1] आव० नि० गाथा २३६ व २४२

[2] (अ) कल्पसूत्र, सू० १६५, पृ० ५७, पुण्य विजय
(आ) जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति मे चैत्र कृ० ६ का उल्लेख है।
(इ) हरिवंश पुराण मे चैत्र कृ० ६ का उल्लेख है।

ने एक मुष्टि के वाल रहने दिये। आपके इस त्याग-तप को देखकर देवो, दानवो और मानवो की विशाल परिषद् चित्र-लिखित सी हो गई।

इस प्रकार सयम जीवन की निर्मल साधना से ऋषभदेव सर्वप्रथम मुनि, साधु एव परिव्राजक रूप से प्रसिद्ध हुए। इनके त्याग से प्रभावित होकर उग्रवश, भोगवश, राजन्य और क्षत्रिय वश के चार हजार राजकुमारो ने उनके साथ सयम ग्रहण किया।[1] यद्यपि भगवान् ने उन्हे प्रव्रज्या नही दी, तथापि उन्होने स्वयं ही प्रभु का अनुसरण कर लुचन आदि क्रियाए की और साधु वन कर उनके साथ विचरना प्रारम्भ किया। प्रभु के दीक्षा-ग्रहण का वह दिन असख्य काल वीत जाने पर भी आज कल्याणक दिवस के रूप मे महिमा पा रहा है।

विद्याधरों की उत्पत्ति

भगवान् ऋषभदेव जव सावद्य-त्याग रूप अभिग्रह लेकर निर्मोह भाव से विचरने लगे तव नमि और विनमि दो राजकुमार जो कच्छ एव महाकच्छ के पुत्र थे, भगवान् की सेवा मे उपस्थित हुए। भगवान् से प्रार्थना करने लगे— प्रभो! आपने सवको भोग्य सामग्री दी है, हमे भी दीजिये। इस प्रकार तीनो सध्या वे भगवान् के साथ लगे रहे। एक समय भगवान् को वन्दन करने के लिए धरणेन्द्र आया, उस समय भी नमि एवं विनमि ने भगवान् से इसी प्रकार की विनती की। यह देख कर धरणेन्द्र ने उनसे कहा—"मित्रो! सुनो, भगवान् सगरहित है, इनको राग-रोप भी नही है, यहा तक कि अपने शरीर पर भी इनका स्नेह नही है। अत इनसे याचना करना ठीक नही। मैं भगवान् की भक्ति के लिए तुम्हारी सेवा निष्फल न हो इसलिए पठन-मात्र से सिद्ध होने वाली ४८००० विद्याए देता हूँ, इनमे गौरी, गधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति ये चार महाविद्याए है। इनको लेकर जाओ और विद्याधर की ऋद्धि से देश एव नगर वसा कर सुख से विचरो। उन्होने भी वैसा ही किया। नमि ने वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे रथनेउर आदि ५० नगर वसाये। उसी तरह विनमि ने भी उत्तर की ओर ६० नगर वसाये। जो मनुष्य जिस देश से लाये गये थे उसी नाम से वैताढ्य पर उनके जनपद स्थापित किये गये।

इस प्रकार नमि एव विनमि ने आठ-आठ निकाय विभक्त किये और देवो के समान विद्या-वल से मनुष्य-देव सम्वन्धी भोगो का उपभोग करते हुए विचरने लगे। मनुष्य होकर भी विद्या-वल की प्रधानता से ये लोग विद्याधर कहाने लगे। और यही से विद्याधरो की परम्परा चालू हुई।[2]

विहारचर्या

श्रमण हो जाने के पश्चात् ऋषभदेव दीर्घकाल तक अखड मौनव्रती होकर तपस्या के साथ एकान्त मे निर्मोह भाव से ध्यान करते हुए विचरते रहे। आचार्य

---

[1] आ० नि० गाथा २४७

[2] आव० चू० प्र० भा०, पृ० १६१-६२

जिनसेन के अनुसार इन्होने छह मास का[1] अनशन तप धारण कर रखा था। पर श्वेताम्वर साहित्य मे ऐसा उल्लेख नही मिलता, वहां वेले की तपस्या के वाद इस प्रकार भिक्षा-भ्रमण का विवरण मिलता है।

प्रभु घोर अभिग्रहों को धारण कर अनासक्त भाव से ग्रामानुग्राम भिक्षा के लिये भ्रमण करते, पर भिक्षा एव उसकी विधि का जनता को ज्ञान नही होने से, उन्हे भिक्षा प्राप्त नही होती। साथ के चार हजार श्रमण जो चिरकाल से इस प्रतीक्षा मे थे कि भगवान् हमारी सुधवुध लेंगे और व्यवस्था करेंगे, पर दीर्घकाल के वाद भी जव भगवान् कुछ नही वोले तो वे सव अनुगामी श्रमण भूख-प्यास आदि परीपहो से संत्रस्त होकर वल्कलधारी तापस हो गये।[2] कुलाभिमान व भरत के भय से वे पुन. गृहस्थ आश्रम मे तो नही गये पर कष्ट, सहिष्णुता और विवेक के अभाव मे सम्यक् साधना से पथच्युत होकर परिव्राजक वन गये और वन मे जाकर वन्य फल-फूलादि खाते हुए अपना जीवन-यापन करने लगे।

भगवान् आदिनाथ जो वीतराग थे, लाभालाभ मे समचित्त होकर अग्लान भाव से ग्राम, नगर विचरते रहे। भावुक भक्तजन आदिनाथ प्रभु को अपने यहा आये देखकर प्रसन्न होते। कोई अपनी सुन्दर कन्या, कोई उत्तम वहुमूल्य वस्त्रा-भूपण, कोई हस्ती, अश्व, रथ, वाहन, छत्र, सिहासनादि और कोई फलफूल आदि प्रस्तुत कर उन्हे ग्रहण करने की प्रार्थना करता, किन्तु विधिपूर्वक भिक्षा देने का ध्यान किसी को नही आता। भगवान् ऋषभदेव इन सारे उपहारो को विना ग्रहण किये ही उलटे पैरो खाली हाथ लौट जाते।

भगवान् का प्रथम पारणा

इस प्रकार भिक्षा के लिये विचरण करते हुए ऋषभदेव को करीव एक वर्ष वीत गया, फिर भी उनके मन मे कोई ग्लानि पैदा नही हुई। एक दिन भ्रमण करते हुए प्रभु कुरु जनपद मे हस्तिनापुर पधारे। वहां वाहुवली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयास युवराज थे। उन्होने रात्रि मे स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का (कान्तिहीन) हो गया है, उसको मैंने अमृत से सिंचन कर पुन चमकाया।[3] दूसरी ओर सुवुद्धि सेठ को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणे जो अपने स्थान से चलित हो रही थी, श्रेयास ने उनको पुन. सूर्य मे स्थापित कर दिया, इससे वह अधिक चमकने लगा।[4] महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न

---

[1] पण्मासानशन धीर, प्रतिज्ञाय महाधृति।
योगैकाग्रयनिरुद्धान्त – वहिष्करण विक्रिय। महा पु १८ (१-२)

[2] जे ते चतारि सहस्सा ते भिक्ख अलभतातेणमाणेण घरण वच्चति भग्हस्स य भयेण, पच्छावणमनिगता तावमा जाना . । आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ १६२

[3] आ० चू० पृ० १६२–६३

[4] आ० चू० पृ० १६२–६३

देखा कि शत्रुओ से युद्ध करते हुए किसी वडे सामन्त को श्रेयास ने सहायता प्रदान की।[1] और श्रेयास की सहायता से उसने शत्रु-सैन्य को हटा दिया। प्रात काल तीनो मिलकर अपने अपने स्वप्न पर चितन करने लगे, और सब एक ही निष्कर्ष पर पहुचे कि श्रेयास कुमार को अवश्य ही कोई विशिष्ट लाभ प्राप्त होने वाला है।[2]

उसी दिन पुण्योदय से भगवान् ऋषभदेव विचरते हुए हस्तिनापुर पधारे। वहुत काल के बाद भगवान् के दर्शन पाकर नगरजन अत्यन्त प्रसन्न हुए। जब श्रेयासकुमार ने राजमार्ग पर भ्रमण करते हुए भगवान् ऋषभदेव को देखा तो उनके दर्शन करते ही श्रेयास के मन मे जिज्ञासा हुई और ऊहापोह करते हुए, चिन्तन करते हुए उन्हे ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वभव की स्मृति से उन्होने जाना कि ये प्रथम तीर्थंकर है। आरम्भ परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी है। इन्हे निर्दोष आहार देना चाहिये। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि भवन मे सेवक पुरुषो द्वारा इक्षु-रस के घडे लाये गये। परम प्रसन्न होकर श्रेयासकुमार सात-आठ कदम भगवान् के सामने गये और प्रदक्षिणा-पूर्वक भगवान् को वन्दन कर स्वय इक्षु-रस का घडा लेकर आये तथा त्रिकरण शुद्धि से प्रतिलाभ देने की भावना से भगवान् के पास आये और बोले, प्रभो! क्या, खप है? भगवान् ने हाथ फैलाया तो श्रेयास ने प्रभु की अजलि मे सारा रस उडेल दिया। भगवान् अछिद्रपाणि थे अत रस की एक बूंद भी नीचे नही गिरने पाई। भगवान् ने वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारणा किया। श्रेयास को वडी प्रसन्नता हुई। उस समय देवो ने पच-दिव्य की वर्षा की और 'अहो दान, अहो दान' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा। श्रेयास ने प्रभु को वर्षी-तप का पारणा कराकर महान् पुण्य का संचय किया और अशुभ कर्मों की निर्जरा की। उस युग के ये प्रथम भिक्षा-दाता हुए। आदिनाथ ने जगत् को सबसे पहले तप का पाठ पढाया तो श्रेयासकुमार ने भिक्षा-दान की विधि से अनजान मानव समाज को सर्वप्रथम भिक्षा-दान की विधि वतलाई। प्रभु के पारणे का वैशाख शुक्ला तृतीया का वह दिन अक्षयकरणी के कारण लोक मे आखा-तीज या अक्षय-तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आज भी सर्वजन-विश्रुत पर्व माना जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् निर्ममत्वभाव से तपस्या करते हुए प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए आत्मस्वरूप को चमकाते रहे। अन्त मे क्षपक श्रेणी मे आरूढ हो शुक्ल-ध्यान से चार घातिक कर्मो का सम्पूर्ण क्षय किया और पुरिमताल नगर के वाहर शकटमुख उद्यान मे फाल्गुन कृष्णा एकादशी

[1] आ० म० २१७-१८

[2] आ० म० गिरि टीका पत्र २१८

के दिन[1] अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में ध्यानारूढ़ हुए और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की। देव एव देवपतियों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। भगवान् भाव अरिहत हो गये। केवलज्ञान की प्राप्ति एक वटवृक्ष के नीचे हुई, अत आज भी वटवृक्ष देश में आदर एव गौरव की दृष्टि से देखा जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति से अब भगवान् भाव अरिहन्त होगये। अरिहत होने से आपमे बारह गुण प्रकट हुए, जो इस प्रकार हैं :–

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र यानी वीतराग भाव, (४) अनन्त बल-वीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) देवकृत पुष्प-वृष्टि, (७) दिव्य-ध्वनि, (८) चामर, (९) स्फटिक-सिंहासन, (१०) छत्र-त्रय, (११) आकाश मे देव-दुन्दुभि और (१२) भामण्डल।

पाँच से बारह तक के आठ गुणो को प्रतिहार्य[2] कहा गया है। भक्तिवश देवो द्वारा यह महिमा की जाती है।

तीर्थंकरों की विशेषता

सामान्य केवली की अपेक्षा अरिहत तीर्थंकर मे खास विशेषताएं होती हैं। आचार्यो ने मूलभूत चार अतिशय[3] बतलाये है। यद्यपि वीतरागता और सर्वज्ञता तीर्थंकर और सामान्य केवली मे समान होती हैं पर तीर्थंकर की प्रभावोत्पादक अन्य भी विशेषताए अतिशय रूप मे होती हैं जिनके लिए समवायांग सूत्र मे "चौंतीस बुद्धाइसेसा" और "पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता" कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा मे शास्त्रोक्त चौंतीस अतिशय इस प्रकार हैं :–

तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशय

(१) अवट्ठिए केसमंसुरोमनहे	केश रोम और स्मश्रु का अवस्थित रहना।
(२) निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी	शरीर का रोगरहित एव निर्लेप होना।
(३) गोक्खीरपडुरे मंससोणिए	गौ-दुग्ध की तरह रक्त-मास का श्वेत होना।
(४) पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे	श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल की तरह सुगन्धित होना।
(५) पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मसचक्खुणा	आहार नीहार प्रच्छन्न, यानी चर्मचक्षु से अदृश्य होना।

---

[1] कल्पसूत्र १९६, पृ० ५८ तथा आवश्यक नि० गाथा २६३।

[2] अशोकवृक्ष सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासन च।
भामण्डल दुन्दुभिरातपत्र सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

[3] अपायागमातिशयो – ज्ञानातिशय पूजातिशयो वागतिशयश्च।
–अभिधान राजेन्द्र, १, पृ० ३१।

(६)	आगासगयचक्कं	आकाशगत चक्र होना।
(७)	आगासगय छत्त	आकाशगत छत्र होना।
(८)	आगासगयाओ सेयवरचामराओ	आकाशगत श्वेत चामर होना।
(९)	आगासफालिआमय सपायपीढं सीहासण	आकाशस्थ स्फटिक सिंहासन।
(१०)	आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमडिआभिरामो इन्दज्झओ पुरओ गच्छइ	हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश में आगे चलना।
(११)	जत्थ जत्थ वि य ण अरहतो भगवन्तो चिट्ठति वा निसीयति वा तत्थ तत्थ वि य ण तक्खणादेव सछन्नपत्तपुप्फपल्लव समाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघटो सपडागो असोगवरपायवो अभिसजायई	अर्हन्त भगवान् जहां जहा ठहरे, वहां वहा तत्काल फूल-फल युक्त अशोक वृक्ष का होना।
(१२)	ईसिं पिट्ठओ मउडठाणमि तेयमडल अभिसंजायइ अधयारे वि य ण दस दिसाओ पभासेइ	भगवान् के थोडा पीछे की ओर मुकुट के स्थान पर तेजो-मंडल होना जो चहुँ दिशा को प्रकाशित कर सके।
(१३)	वहुसमरमणिज्जे भूमिभागे	भूमि-भाग का रमणीक होना।
(१४)	अहोसिरा कटया जायति	काँटों का अधोमुख होना।
(१५)	उऊ विवरीया सुहफासा भवति	ऋतुओं का सब प्रकार से सुखदायी होना।
(१६)	सीयलेण सुहफासेण सुरभिणा मारुएण जोयणपरिमंडल सव्वओ समता सपमज्जिज्जइ	शीतल-सुखद-मद वायु से चारों ओर चार-चार कोस तक स्वच्छता होनी।
(१७)	जुत्तफुसिएण मेहेण य निहयरयरेणूय किज्जइ	जल-बिन्दुओं से भूमि की धूलि का शमन होना।
(१८)	जलथलयभासुपभूतेण विटट्ठाइणा दसद्धवण्णेण कुसुमेण जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते (अचित्ते) पुप्फोवयारे किज्जइ	पाच प्रकार के अचित्त फूलो का जानु प्रमाण ढेर लगना।
(१९)	अमणुण्णाण सद्दफरिसरसरूवगधाण अवकरिसो भवइ	अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का अपकर्ष होना।

(२०) मगुण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगधाण पाउब्भाओ भवइ	शुभ वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि का प्रकट होना।
(२१) पच्चाहरओ वि य ण हिययगमणीओ जोयण नीहारी सरो	बोलते समय भगवान् के गभीर स्वर का एक योजन तक पहुँचना।
(२२) भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ	अर्द्धमागधी भाषा मे भगवान् का धर्म प्रवचन फरमाना।
(२३) सा वि य ण अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसि सव्वेसि आरियमणारियाणं दुप्पयचउप्पअमियपसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पणो हियसिव सुहयभासत्ताए परिणमइ	अर्द्धमागधी भाषा का आर्य, अनार्य, मनुष्य और पशुओं की अपनी अपनी भाषा के रूप मे परिणत होना।
(२४) पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगन्धव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति	भगवान् के चरणो मे पूर्व के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना।
(२५) अण्णउत्थियपावयणिया वि य णमागया वंदति	अन्य तीर्थ के वादियो का भी भगवान् के चरणो मे आकर वन्दन करना।
(२६) आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पलिवयणा हवति	वाद के लिए आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर हो जाना।
(२७) जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवन्तो विहरति तओ तओ वि य ण जोयणपणवीसाए ण ईति न भवई	जहा जहा भगवान् विचरण करे वहा वहा से २५ (पच्चीस) योजन तक ईति नहीं होती।
(२८) मारी न भवइ	जहा जहा भगवान् विचरण करे वहां वहा से २५ योजन तक मारी नही होती।
(२९) सचक्क न भवइ	जहा जहा भगवान् विचरण करें वहा वहा स्वचक्र का भय नही होता।
(३०) परचक्क न भवइ	जहा जहा भगवान् विचरण करे वहां वहा पर-चक्र का भय नही होता।
(३१) अइवुट्ठी न भवइ	जहा जहा भगवान् विचरण करें वहा वहा अतिवृष्टि नही होती।

(३२) अणावुट्ठी न भवइ — जहा जहां भगवान् विचरण करे वहां वहा अनावृष्टि नही होती।

(३३) दुब्भिक्ख न भवइ — जहा जहा भगवान् विचरण करे वहा वहा दुर्भिक्ष नही होता।

(३४) पुव्वुप्पण्णा वि य ण उप्पाइया वाही खिप्पमिव उवसमति। — जहा जहा भगवान् विचरण करे वहा वहां पूर्व उत्पन्न उत्पात भी शीघ्र शान्त हो जाते है।[1]

[सुत्तागम पृ० ३४५-४६] [समवायाग, समवाय १११]

दिगम्बर परम्परा मे ३४ अतिशयो का वर्णन इस प्रकार किया गया है.—

जन्म के १० अतिशय[2] —

(१) स्वेदरहित तन
(२) निर्मल शरीर
(३) दूध की तरह रुधिर का श्वेत होना
(४) अतिशय रूपवान् शरीर
(५) सुगन्धित तन
(६) प्रथम उत्तम सहनन
(७) प्रथम उत्तम संस्थान
(८) एक हजार आठ (१००८) लक्षण
(९) अमित वल,
(१०) हित-प्रिय वचन।

केवलज्ञान के १० अतिशय[3] —

(१) भगवान् विचरे वहा वहा सौ सौ कोस तक सुभिक्ष होना (ईति नही होना),
(२) आकाश में गमन,
(३) भगवान् के चरणो मे प्राणियो का निर्भय होना,

---

[1] पाठान्तर मे काला, अगरु आदि से गद्यमद्यायमान रमणीय भू-भाग को उन्नीसवा और तीर्थंकर के दोनो ओर दो यक्षो द्वारा चवर डुलाने को वीसवा अतिशय माना है किन्तु वृहद्वाचना मे नही होने से इन्हे यहा स्वीकार नहीं किया है।

दूसरे से पाचवें तक चार अतिशय जन्म के, १९ (उन्नीस) देवकृत और ग्यारह केवलज्ञानभावी माने हैं। [समवायाग वृत्ति]

[2] नित्य नि स्वेदत्व, निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्व च।
स्वाद्याकृति सहनने, सौरूप्य सौरभ च सौलक्ष्यम् ॥१॥
अप्रमितवीर्यता च प्रियहित-वादित्वमन्यदमित गुणस्य।
प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयमुवोर्देहस्य ॥२॥

[3] गव्यूतिशत चतुष्टय-सुभिक्षता-गगन-गमनमप्राणिवधः।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्व च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
अच्छायत्वमपक्ष्मस्पन्दश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वम्।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवति तेऽपि दशैव ॥४॥

[नन्दीश्वर भक्ति]

(४) कवलाहार (स्थूल आहार) का नहीं होना[1],
(५) भगवान् पर कोई उपसर्ग नही होना,
(६) समवसरण मे चतुर्मुख दिखना,
(७) अनन्त ज्ञान के कारण सर्व विद्याओ का ईश्वर होना,
(८) शरीर का निर्मल और छाया रहित होना,
(९) नेत्रो के पलको का नही गिरना,
(१०) नख केशों का सम होना।

देव-कृत १४ अतिशय[2] :—

(१) चहुँ दिशाओ का निर्मल होना।
(२) आकाश का मेघरहित व स्वच्छ होना।
(३) पृथ्वी का धन-धान्य आदि से भरी पूरी होना।
(४) सुगन्धित वायु का चलना।
(५) देवताओ द्वारा सुगन्धित जलवृष्टि होना।
(६) योजनपर्यन्त पृथ्वी का दर्पण सम उज्ज्वल होना।
(७) विहार के समय चरणो के नीचे कमल की रचना होना।
(८) आकाश मे जय-जयकार होना।
(९) सम्पूर्ण जीवो को परम आनन्द का प्राप्त होना।
(१०) पृथ्वी का कण्टक पाषाणादि से रहित होना।
(११) सहस्रार वाले धर्मचक्र का आगे चलना।
(१२) विरोधी जीवो मे परस्पर मैत्री होना।
(१३) ध्वजासहित अष्टमंगल का विहार के समय आगे चलना।
(१४) अर्धमागधी वाणी द्वारा भव्य जीवो को तृप्त करना।

---

[1] केवली भगवान् के कवलाहार का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका होता है कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का सरक्षण अनावश्यक हो जाता है। उनके शरीर-रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ का आगमन विना प्रयत्न के हुआ करता है।

[2] देवकृत चौदह अतिशय :—

देव रचित हैं चारदश, अर्धमागधी भाष।
आपस माही मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥
होत फूल फल ऋतु सर्व, पृथिवी काच समान।
चरण कमल तल कमल है नभ तें जय जय वान ॥
मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कण्टक नही, हर्षमयी सब सृष्टि ॥
धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार।
अतिशय श्री अरहत के .... ॥

श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराओं की तुलना

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अतिशयो मे सख्या समान होने पर भी निम्न अन्तर है :—

श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायाग मे आहार-नीहार चर्मचक्षु से अदृश्य-प्रच्छन्न माना है, इसके स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे स्थूल आहार का अभाव और नीहार नही होना, इस तरह दोनो अलग अतिशय मान्य किये है।

समवायाग के छठे अतिशय से ग्यारहवे तक अर्थात् आकाशगत चक्र से अशोक वृक्ष तक के नाम दिगम्बर परम्परा मे नही हैं। इनके स्थान पर निर्मल दिशा, स्वच्छ आकाश, चरण के नीचे स्वर्ण-कमल, आकाश मे जयजयकार, जीवो के लिए आनन्ददायक, आकाश मे धर्मचक्र का चलना व अष्ट मंगल, ये ७ अतिशय माने गये हैं।

शरीर के सात अतिशय :—

(१) स्वेद रहित शरीर,
(२) अतिशय रूप,
(३) प्रथम सहनन,
(४) प्रथम सस्थान,
(५) १००८ लक्षण,
(६) अनन्त बल और
(७) हित-प्रिय वचन – जो दिगम्बर परम्परा मे मान्य है, पर समवायाग मे नही है।

समवायाग के तेजो भामण्डल के स्थान पर दिगम्वर परम्परा मे केवली अवस्था का चतुर्मुख अतिशय माना है। समवायांग के बहुसमरमणीय भूमिभाग के स्थान पर पृथ्वी की उज्ज्वलता और शस्य-श्यामलता – ये दो अतिशत माने गये है।

केवल ज्ञान के अतिशयो मे समवायाग द्वारा वर्णित, अन्य तीर्थ के वादियो का आकर वन्दन करना और वाद मे निरुत्तर होना, इन दो अतिशयो के स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे एक ही अतिशय, सर्व विद्येश्वरता माना है।

फिर पच्चीस योजन तक ईति आदि नही होना, इस प्रसग के सात अतिशयो के स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे सुभिक्ष होना, यह केवल एक ही अतिशय माना गया है।

उपसर्ग का अभाव और समवसरण मे प्राणियो की निर्वैर वृत्ति ये दोनो अतिशय दोनो परम्पराओं मे समान रूप से मान्य है।

छाया-रहित शरीर, आकाशगमन और निर्निमेष चक्षु ये तीन अतिशय जो दिगम्बर परम्परा में मान्य हैं, श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायाग मे नही है।

इस तरह सकोच, विस्तार एव सामान्य दृष्टिभेद को छोडकर दोनो परम्पराओं मे ३४ अतिशय माने गये हैं। प्रत्येक तीर्थंकर इन चौतीस अतिशयो से सम्पन्न होते है।

तीर्थंकर की वाणी के ३५ गुण

समवसरण मे तीर्थंकर भगवान् की मेघ सी वाणी पैतीस अतिशयो के साथ अविरलरूप से प्रवाहित होती है। वे पैतीस अतिशय इस प्रकार हैं :-

(१) लक्षणयुक्त हो,
(२) उच्च स्वभावयुक्त हो,
(३) ग्रामीणता यानी हल्के शब्दादि से रहित हो,
(४) मेघ जैसी गम्भीर हो,
(५) अनुनाद अर्थात् प्रतिध्वनियुक्त हो,
(६) वक्रता-दोष-रहित सरल हो,
(७) मालकोषादि राग-सहित हो,
(८) अर्थ-गम्भीर हो,
(९) पूर्वापर विरोधरहित हो,
(१०) शिष्टतासूचक हो,
(११) सन्देहरहित हो,
(१२) पर-दोषो को प्रकट न करने वाली हो,
(१३) श्रोताओ के हृदय को आनन्द देने वाली हो,
(१४) बडी विचक्षणता से देश काल के अनुसार हो,
(१५) विवक्षित विषयानुसारी हो,
(१६) असम्बद्ध व अतिविस्तार रहित हो,
(१७) परस्पर पद एव वाक्यानुसारिणी हो,
(१८) प्रतिपाद्य विषय का उल्लंघन करने वाली न हो,
(१९) अमृत से भी अधिक मधुर हो,
(२०) मर्मवेधी न हो,
(२१) धर्मार्थरूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली हो,
(२२) अभिधेय अर्थ की गम्भीरता वाली हो,
(२३) आत्म-प्रशसा व पर-निन्दा रहित हो,
(२४) श्लाघनीय हो,
(२५) कारक, काल, वचन और लिंग आदि के दोषो से रहित हो,
(२६) श्रोताओ के मन मे आश्चर्य पैदा करने वाली हो,
(२७) अद्भुत अर्थ-रचना वाली हो,
(२८) विलम्बरहित हो,
(२९) विभ्रमादि दोषरहित हो,
(३०) विचित्र अर्थ वाली हो,
(३१) अन्य वचनो से विशेषता वाली हो,
(३२) वस्तुस्वरूप को साकार रूप मे प्रस्तुत करने वाली हो,
(३३) सत्वप्रधान व साहसयुक्त हो,
(३४) स्व-पर के लिए खेदरहित हो, और
(३५) विवक्षित अर्थ की सम्यक्सिद्धि तक अविच्छिन्न अर्थ वाली हो।

भरत का विवेक

जिस समय भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई उस समय सम्पूर्ण लोक मे ज्ञान का उद्योत हो गया। नरेन्द्र और देवेन्द्र भी केवल-कल्याणक का उत्सव मनाने को प्रभु की सेवा मे उपस्थित हुए।

सम्राट् भरत को जिस समय प्रभु के केवलज्ञान की सूचना मिली, उसी समय एक दूत ने आकर आयुधशाला मे चक्र-रत्न उत्पन्न होने की शुभ सूचना भी दी।[1]

आचार्य जिनसेन के अनुसार उसी समय उन्हे पुत्र-रत्न-लाभ की तीसरी शुभ सूचना भी प्राप्त हुई।

एक साथ तीनो शुभ सूचनाएँ पाकर महाराज भरत क्षण भर के लिये विचार मे पड गये कि प्रथम चक्र-रत्न की पूजा की जाय या पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया जाय अथवा प्रभु के केवलज्ञान की महिमा गाई जाय ?

क्षणान्तर मे विवेक के आलोक मे उन्होने निर्णय किया कि चक्र-रत्न और पुत्र-रत्न की प्राप्ति तो अर्थ एव काम का फल है, पर प्रभु का केवलज्ञान धर्म का फल है। प्रारम्भ की दोनो वस्तुएँ नश्वर है, जबकि तीसरी अनश्वर। अत. चक्र-रत्न या पुत्र-रत्न का महोत्सव मनाने के वजाय मुझे प्रथम प्रभुचरणो की वन्दना और उपासना करनी चाहिये, क्योकि वही सब कल्याणो का मूल और महालाभ का कारण है। पहले के दोनो लाभ भौतिक होने के कारण क्षणविध्वसी है, जब कि भगवच्चरणवदन आध्यात्मिक होने से आत्मा के लिये सदा श्रेयस्कर है। यह सोच कर चक्रवर्त्ती भरत प्रभु के चरण-वदन को चल पडे।

भगवद् दर्शन से मरुदेवी की मुक्ति

इधर माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु चिरकाल से तडप रही थी। प्रव्रज्या लेने के बाद हजार वर्ष बीतने पर भी वह अपने प्रिय पुत्र ऋषभ को एक बार भी नही देख पाई। फलत अपने प्यारे पुत्र की स्मृति मे उसके नयनो से प्रतिपल आँसू बरसते थे।

भरत की महान् राज्य-ऋद्धि को देखकर मरुदेवी ने उलाहना देते हुए कहा – "वत्स भरत, तुम अमित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो किन्तु मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ भूखा-प्यासा न मालूम कहा कहा भटक रहा होगा। तुम लोग उसकी कोई सार-सम्हाल नही लेते।" कुछ काल बाद भरत ने मरुदेवी को भगवान् ऋषभदेव के विनीता नगरी के बाहर पधारने का शुभ समाचार सुनाया।

उसने जब भरत से सुना कि उसका प्रिय पुत्र ऋषभ विनीता नगरी के पास आ गया है तो वह भी भरत के साथ गजारूढ होकर दर्शनार्थ चल पडी।

समवसरण के निकट पहुँचकर मा मरुदेवी ने देव-देवेन्द्रकृत ऋषभदेव की महिमा-पूजा देखी तो वे सोचने लगी – "अहो, मै तो समझती थी कि मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ कष्टो मे होगा, पर यह तो सुखसागर मे गोते लगा रहा है।"

---

[1] (क) कल्पसूत्र १९६, पृ० ५८ (ख) आवश्यक नि० गाथा २६३।

[2] (क) आवश्यक चू० पृ० १८१ (ख) तत्र धर्मफल तीर्थं, पुत्र स्यात् कामज फलम्। अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फल चक्र प्रभास्वरम्। महापुराण २४।६।५७३।

इस पर से उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया। वे आर्त्तध्यान से शुक्ल ध्यान मे आरूढ़ हुईं और कुछ क्षणो मे ही ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के सघन आवरणो को दूर कर केवलज्ञान व केवल-दर्शन की धारक बन गईं।[1]

चूर्णिकार के अनुसार छत्र, भामण्डलादि अतिशय देखकर मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु काल अल्प होने से कुछ समय बाद ही शेष चार अघाति कर्मो को भी नष्ट कर, गजारूढ स्थिति मे ही वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं।[2]

कुछ आचार्य भगवान् की धर्मकथा का शब्द श्रवण करते हुए आयु पूर्ण होने से मरुदेवी का सिद्ध होना मानते है।

अवसर्पिणी काल मे सिद्ध होने वाले जीवो मे माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है। तीर्थ-स्थापना के पूर्व सिद्ध होने से उन्हे अतीर्थ-सिद्ध भी कहा है।

भगवान् ऋषभदेव का समवसरण

समवसरण का शब्दार्थ है – सम्यग् एकी भावेन अवसरणमेकत्र गमन – मेलापकः समवसरणम्।[3]

अच्छी तरह एक स्थान पर मिलने को समवसरण कहते हैं। जहा साधु-साध्वी या वादी मिले या व्याख्यान दे उस क्षेत्र को भी समवसरण कहते है।

वादी, क्रियावादी आदि भेद से समवसरण अनेक प्रकार के है। यहा तीर्थंकर के प्रवचन-सभा-रूप समवसरण ही इष्ट है, अत. उसी का विचार किया जाता है।

समवसरण के लिये कहा गया है कि जहां सर्वप्रथम भगवान् का समवसरण होता है और उसमे जहा किसी महर्द्धिक देव का आगमन हो, वहा देवकृत जलवृष्टि, पुष्पवृष्टि और तीन प्राकार युक्त समवसरण किया जाता है। जैसा कि कहा है .–

जत्थ अपुव्वो सरण, जत्थ व देवो महड्ढियो एइ।
वाउदय-पुप्फ-वद्दल-पागार तिय च अभिओगा॥

[आव० नि० प० १०६, गा० ५४४]

समवसरण के चहु ओर चार-चार कोस तक देवता भूमि को सवर्तक वायु से स्वच्छ एव पुष्पवर्षा से सुवासित करते है।

---

[1] दिगम्बर परम्परा मे इसका उल्लेख नही है।

[2] (क) करि स्कन्धाधिरुढैव, स्वामिनी मरुदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रपेदे पदमव्ययम्॥ [त्रिपष्ठि १।३।५३०]

(ख) भगवतो य छत्ताग्च्छित्त पेच्छतीए चेव केवल नाण उप्पन्न,
त समय च ण आयु खुट्ट सिद्ध देवेहि य से पूया कता ।
[आवश्यक चूर्णि (जिनदास) १८१]

(ग) आवश्यक मलयगिरि टीका २२६।

[3] अभिधान राजेन्द्र, पृ० ४६०

तीर्थंकर के समवसरण मे देवेन्द्रो द्वारा रत्नो से चित्रित तीन प्राकार बनाये जाते हैं। उनमे पहला रत्नमय, दूसरा सुवर्णमय और तीसरा रजतमय होता है।

पहला प्राकार वैमानिक देव, दूसरा ज्योतिष्क देव और तीसरा भवनपति देव बनाते हैं।

कगूरो के लिए भी इसी प्रकार वैमानिक, ज्योतिष्क और भवनपतियो द्वारा अलग अलग बनाने का उल्लेख है।

व्यन्तर देव ध्वजा, पताकायुक्त तोरण और चारों ओर मनोहर गन्ध-युक्त धूपघड़ियो की रचना करते हैं।

आभ्यन्तर प्राकार के मध्यम भाग मे अशोक वृक्ष होता है जो तीर्थंकर से बारह गुना ऊंचा होता है। उसके नीचे रत्नमय पीठ के ऊपर, चैत्य वृक्ष के नीचे, देव छन्दक के भीतर सिहासन पर तीर्थंकर विराजते हैं।

इस प्रकार समवसरण की रचना सर्वत्र नही होती, जहा देवेन्द्र आते है वहा उपरोक्त प्रकार की रचना होती है। जहा इन्द्र के सामानिक देव आदि आते हैं, वहा पर एक ही प्राकार बनाया जाता है। यदि इन्द्र या सामानिक आदि किसी महर्द्धिक देव का आगमन नही हो तब भवनपति आदि समवसरण की रचना करते अथवा नही भी करते हैं।[1]

समवसरण मे प्रवेश करने की भी एक निश्चित पद्धति है। गणधर पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर तीर्थंकर को वन्दन कर दक्षिण की ओर बैठते हैं।

उनके बाद अतिशय ज्ञानी, केवली आदि और सामान्य साधु भी पूर्व द्वार से प्रविष्ट होते हैं।

वैमानिक देविया पूर्व द्वार से आकर सामान्य साधुओ के पीछे खड़ी रहती है।

तत्पश्चात् साध्वियो का पूर्व द्वार से आकर वैमानिक देवियो के पीछे खडे रहना बतलाया है, बैठना नही।

भवनवासी आदि की देविया दक्षिण द्वार से आती हैं और क्रमश भवन-वासी के पीछे ज्योतिष्क की देवियां और उनके पीछे व्यन्तर देविया ठहरती हैं। भवनवासी, ज्योतिष्क और व्यन्तरो का पश्चिम द्वार से प्रवेश बतलाया है।

वैमानिक देव, नरेन्द्र आदि मानव और मनुष्य-स्त्रिया उत्तर द्वार से आकर क्रमश एक दूसरे के पीछे बैठती है। यहा ऐसी भी परम्परा बतलाई गई है

---

[1] इदि इन्द्रा ' वा केचिन्महर्द्धिका नायान्ति ततो भवनवास्यादय इतरे समवसरण कुर्वन्ति वा न वेत्येव भजना।

[अभिधान राजेन्द्र, भाग ७, पृष्ठ ४६३]

कि – "देव्य. सर्वा एव न निषीदन्ति, देवाः मनुष्या, मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति" अर्थात् देविया सभी बैठती नही है, देव, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियां बैठती हैं।

समवसरण मे कोई किसी का तिरस्कार नही करते, न एक दूसरे से मत्सर करते हैं और न विकथा ही करते है। भगवान् के प्रभाव से विरोधी प्राणियो मे भी परस्पर वैर-विरोध एवं भय नही होता।

दूसरे प्राकार मे पशु-पक्षी आदि तिर्यंच और तीसरे मे यान-वाहनादि का होना बतलाया गया है। कभी मनुष्य और देव भी यहा हो सकते हैं।

दिगम्बर परम्परा मे भी प्राकार त्रय का इससे मिलता जुलता पर कुछ बढकर विवरण उपलब्ध होता है।

समवसरण में चार प्रकार के देव व देविया तथा साधु, साध्वी, मनुष्य और तिर्यंच, इस तरह बारह प्रकार की परिषद् का वर्णन दोनो परम्पराओ मे उल्लिखित है।

श्वेताम्बर परम्परा के उववाइय सूत्र मे भगवान् का चम्पा नगरी मे समवसरण होने का उल्लेख है। वहां नगरी के बाहरी पूर्णभद्र उद्यान मे अशोक वृक्ष के नीचे सिहासन के आकार वाले कृष्ण पृथ्वीशिला पट्ट पर यथोचित अवग्रह से प्रभु का विराजना बतलाया है।

श्रमण गण से परिवृत्त ३४ अतिशय और ३५ विशिष्ट वाणी-गुणो से सम्पन्न प्रभु आकाशगत चक्र, छत्र एव चामर और स्फटिकमय सपादपीठ सिंहासन से आगे चलते हुए धर्म-ध्वज के साथ चवदह हजार श्रमण एव छत्तीस हजार श्रमणियो के परिवार से युक्त पधारे। वहाँ पर ऋषि परिषद्, मुनि परिषद् आदि विशाल परिषदा मे योजनगामिनी, सर्वभाषानुयायी अर्धमागधी भाषा मे तीर्थंकर महावीर की देशना का वर्णन है। किन्तु इस प्रकार देवकृत समवसरण की विभूति का कही उल्लेख नही मिलता।

देशना और तीर्थ स्थापना

केवलज्ञानी और वीतरागी बन जाने के पश्चात् ऋषभदेव पूर्ण कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकान्त साधना से भी अपनी मुक्ति कर लेते फिर भी उन्होने देशना दी। इसके कई कारण थे। प्रथम तो यह कि जब तक देशना दे कर धर्मतीर्थ की स्थापना नही की जाती तब तक तीर्थंकर नाम कर्म का भोग नही होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र मे कहा गया है, समस्त जगजीवो की रक्षा व दया के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया।[1] अत. भगवान् ऋषभदेव को शास्त्र मे प्रथम धर्मोपदेशक कहा गया है। वैदिक पुराणो मे भी उन्हे दशविध धर्म का प्रवर्त्तक माना गया है।[2]

---

[1] प्रश्न प्र० सवर।

[2] ब्रह्माण्ड पुराण....

जिस दिन भगवान् ऋषभदेव ने प्रथम देशना दी, वह फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन था। उस दिन भगवान् ने श्रुत एव चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रिभोजन विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया।[1]

प्रभु ने समझाया कि मानव-जीवन का लक्ष्य भोग नही योग है, राग नही विराग है, वासना नही साधना है, वृत्तियो का हठात् दमन नही अपितु ज्ञानपूर्वक शमन है।

भगवान् के त्यागपूर्ण हृदय से निकले हुए इन उद्गारो को सुन कर सम्राट् भरत के ऋषभसेन आदि पाच सौ पुत्रो एव सात सौ पौत्रों ने साधु सघ मे और ब्राह्मी आदि पाच सौ सन्नारियो ने साध्वी सघ मे दीक्षा ग्रहण की।

महाराज भरत सम्यग् दर्शनी श्रावक हुए।

सुन्दरी विरक्त हो कर दीक्षित होना चाहती थी परन्तु भरत ने उसको स्त्रीरत्न बनाने की इच्छा से रोक रखा, अत उसने श्राविका धर्म ग्रहण किया।

इसी प्रकार महाराज भरत आदि सहस्रो नर-पुगवो और सुंदरी आदि सन्नारियो ने सम्यग् दर्शन और श्रावक व्रत ग्रहण किया।

इस प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप यह चार प्रकार का सघ स्थापित हुआ। धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से भगवान् सर्वप्रथम तीर्थंकर कहलाये।

ऋषभसेन ने भगवान् की वाणी सुन कर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीन पृच्छाओ से उसने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।[2]

भगवान् के चौरासी गणधरो मे प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। कही कही पुडरीक नाम से भी उल्लेख मिलता है परन्तु समवायाग सूत्र आदि के आधार से पुडरीक नही, ऋषभसेन नाम ही सगत प्रतीत होता है।

ऋषभदेव के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले जिन चार हजार व्यक्तियो के लिये पहले क्षुधा, पिपासादि कष्टो से घबरा कर तापस होने की बात कही गई थी, उन लोगो ने भी जब भगवान् की केवल-ज्ञानोत्पत्ति और तीर्थ-प्रवर्तन की बात सुनी तो कच्छ, महा कच्छ को छोड़ कर शेष सभी भगवान् की सेवा मे आए और आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण कर साधु सघ मे सम्मिलित हो गये।[3]

---

[1] (क) फग्गुणबहुले इक्कारसीई अह अट्ठमेणभत्तेण।
उप्पन्नमि अणते महव्वया पच पन्नवए॥ [आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३४०]
(ख) सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।
[प्रश्न व्याकरण २।१।]

[2] तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइतो तेण तिहि पुच्छाहि चोद्दसपुव्वाइ गहिताई उप्पन्ने विगते धुते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया। [आ० चूर्णि पृ० १८२]

[3] "भगवओ सगा मे पव्वइता।" [आ० नि० म० पृ० २३०] (ब) त्रि० १।३।६५४

आचार्य जिनसेन के अनुसार ऋषभदेव के ८४ गणधरो के नाम इस प्रकार हैं :—

१. वृषभसेन	२९ सर्वदेव	५७ मित्रफल्गु
२ कुम्भ	३० विजय	५८ प्रजापति
३. दृढरथ	३१ विजयगुप्त	५९ सत्य यश
४. शत्रुदमन	३२. विजयमित्र	६०. वरुण
५ देव शर्मा	३३ विजयश्री	६१ धन वाहिक
६. धन देव	३४. पराख्य	६२. महेन्द्र दत्त
७. नन्दन	३५ अपराजित	६३. तेजोराशि
८. सोमदत्त	३६. वसुमित्र	६४. महारथ
९ सुरदत्त	३७. वसुसेन	६५. विजयश्रुति
१०. वायशर्मा	३८. साधुसेन	६६ महावल
११ सुवाहु	३९ सत्यदेव	६७. सुविशाल
१२ देवाग्नि	४०. सत्यवेद	६८. वज्र
१३. अग्निदेव	४१. सर्वगुप्त	६९ वैर
१४. अग्निभूति	४२ मित्र	७० चन्द्रचूड़
१५. तेजस्वी	४३. सत्यवान्	७१ मेघेश्वर
१६ अग्निमित्र	४४. विनीत	७२. कच्छ
१७. हलधर	४५. संवर	७३. महाकच्छ
१८ महीधर	४६ ऋषिगुप्त	७४ सुकच्छ
१९ माहेन्द्र	४७. ऋषिदत्त	७५. अतिवल
२०. वसुदेव	४८. यज्ञदेव	७६. भद्रावलि
२१ वसुन्धर	४९. यज्ञगुप्त	७७ नमि
२२. अचल	५०. यज्ञमित्र	७८ विनमि
२३. मेरु	५१. यज्ञदत्त	७९. भद्रवल
२४. भूति	५२. स्वायभुव	८० नन्दी
२५ सर्वसह	५३. भागदत्त	८१. महानुभाव
२६ यज्ञ	५४. भागफल्गु	८२ नन्दीमित्र
२७. सर्वगुप्त	५५ गुप्त	८३. कामदेव और
२८ सर्वप्रिय	५६ गुप्त फल्गु	८४. अनुपम

[हरिवंश पुराण, सर्ग १२; श्लो० ५४ से ७०]

परिव्राजक मत का प्रारम्भ

आवश्यक निर्युक्ति आदि श्वेताम्वर ग्रन्थो के अनुसार भगवान् की देशना सुन कर और समवसरण की अद्भुत महिमा देख कर सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि भी प्रभु के चरणो मे दीक्षित हो गया तथा तप संयम की विधिवत्

आराधना करते हुए उसने एकादश अगों का अध्ययन भी किया। पर सुकुमारता के कारण एक बार ग्रीष्मकाल के भीषण ताप और अस्नान-परीषह से पीडित हो कर वह साधना के कटकाकीर्ण मार्ग से विचलित हो गया।[१]

वह मन ही मन सोचने लगा कि मेरु गिरि के समान सयम के इस गुरुतर भार को मैं घडी भर भी वहन नही कर सकता, क्योकि सयम योग्य धृति आदि गुणो का मुझ मे अभाव है, तो मुझे क्या करना चाहिये।

इस प्रकार विचार करते हुए उसे बुद्धि उत्पन्न हुई कि व्रत पर्याय मे आकर फिर घर लौट जाना तो उचित नही, सब लोग मुझे कायर कहेगे और यदि साधु रूप मे रह कर विधिवत् सयम का निर्दोष पालन नही करता हूं तो आत्म-वंचना होगी। अत मुझे मेरी स्थिति के अनुसार नवीन वेष धारण कर विचरना चाहिये। श्रमण-धर्म से उसने निम्न भेद की कल्पना की :–

"जिनेन्द्र मार्ग के श्रमण मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार रूप दंड से मुक्त, जितेन्द्रिय होते है। पर मैं मन, वाणी और काया से अगुप्त-अजितेन्द्रिय हू। इसलिये मुझे प्रतीक रूप से अपना त्रिदंड रखना चाहिये।"[२]

"श्रमण सर्वथा प्राणातिपात विरमण के धारक, सर्वथा हिसा के त्यागी होने से मुडित होते है, पर मैं पूर्ण हिसा का त्यागी नही हू। मैं स्थूल हिसा से निवृत्ति करूगा और शिखा सहित क्षुर मुडन कराऊगा।"[३]

"श्रमण धन-कचन रहित एव शील की सौरभवाले होते है किन्तु मैं परिग्रहधारी और शील की सुगन्ध से रहित हू अतः मैं चन्दन आदि का लेप करूगा।"[४]

"श्रमण निर्मोही होने से छत्र नही रखते, पर मै मोह ममता सहित हूं, अत छत्र धारण करूगा और उपानत् एव खडाऊं भी पहनूगा।"[५]

"श्रमण निरम्बर और शुक्लाम्बर होते है, जो स्थविरकल्पी है वे निर्मल मनोवृत्ति के प्रतीक श्वेत वस्त्र धारण करते है, पर मैं कषाय से कलुषित हू, अत मै काषाय वस्त्र, गेरुए वस्त्र धारण करूंगा।"[६]

"पाप-भीरु श्रमण जीवाकुल समझ कर सचित्त जल आदि का आरंभ नही करता किन्तु मैं परिमित जल का स्नान-पानादि मे उपयोग करूंगा।"[७]

---

१ (क) आ० भा० गा० ३७। (ख) आव० नि० गा० ३५०।३५१

२ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३५३

३ " " " ३५४

४ " " " ३५५

५ " " " ३५६

६ " " " ३५७

७ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३५८

इस प्रकार परिव्राजक वेष की कल्पना कर मरीचि भगवान् के साथ उस वेष से ग्राम-नगर आदि में विचरने लगा।

मरीचि के पास आ कर बहुत से लोग धर्म की पृच्छा करते, वह उन सबको क्षान्ति आदि दशविध श्रमण-धर्म की शिक्षा देता और भगवान् के चरणों में शिष्य होने को भेज देता।

किसी समय भरत महाराज ने भगवान् के समक्ष प्रश्न किया – "प्रभो! आपकी इस सभा मे कोई ऐसा भी जीव है जो भरत क्षेत्र में आपके समान आने वाली चौवीसी मे तीर्थंकर होगा ?"[1]

समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया–"भरत! यह स्वाध्याय-ध्यान में रत तुम्हारा पुत्र मरीचि जो प्रथम परिव्राजक है, आगे इसी अवसर्पिणी मे महावीर नाम का चौवीसवा तीर्थंकर होगा।"

भगवान् का निर्णय सुन कर सम्राट् भरत वहुत ही प्रसन्न हुए और मरीचि के पास जाकर उसका अभिवादन करते हुए वोले – "मरीचि! तुम तीर्थंकर वनोगे, इसलिये मैं तुम्हारा अभिवादन करता हू। मरीचि! तेरी इस प्रव्रज्या को एवं वर्तमान जन्म को वंदन नही करता हूं, किन्तु तुम जो भावी तीर्थंकर वनोगे, इसलिये मैं वदन करता हूं।"

भरत की वात सुन कर मरीचि वहुत ही प्रसन्न हुआ और तीन वार आस्फोटन करके वोला – "अहो मैं प्रथम वासुदेव और मूका नगरी का चक्रवर्ती वनूगा, और इसी अवसर्पिणी काल मे अन्तिम तीर्थंकर भी, कितनी वड़ी ऋद्धि? फिर मेरा कुल कितना ऊंचा? मेरे पिता प्रथम सम्राट् चक्रवर्ती, दादा तीर्थंकर और मैं भी भावी तीर्थंकर, क्या इससे वढ कर भी कोई कुल होगा?"

इस प्रकार कुलमद के कारण मरीचि ने यहा नीच गोत्र का वन्ध कर लिया।[2]

एक दिन शरीर की अस्वस्थावस्था मे जव कोई उसकी सेवा करने वाला नहीं था तो मरीचि को विचार हुआ कि – "मैंने किसी को शिष्य नही वनाया, अत. आज सेवा से वचित रह रहा हू। अव स्वस्थ होने पर मैं अपना शिष्य अवश्य वनाऊंगा।[3]

समय पाकर उसने कपिल राजकुमार को अपना शिष्य वनाया।"[4]

महापुराणकार ने कपिल को ही योगशास्त्र और सांख्य दर्शन का प्रवर्तक माना है।

---

[1] आ० नि० गाथा ३६७।
[2] आ० म० ४२८, ४३१–४३२
[3] आ० म० प० २४७। १
[4] त्रिषष्टि १।६।५२

इस प्रकार "आदि परिव्राजक" मरीचि के शिष्य कपिल से व्यवस्थित रूप मे परिव्राजक परम्परा का आरभ हुआ।[1]

ब्राह्मी और सुन्दरी

प्रात स्मरणीया सतियो मे ब्राह्मी और सुन्दरी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ के १०० पुत्रो मे जैसे भरत और बाहुबली प्रसिद्ध हैं उसी तरह उनकी दोनो पुत्रिया ब्राह्मी और सुन्दरी भी सर्वजन-विश्रुत हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी के माध्यम से ही जन-समाज को अठारह लिपियो का ज्ञान प्रदान किया।

आवश्यक निर्युक्ति के टीकाकार के अनुसार ब्राह्मी का बाहुबली से और भरत का सुन्दरी से सम्बन्ध किया गया।

यहा यह शका होती है कि ब्राह्मी और सुन्दरी को बालब्रह्मचारिणी माना गया है फिर इनका विवाह कैसे ?

सभव है कि उस समय की लोक-व्यवस्थानुसार पहले दोनो का सम्बन्ध घोषित किया गया हो और फिर भोग-विरति के कारण दोनों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो।

आवश्यक चूर्णि और मलयगिरि वृत्ति में भी भरत को सुन्दरी और बाहुबली को ब्राह्मी देने का उल्लेख है।

ब्राह्मी तो भगवान् को केवलज्ञान होते ही दीक्षित हो गई, पर सुन्दरी को उस समय भरत ने दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान नही की, भरत द्वारा अवरोध उपस्थित करने के कारण वह उस समय दीक्षित नही हो सकी। भरत का विचार था कि चक्ररत्न से षट्खण्ड पृथ्वी को जीतकर सुन्दरी को स्त्री-रत्न नियुक्त किया जाय।

आचार्य जिनसेन के अनुसार सुन्दरी ने भगवान् ऋषभदेव के प्रथम प्रवचन से ही प्रतिबोध पाकर ब्राह्मी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।[2]

पर श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार भरत की आज्ञा प्राप्त न होने से, वह उस समय प्रथम श्राविका बनी। उसके अन्तर्मन मे वैराग्य की प्रबल भावना थी। तन से गृहस्थाश्रम में रह कर भी उसका हृदय सयम में रम रहा था। भरत के स्नेहातिरेक को देख कर सुन्दरी ने रागनिवारण हेतु उपाय सोचा। उसने भरत द्वारा षट्खण्ड विजय के लिए प्रस्थान कर देने पर निरन्तर आयम्बिल तप करना प्रारम्भ कर दिया।

---

[1] महापुराण, १८।६२।४०३

[2] (क) महापुराण २४।१७७ (ख) त्रिषष्टि प० १, स० ३, श्लो० ६५० ५१

साठ हजार वर्ष बाद जब भरत सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अ...रा स्थापित वैजयन्ती फहरा, षट् खण्ड विजय कर विनीता नगरी को लौटे और व...त्ता । मैं के महाराज्याभिषेक-समारोह के पश्चात् वे अपने परिवार की सभाल करते ... सुन्दरी के पास आये तो सुन्दरी के सुन्दर-सुडौल शरीर को अत्यन्त कृश और शोभाहीन देखकर वे वडे क्षुब्ध हुए। अनुचरो को उपालम्भ देते हुए उन्होने ...री के क्षीणकाय होने ... कारण पूछा।

अनुचरो ने कहा–"स्वामिन्! सभी प्रकार के सुख-साधनो का बाहुल्य ...ए भी इनके क्षीण होने का कारण यह है कि जब से आपने इन्हे सयम-का निषेध किया, उसी दिन से इन्होंने निरन्तर आचाम्ल व्रत प्रारम्भ कर ...। हम लोगो द्वारा विविध विधि से पुन पुनः निवेदन करने पर भी ... अपना व्रत नही छोडा।"

सुन्दरी की यह स्थिति देख कर भरत ने पूछा–"सुन्दरी! तुम प्रव्रज्या चाहती हो या गृहस्थ जीवन मे रहना चाहती हो?"

सुन्दरी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने की उत्कट इच्छा अभिव्यक्त किये जाने ...रत ने प्रभु की सेवा मे रत ब्राह्मी के पास उसे प्रव्रजित करा दिया, वह ... हो गई।

इन दोनो वहिनो का वैवाहिक जीवन स्वल्प काल के लिये भी नही रहा, ...इन्हे वालब्रह्मचारिणी कहने मे कोई बाधा प्रतीत नही होती। विवाह, केवल ...मात्र का, नेम-राजिमती के समान है, वास्तव मे इनका पाणिग्रहण ...आ।

पुत्रो को प्रतिबोध

पहले कहा जा चुका है कि ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रो को पृथक्-पृथक् ...दि का राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

जब भरत ने षट् – खण्ड के देशो पर विजय प्राप्त की तब भ्राताओ को भी आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए उसने उनके पास दूत भेजे। दूत की बात सुन ...ठ्ठानुओं भाइयो ने मिलकर विचार-विमर्श किया, परन्तु वे कोई निर्णय नही ...के। तब उन सबने सोचा कि भगवान् के पास जाकर बात करेंगे और ... जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करेगे।

इस तरह सोच कर वे सब भगवान् के पास आये और उन्हे सारी स्थिति ...गत कराते हुए बोले – "भगवन्! आपने हमको जो राज्य दिया था वह भरत हमसे छीनना चाहता है। उसके पास कोई कमी नही, फिर भी तृष्णा के अधीन हो वह कहता है कि या तो हमारी आज्ञा स्वीकार करो या युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ। आपके दिये हुए राज्य को हम यो ही दब कर अर्पण करदे, यह कायरता होगी और भाई के साथ युद्ध करे तो विनय-भग

आ इस प्रकार ', का लोप हो जायगा । ऐसी स्थिति मे आप ही वताइये, हमे क्या रूप मे परिव्रा ाहिये ?"

भगवान् ने भौतिक राज्य की नश्वरता और अनुपादेयता वतलाते हुए उनको आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व समझाया ।

भगवान् के उस उपदेश का सार सूयगडाग के दूसरे वैतालीय अध्ययन मे बताया गया है ।

भागवत मे भी भगवान् के पुत्रोपदेश का वर्णन इससे मिलता-ह ही प्राप्त होता है ।[1]

भगवान् की दिव्य वाणी मे आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व और र जनक भौतिक राज्य के त्याग की वात सुन कर सभी पुत्र अवाक् रह गये

उन्होने भगवान् के उपदेश को शिरोधार्य कर इन्द्रियो और मन पर ना रूप स्वराज्य स्वीकार किया और वे पच महाव्रत रूप धर्म को ग्रहण कर भ के शिष्य वन गये ।

सम्राट् भरत ने ज्योही यह खवर सुनी तो वे दौड़े दौडे आये और भ से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे, पर अट्ठानुओ भाइयो ने अब वैभव और माया से अपनी पीठ फेर ली थी अत. भरत की स्नेह भरी वाते विचलित नही कर सकी । वे अक्षय राज्य के अधिकारी हो गये ।

अहिंसात्मक युद्ध

ऋषभदेव के पुत्र वाहुवली ने युद्ध मे भी अहिसाभाव रख कर यह दिया कि हिंसा के स्थान पर अहिसा भाव से भी किस प्रकार सुधार किय सकता है ।

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् भरत सम्पूर्ण देशो मे अपना एक शासन स्थापित करने जा रहे थे । अट्ठानुओ भाइयो के दीक्षित हो जाने से मार्ग वहुत कुछ तो सरल वन चुका था फिर भी एक वाधा थी कि मह वाहुवली को कैसे जीता जाय ?

जब तक वाहुवली को आज्ञानुवर्ती नही वना लिया जाता तव तक छत्र राज्य की स्थापना नही हो सकती । अत उन्होने अपने छोटे भाई वा को यह सदेश पहुचाया कि वह भरत की अधीनता स्वीकार कर ले ।

दूत के मुख से भरत का सन्देश सुन कर वाहुवली की भृकुटी तन क्रोध मे तमतमाते हुए उन्होने कहा – "अट्ठानुओ भाइयो का राज्य छीन भी भरत की राज्य-तृष्णा शान्त नही हुई और अव वह मेरे राज्य पर भी झपटना चाहता है । उसे अपनी शक्ति का गर्व है, वह सवको दवा कर रखना

[1] श्रीमद्भागवत प्रथम खण्ड ५।५।५५६

चाहता है, यह शक्ति का सदुपयोग नही, दुरुपयोग है, भगवान् द्वारा स्थापित सुव्यवस्था का अतिक्रमण है। ऐसी स्थिति मे मैं भी चुप्पी नही साध सकता । मैं उसे वतला दूंगा कि आक्रमण करना कितना वुरा है।"

वाहुवली की यह वात सुनकर दूत लौट गया। उसने भरत के पास आकर सारी वात कह सुनाई।

भरत भी चुप वैठने वाले कव थे। उन्होने विराट् सेना लेकर युद्ध करने हेतु "वहली देश" की सीमा पर आकर डेरा डाल दिया।

दूसरी ओर वाहुवली भी अपनी सेना के साथ मैदान में डटे हुए थे। दोनों ओर कुछ समय तक सैनिकों मे टक्कर होती रही। पर युद्ध मे होने वाले जन-सहार से वचने के लिए वाहुवली ने निर्णय किया कि क्यो नही वे दोनो भाई भाई मिल कर ही निर्णायिक द्वन्द्व युद्ध कर ले।

दोनो के एकमत होने पर दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और दड-युद्ध द्वारा परस्पर वल-परीक्षण होने लगा।

पहले दृष्टि-युद्ध हुआ, उसमे भरत की पराजय हुई। फिर क्रमशः वाग्युद्ध, वाहु-युद्ध और मुष्टि-युद्ध मे भी भरत पराजित हो गये।

तव भरत सोचने लगे – "क्या वाहुवली चक्रवर्ती है, जिससे कि मैं कमजोर पड रहा हूँ ?"

उनके इस प्रकार विचार करते ही देवता ने भरत को चक्ररत्न का आयुध प्रदान किया। छोटे भाई से पराजित होना भरत को वहुत ही वुरा लगा, अत. आवेश मे आकर उन्होने वाहुवली के शिरश्छेदन के लिये चक्ररत्न से उन पर वार किया।

वाहुवली ने भरत को वार करते देखा तो गर्व के साथ क्रुद्ध हो उछले और चक्र को पकड़ना चाहा पर उसी समय उन्हे विचार हुआ कि तुच्छ काम-भोगो के लिये ऐसा करना योग्य नही। भाई प्रतिज्ञाभ्रष्ट हो गया है तो भी मुझे धर्म छोड कर भ्रातृवध का दुष्कर्म नही करना चाहिये।[1]

भरत के ही परिवार के सदस्य व चरमशरीरी होने के कारण चक्ररत्न भी वाहुवली की प्रदक्षिणा करके पीछे की ओर लौट गया।[2]

वाहुवली की इस विजय से गगन विजयघोपो से गूज उठा और भरत मन ही मन वहुत लज्जित हुए। हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे इस सन्दर्भ को निम्नरूप से प्रस्तुत किया गया है :–

---

[1] (क) आव० नि० मलयवृत्ति गा० ३२ से ३५ प० २३२ (ख) आव० चू० प० २१०

[2] न चक्र चक्रिण शक्त, सामान्येऽपि सगोत्रजे।
विशेपतस्तु चरमशरीरे नरि तादृशे ।।७२३।।
चक्र चक्रभृत पाणि, पुनरप्यापपात तत्। ..७२४।।
[त्रिपष्टि श पु चरित्र, पर्व १, सर्ग ५]

"बाहुबली ने रुष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिये मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शको के दिल काप गये और सब एक स्वर मे कहने लगे – "क्षमा कीजिये, समर्थ होकर क्षमा करने वाला वडा होता है। भूल का प्रतिकार भूल से नही होता।"

बाहुबली शान्त मन से सोचने लगे – "ऋषभ की सन्तानो की परम्परा हिसा की नही, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाय ?"

"उन्होने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालो का लुचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होने ऋषभदेव के चरणो मे वही से भावपूर्वक नमन किया और कृत–अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की।"

बाहुबली का घोर तप और केवलज्ञान

ऋषभदेव की सेवा मे जाने की इच्छा होने पर भी बाहुबली आगे नही वढ सके। उनके मन मे द्वन्द्व था – "पूर्वदीक्षित छोटे भाइयो के पास यो ही कैसे जाऊँ ?"

इस बात के स्मरण आते ही वे अहकार से पराजित हो गये। वे जगल मे ध्यानस्थ खडे हो गये और एक वर्ष तक गिरिराज की तरह अडोलभाव से खडे रहे। शरीर पर बेले छा गई, कोमल कमल की तरह खिला बदन मुरझा गया, पैर दीमको की मिट्टी से ढक गये[1], फिर भी केवलज्ञान का आभास तक नही।

भगवान् ऋषभदेव ने बाहुवली की स्थिति जानी तो उन्होने उनको प्रतिवोध देने हेतु ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा।

दोनो साध्विया वहा आकर मृदु भाषा मे बाहुबली से बोली – "भाई, हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नही होती।"

वाहुवली साध्वियो की बात सुनकर विचारने लगे – "मैं हाथी पर कहा वैठा हू, साध्विया असत्य नही वोलती।[2] अरे समझा, ये ठीक कहती हैं, मै अभिमान रूपी हाथी पर आरूढ हू।"

इस विचार के साथ ही सरल भाव से ज्यो ही वाहुबली ने अपने छोटे भाइयो को नमन करने के लिये पैर उठाये कि उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

केवली वनकर वे भगवान् के समवसरण मे गये और वहा नियम के अनुसार प्रभु को वन्दन कर केवली परिषद् मे वैठ गये।

---

[1] संवच्छर अच्छई काउस्सग्गेण वल्ली विताणेण वेढियो पाया य वम्मि य निग्गएहिं भुयगेहि। [आव० म० वृ–पृ० २३२-१]

[2] तानो य अलिय न भणति। [...] – चूर्णि पूर्व भाग, पृष्ठ २११]

आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली एक वर्ष तक ध्यान में स्थित रहे, परन्तु उनके मन में यह विचार बना रहा कि मेरे कारण भरत के मन में संक्लेश हुआ है। उनके वार्षिक अनशन के बाद भरत के द्वारा क्षमा-याचनापूर्वक वन्दन करने पर उनका मानसिक शल्य दूर हुआ और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया।[१]

भरत की अनासक्ति

भारतवर्ष का एकछत्र सार्वभौम राज्य पाकर भी भरत के मन में शान्ति नहीं थी। निन्यानुओं भाइयों को खोकर राज्यभोगों में उन्हें गौरवानुभूति नहीं हो रही थी, उनके मन में राज्य के लिये भाइयों को अपमानित करने का खेद था। अतः राष्ट्र का अखण्ड शासन करते हुए भी उनके मन में आसक्ति नहीं थी।

एक समय भगवान् ऋषभदेव जब अपनी शिष्य मंडली के साथ विनीता नगरी के उद्यान में विराजमान थे तब सहस्रों नर-नारी उनके उपदेश श्रवण का लाभ ले रहे थे।

उनमें से किसी एक ने भगवान् से प्रश्न किया—"प्रभो! चक्रवर्ती भरत किस गति में जायेंगे?"

प्रभु ने कहा—"मोक्ष में।"

प्रश्नकर्ता बोल उठा—"अहो! भगवान् के मन में भी पुत्र के प्रति पक्षपात है।"

यह बात भरत के कानों तक पहुंची। उन्होंने सोचा—"मेरे कारण भगवान् पर आक्षेप किया जा रहा है। मुझे इस व्यक्ति को शिक्षा देनी चाहिये।"

यह सोचकर उन्होंने उसे बुला कर कहा—"तेल से भरा हुआ एक कटोरा लेकर विनीता के सब बाजारों में घूम आओ। याद रखना, एक बूंद भी तेल नीचे गिराया तो फांसी के तख्ते पर लटका दिये जाओगे। कटोरे से एक बूंद तेल नहीं गिरने पर ही तुम मुक्त हो सकोगे।"

भरत के आदेश से भयभीत हुआ वह व्यक्ति आदेशानुसार सारी नगरी में घूमकर भरत के पास लौटा, पर बाजार में किसी ओर नजर उठा कर देख भी नहीं सका।

भरत ने पूछा—"तुम सारी विनीता नगरी में घूम आये हो। बताओ नगरी में तुमने कहां-कहां क्या-क्या देखा?"

"महाराज कटोरे के अतिरिक्त मैंने कुछ भी नहीं देखा।"

"अरे! क्या नगर में हो रहे नाटक नहीं देखे और संगीत मंडली के मधुर संगीत भी नहीं सुने?"

---

[१] महापुराण, ३६। १८६—८८। २१७ द्वि० भाग

"नही महाराज ! जिसकी नजरो के आगे मृत्यु नाच रही हो, वह नाटक कैसे देख सकता है ? मृत्यु का भय कैसा होता है, यह तो भुक्तभोगी ही जानता है।"

"भाई ! जैसे तुम एक जीवन के मृत्यु-भय से नाटक नही देख सके और सगीत नही सुन सके, वैसे ही मेरे सामने दीर्घकाल की मृत्यु परम्परा का भयकर भय है। अत साम्राज्य-लीला का उपभोग करते हुए भी मैं उसमे लुब्ध नही हो पा रहा हूँ। मैं तन से ससार के भोगोपभोग और आरभ-परिग्रह मे रहकर भी मन से निर्लिप्त हूँ," भरत ने कहा।

उस शकाशील व्यक्ति की समझ मे यह बात आ गई और भगवान् के वचन पर उसके मन मे जो शका थी वह दूर हो गई।

भरत ने यह शिक्षा देकर उसको विदा कर दिया।

भरत के जनहितकारी शासन के कारण ही इस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।[1]

भरत का स्वरूप-दर्शन

सम्यग्दर्शन के प्रकाश से भरत का अतर्मन प्रकाशित था। दीर्घकाल तक राज्यलीला मे रह कर भी वे उसमे अलिप्त और स्वरूप-दर्शन के लिये लालायित थे।

एक दिन वस्त्रालकारो से विभूषित होकर वे शीशमहल-आदर्शभवन मे गये। दीवारो और आँगन के शीशो मे उनका सौन्दर्य शतमुखी होकर प्रतिबिम्बित हो रहा था। आगन मे प्रतिबिम्बित छवि ऐसी लग रही थी मानो क्षीरसागर मे हस विचरण कर रहा हो। महाराज अपनी छटा देख कर स्वय विस्मित से थे। अपनी अगुलियो की शोभा निहारते हुए उन्होने देखा कि प्रकाशमान अगुलियो के बीच एक अगुली शोभाहीन है, सूनी है क्योकि उसमे पहनी हुई अंगूठी कही गिर पडी है।

उन्होने एक-एक करके अपने सारे आभूषण उतार दिये, आभूषणो को उतारने से शरीर का कृत्रिम सौन्दर्य नष्ट हो गया, शरीर कमल रहित सरोवर की तरह शोभाहीन प्रतीत हुआ।

भरत के चिन्तन का मोड़ बदला, उन्होने सोचा – "शरीर का यह सौदर्य मेरा अपना नहीं है, यह तो कृत्रिम है, वस्त्राभूषणो से ही यह सुन्दर प्रतीत होता है। क्षण भर पहले जो देह दमक रही थी, वह आभूषणो के अभाव मे श्रीहीन हो गई।"

उन्हे पहली बार यह अनुभव हुआ— "भौतिक अलकारो से लदी हुई सुन्दरता कितनी निकम्मी है। इसके व्यामोह मे फस कर मानव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। सौन्दर्य की अवस्थिति "स्व" मे है "पर" मे नही।

---

[1] वसुदेव हिंडी प्र० ख० पृ० १८६ व भागवत ११।२।१७ (क) नारद पु० अ० ४८, श्लो० ५

वस्तुतः "स्व" की ओर अधिक ध्यान न देकर मै आज तक "पर" शरीरादि मे ही तत्परता दिखाता रहा । यह मेरी भयकर भूल रही ।"

धीरे-धीरे उनके चिन्तन का प्रवाह सम, सवेग और निर्वेद की भूमिका पर पहुचा और अपूर्व-करण मे प्रविष्ट हो उन्होने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया ।[1]

वे प्रभु ऋषभदेव के चरण-चिह्नों पर चल पडे और अन्त मे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये ।

धर्म-परिवार

भगवान् ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार जिस प्रकार विशाल था उसी प्रकार उनका धार्मिक परिवार भी छोटा नही था । यो तो प्रभु की वीतरागता-मयी वाणी सुनकर कोई विरला ही ऐसा रहा होगा जो लाभान्वित होकर भी उनके प्रति श्रद्धाशील नही हुआ हो । अगणित नर-नारी, देव-देवी और पशु तक उनके उपासक बने, भक्त बने, परन्तु यहा विशेषकर व्रतियो की दृष्टि से ही उनका धर्म-परिवार बताया जा रहा है ।

भगवान् ऋषभ के सघ मे चौरासी हजार श्रमण हुए, तीन लाख श्रमणिया हुई[2], तीन लाख पाच हजार श्रावक और पाच लाख चौवन हजार व्रतधारिणी श्राविकाए हुई ।[3]

चौरासी हजार श्रमणो मे ऋषभसेन, साध्वियो मे ब्राह्मी, सुन्दरी, श्रावको मे श्रेयांस एव श्राविकाओ में सुभद्रा प्रमुख माने गये है ।

श्रमण परिवार की व्यवस्था के लिये उसको चौरासी गणो मे बांट कर आचार धर्म की शिक्षा दी गई ।

श्रमणो के ये विभाग गण कहे गये और इनको व्यवस्था करने वाले गणधर ।

भगवान् के परिवार मे ऋषभसेन आदि चौरासी गणधर हुए, जो गण की व्यवस्था करते थे ।

गुण की दृष्टि से सम्पूर्ण श्रमणसघ सात श्रेणियों मे विभक्त था । जैसे –

१. केवलज्ञानी
२ मन.पर्यवज्ञानी
३. अवधिज्ञानी
४ वैक्रिय लब्धिधारी
५. चतुर्दश पूर्वधारी
६ वादी और
७. सामान्य साधु

---

[1] आ० नि० गा० ४३६

[2] दिग. परम्परा में (हरिवंश पु० और तिलोय पण्णत्ति) ३५,०००० आर्यिकाएं मानी है ।

[3] कल्पसूत्र, १९७ सू०

भगवान् ऋषभदेव के केवलज्ञानियो की सख्या बीस हजार थी। ये चराचर वस्तुमात्र के ज्ञाता थे।[१]

मानसिक भाव को जानने वाले मन पर्यवज्ञानियो की सख्या बारह हजार छ सौ पचास थी।[२]

एक सीमा मे रूपी पदार्थो को आत्मसाक्षात्कार से जानने वाले अवधि-ज्ञानी नौ हजार थे।[३]

वैक्रिय-लब्धि वाले बीस हजार छ सौ थे।[४]

चतुर्दश पूर्व-धारी श्रमण चार हजार सात सौ पचास थे।[५]

बारह हजार छ सौ पचास श्रमण शास्त्रार्थ मे कुशल वादी थे।[६]

और सामान्य साधु चौरासी हजार थे।

एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व के सयमकाल मे प्रभु ने विभिन्न क्षेत्रो मे विहार किया। उन्होने बहली, अडवइल्ला-अटक प्रदेश, यवन-यूनान, स्वर्ण-भूमि और पन्नव-पर्शिया जैसे दूर-दूर के अनार्य क्षेत्रो मे भी विचरण कर धर्म का उपदेश दिया। देश के कोने-कोने मे जैन धर्म का प्रचार भगवान् आदिनाथ के ही उपदेश का प्रतिफल है।

परिनिर्वाण

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ऋषभदेव दीर्घकाल तक भूमडल पर विचरते रहे। एक लाख पूर्व तक सयमभाव मे विचरण कर भगवान् ऋषभ ने हजारो ग्राम-नगरो मे धर्म का प्रचार किया।

अन्त समय मे आयु काल को निकट समझ कर दश हजार साधु-परिवार के साथ भगवान् अष्टापद[७] पर्वत पर पधारे और तीसरे आरे के तीन वर्ष और साढे आठ मास शेष रहने पर छ दिन के निराहार तप मे प्रभु ध्याना-वस्थित हुए, शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण मे शैल की तरह अकपभाव मे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप चार अघाति कर्मो का युगपत् क्षय कर माघ कृष्णा त्रयोदशी[८] को अभिजित् नक्षत्र के योग मे पर्यकासन से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त

---

१ कल्प सूत्र, १९७ सू०

२ कल्प सू०, १९७ सू०

३ कल्प सू०, वही

४ कल्प सू०, वही

५ कल्प सू०, वही

६ (क) कल्प सूत्र, १९७ सू०
(ख) दिगम्बर परपरा मे १२७५० वादी माने गये है।

७ हरिवश पुराण और तिलोय पन्नति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण-स्थल कैलाश माना गया है।

८ अणगारसहस्सेहिं सिद्ध सपरिवुडे जाव सव्वदु खपहीणे।
(क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार माह बहुल बहुलस्स तेरसी पक्खेणं दसहि
(ख) सत्तरिसय प्रकरण द्वार १४७ गा० ३०९

हुए। वे सकल कर्मरहित शुद्ध स्वरूप को पाकर अजर अमर स्वरूप मे लीन हो गये।[1]

वैदिक परम्परा के साहित्य मे माघ कृष्णा चतुर्दशी को आदिदेव का शिवलिंग रूप से उद्भव होना माना है।[2] भगवान् आदिनाथ के शिव-पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है।

जैनेतर साहित्य में ऋषभदेव

जैन परम्परा की तरह वैदिक परम्परा के साहित्य मे भी ऋषभदेव का विस्तृत परिचय उपलब्ध होता है और बौद्ध साहित्य मे भी ऋषभ का उल्लेख मिलता है। पुराणो मे ऋषभ की वश-परम्परा का परिचय इस प्रकार मिलता है :–

"ब्रह्माजी ने अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वायभुव को प्रथम मनु बनाया। फिर स्वायंभुव मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ हुए।[3]

ऋषभदेव का परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि महात्मा नाभि की प्रिया मरुदेवी की कुक्षि से अतिशय कान्तिमान् ऋषभ नामक पुत्र का जन्म हुआ। महाभाग पृथिवीपति ऋषभदेव ने धर्मपूर्वक राज्यशासन तथा विविध यज्ञो का अनुष्ठान किया और अपने वीर पुत्र भरत को राज्याधिकार सौंपकर तपस्या के लिये पुलहाश्रम की ओर प्रस्थान किया।[4]

जबसे ऋषभदेव ने अपना राज्य भरत को दिया तबसे यह हिमवर्ष लोक मे भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[5]"

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव को यज्ञपुरुष विष्णु का अशावतार माना गया है। उसके अनुसार भगवान् नाभि का प्रेम – सम्पादन करने के लिये

---

[1] जबूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्प सूत्र, १६६ सू०

[2] ईशान सहिता।

(क) माघे कृष्णे चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूत , कोटिसूर्य-समप्रभ ॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या, शिवरात्रिव्रते तिथि । [ईशान सहिता]

(ख) माघमासस्य शेपे या, प्रथमे फाल्गुनस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु, शिवरात्रि प्रकीर्तिता॥ [कालमाधवीय नागरखण्ड]

[3] विष्णु पुराण, अश २ अ० १। श्लो ७। १६, २७

[4] विष्णु पुराण, २।१।२८ और २६

[5] विष्णु पुराण, २।१।३२

महारानी मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी वातरशना – श्रमणो के धर्म को प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए । यथा :–

"भगवान् परमर्षिभि प्रसादितो नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्या, धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावततार ।[1]"

"ऋषभदेव के शरीर मे जन्म से ही वज्र, अकुश आदि विष्णु के चिह्न थे । उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, वल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणो के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा ।[2]"

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव को साक्षात् ईश्वर भी कहा है । यथा –
"भगवान् ऋषभदेव परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वय सर्वदा ही सव तरह की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे । अज्ञानियो के समान कर्म करते हुए काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगो को उन्होंने सत्य धर्म की शिक्षा दी ।[3]"

भागवत मे इन्द्र द्वारा दी गई जयन्ती कन्या से ऋषभ का पाणिग्रहण और उसके गर्भ से अपने समान सौ पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख है ।[4]

ब्रह्मावर्त पुराण मे लिखा है कि ऋषभ ने अपने पुत्रो को अध्यात्मज्ञान की शिक्षा दी और फिर स्वय अवधूतवृत्ति स्वीकार कर ली । उनके उपदेश का सार इस प्रकार है

"मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनो के लिये बुद्धिगम्य नही है । शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी मे धर्म की स्थिति है । मैने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसलिये सत्पुरुष मुझे ऋषभ कहते है ।[5] पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतो को मेरा ही शरीर समझ कर शुद्ध बुद्धि से पद-पद पर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है ।[6]"

"ऋषभदेव की अपरिग्रहवृत्ति का भागवत मे निम्नरूप से उल्लेख मिलता है –

---

[1] श्रीमद्भागवत, ५।३।२०
[2] श्रीमद्भागवत, ५।४।२
[3] श्रीमद्भागवत, ५।४।१४
[4] श्रीमद्भागवत, ५।४।८
[5] श्रीमद्भागवत, ५।५।१६
[6] श्रीमद्भागवत, ५।५।२६

"ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिये भरत को राज्यगद्दी पर विठाया और स्वय उपशमशील, निवृत्ति-परायण महामुनियो के भक्ति-ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिये बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया।[१]"

ऋषभदेव के तप की पराकाष्ठा और उनकी नग्नचर्या का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :-

"वे तपस्या के कारण सूख कर काटा हो गये थे और उनके शरीर की शिराएं-धमनियां दिखाई देने लगी। अन्त मे अपने मुख मे एक पत्थर की वटिया रख कर उन्होने नग्नावस्था मे महाप्रस्थान किया।[२]"

भागवतकार के शब्दो मे ऋषभ-चरित्र की महिमा इस प्रकार है –

"राजन्! इस प्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओ के परमगुरु भगवान् ऋषभदेव का विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हे सुनाया है।"

"यह मनुष्य के समस्त पापो को हरने वाला है। जो मनुष्य इस परम मगलमय पवित्र चरित्र को एकाग्रचित्त से श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनते या सुनाते है, उन दोनो की ही भगवान् वासुदेव मे अनन्य भक्ति हो जाती है।[३]"

"निरन्तर विषय-भोगो की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक वेसुध वने हुए लोगो को जिन्होने करुणावश निर्भय आत्मालोक का उपदेश दिया और जो स्वय निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओ से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।[४]"

शिवपुराण मे शिव का आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप मे अवतार लेने का उल्लेख है।[५]

ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दु:खो का नाश करने वाला वतलाते हुए कहा है –

"जैसे जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को वुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वज्ञान के प्रतिपादक वृषभ (ऋषभ) महान् हैं।"

---

१ श्रीमद्भागवत, ५।५।२८

२ श्रीमद्भागवत, ५।६।७-

३ श्रीमद् भा० ५।६।१६

४ श्रीमद् भा० ५।६।१६

५ शिव पु० ४।४७।४८

बौद्ध साहित्य मे लिखा है :-

"भारत के आदि सम्राटो मे नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है। उन्होने हेमवत गिरि हिमालय पर सिद्धि प्राप्त की। वे व्रतपालन मे दृढ थे। वे ही निर्ग्रन्थ, तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्त-देव थे।[१]"

धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।[२]

ऋषभदेव के समय का उल्लेख करते हुए कुछ इतिहासज्ञो ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है :-

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन है :-

"मोहनजोदड़ो की खुदाई मे योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे शक्ति कालान्तर मे शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नही है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखिल होने पर भी वेदपूर्व हैं।[३]"

डॉ० जिम्भर लिखते हैं :-

"आज प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषो के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नही। इसका अर्थ यह नही है कि वे महापुरुष हुए ही नही।"

"इस अवसर्पिणी काल मे भोगभूमि के अन्त मे अर्थात् पाषाणकाल के अवसान पर कृषि काल के प्रारम्भ में पहले तीर्थंकर ऋषभ हुए, जिन्होने मानव को सभ्यता का पाठ पढाया।"

"उनके पश्चात् और भी तीर्थंकर हुए जिनमे से कई का उल्लेख वेद-ग्रन्थो मे भी मिलता है। अत जैन धर्म भगवान् ऋषभदेव के काल से चला आ रहा है।[४]"

---

[१] प्रजापते सुतोनाभि, तस्यापि सुतमुच्यते। नाभिनो ऋषभपुत्रो वै, सिद्धकर्म-दृढव्रत ॥
तस्यापि मणिचरो यक्ष:, सिद्धो हैमवते गिरौ। ऋषभस्य भरत: पुत्र.।
आर्य मजु श्री मूल श्लो० ३९०-९१-९२

[२] उसभ पवर वीर। धम्मपद ४२२

[३] आजकल, मार्च १९६२, पृ० ८

[४] (क) दी फिलासफीज आफ इण्डिया, पृ० २१७
(ख) अहिंसा वाणी, वर्ष १२, अक ९, पृ० ३७९
डा० कामताप्रसाद के लेख मे उद्धृत।

भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् ऋषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष हुए हैं कि उनका जैन ग्रन्थों मे तो उल्लेख आता ही है, इसके अतिरिक्त वेद के मन्त्रो, जैनेतर पुराणो, उपनिषदो आदि मे भी उनका उल्लेख मिलता है।

भागवत मे मरुदेवी, नाभिराज, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण मिलता है।

यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशो मे भिन्न प्रकार से दिया गया है। फिर भी मूल मे समानता है।

इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। निम्नांकित उद्धरणो से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है –

आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु, ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर· पुत्रशताद् वर. ।।३९।।
सोऽभिषिच्यर्षभ· पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थित. ।
तपस्तेपे महाभाग, पुलहाश्रमसश्रय. ।।४०।।
हिमाह्वय दक्षिण वर्ष, भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना महात्मन· ।।४१।।

[मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ४०]

हिमाह्वयं तु यद्वर्षं, नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मरुदेव्या महाद्युति· ।।३७।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्रशताग्रज. ।
सोऽभिषिच्यर्षभ. पुत्र, भरत पृथिवीपति. ।।३८।।

[कूर्म पुराण, अध्याय ४०]

जरा मृत्यु भय नास्ति, धर्माधर्मौयुगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या, हिम देशात्तु नाभित ।।१०।।
ऋषभो मरुदेव्या च, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे, शाल्यग्रामे हरिर्गत. ।।११।।
भरताद् भारत वर्षं, भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ।

[अग्नि पुराण, अध्याय १०]

नाभिस्त्वजनयत्पुत्र, मरुदेव्या महाद्युतिः ।
ऋषभ पार्थिव-श्रेष्ठ, सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ।।५०।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ भरत, पुत्र प्राव्राज्यमास्थितः ।।५१।।
हिमाह्वय दक्षिण वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा. ।।५२।।

[वायु महापुराण, पूर्वार्धं, अध्याय ३३]

नाभिस्त्वजनयत् पुत्र, मरुदेव्या महाद्युतिम् ।।५६।।
ऋषभ पार्थिव-श्रेष्ठ, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर. पुत्रशताग्रज. ।।६०।।
सोऽभिषिच्यर्षभ. पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थित. ।
हिमाह्वय दक्षिण वर्ष, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ।।६१।।
[ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्ध, अनुषगपाद अध्याय १४]

"नाभिर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामान तस्य भरत. पुत्रश्च तावदग्रज तस्य भरतस्य पिता ऋषभ हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष महद् भारत नाम शशास ।
[वाराह पुराण, अध्याय ७४]

नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि, हिमाकेऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्र, मरुदेव्या महामति ।।१६।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठ, सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ।।२०।।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो, भरतं पुत्रवत्सल ।
ज्ञान वैराग्यमाश्रित्य, जित्वेन्द्रियमहोरगान् ।।२१।।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य, परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटी निराहारोऽचीरी ध्वांतगतो हि स. ।।२२।।
निराशस्त्यक्तसदेह, शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिण वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ।।२३।।
तस्मात्तु भारत वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा. ।
[लिंग पुराण, अध्याय ४७]

.... ।
न ते स्वस्ति युगावस्था, क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा ।।२६।।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं, नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युति ।।२७।।
.... ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठ· पुत्रशतस्य स. ।।२८।।
[विष्णु पुराण, द्वितीयांश अध्याय १]

नाभे. पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्यनाम्नात्विद वर्षं, भारत चेति कीर्त्यते ।।५७।।
[स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अध्याय ३७]

कुलादि बीजं सर्वेषा प्रथमो विमलवाहन ।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ।
मरुदेवी च नाभिश्च, भरते कुल सप्तमा ।
अष्टमो मरुदेव्या तु, नाभेर्जात उरुक्रम. ।

दर्शयन् वर्त्म वीराणा सुरासुरनमस्कृत. ।
नीति त्रितयकर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिन· ।

[मनुस्मृति]

भगवान् ऋषभदेव और ब्रह्मा

लोक मे ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है, वह भगवान् वृषभदेव को छोड़कर दूसरा नही है। ब्रह्म के अन्य अनेक नामो मे निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं·—

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयभू।

इनकी यथार्थ संगति भगवान् वृषभदेव के साथ वैठती है। जैसे·—

हिरण्य गर्भ—जव भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ मे आए उसके छ मास पहले अयोध्यानगरी मे हिरण्य सुवर्ण तथा रत्नो की वर्षा होने लगी थी। इसलिए आपका हिरण्यगर्भ[1] नाम सार्थक है।

प्रजापति – कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने के वाद असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी, अत आप प्रजापति कहलाये।

लोकेश – समस्त लोक के स्वामी होने के कारण आप लोकेश कहलाये।

नाभिज – नाभिराज नामक चौदहवे (सातवें) मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाए।

चतुरानन– समवसरण मे चारो ओर से आपका दर्शन होता था, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे।

स्रष्टा – भोग भूमि नष्ट होने के वाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार और विवाह प्रथा आदि के आप आद्य-प्रवर्त्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे गए।

स्वयम्भू – दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ से अपनी आत्मा के गुणो का विकास कर स्वयं ही आद्य तीर्थंकर हुए, इसलिए स्वयम्भू कहलाए।

[आदि पुराणम्, प्रथमो विभाग·, प्रस्तावना पृ० १५, जिनसेनाचार्य]

---

[1] सैपा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिवबोधयितु जगत्॥ महापुराण पर्व १२–श्लोक ९५
हिरण्यगर्भस्त्व धाता जगता त्व स्वभूरसि।
निभमात्र त्वदुत्पत्तौ पितृ मन्या यतो वयम्॥ महापुराण पर्व १५ श्लो० ५७

भगवान् श्री अजितनाथ

तीर्थंकर ऋषभदेव के बहुत समय के बाद द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ हुए।

प्रकृति का अटल नियम है कि जिसका जीवन जितना उच्च होगा, उसकी पूर्व-जन्म की साधना भी उतनी ही ऊची होगी। अजितनाथ की पूर्व-जन्म की साधना भी ऐसी ही अनुकरणीय और उत्तम रही थी।

पूर्व भव

महाराज विमलवाहन के जीवन मे इन्होने बडी साधना और जिन प्रवचन की भक्ति की थी। ससार मे रहते हुए भी इनका जीवन भोगो से अलिप्त था। विशाल राज्य और भव्य भोगो को पाकर भी उस ओर इनकी प्रीति नही हुई। लोग इनको युद्ध वीर, दानवीर और दयावीर कहा करते थे।

उनका मन निरन्तर इस बात के लिए चिन्तित रहता था कि – "मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया? बचपन से लेकर आज तक न जाने कितनो को सताया, कितनो को डराया और कितनो को निराश किया, जिसकी कोई सीमा नही। तन, धन और सम्मान के लिए हजारों कष्ट सहते रहे। पर अपने आप को ऊचा उठाने का कभी विचार नही किया। क्या यही जीवन का साफल्य है?"

राजा के इस प्रकार के गभीर चिन्तन को तब और बल मिला जब अरिंदम आचार्य के नगर के उद्यान मे आने की शुभ सूचना वनपालक ने उनको दी। बड़े उत्साह और प्रेम के साथ राजा आचार्य को वन्दन करने गया और आचार्य के त्यागपूर्ण जीवन के दर्शन कर परम प्रसन्न हुआ। उसके अन्तर्मन की सारी वासनाए शान्त हो गईं। आचार्य के त्याग और वैराग्यपूर्ण उपदेश को सुनकर राजा विरक्त हुआ और पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की।

वह साधु बन गये। पाच समिति, तीन गुप्ति की साधना करते हुए उन्होने विविध प्रकार के तप, अनुष्ठान आदि किए और एकावली, रत्नावली, लघुसिंह और महासिंह-निष्क्रीड़ित जैसी तपस्या से विपुल कर्म की निर्जरा की। बीस बोल की आराधना से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन भी उन्होने कर लिया। अन्त समय मे अनशन के साथ प्राण त्याग किये और विजय विमान मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

मातापिता

यही विमलवाहन का जीव विनीता नगरी के महाराज जितशत्रु की धर्मपत्नी महारानी विजयादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन रोहिणी नक्षत्र के योग में विजय विमान से च्यवन हुआ और उसी रात

को माता ने गर्भ धारण किया और १४ महाशुभ स्वप्न देखे। अत्यन्त पराक्रमी महाराज जितशत्रु आपके पिता और विजयादेवी माता थी।

मानी हुई बात है कि पुण्यवान् प्राणी का आगमन सब ओर मगलकारक होता है। फलस्वरूप उसी रात राजा जितशत्रु के छोटे भाई सुमित्र की भार्या को भी गर्भ रहा। मगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखकर उसने भी चक्रवर्ती पुत्र का लाभ प्राप्त किया।

जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर विजया माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को उत्पन्न किया। उस समय का वातावरण इतना मगलमय और उत्साहपूर्ण था कि नारक जीव भी अपने घोर कष्टो से क्षणिक विराम अनुभव कर रहे थे।

माघ शुक्ला अष्टमी के शुभ दिन रोहिणी नक्षत्र मे प्रभु का जन्म कल्याणक सम्पन्न हुआ। इन्द्र, नरेन्द्र ने परम प्रमोद से प्रभु का जन्म महोत्सव मनाया। देश ही नही, सारे लोक मे हर्ष की लहर दौड रही थी। इस अवसर पर राजा जितशत्रु ने वन्दियो को मुक्त किया और प्रीतिदान से याचकजनो को प्रसन्न किया।

नामकरण

जब से आप माता विजया के गर्भ मे आए राजा जितशत्रु को कोई जीत नही सका। इसलिए मातापिता ने आपका नाम अजितनाथ रखा।

कही कही ऐसा भी उल्लेख है कि आपके गर्भकाल मे रहते हुए रानी विजया को महाराजा खेल में जीत नही सके अत पुत्र का नाम अजितनाथ रखा गया।[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब आप बडे हुए तब मातापिता के अत्याग्रह से आपका योग्य कन्याओ के साथ पाणिग्रहण हुआ। फूल पर भौंरो की तरह आपके चारो ओर सम्पदाए मडराती रहती, पर अजितनाथजी का मन इनमे जरा भी नही लुभाया। वे उदासीन भाव मे ससार के व्यवहार को चलाते रहे।

एक दिन राजा जितशत्रु ने मोक्ष-साधन की इच्छा प्रकट करते हुए अजितनाथ से राज्य ग्रहण करने को कहा। उस समय आपने अपने चाचा को राज्य भार प्रदान करने का सुझाव दिया किन्तु चाचा सुमित्र ने इसे स्वीकार नही किया। सयोगवश आपको राज्यपद पर आरूढ होकर शासन-कार्य सभालना पड़ा। आपकी कार्यकुशलता से अल्प-समय मे ही प्रजाजन सुख-समृद्धि एव शान्ति का अनुभव करने लगे। राज्य-व्यवस्था भी बड़े सुचारु रूप से चलने लगी।

---

[1] विसेसोद्भूत रमति पुव्वं राया जिणियाइयोगब्भ
आभूते माता जिणति सदावित्ति तेण अक्खेसु अजितत्ति अजितो जातो।
[आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृष्ठ १०]

चिरकाल तक राज्यपद पर रहकर जब भोगावली कर्म का भार हल्का हुआ तो एक दिन सहज ही आपके मन में त्याग का सकल्प जाग उठा और आपने सुमित्र के पुत्र राजकुमार सगर को राज्य सभलाकर दीक्षित होने का निश्चय किया। यही सगर आगे चलकर सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

दीक्षा और पारणा

अजितनाथ के विरक्तभाव को जानकर लोकान्तिक देव आये और उन्होने प्रभु से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की। प्रभु ने भी एक वर्ष तक दान देकर माघ शुक्ला नवमी को दीक्षा की तैयारी की। हजारो स्त्री-पुरुषो के बीच जब आप सहस्राम्र वन मे पालकी से नीचे उतरे तब जयनाद से गगनमडल गूंज उठा।

आपने पच मुष्टिक लोचकर सम्पूर्ण सावद्य कर्मो का त्याग किया। आपके साथ एक हजार अन्य राजाओ और राजकुमारो ने भी दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपको बेले[1] की तपस्या थी। दीक्षा लेते ही आपको चौथा मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होगया। दूसरे दिन अयोध्यापुरी[2] के राजा ब्रह्मदत्त के यहा आपका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवो ने पचदिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

दीक्षित होकर प्रभु बारह वर्षो तक विविध प्रकार के तप करते हुए व ग्रामानुग्राम विचरते हुए अयोध्या पधारे। वहाँ प्रभु ने क्षपक-श्रेणि मे आरूढ होकर उत्कृष्ट भाव से साधना करते हुए ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्मो का क्षय किया और पौष शुक्ला एकादशी[3] को आपने केवलज्ञान एव केवलदर्शन प्राप्त किया।

उस समय चन्द्र रोहिणी नक्षत्र मे था। केवली बनकर प्रभु ने अपनी अमोघ देशना द्वारा चतुर्विध सघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

आपका धर्म परिवार इस प्रकार था :–

गणधर[4]	– पचानवे (६५)
केवली[5]	– बाईस हजार (२२,०००)
मन.पर्यवज्ञानी[6]	– बारह हजार पाच सौ (१२,५००)

---

[1] तिलोयपन्नत्ति (गा० ६४४–६६७) मे अष्टम भक्त का उल्लेख है।

[2] उत्तर पुराण के अनुसार पारणास्थल साकेतपुरी है।

[3] तिलोयपन्नत्ति मे पौष शुक्ला १४ का उल्लेख है। [गा० ६७९–७०१]

[4] हरिवश पुराण और तिलोयपन्नत्ति मे ६० गणधर होने का उल्लेख है।

[5] त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र पर्व २, सर्ग ६, श्लो० ६६५–६७०

[6] समवायाग सूत्र

अवधिज्ञानी	–	नव हजार चार सौ (९,४००)
चौदह पूर्वधारी	–	तीन हजार सात सौ (३,७००)
वैक्रियलब्धिधारी	–	वीस हजार चार सौ (२०,४००)
वादी	–	वारह हजार चार सौ (१२,४००)
साधु	–	एक लाख (१,००,०००)
साध्वी	–	तीन लाख तीस हजार (३,३०,०००)
श्रावक	–	दो लाख अठानवे हजार (२,९८,०००)
श्राविका	–	पाच लाख पैंतालीस हजार (५,४५,०००)

परिनिर्वाण

अन्त मे वहत्तर लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर आप एक हजार मुनियो के साथ सम्मेत शिखर पर एक मास के अनशनपूर्वक चैत्र शुक्ला पचमी को मृगशिर नक्षत्र मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। यही आपका निर्वाण-दिवस है।

आपने अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था मे, त्रेपन लाख पूर्व कुछ अधिक राज्य-शासक की अवस्था मे, बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था मे और कुछ कम एक लाख पूर्व केवल पर्याय मे विताये।

चिरकाल तक आपका धर्म-शासन जयपूर्वक चलता रहा, जिसमे असख्य आत्माओ ने अपना कल्याण किया।

भगवान् श्री संभवनाथ

भगवान् अजितनाथ के बहुत समय बाद तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ हुए। आपने राजा विपुलवाहन के भव मे उच्च करणी का बीज बोया जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

पूर्वभव

किसी समय क्षेमपुरी के राजा विपुलवाहन के राज्यकाल मे भयकर दुष्काल पडा। प्रजावत्सल राजा को इसकी बडी चिन्ता हुई। उसने देखा कि लोग भोजन के लिये तडप रहे है। करुणाशील नृपति इस भयकर दृश्य को नही देख सका। उसने भडारियो को आज्ञा दी कि राज्य के अन्न-भण्डारो को खोल कर प्रजाजनो मे बाट दिया जाय।

इतना ही नही उसने सत और प्रभु-भक्तो की भी नियमानुसार सुधि ली। वह साधु-साध्वियो को निर्दोष तथा प्राशुक आहार स्वय देता और सज्जन एव धर्मनिष्ठ जनो को अपने सामने खिला कर सन्तुष्ट करता।

इस प्रकार चतुर्विध सघ की निर्मल भाव से सेवा करने के कारण उसने तीर्थंकर पद के योग्य शुभ कर्म उपार्जित कर लिये।

एक बार सध्या के समय बादलो को बनते और बिखरते देखकर उसे ससार की नश्वरता का सही स्वरूप ध्यान मे आया और मन मे विरक्ति हो गई। आचार्य स्वयप्रभ की सेवा मे दीक्षित हो कर उसने सयम धर्म की आराधना की और अन्त मे समाधि-मरण से काल कर नवम-कल्प-आनत[1] देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुआ।

जन्म

देवलोक से निकल कर उसी विपुलवाहन के जीव ने श्रावस्ती नगरी के महाराज जितारि के यहां पुत्र रूप मे जन्म लिया। इनकी माता का नाम रानी सेनादेवी[2] था।

फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र मे स्वर्ग से च्यवन कर जब आप गर्भ मे आये तब माता ने चौदह प्रमुख शुभ स्वप्न देखे और महाराज जितारि के मुख से स्वप्नफल सुनकर परम प्रसन्न हुई।

---

[1] सत्तरिसय द्वार, द्वार १२, गा० ५५–५६ मे सप्तम ग्रैवेयक और तिलोयपन्नत्ति मे अधोग्रैवेयक से च्यवन होने का उल्लेख है।

[2] तिलोयपन्नत्ति (गा० ५२६ से ५४९) मे सुसेना नाम दिया है।

उचित आहार-विहार और मर्यादा से नव महीने तक गर्भ की प्रतिपालना कर मृगशिर शुक्ला चतुर्दशी को अर्धरात्रि के समय मृगशिर नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

नामकरण

आपके जन्म समय मे सारे ससार मे आनन्द-मंगल की लहर फैल गई और जब से प्रभु गर्भ मे आये तब से देश मे प्रभूत मात्रा मे साम्ब एव मूग आदि धान्य की उत्पत्ति हुई। चहु ओर देश की भूमि धान्य से लहलहा उठी, अत: मातापिता ने आपका नाम सभवनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

वाल्यकाल पूर्ण कर जब सभवनाथ युवा हुए तो महाराज जितारि ने योग्य कन्याओ से उनका पाणिग्रहण सस्कार करवाया और पुत्र को राज्य देकर स्वय प्रव्रजित हो गये।

सभवनाथ पिता के आग्रह से सिंहासनारूढ तो हुए पर मन मे भोगो से विरक्त रहे। उन्होने संसार के विषयो को विषमिश्रित पक्वान्न की तरह माना। वे विचार करने लगे—"जैसे विषमिश्रित पक्वान्न खाने मे मधुर होकर भी प्राण-हारी होते है, वैसे ही ससार के भोग तत्काल मधुर और लुभावने होकर भी शुभ आत्मगुणो की घात करने वाले हैं। वहुत लज्जा की वात है कि मानव अनन्त पुण्य से प्राप्त इस मनुष्य जन्म को यो ही आरम्भ–परिग्रह और विषय-कषाय के सेवन मे गवा रहे है। अमृत का उपयोग लोग पैरो को धोने मे कर रहे है। मुझे चाहिये कि ससार को सम्यक् वोध देने के लिये मैं स्वय त्याग-मार्ग मे अग्रणी होकर जन-समाज को प्रेरणा प्रदान करू।"

दीक्षा

आपने भोगावली कर्मो को चुकाने के लिये चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग काल तक राज्यपद का उपभोग किया, फिर स्वय विरक्त हो गये, क्योकि स्वय-बुद्ध होने के कारण तीर्थंकरो को किसी दूसरे के उपदेश की आवश्यकता नही होती। फिर भी मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवो ने आकर प्रार्थना की और प्रभु ने भी वर्षीदान देकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना प्रकट की।

वर्षीदान के पश्चात् जब भगवान् दीक्षित होने को पालकी मे वैठकर सहस्राम्रवन मे आये तव उनके त्याग से प्रभावित होकर अन्य एक हजार राजा भी उन्ही के साथ घर से निकल पड़े और मृगशिर सुदी पूर्णिमा को मृगशिर

[1] गब्भत्थे जिणिंदे णिहाणाइय वहुय सभूय, जायम्मिय रज्जस्स सयलस्स वि सुह सभूय ति कलिऊण सभवाहिहाण कुणति सामिणो ॥ चौं० महापुरिस च०, पृ० ७२

नक्षत्र मे पच-मुष्टिक लुचन कर व सम्पूर्ण पाप कर्मो का परित्याग कर प्रभु सयम-धर्म मे दीक्षित हो गये ।

आपके परम उच्च त्याग से देव, दानव एव मानव सभी बड़े प्रभावित थे क्योकि आप चक्षु, श्रोत्र आदि पाच इन्द्रियो पर और क्रोध, मान, माया, एव लोभ रूप चार कषायो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर मुडित हुए । दीक्षित होते ही आपको मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ और जन-जन के मन पर आपकी दीक्षा का बडा प्रभाव रहा ।

विहार और पारणा

जिस समय आपने दीक्षा ग्रहण की, उस समय आपको निर्जल षष्ट-भक्त का तप था । दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु सावत्थी नगरी मे पधारे और सुरेन्द्र राजा के यहा प्रथम पारणा किया । फिर तप करते हुए विभिन्न ग्राम नगरो मे विचरते रहे ।

केवलज्ञान

चौदह वर्षो की छद्मस्थकालीन कठोर तप साधना से आपने शुक्ल ध्यान की अग्नि मे मोहनीय कर्म को सर्वथा भस्मीभूत कर डाला, फिर क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो का युगपद् क्षय कर कार्त्तिक कृष्णा पचमी को श्रावस्ती नगरी मे मृगशिर नक्षत्र मे केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

केवलज्ञान होने के पश्चात् धर्म-देशना देकर आपने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध सघ की स्थापना की और फिर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये ।

धर्म परिवार

आपके मुख्य शिष्य चारुजी हुए । आपका धर्म सघ निम्न प्रकार था :–

गणधर	–	एक सौ दो (१०२)
केवली	–	पन्द्रह हजार (१५०००)
मन.पर्यवज्ञानी	–	बारह हजार एक सौ पचास (१२१५०)
अवधि ज्ञानी	–	नौ हजार छ सौ (९६००)
चौदह पूर्वधारी	–	दो हजार एक सौ पचास (२१५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	उन्नीस हजार आठ सौ (१९८००)
वादी	–	बारह हजार (१२०००)
साधु	–	दो लाख (२०००००)
साध्वी	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३३६०००)
श्रावक	–	दो लाख तिरानवे हजार (२९३०००)
श्राविका	–	छ लाख छत्तीस हजार (६३६०००)

परिनिर्वाण

चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व वर्षो तक केवली पर्याय मे रहकर आप चैत्र शुक्ला छठ को मृगशिर नक्षत्र मे अनशनपूर्वक शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निवृत्त हो गये ।

आपने पन्द्रह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था मे, चार पूर्वांग सहित चवालीस लाख पूर्व वर्ष राज्य-शासक अवस्था मे और कुछ कम एक लाख पूर्व वर्ष दीक्षा अवस्था मे विताये । इस प्रकार सब मिलाकर साठ लाख पूर्व वर्षो का आपने आयुष्य पाया ।

भगवान् श्री अभिनन्दन

पूर्वभव

भगवान् सभवनाथ के पश्चात् चतुर्थ तीर्थकर श्री अभिनन्दन हुए ।

इन्होने पूर्वभव मे महाबल[1] राजा के जन्म मे आचार्य विमलचन्द्र के पास दीक्षित होकर तीर्थंकर गोत्र के वीस स्थानो की आराधना की और अन्त मे आप समाधिभाव के साथ काल-धर्म प्राप्त कर विजय विमान मे अनुत्तर देव हुए ।

जन्म

विजय विमान[2] से च्यवन कर महाबल का जीव अयोध्या नगरी मे महाराज सवर के यहा तीर्थकर रूप से उत्पन्न हुआ । वैशाख शुक्ला चतुर्थी को पुष्य नक्षत्र मे आपका विजय विमान से च्यवन हुआ । महारानी सिद्धार्था ने गर्भ धारण किया[3] और उसी रात्रि को १४ मगलकारी शुभ स्वप्न देखे ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वितीया को पुष्य नक्षत्र के योग मे माता सिद्धार्था ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । आपके जन्म के समय नगर और देश मे ही नही वरन् सम्पूर्ण विश्व मे सुख-शान्ति एव आनन्द की लहरे फैल गई । देवो और देवपतियो ने आपका जन्म महोत्सव मनाया ।

नामकरण

जबसे प्रभु माता के गर्भ मे आये, सर्वत्र प्रसन्नता छा गई और जन-जन के मन मे हर्ष की लहरे हिलोरे लेने लगी अत मातापिता और परिजनो ने मिलकर आपका नाम अभिनन्दन रखा ।[4]

विवाह और राज्य

वाल-लीला के पश्चात् जव प्रभु ने युवावस्था मे प्रवेश किया तव महाराज सवर ने योग्य कन्याओ के साथ इनका पाणिग्रहण सस्कार करवाया । कुछ समय के वाद राजा ने स्वय निवृत्ति-मार्ग ग्रहण करने की भावना से अभिनन्दन कुमार का राज्यपद पर अभिषेक किया और स्वय मुनि-धर्म की दीक्षा लेकर आत्म-साधना मे लग गये ।

---

[1] समवायाग सूत्र मे महावल के स्थान पर धर्मसिंह नाम दिया हुआ है ।

[2] आचार्य हेमचन्द्र ने पुष्य नक्षत्र के स्थान पर अभीचि को कल्याण नक्षत्र माना है ।
[त्रि श पर्व, २ अ २, श्लो ५०–६२]

[3] हरिवशपुराण (गा० १६६–१८०) मे माघ शुक्ला १२ लिखा है ।

[4] भगवम्मि गब्भत्थे कुल रज्ज णगर अभिणदइ, त्ति तेण जणणि
जणगेहिं वियारिऊण गुणनिप्फण्ण अभिणदणो त्ति णाम कय ।
[च० महापुरिस च०, पृ० ७५]

दीक्षा और पारणा

प्राय. देखा जाता है कि साधारण मनुष्य तभी तक शान्त और निर्मल बना रह पाता है जब तक कि उसके सामने विकारी साधन न आने पावें किन्तु सम्राट् का सम्मानपूर्ण पद पाकर भी अभिनन्दन स्वामी जरा भी हर्षातिरेक से विचलित नही हुए। उन्होने यह प्रमाणित कर दिखाया कि महापुरुष विकार के हेतुओ मे रहकर भी विकृत नही होते।

प्रजाजनो को कर्त्तव्य-पालन और नीति-धर्म की शिक्षा देते हुए साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्षों तक उत्तम प्रकार से राज्य का सचालन कर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। लोकान्तिक देवो की प्रार्थना और वर्षीदान देने के पश्चात् माघ शुक्ला द्वादशी को अभीचि-अभिजित नक्षत्र के योग मे एक हजार राजाओं के साथ प्रभु ने सम्पूर्ण पापकर्मों का त्याग किया और वे पच मुष्टिक लोच कर सिद्ध की साक्षी से सयम स्वीकार कर ससार से विमुख हो मुनि बन गये। उस समय आपको बेले[1] की तपस्या थी।

दीक्षा के दूसरे दिन आप साकेतपुर पधारे और वहां के महाराज इन्द्रदत्त के यहा प्रथम पारणा किया। उस समय देवो ने पच-दिव्य प्रकट कर 'अहो दान, अहो दान' का दिव्य-घोष किया।

केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण कर वर्षो तक उग्र तपस्या करते हुए प्रभु ग्रामानुग्राम विचरते रहे। ममत्वभाव-रहित सयम-धर्म की साधना करते हुए अठारह वर्षों तक आप छद्मस्थ-चर्या से विचरे और फिर प्रभु ने अयोध्या मे शुक्ल ध्यान की प्रबल अग्नि मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोह और अन्तराय रूप कर्म के इन्धनो को जला कर सपूर्ण घाती कर्मों का क्षय किया और पौष शुक्ला चतुर्दशी[2] को अभिजित नक्षत्र मे केवलज्ञान की उपलब्धि की।

केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर आपने देव और मनुष्यो की सभा मे धर्म-देशना दी तथा धर्माधर्म का भेद समझा कर लोगो को कल्याण का पथ दिखाया। धर्मतीर्थ की स्थापना करने से आप भाव-तीर्थंकर कहलाए।

धर्म परिवार

आपका धर्म परिवार निम्न संख्या मे था :-

गण एव गणधर	– एक सौ सोलह (११६)
केवली	– चौदह हजार (१४०००)
मन पर्यवज्ञानी	– ग्यारह हजार छ सौ (११६००)
अवधि ज्ञानी	– नौ हजार आठ सौ (९८००)

---

[1] तिलोय प (गा० ६४४–६६७) मे तेले की तपस्या का उल्लेख है।

[2] (क) आव नि व सत्तरिमय प्रकरण (ख) तिलोय प मे कार्तिक शु ५ का उल्लेख है।

चौदह पूर्वधारी	– एक हजार पाच सौ (१५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– उन्नीस हजार (१९०००)
वादी	– ग्यारह हजार (११०००)
साधु	– तीन लाख (३०००००)
साध्वी	– छ लाख तीस हजार (६३००००)
श्रावक	– दो लाख अठ्यासी हजार (२८८०००)
श्राविका	– पाच लाख सत्ताईस हजार (५२७०००)

परिनिर्वाण

पचास लाख पूर्व वर्षो की पूर्ण आयु मे आपने साढे बारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था, आठ पूर्वाग सहित साढे छत्तीस लाख पूर्व तक राज्यपद और आठ पूर्वाग कम एक लाख पूर्व तक दीक्षा पर्याय का पालन किया।

फिर अन्त मे जीवन काल की समाप्ति निकट समझ कर वैशाख शुक्ला अष्टमी को[1] पुष्य नक्षत्र के योग मे आपने एक मास के अनशन से एक हजार मुनियो के साथ सकल कर्म क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपके परम पावन उपदेशो से असख्य आत्माओ ने अपना कल्याण-साधन किया।

---

[1] वैशाखस्य सिताष्टम्या, पुष्यस्थे रजनीकरे ।
सह मुनिसहस्रेणाऽपुनरागमगात् पदम् ॥ त्रिषष्टि श०पु०च०, पर्व ३, सर्ग ३, श्लो १७२
(ख) सत्तरिसयद्वार, द्वा. १६७, गा ३०६ से ३१०
(ग) प्रवचनसारोद्धार, हरिवंश और तिलोय पन्नत्ति मे वैशाख शु ७ निर्वाण तिथि का उल्लेख है ।

इस ही का है ।
लग रखना
वास्त-
म्या

भगवान् श्री सुमतिनाथ

चौथे तीर्थंकर भगवान् अभिनन्दन के पश्चात् पचम तीर्थंकर श्री सुमति नाथ हुए ।

पूर्व-भव

आपकी धर्म-साधना पूर्व विदेह के पुष्कलावती विजय मे हुई । महाराज विजयसेन की रानी सुदर्शना पुत्र नही होने से चिन्तित रहती थी ।

एक दिन उसने उद्यान मे किसी सेठानी के साथ आठ पुत्र-वधुए देखी तो उसके मन मे बडा विचार हुआ । उसने राजा के सामने अपनी चिन्ता व्यक्त की तो राजा ने तपस्या कर कुलदेवी की आराधना की । देवी ने प्रसन्न होकर कहा— "देवलोक से च्यव कर एक जीव तुम्हारे यहा पुत्र रूप से उत्पन्न होगा ।"

समय पाकर रानी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई । उसका नाम पुरुषसिह रखा गया । युवावस्था प्राप्त होने पर राजा ने कुलीन एव रूपवती कन्याओ के साथ उसका पाणिग्रहण सस्कार कर दिया ।

एक दिन कुमार उद्यान मे घूमने गया । वहा उसने विनयनन्दन आचार्य का उपदेश सुना, और उपदेश से प्रभावित हो विरक्त हो गया । सयम लेकर उसने वीस स्थान की आराधना की, जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । अन्त मे समाधि के साथ काल प्राप्त कर वैजयन्त नाम के अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुआ ।

जन्म

वैजयन्त विमान की स्थिति पूर्ण हो जाने पर श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र में पुरुषसिह का जीव वैजयन्त विमान से च्युत हुआ और अयोध्यापति महाराज मेघ की रानी मगलावती के गर्भ मे आया । तत्पश्चात् माता मगलावती गर्भ-सूचक चौदह शुभ स्वप्न देखकर परम प्रसन्न हुई । गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला अष्टमी को मध्य रात्रि के समय मघा नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

पुण्यशाली पुरुष का जन्म किसी खास कुल या जाति के लिये नही होता । वे तो विश्व के लिये उत्पन्न होते है अत उसकी खुशी और प्रसन्नता भी सारे ससार को होती है । फिर जन्म की नगरी मे इस जन्म से आनन्द और हर्ष का अतिरेक होना स्वाभाविक ही था ।

महाराज मेघ ने जन्मोत्सव की खुशी मे दश दिनो तक नागर-जनो के आमोद-प्रमोद के लिये सारी सुविधाए प्रदान की ।

चौदह पूर्व
वैक्रिय



नामकरण

...रहवे दिन नामकरण के लिये स्वजन एव वान्धवो को एकत्र कर महाराज ने कहा – "वालक के गर्भ मे रहते समय इसकी माता ने वड़ी-वड़ी उलझी हुई समस्याओ का भी अनायास ही अपनी सन्मति से हल ढू ढ निकाला, अत इसका नाम सुमतिनाथ रखना ठीक जचता है।"

सवके पूछने पर महाराज ने रानी की सन्मति के उदाहरणस्वरूप निम्न घटना सवके सामने रखी।

एक बार किसी सेठ की दो पत्नियो मे अपने एक शिशु को लेकर कलह उत्पन्न होगया। सेठ व्यवसाय के प्रसग मे शिशु को दोनो माताओ की देख-रेख मे छोडकर देशान्तर गया हुआ था। वहा उसकी मृत्यु हो गई। इधर शिशु की विमाता माता से भी वढकर बच्चे का लालन-पालन करती थी। आपस मे प्रेम की अधिकता से पुत्र की माता लाड-प्यार के कार्य मे सौत को दखल नही देती। वालक दोनो को बराबर मानता था, उसके निर्मल और निश्छल मानस मे माता और विमाता का भेदभाव नही था।

जव सेठ के मरने की सूचना मिली तो विमाता ने पुत्र और धन दोनो पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया। वालक की माता भला ऐसे निराधार अधिकार को चुपचाप कैसे सहन कर लेती। फलत दोनो का विवाद निर्णय के लिये राजा मेघ के पास पहुचा। वच्चे के रग, रूप और आकार-प्रकार से महाराजा किसी उचित निर्णय पर नही पहुच सके और इसी ऊहापोह मे उन्हे भोजन के लिये जाने मे देर हो गई।

जव रानी सुमगला को यह पता लगा तो वह महाराज के पास आयी और वोली–"स्वामिन्। आज भोजन मे इतनी देर क्यो ?"

जव महाराज ने सारी कथा कह सुनायी तो सुमगला वोली–"महाराज ! आप भोजन और आराम करे। मै शीघ्र ही इस समस्या का हल निकाल देती हूँ।"

ऐसा कहकर उसने दोनो सेठानियो को बुलाकर उनकी वाते सुनी और वोली–"मेरे गर्भ मे तीन ज्ञान का धारक अतिशय पुण्यवान् प्राणी है। वह जन्म लेकर तुम्हारे इस विवाद का निर्णय कर देगा, तव तक बच्चे को मेरे पास रहने दो। मैं सव तरह से इसकी देखभाल और लालन-पालन करती रहूँगी।"

इस पर विमाता वोली–"ठीक है, आप इसे अपने पास निर्णय होने तक रखे, मुझे आपकी शर्त स्वीकार है।"

मगर जननी का हृदय अपने प्राणप्रिय पुत्र के इस निरवधि-वियोग के दारुण दु ख को कैसे सहन कर लेता ? वह जोरो से चीख उठी–"नही, मुझे आपकी यह शर्त स्वीकार नही है। मैं अपने नयन-तारे को इतने समय तक अलग रखना पसन्द नही करूँगी। मै अपना प्राण त्याग सकती हूँ तिथि का का क्षणिक त्याग भी मेरे लिये असह्य है।"

रानी सुमगला ने उसकी बातो से समझ लिया कि पुत्र इस ही का है। क्योकि कोई भी जननी अपने अंश को परवशता के विना अपने से अलग रखना स्वीकार नही कर सकती। इसी आधार पर उन्होंने धन सहित पुत्र की वास्तविक अधिकारिणी उस ही को माना। इस तरह रानी ने इस विकट समस्या का समाधान अपनी सद्‌वुद्धि से कर दिया।[1]

यह सुनकर उपस्थित जनों ने एक स्वर से कुमार का नाम सुमतिनाथ रखने मे अपनी सम्मति दे दी। इस प्रकार कुमार का नाम सुमतिनाथ रखा गया।

विवाह और राज्य

युवावस्था मे प्रविष्ट होने पर महाराज मेघ ने योग्य कन्याओ से उनका पाणिग्रहण कराया। उनतीस लाख पूर्व वर्षो तक राज्य-पद का उपभोग कर जव उन्होने भोग कर्म को क्षीण हुआ समझा तो संयम धर्म के लिये तत्पर हो गये।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवो की प्रार्थना से वर्षीदान देकर एक हजार राजाओ के साथ आप दीक्षार्थ निकले और वैशाख शुक्ला नवमी के दिन मघा नक्षत्र मे सिद्धो को नमस्कार कर प्रभु ने पचमुष्टिक लोच किया और सर्वथा पापकर्म का त्याग कर मुनि वन गये।

उस समय आपको षष्टभक्त-दो दिन का निर्जल तप था। दूसरे दिन विहार कर प्रभु विजयपुर पधारे और वहा के महाराज पद्म के यहा तप का प्रथम पारणा स्वीकार किया।

केवलज्ञान व देशना

वीस वर्षों तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्‌मस्थ दशा मे विचरे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से वड़ी कर्म निर्जरा की। फिर सहस्राम्र वन मे पधार कर ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान की प्रकर्षता से चार घातिक कर्मों के इन्धन को जला कर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र मे केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की।

केवलज्ञान की प्राप्ति कर प्रभु ने देव, दानव और मानवो की विशाल सभा मे मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया और चतुर्विध सघ की स्थापना कर आप भावतीर्थंकर कहलाये।

---

[1] गब्भगते भट्टारए माताए दोण्ह सवत्तीरण छम्मासितो ववहारो छिण्णो
एत्थ असोगवर पादवे एस मम पुत्तो महामती छिंदिहिति, ताए जावत्ति भणिताओ, इतरी भणिति एव होतु, पुत्तमाता णेच्छतित्ति णातूण, छिण्णो एतस्स गब्भगतस्स गुणेणति सुमति जातो ॥ आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृ० १०

धर्म परिवार

इनके सघ मे निम्न परिवार था :—

गणधर	— एक सौ (१००)
केवली	— तेरह हजार (१३०००)
मन पर्यवज्ञानी	— दस हजार चार सौ पचास (१०४५०)
अवधिज्ञानी	— ग्यारह हजार (११०००)
चौदह पूर्वधारी	— दो हजार चार सौ (२४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	— अठारह हजार चार सौ (१८४००)
वादी	— दस हजार छ सौ पचास (१०६५०)
साधु	— तीन लाख बीस हजार (३२००००)
साध्वी	— पाच लाख तीस हजार (५३००००)
श्रावक	— दो लाख इक्यासी हजार (२८१०००)
श्राविका	— पाच लाख सोलह हजार (५१६०००)

परिनिर्वाण

चालीस लाख पूर्व की आयु मे से प्रभु ने दस लाख पूर्व तक कुमारावस्था, उनतीस लाख ग्यारह पूर्वांग राज्यपद, बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक चारित्र-पर्याय का पालन किया, फिर अन्त समय निकट जान कर एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र मे चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो निर्वाण-पद प्राप्त किया ।

भगवान् श्री पद्मप्रभ

पूर्वभव

भगवान् सुमतिनाथ के पश्चात् छट्ठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ स्वामी हुए। अन्य तीर्थंकरो की तरह आपने भी राजा अपराजित के भव मे तीर्थंकर पद की विशिष्ट योग्यता उपार्जित की।

सुसीमानगरी के महाराज अपराजित ऐसे धर्मपूर्ण व्यवहार वाले थे कि जैसे सदेह धर्म ही हो। इन्हे न्याय ही मित्र, धर्म ही वन्धु और गुण-समूह ही सच्चा धन प्रतीत होता था। अन्य मित्र, वन्धु और धन आदि वाहरी साधनो मे उनकी प्रीति नही थी।

एक दिन भूपति ने सोचा कि ये वाह्य साधन जव तक मुझको नही छोडें तव तक पुरुषार्थ का वल वढाकर मैं ही इनको त्याग दूं तो श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार विचार करके उन्होने पिहिताश्रव मुनि के चरणो मे सयम ग्रहण कर लिया और अर्हद्-भक्ति आदि स्थानो की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय मे समाधि के साथ आयु पूर्ण कर वे ३१ सागर की परम स्थिति वाले ग्रैवेयक देव हुए।

जन्म

देव भव की स्थिति पूर्ण कर अपराजित के जीव ने कोशाम्वी नगरी के महाराजा धर के यहा तीर्थंकर रूप मे जन्म लिया। वह माघ कृष्णा षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र मे देवलोक से निकल कर माता सुसीमा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी सुसीमा ने चौदह महाशुभस्वप्न देखे।

फिर कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन चित्रा नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। जन्म के प्रभाव से लोक मे सर्वत्र शान्ति और हर्ष की लहर दौड़ गई।

नामकरण

गर्भ काल मे माता को पद्म (कमल) की शय्या मे सोने का दोहद उत्पन्न हुआ और वालक के शरीर की प्रभा पद्म के समान थी, इसलिए इनका नाम पद्मप्रभ रक्खा गया।[1]

---

[1] "गब्भत्थे य भगवम्मि जणणीए पउमसयणीयम्मि दोहलो आसि' त्तितेण भगवओ जहत्थ-मेव पउमप्पभो' त्तिणाम कय।" चउप्पन महापुरिस चरिय, पृ० ८३

पद्मवर्णं पद्मचिन्ह, सा देवी सुषुवे सुत। त्रि ३।४।३८

पद्मशय्या दोहदोऽस्मिन्, यन्मातुर्गर्भगेऽभवत्।

पद्माभश्चेत्यम् पद्मप्रभ इत्याह्वयत् पिता। त्रि ३।४।५१

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब पद्मप्रभ ने यौवन में प्रवेश किया तब महाराजा धर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया।

आठ लाख पूर्व कुमार पद में रहकर आपने राज्य-पद ग्रहण किया। इक्कीस लाख पूर्व से अधिक राज्य-पद पर रहकर इन्होंने न्याय-नीति से प्रजा का पालन किया और नीति-धर्म की शिक्षा दी।

दीक्षा और पारणा

दीर्घकाल तक राज्य सुख का उपभोग कर जब देखा कि भोगावली कर्म-क्षीण हो गये हैं, तो प्रभु मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हुए।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से एक वर्ष तक दान देकर प्रभु ने कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन षष्ठभक्त—दो दिन के निर्जल तप से विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। उस समय राजन्य आदि वर्गों के एक हजार पुरुषों ने आपके संग दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन ब्रह्मस्थल के महाराज सोमदेव के यहां प्रभु का पारणा हुआ। देवों द्वारा दान की महिमापूर्वक पंच दिव्य बरसाये गये।

केवलज्ञान

आप छः मास तक उग्र तपस्या करते हुए छद्मस्थ चर्या में विचरे और फिर विहार क्रम से सहस्राम्र वन में आए। मोह कर्म को तो प्रभु प्रायः क्षीण कर चुके थे। फिर शेष कर्मों की निर्जरा के लिये षष्ठभक्त तप के साथ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर आपने शुक्लध्यान से घातिकर्मों का क्षय किया और चैत्र सुदी पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया।

घाती कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के बाद प्रभु ने धर्म-देशना देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की एवं आप अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य) के धारक होकर लोकालोक के ज्ञाता, द्रष्टा और भाव-तीर्थंकर हो गये।

धर्म परिवार

आपके धर्म परिवार की संख्या निम्न है :—

गणधर	—	एक सौ सात (१०७)
केवली	—	बारह हजार (१२०००)
मनःपर्यवज्ञानी	—	दश हजार तीन सौ (१०३००)
अवधिज्ञानी	—	दश हजार (१००००)
चौदह पूर्वधारी	—	दो हजार तीन सौ (२३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	सोलह हजार आठ सौ (१६८००)

वादी	–	नौ हजार छ सौ (९६००)
साधु	–	तीन लाख तीस हजार (३३००००)
साध्वी	–	चार लाख बीस हजार (४२००००)
श्रावक	–	दो लाख छहत्तर हजार (२७६०००)
श्राविका	–	पाच लाख पाच हजार (५०५०००)

परिनिर्वाण

केवली बन कर प्रभु ने बहुत वर्षों तक ससार को कल्याणकारी मार्ग की शिक्षा दी।

फिर जब अन्त मे आयुकाल निकट देखा तब एक मास का अनशन कर मृगशिर वदी एकादशी के दिन[1] चित्रा नक्षत्र मे सम्पूर्ण योगो का निरोध कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

आपकी कुल आयु तीस लाख पूर्व की थी जिसमे सोलह पूर्वांग कम साढ़े सात लाख पूर्व तक कुमार रहे, साढे इक्कीस लाख पूर्व तक राज्य किया और कुछ कम एक लाख पूर्व तक चारित्र-धर्म का पालन कर प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।



[1] सत्तरिसय द्वार, गा० ३०६–३१०

भगवान् श्री सुपार्श्वनाथ

पूर्वभव

भगवान् पद्मप्रभ के वाद सातवे तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ हुए। क्षेमपुरी के महाराज नन्दिसेन के भव मे इन्होने त्याग एवं तप की उत्कृष्ट साधना की।

आचार्य अरिदमन के पास सयम ले इन्होने वीस स्थानो की आराधना की एव तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया और अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर आप छठे ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर नन्दिसेन का जीव भाद्रपद कृष्णा अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र मे वाराणसी नगरी के महाराज प्रतिष्ठसेन की रानी पृथ्वी की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी पृथ्वी देवी ने महापुरुष के जन्म-सूचक चौदह मगलकारी शुभ-स्वप्न देखे।

विधिपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर माता ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को विशाखा नक्षत्र मे सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

नामकरण

वारहवे दिन नामकरण के समय महाराज प्रतिष्ठसेन ने सोचा कि गर्भकाल मे माता के पार्श्व-शोभन रहे, अतएव वालक का नाम सुपार्श्वनाथ रक्खा जाय।[1] इस तरह से आपका नाम सुपार्श्वनाथ रक्खा गया।

विवाह और राज्य

शैशव के पश्चात् महाराज प्रतिष्ठसेन ने उनका योग्य कन्याओ से पाणिग्रहण करवाया और राज्य-पद से उन्हे सुशोभित किया।

चौदह लाख पूर्व कुछ अधिक समय तक प्रभु राज्य-श्री का उपभोग करते हुए प्रजाजनो को नीति-धर्म की शिक्षा देते रहे।

दीक्षा और पारणा

फिर राज्य-काल के वाद जव प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण देखा तो संयम-ग्रहण की इच्छा की।

आपने लोकान्तिक देवो की प्रार्थना पर वर्ष भर दान देने के पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को एक हजार अन्य राजाओ के साथ दीक्षा के लिए निष्क्रमण

---

[1] भगवम्मि य गब्भगए जणणी जाया सुपासत्ति तओ भगवओ सुपासत्तिणाम कयं। च महापुरिस च, पृ ८६

किया। षष्ठभक्त की तपस्या के साथ उद्यान मे पहुच कर प्रभु ने पच-मुष्टि लोच करके सर्वथा पापो का त्याग कर, मुनिव्रत ग्रहण किया।

दूसरे दिन पाटलिखण्ड नगर के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहा उनका पारणा सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

नव मास तक विविध प्रकार का तप करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या मे विचरते रहे। फिर उसी सहस्राम्र वन मे आकर शुक्लध्यान मे स्थित हो गए।

ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर, फाल्गुन शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र मे प्रभु ने केवलज्ञान एव केवलदर्शन प्राप्त किया।

केवली वनकर देव-मनुजो की विशाल परिषद् मे प्रभु ने धर्म-देशना दी और जड और चेतन का भेद समझाते हुए फरमाया कि दृश्य जगत् की सारी वस्तुए, यहा तक कि तन भी अपना नही है। तन, धन, परिजन आदि बाह्य वस्तुओ को अपना मानना ही दुख का मूल कारण है।

उनके इस प्रकार के सदुपदेश से सहस्रो नर-नारी सयम-धर्म के आराधक वने और प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर भाव-अरिहन्त पद को प्राप्त किया।

धर्म परिवार

प्रभु के सघ मे निम्न परिवार था.

गण एवं गणधर	– पचानवे (९५) जिनमे मुख्य विदर्भजी थे।
केवली	– ग्यारह हजार (११०००)
मन पर्यवज्ञानी	– नौ हजार एक सौ पचास (९१५०)
अवधिज्ञानी	– नौ हजार (९०००)
चौदह पूर्वधारी	– दो हजार तीन सौ पचास (२३५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	– पन्द्रह हजार तीन सौ (१५३००)
वादी	– आठ हजार चार सौ (८४००)
साधु	– तीन लाख (३०००००)
साध्वी	– चार लाख तीस हजार (४३००००)
श्रावक	– दो लाख सत्तावन हजार (२५७०००)
श्राविका	– चार लाख तिरानवे हजार (४९३०००)

परिनिर्वाण

वीस लाख पूर्व की कुल आयु मे से पाच लाख पूर्व कुमार अवस्था मे, चौदह लाख कुछ अधिक पूर्व राज्य-पद पर और बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक सम्यग् चारित्र का पालन कर जब आपने अपना अन्त समय निकट समझा तो एक मास का अनशन कर पाच सौ मुनियो के साथ चार अघाति-कर्मो का क्षय करके फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी

भगवान् सुपार्श्वनाथ के वाद आठवे तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ स्वामी हुए ।

पूर्वभव

धातकीखण्ड मे मगलावती नगरी के महाराज पद्म के भव मे इन्होने उच्च योगो की साधना की, फलत इनको वैराग्य हो गया और उन्होंने युगन्धर मुनि के पास सयम ग्रहण कर दीर्घकाल तक चारित्र-धर्म का पालन करते हुए वीस स्थानो की आराधना की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर ये विजय-विमान मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

जन्म

विजय विमान से निकल कर महाराज पद्म का जीव चैत्र कृष्णा पचमी को अनुराधा नक्षत्र मे चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा के यहा गर्भ रूप मे उत्पन्न हुआ । महारानी सुलक्षणा ने उसी रात्रि मे उत्कृष्ट फलदायक चौदह शुभ स्वप्न देखे ।

सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्ण कर माता सुलक्षणा ने पौप कृष्णा (द्वादशी) एकादशी के दिन[1] अनुराधा नक्षत्र मे अर्द्धरात्रि के समय पुत्ररत्न को जन्म दिया । (देव-देवेन्द्र ने अति-पाण्डु-कम्वल-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक वडे उल्लास एव उत्साहपूर्वक मनाया)

नामकरण

महाराज महासेन ने जन्म-महोत्सव के वाद वारहवे दिन नामकरण के लिये मित्रजनो को एकत्र कर कहा – "वालक की माता ने गर्भकाल मे चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण की और इस वालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्र जैसी है, अत वालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है ।"[2]

विवाह और राज्य

युवावस्था सम्पन्न होने पर राजा ने उत्तम राजकन्याओ से प्रभु का पाणिग्रहण करवाया ।

---

[1] शलाका पुरुप चरित्र के अनुसार जन्मतिथि पौप कृष्णा १३ मानी गई है । त्रि प ३।६।३२

[2] (क) गर्भस्थेऽस्मिन् मातुरासीच्चन्द्रपानाय दोहद. ।
चन्द्राभश्चैप इत्याह्वच्चन्द्रप्रभमम् पिता ।। त्रि श पु च ३।६।४६

(ख) पिउणा य 'चदप्पहसमाणो' ति कलिऊण चदप्पहो त्ति णाम कय भगवओ ।।
च म पु. घ, पृ ८८

ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर रह कर फिर आप राज्य-पद पर अभिषिक्त किये गये और छ लाख पूर्व से कुछ अधिक समय तक राज्य का पालन करते हुए प्रभु नीति-धर्म का प्रसार करते रहे। इनके राज्य-काल मे प्रजा सब तरह से सुख-सम्पन्न और कर्त्तव्य-मार्ग का पालन करती रही।

दीक्षा और पारणा

ससार के भोग्य-कर्म क्षीण हुए जान कर प्रभु ने मुनि-दीक्षा का सकल्प किया। लोकान्तिक देवो की प्रार्थना और वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओ के साथ षष्ठ-भक्त की तपस्या से इनका निष्क्रमण हुआ।

पौष कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र मे सम्पूर्ण पाप-कर्मो का परित्याग कर प्रभु ने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के दूसरे दिन पद्मखण्ड के सोमदत्त राजा के यहा क्षीरान्न से प्रभु का पारणा हुआ। देवो ने पंच-दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

तीन मास तक छद्मस्थ-चर्या मे विचर कर फिर प्रभु सहस्राम्र वन मे पधारे। वहा प्रियगु वृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान मे ध्यानावस्थित हो गये। फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मो का क्षय कर, प्रभु ने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

फिर देव-मानवो की विशाल सभा मे श्रुत व चारित्र-धर्म की देशना देकर भगवान् ने चतुर्विध सघ की स्थापना की। कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय मे रह कर प्रभु ने लाखो जीवो का कल्याण किया।

धर्म-परिवार

यो तो महापुरुषो का परिवार "वसुधैव कुटुम्बकम्" होता है, फिर भी व्यवहारदृष्ट्या उनके उपदेशो का पालन एव प्रसार करने वाले अधिक कृपापात्र होने से उनके धर्म-परिवार मे गिने गये है, जो इस प्रकार है :-

गण एव गणधर	–	तिरानवे (६३) दत्त आदि।
केवली	–	दस हजार (१००००)
मन पर्यवज्ञानी	–	आठ हजार (८०००)
अवधिज्ञानी	–	आठ हजार (८०००)
चौदह पूर्वधारी	–	दो हजार (२०००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	चौदह हजार (१४०००)
वादी	–	सात हजार छ सौ (७६००)
साधु	–	दो लाख पचास हजार (२५००००)
साध्वी	–	तीन लाख अस्सी हजार (३८००००)
श्रावक	–	दो लाख पचास हजार (२५००००)
श्राविका	–	चार लाख इकरानवे हजार (४६१०००)

परिनिर्वाण

जिस समय प्रभु ने अपने जीवनकाल का अन्त निकट देखा तव एक हजार मुनियो के साथ एक मास का अनशन किया और अयोगी दशा मे चार अघाति-कर्मो का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को श्रवण नक्षत्र मे सिद्ध, वुद्ध एव मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया ।

इनकी कुल आयु दस लाख पूर्व वर्षो की थी, जिसमे ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर और साढे छ लाख पूर्व तक राज्य-पद पर रहे तथा कुछ कम एक लाख पूर्व तक प्रभु ने चारित्र-धर्म का पालन किया ।

भगवान् श्री सुविधिनाथ

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के पश्चात् नौवे तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ हुए। इन्हे पुष्पदन्त भी कहा जाता है।

पूर्वभव

पुष्कलावती विजय के भूपति महापद्म के भव मे इन्होंने ससार से विरक्त होकर मुनि जगन्नन्द के पास दीक्षा ग्रहण की और उच्चकोटि की तप-साधना करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय मे अनशनपूर्वक काल कर वे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

काकन्दी नगरी के महाराज सुग्रीव इनके पिता और रामादेवी इनकी माता थी।

वैजयन्त विमान से निकलकर महापद्म का जीव फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र मे माता रामादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात्रि मे चौदह मगलकारी शुभ स्वप्न देखे। महाराज से स्वप्न-फल सुनकर महारानी हर्षविभोर हो गई।

गर्भकाल पूर्ण कर माता ने मृगशिर कृष्णा पचमी को मध्यरात्रि के समय मूल नक्षत्र मे सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता व नरेन्द्र-देवेन्द्रो ने जन्मोत्सव की खुशिया मनाई। दश दिनो तक नगर मे आमोद-प्रमोद का मगल वातावरण बना रहा।

नामकरण

नामकरण के समय महाराज सुग्रीव ने सोचा कि बालक के गर्भकाल मे माता सब विधियो मे कुशल रही, इसलिये इसका नाम सुविधिनाथ और गर्भकाल मे माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ, अत पुष्पदन्त रखा जाय। इस प्रकार सुविधिनाथ और पुष्पदत प्रभु के ये दो नाम प्रख्यात हुए।[1]

---

१ कुशला सर्वविधिपु, गर्भस्थेऽस्मिन् जनन्यभूत्
पुष्पदोहदतो दन्तोद्गमोऽस्यसमभूदिति।
सुविधि पुष्पदन्तश्चेत्यभिधानद्वय विभो। महोत्सवेन चक्राते, पितरौ दिवसे शुभे।
त्रि० ३ प ७ स० ४६।५०

विवाह और राज्य

दो लाख पूर्व की आयु में से चौथा भाग अर्थात् पचास हजार पूर्व का समय बीतने पर महाराज सुग्रीव ने योग्य कन्याओ से इनका पाणिग्रहण करवाया तथा योग्य जानकर राज्यपद पर भी अभिषिक्त कर दिया। कुछ अधिक पचास हजार पूर्व तक प्रभु नें अलिप्तभाव से लोकहितार्थ कुशलतापूर्वक राज्य का सचालन किया।

दीक्षा और पारणा

राज्यकाल के बाद जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण होते देखा तब सयम ग्रहण करने की इच्छा की।

लोकान्तिक देवो ने अपने कर्त्तव्यानुसार प्रभु से प्रार्थना की और वर्षीदान देकर प्रभु ने भी एक हजार राजाओ के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। मृगशिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र के समय सूरप्रभा शिविका से प्रभु सहस्राम्र वन मे पहुचे और सिद्ध की साक्षी से, सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करते ही इन्होने मन.पर्यवज्ञान प्राप्त किया।

दूसरे दिन श्वेतपुर के राजा पुष्प के यहा प्रभु का परमान्न से पारणा हुआ और देवो ने पच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

चार मास तक प्रभु विविध कष्टो को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। फिर उसी उद्यान मे आकर प्रभु ने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और शुक्ल ध्यान से घातिकर्मो का क्षय कर मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को मूल नक्षत्र मे केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवो की महती सभा मे प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और वे चतुर्विध सघ की स्थापना कर, भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

प्रभु के सघ मे निम्न गणधरादि हुए .–

गणधर	– अठ्यासी (८८) वाराहजी आदि।
केवली	– सात हजार पाच सौ (७५००)
मन पर्यवज्ञानी	– सात हजार पाच सौ (७५००)
अवधिज्ञानी	– आठ हजार चार सौ (८४००)
चौदह पूर्वधारी	– एक हजार पाच सौ (१५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– तेरह हजार (१३०००)
वादी	– ६ हजार (६०००)
साधु	– दो लाख (२०००००)

साध्वी	– एक लाख बीस हजार (१२००००)
श्रावक	– दो लाख उन्तीस हजार (२२९०००)
श्राविका	– चार लाख वहत्तर हजार (४७२०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम एक लाख पूर्व तक सयम का पालन कर जब प्रभु ने अपना आयु-काल निकट समझा तब एक हजार मुनियो के साथ सम्मेतशिखर पर एक मास का अनशन धारण किया, फिर योगनिरोध करते हुए चार अघाति-कर्मो का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी के दिन मूल नक्षत्र मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

कहा जाता है कि कालदोप से सुविधिनाथ के वाद साधुधर्म का विच्छेद हो गया और श्रावक लोग इच्छानुसार दान आदि धर्म का उपदेश करने लगे। सभव है यह काल ब्राह्मण सस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रमुख समय रहा हो।



भगवान् श्री शीतलनाथ

भगवान् श्री सुविधिनाथ के वाद भगवान् श्री शीतलनाथ दशवे तीर्थकर हुए।

पूर्वभव

सुसीमा नगरी के महाराज पद्मोत्तर के भव मे वहुत वर्षों तक राज्य का उपभोग कर इन्होने 'त्रस्ताघ' नाम के आचार्य के पास सयम ग्रहण किया और विशिष्ट प्रकार की तप. साधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय मे अनशन की आराधना से काल प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग मे वीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

जन्म

भद्दिलपुर के महाराज दृढरथ इनके पिता और नन्दादेवी इनकी माता थी। वैशाख कृष्णा षष्ठी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र मे प्राणत स्वर्ग से च्यव कर पद्मोत्तर का जीव नन्दादेवी के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महारानी उसी रात्रि को महा मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखकर जागृत हुई। उसने महाराज के पास जाकर उन स्वप्नो का फल पूछा। उत्तर में यह सुनकर कि वह एक महान् पुण्यशाली पुत्र को जन्म देने वाली है, महारानी अत्यधिक प्रसन्न हुई।

गर्भकाल के पूर्ण होने पर माता नन्दा ने माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्म से अखिल विश्व मे शान्ति एव आनन्द की लहर फैल गई। महाराज दृढ़रथ ने मन खोल कर जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण

वालक के गर्भ-काल मे महाराज दृढरथ के शरीर मे भयकर दाह-ज्वर की पीडा थी जो विभिन्न उपचारो से भी शान्त नही हुई, पर एक दिन नन्दादेवी के कर-स्पर्श मात्र से वह वेदना शान्त हो गई और तन, मन मे शीतलता छा गई। अत. सवने मिलकर वालक का नाम शीतलनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

हर्ष और उल्लास के वातावरण मे शैशवकाल पूर्ण कर जव इन्होने यौवनावस्था मे प्रवेश किया, तव माता-पिता के आग्रह से योग्य कन्याओ के साथ इनका पाणिग्रहण किया गया।

---

[1] राज्ञ सन्तप्तमप्यग, नन्दास्पर्शेन शीत्यभूत्।
गर्भस्थेऽस्मिन्निति तस्य, नाम शीतल इत्यभूत् ॥ त्रिप० ३।८।४७

पच्चीस हजार पूर्व तक कुवर पद पर रहकर फिर पिता के अत्याग्रह से प्रभु ने निर्लेप भाव से राज्यपद लेकर शासन का सम्यक् रूप से सचालन किया। पचास हजार पूर्व तक राज्यपद पर रहने के पश्चात् जब भोगावली कर्म का भोग पूर्ण हुआ, तब प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की।

दीक्षा और प्रथम पारणा

लोकान्तिक देवो की प्रार्थना और वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओ के साथ चन्द्रप्रभा शिविका मे आरूढ होकर प्रभु सहस्राम्र वन मे पहुचे और माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे षष्ठ-भक्त तपस्या से सम्पूर्ण पाप कर्मो का परित्याग कर मुनि बन गये।

श्रमण-दीक्षा लेते ही इन्होने मन.पर्यवज्ञान प्राप्त किया। दूसरे दिन अरिष्टपुर के महाराज पुनर्वसु के यहा परमान्न से इनका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवो ने पच-दिव्य प्रकट करके दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

विविध प्रकार के परीषहो को सहन करते हुए तीन मास छद्मस्थ-चर्या के बिताकर फिर प्रभु सहस्राम्र वन पधारे और प्लक्ष (पीपल) वृक्ष के नीचे शुक्ल-ध्यान मे स्थित हो गये। शुक्लध्यान से ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्मो का सम्पूर्ण क्षय कर प्रभु ने पौष कृष्णा चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर-मानवो की विशाल सभा मे धर्मदेशना दी। ससार के नश्वर पदार्थो की प्रीति को दुखजनक बतलाकर उन्होने मोक्ष-मार्ग मे यत्न करने की शिक्षा दी और चतुर्विध-सघ की स्थापना कर, आप भावतीर्थंकर कहलाए।

धर्म परिवार

भगवान् शीतलनाथ के सघ मे निम्न गणधर आदि हुए –

गण एव गणधर	–	इक्यासी (८१)
केवली	–	सात हजार (७०००)
मन.पर्यवज्ञानी	–	सात हजार पाच सौ (७५००)
अवधिज्ञानी	–	सात हजार दो सौ (७२००)
चौदह पूर्वधारी	–	एक हजार चार सौ (१४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	बारह हजार (१२०००)
वादी	–	पाच हजार आठ सौ (५८००)
साधु	–	एक लाख (१०००००)
साध्वी	–	एक लाख और छ (१००००६)
श्रावक	–	दो लाख नव्यासी हजार (२८९०००)
श्राविका	–	चार लाख अट्ठावन हजार (४५८०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम पच्चीस हजार पूर्व तक सयम का पालन कर जब आयुकाल निकट देखा तब प्रभु ने एक हजार मुनियो के साथ एक मास का अनशन किया।

अन्त मे मन-वचन-कायिक योगो का निरोध करते हुए सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर वैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे प्रभु ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री श्रेयांसनाथ

भगवान् श्री शीतलनाथ के पश्चात् ग्यारहवे तीर्थंकर श्री श्रेयासनाथ हुए ।

पूर्वभव

पुष्कर द्वीप के राजा नलिनगुल्म के भव मे इन्होने रोग की तरह राज्य भोग को छोडकर ऋषि वज्रदन्त के पास दीक्षा ले ली और तीव्र तप से कर्मो को कृश करते हुए निर्मोह भाव से विचरते रहे ।

वहा वीस स्थानो की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । अन्त समय मे शुभ-ध्यान से आयु पूर्णकर नलिनगुल्म महाशुक्र कल्प मे ऋद्धिमान् देव हुए ।

जन्म

भारतवर्ष की भूपणस्वरूपा, सिंहपुरी नगरी के अधिनायक महाराज विष्णु इनके पिता और सद्गुणधारिणी विष्णुदेवी इनकी माता थी ।

ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र मे 'नलिनगुल्म' का जीव स्वर्ग से निकलकर माता विष्णु की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ । माता ने उसी रात्रि मे १४ महा शुभ-स्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण कर माता ने फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । आपके जन्मकाल मे सर्वत्र सुख, शाति और हर्ष का वातावरण फैल गया ।

नामकरण

समस्त राजपरिवार और राष्ट्र का वालक के जन्म से श्रेय-कल्याण हुआ, अत मातापिता ने शुभ समय मे वालक का गुणसम्पन्न नाम श्रेयासनाथ रखा ।[1]

विवाह और राज्य

वाल्यकाल मे देव, दानव और मानव कुमारो के सग खेलकर जव प्रभु युवावस्था मे प्रविष्ट हुए तो पिता के आग्रह से योग्य कन्याओ के सग आपने पाणिग्रहण किया और इक्कीस लाख वर्ष के होने पर आप राज्य-पद के अधिकारी वनाये गये ।

वयालीस लाख वर्ष तक आप मही-मडल पर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करते रहे ।

---

[1] जिनस्य मातापितरावुत्सवेन महीयसा,
अभिधा श्रेयसि दिने, श्रेयास इति चक्रतु ॥ ४।१।८६ त्रि० शलाका पु च

दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म के क्षीण होने पर जब आपने सयम ग्रहण करने की इच्छा की, तब लोकान्तिक देवो ने अपनी मर्यादा के अनुसार आकर प्रभु से प्रार्थना की । फलत. वर्ष भर तक निरन्तर दान देकर एक हजार अन्य राजाओ के साथ बेले की तपस्या मे राजमहल से दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को श्रवण नक्षत्र मे सहस्राम्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की ।

दूसरे दिन सिद्धार्थपुर मे राजा नन्द के यहा प्रभु का परमान्न से पारणा सम्पन्न हुआ ।

केवलज्ञान

दीक्षा के पश्चात् दो मास तक छद्मस्थभाव में आप विविध ग्राम-नगरो मे विचरे और आगत कष्टो को सहन करने मे अचल-स्थिर बने रहे । माघ कृष्णा अमावस्या को क्षपकश्रेणी द्वारा मोह-विजय कर शुक्लध्यान की उच्च स्थिति मे घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर षष्ठ तप से आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की । केवली होकर देव-मानवो की विशाल सभा में श्रुत-चारित्र धर्म की प्रभु ने देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर, आप भाव-तीर्थंकर कहलाये ।

राज्य शासन पर श्रेयांस का प्रभाव

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् श्रेयासनाथ विचरते हुए पोतनपुर पधारे । भगवान् के पधारने की शुभ सूचना राजपुरुष ने तत्कालीन प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ को दी ।

यह शुभ समाचार सुनकर त्रिपृष्ठ इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने शुभसदेश लाने वाले को साढ़े बारह करोड मुद्राओ से पुरस्कृत किया और अपने बडे भाई अचल बलदेव के साथ भगवान् के चरणारविन्दो को वन्दन करने गया । भगवान् की सम्यक्त्व-सुधा बरसाने वाली वाणी को सुनकर दोनो भाइयो ने सम्यक्त्व धारण किया ।[1]

यह त्रिपृष्ठ वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव और इनके भाई अचल प्रथम बलदेव थे ।

भगवान् महावीर के पूर्वभवीय मरीचि [illegible] जीव ने ही महाराज प्रजापति की महारानी भद्रा[2] की कुक्षि से त्रिप[illegible] म जन्म ग्रहण किया ।

इधर प्रथम प्रतिवासुदे[illegible] नमित्तज्ञो की भविष्यवाणी से जब यह ज्ञात हुआ कि उसका सहार [illegible] प्रथम वासुदेव जन्म ग्रहण कर चुका है तो वह चिन्तातुर हो रात दिन [illegible] द्वन्द्वी की खोज मे तत्पर रहने लगा ।

---

[1] सम्यक्त्व प्रतिपेदाते, बलभद्रहरी पुन ।। त्रि० पु० च० ४।१।८४५

[2] आचार्य हेमचन्द्र ने तृपृष्ठ की माता का नाम मृगावती लिखा है । यथा –
विश्वभूतिश्च्युत शुक्रान्मृगावत्या अथोदरे ।
[त्रिषष्टि श पु च , पर्व १०, स १, श्लो ११८]

प्रजापति के पुत्र त्रिपृष्ठ और वलदेव के पराक्रम एव अद्भुत साहस की सौरभ सर्वत्र फेल रही थी। उससे अश्वग्रीव के मन मे शका उत्पन्न हुई कि हो न हो प्रजापति के दोनो महा पराक्रमी पुत्र ही मेरे लिये काल बनकर पैदा हुए हो अत वह उन दोनो को छल-वल मे मरवाने की सोचने लगा।

उन दिनो अश्वग्रीव के राज्य मे किसी शालिखेत मे एक शेर का भयकर आतक छाया हुआ था। अश्वग्रीव की ओर से शेर को मरवाने के सारे उपाय निष्फल हो जाने पर उसने प्रजापति को आदेश भेजा कि वह शालिखेत की शेर से रक्षा करे।

प्रजापति शालिखेत पर जाने को तैयार हुए ही थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ आ पहुचे। उन्होने साहस के साथ महाराज प्रजापति से कहा – "शेर से खेत की रक्षा करना कौनसा वडा काम है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं ही उस शेर को समाप्त कर दूगा।"

पिता की आज्ञा से त्रिपृष्ठ अचल वलदेव के साथ शालिखेत पर जा पहुचे। लोगो के मुख से सिह की भयकरता और प्रजा मे व्याप्त आतक के सम्बन्ध मे सुनकर उन्होने उसे मिटाने का संकल्प किया। त्रिपृष्ठ ने सोचा कि प्रजा में व्याप्त सिंह के आतंक को समाप्त कर दू तभी मेरे पौरुष की सफलता है।

दोनो भाई निर्भीक हो शेर की माद की ओर वढे और त्रिपृष्ठ ने निर्भय सोये हुए शेर को ललकारा। सिह भी वार-वार की आवाज से क्रुद्ध हुआ और भयकर दहाड के साथ त्रिपृष्ठ पर झपटा। त्रिपृष्ठ ने विद्युत् वेग से लपक कर सिंह के दोनो जवड़ो को पकडकर आसानी से पुराने वांस की तरह उसे चीर डाला। सिंह मारे क्रोध और ग्लानि के तडप रहा था और विचार रहा था – "आज एक मानव-किशोर ने मुझे कैसे मार डाला?" सारथी ने शेर को आश्वस्त करते हुए कहा – "वनराज शोक न करो, जिस प्रकार तुम पशुओ में राजा हो उसी प्रकार यह तेजस्वी युवक भी मनुष्यो मे राजा है। तुम किसी छोटे व्यक्ति के हाथ से नही मारे गये हो।"

त्रिपृष्ठ द्वारा उस भय[illegible] और शक्तिशाली सिह के मारे जाने की खवर सुन कर अश्वग्रीव काप उठा अ[illegible]ानव [illegible]श्चय हो गया कि इसी कुमार के हाथो उसकी मृत्यु होगी।

पिता के आ[illegible]

[illegible]ीस लाख [illegible]

कुछ सोच विचार के वाद [illegible] एक उपाय सूझा कि इस वीरता के उपलक्ष मे पुरस्कार देने के वहाने [illegible]न दोनो कुमारो को यहा वुला कर छल-वल मे मरवा दिया जाय। अश्वग्रीव ने महाराज प्रजापति को सदेश भिजवाया – "आपके दोनो राजकुमारो ने जो वीरतापूर्ण कार्य किया है उसके लिये हम उनको पुरस्कृत और सम्मानित करना चाहते है, अत आप उन्हे यहां भिजवा दो।"

अश्वग्रीव के उपरोक्त सदेश के उत्तर मे त्रिपृष्ठ ने कहलवा भेजा – "जो राजा एक शेर को भी नही मार सका उससे हम किसी प्रकार का पुरस्कार लेने को तैयार नही हैं।"

कुमार त्रिपृष्ठ के इस उत्तर से अश्वग्रीव तिलमिला उठा और एक वडी चतुरंगिणी सेना लेकर उसने प्रजापति पर चढाई कर दी। वलदेव और त्रिपृष्ठ भी अपनी सेना के साथ रणांगण मे आ डटे। दोनो ओर की सेनाए भिड गई और वडा भीषण लोमहर्षक युद्ध हुआ।

उस समय त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव से कहलाया कि निरर्थक नर-सहार से तो यह अच्छा रहेगा कि हम दोनो आपस मे द्वन्द्वयुद्ध कर ले। अश्वग्रीव भी त्रिपृष्ठ के इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और दोनो मे भयकर द्वन्द्वयुद्ध चल पडा। अन्ततोगत्वा प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव, वासुदेव त्रिपृष्ठ द्वारा युद्ध मे मारा गया। इस प्रकार त्रिपृष्ठ अर्द्ध-भरत का अधिपति वासुदेव हो गया।

त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव के वीच का यह युद्ध भगवान् श्रेयासनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व हुआ था।

वासुदेव त्रिपृष्ठ के यहा किसी दिन कुछ संगीतज्ञ, जो अत्यन्त मधुर स्वर से सगीत प्रस्तुत करने मे दक्ष थे, आये। शयन का समय होने से त्रिपृष्ठ ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि जिस समय मुझे नीद आजाय, तत्काल संगीत वन्द करा देना।

सगीत की मधुर कर्णप्रिय ध्वनि की मस्ती मे भूलकर द्वारपाल ने त्रिपृष्ठ को निद्रा आजाने पर भी सगीत वन्द नही कराया। रात भर संगीत चलता रहा, सहसा त्रिपृष्ठ जाग उठे और क्रुद्ध होकर द्वारपाल से पूछा – "अरे! संगीत वन्द क्यो नही कराया?"

द्वारपाल ने कहा – "महाराज! सगीत मुझे इतना कर्णप्रिय लगा कि समय का कुछ भी ध्यान नही रहा।"

त्रिपृष्ठ ने क्रुद्ध हो अन्य सेवको को आदेश दिया कि शीशा गरम करके उसके कानो मे उडेल दिया जाय। राजाज्ञा को कौन टाले? द्वारपाल के कानो में गरम २ शीशा उडेल दिया गया और वह तड़प-तड़प कर मर गया।

इस तरह के क्रूर कर्मों से वासुदेव त्रिपृष्ठ ने घोर नरक-आयु का वन्ध कर लिया। क्रूर अध्यवसाय से उसका सम्यक्त्वभाव खंडित हो गया। ८४ लाख वर्ष की आयु भोगकर वह सातवी नरक का अधिकारी वना।

वलदेव अचल ने जव भाई का मरण सुना तो शोक से आकुल हो गये, विवेकी होकर भी अविवेकी की तरह करुण स्वर मे विलाप करने लगे। वार-वार उठने की आवाज देने पर भी त्रिपृष्ठ महानिद्रा से नही उठे तो अचल मूर्छित हो भूतल पर गिर पडे। कालान्तर मे मूर्छा दूर होने पर वृद्धजनो से प्रवोधित किये गये।

दुख मे वीतराग के चरण ही एकमात्र आधार होते हैं यह समझकर वलदेव भी प्रभु श्रेयासनाथ के चरणो का ध्यान कर और उनकी वाणी का स्मरण कर ससार की नश्वरता के बारे में सोचने लगे और सासारिक विषयों से पराग्मुख हो गये ।[1]

आखिर धर्मघोष आचार्य की वाणी सुनकर अचल विरक्त हुए और जिन-दीक्षा ग्रहण कर तप-सयम से सकल कर्मो को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये । इनकी ८५ लाख वर्ष की आयु थी ।

धर्म परिवार

श्रेयासनाथ के सघ में निम्न गण एव गणधरादि परिवार हुआ :-

गणधर	– छिहत्तर[2] (७६)
केवली	– छ हजार पाच सौ (६५००)
मनःपर्यवज्ञानी	– छ हजार (६०००)
अवधिज्ञानी	– छ हजार (६०००)
चौदह पूर्वधारी	– तेरह सौ (१३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– ग्यारह हजार (११०००)
वादी	– पाच हजार (५०००)
साधु	– चौरासी हजार (८४०००)
साध्वी	– एक लाख तीन हजार (१०३०००)
श्रावक	– दो लाख उन्यासी हजार (२७९०००)
श्राविका	– चार लाख अडतालीस हजार (४४८०००)

परिनिर्वाण

केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक भूमडल में विचर कर प्रभु ने लोगो को आत्मकल्याण की शिक्षा दी ।

फिर मोक्षकाल निकट समझकर एक हजार मुनियो के साथ अनशन स्वीकार किया और शुक्लध्यान के अन्तिम चरण मे अयोगीदशा को प्राप्त कर श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हुए । आपकी पूर्ण आयु चौरासी लाख वर्ष की थी ।

---

[1] श्रेयासस्वामिपादाना, स्मरन् श्रेयस्करी गिरम् ।
ससारासारता ध्यायन्, विषयेभ्यो पराग्मुख ॥ त्रि० ४।१।९०२॥

[2] कही पर ६६ का उल्लेख भी मिलता है ।

भगवान् श्री वासुपूज्य

श्रेयांसनाथ के बाद बारहवे तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी हुए।

पूर्वभव

इन्होने पुष्कर द्वीप के मगलावती विजय में पद्मोत्तर राजा के भव मे निरन्तर जिनशासन की भक्ति की। इनके मन मे सदा यही ध्यान रहता कि लक्ष्मी चपला की तरह चचल है और पुण्यबल अजलिगत जल की तरह नश्वर है, अत इस नाशवान् शरीर से अविनश्वर मोक्ष-पद की प्राप्ति करने मे ही जीवन का वास्तविक कल्याण है।

संयोगवश भावना के अनुरूप उनका वज्रनाभ गुरु के साथ समागम हुआ। उनके उपदेश से विरक्त होकर इन्होने सयम ग्रहण किया और तीव्र तप एवं अर्हद्-भक्ति आदि शुभ स्थानों की आराधना से तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया। अन्तिम समय शुभध्यान मे काल कर वे प्राणत स्वर्ग मे ऋद्धिमान् देव हुए।

जन्म

प्राणत स्वर्ग से निकल कर यही पद्मोत्तर का जीव तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ। भारत की प्रसिद्ध चम्पानगरी के प्रतापी राजा वसुपूज्य इनके पिता और जयादेवी माता थी।

ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र मे पद्मोत्तर का जीव स्वर्ग से निकलकर माता जया की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता जया ने चौदह महा शुभ-स्वप्न देखे जो महान् पुण्यात्मा के जन्म-सूचक थे। माता ने उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के शुभ योग मे सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

नामकरण

महाराज वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण आपका नाम वासुपूज्य रखा गया।

विवाह और राज्य

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार वासुपूज्य अविवाहित माने गये हैं, ऐसा ही जिनसेन आदि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का भी मन्तव्य है। हेमचन्द्र के अनुसार शैशवकाल पूर्ण होने पर भी जब वासुपूज्य शिशु की तरह भोग से सर्वथा विमुख दिखाई दिये, तब महाराज वसुपूज्य ने पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखते हुए पुत्र से अनुरोध की भाषा मे कहा – "कुमार! अब तुम्हे विवाह करना चाहिये। जैसे ऋषभ ने पितृवचन से सुनन्दा और सुमगला से पाणिग्रहण किया और अजितनाथ से श्रेयासनाथ तक के भूतकालीन तीर्थंकरो ने भी पिता के

अनुरोध से राज्य का उपभोग कर फिर मोक्ष-मार्ग का साधन किया। इसी प्रकार तुम्हे भी विवाह, राज्य, दीक्षा और तप साधन की पूर्व-परम्परा का पालन करना चाहिये। यही हमारी अभिलाषा है।"

पितृ-वचन को सुनकर वासुपूज्य ने सादर कहा – "तात ! पूर्व पुरुषो के पावन चरित्र को मैं भी जानता हू किन्तु सबके भोग्य-कर्म समान नही होते। उनके जैसे-जैसे कर्म और भोगफल अवशेष थे, वैसे मेरे भोग-कर्म अवशिष्ट नही है। साथ ही भविष्य मे भी मल्लिनाथ, नेमनाथ आदि तीर्थंकर भोग्य-कर्म अवशेष नही होने से विना विवाह के ही दीक्षित होगे, ऐसे मुझे भी अविवाहित रहकर दीक्षा-ग्रहण करना है। अत आप आज्ञा दीजिये जिससे मैं दीक्षित होकर स्व-पर का कल्याण कर सकू।"

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर विवाह और राज्य-ग्रहण किये विना ही इनके दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वासुपूज्य वालब्रह्मचारी रहे एव उन्होने न विवाह किया और न राज्य ही। किन्तु आचार्य शीलांक के "चउपन्न महापुरिस चरिय" मे दार-परिग्रह करने और कुछ काल राज्यपालन कर दीक्षित होने का उल्लेख है।[1]

वास्तव में तीर्थंकर की गृहचर्या भोग्यकर्म के अनुसार ही होती है, अतः उनका विवाहित होना या नही होना कोई विशेष अर्थ नही रखता। विवाह से तीर्थंकर की तीर्थकरता मे कोई बाधा नही आती।

दीक्षा और पारण

भोग्यकर्म क्षीण होने पर प्रभु ने लोकान्तिक देवों से प्रेरित होकर वर्षभर तक निरन्तर दान दिया, फिर अठारह लाख वर्ष पूर्ण होने पर छह सौ राजाओ के साथ चतुर्थ-भक्त से दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र मे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर श्रमणवृत्ति स्वीकार की।

दूसरे दिन महापुर मे जाकर राजा सुनन्द के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवो ने पच-दिव्य वरसा कर पारण की वडी महिमा की।

केवलज्ञान

दीक्षा लेकर भगवान् तपस्या करते हुए एक मास छद्मस्थचर्या मे विचरे और फिर उसी उद्यान मे आकर पाटला वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में चार घातिकर्मों का क्षय कर माघ शुक्ला द्वितीया को शतभिषा के योग में प्रभु ने चतुर्थ-भक्त (उपवास) से केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देव-असुर-मानवो की विशाल सभा में धर्म-देशना दी तथा क्षान्ति आदि दशविध धर्म का स्वरूप समझाकर चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

---

[1] तओ कुमारभावमणुवालिऊण किंचिकाल कयदारपरिग्गहो रायसिरिमणुवालिऊण
चउ० महापुरिस च० पृ० १०४।

विहार करते हुए जव प्रभु द्वारिका के निकट पधारे तो राजपुरुष ने वासुदेव द्विपृष्ठ को प्रभु के पधारने की शुभ-सूचना दी। भगवान् वासुपूज्य के पधारने की शुभ-सूचना की वधाई सुनाने के उपलक्ष मे वासुदेव ने उसको साढ़े वारह करोड़ मुद्राओ का प्रीतिदान दिया।

त्रिपृष्ठ के वाद ये इस समय के दूसरे वासुदेव होते हैं।

धर्म-परिवार

आपके सघ मे निम्न परिवार था :-

गण एवं गणधर	–	छासठ (६६)
केवली	–	छ हजार (६०००)
मन.पर्यवज्ञानी	–	छ हजार एक सौ (६१००)
अवधिज्ञानी	–	पाच हजार चार सौ (५४००)
चौदह पूर्वधारी	–	एक हजार दो सौ (१२००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	दश हजार (१००००)
वादी	–	चार हजार सात सौ (४७००)
साधु	–	वहत्तर हजार (७२०००)
साध्वी	–	एक लाख (१०००००)
श्रावक	–	दो लाख पन्द्रह हजार (२१५०००)
श्राविका	–	चार लाख छत्तीस हजार (४३६०००)

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

श्रेयासनाथ की तरह भगवान् वासुपूज्य का धर्मशासन भी सामन्य लोक-जीवन से लेकर राजघराने तक व्यापक हो चला था। छोटे-वड़े राजाओ के अतिरिक्त उस समय के अर्द्धचक्री (वासुदेव) द्विपृष्ठ और विजय वलदेव पर भी उनका विशिष्ट प्रभाव था।

प्रभु के पधारने की खवर सुनकर द्विपृष्ठ ने भी साढे वारह करोड़ मुद्राओ का प्रीतिदान किया और वासुपूज्य भगवान् की वीतरागमयी वाणी सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा विजय वलदेव ने श्रावकधर्म अगीकार किया। कालान्तर मे मुनि-धर्म स्वीकार कर विजय ने शिव-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

एक मास कम चौवन लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर प्रभु ने लाखो भव्य-जनों को धर्म का सदेश दिया। फिर मोक्ष-काल निकट जानकर चम्पा नगरी पधारे और छह सौ मुनियो के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण से अक्रिय होकर सम्पूर्ण कर्मो का क्षय किया एव आपाढ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे सिद्ध, वुद्ध एवं मुक्त होकर प्रभु ने निर्वाण-पद की प्राप्ति की।

भगवान् श्री विमलनाथ

भगवान् वासुपूज्य के वाद तेरहवें तीर्थंकर भगवान् श्री विमलनाथ हुए ।

पूर्वभव

तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन करने के लिये इन्होंने भी धातकीखण्ड की महापुरी नगरी मे राजा पद्मसेन के भव मे वैराग्य प्राप्त किया और जिनशासन की वडी सेवा की ।

मुनि सर्वगुप्त का उपदेश सुन कर ये विरक्त हुए और शिक्षा-दीक्षा लेकर निर्मलभाव से आपने सयम की आराधना की । वहा वीस स्थानो की आराधना कर इन्होने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर आठवे सहस्रार-कल्प मे ऋद्धिमान् देव रूप से उत्पन्न हुए ।

जन्म

सहस्रार देवलोक से निकल कर पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे माता श्यामा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ ।

इनकी जन्मभूमि कपिलपुर थी । विमल यशधारी महाराज कृतवर्मा इनके पिता थे और उनकी सुशीला पत्नी श्यामा आपकी माता थी । माता ने गर्भ धारण के पश्चात् मगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न देखे और उचित आहार-विहार से गर्भ-काल पूर्ण कर माघ शुक्ला तृतोया को उत्तराभाद्रपद मे चन्द्र का योग होने पर सुखपूर्वक सुवर्णकान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

देवो ने सुमेरु पर्वत की अतिपाडु-कम्बल शिला पर प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया । महाराज कृतवर्मा ने भी हृदय खोल कर पुत्रजन्म की खुशियां मनाईं ।

नामकरण

दश दिनो के आमोद-प्रमोद के पश्चात् महाराज कृतवर्मा ने नामकरण के लिये मित्रो व वान्धवजनो को एकत्र किया और वालक के गर्भ मे रहने के समय माता तन, मन से निर्मल वनी रही, अतः वालक का नाम विमलनाथ रखा ।[1]

विवाह और राज्य

एक हजार आठ लक्षण वाले विमलनाथ जव तरुण हुए तो भोगो मे रति नही होने पर भी मातापिता के आग्रह से प्रभु ने योग्य कन्याओ के साथ पाणि-ग्रहण लिया ।

---

[1] गर्भस्थे जननी तस्मिन् विमला यदजायत ।
ततो विमल इत्याख्या, तस्य चक्रे पिता स्वयम् ॥ त्रिप० ४।३।४८

पन्द्रह लाख वर्ष कुंवर-पद मे विता कर आप राज्य-पद पर आरूढ हुए और तीस लाख वर्ष तक प्रभु ने न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया ।

पैंतालीस लाख वर्ष के वाद जव भव-विपाकी कर्म को क्षीण हुआ समझा तव प्रभु ने भवजलतारिणी आर्हती दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की ।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवो द्वारा प्रार्थित प्रभु वर्ष भर तक कल्पवृक्ष की तरह याचको को इच्छानुसार दान देकर एक हजार राजाओ के संग दीक्षार्थ सहस्राम्र वन मे पधारे और माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे षष्ठभक्त की तपस्या से सव पाप-कर्मो का परित्याग कर दीक्षित हुए ।

दूसरे दिन धान्यकट पुर मे जाकर प्रभु ने महाराज जय के यहा परमान्न से पारणा किया ।

केवलज्ञान

पारणा करने के पश्चात् वहा से विहार कर दो वर्ष तक प्रभु विविध ग्राम नगरो मे परीषहों को समभाव से सहन करते हुए विचरते रहे ।

फिर दीक्षास्थल में पहुंच कर अपूर्वकरण गुणस्थान से क्षपक-श्रेणी मे आरूढ हुए और ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्मों का क्षय कर पौष शुक्ला षष्ठी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे वेले की तपस्या से प्रभु ने केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

केवलज्ञान के पश्चात् जव प्रभु विहार कर द्वारिका पधारे और समवसरण हुआ तव राजपुरुष ने तत्कालीन वासुदेव स्वयंभू को अर्हद्दर्शन की शुभ-सूचना दी । उन्होने भी प्रसन्न होकर साढे वारह करोड़ रौप्यमुद्राओं का प्रीतिदान देकर उसको सत्कृत किया और प्रभु की देशना सुनकर जहा हजारो नरनारियों ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया वहा वासुदेव ने भी सम्यक्त्व-धर्म स्वीकार किया । चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु ने भाव-तीर्थंकर का पद सुशोभित किया ।

धर्म परिवार

आपके संघ मे मन्दर आदि छप्पन गणधरादि सहित निम्न परिवार था :—

गण एवं गणधर	—	छप्पन (५६)
केवली	—	पाच हजार पांच सौ (५५००)
मन:पर्यवज्ञानी	—	पांच हजार पांच सौ (५५००)
अवधिज्ञानी	—	चार हजार आठ सौ (४८००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार एक सौ (११००)
वैक्रिय लब्धि-धारी	—	नौ हजार (९०००)
वादी	—	तीन हजार दो सौ (३२००)

साधु	–	अड़सठ हजार (६८०००)
साध्वी	–	एक लाख आठ सौ (१००८००)
श्रावक	–	दो लाख आठ हजार (२०८०००)
श्राविका	–	चार लाख चौबीस हजार(४२४०००)

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

तेरहवे तीर्थंकर भगवान् विमलनाथ के समय मे मेरक प्रतिवासुदेव और स्वयभू वासुदेव हुए।

विमलनाथ के धर्म-शासन का साधारण जन से लेकर लोकनायक-शासकों पर भी पूर्ण प्रभाव था। भगवान् विमलनाथ के समवसरण की वात जान कर वासुदेव स्वयभू भी अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्र वलदेव के साथ वन्दन करने गया और प्रभु की वाणी सुनकर स्वयभू ने सम्यक्त्व धारण किया और भद्र वलदेव ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

वासुदेव स्वयभू की मृत्यु के पश्चात् वलदेव भद्र ने विरक्त होकर मुनिधर्म ग्रहण किया और पैंसठ लाख वर्ष की आयु भोग कर अन्तिम समय की आराधना से मुक्ति प्राप्त की।

परिनिर्वाण

दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक केवली रूप से जन-जन को सत्य-मार्ग का उपदेश देकर जब प्रभु ने अपना आयुकाल निकट देखा तव छः सौ साधुओं के साथ प्रभु ने एक मास का अनशन किया और मास के अन्त मे शेष चार अघाति-कर्मों का क्षय कर आषाढ कृष्णा[1] सप्तमी को पुष्य नक्षत्र मे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपकी पूर्ण आयु साठ लाख वर्ष की थी।

---

[1] प्रवचन सारोद्धार, हरिवश पु. और तिलोयपन्नत्ति मे आषाढ कृष्णा ८ उल्लिखित है, जब कि सत्तरिसय द्वार की गाथा ३०९ से ३१० मे आषाढ कृष्णा ७।

भगवान् श्री अनन्तनाथ

भगवान् विमलनाथ के पश्चात् चौदहवे तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ हुए ।

पूर्वभव

इन्होने धातकीखण्ड की अरिष्टा नगरी मे महाराज पद्मरथ के भव मे तीर्थंकर-पद की साधना की । महाराज पद्मरथ वड़े शूरवीर और पराक्रमी राजा थे ।

विरोधी राजाओ और समस्त महिमडल को जीतकर भी मोक्ष-लक्ष्मी की साधना मे उन्होने उसको नगण्य समझा और कुछ समय वाद वैराग्यभाव से चित्तरक्ष गुरु के पास सयम ग्रहण कर तप-संयम की विशिष्ट साधना की और तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया ।

अन्त समय मे शुभ ध्यान से प्राण त्याग कर दसवे स्वर्ग के ऋद्धिमान् देव हुए ।

जन्म

अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन इनके पिता और महारानी सुयशा इनकी माता थी । श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र मे स्वर्ग से निकलकर पद्मरथ का जीव माता सुयशा की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । माता ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख कृष्णा त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र के योग मे माता सुयशा ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । देव, दानव और मानवो ने जन्म की खुशिया मनाईं ।

नामकरण

दश दिनो तक आमोद-प्रमोद मनाने के उपरान्त नामकरण करते समय महाराज सिंहसेन ने विचार किया "वालक की गर्भस्थावस्था में आक्रमणार्थ आये हुए अतीव उत्कट अपार शत्रु-सैन्य पर भी मैंने विजय प्राप्त की अत. इस वालक का नाम अनन्तनाथ रखा जाय ।[1] और इस विचार के अनुरूप ही प्रभु का नामकरण हुआ ।

विवाह और राज्य

चन्द्रकला की तरह वढते हुए प्रभु ने शैशवकाल के सात लाख पचास हजार वर्ष पूर्ण कर जव तारुण्य प्राप्त किया तव पिता सिंहसेन ने अत्याग्रह से

---

[1] (क) गर्भस्थेऽस्मिन् जित पित्रानन्त परवल यत ।
तत्श्चक्रेऽनन्तजिदित्याख्या परमेशितु ॥ त्रि०प० ४।४।४७

(ख) गब्भत्थे य भगवम्मि पिउणा 'अणत परवल जिय 'ति तओ
जहत्थ अणन्तइजिणो त्ति नाम कय भुवणगुरुणो ॥ च० महापुरसि चरिय, पृ १२६

योग्य कन्याओ के साथ आपका पाणिग्रहण करवाया और राज्य की व्यवस्था के लिये आपको राज्य-पद पर भी अभिषिक्त किया।

पन्द्रह लाख वर्ष तक समुचित रीति से राज्य का पालन कर जब आपने भोग्य-कर्म को क्षीण समझा तो मुनिव्रत ग्रहण करने का सकल्प किया।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवो की प्रेरणा से प्रभु ने वर्षीदान से याचको को इच्छानुकूल दान देकर वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके बेले की तपस्या थी।

दीक्षा के वाद दूसरे दिन वर्द्धमानपुर मे जाकर प्रभु ने विजय भूप के यहां परमान्न से पारणा किया।

केवलज्ञान

दीक्षित होने के वाद प्रभु तीन वर्ष तक छद्मस्थचर्या से ग्रामानुग्राम विचरते रहे फिर अवसर देख सहस्राम्र वन मे पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। क्षपक-श्रेणी से कषायो का उन्मूलन कर शुक्लध्यान के दूसरे चरण से प्रभु ने घाति-कर्मो का क्षय किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र मे अष्टभक्त-तपस्या से केवलज्ञान की उपलब्धि की।

केवली होकर देव-मानवो की सभा मे प्रभु ने धर्म-देशना दी और चतुर्विध सघ की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। द्वारिका के पास पहुचने पर तत्कालीन वासुदेव पुरुपोत्तम ने भी आपका उपदेश-श्रवण किया और सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

धर्म परिवार

भगवान् अनन्तनाथ के सघ मे निम्न धर्म-परिवार था :–

गण एव गणधर	–	पचास (५०)
केवली	–	पाच हजार (५०००)
मन:पर्यवज्ञानी[1]	–	पाच हजार (५०००)
अवधिज्ञानी	–	चार हजार तीन सौ (४३००)
चौदह पूर्वधारी	–	नौ सौ (९००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	आठ हजार (८०००)
वादी	–	तीन हजार दो सौ (३२००)
साधु	–	छासठ हजार (६६०००)
साध्वी	–	वासठ हजार (६२०००)
श्रावक	–	दो लाख छ हजार (२०६०००)
श्राविका	–	चार लाख चौदह हजार (४१४०००)

[1] हेमचन्द्राचार्य ने त्रि० शलाका पुरु० च० मे ४५०० मन:पर्यवज्ञानी लिखे है।

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

चौदहवें तीर्थंकर भगवान् अनन्तनाथ के समय में भी पुरुषोत्तम नाम के वासुदेव और सुप्रभ नाम के बलदेव हुए।

भगवान् के निर्मल ज्ञान की महिमा से प्रभावित होकर पुरुषोत्तम भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ इनके वन्दन को गया और भगवान् की अमृतमयी वाणी से अपने मन को निर्मल कर उसने सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

बलदेव सुप्रभ ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और भाई की मृत्यु के पश्चात् ससार की मोह-माया से विरक्त हो मुनि-धर्म ग्रहण कर अन्त में मुक्ति-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

तीन वर्ष कम सात लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर जब मोक्ष-काल निकट समझा तब प्रभु ने एक हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला पचमी को रेवती नक्षत्र में तीस लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर, सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

भगवान् श्री धर्मनाथ

भगवान् अनन्तनाथ के पश्चात् पन्द्रहवे तीर्थंकर श्री धर्मनाथ हुए ।

पूर्वभव

एक समय धातकीखण्ड के पूर्व-विदेह मे स्थित भद्दिलपुर के महाराज सिंहरथ प्रवल पराक्रमी और विशाल साम्राज्य के अधिपति होकर भी धर्म में वड़े दृढप्रतिज्ञ थे। नित्यानन्द की खोज मे उन्होने ससार के सभी सुखो को नीरस समझ कर निस्पृह-भाव से इन्द्रिय-सुखो का परित्याग कर विमलवाहन मुनि के पास दुर्लभतम चारित्रधर्म को स्वीकार किया एव तप-सयम की साधना करते हुए तीर्थंकर-नामकर्म की योग्यता प्राप्त की ।

समता को उन्होने योग की माता और तितिक्षा को जीवन-सहचरी सखी माना। दीर्घकाल की साधना के बाद समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए। यही सिंहरथ का जीव आगे चल कर धर्मनाथ तीर्थंकर हुआ ।

जन्म

सिंहरथ का जीव वैजयन्त विमान से च्यवन कर वैशाख शुक्ला सप्तमी[1] को पुष्य नक्षत्र मे रत्नपुर के महाप्रतापी महाराज भानु की महारानी सुव्रता के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महारानी सुव्रता तीर्थंकर के जन्म-सूचक चौदह महामगलकारी शुभ-स्वप्न देखकर हर्षविभोर हो गई ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र के योग मे माता सुव्रता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवेन्द्रों और महाराज भानु ने वड़े ही हर्षोल्लास के साथ भगवान् धर्मनाथ का जन्म-महोत्सव मनाया ।

नामकरण

वारहवे दिन सव लोग नामकरण के लिये एकत्रित हुए। महाराज दृढ़रथ ने सवको सवोधित करते हुए कहा – "वालक के गर्भ मे रहते माता को धर्म-साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे और उसकी भावना सदा धर्ममय रही अत वालक का नाम धर्मनाथ रखा जाता है ।"[2]

---

[1] अण्णया वइसाइसुद्धपचमीए पूसजोगम्मि ...वेजयन्तविमाणाओ चविऊण सुव्वयाए कुच्छिसि समुप्पण्णो [चउ० म० पु० च०, पृ० १३३]

[2] (क) गर्भस्थेऽस्मिन् धर्मविधौ, यन्मातुर्दोहदोऽभवत् ।
तेनास्य धर्म इत्याख्यामकार्षीत् भानुभूपति ॥ त्रि० ४।५।४६॥

(ख) "भगवम्मि गब्भत्थे' अतीव जणणीए धम्मकरणदोहलो आसि त्ति तओ धम्मो त्ति नाम कय तिहुयणगुरुणो । च० महा पु० च० पृ० १३३

(ग) अम्मा पितरो सावग धम्मे भुज्जो चुक्के खलति, उववण्णे दढव्वताणि ॥
[आ चू, पूर्व. भा, पृ. ११]

विवाह और राज्य

देव-कुमारो के साथ क्रीडा करते हुए प्रभु ने शैशवकाल पूर्ण किया। फिर पिता की चिरकालीन अभिलाषा को पूर्ण करने और भोग्य-कर्म को चुकाने के लिये पाणिग्रहण किया।

दो लाख पचास हजार वर्ष के वाद पिता के अनुरोध से आपने राज्यभार ग्रहण किया और पाच लाख वर्ष तक भलीभाति पृथ्वी का पालन करने के पश्चात् आप भोग्य-कर्म को हल्का हुआ जान कर दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों ने प्रार्थना की – "भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।"

उनकी विज्ञप्ति से वर्ष भर तक दान देकर नागदत्ता शिविका से प्रभु नगर के वाहर उद्यान मे पहुचे और एक हजार राजाओ के साथ वेले की तपस्या से माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र मे सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर आपने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन सौमनस नगर में जाकर धर्मसिह राजा के यहा प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवो ने पच-दिव्य वरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

विभिन्न प्रकार के तप-नियमो के साथ परीषहो को सहते हुए प्रभु दो वर्ष तक छद्मस्थचर्या से विचरे, फिर दीक्षा-स्थान मे पहुचे और दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण करते हुए पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान् धर्मनाथ ने पुष्य नक्षत्र मे ज्ञानावरणादि घाति-कर्मो का सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली वनकर देवासुर-मनुजो की विशाल सभा मे देशना देते हुए प्रभु ने कहा – "मानवो ! वाहरी शत्रुओ से लड़ना छोड़कर अपने अन्तर के विकारो से युद्ध करो। तन, धन और इन्द्रियो का दास वनकर आत्मगुण की हानि करने वाला नादान है। नाशवान् पदार्थो मे प्रीति कर अनन्तकाल से भटक रहे हो, अव भी अपने स्वरूप को समझो और भोगो से विरत हो सहजानन्द के भागी वनो।"

प्रभु का इस प्रकार का उपदेश सुनकर हजारो नर-नारियो ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया। वासुदेव पुरुषसिंह और वलदेव सुदर्शन भी भगवान् के उपदेश से सम्यग्-दृष्टि वने। चतुर्विध सघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये।

भगवान् धर्मनाथ के शासन के तेजस्वी रत्न

भगवान् धर्मनाथ के केवलज्ञान की महिमा सुनकर वासुदेव पुरुषसिह और वलदेव सुदर्शन भी प्रभावित हुए।

प्रतिवासुदेव निशुभ को मार कर पुरुषसिह त्रिखण्डाधिपति बन चुका था। भगवान् के अश्वपुर पधारने पर बलदेव सुदर्शन और पुरुषसिंह भी वदन को गये। प्रभु की वाणी सुनकर बलदेव व्रतधारी श्रावक बने और पुरुषसिंह वासुदेव सम्यग्दृष्टि।

महारंभी होने से पुरुषसिंह मर कर छट्ठी नरकभूमि मे गया और बलदेव भ्रातृवियोग से विरक्त होकर संयमी बन गये। तप-संयम की सम्यग् आराधना कर वे मुक्ति के अधिकारी बने। यह भगवान् धर्मनाथ के उपदेश का ही फल था।

वासुदेव की तरह भगवान् के शासन मे चक्रवर्ती भी उनकी उपासना करते। चक्री मघवा और सनत्कुमार जैसे बल-रूप और ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् भी त्याग-मार्ग की शरण लेकर मोक्ष-मार्ग के अधिकारी हो गये। ये दोनो चक्रवर्ती पन्द्रहवे तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ और सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ के अन्तराल-काल मे अर्थात् भगवान् धर्मनाथ के शासनकाल मे हुए। उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् तीसरे चक्रवर्ती मघवा हुए। सावत्थी नगरी के महाराज समुद्रविजय की पतिव्रता देवी भद्रा से मघवा का जन्म हुआ, माता ने चौदह शुभ-स्वप्नो मे इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र के होने की बात जान कर बालक का नाम मघवा रखा।

समुद्रविजय के बाद वह राज्य का सचालन करने लगे। आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर षट्खण्ड की साधना कर चक्रवर्ती बने। भोग की विपुल सामग्री पाकर भी आप उसमे आसक्त नही हुए अपितु अपनी धर्मकरणी में वृद्धि करते रहे। अन्त मे सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर चारित्रधर्म स्वीकार किया और समाधिभाव मे काल कर तीसरे देवलोक मे महर्द्धिक देव हुए।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार भी भगवान् धर्मनाथ के शासन मे हुए। आप अतिशय रूपवान् और शक्तिसम्पन्न थे। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे हस्तिनापुर नगर के शासक महाराज अश्वसेन शील, शौर्य आदि गुणसम्पन्न थे। उनकी धर्मशीला रानी सहदेवी की कुक्षि मे एक स्वर्गीय जीव उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे और स्वप्नो का शुभ फल जानकर प्रसन्न हुई एव समय पर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। स्वर्ण के समान कान्ति वाले पुत्र को देखकर बालक का नाम सनत्कुमार रखा।

सनत्कुमार ने बडे होकर विविध कलाओ का ज्ञान प्राप्त किया। उसका एक मित्र महेन्द्रसिंह था जो बहुत ही पराक्रमी और गुणवान् था। एक दिन राजकुमार ने महाराज अश्वसेन को भेट मे प्राप्त हुए उत्तम जाति के घोड़े देखे और उनमे जो सर्वोत्तम घोडा था, उसकी लगाम पकड़ कर सनत्कुमार उस पर आरूढ़ हो गया। सनत्कुमार के आरूढ होते ही घोडा वायुवेग से उड़ता सा बढ़ चला। कुमार ने लगाम खीचकर घोड़े को रोकने का भरसक प्रयत्न किया पर

ज्यो-ज्यो कुमार ने घोडे को रोकने का प्रयास किया, त्यो-त्यो घोडे की गति वढती ही गई।

महेन्द्रसिंह आदि सव साथी पीछे रह गये और सनत्कुमार अदृश्य होगया। राजा अश्वसेन, अपने पुत्र सनत्कुमार के अदृश्य होने की वात सुनकर वडे चिन्तित हुए और स्वय उसकी खोज करने लगे। आधी के कारण मार्ग के चरण-चिह्न भी मिट गये थे।

महेन्द्रसिंह ने महाराज अश्वसेन को किसी तरह पीछे लौटाया और स्वयं एकाकी ही कुमार को खोजने की धुन मे निकल पडा। इस प्रकार खोज करते-करते लगभग एक वर्ष वीत गया पर राजकुमार का कही पता नही लगा।

सनत्कुमार की खोज मे विविध स्थानो और वनो मे घूमते-घूमते महेन्द्र-सिंह ने एक दिन किसी एक जगल में हंस, सारस, मयूरादि पक्षियो की आवाज सुनी और शीतल-सुगन्धित वायु के झोके उस दिशा से आ आकर उसका स्पर्श करने लगे तो वह कुछ आशान्वित हो उस दिशा की ओर आगे वढ़ा।

कुछ दूर जाकर उसने देखा कि कुछ रमणिया मधुर-ध्वनि के साथ आमोद-प्रमोद कर रही हैं। उन रमणियो के मध्य में एक परिचित युवा को देखकर ज्योंही वह आगे वढ़ा तो अपने चिरप्रतीक्षित सखा सनत्कुमार से उसका साक्षात्कार हो गया। दोनो एक-दूसरे को देखकर हर्षविभोर होगये। पारस्परिक कुशलवृत्त पूछने के पश्चात् महेन्द्र ने सनत्कुमार के साथ वीती सारी वात जाननी चाही। राजकुमार ने कहा—"मैं स्वयं कहूं इसकी अपेक्षा विद्याधर-कन्या वकुलमति से सुनेंगे तो अधिक अच्छा रहेगा।"

वकुलमति ने सनत्कुमार के शौर्य की कहानी सुनाते हुए वताया कि किस प्रकार आर्य-पुत्र ने यक्ष की दानवी शक्तियो से लोहा लेकर विजय पाई और किस प्रकार वे सव उनकी (सनत्कुमार की) अनुचरिया वन गईं।

सनत्कुमार की गौरवगाथा सुनकर महेन्द्रसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तदनन्तर उसने राजकुमार को माता-पिता की स्मृति दिलाई। फलस्वरूप राज-कुमार अपने परिवार-सहित हस्तिनापुर की ओर चल पडे। कुमार के आगमन का समाचार सुनकर महाराज अश्वसेन के हर्ष का पारावार नही रहा, उन्होने वड़े उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश कराया और पुत्र के शौर्यातिरेक को देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया और महेन्द्रसिंह को सेनापति वनाकर स्वयं भगवान् धर्मनाथ के शासन मे स्थविर मुनि के पास दीक्षित हो गये।

न्याय-नीति के साथ राज्य का संचालन करते हुए सनत्कुमार की पुण्य-कला चतुर्मुखी हो चमक उठी। उनकी आयुधशाला मे चक्ररत्न प्रकट हुआ तव पट्खण्ड की साधना कर उन्होंने चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया।

सनत्कुमार की रूपसपदा इतनी अद्भुत थी कि स्वर्ग मे भी उनकी प्रशंसा होने लगी। एक वार सौधर्म देवलोक मे दूसरे स्वर्ग का एक देव आया तो उसके

रूप से वहा के सारे देव चकित हो गये। उन्होने कालान्तर में इन्द्र से पूछा – "इसका रूप इतना अलौकिक कैसे है ?"

इन्द्र ने कहा – "इसने पूर्वजन्म मे आयविल-वर्द्धमान तप किया था। उसका यह आशिक फल है।"

देवो ने पूछा – "क्या ऐसा दिव्य रूप कोई मनुष्य भी पा सकता है ?"

इन्द्र ने कहा – "भरतक्षेत्र मे सनत्कुमार चक्री ऐसे ही विशिष्ट रूप वाले हैं।"

इन्द्र की वात सव देवो ने मान्य की, पर दो देवो ने नही माना। वे ब्राह्मण का रूप वनाकर आये और उन्होने द्वारपाल से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की उत्कठा व्यक्त की।

उस समय सनत्कुमार स्नान-पीठ पर खुले वदन नहाने बैठे थे, ब्राह्मणो की प्रवल इच्छा जानकर चक्री ने कहा – "आने दो।" ब्राह्मण आये और सनत्कुमार का रूप-लावण्य देखकर चकित हो गये।

चक्री ने कहा – "अभी क्या देख रहे हो ? स्नान के पश्चात् जव वस्त्राभूषणो से सुसज्जित हो सभा मे वैठूं तव देखना।"

ब्राह्मणो ने कहा – "जैसी आज्ञा।"

कुछ ही समय मे स्नानादि से निवृत्त हो महाराज कल्पवृक्ष की तरह अलंकृत-विभूषित हो, राजसभा मे आये, उस समय उन दोनो ब्राह्मणों को भी वुलाया गया।

ब्राह्मणो ने देखा तो शरीर का रग वदल गया था। वे मन ही मन खेद करने लगे।

चक्रवर्ती ने पूछा – "चिन्तित क्यो हैं ?"

ब्राह्मण वोले – "राजन् ! शरीर व्याधिमदिर" आपके सुन्दर शरीर मे कीडे उत्पन्न हो गये है।"

शरीर की इस नश्वरता से सनत्कुमार सभल गये और विरक्त हो सम्पूर्ण आरभ-परिग्रह का त्यागकर मुनि वन गये। दीक्षित होकर वे निरन्तर वेले-बेले की तपस्या करने लगे, रोग आदि प्रतिकूल परीपहो मे भी विचलित नही हुए। दीर्घकाल की इस कठिन तपस्या एव साधना से उनको अनेक लब्धिया प्राप्त हो गई।

एक वार पुन: स्वर्ग मे उनकी प्रशसा हुई और देव उनके धैर्य की परीक्षा करने आया।

देव वैद्य का रूप वनाकर आया और आवाज लगाते हुए मुनि के पास से निकला – "लो दवा, लो दवा। रोग मिटाऊं।"

मुनि ने कहा – "वैद्य ! कौनसा रोग मिटाते हो ? भाव-रोग ग्रहण की सकते हो तो करो, द्रव्य-रोग की क्या चिन्ता, उसकी दवा तो मेरे पास भी है।"

यो कहकर मुनि ने रक्तश्राव से गलित अगुली के थूक लगाया और तत्काल ही वह अंगुली कचन के समान हो गई।

देव भी चकित एवं लज्जित हो मुनि के चरणो मे नतमस्तक हो वार-वार क्षमायाचना करते हुए अपने स्थान को चला गया।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् धर्मनाथ का प्रवचन देश मे सर्वत्र जनमानस मे घर किये हुए था और सबके लिये आदरणीय वना हुआ था।

महामुनि सनत्कुमार एक लाख वर्ष तक सयम का पालन कर, अन्त समय की आराधना से तीसरे देवलोक मे महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए।

धर्म परिवार

भगवान् धर्मनाथ के सघ मे निम्न परिवार था –

गणधर	– तयालीस (४३) अरिष्ट आदि
केवली	– चार हजार पाच सौ (४,५००)
मन पर्यवज्ञानी	– चार हजार पाच सौ (४,५००)
अवधिज्ञानी	– तीन हजार छ सौ (३,६००)
चौदह पूर्वधारी	– नौ सौ (९००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– सात हजार (७,०००)
वादी	– दो हजार आठ सौ (२,८००)
साधु	– चौसठ हजार (६४,०००)
साध्वी	– वासठ हजार चार सौ (६२,४००)
श्रावक	– दो लाख चवालीस हजार (२,४४,०००)
श्राविका	– चार लाख तेरह हजार (४,१३,०००)

परिनिर्वाण

दो कम ढाई लाख वर्ष तक केवली-पर्याय मे विचरकर प्रभु ने लाखो जीवो का उद्धार किया।

फिर प्रभु ने अपना मोक्षकाल निकट देखकर आठ सौ मुनियो के साथ सम्मेत-शिखर पर एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को पुष्य नक्षत्र मे अयोगी-भाव मे स्थित हो, सकल कर्मो का क्षय कर दस लाख वर्ष की आयु मे सिद्ध, वुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री शान्तिनाथ

भगवान् धर्मनाथ के वाद सोलहवे तीर्थकर श्री शान्तिनाथ हुए। इनका जीवन वडा प्रभावशाली और लोकोपकारी था। इन्होने अनेक भवो से तीर्थकर-पद की योग्यता सम्पादित की। इनके श्रीषेण, युगलिक आदि के भवो मे से यहा वज्रायुध के भव से सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह के मगलावती-विजय मे रत्नसचया नाम की नगरी थी। रत्नसचया के महाराज क्षेमकर की रानी रत्नमाला से वज्रायुध का जन्म हुआ।

वडे होने पर लक्ष्मीवती देवी से उनका विवाह हुआ और उससे उत्पन्न सतान का नाम सहस्रायुध रखा गया।

किसी समय स्वर्ग मे इन्द्र ने देवगण के समक्ष वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशसा की। देवगण द्वारा उसे स्वीकार करने के वाद भी चित्रचूल नाम के एक देव ने कहा, – "मैं परीक्षा के बिना ऐसी वात नही मानता।"

ऐसा कहकर वह क्षेमंकर राजा की सभा मे आया और वोला – "ससार मे आत्मा, परलोक और पुण्य-पाप आदि कुछ नही हैं। लोग अन्धविश्वास मे व्यर्थ ही कष्ट पाते है।"

देव की बात का प्रतिवाद करते हुए वज्रायुध वोला – "आयुष्मन्! आपको जो दिव्य-पद और वैभव मिला है, अवधिज्ञान से देखने पर पता चलेगा कि पूर्व-जन्म मे यदि आपने विशिष्ट कर्त्तव्य नही किया होता तो यह दिव्य-भव आपको नही मिलता। पुण्य-पाप और परलोक नही होते तो आपको वर्तमान की ऋद्धि प्राप्त नही होती।"

वज्रायुध की वात से देव निरुत्तर हो गया और उसकी दृढता से प्रसन्न होकर वोला – "मैं तुम्हारी दृढ सम्यक्त्वनिष्ठा से प्रसन्न हू, अतः जो चाहो सो मागो।"

वज्रायुध ने निस्पृहभाव से कहा – 'मै तो इतना ही चाहता हू कि तुम सम्यक्त्व का पालन करो।"

वज्रायुध की नि स्वार्थ-वृत्ति से देव वहुत प्रसन्न हुआ और दिव्य-अलकार भेट कर वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशसा करते हुए चला गया।

किसी समय वज्रायुध के पूर्वभव के शत्रु एक देव ने उनको क्रीडा मे देख कर ऊपर से पर्वत गिराया और उन्हे नाग-पाश मे वाध लिया परन्तु प्रवल-पराक्रमी वज्रायुध ने वज्रऋषभ-नाराच-सहनन के कारण एक ही मुष्टि-प्रहार से पर्वत के टुकडे-टुकडे कर दिये और नागपाश को भी तोड फेंका।

कालान्तर मे राजा क्षेमकर ने वज्रायुध को राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। इधर भावी-तीर्थकर वज्रायुध ने आयुधशाला मे चक्र-रत्न के उत्पन्न होने पर छ खण्ड पृथ्वी को जीत कर सार्वभौम सम्राट् का पद प्राप्त किया और सहस्रायुध को युवराज बनाया।

एक बार जब वज्रायुध राज-सभा मे बैठे हुए थे कि "बचाओ, बचाओ" की पुकार करता हुआ एक विद्याधर वहां आया और राजा के चरणो मे गिर पडा।

शरणागत जानकर वज्रायुध ने उसे आश्वस्त किया। कुछ समय बाद ही शस्त्र हाथ मे लिये एक विद्याधरदम्पति आया तथा अपने अपराधी को मागने लगा और कहा – "महाराज! इसने हमारी पुत्री को विद्या-साधन करते समय उठाकर आकाश मे ले जाने का अपराध किया है, अत इसको हमें सौंपिये, हम इसे दण्ड देंगे।"

वज्रायुध ने उनको पूर्वजन्म की बात सुनाकर उपशान्त किया और स्वय भी पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। वे संयम-साधना के पश्चात् पादोपगमन सथारा कर आयु का अन्त होने पर ग्रैवेयक मे देव हुए।

ग्रैवेयक से निकलकर वज्रायुध का जीव पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ के यहा रानी प्रियमती की कुक्षि मे पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम मेघरथ रखा गया।

महाराज घनरथ की दूसरी रानी मनोरमा से दृढरथ का जन्म हुआ। युवा होने पर सुमदिरपुर के राजा की कन्या के साथ मेघरथ का विवाह हुआ। मेघरथ महान् पराक्रमी होकर भी बडे दयालु और साहसी थे।

महाराज घनरथ ने मेघरथ को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। मेघरथ राजा बन गया फिर भी धर्म को नही भूला। एक दिन व्रत ग्रहण कर वह पौषधशाला मे बैठा था कि एक कबूतर आकर उसकी गोद मे गिर गया और भय से कपित हो अभय की याचना करने लगा।[1] राजा ने स्नेहपूर्वक उसकी पीठ पर हाथ फेरा और उसे निर्भय रहने को आश्वस्त किया।

इतने मे ही वहा एक बाज आया और राजा से कबूतर की माग करने लगा। राजा ने शरणागत को लौटाने मे अपनी असमर्थता प्रकट की तथा बाज से कहा–"खाने के लिये तू दूसरी वस्तु से भी अपना पेट भर सकता है फिर इसको मार कर क्या पायेगा? इसको भी प्राण अपने समान ही प्रिय है।"

इस पर बाज ने कहा – "महाराज! एक को मार कर दूसरे को बचाना, यह कहां का न्याय व धर्म है? कबूतर के ताजे मास के बिना मैं जीवित नही रह सकता, आप धर्मात्मा हैं तो दोनो को बचाइये।"

---

[1] एयम्मि देसयाले, भीओ पारेवओ थरथरेंतो।
पोसहमालमइगओ, 'राय! सरण ति सरण' ति॥
[वसुदेव हिण्डी, द्वि० खण्ड, पृ ३३७]

यह सुनकर मेघरथ ने कहा – "यदि ऐसा ही है तो मैं अपना ताजा मास तुम्हे देता हू, लो इसे खाओ और असहाय कबूतर को छोड दो।"

बाज ने राजा की बात मान ली। तराजू मगाकर राजा ने एक पलडे मे कबूतर को रखा और दूसरे मे अपने शरीर का मास काट-काट कर रखने लगे। राजा के इस अद्भुत साहस को देख कर पुरजन और अधिकारीवर्ग स्तब्ध रह गये, राज परिवार मे शोक का वातावरण छा गया। शरीर का एक-एक अग चढाने पर भी जब उसका भार कबूतर के भार के बराबर नही हुआ तो राजा स्वय सहर्ष तराजू पर बैठ गया।

बाज रूप मे देव, राजा की इस अविचल-श्रद्धा और अपूर्व-त्याग को देख कर मुग्ध हो गया और दिव्य-रूप से उपस्थित होकर मेघरथ के करुणाभाव की प्रशसा करते हुए बोला – "धन्य है महाराज मेघरथ को। मैंने इन्द्र की बात पर विश्वास न करके आपको जो कष्ट दिया, एतदर्थ क्षमा चाहता हू। आपकी श्रद्धा सचमुच अनुकरणीय है।" यह कह कर देव चला गया।[1]

कुछ समय बाद मेघरथ ने पौषधशाला मे पुन: अष्टम-तप किया। उस समय राजा ने जीव-दया के उत्कृष्ट अध्यवसायो मे महान् पुण्य-सचय किया।

ईशानेन्द्र ने स्वर्ग से नमन कर इनकी प्रशसा की किन्तु इन्द्राणियो को विश्वास नही हुआ। उन्होने आकर मेघरथ को ध्यान से विचलित करने के लिये विविध परीषह दिये परन्तु राजा का ध्यान चचल नही हुआ। सूर्योदय होते-होते देविया अपनी हार मानती हुई राजा को नमस्कार कर चली गई।

प्रात काल राजा मेघरथ ने दीक्षा लेने का संकल्प किया और अपने पुत्र को राज्य देकर महामुनि घनरथ के पास अनेक साथियो के सग दीक्षा ले ली। प्राणि-दया से प्रकृष्ट-पुण्य का सचय किया ही था फिर तप, सयम की आराधना से उन्होने महती कर्म-निर्जरा की और तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन कर लिया।

अन्त-समय अनशन की आराधना कर सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न हुए तथा वहा तेतीस सागर की आयु प्राप्त की।

जन्म

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र के शुभ योग मे मेघरथ का जीव सर्वार्थसिद्ध-विमान से च्यव कर हस्तिनापुर के महाराज विश्वसेन की महारानी अचिरा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। माता ने गर्भधारण कर उसी रात मे मगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न भी देखे। उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र मे मध्यरात्रि के समय माता

---

[1] आचार्य शीलाक के अनुसार वज्रायुध ने पारावत की रक्षा करने को पौषधशाला मे अपना मास काटकर देना स्वीकार किया तो देव उनकी दृढता देख प्रसन्न हो चला गया। [चउ म पु च, पृ १४६]

ने सुखपूर्वक काचनवर्णीय पुत्ररत्न को जन्म दिया। इनके जन्म से सम्पूर्ण लोक मे उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी क्षणभर के लिये विराम मिला। महाराज ने अनुपम आमोद-प्रमोद के साथ जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

शान्तिनाथ के जन्म मे पूर्व हस्तिनापुर नगर एवं देश मे कुछ काल से महामारी का रोग चल रहा था। प्रकृति के इस प्रकोप मे लोग भयाक्रान्त थे। माता अचिरादेवी भी इस रोग के प्रसार से चिन्तित थी।

प्रभु का माता अचिरादेवी के गर्भ मे आगमन होते ही महामारी का भयकर प्रकोप शान्त हो गया अत. नामकरण-संस्कार के समय आपका नाम शान्तिनाथ रखा गया।[1]

विवाह और राज्य

द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढते हुए कुमार शान्तिनाथ जब पचीस हजार वर्ष के हो युवावस्था मे आये तो पिता महाराज विश्वसेन ने अनेक राजकन्याओं के साथ इनका विवाह करा दिया[2] और कुछ काल के बाद शान्तिनाथ को राज्य देकर स्वय महाराज विश्वसेन ने आत्मशुद्ध्यर्थ मुनिव्रत स्वीकार किया।

अब शान्तिनाथ राजा हो गये। उन्होंने देखा कि अभी भोग्य-कर्म अवशेष है। इसी बीच महारानी यशोमती से उनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जो कि दृढ़रथ का जीव था। पुत्र का नाम चक्रायुध रखा गया। पचीस हजार वर्ष तक माडलिक राजा के पद पर रहते हुए आयुधशाला मे चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर उसके प्रभाव से शान्तिनाथ ने षटखण्ड पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया और पचीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से सम्पूर्ण भारतवर्ष का शासन किया। जब भोग्य-कर्म क्षीण हुए तो उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा की।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवो से प्रेरित होकर प्रभु ने वर्ष भर याचको को इच्छानुसार दान दिया और एक हजार राजाओ के साथ छट्ठ-भक्त की तपस्या से ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को भरणी नक्षत्र मे दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। देव-मानव-वृन्द से घिरे हुए प्रभु सहस्राम्र वन मे पहुँचे और वहा सिद्ध की साक्षी से सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन मदिरपुर मे जाकर महाराज सुमित्र के यहा परमान्न से आपने प्रथम पारणा किया। पचदिव्य बरसा कर देवो ने दान की महिमा प्रकट की।

---

[1] गब्भत्थेण य भगवया सव्वदेसे संतीसमुप्पण्णा त्ति काऊण सन्तितिणाम अम्मापितीहिं कय॥ च म पु च. पृ १५०

[2] ततो सो जोव्वणं पत्तो पणुवीसवाससहस्साणी कुमारकाल गमेइ।
[वसुदेव हिण्डी दूसरा भाग पृष्ठ ३४०]

वहा से विहार कर वर्ष भर तक आप विविध प्रकार की तपस्या करते हुए छद्मस्थ-रूप से विचरे ।

केवलज्ञान

एक वर्ष वाद फिर हस्तिनापुर के सहस्राम्र उद्यान मे आकर आप ध्यानावस्थित हो गये । आपने शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर सम्पूर्ण घाति-कर्मो का क्षय किया और पौप शुक्ला नवमी को भरणी नक्षत्र मे केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

केवली होकर प्रभु ने देव-मानवो की विशाल सभा मे धर्म-देशना देते हुए समझाया – "ससार के सारभूत षट्-द्रव्यो मे आत्मा ही सर्वोच्च और प्रमुख है । जिस कार्य से आत्मा का उत्थान हो वही उत्तम और श्रेयस्कर है । मानव-जन्म पाकर जिसने कल्याण-साधन नही किया उसका जीवन अजा-गल-स्तन की तरह व्यर्थ एव निष्फल है ।"

धर्म-देशना सुन कर हजारो नर-नारियो ने सयम-धर्म स्वीकार किया । चतुर्विध-सघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये ।

धर्म परिवार

भगवान् शान्तिनाथ का धर्म-परिवार निम्न प्रकार था –

गण एव गणधर[1]	– छत्तीस (३६)
केवली	– चार हजार तीन सौ (४,३००)
मन पर्यवज्ञानी	– चार हजार (४,०००)
अवधिज्ञानी	– तीन हजार (३,०००)
चौदह पूर्वधारी	– आठ सौ (८००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– छ हजार (६,०००)
वादी	– दो हजार चार सौ (२,४००)
साधु	– बासठ हजार (६२,०००)
साध्वी	– इकसठ हजार छ सौ (६१,६००)
श्रावक	– दो लाख नब्बे हजार (२,९०,०००)
श्राविका	– तीन लाख तिरानवे हजार (३,९३,०००)

परिनिर्वाण

प्रभु ने एक वर्ष कम पचीस हजार वर्ष केवली-पर्याय मे विचर कर लाखो लोगो को कल्याण का सदेश दिया । फिर अन्तकाल समीप जानकर उन्होने नौ सौ साधुओ के साथ एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र मे चार अघाति-कर्मो का क्षय कर सम्मेत-शिखर पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया । आपकी पूर्ण आयु एक लाख वर्ष की थी ।

---

[1] (क) आवश्यक नि० दीपिका प्र० भा०, पृ० ६७ (१), गा० २६७
(ख) समवायाग, समवाय ९ मे ९० गणधर होने का उल्लेख है ।

भगवान् श्री कुंथुनाथ

भगवान् श्री शान्तिनाथ के वाद सत्रहवे तीर्थंकर श्री कुथुनाथ हुए ।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह की खड् गी नगरी के महाराज सिहावह ससार से विरक्ति होने के कारण संवराचार्य के पास दीक्षित हुए और अर्हद्-भक्ति आदि विशिष्ट स्थानो की आराधना कर उन्होने तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन किया ।

अन्तिम समय मे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सिहावह सर्वार्थसिद्ध विमान मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

जन्म

सर्वार्थसिद्ध विमान से निकल कर सिहावह का जीव हस्तिनापुर के महाराज वसु की धर्मपत्नी महारानी श्रीदेवी की कुक्षि मे श्रावण वदी नवमी को कृत्तिका नक्षत्र मे गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि को महारानी श्रीदेवी ने सर्वोत्कृष्ट महान् पुरुष के जन्म-सूचक चौदह परम-मगलप्रदायक-शुभस्वप्न देखे ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र मे सुखपूर्वक प्रभु ने जन्म धारण किया ।

नामकरण

दश दिनो तक जन्म-महोत्सव आमोद-प्रमोद के साथ मनाने के बाद महाराज वसुसेन ने उपस्थित मित्रजनो के समक्ष नामकरण का हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा – "गर्भ-समय मे वालक की माता ने कुथु नाम के रत्नो की राशि देखी, अतः वालक का नाम कुथुनाथ रखा जाता है ।"[1]

विवाह और राज्य

वाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था मे प्रवेश करने के वाद प्रभु ने भोग्य-कर्म को समाप्त करने के लिये योग्य राज-कन्याओ से पाणिग्रहण किया ।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष के वाद आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न होने पर आपने षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया एव चौदह रत्न, नव-निधान और सहस्रों राजाओ के अधिनायक हुए ।

बाईस हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रह कर तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से राज्य का शासन करते हुए प्रभु समुचित रीति से प्रजा का पालन करते रहे ।

---

[1] सुमिणे य थूम दठ्ठूण जणणी विउद्ध त्ति, गब्भगये य कुथुम्मारणा सेमपडिवक्खा दिट्ठत्ति काऊण कुंथु त्ति णाम कय भगवओ ।। च म पु च, पृ १५२

दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म क्षीण होने पर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की। उस समय लोकान्तिक देवो ने आकर प्रार्थना की – "भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।"

एक वर्ष तक याचको को इच्छानुसार दान देकर आपने वैशाख कृष्णा पचमी को कृत्तिका नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और सहस्राम्र वन मे पहुँचकर छट्ठ-भक्त की तपस्या से सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु 'चक्रपुर' नगर मे पधारे और राजा व्याघ्रसिह के यहा प्रथम पारणा ग्रहण किया।

केवलज्ञान

विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ-चर्या मे सोलह वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए पुन सहस्राम्र वन मे पधारे और ध्यानस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण मे तिलक वृक्ष के नीचे मोह और अज्ञान का सर्वथा नाश कर चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृत्तिका के योग में प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवो की विशाल सभा मे श्रुतधर्म-चारित्रधर्म की महिमा बतलाते हुए चतुर्विध-सघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार

भगवान् कुथुनाथ के सघ मे निम्न धर्म-परिवार था –

गणधर एव गण	–	पैंतीस (३५) स्वयम्भू आदि गणधर एव ३५ ही गण
केवली	–	तीन हजार दो सौ (३२००)
मन पर्यवज्ञानी	–	तीन हजार तीन सौ चालीस (३३४०)
अवधिज्ञानी	–	दो हजार पाच सौ (२५००)
चौदह पूर्वधारी	–	छ सौ सितर (६७०)
वैक्रियलब्धिधारी	–	पाच हजार एक सौ (५१००)
वादी	–	दो हजार (२०००)
साधु	–	साठ हजार (६००००)
साध्वी	–	साठ हजार छ सौ (६०६००)
श्रावक	–	एक लाख उन्यासी हजार (१७९०००)
श्राविका	–	तीन लाख इक्यासी हजार (३८१०००)

परिनिर्वाण

मोक्षकाल समीप जान कर प्रभु सम्मेतशिखर पधारे। वहा केवलज्ञान के बाद तेईस हजार सात सौ चौतीस वर्ष बीतने पर एक हजार मुनियो के साथ

एक मास का अनशन किया और वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र मे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध, एव मुक्त हुए।

इनकी पूर्ण आयु पिचानवे हजार वर्ष की थी, जिसमे से तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार अवस्था, तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष माण्डलिक-पद और उतने ही वर्ष अर्थात् २३ हजार सात सौ पचास वर्ष चक्रवर्ती-पद पर रहे एव तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष सयम का पालन किया।

भगवान् श्री अरनाथ

भगवान् कुंथुनाथ के पश्चात् अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरनाथ हुए।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह की सुसीमा नगरी के महाराज धनपति के भव मे इन्होंने तीर्थंकर-पद की अर्हता प्राप्त की। धनपति ने अपने नगरवासियो को प्रेमपूर्वक सयम और अनुशासन मे रहने की ऐसी शिक्षा दी थी कि उन्हे दण्ड से समझाने की कभी आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई।

कुछ समय के वाद धनपति ने ससार से विरक्त होकर सवर मुनि के पास सयम-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तप-नियम की साधना करते हुए महिमडल पर विचरने लगे।

एक वार चातुर्मासी तप के पारणे पर जिनदास सेठ ने मुनि को श्रद्धापूर्वक प्रतिलाभ दिया। इस प्रकार देव, गुरु, धर्म के विनय और तप-नियम की उत्कृष्ट साधना से उन्होने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त मे समाधि-पूर्वक काल कर वे ग्रैवेयक मे महर्द्धिक देव-रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर यही धनपति का जीव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि मे फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भरूप मे उत्पन्न हुआ और महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्नो को देख कर परम प्रमोद प्राप्त किया।

अनुक्रम से गर्भकाल पूर्ण होने पर मृगशिर शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक कनक-वर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देव और देवेन्द्रो ने जन्म-महोत्सव मनाया। महाराज सुदर्शन ने भी नगर मे वडे आमोद-प्रमोद के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

गर्भकाल मे माता ने वहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा, इसलिये वालक के नामकरण के समय सुदर्शन ने पुत्र का नाम भी उपस्थित मित्रजनो के समक्ष अरनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

वालक्रीडा करते हुए प्रभु द्वितीया के चन्द्र की तरह वडे हुए। युवावस्था मे पिता की आज्ञा से योग्य राजकन्याओ के साथ इनका पाणिग्रहण कराया

---

[1] पइट्ठाविय ने णाम सुमिणमि महारिहाऽरदमणत्तणेण अरो त्ति। [च पु च, पृ १५३]

गया। इक्कीस हजार वर्ष वीत जाने पर राजा सुदर्शन ने कुमार को राज्य-पद पर अभिषिक्त किया। इक्कीस हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप मे रहे और फिर आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हो जाने पर प्रभु देश-विजय को निकले और पट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती वन गये। इक्कीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती के पद से आपने जनपद का शासन कर देश मे सुख, शान्ति सुशिक्षा और समृद्धि की वृद्धि की।

दीक्षा और पारणा

भोग-काल के वाद जव उदय-कर्म का जोर कम हुआ तव प्रभु ने राज्य-वैभव का त्याग कर सयम-साधना की इच्छा व्यक्त की। लोकान्तिक देवो ने आकर नियमानुसार प्रभु से प्रार्थना की और अरविन्दकुमार को राज्य देकर आप वर्षीदान मे प्रवृत्त हुए तथा याचको को इच्छित-दान देकर हजार राजाओ के साथ वडे समारोह से दीक्षार्थ निकल पडे।

सहस्राम्र वन मे आकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र मे छट्ठभक्त-वेले की तपस्या से सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर प्रभु ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

फिर दूसरे दिन राजपुर नगर मे अपराजित राजा के यहा प्रभु ने परमान्न से पारणा ग्रहण किया।

केवलज्ञान

वहा से विहार कर विविध अभिग्रहो को धारण करते हुए तीन वर्ष तक प्रभु छद्मस्थ-विहार से विचरे।[1] वे निद्रा-प्रमाद का सर्वथा वर्जन करते हुए ध्यान की साधना करते रहे। विहारक्रम से प्रभु सहस्राम्र वन आये और आम्र-वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। कार्तिक शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र के योग मे शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर आठवे, नवमे, दशवे और वारहवे गुणस्थान को प्राप्त किया और घाति-कर्मो का सर्वथा क्षय कर आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर-मानवो की विशाल सभा मे धर्म-देशना देकर चतुर्विध-सघ की स्थापना की और भाव-तीर्थकर एव भाव-अरिहंत कहलाये। भाव-अरिहन्त अठारह दोषो से रहित होते है। जो इस प्रकार है .—

१. ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान-दोष
२ दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा-दोप
३. मोहकर्मजन्य मिथ्यात्व-दोष
४. अविरति-दोप
५ राग
६ द्वेप
७ हास्य
८. रति
९ अरति-खेद
१० भय
११. शोक-चिन्ता
१२ दुगुन्छा
१३ काम

[1] आवश्यक मे छद्मस्थकाल तीन अहोरात्र का माना है। सम्पादक

(१४ से १८) अन्तरायजन्य दानान्तराय आदि पाच अन्तराय-दोषों को मिलाने से अठारह ।

कुछ लोग अठारह दोषो मे आहार-दोष को भी गिनते है पर आहार शरीर का दोष है अत. आत्मिक दोषो मे उसकी गणना उचित प्रतीत नही होती। उससे केवलज्ञान की प्राप्ति मे अवरोध नही होता। अरिहन्त वन जाने पर तीर्थंकर प्रभु ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टय और अष्ट-महाप्रातिहार्य के धारक होते है ।

धर्म-परिवार

आपके सघ में निम्न धर्म-परिवार था –

गणधर एव गण	–	कुभजी आदि तेतीस (३३) गणधर एव तेतीस (३३) ही गण
केवली	–	दो हजार आठ सौ (२८००)
मन पर्यवज्ञानी	–	दो हजार पाच सौ इक्यावन (२५५१)
अवधिज्ञानी	–	दो हजार छ. सौ (२६००)
चौदह पूर्वधारी	–	छ सौ दस (६१०)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सात हजार तीन सौ (७३००)
वादी	–	एक हजार छ सौ (१६००)
साधु	–	पचास हजार (५००००)
साध्वी	–	साठ हजार (६००००)
श्रावक	–	एक लाख चौरासी हजार (१८४०००)
श्राविका	–	तीन लाख वहत्तर हजार (३७२०००)

परिनिर्वाण

तीन कम इक्कीस हजार वर्ष केवली-चर्या से विचर कर जव आपको अपना मोक्षकाल समीप प्रतीत हुआ तो एक हजार मुनियो के साथ सम्मेतशिखर पर प्रभु ने एक मास का अनशन ग्रहण किया और अन्त समय मे शैलेशी दशा को प्राप्त कर चार अघाति-कर्मो का सर्वथा क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र के योग मे चौरासी हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हुए अर्थात् शरीर त्याग निरञ्जन-निराकार-सिद्ध वन गये ।

ने उन छ

भगवान् श्री मल्लिनाथ

भगवान् अरनाथ के पश्चात् उन्नीसवे तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ हुए।

पूर्वभव

विदेह क्षेत्र के सलिलावती-विजय मे महावल मुनि के भव मे इन्होने तीर्थंकर-पद की योग्यता अर्जित की।

महावल, वीतशोका नगरी के न्यायप्रिय प्रतापी राजा वल के पुत्र थे। इनकी माता का नाम धारिणी था। जव महावल युवा हुए तो पाच सौ राज-कन्याओ के साथ इनका पाणिग्रहण करवाया गया। कमलश्री से इनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम वलभद्र रखा गया।

किसी समय धर्मघोष नाम के महामुनि अपनी शिष्यमडली सहित वीतशोका नगरी मे पधारे। महाराज वल उन्हे वन्दन करने गये और उनका उपदेश श्रवण कर वे सासारिक प्रपच से विरक्त हो गये। महावल को राज्य-पद पर अभिषिक्त कर उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

महावल सुख से राज्य-सचालन करने लगे। उनके (१) अचल, (२) धरण, (३) पूरण, (४) वसु, (५) वैश्रवण और (६) अभिचन्द्र नाम के छह वाल-मित्र थे। इनकी मित्रता इतनी प्रगाढ थी कि वे हर कार्य साथ-साथ करते। इनकी भावना वनी रहती कि हमारी यह मित्रता इस जीवन के वाद भी रहे।

महाराज महावल राज-काज चलाते हुए भी मन से उसके प्रति निर्लेप वने रहे। वे अपने पुत्र कुवर वलभद्र को युवराज-पद देकर अपने छ मित्रो के साथ नित्य धर्माचरण मे लीन रहते।

एक वार वीतशोका नगरी में धर्मघोष नाम के मुनि फिर पधारे। उनका उपदेश सुनकर महावल विरक्त हुए और उन्होने अपने मित्रो के समक्ष दीक्षा धारण करने की भावना प्रकट की। मित्रो ने सयम मे सहर्ष साथ देने की सहमति प्रकट करते हुए कहा – "मित्र! तुम हमारे आधार हो। जव तुम ही न रहोगे तव फिर हम संसार मे रह कर क्या करेंगे? साधना मे भी हम एक दूसरे के साथी वन कर रहेगे।" इस विचार के साथ सभी अपना-अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सहज-भाव से प्रव्रजित हो गये।

दीक्षित होने के वाद सातो मित्र तप-सयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। एक समय सवने मिल कर यह सकल्प किया कि हम सव एक ही तपस्या करेंगे[1] ताकि हमारा साथ आगे के जीवन मे भी इसी प्रकार वना रहे।

---

[1] ज ण अम्ह देवाणुप्पिया! एग तवोकम्म उवसपज्जित्ताण विहरइ। ज्ञाता० ८

को मिलाकर सबने एक लक्ष्य से एक सी तपस्या प्रारम्भ कर दी, पर महावल के मन मे ज्येष्ठ वने रहने की लालसा से अधिक तप करने की भावना रही। शरीत पारणों के दिन वे अपनी तपस्या को आगे वढा देते और उस दिन पारणा नहीं करते।

इस प्रकार छद्मपूर्वक तप करने से उन्होने स्त्रीवेद का और वीस स्थानो की आराधना करने से तीर्थकर-नामकर्म का वन्ध किया। लघुसिह-क्रीडित, महासिह-क्रीडित आदि विविध प्रकार की तपस्या करते हुए चौरासी लाख पूर्व की आयु मे चौरासी हजार वर्ष का सयम पालन कर सातो मुनियो ने अनशन-पूर्वक काल-धर्म प्राप्त किया और वे सभी वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुए।

जन्म

फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी[1] के दिन अश्विनी नक्षत्र मे महावल का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर मिथिला के राजा इक्ष्वाकु-वशीय महाराज कुभ की महारानी प्रभावती की कुक्षि मे गर्भ-रूप से उत्पन्न हुआ। फिर माता ने उसी रात चौदह शुभ-स्वप्न भी देखे। तीन मास वीतने पर प्रभावती को दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताए धन्य हैं, जो पचवर्ण-पुष्पो की शय्या[2] मे शयन करती और पाटल, चम्पा आदि फूलो के गुच्छे को सूघती हुई विचरण करती हैं।

समीपस्थ व्यन्तर देवो ने माता के दोहद को पूर्ण किया। महारानी प्रभावती ने सुखपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर नव मास और साढे सात रात्रि के पश्चात् मृगशिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र के शुभ योग मे उन्नीसवे तीर्थंकर को पुत्री रूप से जन्म दिया।

दिगम्वर परम्परा मल्लिनाथ का स्त्री-रूप से उत्पन्न होना नही मानती।

नामकरण

माता को गर्भकाल मे पुष्प शय्या पर सोने का दोहद हुआ और देवो द्वारा उसकी पूर्ति की गई। अतएव नामकरण के समय महाराज कुभ ने विचार किया कि इसका नाम 'मल्ली' रखा जाय।[3] विशिष्ट ज्ञान की धारिका होने से लोग इन्हे 'मल्ली भगवती' कहने लगे।

अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति

कालान्तर मे मल्लीकुमारी वाल्यभाव से मुक्त हुई।[4] उनके रूप-लावण्य और गुणादि की उत्कृष्टता की चहु ओर ख्याति फैलने लगी। जव उन्होने सौ

[1] फग्गुण सुद्धस्स चउत्थि पक्खेण जयताओ विमाणाओ ज्ञाता अ, ८।६५

[2] पभावती देवी जल-थलय जाव मल्लेण डोहल विणेति "वही, अ ८। सू ६५

[3] जम्हाण अम्हे इमीए दारियाए माउए मल्लसयणिज्जसि डोहले विणीते त होउण नामेण मल्ली। ज्ञा, अ ८ सू ६६

[4] तएण सा मल्ली विदेह रायवर कन्ना उम्मुक्क वालभावा जाव। तएण सा मल्ली देसूण वाससय जाया ते छप्पि रायाणो [ज्ञा धर्म क श्रु१ अ ८]

से कुछ कम वर्ष की अवस्था प्राप्त की तो अवधिज्ञान से वे अपने पूर्वभव के उन छ मित्रों को जानने लगी जो विभिन्न राज्यो के राजा बन गये थे।

राजाओ के मोहभाव को उपशम करने के लिये उन्होने उपाय सोचा और आज्ञाकारी पुरुषो को बुला कर एक मोहन-घर बनाने की आज्ञा दी। उसके मध्य मे मणिमय पीठिका पर अपने ही समान रूव-लावण्यमयी सुवर्णमय-पुतलिका बनवाई और भोजनोपरान्त एक-एक पिड उस पुतली मे डालने की व्यवस्था की।

एक बार साकेतपुर मे प्रतिबुद्ध राजा ने रानी पद्मावती के लिये नागघर के यात्रा-महोत्सव की घोषणा की, मालाकारो को अच्छे से अच्छा माल्य-गुच्छ बनाने का आदेश दिया। जब राजा और रानी नागघर मे आये और नाग-प्रतिमा को वन्दन किया उस समय मालाकारो द्वारा प्रस्तुत एक श्रीदाम के दडे को राजा ने देखा और विस्मित होकर अपने सुबुद्धि नामक प्रधान से बोले – "देवानुप्रिय! तुम राजकार्य से बहुत से ग्राम-नगरो मे घूमते हो, राजाओ के भवनो में भी प्रवेश करते हो, क्या तुमने ऐसा मनोहर श्रीदामगड (पुष्पगुच्छ) कही अन्यत्र भी देखा है?"

सुबुद्धि ने कहा – "महाराज! मैं आपका सदेश लेकर एक बार मिथिला गया था। वहा महाराज कुभ की पुत्री मल्ली के वार्षिक-महोत्सव पर जो दिव्य श्रीदामगंड मैंने देखा उसके सामने देवी पद्मावती का यह श्रीदामगड लक्षाश भी नही है। उसने मल्ली के सौन्दर्य का आश्चर्यजनक परिचय दिया जिसे सुनकर महाराज प्रतिबुद्ध मल्लीकुमारी पर मुग्ध हो गये।

मल्ली के सौन्दर्य की ख्याति अग देश मे भी फैली। चम्पा नगरी के महाराज चन्द्रछाग ने उपासक अर्हन्नक से पूछा – "देवानुप्रिय! तुम बहुत से ग्राम-नगरो मे घूमते हो, कही कोई आश्चर्यकारी वस्तु देखी हो तो बताओ।"

अर्हन्नक ने कहा – "स्वामिन्! हम चम्पा के ही निवासी हैं। यात्रा के सन्दर्भ मे मैं एक बार मिथिला गया और वहा के महाराज कुभ को मैंने दिव्य कुडल-युगल भेट किया। उस समय कुण्डल पहने उनकी पुत्री मल्लीकुमारी को देखा, उनका रूप अतीव आश्चर्यकारी है, वैसी सुन्दर कोई देवकन्या भी नही होगी।"

यह सुन कर महाराज चन्द्रछाग भी तत्काल सुनने मात्र से ही मल्ली के रूप-लावण्य पर विमुग्ध हो गये।

कुणाला-जनपद मे भी मल्ली के सौन्दर्य की घर-घर चर्चा होने लगी। सावत्थी मे कुणालाधिपति महाराज 'रुप्पी' का शासन था। उनकी पुत्री, महारानी धारिणी की सुता सुबाहु बड़ी रूपवती थी। एक बार कन्या का चातुर्मासिक-मज्जन का महोत्सव था। उस समय राजा ने सुवर्णकार-मण्डल को आदेश दिया कि राजमार्ग मे पुष्प-मडप की रचना कर उसमे पंचवर्ण के फूलो से नगरी की रचना करो। आज्ञानुसार नगरी का आलेखन हो जाने पर राजा ने कन्या को पट्ट पर बिठला कर सुवर्ण-रौप्यमय कलशो से स्नान कराया, फिर वस्त्राभूषणो से

सज्जित हो कन्या पितृवन्दन को आई तो राजा उसके रूप-लावण्य को देखकर विस्मित हो गया। वर्षधर पुरुषों को बुलाकर राजा ने पूछा—"तुमने कहीं सुबाहु कन्या के समान रूप-लावण्य अन्य किसी कन्या का देखा है ?"

एक वर्षधर पुरुष ने कहा—"महाराज ! एक वार हम राजकार्य से मिथिला गये थे, वहा महाराज कुभ की पुत्री मल्ली का मज्जन देखा, उसके सम्मुख यह सुबाहु का मज्जन लाखवे भाग भी नही है।'

यह सुनकर कुणालाधिपति का गर्व गल गया और वे मल्ली के सौन्दर्य-दर्शन के लिये अत्यन्त व्यग्र और लालायित हो गये।

काशी प्रदेश के महाराज शख तक भी मल्ली के सौन्दर्य की ख्याति पहुची। एक वार मिथिला के स्वर्णकार, दिव्य कुडल-युगल की सधि नहीं जोड सकने के कारण निर्वासित कर दिये गये।

वे स्वर्णकार काशीनरेश शख के पास पहुचे और उनकी छत्रछाया मे सुख से रहने की उन्होंने इच्छा अभिव्यक्त की। काशीपति ने उन्हे निर्वासित करने का कारण पूछा और महाराज कुभ की पुत्री मल्ली के सौन्दर्य के सम्बन्ध मे स्वर्णकारो से जानकारी चाही। स्वर्णकारो ने अवसर देख कर कह डाला—"महाराज ! कोई देवकन्या भी मल्ली जैसी सुन्दर नही होगी, वे उत्कृष्ट और अलौकिक कान्तिवाली हैं।" यह सुनकर महाराज शंख भी मल्ली के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये।

मल्ली के अनुपम सौन्दर्य की सौरभ फैलते फैलते कुरु देश तक भी पहुंच गई। मल्ली के कनिष्ठ भाई मल्लदिन्न कुमार ने एक वार अपने प्रमर्द-वन में चित्रकारो द्वारा चित्रसभा की रचना करवाई। जव राजकुमार चित्रसभा देखने गये तो वहा एक चित्र को देखकर स्तभित हो गये। एक चित्रकार ने मल्ली के पैर का अगूठा देख रखा था, उसी के आधार पर उस चित्रकलाविशारद ने अपनी योग्यता से अगूठे के अनुसार मल्ली के शरीर का पूरा चित्र खीच लिया।

मल्लदिन्नकुमार ने जव उस चित्र को देखा तो यह सोचकर कि यह मल्ली विदेह-राजकन्या है, वे लज्जित हो गये, ज्येष्ठ भगिनी के सकोच से पीछे हट गये। जव उन्हे धाई-मां से यह मालूम हुआ कि यह मल्ली नही, किन्तु चित्रकार द्वारा आलिखित उनका चित्र है तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और चित्रकार को प्राणदड देने की आज्ञा दे दी। जनता और चित्रकार-मंडल की प्रार्थना पर उसे अगुष्ठ-छेदन का दण्ड देकर निर्वासित कर दिया। वह चित्रकार कुरु-नरेश के पास पहुचा और उन्हे मल्ली का चित्र भेट किया। चित्रपट को देख और मल्ली के रूप की प्रशसा सुन कर कुरुराज भी मल्ली पर मुग्ध हो गये तथा उसकी प्राप्ति के लिये लालायित रहने लगे।

अन्यान्य देशों की तरह पंचाल-पंजाव मे भी मल्ली के रूप-सौन्दर्य की चर्चा होने लगी। किसी समय चौक्षा नाम की एक परिव्राजिका भ्रमण करती हुई

मिथिला में आई। वह वेद-वेदांग की ज्ञाता और वडी कुशल थी। कुछ परिव्राजिकाओं के साथ वह कुभ राजा के भवन मे पहुची और भूमि को जल से शुद्ध कर दर्भासन पर विराजमान हो गई ।

धर्म-चर्चा के प्रसग मे राजकुमारी मल्ली ने उससे पूछा – "चोखे ! धर्म का मूल क्या है ?"

चोखा ने उत्तर मे कहा – "हम शुचिमूल धर्म कहते हैं। जहा कुछ अशुचि होती है, उसका जल और मिट्टी से शोधन कर हम निर्विघ्न स्वर्ग के अधिकारी होते है।"

मल्ली ने पूछा – "क्या रुधिर से लिप्त वस्त्र को कोई रुधिर से धोकर शुद्ध करे तो शुद्धि होगी ?"

"नही"।

"फिर हिंसा आदि पापों से मलिन आत्मा हिंसा से शुद्ध कैसे हो सकती है ?"

चोखा मल्ली की वार्ता का समुचित उत्तर नही दे सकने के कारण लज्जित हो गई और उसने प्रतिशोध की भावना से कम्पिलपुर पहुच कर जितशत्रु महाराज के समक्ष मल्ली के सौन्दर्य की चर्चा की। इस प्रकार मल्ली के सौन्दर्य की चर्चा समग्र देश मे चारो ओर फैल चुकी थी।

विवाह प्रसंग और प्रतिबोध

जब मल्ली के रूप-लावण्य और तेजस्विता की चर्चा चारो ओर फैल गई तो अनेक देशो के बडे-बड़े महिपाल मल्ली पर मुग्ध हो उसे अपनी बनाने के लिये पूर्ण प्रयास करने लगे और जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प पर भौंरे मडराते हैं उसी तरह अनेको राजाओं और महाराजाओं के राजदूत मल्ली को अपने राज्य की राजमहिषी बनाने के लिये मिथिला नगरी में मडराने लगे।

महाराज कुभ इससे कुछ अनिष्ट की आशका लिये चिन्तित रहने लगे। जब मल्ली के पूर्वभव के छह मित्रो ने भी, जो कि विभिन्न राज्यो के स्वामी थे, मल्ली भगवती के अनुपम सौन्दर्य की महिमा सुनी तो पूर्व-स्नेह से आकर्षित होकर उन्होने भी मल्ली की याचना के लिये महाराज कुभ के पास अपने-अपने दूत भेजे।

कुंभ द्वारा माग स्वीकृत नही होने पर छहो भूपतियो ने अपनी सेनाए लेकर मिथिला पर चढाई करदी और शक्ति के बल पर मल्ली को वरण करने की सोचने लगे।

महाराज कुभ छहो राजाओ से एक साथ मुकाबला करने मे अपने को असमर्थ समझ चिन्तित हो रहे थे फिर भी किलाबन्दी कर युद्ध की तैयारी करने लगे।

चरण-वदन के लिये आई हुई मल्ली भगवती ने जब पिता-श्री को चिन्तित देखा और चिन्ता का कारण जाना तो विनयपूर्वक कहने लगी – "महाराज ! आप किंचित् मात्र भी चिन्तित न हो, मै सारी समस्या को ठीक ढग से हल कर लूगी। आप छहो राजाओं को दूत द्वारा अलग-अलग रूप मे आने को निमन्त्रित कर दीजिये।"

मल्ली भगवती की योग्यता, बुद्धिमत्ता और नीति-परायणता से प्रभावित एव आश्वस्त होकर महाराज ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर छहो राजाओ को पृथक्-पृथक् आने का सन्देश भिजवा दिया।

सदेश के अनुसार छहो राजा मिथिला पहुचे। वहा उन्हे अलग-अलग बने हुए प्रवेशद्वारो से प्रवेश कराकर पूर्वनिर्मित मोहनघर मे ठहराया गया। उनमे एक साकेतपुरी के राजा प्रतिबुद्ध, दूसरे चम्पा के चन्द्रछाग, तीसरे कुणाला के रुक्मी, चौथे वाराणसी के शख, पाचवे हस्तिनापुर के अदीनशत्रु और छठे कम्पिलपुर के जितशत्रु महाराज थे। ये सब अपने लिये निर्दिष्ट अलग २ प्रकोष्ठों मे पहुच कर अशोकवाटिका-स्थित सुवर्ण पुतली को, जो कि पूर्णरूपेण मल्ली की आकृति के अनुरूप बनाई गयी थी, निहारने लगे। प्रकोष्ठो की रचना कुछ इस कलात्मक ढग से की गई थी कि एक दूसरे को बिना देखे वे छहो राजा मल्ली भगवती के रूप को देख सके।

भगवती मल्ली ने जब भूपतियों को रूपदर्शन मे तन्मय देखा तो पुतली पर का ढक्कन हटा लिया। ढक्कन हटते ही चिरसचित अन्न की दुर्गन्ध चारो ओर फैल गई और सब भूपति नाक बन्द कर इधर-उधर भागने की चेष्टा करने लगे।

उस समय अवसर देख कर मल्ली भगवती ने राजाओ को सम्बोधित करते हुए कहा – "भूपतियो ! आप किस पर मुग्ध हो रहे हो ? इस पुतली में डाला गया एक ग्रास भी कुछ दिनों मे सड कर आप सबको असह्य पीड़ाकारक लग रहा है तब मनुष्य के मलमूत्रमय तन मे कैसा भडार भरा होगा और वह कितना दुखदायी होगा ? यह शरीर कितना घृणित और निस्सार है ? क्षण भर आप इस पर विचार कीजिये। ज्ञानी पुरुष तन के रूप-रग मे न लुभाकर भीतर के आत्मदेव से प्रीति करते है, वही प्रेम वास्तविक प्रेम है। आप लोगो को मेरे प्रति इतनी अधिक प्रीति क्यो है ? इसको भी सोचिये।"

"हम लोग पूर्व के तीसरे भव मे परस्पर मित्र थे। आप सबने मेरे साथ दीक्षा ली थी, हम सबकी साधना भी एक साथ हुई थी परन्तु कर्म अवशेष रहने से हमको देवगति का भव करना पडा। मैंने कपट के कारण स्त्री-शरीर प्राप्त किया है। अच्छा हो, इस बार हम सब अपनी प्रबल साधना द्वारा रही-सही कमी को भी दूर कर पूर्णता को प्राप्त करले और फिर हम सबका अखण्ड साथ बना रहे।"

मल्ली भगवती के इन उद्‌वोधक वचनों से राजाओ को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ एव इस ज्ञान से उन्होने अपने २ पूर्वभवों को जाना। अपने २ पूर्वभवो को जान लेने से उन सवको प्रभु के वचनो पर परम श्रद्धा हुई और वे विनयपूर्वक वोले—"भगवति! आपने हम सवकी आंखे खोल दी हैं। अव आज्ञा दीजिये कि हम सव अपने अनादिकालीन वन्धनो को काटने मे अग्रसर हो सके।"

इस प्रकार हर्षित मन से छहो राजा दीक्षा लेने के पहले अपने-अपने राज्य की व्यवस्था करने हेतु अपने-अपने राज्य को लौट गये।

दीक्षा और पारणा

इधर छहो राजाओ को प्रतिवोध देकर मल्ली भगवती ने भी दीक्षा ग्रहण करने की भावना व्यक्त की। लोकान्तिक देवो की प्रार्थना के पश्चात् आपने वर्ष भर याचको को इच्छित दान दिया और माता-पिता से अनुमति लेकर पौष शुक्ला एकादशी[1] को अश्विनी नक्षत्र मे अष्टमभक्त-तप से सौ वर्ष की आयु में सम्पूर्ण सावद्य कर्मो का परित्याग कर मुनि दीक्षा ग्रहण की।

आपके साथ तीन सौ स्त्रियों (आभ्यतर परिषद्) और तीन सौ राज-पुरुषो[2] (वाह्य परिषद्) ने सयम ग्रहण किया।

ज्ञाता सूत्र में सयम ग्रहण करने वाले आठ अन्य ज्ञात-कुमारो के नाम उपलव्ध होते हैं जो इस प्रकार है :—

(१) नद
(२) नदमित्र
(३) सुमित्र
(४) वलमित्र
(५) भानुमित्र
(६) अमरपति
(७) अमरसेन
(८) महासेन

सभव है पूर्वभव के छह मित्र-राजाओ से भिन्न ये कोई अन्य राजा या राजकुमार हो। देवेन्द्रों और नरेन्द्रो ने वड़े ठाट से दीक्षा का महोत्सव सम्पन्न किया।[3]

प्रभु का प्रथम पारणा मिथिला के महाराज विश्वसेन के यहां सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण करते ही भगवती मल्ली ने मन पर्यवज्ञान प्राप्त किया और

---

[1] शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को षष्टभक्त से दीक्षा ग्रहण की।

[2] (क) ज्ञाता १—८
(ख) चौवीस तीर्थंकर चरित्र (हिन्दी) मे एक हजार पुरुष और तीन सौ स्त्रियो के साथ दीक्षित होना लिखा है, जो भ्रात प्रतीत होता है।

[3] विशेष जानकारी के लिये ज्ञाता सूत्र का आठवा अध्याय देखें।

जिस दिन दीक्षित हुई उसी दिवस के पश्चिम भाग मे[1] अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर सुखासन से ध्यानस्थित हो गई वे। शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओं के द्वारा कर्मो के सम्पूर्ण आवरणों को क्षय करने वाले अपूर्वकरण मे प्रविष्ट हुई और उन्होने अल्प समय में ही अष्टम, नवम, दशम और द्वादश गुणस्थान को पार कर मृगशिर शुक्ला एकादशी को ही अनन्तज्ञान-केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया।

अन्य तीर्थंकरो से आपकी यह विशिष्टता रही कि आपने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन केवलज्ञान की भी उपलब्धि करली। आपका प्रथम पारणक भी केवलज्ञान मे ही हुआ।

केवली बन कर मल्ली भगवती ने देवो और मानवो की महती परिषद् में महाराज कुभ और जितशत्रु आदि को धर्मदेशना सुनाई।

उपदेश सुन कर महाराज कुभ और प्रभावती ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और जितशत्रु आदि छः राजाओ ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

चतुर्विध-संघ की स्थापना कर आप भी भाव-तीर्थंकर कहलाये। आपने ५५ हजार वर्षो तक अनेको ग्रामो और नगरो मे घूम-घूम कर धर्म का उपदेश दिया। आपके समवसरण मे साध्वियों का अग्रस्थान माना गया है, क्योकि उन्हे आभ्यंतर परिषद् में गिना गया है।

धर्म-परिवार

आपके सघ मे निम्न धर्म-परिवार था :–

गण एवं गणधर	– अट्ठाईस (२८) गण एव अट्ठाईस (२८) ही गणधर।
केवली	– तीन हजार दो सौ (३२००)
मन पर्यवज्ञानी	– आठ सौ (८००)
अवधिज्ञानी	– दो हजार (२०००)
चौदह पूर्वधारी	– छः सौ चौदह (६१४)
वैक्रिय लब्धिधारी	– तीन हजार पाच सौ (३५००)
वादी	– एक हजार चार सौ (१४००)
साधु	– चालीस हजार (४००००)

[1] आवश्यक निर्युक्ति और सत्तरिसय द्वार मे भ मल्लिनाथ का छद्मस्थकाल एक अहोरात्र माना गया है पर "ज्ञाता धर्मकथा" सूत्र मे उसी दिन केवलज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख होने से उस ही को मान्य किया है। यथा :–

"ज चेव दिवसं पव्वइये तस्सेव दिवसस्स पुव्वावरह्णकाल समयसि···केवल वर नाणदंसणे समुप्पन्ने।" [ज्ञाता, श्रु. १, अ ८, सू ८४]

अनुत्तरोपपातिक मुनि[1]	– दो हजार (२०००)
साध्वी	– पचपन हजार (५५०००) वन्धुमति आदि
श्रावक	– एक लाख चौरासी हजार (१८४०००)
श्राविका[2]	– तीन लाख पैंसठ हजार (३६५०००)

परिनिर्वाण

भगवान् श्री मल्लिनाथ ने १०० (सौ) वर्ष गृहवास मे रहकर, सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष केवली पर्याय का पालन कर ग्रीष्मकाल के प्रथम मास चैत्र शुक्ला चतुर्थी को भरणी नक्षत्र मे अर्धरात्रि के समय पाच सौ आर्यिकाओ और पाच सौ बाह्य-परिषद् के साधुओ सहित सथारा पूर्ण कर चार अघाति-कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

---

[1] ज्ञाता०, अ० ८

[2] मल्लिस्स ण अरहओ सावयाण एगासयसाहस्सी चुलसीइं च सहस्सा। सुणदा पामोक्खाओ सावियाण तिण्णि सयसाहस्सीओ पण्णट्ठिं च सहस्सा ॥ [ज्ञा०, अध्याय ८, सू० ४०]

भगवान् श्री मुनिसुव्रत

भगवान् मल्लिनाथ के बाद वीसवे तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत हुए ।

पूर्वभव

अपर-विदेह की चम्पा नगरी मे राजा सुरश्रेष्ठ के भव मे इन्होने नन्दन मुनि की सेवा में सयम स्वीकार किया और अर्हत्-भक्ति आदि वीस स्थानो की सम्यक् आराधना कर तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय मे समाधिपूर्वक काल कर प्राणत देवलोक के देव हुए ।

जन्म

स्वर्ग की स्थिति पूर्ण कर यही सुरश्रेष्ठ का जीव श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र मे स्वर्ग से च्यव कर राजगृही के महाराज सुमित्र की महारानी देवी पद्मावती के गर्भ मे वीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रत के रूप मे उत्पन्न हुआ ।

माता ने मगलप्रद चतुर्दश शुभ-स्वप्न देखे और प्रशस्त दोहदों से प्रमोद-पूर्वक गर्भकाल पूर्ण किया। ज्येष्ठ कृष्णा नवमी[1] के दिन श्रवण नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। इन्द्र, नरेन्द्र और पुरजनो ने भगवान् के जन्म का मगल-महोत्सव मनाया ।

नामकरण

इनके गर्भ मे रहते माता को विधिपूर्वक व्रत-पालन की इच्छा वनी रही और वह सम्यक् रीति से मुनि की तरह व्रत का पालन करती रही अतः महाराज सुमित्र ने बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा ।[2]

विवाह और राज्य

युवावस्था प्राप्त होने पर पिता सुमित्र ने प्रभावती आदि अनेक योग्य राजकन्याओ के साथ कुमार मुनिसुव्रत का विवाह किया और कालान्तर मे उनको राज्य का भार सौप कर स्वय आत्म-कल्याण की इच्छा से वैराग्यभाव-पूर्वक दीक्षित हो गये ।

मुनिसुव्रत ने पिता के पीछे राज्य सभाला पर राजकीय वैभव और इन्द्रियो के सुखो मे लिप्त नही हुए ।

दीक्षा और पारणा

पन्द्रह हजार वर्षो तक राज्य का भलीभाति सचालन करने के वाद प्रभु मुनिसुव्रत ने लोकान्तिक देवो की प्रार्थना से वर्षीदान दिया एव अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर फाल्गुन कृष्णा अष्टमी[3] के दिन श्रवण नक्षत्र मे एक हजार राजकुमारो के साथ दीक्षा ग्रहण की ।

---

[1] प्र० व्याकरण मे ज्येष्ठ कृष्णा ८ है ।

[2] ग०भगए मायापिया य सुव्वता जाता। [आव चू उत्त पृ ११]

[3] स० द्वा० मे फाल्गुन शुक्ला १२ है ।

दूसरे दिन राजगृही में ब्रह्मदत्त राजा के यहा प्रभु के बेले का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पच-दिव्य वरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

ग्यारह मास तक छद्मस्थ रूप से विचरण कर फिर प्रभु दीक्षा वाले उद्यान मे पधारे और वहा चम्पा वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होने घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय किया और लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली वनकर प्रभु ने श्रुतधर्म एवं चारित्र-धर्म की देशना दी और हजारो व्यक्तियो को चारित्र-धर्म की दीक्षा देकर चतुर्विध सघ की स्थापना की।

धर्म-परिवार

भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के संघ में निम्न परिवार था :—

गण एवं गणधर	— अठारह (१८) गण एवं अठारह (१८) ही गणधर
केवली	— एक हजार आठ सौ (१८००)
मन.पर्यवज्ञानी	— एक हजार पांच सौ (१५००)
अवधिज्ञानी	— एक हजार आठ सौ (१८००)
चौदह पूर्वधारी	— पाच सौ (५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	— दो हजार (२०००)
वादी	— एक हजार दो सौ (१२००)
साधु	— तीस हजार (३००००)
साध्वी	— पचास हजार (५००००)
श्रावक	— एक लाख वहत्तर हजार (१७२०००)
श्राविका	— तीन लाख पचास हजार (३५००००)

परिनिर्वाण

तीस हजार वर्ष की पूर्ण आयु मे से प्रभु साढ़े सात हजार वर्ष कुमारावस्था मे रहे, साढे सात हजार वर्ष तक राज्य-पद पर रहे और पन्द्रह हजार वर्ष तक सयम-धर्म की आराधना की।

अन्त मे केवलज्ञान से जीवन का अन्तिमकाल निकट जानकर प्रभु ने एक हजार मुनियो के साथ एक मास का निर्जल अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्णा नवमी के दिन अश्विनी नक्षत्र मे सकल कर्मो का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हुए।

जैन इतिहास और पुराणो के अनुसार मर्यादा-पुरुषोत्तम राम जिनका अपर नाम पद्म वलदेव है और वासुदेव लक्ष्मण भी भगवान् मुनिसुव्रत के शासन-काल मे हुए। राम ने उत्कृष्ट साधना से सिद्धि प्राप्त की और सीता का जीव वारहवें स्वर्ग का अधिकारी हुआ। इनका पवित्र चरित्र "पउमचरियं" एवं पद्म-पुराण आदि ग्रन्थो मे विस्तार से उपलब्ध होता है।

भगवान् श्री नमिनाथ

भगवान् श्री मुनिसुव्रत स्वामी के पश्चात् इक्कीसवे तीर्थंकर श्री नमिनाथ हुए।

पूर्वभव

तीर्थंकर नमिनाथ का जीव जब पश्चिम विदेह की कोशाम्बी नगरी मे सिद्धार्थ राजा के भव मे था, तब किसी निमित्त को पाकर इनको वैराग्य हो आया।

उसी समय सुदर्शन मुनि का सहज समागम हुआ और उन्होने उत्कृष्ट भाव से दीक्षित होकर उनके पास विशिष्ट रूप से तप-संयम की साधना की। फलस्वरूप तीर्थंकर नाम-कर्म का बध किया और अन्त समय मे शुभ भाव के साथ काल कर अपराजित स्वर्ग मे देव रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

यही सिद्धार्थ राजा का जीव स्वर्ग से निकलकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन अश्विनी नक्षत्र मे मिथिला नगरी के महाराज विजय की भार्या महारानी वप्रा के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। मगलकारी चौदह शुभ-स्वप्नो को देखकर माता प्रसन्न थी। योग्य आहार, विहार और आचार से महारानी वप्रा ने गर्भ का पालन किया।

पूर्ण समय होने पर माता वप्रा देवी ने श्रावरण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र मे कनकवर्ण वाले पुत्ररत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया। नरेन्द्र और सुरेन्द्रों ने मगल महोत्सव मनाया।

नामकरण

वारहवे दिन नामकरण करते समय महाराज विजय ने अपने वन्धु-वान्धवो के बीच कहा – "जब यह बालक गर्भ मे था उस समय शत्रुओ ने मिथिला नगरी को घेर लिया। माता वप्रा ने जब राजप्रासाद की छत पर जाकर उन शत्रुओ की ओर सौम्य दृष्टि से देखा तो शत्रु राजा का मन वदल गया और वे मेरे चरणो मे आकर झुक गये। शत्रुओ के इस प्रकार नमन के कारण बालक का नाम नमिनाथ[1] रखना उचित प्रतीत होता है।"

---

[1] (क) गब्भगयम्मि य भगवते रणमिया नीसेसरिउरणो' तओ रणमि त्ति रणाम कय भगवओ। [च म पु च, पृ १७७]

(ख) नगर रोहिज्जति, देवी अट्टे सठिता दिट्ठा, पच्छा परणता रायाणो अण्णे य पच्चतिया रायाणो परणतातेण नमी [आव चू पृ ११, उत्तरार्ध]

उपस्थित लोगो ने सहर्ष राजा की वात का समर्थन किया और आपका नाम नमिनाथ रखा गया।

विवाह और राज्य

नमिनाथ के युवावस्था को प्राप्त होने पर महाराज विजय ने अनेक सुन्दर और योग्य राजकन्याओं के साथ नमिनाथ का पाणिग्रहण करवाया और दो हजार पाच सौ वर्ष की अवस्था होने पर राजा ने वड़े ही सम्मान और समारोह के साथ कुमार नमि का राज्याभिषेक किया।

नमिनाथ ने भी पांच हजार वर्ष तक राज्य का पालन कर जन-मन को जीतकर अपना वना लिया। वाद मे भोग्य कर्मों को क्षीण हुए जानकर उन्होने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु से तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की।

दीक्षा और पारणा

एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नमिनाथ ने राजकुमार सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया और स्वयं एक हजार राजकुमारों के साथ सहस्राम्र वन की ओर दीक्षार्थ निकल पड़े।

वहां पहुंचकर छट्ठ भक्त की तपस्या से विधिवत् सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर आषाढ़ कृष्णा नवमी को उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु वीरपुर पधारे और वहा के महाराज 'दत्त' के यहां परमान्न से प्रथम पारणा ग्रहण किया। दान की महिमा वढाने हेतु देवों ने पचदिव्य वरसाये और महाराज दत्त की कीर्ति को सर्वत्र फैला दिया।

केवलज्ञान

नौ मास तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या मे विचरे और फिर उसी उद्यान मे आकर वोरसली वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। वहां मृगशिर कृष्णा एकादशी[1] को शुक्ल-ध्यान की प्रचण्ड अग्नि मे सम्पूर्ण घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि कर भाव-अरिहन्त कहलाये।

केवली होकर देवासुर-मानवो की विशाल सभा मे धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर वन गये।

धर्म-परिवार

भगवान् नमिनाथ के सघ मे निम्न धर्म-परिवार था —

गण एव गणधर	— सत्रह गण (१७) एव सत्रह ही (१७) गणधर
केवली	— एक हजार छ सौ (१६००)

---

[1] ...आवश्यक निर्युक्ति और सत्तरिसय द्वार मे मार्गशीर्ष शु ११ है

मन:पर्यवज्ञानी	– एक हजार दो सौ सात (१२०७)
अवधिज्ञानी	– एक हजार छः सौ (१६००)
चौदह पूर्वधारी	– चार सौ पचास (४५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	– पाच हजार (५०००)
वादी	– एक हजार (१०००)
साधु	– वीस हजार (२००००)
साध्वी	– इकतालीस हजार (४१०००)
श्रावक	– एक लाख सत्तर हजार (१७००००)
श्राविका	– तीन लाख अड़तालीस हजार (३४८०००)

इस प्रकार प्रभु के उपदेशामृत का पान कर लाखो लोगो ने भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन कर आत्म-कल्याण किया।

परिनिर्वाण

नव मास कम ढाई हजार वर्ष तक केवली पर्याय से धर्मोपदेश करते हुए जब प्रभु ने मोक्षकाल समीप समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेत शिखर पर जाकर अनशन प्रारम्भ किया।

एक मास के अन्त मे शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण मे योग निरोध करके वैशाख कृष्णा दशमी को अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मो का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। आपकी पूर्ण आयु १० हजार वर्ष की थी।

मुनि सुव्रत स्वामी के छ लाख वर्ष पश्चात् नमिनाथ मोक्ष पधारे। इनके समय मे हरिषेण और शासनकाल मे जय नाम के चक्रवर्ती राजा हुए।

यहा इतना ध्यान रहे कि तीर्थंकर नमिनाथ और मिथिला के नमि राजर्षि एक नही, भिन्न-भिन्न है। नाम और नगर की एकरूपता से अधिकाश लेखक दोनों को एक समझ लेते हैं, पर वस्तुतः दोनो एक नही है।

तीर्थंकर 'नमिनाथ' महाराज विजय के पुत्र और स्वयबुद्ध है; जबकि नमि राज सुदर्शनपुर के युवराज युगबाहु के पुत्र और प्रत्येकबुद्ध हैं।

नमिराज दाह रोग से पीड़ित थे, दाह शान्ति के लिए चन्दन घिसती हुई रानियो के करो मे एक-एक चूडी देख कर वे प्रतिबोधित हुए। राज्यपद से वे ऋषि बने, अत: राजर्षि कहलाये।

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवे तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए।

पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शख राजा के भव मे तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया। भारतवर्ष मे हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शख के समान उज्ज्वल पुत्ररत्न को जन्म दिया, अत: उनका नाम शख कुमार रखा गया।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के सग क्रीड़ागण मे क्रीड़ा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगो ने आकर दर्दभरी पुकार की – "राजन् ! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयकर आतक जमा रखा है। यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नही की गई तो राज्य शत्रु के हाथ मे चला जायेगा। आप जैसे वीरों की मौजूदगी मे राज्य का रक्षण नही हुआ तो फिर हमे अन्य से किसी प्रकार की आशा नही है।"

यह पुकार सुनकर महाराज श्रीषेण वडे क्रुद्ध हुए और उन्होने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी। कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध मे जा रहे है तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले – "तात ! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लडने के लिये जाये, यह हमारे लिये शोभास्पद नही है। इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा ? आपकी आज्ञा भर की देर है, पल्लीपति को जीतने मे कुछ भी देर नही लगेगी।"

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज वडे प्रसन्न हुए और सैन्य लेकर उन्हे युद्ध में जाने की अनुमति दे दी।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार मे लेकर चारो ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनो को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था। कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख वन्दी के रूप मे प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

मार्ग में जितारि की कन्या यशोमती का हरणकर ले जाने वाले विद्याधर मणिशेखर से कुमार ने युद्ध किया और उसे पराजित कर दिया। यशोमती ने कुमार की वीरता पर मुग्ध होकर सहर्ष उनका वरण किया।

जब राजकुमार शंख ने पल्लीपति को वन्दी के रूप मे महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया तो वे वड़े प्रसन्न हुए और राजकुमार की योग्यता देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया एव स्वयं दीक्षित हो गये। श्रीषेण मुनि ने निर्मल भाव से साधना करते हुए घाति-कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान की प्राप्ति की।

एक बार महाराज शख अपने परिवार सहित मुनि श्री की सेवा मे वन्दना करने गये और उनकी देशना सुनकर वोले – "भगवन्! मेरा यशोमती पर इतना स्नेह क्यो है, जिससे कि मैं चाहकर भी सयम नही ले सकता?"

केवली मुनि ने पूर्वजन्म का परिचय देते हुए कहा – "शख! तुम जव धनकुमार के भव में थे तव यह तुम्हारी पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक मे भी तुम दोनो पति-पत्नी के रूप मे रहे। चौथे भव मे माहेन्द्र देवलोक में तुम दोनो मित्र थे। फिर पाचवे अपराजित के भव में भी तुम दोनो पति-पत्नी के रूप मे थे। छट्ठे जन्म मे आरण देवलोक मे भी तुम दोनो देव हुए। यह सातवा जन्म है, जहा तुम पति-पत्नी के रूप मे हो। पूर्व भवो के दीर्घकालीन सम्वन्ध के कारण तुम्हारा इसके साथ प्रगाढ़ प्रेम चल रहा है। आगे भी एक देव का भव पूर्णकर तुम वाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप से जन्म लोगे।

श्रीषेण केवली के पास पूर्वभव की वात सुनकर महाराज शख के मन मे वैराग्य जागृत हुआ और उन्होने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर वन्धु-वान्धवो के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

तप-सयम के साथ अर्हंत्, सिद्ध, साधु की भक्ति मे उत्कृष्ट अभिरुचि और उत्कट भावना के साथ निरत रहने के कारण उन्होने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया एव समाधिभाव से आयु पूर्णकर अपराजित विमान में अहमिन्द्र रूप से अनुत्तर वैमानिक देव हुए।

जन्म

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोगकर कार्तिक कृष्णा १२ को चित्रा नक्षत्र के योग मे च्युत हुआ और महाराज समुद्र विजय की धर्मशीला महारानी शिवा देवी की कुक्षि मे गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

शिवा देवी १४ शुभ-स्वप्नो के दर्शन से परम भाग्यशाली पुत्र-लाभ की वात जानकर वहुत प्रसन्न हुई और उचित आहार-विहार से गर्भकाल को पूर्णकर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग मे उसने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य प्रभाव से देव-देवेन्द्रो ने जन्म-महोत्सव मनाया और महाराज समुद्र विजय ने भी प्रमोद से याचको को मुक्तहस्त से दान देकर संतुष्ट किया एव नगर में मगल-महोत्सव मनाया गया।

शारीरिक स्थिति और नामकरण

अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक थे। गौतम गोत्री और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी। उनका शारीरिक संहनन वज्र सा दृढ और संस्थान-आकार समचतुरस्र था। उदर मछली जैसा था[1], उनका बल देव एव देवपतियों से भी बढकर था।

बारहवे दिन महाराज समुद्र विजय ने स्वजन और मित्र जनो को निमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और नामकरण करते हुए बोले – "बालक के गर्भकाल मे रहते हम सब प्रकार के अरिष्टो से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र-नेमि का दर्शन किया इसलिए इस बालक का नाम अरिष्टनेमि[2] रखा जाता है।"

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्र विजय हरिवशीय प्रतापी राजा थे। अत. यहां पर उनके वंश परिचय मे हरिवंश की उत्पत्ति का परिचय आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :-

हरिवंश की उत्पत्ति

दशवे तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ मे[3] वत्स देश की कौशाम्बी नगरी में सुमुह नाम का राजा था। उसने वीरक नामक एक व्यक्ति की वनमाला नाम की परम सुन्दरी स्त्री को प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया। पत्नी के विरह मे विलाप करता हुआ वीरक अर्द्धविक्षिप्त सा रहने लगा और कालान्तर मे वह बालतपस्वी हो गया। इधर वनमाला कौशाम्बीपति सुमुह की परमप्रिया होकर विविध मानवी भोगो का उपभोग करती हुई रहने लगी।

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहा वीरक को बड़ी दयनीय दशा मे देखकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा – "ओह! मैंने कितना बड़ा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है।"

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी। इस तरह पश्चात्ताप करते हुए दोनो ने भद्र एवं सरल परिणामो के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया। सहसा बिजली गिरने से दोनों का वही प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

---

[1] वज्जरिसह सघयणो समचउरंसो झसोयरो ॥ [उ सू, अ -२

[2] अरिष्टं अप्रशस्त तदनेन नामितं, नेमि सामान्यं,
विसेसो रिट्ठरयणामई नेमी, उप्पयमाणी मुविणे पेच्छति। [आव. चूर्णि नामक नगर

[3] सीयलजिणस्स तित्थे, सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसम्बीनयरीए, तत्थेव य वीरय कुविन्दो ॥ [प पश्चात् 'विशाल'

कालान्तर मे वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प मे किल्विषी देव हुआ और अवधिज्ञान से देखा कि मेरा शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि में अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगसुख भोग रहा है।

वह कुपित होकर सोचने लगा – "क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दू ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि मे उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हे यों तो नही मार सकता। पर इन्हे ऐसे स्थान पर पहुचाया जाय जहां तीव्र वन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दु ख परम्परा पा सके।"

उसने ज्ञान से देखा व सोचा – "चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अत इन्हे वहां पहुंचा दू क्योकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है तो फिर अधिक दिन की वात ही क्या ?"

ऐसा विचारकर देव ने करोड पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान मे पहुंचा दिया और नागरिकजनों को आकाशवाणी से कहने लगा – "तुम लोग राजा की खोज मे चिन्तित क्यो हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हू। तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मास-रस-भावित फल आदि से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना।"

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष मे अपवर्तन किया[1] और अवगाहना (शरीर की ऊचाई) भी घटा कर १०० धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नागरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और वडे सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनो मर कर नरक गति के अधिकारी वने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नही होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयासनाथ के पूर्व माना गया है।[2]

---

[1] पुव्वकोडीसेसाउएमु तेनि वेरं युमरिऊण वाससयसहस्सं विधारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपत्थिवे अपुत्ते वोच्छिण्णे नागरयाणं रायकखियाण हरिवरिसाओ तं मिहुणं साहरइ···· कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्त।

[वसुदेवहिडी, खं. १, भाग २, पृ. ३५७]

सामान्य रूप मे युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु
करका अपवर्तन हुआ क्योकि वन्व ऐसा ही था। वास्तव मे जितना आयु वन्धा है उसमे घट
को जन्मही होती फिर भी जो व्यवहार मे यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असख्य वर्ष
ोता है वे करोड पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इनकी
भाग्यश्री है। इस दृष्टि से व्यवहार में इसे अपवर्तन कहा जाता है। – सम्पादक
और महाराज समुजणम्मि तहणागए य सेयसे।
सतुष्ट किया एवं नगररिवसो जह तहा मुणह॥ [चउ. म. पु च., पृष्ठ १८०]

हरिवंश की परम्परा

हरिवंश मे अनेक शक्तिशाली प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमे से अनेको ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आजतक भी उन प्रतापी नराधिपतियो के नाम पर विख्यात हैं।

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश मे जो पैत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :-

(१) पृथ्वीपति (हरि का पुत्र)
(२) महागिरि
(३) हिमगिरि
(४) वसुगिरि
(५) नरगिरि
(६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवंश मे असख्य राजा हुए। बीसवे तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवश में हुए।

माधव इन्द्रगिरि का पुत्र दक्ष प्रजापति हुआ। इस दक्ष प्रजापति की रानी का नाम इला और पुत्र का नाम इल था। किसी कारणवश महारानी इला अपने पति दक्ष से रूठकर अपने पुत्र इल को साथ ले दक्ष के राज्य से वाहर चली गई और ताम्रलिप्ति प्रदेश मे इलावर्द्धन नामक नगर बसाया और इल ने माहेश्वरी नगरी बसाई।

राजा इल के पश्चात् इसका पुत्र पुलिन राज्य-सिंहासन पर आरूढ हुआ। पुलिन ने एकदा वन मे एक स्थान पर देखा कि एक हरिणी कुंडी बनाकर कुण्डलाकार मुद्रा मे एक सिंह का सामना कर रही है। इसे उस क्षेत्र का प्रभाव समझकर पुलिन ने उस स्थान पर 'कुंडिणी' नगरी बसाई।

पुलिन के वाद 'वरिम' नामक राजा हुआ जिसने इन्द्रपुर नगर बसाया। इसी वश के राजा 'संजती' ने वणवासी अथवा वाणवासी नाम की एक नगरी बसाई। इसी राजवश मे कोल्लयर नगर का अधिपति 'कुणिम' नामका एक प्रसिद्ध राजा हुआ। फिर इसका पुत्र महेन्द्र दत्त राजा हुआ। महेन्द्र दत्त के अरिष्टनेमि और मत्स्य नामक दो पुत्र वड़े प्रतापी राजा हुए। अरिष्टनेमि ने गजपुर नामक नगर बसाया और मत्स्य ने भद्दिलपुर नगर। अरिष्टनेमि और मत्स्य के प्रत्येक के सौ-सौ पुत्र हुए।

इसी हरिवश के 'अयधणू' नामक एक राजा ने सोज्झ नामक नगर बसाया। इसके वाद 'मूल' नामक राजा हुआ। राजा मूल के पश्चात् 'विशाल' नामक नृप हुआ जिसने 'मिथिला' नगरी को बसाया।

राजा विशाल के पश्चात् क्रमश. 'हरिषेण', 'नहषेण', 'सख', 'भद्र' और 'अभिचन्द्र' नाम के बहुत से राजा हुए। 'अभिचन्द्र' का पुत्र 'वसु' एक वडा प्रसिद्ध राजा हुआ जो आगे चलकर उपरिचर वसु (आकाश मे अधर सिंहासन पर बैठने वाला) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपरिचर वसु

यह वसु हरिवंश का एक महान् प्रतापी राजा था। उसने वाल्यावस्था में क्षीरकदम्बक नामक उपाध्याय के पास अध्ययन किया। महर्षि नारद एव आचार्य-पुत्र पर्वत भी वसु के सहपाठी थे। ये तीनो शिष्य जिस समय उपाध्याय क्षीर-कदम्बक के पास अध्ययन कर रहे थे उस समय किसी एक अतिशय-ज्ञानी ने अपने साथी साधु से कहा कि इन तीनों विद्यार्थियो में से एक तो राजा वनेगा, दूसरा स्वर्ग का अधिकारी होगा और तीसरा नरक मे जायगा।[1]

क्षीरकदम्बक ने किसी तरह यह बात सुनली और मन मे विचार किया कि वसु तो राजा वनेगा पर नारद और पर्वत, इन दोनो मे से नरक मे कौन जायगा, इसका निर्णय करना आवश्यक है। अपने पुत्र पर्वत और नारद की परीक्षा करने के लिये उपाध्याय ने एक कृत्रिम वकरा वनाया और उसमे लाक्षारस भर दिया। उपाध्याय द्वारा निर्मित वह वकरा वस्तुत. सजीव वकरे के समान प्रतीत होता था।

उपाध्याय ने नारद को वुलाकर कहा – "वत्स ! मैंने इस वकरे को मन्त्र-वल से स्तभित कर दिया है। आज बहुला अष्टमी है अतः सध्या के समय, जहा कोई नही देखता हो ऐसे स्थान पर इसे मार कर शीघ्र लौट आना।"

अपने गुरु के आदेशानुसार नारद सध्या के समय उस बकरे को लेकर निर्जन स्थान मे गया और विचार किया कि यहा तो तारे और नक्षत्र देख रहे हैं। वह और भी घने जगल के अन्दर चला गया और वहां पर भी उसने सोचा कि यहा पर भी वनस्पतियाँ देख रही है जो कि सचेतन है। उस घने जंगल के उस निर्जन स्थान से भी नारद बकरे को लिये हुए आगे बढ़ा और एक देवस्थान मे पहुँचा। पर वहाँ पर भी उसने मन मे विचार किया कि वहा पर भी देव देख रहे हैं।

नारद असमजस मे पड़ गया। उसके मन मे विचार आया – "गुरु-आज्ञा यह है कि जहा कोई नही देखता हो, उस स्थान पर इसका वध करना। पर ऐसा तो कही कोई भी स्थान नही है, जहा कि कोई न कोई नही देखता हो। ऐसी दशा मे यह बकरा निश्चित रूप से अवध्य है।"

---

[1] तत्थेगो अइसयनाणी, तेण इयरो भणिओ – एए तिण्णि जणा, एएसिं एक्को राजा भविस्सइ, एगो नरगगामी, एगो देवलोयगामि त्ति।

[वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८९–१९०]

अन्ततोगत्वा नारद उस बकरे को विना मारे ही गुरु के पास लौट आया और उसने गुरु के समक्ष अपने सारे विचार रखे।

गुरु ने साधुवाद के साथ कहा – "नारद ! तुमने विल्कुल ठीक तरह से सोचा है। तुम जाओ, इस सम्बन्ध मे किसी से कुछ न कहना।"[1]

नारद के चले जाने के अनन्तर उपाध्याय ने अपने पुत्र पर्वत को वुलाया और उसे भी वही कृत्रिम बकरा सम्हलाते हुए उसी प्रकार का आदेश दिया, जैसा कि नारद को दिया था।

वकरे को लेकर पर्वत एक जन-शून्य गली मे पहुँचा। उसने वहां खडे होकर चारो ओर देखा कि कही कोई उसे देख तो नही रहा है। जब वह आश्वस्त हो गया कि उसे उस स्थान पर कोई मनुष्य नही देख रहा है, तो उसने तत्काल उस वकरे को काट डाला। कृत्रिम वकरे की गर्दन कटते ही उसमे भरे लाक्षारस से पर्वत के वस्त्र लाल हो गये। पर्वत ने लाक्षारस को लहू समझकर वस्त्रो सहित ही स्नान किया और घर पहुँचकर यथावत् सारा विवरण अपने पिता के समक्ष कह सुनाया।

उपाध्याय क्षीरकदम्बक को अपने पुत्र की वात सुनकर अपार दु.ख हुआ। उन्होने क्रुद्ध-स्वर मे कहा – "ओ पापी ! तूने यह क्या कर डाला ? क्या तू यह नही जानता कि सम्पूर्ण ज्योतिषमण्डल के देव, वनस्पतिया और अदृश्य रूप से विचरण करने वाले गुह्यक सव के कार्यो को प्रतिक्षण देखते रहते है ? इन सवके अतिरिक्त तू स्वय भी तो देख रहा था। इस पर भी तूने वकरे को मार डाला। तू निश्चित रूप से नरक मे जायगा। हटजा मेरे सामने से।"[2]

कालान्तर मे नारद अपना अध्ययन समाप्त होने पर गुरु की पूजा कर अपने निवास-स्थान को लौट गया।

वसु ने गुरुकुल से विदाई लेते समय जव अपने गुरु से गुरुदक्षिणा के लिये आग्रह किया तो उपाध्याय क्षीरकदम्वक ने कहा – "वत्स ! राजा वन जाने पर तुम अपने समवयस्क पर्वत के प्रति स्नेह रखना। वस, यही मेरी गुरुदक्षिणा है। मैं तुम्हारा महन्त हूँ।"

---

[1] (क) वसुदेव हिण्डी, पृष्ठ १९०

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने उपाध्याय द्वारा तीनो शिष्यो को पृथक्-पृथक्, एक-एक कृत्रिम कुक्कुट देने का उल्लेख किया है। यथा –

समर्प्य गुरुरस्माकमेकैकं पिष्ट कुक्कुटम्।
उवाचामी तत्र वध्या, यत्र कोऽपि न पश्यति ॥

[त्रिषष्टि श पु च, पर्व ७, सर्ग २, श्लो० ३९१]

[2] तेरण भरिणओ – पावकम्म ! जोडसियदेवा वरणप्फतीओ य पच्छण्णचारियगुज्झया पस्सति जरणचरिय, सय च पस्समारणो 'न पस्सामि' त्ति विवाडेसि छगलग, गतो सि नरग, अवसर त्ति।

[वसुदेव हिण्डी, प्र ख, पृष्ठ १९०]

कुछ समय पश्चात् वसु चेदि देश का राजा वना। एक वार मृगया के लिये जगल मे घूमते हुए वसु ने एक मृग को निशाना वनाकर तीर चलाया, पर मृग एव तीर के वीच मे आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक पत्थर था अत वाण राह मे ही उससे टकरा कर गिर गया। पास मे जाकर वसु ने जव स्फटिक पत्थर को देखा तो उसके मन मे विचार आया कि यह स्फटिक पत्थर एक राजा के लिये वडी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वसु ने पास ही के वृक्षो की टहनिया काटकर उनसे उस स्फटिक पत्थर को आच्छादित कर दिया और अपने नगर मे लौटने पर प्रधानामात्य को स्फटिक पत्थर के सम्वन्ध मे अवगत किया।

प्रधानामात्य ने वह स्फटिक पत्थर राजप्रासाद मे मगवा लिया और उस पर वसु का राजसिहासन रख दिया। कही इस रहस्य का भण्डाफोड़ नही हो जाय, इस आशका से स्फटिक पत्थर लाने वाले सव लोगो को उनकी स्त्रियों सहित प्रधानामात्य ने मरवा डाला।

स्फटिकशिला पर रखे राजसिहासन पर वैठने के कारण वसु की ख्याति दिग्दिगन्त मे फैल गई कि न्याय एव धर्मपरायण होने के कारण वसु का राजसिहासन आकाश मे अधर रहता है और इस प्रकार वह उपरिचर वसु के नाम से लोक मे प्रख्यात हो गया।

आचार्य क्षीरकदम्वक की मृत्यु के पश्चात् पर्वत उपाध्याय वना और अध्यापन का कार्य करने लगा। पर्वत अपने शिष्यो को 'अजैर्यष्टव्य' इस वेद-वाक्य का यह अर्थ वताने लगा कि 'वकरो से यज्ञ करना चाहिए।'

नारद को जव इस अनर्थ की सूचना मिली तो वह पर्वत के पास पहुँचा। पर्वत ने इस गर्व से कि वह राजा के द्वारा पूजनीय है, जन-समुदाय के समक्ष कहा–"अजा अर्थात् वकरो से यज्ञ करना चाहिए।"[1]

नारद ने पर्वत को अच्छी तरह समझाया कि वह परम्परागत पवित्र वेद-वाक्य के अर्थ का अनर्थकारी प्रलाप न करे। अज का अर्थ ऋषि-महर्षि और श्रुतिया सदा से त्रैवार्षिक यव-व्रीही वताती आ रही है न कि छाग।

नारद द्वारा वार-वार समझाने-वुझाने पर भी पर्वत ने अपना दुराग्रह नही छोडा। ज्यो-ज्यो विवाद वढता गया त्यो-त्यो पर्वत का दुराग्रह भी वढता गया। अन्त मे क्रोध मे आकर पर्वत ने अपने असत्य-पक्ष पर अडे रहकर एकत्रित विद्वानो के समक्ष यह कह दिया–"नारद! मेरा पक्ष सत्य है। यदि मेरी वात मिथ्या सावित हो जाय तो विद्वानो के समक्ष मेरी जिह्वा काट डाली जाय अन्यथा तुम्हारी जिह्वा काट ली जाय।"[2]

---

[1] कयाइ च महाजणमज्झे पव्वयओ 'रायपूजिओ अह' त्ति गव्विओ पण्णवेति – अजा छगला, तेहि य जइयव्वं ति। [वसुदेव हिण्डी, प्रथम ख, पृ० १९०–१९१]

[2] ततो तेसिं समच्छरे विवादे वट्टमाणे पव्वयओ भणाति –
जइ अह वितहवादी ततो मे जीहच्छेदो विउसाण पुरओ, तव वा।
[वसुदेव हिण्डी प्र खं पृ० १९१]

नारद ने कहा– "पर्वत ! दुराग्रह का अवलम्बन लेकर इस प्रकार के प्रतिज्ञा न करो। मैं तो तुमसे बार-बार यही कहता हूँ कि इस प्रकार का अ॰ । और अधर्म मत करो। हमारे पूज्यपाद उपाध्याय ने हमे अज का अर्थ नही उगने वाला धान्य बताया है। यह तुम भी अपने मन मे भलीभाँति जानते हो। केवल दुराग्रहवश तुम जो यह अधर्मपूर्ण अनर्थ करने जा रहे हो यह तुम्हारे लिये भी अकल्याणकर है और लोकों के लिये भी।"

इस पर पर्वत ने कहा– "इस वेदवाक्य का अर्थ मैं भी अपनी बुद्धि से नही बता रहा हूँ। आखिर मैं भी उपाध्याय का पुत्र हूँ। पिताजी ने मुझे इसी प्रकार का अर्थ सिखाया है।"

नारद ने कहा– "पर्वत! हमारे स्वर्गीय गुरु के हम दोनो के अतिरिक्त तीसरे शिष्य हरिवशोत्पन्न महाराज उपरिचर वसु भी हैं। अत 'अजैर्यष्टव्य' का अर्थ उनसे पूछा जाय और वे जो इसका अर्थ बताए उसे प्रामाणिक और सत्य माना जाय।"

पर्वत ने नारद के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी माता के समक्ष नारद के साथ हुए अपने विवाद की सारी बात रखी।

माता ने पर्वत से कहा– "पुत्र ! तूने बहुत बुरा किया। तेरे पिता द्वारा नारद सदा ही सम्यक् प्रकार से विद्या ग्रहण करने वाला और ग्रहण की हुई विद्या को हृदयंगम करने वाला माना जाता था।"

इस पर पर्वत ने अपनी माता से कहा– "मा ! ऐसा न कहो। मैंने अच्छी तरह सूत्रों के अर्थ को समझा है। तुम देखना, मैं वसु के निर्णय से नारद को हराकर उसकी जिह्वा कटवा दूगा।"

पर्वत की माता को अपने पुत्र की बात पर विश्वास नही हुआ। वह महाराज वसु के पास गई और वसु के समक्ष 'अजैर्यष्टव्य' इस वेदवाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद खड़ा हुआ उसके सम्बन्ध मे दोनो के पक्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् वसु से उसने पूछा– "तुम्हारे आचार्य से तुम लोगो ने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेदवाक्य का क्या अर्थ सीखा था ?"

उत्तर मे वसु ने कहा– "मात ! इस पद का अर्थ जैसा कि नारद बताता है, वही हम लोगों ने हमारे पूज्यपाद आचार्य से अवधारित किया है।"

वसु का उत्तर सुन कर पर्वत की माता शोकसागर मे निमग्न हो गई। उसने वसु से कहा– "वत्स ! यदि तुमने इस प्रकार का निर्णय दिया तो मेरे पुत्र पर्वत का सर्वनाश सुनिश्चित है। पुत्र-वियोग मे मैं भी अपने प्राणों को धारण नही कर सकूगी। अत. अपने पुत्र की मृत्यु से पहले ही मैं तुम्हारे सम्मुख अभी इसी समय अपने प्राणो का परित्याग किये देती हूँ।"

यह कह कर पर्वत की माता ने तत्काल अपनी जिह्वा अपने हाथ पकड़ ली।

व्मरणोद्यत उपाध्यायिनी को देखकर वसु नृपति अवाक् रह गये। उसी लियेथ पाखण्ड-पन्थ के उपासक कुछ लोगो ने राजा वसु से कहा– "देव ! उपाध्यायिनी के वचनो को सत्य समझिये। यदि कही ऐसा अनर्थ हो गया तो हम इस पाप से तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे।"

अपनी उपाध्यायिनी द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के निवारणार्थ और पर्वत के समर्थक पाखन्डपन्थानुयायी लोगो के कहने मे आकर मजबूर हो वसु ने कहा– "मा ! ऐसा न करो। मैं पर्वत के पक्ष का समर्थन करूगा।"

अपना कार्य सिद्ध हुआ देख आचार्य क्षीरकदम्बक की विधवा पत्नी अपने घर को लौट गई।

दूसरे दिन जन-समुदाय दो दलो मे विभक्त हो गया। कई नारद की प्रशसा करने लगे तो कई पर्वत की। विशाल जनसमूह के साथ नारद और पर्वत महाराज उपरिचर वसु की राजसभा मे पहुँचे। उपरिचर वसु अदृश्य तुल्य स्फटिक-प्रस्तर-निर्मित विशाल स्तम्भ पर रखे अपने राजसिहासन पर विराजमान थे अत यही प्रतीत हो रहा था कि वे विना किसी प्रकार के सहारे के आकाश मे अधर सिंहासन पर विराजमान हैं।

नारद और पर्वत ने क्रमश अपना-अपना पक्ष महाराज उपरिचर वसु के समक्ष रखा और उन्हे निर्णय देने का अनुरोध किया कि दोनो पक्षो मे से किसका पक्ष सत्य है ?

सत्य-पक्ष को जानते हुए भी अपनी आचार्य-पत्नी पर्वत की माता को दिये गये आश्वासन के कारण असत्य-पक्ष का समर्थन करते हुए महाराज वसु ने निर्णय दिया– "अज अर्थात् छाग – वकरे से यज्ञ करना चाहिये।"

असत्य-पक्ष का जान-बूझ कर समर्थन करने के कारण उपरिचर वसु का सिहासन उसी समय सत्य के समर्थक देवताओ द्वारा ठुकराया जाकर पृथ्वी पर गिरा दिया गया और इस तरह 'उपरिचर' वसु 'स्थलचर' वसु वन गया।

तत्काल वसु के समक्ष प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ रखे गये और उससे कहा गया कि उन्हे देखकर पुन वह सही निर्णय दे। पर फिर भी वसु ने मूढतावश यही कहा – "जैसा पर्वत कहता है, वही इसका सही अर्थ है।"

अदृष्ट शक्तियो द्वारा वसु तत्काल घोर रसातल मे ढकेल दिया गया। उपस्थित जनसमुदाय पर्वत को धिक्कारने लगा कि इसने वसु का सर्वनाश करवा डाला। अधर्मपूर्ण असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण राजा वसु नरक के दारुण दुखों का अधिकारी वना।[1]

२[1] ततो उवरिचरो वसुराया, सोत्तीमतीए पव्वय-नारद विवाते 'अजेहिं अवीजेहिं छगलेहिं वा जड्व्व' ति पसुवधघायअलियवयण सक्खिकज्जे देवयाणिपाडयो अवरिं गतिं गओ।

[वसुदेव हिण्डी, द्वि ख , पृ० २५७]

तत्पश्चात् नारद वहा से चले गये। पर्वत ने तत्कालीन राजा सगर के शत्रु महाकाल नामक देव की सहायता से यज्ञो मे पशुवलि का सूत्रपात किया।

महाभारत मे वसु का उपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व मे भी वसुदेव हिण्डी से प्रायः काफी अशो मे मिलता-जुलता महाराज वसु का उपाख्यान दिया हुआ है। चेदिराज वसु द्वारा असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण वैदिकी श्रुति 'अजैर्यष्टव्यम्' मे दिये गये 'अज' शब्द का अर्थ त्रैवार्षिक यवो के स्थान पर छाग अर्थात् वकरे प्रतिपादित किया जाकर यज्ञो मे पशुवलि का सूत्रपात हुआ, इस तथ्य को जैन और वैष्णव दोनो परम्पराओ के प्राचीन और सर्वमान्य ग्रन्थ एकमत से स्वीकार करते हैं।

प्राचीनकाल के ऋषि, महर्षि, राजा एव सम्राट् अज अर्थात् त्रैवार्षिक यव, घृत एव वन्य ओषधियो से यज्ञ करते थे। उस समय के यज्ञो मे पशु-हिसा का कोई स्थान ही नही था और यज्ञो मे पशुवलि को घोरातिघोर पापपूर्ण, गर्हित एव निन्दनीय दुष्कृत्य समझा जाता था यह महाभारत मे उल्लिखित तुलाधार-उपाख्यान,[1] विचख्नु-उपाख्यान[2] एव उपरिचर राजा वसु के उपाख्यानो से स्पष्टरूपेण सिद्ध होता है।

---

[1] न भूतानामहिंसाया, ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
यस्मान्नोद्विजते भूत, जातु किंचित् कथचन ॥
सोऽभय सर्वभूतेभ्य, सम्प्राप्नोति महामुने ॥३०॥
[शान्ति पर्व, अ० २६२]

यदेव सुकृत हव्य, तेन तुष्यन्ति देवताः।
नमस्कारेण हविषा, स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥८॥
[शा० प०, अ० २६३]

पूजा स्याद् देवताना हि, यथा शास्त्रनिदर्शनम्। ॥९॥
[वही]

सता वर्त्मानुवर्तन्ते, यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनोषधीश्च, फल मूल च ते विदु ॥२६॥
[वही]

[2] सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति, वहिर्वेद्या पशून् नरा ॥५॥
[शा० पर्व, अ० २६४]

... अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥६॥
[वही]

यदि यज्ञाश्च, वृक्षाश्च, यूपाश्चोद्दिश्य मानवा।
वृथा मास न खादन्ति, नैषधर्म प्रशस्यते ॥८॥
[वही]

सुरा मत्स्या मधुमासमासव कृसरौदनम्।
धूर्तै प्रवर्तित ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥९॥
[वही]

मानान्मोहाच्च लोभाच्च, लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणा ॥१०॥
[वही]

यज्ञ मे पशुबलि का वचनमात्र से अनुमोदन करने के कारण उपरिचर वसु को रसातल के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त मे गिरना पडा इस सदर्भ मे महाभारत मे उल्लिखित वसु का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :–

"राजा वसु को घोर-तपश्चर्या मे निरत देखकर इन्द्र को शका हुई कि यदि यह इसी तरह तपश्चर्या करते रहे तो एक न एक दिन उसका इन्द्र-पद उससे छीन लेगे। इस आशका से विह्वल हो इन्द्र तपस्वी वसु के पास आया और उसे तप से विरत करने के लिये उसने समृद्ध चेदि का विशाल राज्य देने के साथ-साथ स्फटिक रत्नमय गगनविहारी विमान एव सर्वज्ञ होने का वरदान आदि दिये। वसु की राजधानी शुक्तिमती नदी के तट पर थी।"[1]

वसु का हिंसा-रहित यज्ञ

"इन्द्र द्वारा प्रदत्त आकाशगामी विमान मे विचरण करने के कारण ये उपरिचर वसु के नाम से लोक मे विख्यात हुए। उपरिचर वसु बड़े सत्यनिष्ठ, अहिसक और यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले थे।"

"अगिरस पुत्र – वृहस्पति इनके गुरु थे। न्याय, नीति एव धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते हुए राजा वसु ने महान् अश्वमेध यज्ञ किया। उस अश्वमेध यज्ञ के वृहस्पति होता तथा एकत, द्वित, त्रित, धनुष, रैभ्य, मेधातिथि, शालिहोत्र, कपिल,

---

[1] राजोपरिचरो नाम, धर्मनित्यो महीपति ।
वभूव मृगया गन्तु, सदा किल धृतव्रत ॥१॥
स चेदिविषय रम्य, वसु पौरवनन्दन ।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह, रमणीय महीपति ॥२॥
तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं, निवसन्त तपोनिधिम् ।
देवा शक्र पुरोगा वै, राजानमुपतस्थिरे ॥३॥
इन्द्रत्वमर्हो राजाय, तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
त सान्त्वेन नृप साक्षात्, तपस सन्यवर्तयन् ॥४॥
दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्व, सखाभूतो मम प्रिय ।
रम्य पृथिव्या यो देशस्तमावस नराधिप ॥७॥
' ' न तेऽस्त्यविदित किंचित्, त्रिपु लोकेषु यद्भवेत् ॥८॥
देवोपभोग्य दिव्य त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशग त्वा मद्दत्त विमानमुपपत्स्यते ॥१३॥
त्वमेक सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थित ।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि, देवो विग्रहवानिव ॥१४॥
ददामि ते वैजयन्ती, मालामम्लानपकजाम् ।
धारयिष्यति सग्रामे, या त्वा शस्त्रैरविक्षतम् ॥१५॥
यष्टि च वैष्णवी तस्मै, ददौ वृत्रनिषूदन ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य, शिष्टाना प्रतिपालिनीम् ॥१७॥
[महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३]

वैशम्पायन, कण्व आदि १६ महर्षि सदस्य हुये। उस महान् यज्ञ मे य सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई परन्तु उसमे किसी भी पशु के नही किया गया। राजा उपरिचर वसु पूर्ण अहिंसक भाव से उस यज्ञ मे सि हुए। वे हिंसाभाव से रहित, कामनाओ से रहित, पवित्र तथा उदारभाव से अश्वमेध यज्ञ करने मे प्रवृत्त हुए। वन मे उत्पन्न हुए फल मूलादि पदार्थो से ही उस यज्ञ मे देवताओ के भाग निश्चित किये गये थे।"

"भगवान् नारायण ने वसु के इस प्रकार यज्ञ से प्रसन्न हो स्वय उस यज्ञ मे प्रकट हो महाराज वसु को दर्शन दिये और अपने लिये अर्पित पुरोडाश (यज्ञभाग) को ग्रहण किया।" यथा –

सम्भूता. सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत्, स राजैव स्थितोऽभवत् ॥१०॥
अहिंस शुचिरक्षुद्रो, निराशी. कर्म सस्तुत.।
आरण्यकपदोद्भूता, भागास्तत्रौपकल्पिता. ॥११॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान्, देवदेव पुरातन।
साक्षात् त दर्शयामास, सौऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥१२॥
स्वय भागमुपाघ्राय, पुरोडाश गृहीतवान्।
अदृश्येन हृतो भागो, देवेन हरिमेधसा ॥१३॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६]

उस महान् अश्वमेध-यज्ञ को पूर्ण करने के पश्चात् राजा वसु बहुत काल तक प्रजा का पालन करता रहा।[1]

'अजैर्यष्टव्यम्' को लेकर विवाद

एक बार ऋषियो और देवताओ के बीच यज्ञो मे दी जाने वाली आहुति के सम्बन्ध मे विवाद उठ खडा हुआ। देवगण ऋषियो से कहने लगे "'अजेन यष्टव्यम्' (अजैर्यष्टव्यम्) अर्थात् 'अज के द्वारा यज्ञ करना चाहिए' यह, ऐसा जो विधान है, इसमे आये हुए 'अज' शब्द का अर्थ बकरा समझना चाहिए न कि अन्य कोई पशु। निश्चित रूप से यही वास्तविक स्थिति है।"

इस पर ऋषियो ने कहा – "देवताओ! यज्ञो मे बीजो द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजो का ही नाम अज है, अत बकरे का वध करना हमे उचित नही है। जहा कही भी यज्ञ मे पशुओ का वध हो, वह सत्-पुरुषो का धर्म नही है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमे पशु का वध कैसे किया जा सकता है?"

---

[1] समाप्तयज्ञो राजापि प्रजा पालितवान् वसु। " " " ६२॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

गा –

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहास पुरातनम् ।
ऋषीरणा चैव संवाद, त्रिदशाना च भारत ।।२।।
अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्य पशुरिति स्थितिः ।।३।।

ऋषय ऊचु

वीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुति. ।
अजसज्ञानि वीजानि, च्छाग नो हन्तुमर्हथ ।।४।।
नैष धर्म सता देवा, यत्र वध्येत वै पशु ।
इद कृतयुग श्रेष्ठ, कथ वध्येत वै पशुः ।।५।।

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

जिस समय देवताओ और ऋषियो के वीच इस प्रकार का सवाद चल रहा था उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी आकाशमार्ग से विचरण करते हुए उस स्थान पर पहुच गये । उन अन्तरिक्षचारी राजा वसु को सहसा आते देख ब्रह्मर्षियो ने देवताओ से कहा – "ये नरेश हम लोगो का सदेह दूर कर देंगे । क्योकि ये यज्ञ करने वाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतो के हितैषी एव प्रिय हैं । ये महान् पुरुष वसु शास्त्र के विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं ?"

इस प्रकार ऋषियो और देवताओ ने एकमत हो एक साथ राजा वसु के पास जाकर अपना प्रश्न उपस्थित किया – "राजन् ! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिए ? वकरे के द्वारा अथवा अन्न द्वारा ? हमारे इस सदेह का आप निवारण करे । हम लोगों की राय मे आप ही प्रामाणिक व्यक्ति है ।"

तव राजा वसु ने हाथ जोडकर उन सवसे पूछा – "विप्रवरो ! आप लोग सच-सच वताइये, आप लोगो मे से किस पक्ष को कौनसा मत अभीष्ट है ? अज शब्द का अर्थ आप मे से कौनसा पक्ष तो वकरा मानता है और कौनसा पक्ष अन्न ?"

वसु के प्रश्न के उत्तर मे ऋषियो ने कहा – "राजन् ! हम लोगों का पक्ष यह है कि अन्न से यज्ञ करना चाहिए तथा देवताओ का पक्ष यह है कि छाग नामक पशु के द्वारा यज्ञ होना चाहिये । अव आप हमे अपना निर्णय वताइये ।"[1]

---

[1] महाभारतकार के स्वय के शब्दो मे यह आख्यान इस प्रकार दिया गया है –
तेषा मवदतामेवमृषीरणा विवुधै सह ।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्त देश प्राप्तवान् वसु ।।६।।
अन्तरिक्षचर श्रीमान्, समग्रवलवाहन ।
त दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्त वसु ते त्वन्तरिक्षगम् ।।७।।
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति सशयम् ।
यज्वा दानपति श्रेष्ठ सर्वभूतहित प्रिय ।।८।।

वसु द्वारा हिंसापूर्ण यज्ञ का समर्थन व रसातल-प्रवेश

राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेते हुए कह दिया – "अज का अर्थ है छाग (बकरा) अत बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना चाहिए।"

यथा :–

देवाना तु मत ज्ञात्वा, वसुना पक्षसश्रयात् ॥१३॥
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्त वचस्तदा।

यह सुनकर वे सभी सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि क्रुद्ध हो उठे और विमान पर बैठकर देवपक्ष का समर्थन करने वाले वसु से बोले – "राजन्! तुमने यह जान कर भी कि 'अज' का अर्थ अन्न है, देवताओ का पक्ष लिया है अत तुम आकाश से नीचे गिर जाओ। आज से तुम्हारी आकाश मे विचरने की शक्ति नष्ट हो जाय। हमारे शाप के आघात से तुम पृथ्वी को भेद कर पाताल मे प्रवेश करोगे। नरेश्वर! तुमने यदि वेद और सूत्रो के विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप तुम पर अवश्य लागू हो और यदि हम लोग शास्त्र-विरुद्ध वचन कहते हो तो हमारा पतन हो जाय।"

ऋषियो के इतना कहते ही तत्क्षण राजा उपरिचर वसु आकाश से नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वी के विवर मे प्रवेश कर गये।

इस सदर्भ मे महाभारतकार के मूल श्लोक इस प्रकार है –

कुपितास्ते तत सर्वे, मुनय सूर्यवर्चस ॥१४॥
ऊचुर्वसु विमानस्थ, देवपक्षार्थवादिनम्।
सुरपक्षो गृहीतस्ते, यस्मात् तस्माद् दिव· पत ॥१५॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः।
अस्मच्छापाभिघातेन, मही भित्वा प्रवेक्ष्यसि ॥१६॥
(विरुद्ध वेदसूत्राणामुक्त यदि भवेन्नृप।
वय विरुद्धवचना, यदि तत्र पतामहे ॥)
ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ, राजोपरिचरस्तदा।
अधो वै सवभूवाशु. भूमेर्विवरगो नृप ॥१७॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

कथस्विदन्यथा ब्रूयादेप वाक्य महान् वसु।
एव ते सविद कृत्वा, विबुधा ऋपयस्तथा ॥९॥
अपृच्छन् सहितावेत्य, वसु राजानमन्तिकात्।
भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौपधै ॥१०॥
एतन्नः सशय छिन्धि प्रमाण वो भवान् मत।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा, परिपप्रच्छ वै वसु ॥११॥
कस्य वै को मत कामो, ब्रूत सत्य द्विजोत्तमा।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव, पक्षोऽस्माक नराधिप ॥१२॥
देवाना तु पशु पक्षो मतो राजन् वदस्व न। [महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

वसु के आठ पुत्रो मे से छः पुत्र क्रमश एक के वाद एक राजसिहासन पर वैठते ही दैवी-शक्ति द्वारा मार डाले गये, शेष दो पुत्र 'सुवसु' और 'पिहद्धय' 'शुक्तिमती' नगरी से भाग खड़े हुए। 'सुवसु' मथुरा मे जा वसा। और 'पिहद्धय' का उत्तराधिकारी राजा 'सुवाहु' हुआ। सुवाहु के पश्चात् क्रमशः 'दीर्घबाहु', वज्रवाहु, अर्द्धवाहु, भानु और सुभानु नामक राजा हुए। सुभानु के पश्चात् उनके पुत्र यदु इस हरिवंश में एक महान् प्रतापी राजा हुए। यदु के वंश में 'सौरी' और 'वीर' नाम के दो वड़े शक्तिशाली राजा हुए। महाराज सौरी ने सौरिपुर और वीर ने सौवीर नगर वसाया।[1]

भगवान् नेमिनाथ का पैतृक कुल

पूर्वकथित इन्ही हरिवशीय महाराज सौरी से 'अन्धकवृष्णि' और भोग-वृष्णि, दो पराक्रमी पुत्र हुए। 'अन्धकवृष्णि' के 'समुद्रविजय', अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द और वसुदेव ये दश पुत्र थे[2] जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए।

इनमे वडे समुद्रवजिय और छोटे वसुदेव, दो विशेष प्रभावशाली थे। समुद्रविजय वडे न्यायशील, उदार एव प्रजावत्सल राजा हुए[3] अपने छोटे भाई वसुदेव का लालन-पालन, रक्षण, शिक्षण एवं सगोपन इनकी देख-रेख मे ही होता रहा।

समय पाकर वसुदेव ने अपने पराक्रम से देश-देशान्तर मे ख्याति प्राप्त की। सौरिपुर के एक भाग मे उनका भी राज-शासन रहा। वसुदेव का विशेष परिचय यहा दिया जा रहा है।

वसुदेव का पूर्वभव और वाल्यकाल

कुमार वसुदेव अत्यन्त रूपवान्, पराक्रमी और लोकप्रिय थे। पूर्वजन्म मे नन्दीषेण ब्राह्मण के भव मे माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् कुटुम्बीजनों ने उसे घर से निकाल दिया।

---

[1] सोरिणा सोरियपुर निवेसाविय, वीरेण सोवीर। [वसु० हि०, पृ० ३५७]

[2] समुद्दविजयो, अक्खोहो, थिमियो, सागरो हिमवतो।
अयलो धरणो, पूरणो, अभिचन्दो वसुदेवो त्ति॥ [वही पृ० ३५८]

[3] सोरियपुरम्मि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति।
तस्सासि अग्गमहिसी, सिवत्ति देवी अणुज्जगी॥
तेसि पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमि तहेव रहनेमी।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी॥
जो सो अरिट्ठनेमि, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा।
रहनेमी सच्चनेमी एए पत्तेयबुद्धाउ॥
[उत्तराध्ययन नि०, गा० ४४३ – ४४५]

एक माली ने उसका पालन-पोषण कर वडा किया और अपनी पुत्रियो मे से किसी एक से उसका विवाह करने का उसे आश्वासन दिया किन्तु जब तीनों पुत्रियो द्वारा वह पसन्द नही किया जाकर ठुकरा दिया गया तो उसे वडी आत्म-ग्लानि हुई।

नन्दीषेण ने घने बीहड़ जगल मे जाकर फांसी डालकर मरना चाहा, वहां किसी मुनि ने देखकर उसे आत्महत्या करने से रोका और उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से विरक्त हो उसने मुनि-दीक्षा स्वीकार की एव ज्ञान-ध्यान और तप-संयम से साधना करने लगा। कठोर तप से अपने तिरस्कृत जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उसने प्रतिज्ञा की कि किसी भी बीमार साधु की सूचना मिलते ही उसकी सेवा करेगा फिर अन्न ग्रहण करेगा। तपस्या से उसे अनेक लब्धिया प्राप्त थी अत. रुग्ण साधुओ की सेवा के लिए उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती वही मिल जाती थी। इस सेवा के कारण वह समस्त भरत-खण्ड मे महातपस्वी के रूप मे प्रसिद्ध हो गया।

उसकी सेवा की प्रशसा स्वर्ग के इन्द्र भी किया करते थे। दो देवो द्वारा घृणाजनक सेवा की परीक्षा करने पर भी नन्दीषेण विचलित नही हुए। निस्वार्थ साधुसेवा से इन्होने महान् पुण्य का सचय किया।

अन्त मे कन्याओ द्वारा किये गये अपने तिरस्कार की बात यादकर उन्होने निदान किया[1] कि मेरी तपस्या का फल हो तो मैं अगले मानव-जन्म मे स्त्री-वल्लभ होऊ। इसी निदान के फलस्वरूप नन्दीषेण देवलोक का भव कर अन्धकवृष्णि के यहा वसुदेव रूप से उत्पन्न हुआ।

वसुदेव का बाल्यकाल बड़ा सुखपूर्वक बीता। ज्योही वे आठ वर्ष के हुए, कलाचार्य के पास रखे गये। विशिष्ट बुद्धि के कारण अल्प समय मे ही वे गुरु के कृपापात्र बन गये।[2]

वसुदेव की सेवा में कंस

जिस समय कुमार वसुदेव का विद्याध्ययन चल रहा था उस समय एक दिन एक रसवणिक् उनके पास एक बालक को लेकर आया और कुमार से अभ्यर्थना करने लगा—"कुमार! यह बालक कस आपकी सेवा करेगा, इसे आप अपनी सेवा मे रखे।"

---

[1] श्रीमद्‌भागवत मे जो वसुदेव और नारद का सवाद दिया हुआ है उसमे भी पूर्वभव मे निदान किये जाने की झलक मिलती है। यथा :—

अह किल पुरानन्त, प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजय न मोक्षाय, मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥
यथा विचित्र व्यसनाद्, भवद्भिर्विश्वतो भयात्।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा, तथा न शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

[श्रीमद्‌भागवत, स्कन्ध ११, अ० २]

[2] वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने रसवणिक् की प्रार्थना स्वीकार करली और तब से कस कुमार की सेवा मे रहने लगा और उनके साथ विद्याभ्यास करने लगा।

एक दिन जरासन्ध ने समुद्रविजय के पास दूत भेजा और कहलवाया – "सिहपुर के उद्दण्ड राजा सिहरथ को जो पकड कर मेरे पास उपस्थित करेगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह करूगा और उपहार मे एक नगर भी दूगा।"

वसुदेव को जब इस बात की सूचना मिली तो उन्होने समुद्रविजय से प्रार्थना की – "देव ! आप मुझे आज्ञा दे, मैं सिहरथ को बाध कर आपकी सेवा मे उपस्थित करूगा।"

समुद्रविजय ने कुमार वसुदेव के आग्रह और उत्साह को देखकर सबल सेना के साथ उन्हे युद्ध के लिये विदा किया।

वसुदेव का युद्ध-कौशल

वसुदेव का सेना सहित आगमन सुनकर सिहरथ भी अपने दल-बल के साथ मैदान मे आ डटा, दोनो सेनाओ के बीच घमासान युद्ध हुआ। सिहरथ के प्रचण्ड पराक्रम और तीक्ष्ण प्रहारो से वसुदेव की सेना के पैर उखडने लगे। यह देख कर वसुदेव ने अपने सारथी कस को आदेश दिया कि वह उनके रथ को सिहरथ की ओर बढावे। कस ने सिहरथ की ओर रथ बढाया और वसुदेव ने देखते ही देखते शरवर्षा की झडी लगाकर सिहरथ के सारथी और घोडो को बाणों से बीध दिया। उन्होने अपने रण-कौशल और हस्तलाघव से सिंहरथ को हतप्रभ कर दिया। कस ने भी परशु-प्रहार से सिहरथ के रथ के पहियो को चकनाचूर कर दिया और झपट कर सिहरथ को वन्दी वना लिया एव वसुदेव के रथ मे ला रखा। यह देख सिंहरथ की सारी सेना भाग छूटी।

वसुदेव सिंहरथ को लेकर सोरियपुर लौट आये और समुद्रविजय के समक्ष उसे बन्दी के रूप मे उपस्थित किया।[1] किशोरवय के कुमार वसुदेव की इस वीरता से समुद्रविजय बडे प्रसन्न हुए और उन्होने उल्लास एव उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश करवाया।[2]

कस का जीवयशा से विवाह

समुद्रविजय ने एकान्त पाकर वसुदेव से कहा – "वत्स ! मैने कोष्टुकी (नैमित्तिक) से जीवयशा के लक्षणो के सम्बन्ध मे पूछा तो ज्ञात हुआ कि जीवयशा उभय-कुलो का विनाश करने वाली है अत जीवयशा से विवाह करना श्रेयस्कर प्रतीत नही होता।"

---

[1] चउवन महापुरुष चरिय मे वसुदेव द्वारा सिंहरथ को सीधा जरासध के पास ले जाने का उल्लेख है।

[2] वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने समुद्रविजय की वात शिरोधार्य करते हुए कहा – "सिहरथ को वन्दी वनाने मे कस ने साहसपूर्ण कार्य किया है, अत· उसके पारितोषिक रूप में जीवयशा का कंस के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये ।"

समुद्रविजय द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि एक उच्च कुल के राजाधिराज की कन्या एक रसवणिक् के पुत्र से कैसे व्याही जा सकेगी, – वसुदेव ने कहा –"महाराज ! क्षत्रियोचित साहस को देखते हुए कस क्षत्रिय होना चाहिए न कि रसवणिक ।" वास्तविकता का पता लगाने हेतु रसवणिक् को वुलाकर पूछा गया ।

रसवणिक् ने कहा – "महाराज ! यह मेरा पुत्र नही है, मैंने तो यमुना मे वहती हुई कास्य-पेटिका से इसे प्राप्त किया है। तेज स्वभाव के कारण वडा होने पर यह वालकों को मारता-पीटता था। इसलिये इससे ऊवकर मैंने इसे कुमार की सेवा मे रख दिया। कासी की पेटी ही इसकी मा है और इसी लिए इसका नाम कस रखा गया है। इसके साथ पेटी मे यह नामाकित मुद्रिका भी प्राप्त हुई थी, जो सेवा मे प्रस्तुत है।"

मुद्रिका पर महाराज उग्रसेन का नाम देखकर समुद्रविजय को वडा आश्चर्य हुआ। वे सिहरथ और कंस को लेकर जरासध के पास पहुँचे और वन्दी सिहरथ को जरासध के समक्ष उपस्थित करते हुए कस के पराक्रम की प्रशसा की और वताया कि यह कस महाराज उग्रसेन का पुत्र है। यह सव सुनकर जरासध वड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपनी पुत्री जीवयशा का कस के साथ विवाह कर दिया।

अपने पिता द्वारा नदी मे वहा दिये जाने की वात सुन कस पहले ही अपने पिता से वदला लेने पर तुला हुआ था। जरासध का जामाता वनते ही उसने जरासध से मथुरा का राज्य माग लिया और मथुरा मे आकर द्वेपवश उग्रसेन को कारागृह में डालकर वह मथुरा का राज्य करने लगा।[1]

वसुदेव का सम्मोहक व्यक्तित्व

युवावस्था प्राप्त करते ही वसुदेव श्वेत परिधान पहने जातिमान् चचल तुरंग पर सवार हो एक उपवन से दूसरे उपवन मे, इस वन से उस वन मे प्रकृति की छटा का आनन्द लूटने लगे। नयनाभिराम वसुदेव को राजपथ से आते-जाते देखकर नागरिक जन उनके अलौकिक सौन्दर्य की मुक्तकठ से प्रशसा करते और महिलाए तो उनकी कमनीय कान्ति पर मुग्ध हो उन्हे एकटक निहारती हुई मन्त्र-मुग्धा हरिणियो की तरह सुध-वुध भूले उनके पीछे-पीछे चलने लगतीं। इस प्रकार हसी-खुशी के साथ उनका समय वीतने लगा।

एक दिन वसुदेव उपवनो से घूमकर राजप्रासाद मे लौटे ही थे कि समुद्र विजय ने उन्हे वडे दुलार से कहा – "कुमार ! तुम इस प्रकार दिन मे वाहर मत

---

[1] वसुदेव हिण्डी।

घूमा करो, तुम्हारा सुकुमार मुख धूलिधूसरित और कुम्हलाया सा दिख रहा है। घर में ही रहकर सीखी हुई कलाओ का अभ्यास किया करो – कही तुम उन कलाओ को भूल न जाओ।"

वसुदेव ने सहज विनयभाव से कहा – "ऐसा ही करुगा महाराज!" और उस दिन से वसुदेव राजप्रासाद मे ही रहने लगे।

एक दिन समुद्रविजय के लिए विलेपन तैयार करती हुई कुब्जा दासी से वसुदेव ने पूछा – "यह उवटन किसके लिये तैयार कर रही हो ?"

"दासी का छोटा सा उत्तर था – "महाराज के लिए।"

"क्या यह मेरे लिये नही है ?"

वसुदेव के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दासी ने कहा – "कुमार आपने अपराध किया है अत महाराज आपको उत्तम वस्त्राभूपण विलेपनादि नही देते।"

जब वसुदेव ने दासी द्वारा मना किये जाने पर भी वलात् विलेपन ले लिया तो दासी ने तुनक कर कहा – "इस प्रकार के आचरणो के कारण ही तो राजप्रासादो मे अवरुद्ध किये गये हो फिर भी अविनय से वाज नही आते।"

वसुदेव ने चौकन्ने होकर आग्रहपूर्वक दासी से पूछा – "अरि! मेरा कौनसा अपराध हो गया है जिससे कि महाराज ने मुझे प्रासाद में ही रोक रखा है ?"[1]

दासी ने कहा कि इस रहस्य के उद्घाटन से उसे राजा समुद्रविजय द्वारा दण्डित होने का डर है। वसुदेव ने प्रेमपूर्ण संभाषण से दासी को आखिर प्रसन्न कर लिया और उसने वसुदेव से कहा – "सुनिये कुमार! एक वार आपकी अनुपस्थिति में नगर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने महाराज के सम्मुख उपस्थित हो निवेदन किया कि शरद् पूर्णिमा के चन्द्र के समान मानव-मात्र के नयनों को आह्लादित करने वाले विशुद्ध-निर्मल चरित्रवान् छोटे राजकुमार नगर मे जिस किसी स्थान से निकलते हैं तो वहा का नवयुवति-वर्ग कुमार के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो उनके पीछे-पीछे मन्त्रमुग्धा हरिणियो के झुण्ड की तरह परिभ्रमण करता रहता है। कुमार अव इस पथ से निकलेंगे, इस आशा मे नगर की युवतियां सूर्योदय से पूर्व ही वातायनो, गवाक्षो, जाली-झरोखों और गृह-द्वारो पर जा डटती हैं और यह कहती हुई कि "जब कुमार यहा से निकलेंगे तो उन्हे देखेंगी" सारा दिन चित्रलिखित पुतलियो की तरह वही वैठे-वैठे विता देती हैं तथा रात्रि मे निद्रावस्था मे भी वार-वार चौक-चौंक कर वडवडाती है – "अरे! यह रहे वसुदेव, देखो-देखो! यही तो हैं वसुदेव।"

रमणिया शाक, पत्र, फलादि खरीदने जाती हैं तो वहां भी उनका यही ध्यान रहता है, कहती है – "ला वसुदेव दे-दे।" वच्चे जव क्रन्दन करते हैं तो कुमार के आगमन-पथ पर दृष्टि डाले युवतिया वच्चो को गाय के वछड़े समझकर

[1] वसुदेव हिण्डी।

रस्सियों से वाध देती हैं। इस प्रकार सारी नगरवधुए उन्माद की अवस्था को प्राप्त हो चुकी हैं, गृहस्थी का सारा काम-काज चौपट हो चुका है, देव और अतिथि-पूजन का प्रमुख गृहस्थाचार शिथिल हो नष्टप्राय हो चुका है। अत देव ! कृपा कर ऐसा प्रवन्ध कीजिये कि कुमार वार-वार उद्यान मे नही जाये।"

इस पर महाराज समुद्रविजय ने उन लोगो को आश्वस्त करते हुए कहा – "आप लोग विश्वस्त रहे, मैं कुमार को ऐसा करने से रोक दूंगा।" जो परिजन वहां उपस्थित थे उन्हे महाराज ने निर्देश दिया कि इस सम्वन्ध मे कुमार से कोई कुछ भी नही कहे।"

दासी के मुह से यह सव सुनकर वसुदेव वडे चिन्तित हुए और उन्होने निश्चय किया कि अव उनका वहा रहना श्रेयस्कर नही है। उन्होने अपना स्वर और वेश वदलने की गोलिया तैयार की और सन्ध्या-समय वल्लभ नामक दास के साथ नगर के वाहर चले आये। श्मशान मे एक शव को पडा देखकर वसुदेव ने अपने दास वल्लभ से कहा – "लकड़िया लाकर चिता तैयार कर।[1]"

सेवक ने चिता तैयार कर दी। वसुदेव ने सेवक से फिर कहा – "अरे ! जा मेरे शयनागार से मेरा रत्नकरण्डक ले आ, द्रव्य का दान कर मैं अग्नि-प्रवेश करता हूं।" वल्लभ ने कहा – "स्वामिन् ! यदि आपने यही निश्चय किया है तो आपके साथ मैं भी अग्नि-प्रवेश करुगा।"

वसुदेव ने कहा – "जैसा तुझे अच्छा लगे वही करना पर खवरदार इस रहस्य का भेद किसी को मत देना। रत्नकरण्डक लेकर शीघ्र लौट आ।"

"अभी लाया महाराज !" यह कहकर वल्लभ शीघ्रता से नगर की ओर दौडा।

वसुदेव ने उस अनाथ के शव को चिता पर रखकर अग्नि प्रज्वलित कर दी और श्मशान मे पडी एक अधजली लकड़ी से माता और गुरुजनो से क्षमा मागते हुए यह लिख दिया – "विशुद्ध स्वभाव का होते हुए भी नागरिको ने दोष लगाया इसलिए वसुदेव ने अपने आपको आग मे जला डाला।"

पत्र को श्मशान मे एक खम्भे से वाध कर वसुदेव त्वरित गति से वहा से चल पडे। वडी लम्वी दूरी तक पथ से दूर चलते हुए वे एक मार्ग पर आये और मार्ग तय करने लगे। उस मार्ग से एक युवती गाड़ी मे वैठी हुई ससुराल से अपने मातृगृह को जा रही थी। वसुदेव को देखते ही उसने अपने साथ के वृद्ध से कहा – "ओह ! यह परम सुकुमार ब्राह्मणकुमार पैदल चलते हुए परिश्रान्त हो गया होगा। इसे गाडी मे वैठा लो। आज रात अपने घर पर विश्राम कर कल आगे चला जायगा।"

वृद्ध ने गाडी मे वैठने का आग्रह किया। गाडी मे वैठे हुए सव की निगाहो

---

[1] वसुदेव हिण्डी।

से छुपकर जा सकूगा, यह सोचकर वसुदेव गाडी मे बैठ गए। सुगाम नामक नगर मे पहुँचकर स्नान, ध्यान भोजनादि से निवृत्त हो वसुदेव विश्राम करने लगे।

पास ही के यक्षायतन मे उस गाव के कुछ लोग बैठे हुए थे। कुमार ने उन्हे नगर से आये हुए लोगो द्वारा यह कहते हुए सुना – "आज नगर मे एक वडी दुखद घटना हो गई, कुमार वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया। वसुदेव का वल्लभ नामक सेवक जलती हुई चिता को देखकर करुण क्रन्दन करता हुआ नगर मे दौडा आया। लोगो द्वारा कारण पूछे जाने पर उसने कहा कि जनापवाद के डर से राजकुमार वसुदेव ने चिता मे जलकर प्राणत्याग कर दिये।[1] इतना सुनते ही नगर मे सर्वत्र चीत्कार और हाहाकार मच गया।

नागरिको के रुदन को सुनकर नौ ही भाई तत्काल श्मशान मे पहुँचे और वहा कुमार के हाथ से लिखे हुए पत्र को पढकर शोक से रोते-रोते उन्होने चिता को घृत और मधु से सीचा, चन्दन, अगर और देवदारु की लकडियो से आच्छादित कर दिया तथा उसे जलाकर प्रेतकार्य सम्पन्न कर वे सब अपने घर को लौट गये।"

यह सब सुन कर वसुदेव को चिन्ता हुई। उनके मुह से अनायास निकल गया – "यह सासारिक बन्धन कितना गूढ और रहस्यपूर्ण है, चलो, मेरे आत्मीय-जनो को विश्वास हो गया कि वसुदेव मर गया। अब वे मेरी कोई खोज नही करेंगे, अब मुझे निश्शक हो निर्विघ्न रूप से स्वच्छन्द-विचरण करना चाहिए।"

रात भर विश्राम कर वसुदेव ने दूसरे दिन वहा से प्रस्थान किया और वैताढ य गिरि की उपत्यकाओ मे बसे विभिन्न नगरो और अनेक देशो में पर्यटन किया। वसुदेव ने अपने इस पर्यटन-काल मे अनेक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य किये, वेदो और अनेक विद्याओ का अध्ययन किया। वसुदेव के सम्मोहक व्यक्तित्व और अद्भुत पराक्रम पर मुग्ध हो अनेको वडे-वडे राजाओ ने अपनी सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर कन्याओ का उनके साथ विवाह कर विपुल सम्पदाओ से उन्हे सम्मानित किया।

एकदा देशाटन करते हुए वसुदेव कोशल जनपद के प्रमुख नगर अरिष्टपुर में पहुँचे। वहा उन्हे ज्ञात हुआ कि कोशलाधीश महाराज 'रुधिर' की अनुपम रूपगुण-सम्पन्ना राजकुमारी 'रोहिणी' के स्वयवर मे जरासन्ध, दमघोष, दन्तवक्त्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ और कस आदि अनेको बडे-बड़े अवनिपति आये हुए है तो वसुदेव भी पणव-वाद्य हाथ मे लिये स्वयवर-मण्डप मे पहुँचे और एक मच पर जा बैठे।[2]

परिचारिकाओ से घिरी हुई राजकुमारी 'रोहिणी' ने वरमाला हाथ मे लेकर ज्यो ही स्वयवर-मण्डप मे प्रवेश किया, सारा राज-समाज उसके अनुपम सौन्दर्य की कान्ति से चकाचौध हो चित्रलिखित सा रह गया। यह त्रैलोक्य

---

[1] वसुदेव हिण्डी।

[2] वसुदेव हिण्डी।

सुन्दरी न मालूम किस का वरण करेगी इस आशंका से सबके दिल धड़क रहे थे, सबकी धमनियो में रक्तप्रवाह उच्चतम गति को पहुंच चुका था।

जिन राजाओ के सामने से रोहिणी अपने हाथो मे ली हुई वरमाला को विना हिलाये ही आगे वढ गई उन राजाओ के मुख राहु-ग्रस्त सूर्य की तरह निस्तेज हो काले पड़ गये। वसुदेव ने अपने पणव पर हल्का सा मन्द-मधुर नाद किया कि रोहिणी मन्त्रमुग्धा मयूरी की तरह वडे-वडे राजाओं-महाराजाओ का अतिक्रमण करती हुई वसुदेव की ओर वढ गई और वसुदेव की ओर देखते ही उनके गले में वरमाला डाल दी व उनके मस्तक पर अक्षतकरण चढा कर रनिवास में चली गई।

मण्डप मे इससे हलचल मच गई। सव राजा लोग एक दूसरे से पूछने लगे—"किसका वरण किया?" उत्तर मे अनेको के स्वर गूज रहे थे—"एक गायक को।"

राजाओ का क्षोभ उग्र रूप धारण करने लगा। महाराज दन्तवक्त्र ने गरजते हुए कोशलाधीश को कहा—"तुम्हारी कन्या यदि एक गायक को ही चाहती थी तो इन उच्चकुलीन वडे-वडे क्षत्रिय-राजाओ को क्यो आमन्त्रित किया गया? कोई क्षत्रिय इस अपमान को सहन नही करेगा।"

कोशलपति ने कहा—"स्वयवर मे कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता है, इसके अनुसार उसने जिसको योग्य समझा उसे अपना पति वना लिया। अव पर-दारा की आकांक्षा करना क्या किसी कुलीन के लिए शोभाप्रद है?"

दन्तवक्त्र ने कहा—"तुमने अपनी कन्या को स्वयंवर मे दिया है, यह ठीक है पर मर्यादा का अतिक्रमण तो नही होना चाहिये। अत. तुम्हारी कन्या इस वर को छोडकर किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"[१]

वसुदेव ने दन्तवक्त्र को सम्वोधित करते हुए कहा—"दन्तवक्त्र! जैसा तुम्हारा नाम टेढा है वैसी ही टेढ़ी तुम वात भी कर रहे हो। क्या क्षत्रियो के लिये कला-कौशल की शिक्षा वर्जित है, जो तुम मेरे हाथ मे पणव को देखने मात्र से ही समझ रहे हो कि मैं क्षत्रिय नही हूँ?"

इस पर दमघोष ने कहा—"अज्ञातवश वाले को कन्या किसी भी दशा मे नही दी जा सकती अत. राजकुमारी इसे छोडकर अन्य किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"

विदुर द्वारा यह मत प्रकट करने पर कि इनसे इनके वंश के सम्वन्ध मे पूछ लिया जाय; वसुदेव ने कहा—"क्यो कि सव विवाद मे लगे हुए हैं अत कुल-परिचय के लिए यह उपयुक्त समय नही है, अव तो मेरा वाहुवल ही मेरे कुल का परिचय देगा।"

---

१ वसुदेव हिण्डी

इतना सुनते ही जरासन्ध ने क्रुद्ध-स्वर मे कहा—"पकड़ लो राजा रुधिर को।"

कोशलपति ने भी अपनी सेना तैयार कर ली। स्वयम्वर मे एकत्रित सब राजाओं ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और भीषण संग्राम के पश्चात् कोशलपति को घेर लिया। यह देख अरिजयपुर के विद्याधर-राजा 'दधिमुख' के रथ मे आरूढ हो वसुदेव ने सबको ललकारा। वसुदेव के इस अदम्य साहस और तेज से राजा लोग बड़े विस्मित हुए और कहने लगे "ओह! कितना इसका साहस है जो सब राजाओ के समक्ष एकाकी युद्ध हेतु सन्नद्ध है।"

सब राजाओ को एक साथ वसुदेव पर आक्रमण करने के लिए उद्यत देख महाराज पाण्डु ने कहा—"यह क्षत्रियो का धर्म नही है कि अनेक मिलकर एक पर आक्रमण करे।"

महाराज पाण्डु से सहमति प्रकट करते हुए जरासंध ने भी निर्णायक स्वर मे कहा—"हां, एक-एक राजा इसके साथ युद्ध करे, जो जीत जायगा उसही की रोहिणी पत्नी होगी।"

इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने पर वसुदेव ने क्रमशः शत्रुजय, दन्तवक्त्र और कालमुख जैसे महापराक्रमी राजाओ को अपने अद्भुत रणकौशल से पराजित कर दिया।

इन शक्तिशाली राजाओं को पराजित हुआ देख कर जरासन्ध ने महाराज समुद्रविजय से कहा—"आप इस शत्रु को पराजित कर सब क्षत्रियो की अनुमति से रोहिणी को प्राप्त करे।"

अन्ततोगत्वा महाराज समुद्रविजय शरवर्षा करते हुए वसुदेव की ओर बढे। वसुदेव ने समुद्रविजय के बाणों को काट गिराया, पर उन पर प्रहार नही किया।[1] इस पर समुद्रविजय कुपित हुए। उस समय वसुदेव ने अपना नामाकित बाण उनके चरणो मे प्रेषित किया। वसुदेव के नामाकित तीर को देखकर समुद्रविजय चकित हुए, गौर से देखा और धनुष-बाण को एक ओर रख हर्षोन्मत्त हो वे वसुदेव की ओर बढे। वसुदेव भी शस्त्रास्त्र रखकर अपने बडे भाई की ओर अग्रसर हुए।

समुद्रविजय ने अपने चरणो में झुकते हुए वसुदेव को बाहु-पाश मे आबद्ध कर हृदय से लगा लिया। अक्षोभादि शेष आठ भाई और महाराज पाण्डु, दमघोष आदि भी हर्षोत्फुल्ल हो वसुदेव से मिले और कस भी बड़े प्रेम से वसुदेव की सेवा मे आ उपस्थित हुआ।

जरासन्ध आदि सब राजा कोशलेश्वर के भाग्य की सराहना करने लगे। इससे प्रसन्न हो कोशलपति रुधिर ने भी बड़े समारोह के साथ वसुदेव से रोहिणी

---

[1] वसुदेव हिण्डी।

का विवाह सम्पन्न किया। उत्सव की समाप्ति पर सब नरेश अपने-अपने नगरो को प्रस्थान कर गए, पर महाराजा रुधिर के आग्रह के कारण समुद्रविजय को एक वर्ष तक अरिष्टपुर में ही रहना पडा। कस भी इस अवधि में वसुदेव के साथ ही रहा। कोशलेश के आग्रह को मान देते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव को अरिष्टपुर में कुछ दिन और रहने की अनुमति प्रदान की और अन्त मे विदा होते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव से कहा – "कुमार! तुम वहुत घूम चुके हो, अव सव कुलवधुओ को साथ लेकर शीघ्र ही घर आ जाना।"

कंस ने भी विदा होते समय वसुदेव से कहा – "देव सूरसेण राज्य आपका ही है, मैं वहां आप द्वारा रक्षित मात्र हूँ।"

वसुदेव और रोहिणी वड़े आनन्द के साथ अरिष्टपुर मे रहे। वहा रहते हुए रोहिणी ने एक रात्रि में चार शुभ-स्वप्न देखे और समय पर चन्द्रमा के समान गौरवर्ण पुत्र को जन्म दिया। रोहिणी के इस पुत्र का नाम वलराम रखा गया।

तदनन्तर कुछ समय अरिष्टपुर मे रहने के पश्चात् वसुदेव अपनी सामली, नीलयशा, मदनवेगा, प्रभावती, विजयसेना, गन्धर्वदत्ता, सोमश्री, धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पोडा, रत्तवती, प्रियगुसुदरी, वन्धुमती, प्रियदर्शना, केतुमती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री और रोहिणी – इन रानियो के साथ चलकर सोरियपुर आ पहुँचे।

कुछ समय पश्चात् कंस वसुदेव के पास आया और वडे ही अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना कर उन्हे सपरिवार मथुरा ले गया। वसुदेव भी मथुरा के राज-प्रासादो मे वड़े आनन्द के साथ रहने लगे।[1]

वसुदेव-देवकी विवाह और कंस को वचन-दान

एक दिन कस की राय से महाराज वसुदेव देवक राजा की पुत्री देवकी को वरण करने के लिए मृत्तिकावती नगरी की ओर चले। वीच मे ही उन्हे नेम-नारद मिले। वसुदेव ने उनसे देवकी के वारे मे पूछा तो नारद ने उसके रूप, गुण और शील की वडी प्रशसा की। यह सुनकर वसुदेव ने नेम-नारद से कहा – "आर्य! जैसा देवकी का वर्णन आपने मेरे सामने किया है वैसे ही देवकी के सामने मेरा परिचय भी रखना।"

"एवमस्तु" कह कर नारद वहा से राजा देवक के यहा गये और देवकी के सामने वसुदेव के रूप, गुण की भूरि-भूरि प्रशसा की।

वसुदेव कस के साथ मृत्तिकावती पहुँचे और कस द्वारा वसुदेव के गुणवर्णन से प्रभावित होकर देवक ने शुभ दिन मे वसुदेव के साथ देवकी का विवाह कर दिया।[2]

---

[1] वसुदेव हिण्डी।

[2] कसेण तस्स दिन्ना, पित्तिय धूया य देवकी णाम। [च० म० पु० च० पृ० १८३]

वसुदेव के सम्मान में देवक ने बहुत सा धन, दास, दासी और कोटि गायो का गोकुल, जो कि नन्द को प्रिय था, दहेज रूप मे अर्पित किया। बड़ी ऋद्धि के साथ देवकी को लेकर वसुदेव वहा से चलकर मथुरा पहुँचे। कस भी उस मगल महोत्सव मे वसुदेव के साथ मथुरा पहुँचा और विनयपूर्वक वसुदेव से बोला कि देव ! इस खुशी के अवसर पर मुझे भी मुहमांगा उपहार दीजिये।

वसुदेव के 'हा' कहने पर हर्षित हो कस ने देवकी के सात गर्भ मागे। मैत्री के वश सहज भाव से विना किसी अनिष्ट की आशका के वसुदेव ने कस की वाते मानली।

कस के चले जाने पर वसुदेव को मालूम हुआ कि अतिमुक्तक कुमार श्रमरण ने कस-पत्नी जीवयशा द्वारा उन्हे देवकी का आनन्दवस्त्र दिखाकर उपहास किये जाने पर[1] क्रुद्ध हो कर कहा था – "जिस पर प्रसन्न हो तू नाचती है, उस देवकी का सातवां पुत्र तेरे पति और पिता का घातक होगा।"

कंस ने श्रमरण के इसी शाप से भयभीत हो कर उक्त वरदान की याचना की है। वसुदेव ने मन ही मन विचार किया – "क्षत्रिय कभी अपने वचन से पीछे नही लौटते। मैंने शुद्ध मन से जव एक बार कंस को गर्भदान का वचन दे दिया है तो फिर इस वचन का निर्वाह करना ही होगा, भले ही इसके लिए वडी से वड़ी विपत्ति का सामना क्यो न करना पड़े।"[2]

विवाह के पश्चात् देवकी ने क्रमश. छ वार गर्भ धारण किये पर प्रसवकाल मे ही देवकी के वे छः पुत्र सुलसा गाथापत्नी के यहां तथा सुलसा के छः मृत पुत्र देवकी के यहा हरिणैगमेषी देव ने अपनी देवमाया द्वारा अज्ञात रूप से पहुँचा दिये। वे ही छ पुत्र वसुदेव ने अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रसव के तुरन्त पश्चात् ही कंस को सौंपे और कंस ने उन्हे मृत समझकर फेंक दिया।

सातवी बार जव देवकी ने गर्भ धारण किया तो सात महाशुभ-स्वप्न देख कर वह जागृत हुई और वसुदेव से स्वप्नों का हाल कह सुनाया। वसुदेव ने भी स्वप्नफल सुनाते हुए कहा – "देवि ! तुम एक महान् भाग्यशाली पुत्र को जन्म दोगी। यही तुम्हारा सातवां पुत्र अइमुत्त श्रमरण के वचनानुसार कस और जरासंध का विघातक होगा।"

---

[1] (क) आनन्दवस्त्रमेनत्ते, देवक्या स्वसुरीक्ष्यताम् ॥

[हरिवंश पु० स० ३० श्लोक ३३]

(ख) जीवजसाए हसिओ, अइमुत्त मुणी य मत्ताए ॥४३।
तेणय कोवावूरिय, हियएण मुणिवरेण मा सत्ता।
जो देवतीय गब्भो, सो तुह पइणो विणासाय ॥४४।

[च० म० पु० पृष्ठ १८३]

[2] वसुदेव हिण्डी।

देवकी स्वप्नफल सुनकर वडी प्रसन्न हुई और वसुदेव से एकान्त में बोली – "देव ! कृपा कर इस सातवे गर्भ की रक्षा करना, इसमें जो वचन-भग का पाप होगा वह मुझे हो, पर एक पुत्र तो मेरा जीवित रहना ही चाहिए।"

वसुदेव ने देवकी को आश्वस्त किया। नव मास पूर्ण होने पर देवकी ने कमलदलसम श्याम कान्ति वाले महान् तेजस्वी वालक को जन्म दिया।

प्रसवकाल मे देवकी की संतान का स्थानान्तरण न हो, इस शका से कंस ने पहरेदार नियुक्त कर रखे थे। देवकी के जव पूर्ण काल मे तेजस्वी पुत्ररत्न का जन्म हुआ उस समय दिव्य प्रभाव से पहरेदार निद्राधीन हो गये। ज्ञात कर्म होने पर वसुदेव जव वालक को गोकुल की ओर ले जाने लगे उस समय मन्द २ वर्षा होने लगी। देवता ने अदृश्य छत्र धारण किया और दोनो ओर दो दिव्य ज्योतिया जगमगाती हुई साथ-साथ चलने लगी।

वसुदेव निरवाध अधेरी रात मे कृष्ण को लिए चल पडे और यमुना नदी को सरलता से पार कर व्रज पहुँचे। वहा नन्द गोप की पत्नी यशोदा ने उसी समय एक वालिका को जन्म दिया था। यशोदा को वालक अर्पित किया और वालिका को लेकर वसुदेव तत्काल अपने भवन मे लौट आये तथा देवकी के पास कन्या रख कर शीघ्र अपने शयनागार मे चले गये। कस की दासिया जागृत हुईं और सद्यःजाता उस वालिका को लेकर कंस की सेवा मे उपस्थित हुईं। कस भी अपना भय टला समझ कर प्रसन्न हुआ।[1]

कस को देवकी की सतान के हाथो अपनी मृत्यु होने का भय था अत. वह नही चाहता था कि देवकी की कोई संतान जीवित वची रहे।

इसी कारण श्रीकृष्ण की सुरक्षा हेतु उनका लालन-पालन गोकुल मे किया गया। वालक कृष्ण के अनेक अद्भुत शौर्य और साहसपूर्ण कार्यो से कस को सदेह हो गया कि कही यही वालक वड़ा होने पर उसका प्राणान्त न कर दे, अत. उसने वालक कृष्ण को मरवा डालने के लिये अनेक षड्यन्त्र किये।

कस ने अपने अनेक विश्वस्त मायावी मित्रो एव सहायकों को छद्म वेष मे गोकुल भेजा। वालक कृष्ण को मार डालने के लिये अनेक वार छल, प्रपच-पूर्ण प्रयास किये गये पर हर वार श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास करने वाले वे मायावी ही वलराम और कृष्ण द्वारा मार डाले गये।

अन्त मे कंस ने मथुरा मे अपने राजप्रासाद मे मल्लयुद्ध का आयोजन किया और कृष्ण एव वलराम को मारने के लिये मदोन्मत्त दो हाथियों व चाणूर तथा मुष्टिक नामक दो दुर्दान्त मल्लों को तैनात किया पर कृष्ण और वलराम ने उन दोनों मल्लो और मत्त हाथियो को मौत के घाट उतार दिया।

अपने षड्यन्त्र को विफल हुआ देखकर कंस वडा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने योद्धाओ को आदेश दिया कि वे कृष्ण और वलराम को तत्काल मार डाले।

---

[1] वसुदेव हिण्डी के आधार पर।

तत्क्षण कस के अनेक सैनिक कृष्ण और बलराम पर टूट पड़े । महाबली बलराम कस के सैनिको का सहार करने लगे और कृष्ण ने क्रुद्ध शार्दूल की तरह छलांग भर कर कस को राजसिहासन से पृथ्वी पर पटक कर पछाड डाला ।

इस प्रकार कृष्ण ने कस का वध कर डाला और कंस के अत्याचारो से त्रस्त प्रजा ने सुख की सांस ली ।

कंस के वध से जरासंध का प्रकोप

कस के मारे जाने पर महाराज समुद्रविजय ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर अपने भाइयो तथा बलराम एव कृष्ण के परामर्श से मथुरा के राज-सिहासन पर बिठाया । उग्रसेन ने भी अपनी पुत्री सत्यभामा का श्रीकृष्ण के साथ बडी धूमधाम से विवाह कर दिया ।

अपने पति कंस की मृत्यु से क्रुद्ध हो जीवयशा यह कहती हुई राजगृह (कुसुमपुर)[1] की ओर प्रस्थान कर गयी कि बलराम कृष्ण और दशार्हो का सतति सहित सर्वनाश करके ही वह शान्त बैठेगी, अन्यथा अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी ।

जीवयशा ने राजगृह पहुचकर रोते-रोते अपने पिता जरासंध को मुनि अतिमुक्तक की भविष्यवाणी से लेकर कृष्ण द्वारा कसवध तक का सारा विवरण कह सुनाया ।

जरासध सारा वृत्तान्त सुनकर अपनी पुत्री के वैधव्य से बड़ा दुखित हुआ । उसने जीवयशा को आश्वस्त करते हुए कहा – "पुत्री ! तू मत रो । अब तो सब ही यादवो की स्त्रिया रोवेगी । मैं यादवो को मारकर पृथ्वी को यादव-विहीन कर दूगा ।"

कालकुमार द्वारा यादवों का पीछा और अग्नि-प्रवेश

अपनी पुत्री को आश्वस्त कर जरासध ने अपने पुत्र एव सेनापति काल-कुमार को आदेश दिया कि वह पाच सौ राजाओ और एक प्रबल एव विशाल सेना के साथ जाकर समस्त यादवो को मौत के घाट उतार दे ।

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासध के समक्ष प्रतिज्ञा की – "देव ! यादव लोग जहा भी गये होगे उनको मारकर ही मैं लौटूगा । अगर वे मेरे भय से अग्नि मे भी प्रवेश कर गये होगे तो मै वहा भी उनका पीछा करूंगा ।"

जब यादवो को अपने गुप्तचरो से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डीदल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ रहा है तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवो को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्रविजय

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरिय मे कुसुमपुर को जरासध की राजधानी बताया गया है । यथा…
कुसुमपुरे णयरे जरासंधो महाबलपरक्कमो राया । [पृ० १८१]

और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया। कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवों का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढने लगी और थोडे ही समय मे विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओ के पास पहुच गयी जहा से थोड़ी ही दूरी पर समस्त यादवो ने पड़ाव डाल रक्खा था।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खड़ा कर दिया और उसमें अगणित चिताये जला दी।

कालकुमार ने उस उत्तुंग गिरिराज की घाटी मे अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहां अगणित चिताये धाय-धाय करती हुई जल रही हैं तथा एक वडी चिता के पास वैठी हुई एक वुढिया हृदयद्रावी करुण-विलाप कर रही है।

कालकुमार ने उस वुढ़िया से पूछा – "वृद्धे! यह सव क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यों रो रही हो?"

उसने सिसकिया भरते हुए उत्तर दिया – "देव! त्रिखण्डाधिपति जरासध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे। जव उन्हे यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिये उनके पीछे – पवनवेग से वढता हुआ आ रहा है तो अपने प्राणो की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होने यहां चिताए जला ली और सवने धधकती चिताओ में प्रवेशकर आत्मदाह कर लिया है। दशों ही दशार्ह, वलदेव और कृष्ण भी इन चिताओ मे जल मरे है। अत अपने कुटुम्बियो के विनाश से दुखित होकर अव मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हू।"

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता मे कूद पडी और कालकुमार के देखते २ जलकर राख हो गयी।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओ से कहा – "मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग मे प्रविष्ट हो जायेंगे तो उनका पीछा करते हुए आग मे से भी मैं उन्हे वाहर खींच-खीचकर मारूगा। सव यादव मेरे डर से आग मे कूद पड़े हैं तो अव मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग मे कूदू गा और एक-एक यादव को आग मे से घसीट-घसीटकर मारूगा।"

यह कहकर कालकुमार हाथ मे नगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश मे परिणाम की चिंता किये विना चिता की धधकती आग में प्रवेश कर गया और अपने वधु-वाधवों एव सैनिको के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया।

जरासन्ध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पड़ी।

द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवो को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने सौराष्ट्र प्रदेश मे रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला।

वहां सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रों को जन्म दिया एव कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया।

तृतीय रात्रि मे सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पाचजन्य शख और बलराम को सुघोष नामक शख एवं दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेट मे दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है ?

श्रीकृष्ण ने कहा – "पहले के अर्द्धचक्रियों की द्वारिका नगरी को आपने अपने अक मे छुपा लिया है। अब कृपाकर वह मुझे फिर दीजिए।"

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया। शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ६ योजन चौडी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र मे ही निर्माण कर दिया। अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादो, सुन्दर वापी-कूप-तडागों और रमणीय उद्यानो एव विस्तीर्ण राजपथो से सुशोभित दृढ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरो वाली द्वारिकापुरी मे यादवो ने शुभ-मुहूर्त्त मे प्रवेश किया और वे वहा महान् समृद्धियो का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे।

द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व मे शैलराज रैवत, दक्षिण मे माल्यवान पर्वत, पश्चिम मे सौमनस पर्वत और उत्तर मे गन्धमादन पर्वत था।[1] इस तरह चारो ओर से उत्तुग एव दुर्गम शैलाधिराजो से घिरी हुई वह द्वारिकापुरी प्रबल से प्रबल शत्रुओ के लिए भी अजेय और दुर्भेद्य थी।

बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाललीलाएं

जरासन्ध के आतक से जिस समय यादवो ने मथुरा और शौर्यपुर से निष्क्रमण कर अपने समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि के साथ समुद्रतट की ओर प्रयाण किया उस समय भगवान् अरिष्टनेमि की आयु लगभग चार, साढे चार वर्ष की थी और वे भी अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवो के साथ थे।[2]

---

[1] तस्या पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीत्तु माल्यवान्।
सौमनसोऽद्रि प्रतीच्यामुदीच्या गन्धमादन ॥४१८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५, श्लोक ३८८

यादवो के द्वारिका नगरी मे वस जाने पर वालक अरिष्टनेमि दशो दशार्हो और राम-कृष्ण आदि को प्रमुदित करते हुए क्रमश वड़े होने लगे। उनकी विविध वाल-लीलाए वड़ी ही आकर्षक और अतिशय आनन्दप्रदायिनी होती थी अत उनके साथ खेलने की अद्भुत सुखानुभूति के लिये उनसे वड़ी वय के यादवकुमार भी अरिष्टनेमि के सुकोमल छोटे शरीर के अनुरूप अपना कद छोटा वनाने की चेष्टा करते हुए खेला करते थे।[1]

वालक अरिष्टनेमि की सभी वाल-लीलाए और समस्त चेष्टाएं माता-पिता, परिजनो एवं नागरिकों को आश्चर्यचकित कर देने वाली होती थी। यादव कुल के सभी राजकुमारो मे वालक अरिष्टनेमि अतिशय प्रतिभाशाली, ओजस्वी एवं अनुपम शक्ति-सम्पन्न माने जाते थे। आपके हर कार्य और आपकी हर चेष्टा को देखकर देखने वाले वड़े प्रभावित हो जाते थे और उन्हे यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि यह वालक आगे चलकर महान् प्रतापी महापुरुष होगा और संसार मे अनेक महान् कार्य करेगा।

राजकीय समुचित लालन-पालन के पश्चात् ज्योही अरिष्टनेमि कुछ वडे हुए तो उन्हे योग्य आचार्य के पास विद्याभ्यास कराने की वात सोची गई। पर महाराज समुद्रविजय ने देखा कि वालक अरिष्टनेमि तो इस वय मे भी स्वतः ही सर्व-विद्यासम्पन्न है, उन्हे क्या सिखाया जाये ? महापुरुषो मे पूर्वजन्मो की सचित ऐसी अलौकिक प्रतिभा होती है कि वे ससार के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानो को भी चमत्कृत कर देते हैं।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण का वाल्यकाल गोकुल मे और शेष प्रायः सारा जीवन भीषण सघर्षो मे वीतने के कारण आचार्य सदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हे यथेष्ट समय नही मिला पर फिर भी वे सर्वकला-विशारद थे।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एव अवधिज्ञान के धारक थे। उन्हे भला ससार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

जरासन्ध के दूत का यादव सभा मे आगमन

यादवो के साथ द्वारिकापुरी मे रहते हुए वलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओ को वश मे कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया। यादवो की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं देश के सुदूर प्रान्तो मे भी गाई जाने लगी।

जव जरासन्ध को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका मे देवोपम सुख भोग रहे है और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ

---

[1] तन्वन्मुद दशार्हाणा, भ्रात्रोश्च हलिकृष्णयो।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, ववृधे तत्र च क्रमात् ॥२॥
ज्यायासोऽपि लघूभूय, चिक्रीडु स्वामिना समम्।
सर्वेऽपि भ्रातर क्रीडा शैलोद्यानादि भूमिपु ॥३॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुप चरित्र, पर्व ८, सर्ग ६]

ही पतगे की तरह छल-प्रपच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवो की सभा मे महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासन्ध का उन लोगो के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया –

"मेरा सेनापति मारा गया उसकी तो मुझे चिन्ता नही है क्योकि अपने स्वामी के लिये रणक्षेत्र मे जूझने वाले सुभटों के लिये विजय या प्राणाहुति इन दो मे से एक अवश्यभावी है। पर अपने भुजबल और पराक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओ के लिए इस प्रकार का छल-प्रपच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है। आप लोगो ने युद्धनीति का उल्लघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये। त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासन्ध अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल मे सब यादवो को भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे है। अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतो के शिखरो पर चढ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरण मे चले जाओ, तो भी किसी दशा मे कही पर भी आप लोगो के प्राणो का त्राण नही है। अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल मे भी प्रवेश कर जाओगे तो भी क्रुद्ध शार्दूल जरासन्ध तुम्हारा सर्वनाश किये विना नही रहेगा।"

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की अत्यन्त कटु और धृष्टतापूर्ण वाते सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशार्हो, वलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न, शाम्ब और सब यदुसिंहो के भुजदण्ड फडक उठे, यहा तक कि त्रैलोक्यैकधीर, अथाह अम्बोधि-गम्भीर, किशोर अरिष्टनेमि की शान्त मुखमुद्रा पर भी हल्की सी लाली दृष्टिगोचर होने लगी। यादव योद्धाओ के हाथ अनायास ही अपने-अपने शस्त्रो पर जा पडे।

महाराज समुद्रविजय ने इगित मात्र से सवको शान्त करते हुए घनवत् गम्भीर स्वर मे कहा – "दूत! यदि यादवो के विशिष्ट गुणो पर मुग्ध हो स्नेह के वशीभूत होकर किसी देवी ने तुम्हारे सेनापति को मार दिया तो इसमें यादवो ने कौनसा छल-प्रपञ्च किया ?"

"यदि पीढियो से चले आ रहे अपने परस्पर के प्रगाढ प्रेमपूर्ण सम्वन्धो को तोडकर तेरा स्वामी सेना लेकर आ रहा है तो उसे आने दे। यादव भी भीरु नही हैं।"

भोज नरेश उग्रसेन ने कहा – "सुनो दूत! तुम दूत हो और हमारे घर आये हुए हो अत यादव तुम्हे अवध्य समझकर क्षमा कर रहे है। अव व्यर्थ प्रलाप की आवश्यकता नही। जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि जो कार्य प्रारम्भ कर दिया है उसे आप शीघ्र पूर्ण करो।"[1]

---

[1] चउवन महापुरुष चरियम् [पृ० १८३-८४]

उस समय की राजनीति

दूत के चले जाने के अनन्तर दशार्ह, वलराम-कृष्ण, भोजराज उग्रसेन, मन्त्रिपरिषद् और प्रमुख यादव मन्त्रणार्थ मन्त्रणाभवन मे एकत्रित हुए। गुप्त मंत्रणा आरम्भ करते हुए समुद्रविजय ने मन्त्रणा-परिषद् के समक्ष यह प्रश्न रखा – "हमे इस प्रकार की अवस्था मे शत्रु के साथ किस नीति का अवलम्वन करते हुए कैसा व्यवहार करना चाहिये ?"

भोजराज उग्रसेन ने कहा – "महाराज ! राजनीति-विशारदो ने साम, भेद, उपप्रदान (दाम) और दण्ड – ये चार नीतिया वताई हैं। जरासन्ध के साथ साम-नीति से व्यवहार करना अव पूर्णरूपेण व्यर्थ है क्योकि अव वह हमारी ओर से किये गये मृदु से मृदुतर व्यवहार से भी छेडे हुए भयानक काले नाग की तरह क्रुद्ध हो कर फूत्कार कर उठेगा।"

"दूसरी जो भेदनीति है उसका भी जरासन्ध पर प्रयोग किया जाना असभव है क्योकि मगधेश द्वारा अतिशय दान-मानादि से सुसमृद्ध एव सम्मानित उसके समस्त सामन्त मगधपति के ऋण से उऋण होने के लिये उसके एक ही इगित पर अपने सर्वस्व और प्राणो तक को न्यौछावर करने मे अपना अहोभाग्य समझते हैं।"

"तीसरी उपप्रदान (दाम) नीति का तो जरासन्ध के विरुद्ध प्रयोग करना नितान्त असाध्य है। क्योकि जरासन्ध ने अपनी अनुपम उदारता से अपने समस्त सामन्तो, अधिकारियो एवं सैनिको तथा दास-दासियो को कचन-कामिनी, मणि रत्नादि से पूर्ण वैभवसम्पन्न वना रखा है।"

"अत चौथी दण्ड-नीति का अवलम्वन ही हमारे लिये उपादेय और श्रेयस्कर है।"

"इन चार नीतियो के अतिरिक्त नीति-निपुणो ने एक और उपाय भी वताया है कि अजेय प्रवल शत्रु से सघर्ष को टालने हेतु उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देना चाहिये अथवा अपने स्थान का परित्याग कर किसी अन्य स्थान की ओर पलायन कर जाना चाहिये।"

"पर ये दोनो प्रकार के हीन आचरण हमारे आत्म-सम्मान के घातक हैं और वलराम व कृष्ण जैसे पुरुषसिंह जव हमारे सहायक हैं, उस अवस्था मे पलायन अथवा आत्म-समर्पण का प्रश्न ही नही उठता।"

"किन्तु दण्ड-नीति का अवलम्वन करते समय रण-नीति के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अक्षरश पालन करना होगा कि युद्ध मे उलझा हुआ व्यक्ति अन्तिम विजय तक प्राण-पण से जूझता रहे और एक क्षणभर के लिये भी सुख और विश्राम की आकाक्षा न करे।"

उग्रसेन की साहस और नीतिपूर्ण वातो का सभी सभासदो ने 'साधु-साधु' कहकर एक स्वर से समर्थन करते हुए कहा – "धन्य है आपकी नीतिकुशलता,

मार्मिक अभिव्यजना और वीरोचित गौरव-गरिमा को। हम सब हृदय से आपका अभिनन्दन करते हैं।"

तदनन्तर सभी सभासद महाराज समुद्रविजय का अभिमत जानने के लिये उनकी ओर उत्कंठित हो देखने लगे।

महाराज समुद्रविजय ने गम्भीर स्वर मे कहा – "महाराज उग्रसेन ने मानो मेरे ही मन की बात कह दी है। जिस प्रकार तीव्र ज्वर में सम अर्थात् ठडी औषधि ज्वर के प्रकोप को भीषण रूप से बढा देती है, उसी प्रकार अपने बल-दर्प से गर्वोन्मत्त शत्रु के प्रति किया गया साम – नीति का व्यवहार उसके दर्प को बढाने वाला और अपनी भीरुता का द्योतक होता है।"

"भेद-नीति भी छल-प्रपञ्च, कुटिलता और वचना से भरी होने के कारण गर्हित और निन्दनीय है अत वह भी महापुरुषों की दृष्टि मे हेय मानी गई है।"

"इसी तरह उपप्रदान की नीति भी आत्मसम्मान का हनन करने वाली व अपमानजनक है।"

"अत अभिमानी जरासन्ध के गर्व को चूर-चूर करने के लिए हमे दण्ड-नीति का ही प्रयोग करना चाहिये और वह भी दुर्ग का आश्रय लेकर नही अपितु उसके सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर उससे युद्ध करना चाहिये। क्योकि दुर्ग का आश्रय लेकर शत्रु से लड़ने में संसार के सामने अपनी भीरुता प्रकट होने के साथ ही साथ अपने राज्य के बहुत बड़े भाग पर शत्रु का अधिकार हो जाता है।[1]

शत्रु के सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर युद्ध करने की दशा मे अपनी भीरुता के स्थान पर पौरुषता प्रकट होती है, अपने राज्य का समस्त भू-भाग अपने अधिकार मे रहता है, शत्रु भी हमारे शौर्य एव साहस से आश्चर्यचकित हो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है, अपनी प्रजा और सैन्यबल का साहस तथा मनोबल बढता है और अपनी सीमा-रक्षक सेनाएं भी युद्ध मे हमारी सहायता कर सकती हैं। दण्ड-नीति के इन सब गुणो को ध्यान मे रखते हुए हमारे लिये यही श्रेयस्कर है कि हम अपने शत्रु को उसके सम्मुख जाकर युद्ध मे परास्त करे।"

दोनों ओर युद्ध की तैयारियां

मन्त्रणा-परिषद् मे उपस्थित सभी सदस्यो ने जयजयकार और हर्षध्वनि के साथ महाराज समुद्रविजय की मन्त्रणा को स्वीकार किया। शख-ध्वनि और रणभेरी के नाद से समस्त गगनमण्डल गूंज उठा। मित्र राजाओ के पास तत्काल दूत भेज दिये गये। योद्धा रण-साज सजने लगे।

---

[1] चउवन महापुरुष चरियम् [पृ १८४-८५]

शुभ मुहूर्त मे यादवों की चतुरंगिणी प्रबल सेना ने रणक्षेत्र की ओर प्रलयकालीन आंधी की तरह प्रयाण कर दिया। आषाढ़ की घनघोर मेघघटा के गर्जन तुल्य 'घर-घर' रव से गगनमण्डल को गुंजाते हुए रथो के पहियो से, तरल तुरंग-सेना की टापो से और पदाति सेना के पाद-प्रहारो से उड़ी हुई धूलि के समूहो ने अस्ताचल पर अस्त होने वाले सूर्य को मध्याह्न-वेला मे ही अस्तप्राय कर दिया।

इस तरह कूच पर कूच करती हुई यादवो की सेना कुछ ही दिनों मे द्वारिका से ४५ योजन अर्थात् ३६० माइल (१८० कोस) दूर सरस्वती नदी के तटवर्ती सिनीपल्ली (सिणवल्लिया) नामक ग्राम के पास पहुची और वहा रणक्षेत्र के लिये उपयुक्त समतल भूमि देख, वहां पर सैन्य-शिविरों का निर्माण करा समुद्रविजय ने सेना का पड़ाव डाल दिया।[1]

यादवो की सेना के पडाव से आगे अर्थात् सेनपल्ली ग्राम से ४ योजन की दूरी पर जरासन्ध की सेना पड़ाव डाले हुए थी।[2]

यादव सेना ने जिस समय सेनपल्ली में पडाव डाला उस समय अपने भ्रमणकाल मे वसुदेव द्वारा उपकृत कतिपय विद्याधर-पति अपनी सेनाओ के साथ यादवो की सहायता के लिये वहा आये और उन्होने समुद्रविजय को प्रणाम कर निवेदन किया – "आपके महामहिम यादव कुल मे यो तो महापुरुष अरिष्टनेमि एकाकी ही समस्त विश्व का त्राण और विनाश करने मे समर्थ हैं, कृष्ण और बलदेव जैसे अनुपम बलशाली व प्रद्युम्न, शाम्ब आदि करोडो योद्धा हैं, वहां हमारे जैसे लोग आपकी सहायता कर ही क्या सकते हैं। तथापि हम भक्तिवश इस अवसर पर आपकी सेवा मे आ गये है, अत आप हमे अपने सामन्त समझ कर आज्ञा दीजिये कि हम भी आपकी यथाशक्ति सेवा करे। कृपा कर आप वसुदेव को हमारा सेनापति रखिये और शाम्ब एवं प्रद्युम्न को वसुदेव की सहायतार्थ हमारे साथ रखिये।"

उन विद्याधरो ने समुद्रविजय से यह भी निवेदन किया "वैताढ्य गिरि के अनेक शक्तिशाली विद्याधर-राजा मगधराज जरासन्ध के मित्र हैं और वे जरासन्ध की इस युद्ध मे सहायता करने के लिये अपनी सेनाओ के साथ आ रहे

---

[1] (क) कइवय पयाणएहि च पत्ता सरस्सतीए तीरासण्णं सिणवल्लियाहियाणं गाम ति।
तत्थ य समथल समरजोग्ग भूमिभागम्मि आवासियो समुद्दविजओ त्ति।
[चउवन म पु च पृ १८६]

(ख) पच चत्वारिंशत तु योजनानि स्वकात् पुरात्।
गत्वा तस्थौ सेनपल्ल्या, ग्रामे सग्राम कोविद ॥
[त्रिषष्टि शलाका पु च., पर्व ८, स ७, श्लो १९६]

[2] अर्वाग् जरासघ सैन्याच्चतुर्भिर्योजनै स्थिते।
[त्रिषष्टि श पु. च, प ८, स ७, श्लो १९७]

है। आप हमे आज्ञा दे कि हम उन विद्याधर पतियो को वैताढ्य गिरि पर ही युद्ध करके उलझाये रखे।"

समुद्रविजय ने कृष्ण की सलाह से वसुदेव, शाम्ब और प्रद्युम्न को विद्याधरो के साथ रहकर वैताढ्य गिरि के जरासन्ध-समर्थक विद्याधर राजाओ के साथ युद्ध करने का आदेश दिया। उस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा पर जन्माभिषेक के समय देवताओ द्वारा बाधी गई अस्त्रो के प्रभाव का निराकरण करने वाली औषधि वसुदेव को प्रदान की।[1]

अमात्य हंस की जरासन्ध को सलाह

गुप्तचरो द्वारा यादवो की सेना के आगमन का समाचार सुन कर जरासन्ध के हस नामक अमात्य ने जरासन्ध को समझाने का प्रयास करते हुए कहा – "त्रिखण्डाधिपते! अपने हित तथा अहित की मन्त्रणा के पश्चात् ही प्रारम्भ किया हुआ कार्य श्रेयस्कर होता है। विना मन्त्रणा किये कार्य करने के फलस्वरूप कस काल का ग्रास बन गया। याद कीजिये आपकी उपस्थिति में ही रोहिणी के स्वयवर के समय अकेले वसुदेव ने सब राजाओ को पराजित कर दिया था। वसुदेव से भी बलिष्ठ समुद्रविजय ने अनेक बार आपकी सेनाओ की रक्षा की है। अब तो उनकी शक्ति मे पहले से भी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी है।"

"वसुदेव के पुत्र कृष्ण और बलराम दोनो ही अतिरथी है। इन दोनो का प्रबल प्रताप और ऐश्वर्य देखिये कि स्वय वैश्रवण ने इनके लिये अलका सी अनुपम द्वारिकापुरी का निर्माण किया है। महाकाल के समान प्रबल पराक्रमी भीम और अर्जुन, बलराम और कृष्ण के समान बलवाले शाम्ब एव प्रद्युम्न आदि अगणित अजेय योद्धा यादव-सेना मे हैं। यादव-सेना के अन्यान्य वीरों की नाम पूर्वक गणना की आवश्यकता नही, अकेले अरिष्टनेमि को ही ले लीजिये। वे एकाकी केवल अपने ही भुजबल से समस्त पृथ्वी को जीतने में समर्थ है।"

"इधर आपकी सेना मे सबसे उच्चकोटि के योद्धा शिशुपाल और रुक्मी हैं जिनका बल आप रुक्मिणी-हरण के समय देख चुके है कि किस तरह हलधर के हाथो वे पराजित हुए।"

"दुर्योधन और शकुनि कायरो की तरह केवल छल-बल ही जानते है अत उनकी वीरो मे कही गणना ही नही की जा सकती। कर्ण अथाह समुद्र मे मुट्ठी भर शक्कर के समान है क्योकि यादव सेना मे एक करोड महारथी है।"

"हमारी सेना मे केवल आप ही एक अतिरथी है जबकि यादव-सेना मे श्री अरिष्टनेमि, कृष्ण और बलराम ये तीन अतिरथी है। अच्युतेन्द्र आदि सभी

---

[1] तदा च वसुदेवाय प्रददेऽरिष्टनेमिना।
जन्मस्नात्रे सुरैर्दोष्णि, बद्धौषध्यस्त्रवारणी॥ –[त्रि श पु च, पर्व ८, स ७ – श्लो २०६]

सुरेन्द्र जिनके चरणो मे भक्तिपूर्वक सिर झुकाते है, भला उन अरिष्टनेमि के साथ युद्ध करने का दुस्साहस कौन कर सकता है।"[1]

"जिस दिन आपका प्रिय पुत्र कालकुमार कुलदेवी द्वारा छलपूर्वक मार दिया गया उसी दिन से आपका भाग्य आपसे विपरीत हो गया। नीति का अनुसरण करते हुए यादव शक्तिशाली होते हुए भी मथुरा से भागकर द्वारिका मे जा बसे। अव भी कृष्ण स्वेच्छा से आपके साथ युद्ध करने नही आया है अपितु पूछ पर पार्ष्णि-प्रहार कर जिस तरह भीषण काले विषधर को विल से आकृष्ट किया जाता है उसी प्रकार वह आपके द्वारा आकृष्ट किया जाकर आपके सम्मुख आया है।"

"इतना सव कुछ हो जाने पर भी अभी समय है। आप यदि इसके साथ युद्ध नही करेंगे तो यह अपने आप ही द्वारिका की ओर लौट जायगा।"

हस के मुख से इस कटु-सत्य को सुनकर जरासन्ध आग-बवूला हो गया और उसे तिरस्कृत करते हुए वोला — "दुप्ट! तेरे मुख से शत्रु की प्रशंसा सुन कर ऐसा आभास होता है कि इन मायावी यादवो ने तुझे भेद-नीति से अपनी ओर मिला लिया है। मूर्ख! तू शत्रु की सराहना करके मुझे डराने का व्यर्थ-प्रयास मत कर। आज तक कभी कही शृगालो की 'हुकी-हुकी' से सिंह डरा है। ये अकिंचन ग्वाले तेरे देखते ही देखते मेरी क्रोधाग्नि मे जल कर भस्म हो जायेंगे।"

दोनों सेनाओं की व्यूह-रचना

तदनन्तर दोनो सेनाओ ने व्यूह-रचना आरम्भ की। जरासन्ध के सेनानियो ने चक्रव्यूह की रचना की। उस चक्रव्यूह मे एक हजार आरे रखे गये। प्रत्येक आरे पर एक-एक नृपति, एक सौ हाथी, २ हजार रथी, पाच हजार अश्वारोही सैनिक और सोलह हजार प्रवल पराक्रमी, भीषण-सहारक शास्त्रास्त्रो से सुसज्जित पदाति-सैनिक तैनात किये गये। चक्रनाभि के चारो ओर नियत किये गये ११२५० राजाओ के वीच त्रिखण्डाधिपति जरासन्ध ने उस चक्रव्यूह की नाभि मे इस भीपण युद्ध का संचालन करने के लिये मोर्चा सम्हाला।

मगधेश्वर की पीठ के पीछे की ओर गान्धार और सिन्धु जनपद की सेनाए, दक्षिण-पार्श्व मे दुर्योधन आदि १०० भाइयो की कौरव-सेनाए, आगे की ओर मध्य-प्रदेश के सभी राजा और वाम-पार्श्व मे अगणित भूपतियो की सेनाए मोर्चा सम्हाले युद्ध के लिये तैयार खडी थी।

चक्रव्यूह के इन एक हजार आरो की प्रत्येक सधि पर पाच सौ शकट-व्यूहो की रचना की गई। प्रत्येक शकट-व्यूह के मध्य मे एक-एक नृपति उन शकट-व्यूहो

---

[1] नेमि कृष्णो वलश्चातिरथा परवले त्रय। त्वमेक एव स्ववले वलयोर्महदन्तरम्॥
अच्युताद्या. सुरेन्द्रा य, नमस्कुर्वन्ति भक्तित। तेन श्री नेमिना सार्धं, युद्धाय प्रोत्सहेत क॥
[त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित्र प ८ स ७ श्लो २२०-२१]

के समुचित संचालन के लिये नियत किये गये थे। उस चक्रव्यूह के चारो ओर विविध प्रकार के अभेद्य व्यूहो की रचना की गई।

इस प्रकार महाकाल के आन्त्रजाल की तरह विशाल, दुर्गम, दुर्भेद्य, अजेय और सुदृढ़ चक्रव्यूह की रचना सम्पन्न हो जाने पर जरासन्ध ने अनेक भीषण युद्धो को जीतने वाले विकट योद्धा कौशल-नरेश हिरण्यनाभ को चक्रव्यूह के सेनापति पद पर अभिषिक्त किया।

यादवो ने भी जरासन्ध के दुर्भेद्य चक्रव्यूह से टक्कर लेने में सक्षम, गरुड़ की तरह भीषण प्रहार करने वाले गरुड-व्यूह की रचना की।

गरुड़ के शौण्ड-तुण्ड (चोच) के आकार के गरुड़-व्यूह के अग्रभाग पर पचास लाख उद्भट यादव-योद्धाओ के साथ कृष्ण और वलराम सन्नद्ध थे। कृष्ण-वलराम के पृष्ठभाग पर जराकुमार, अनाधृष्टि आदि सभी वसुदेव-पुत्र अपने एक लाख रथी-योद्धाओ के साथ तैनात थे। इनके पीछे उग्रसेन अपने पुत्रो सहित एक करोड़ रथारोही सैनिको के साथ डटे थे। उग्रसेन की सहायता के लिए अपने योद्धओ सहित धर, सारण आदि यदुवीर, उग्रसेन के दक्षिण-पार्श्व मे प्रवल प्रतापी स्वय महाराज समुद्रविजय अपने भाइयों, पुत्रो और अगणित सैनिको के साथ शत्रु सेना के लिए काल के समान प्रतीत हो रहे थे।

अतिरथी अरिष्टनेमि, तथा महारथी महानेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि, सुनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति ये समुद्रविजय के पुत्र उनके दोनो पार्श्व मे एवं अनेको नृपति पच्चीस लाख रथी-योद्धाओं के साथ परिपार्श्व मे उनकी सहायतार्थ सन्नद्ध थे।

समुद्रविजय के वामपक्ष की ओर वलराम के पुत्र तथा धृतराष्ट्र के सौ पुत्रो का सहार करने के लिये कृत-सकल्प पाण्डवपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी सेना के साथ भीषण सहारक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित खडे थे। पाण्डवो के पीछे की ओर २५ लाख रथारूढ़ सैनिको के साथ सात्यकि आदि अनेको महारथी तथा इनके पृष्ठ-भाग मे ६० लाख रथी सैनिको के साथ सिहल, बर्बर, कम्वोज, केरल और द्रविड़ राज्यो के महिपाल अपनी सेनाओ के साथ नियुक्त किये गये।

विषधरो पर पख फैला कर विद्युत् वेग से झपटते हुए गरुड़ की मुद्रा के आकार वाले इस गरुड़-व्यूह के दोनो पक्षो की रक्षार्थ भानु, भामर, भीरुक, असित, सजय, शत्रुजय, महासेन, वृहद्ध्वज, कृतवर्मा आदि अनेको महारथी शक्तिशाली अश्वारोहियो, रथारोहियो, गजारोहियो एव पदाति योद्धाओ के साथ नियुक्त किये गये थे।

इस प्रकार स्वय श्रीकृष्ण ने शत्रु पर भीषण प्रहार करने मे गरुड़ के समान अत्यन्त शक्तिशाली अभेद्य गरुड़-व्यूह की रचना की।

महाराज समुद्रविजय ने कृष्ण के बड़े भाई अनाधृष्टि को जब यादव-सेना का सेनापति नियुक्त किया उस समय शख आदि रणवाद्यो की ध्वनि एव यादव-सेना के जय-घोषो से गगनमण्डल गूज उठा। दोनो ओर के योद्धा भूखे मृगराज की तरह अपने २ शत्रुदल पर टूट पडे।

भ्रातृ-स्नेह के कारण अरिष्टनेमि भी युद्ध के लिए रणागण मे जाने को तत्पर हुए। यह देखकर इन्द्र ने उनके लिए दिव्य शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जैत्ररथ और अपने सारथी मातलि को भेजा। मातलि द्वारा प्रार्थना करने पर अरिष्टनेमि सूर्य के समान तेजस्वी रथ पर आरूढ हुए।[1]

दोनो व्यूहो के अग्रभाग पर स्थित दोनो पक्षो की रक्षक सेनाओं के योद्धा प्राणपण से अपने शत्रु का संहार करने में जुट गये। बड़ी देर तक भीषण संग्राम होता रहा पर उनमे से कोई भी अपने प्रतिपक्षी के व्यूह का भेदन नही कर सके।

अन्त मे जरासन्ध के सैनिको ने गरुड़-व्यूह की रक्षार्थ आगे की ओर लड़ती हुई यादव-सेना की सुदृढ अग्रिम रक्षापक्ति को भंग करने मे सफलता प्राप्त कर ली। उसी समय कृष्ण ने गरुड-ध्वज को फहराते हुए अपने सैनिको को स्थिर किया। तत्काल महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि ने अपने-अपने शखों के घोर निनाद के साथ क्रुद्ध हो जरासध की अग्रिम सेना पर भीषण आक्रमण किया और प्रलय-पवन के वेग की तरह बढकर न केवल जरासध के चक्रव्यूह की रक्षक सेनाओ का ही सहार किया अपितु चक्रव्यूह को भी तीन ओर से तोड़कर उसमे तीन बडी-बडी दरारे डाल दी। ये तीनो महान् योद्धा प्रलयकाल की घनघोर घटाओ के समान शरवर्षा करते हुए शत्रु-सेना के अगणित उद्भट योद्धाओ को धराशायी करते हुए जरासन्ध के चक्रव्यूह मे काफी गहराई तक घुस गये। इनके पीछे यादव-सेना की अन्य पक्तिया भी चक्रव्यूह के अन्दर प्रवेशकर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगी।[2]

---

[1] भ्रातृस्नेहाद्युयुत्सु च शक्रो विज्ञाय नेमिनम्।
प्रैषीद्रथ मातलिनो, जैत्र शस्त्राचित निजम् ॥२६१॥
सूर्योदयमिवातन्वन्, स रथो रत्नभासुर।
उपानीतो मातलिनालचक्रेऽरिष्टनेमिना ॥२६२॥

[2] उद्वेलित विक्षुब्ध समुद्र की तरह बढती हुई जरासन्ध की विशाल सेना को अरिष्टनेमि द्वारा पराजित करने का आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरिय में इस प्रकार वर्णन किया है :-

अहणवर तत्थ थक्कइ कढिणगुणप्पहर किणङ्कयपउट्ठो।
तेल्लोक्कमदिरक्खभविब्भमोऽरिट्ठवरणेमी ॥११४॥

तओ आयण्णायड्ढिय चडकोयडमुक्कसरपसरेण लीहायड्ढियव, तुलिय तेल्लोकधीर-मुप्पण्णपयावेण थभियव, अचिंतसत्तिसामत्थयामतेण मोहिय-व, धरिय पराणीयं। एत्थावसरम्मिय एक्कपाससगलन्तकुमाराणुगयरामकेसवं, अण्णओ भीम अज्जुण-णउल-सहदेवाहिट्ठियजुहिट्ठिल, अण्णओ भोयणरिंदोववेयससहोदर-समुद्दविजय पयट्टिय पहाणसमर ति। [च० म० पु० च०, पृष्ठ १८८]

महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि निरन्तर जरासध की सेना को अर्कतूल (आक की रूई) की तरह धुनते हुए आगे बढ़ने लगे। इन तीनो महारथियो ने शत्रु-सेना मे प्रलय मचा दी। अर्जुन के गाण्डीव धनुप की टकारों से जरासध की सेना के हृदय धडक उठे, उसके द्वारा की गई शरवर्षा से दिशाए ढक गईं और अधकार सा छा गया। तीव्र वेग से शत्रु-सेना मे बढ़ते हुए अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आ खडा हुआ। अनाधृष्टि से रौधिर और महानेमि से रुक्मी युद्ध करने लगे।

इन छहो वीरो का वडा भीषण युद्ध हुआ, दुर्योधन रुक्मी और रौधिर की रक्षार्थ जरासन्ध के अनेक योद्धा मिलकर अर्जुन अनाधृष्टि और महानेमि पर शस्त्रास्त्रो से प्रहार करने लगे। महानेमि ने रुक्मी के रथ को चूर-चूर कर दिया और उसके सव शस्त्रास्त्रो को काटकर शस्त्र-विहीन कर दिया। शत्रुजय आदि सात राजाओ ने देखा कि रुक्मी महानेमि के द्वारा काल के गाल मे जाने ही वाला है तो वे सव मिलकर महानेमि पर टूट पड़े। शत्रुजय द्वारा महानेमि पर चलाई गई भीषण ज्वाला-मालाकुला-अमोघ शक्ति को अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त कर मातलि ने महानेमि के वाण मे वज्र आरोपित कर विनष्ट कर दिया।

इस तरह युद्ध भीषणतर होता गया। इस युद्ध मे अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को मार डाला। भीम ने दुर्योधन, दु शासन आदि अनेक धृतराष्ट्र पुत्रो को मौत के घाट उतार दिया। महावली भीम ने जरासन्ध की सेना के हाथियो को हाथियो से, रथो को रथो से और घोडो को घोड़ो से भिड़ाकर शत्रु-सेना का भयकर संहार कर डाला।

युधिष्ठिर ने शल्य को, सहदेव ने शकुनि को रणक्षेत्र मे हरा कर यमधाम पहुँचा दिया। महाराज समुद्रविजय के जयसेन और महीजय नामक दो पुत्र जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ से लडते हुए युद्ध मे काम आये। सात्यकि ने भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया। महानेमि ने प्राग्योतिषपति भगदत्त को और उसके मदोन्मत्त हस्ति-श्रेष्ठ को मार डाला।

यादव-सेना के सेनापति अनाधृष्टि ने जरासन्ध की सेना के सेनापति हिरण्यनाभ के साथ युद्ध करते हुए उसके धनुष के टुकडे करके रथ को भी नष्ट कर डाला और उसे पदाति, केवल असिपाणि देख कर वे भी अपने रथ से तलवार लिये कूद पडे। दोनो सेनाओ के सेनापतियो का अद्भुत असियुद्ध बड़ी देर तक होता रहा। अन्त मे अनाधृष्टि ने अपनी तलवार से हिरण्यनाभ के सिर को धड से अलग कर दिया।

अपने सेनापति हिरण्यनाभ के मारे जाते ही जरासन्ध की सेना मे हाहाकार और भगदड मच गई एवं यादव-सेना के जयघोषो से नभमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा।

उस समय अशुमाली अस्ताचल की ओट मे अस्त हो चुके थे अतः दोनो सेनाएं अपने-अपने शिविरो की ओर लौट गईं।

जरासंध ने अपने सेनानायको और मन्त्रियो से मत्रणा कर सेनापति के स्थान पर शिशुपाल को अभिपिक्त किया ।

दूसरे दिन भी यादव-सेना ने गरुड़-व्यूह और जरासन्ध की सेना ने चक्रव्यूह की रचना की और दोनो सेनाए रणक्षेत्र मे आमने-सामने आ डटी । रणवाद्यो और शख-ध्वनि के साथ ही दोनो सेनाएं क्रुद्ध हो भोपण हुकार करती हुई रणक्षेत्र मे जूझने लगी ।

क्रुद्ध जरासन्ध धनुप की प्रत्यचा से टकार करता हुआ वलराम एव कृष्ण की ओर बढा । जरासन्ध-पुत्र युवराज यवन भी वडे वेग से अक्रूरादि वसुदेव के पुत्रो पर शरवर्पा करता हुआ आगे बढा । देखते ही देखते सग्राम वडा वीभत्स रूप धारण कर गया ।

सारण कुमार ने तलवार के एक ही प्रहार से यवन कुमार का सिर काट गिराया । अपने पुत्र की मृत्यु से क्रुद्ध हो जरासन्ध यादव-सेना का भीषण रूप से सहार करने लगा । उसने वलराम के आनन्द आदि दश पुत्रो को वलि के वकरो की तरह निर्दयतापूर्वक काट डाला ।

जरासन्ध द्वारा दश यदुकुमारो और अनेक योद्धाओ का सहार होते देखकर यादवो की सेना के पैर उखड़ गये । खिल-खिलाकर अट्टहास करते हुए शिशुपाल ने कृष्ण से कहा — "अरे कृष्ण ! यह गोकुल नही है, रणक्षेत्र है ।"

शिशुपाल से कृष्ण ने कहा — "शिशुपाल ! अभी तू भी उनके पीछे-पीछे ही जाने वाला है ।"

कृष्ण का यह वाक्य शिशुपाल के हृदय में तीर की तरह चुभ गया और उसने कृष्ण पर अनेक दिव्यास्त्रो की वर्पा के साथ-साथ गालियो की भी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।

कृष्ण ने शिशुपाल के धनुष, कवच और रथ की धज्जिया उडा दी । जव शिशुपाल तलवार का प्रहार करने के लिए कृष्ण की ओर लपका तो कृष्ण ने उसके मुकुट, तलवार और सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया ।

अपने सेनापति शिशुपाल का अपने ही समक्ष वध होते देख कर जरासध अत्यन्त क्रुद्ध हो विक्रान्त-काल की तरह अपने पुत्रो और राजाओ के साथ कृष्ण की ओर झपटा तथा यादवो से कहने लगा — "यादवो ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो, अव भी कुछ नही विगडा है, यदि प्राणो का त्राण चाहते हो तो कृष्ण और वलराम — इन दोनो ग्वालो को पकड कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो ।"

जरासन्ध की इस वात को सुनते ही यादव योद्धा आँखो से आग और धनुपो से वाण वरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पडे । पर अकेले जरासन्ध ने ही तीव्र वाणो के प्रहारो से उन अगणित योद्धाओ को वेध डाला । यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी ।

जरासन्ध के २८ पुत्रो ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया। एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रो के साथ घोर सग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन अट्ठाइसो ही जरासन्ध-पुत्रो को अपने हल द्वारा अपनी ओर खीच कर मूसल के प्रहारो से पीस डाला।

अपने पुत्रो का युगपद्विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया। गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूर्च्छित हो गये। बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट १९ पुत्रो को मार डाला।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा। "यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये" यह कह कर वह कृष्ण की ओर झपटा।

"ओहो! अब तो कृष्ण भी मारा गया" सब ओर यही ध्वनि सुनाई देने लगी।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया— "त्रिलोकनाथ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है। प्रभो! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से पराङ्मुख हैं तथापि शत्रु द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उपेक्षा नही करनी चाहिये। नाथ! अपनी थोडी सी लीला दिखाइये।"

अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासंध-वध

मातलि की प्रार्थना सुन कर अरिष्टनेमि ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव मे ही पौरदर शख का घोष किया। उस शख के नाद से दसो दिशाए, सारा नभमण्डल और शत्रु काप उठे, यादव आश्वस्त हो पुन: युद्ध मे जूझने लगे।

अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने रथ को भीषण वर्तुल-वात की तरह घुमाया। उसी समय अभिनव वारिदघटा की तरह अरिष्टनेमि ने जरासन्ध की सेना पर शरवर्षा आरम्भ की और शत्रु-सैन्य के रथो, ध्वजाओ, धनुषों और मुकुटो को उन्होने शरवर्षा से चूर्ण-विचूर्ण कर डाला।

इस तरह प्रभु ने बहुत ही स्वल्प समय मे एक लाख शत्रु-योद्धाओं को नष्ट कर डाला। प्रलयकाल के प्रखर सूर्य सदृश प्रचण्ड तेजस्वी प्रभु की ओर शत्रु आख उठा कर भी नही देख सके।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है,–इस अटल नियम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अरिष्टनेमि ने जरासन्ध को नही मारा किन्तु अपने रथ को मनो-वेग से शत्रु-राजाओ के चारो ओर घुमाते हुए जरासन्ध की सेना को अवरुद्ध किये रखा ।[1]

श्री अरिष्टनेमि के इस अत्यन्त अद्भुत, अलौकिक एव चमत्कारपूर्ण ओज, तेज तथा शौर्य से यादवो की सेना मे नवीन उत्साह एव साहस भर गया और वह शत्रु-सेना पर पुनः भीषण प्रहार करने लगी ।

गदा के घातक प्रहार का प्रभाव कम होते ही बलराम हल-मूसल सम्हाले शत्रु-सेना का सहार करने लगे । समस्त रण-क्षेत्र टूटे हुए रथो, मारे गये हाथियो, घोड़ों एव काटे हुए मानव-मुण्डो और रुण्डो से पटा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था ।

अपनी सेना के भीपण सहार से जरासन्ध तिलमिला उठा । उसने अपने रथ को श्रीकृष्ण की ओर बढाया और अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगा –"ओ ग्वाले ! तू अभी तक गीदड की तरह केवल छल-बल पर ही जीवित है । कस और कालकुमार को तूने कपट से ही मारा है । ले, अब मैं तेरे प्राणो के साथ ही तेरी माया का अन्त कर जीवयशा की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हू ।"

श्रीकृष्ण ने हसते हुए कहा –"जरासन्ध ! मै तुम्हारी तरह आत्मश्लाघा करना तो नही जानता पर इतना बताये देता हूँ कि तुम्हारी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा तो उसके अग्नि-प्रवेश से ही पूर्ण होगी ।"

श्रीकृष्ण के उत्तर से जरासन्ध की क्रोधाग्नि और भभक उठी । उसने अपने धनुष की प्रत्यंचा को आकर्णान्त खीचते हुए कृष्ण पर बाणो की वर्षा प्रारम्भ कर दी । कृष्ण उसके सब बाणो को बीच मे ही काटते रहे । दोनो उत्कट योद्धा एक दूसरे पर भीपण शस्त्रो और दिव्यास्त्रो से प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे । उन दोनों के तीव्रगामी भारी-भरकम रथो की घोर घरघराहट से नभोमण्डल फटने और धरती कापने सी लगी ।

कृष्ण पर अपने सब प्रकार के घातक और अमोघ शस्त्रास्त्रो का प्रयोग कर चुकने के पश्चात् जब जरासन्ध ने देखा कि उन दिव्यास्त्रो से कृष्ण का बाल भी बांका नही हुआ है तो उसने क्रुद्ध हो अपने अन्तिम अमोघ-शस्त्र चक्र को कृष्ण की ओर प्रेपित किया । ज्वाला-मालाओ को उगलता हुआ कल्पान्तकालीन सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य वह चक्ररत्न प्रलयकालीन मेघ की अमित घटाओं के समान गर्जना करता हुआ श्रीकृष्ण की ओर बढा ।

---

[1] आकृष्टाखण्डलधनुर्नवाम्भोद इव प्रभु । ववर्ष शरधाराभि परितस्त्रासयन्नरीन् ॥ ४२८
अभाक्षीन् क्ष्माभुजां लक्षं स्वाम्येकोऽपि किरीटिनाम् ।
उद्भ्रान्तस्य महाम्बोधे. सानुमतोऽपि के पुर ॥ ४३१ ॥
परसैन्यानि रुद्ध्वास्थात्स्तौनेमिर्भ्रमयन् रथम् ...... ४३३ ॥
[त्रिषष्टि श पु च पर्व ८ स ७]

उस समय समस्त यादव-सेना त्रस्त हो स्तब्ध सी रह गई। अर्जुन, बलराम, कृष्ण और अन्य यादव योद्धाओं ने चक्र को चकनाचूर कर डालने के लिए अमोघ दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया पर सब निष्फल। चक्र कृष्ण की ओर बढ़ता ही गया। देखते ही देखते चक्र ने अपने मध्य भाग के धुरि-स्थल से कृष्ण के वज्र-कपाटोपम वक्ष स्थल पर हल्का सा प्रहार[1] किया, मानो चिरकाल से बिछुड़ा मित्र अपने प्रिय मित्र से, छाती से छाती लगा मिल रहा हो। तदनन्तर वह चक्र कृष्ण की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनके दक्षिण पार्श्व मे उनके दक्षिण-स्कध से कुछ ऊपर स्थिर हो गया[2] मानो भेद-नीति-कुशल कृष्ण ने उसे भेद-नीति से अपना बना लिया हो।

कृष्ण ने तत्काल अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली पर चक्ररत्न को धारण किया और अनादिकाल से लोक मे प्रचलित इस कहावत को चरितार्थ कर दिया कि पुण्यात्माओं के प्रभाव से दूसरो के शस्त्र भी उनके अपने हो जाते हैं।

आकाश की अदृश्य शक्तियो ने इस घोषणा के साथ कि "नवमें वासुदेव प्रकट हो गये है" कृष्ण पर गधोदक और पुष्पो की वर्षा की।

करुणार्द्र कृष्ण ने जरासन्ध से कहा—"मगधराज! क्या यह भी मेरी कोई माया है? अब भी समय है कि तुम मेरे आज्ञावर्ती होकर अपने घर लौट जाओ और आनन्द के साथ अपनी सम्पदा का उपभोग करो। दुःख के मूल कारण मान को छोड दो।"

पर अभिमानी जरासन्ध ने बड़े गर्व के साथ कहा—"जरा मेरे चक्र को मेरी ओर चला कर तो देख।"

बस, फिर क्या था, कृष्ण ने चक्ररत्न को जरासन्ध की ओर घुमाया। उसने तत्काल जरासन्ध का सिर काट कर पृथ्वी पर लुढका दिया।

यादव विजयोल्लास मे जयजयकार से दशो दिशाओ को गुंजाने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भी अपने रथ की वर्तुलाकारगति से अवरुद्ध सब राजाओ को मुक्त कर दिया। उन सब राजाओ ने प्रभु-चरणो मे नमस्कार करते हुए कहा—"करुणासिन्धो! जरासन्ध और हम लोगो ने अपनी मूढतावश स्वय का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल मे अवतरित हुए उसी दिन से हमे समझ लेना चाहिए था कि यादवो को कोई नही जीत सकता। अस्तु, अब हम लोग आपकी शरण मे हैं।"

---

[1] एत्य तुम्बेन तच्चक्र कृष्ण वक्षस्यताडयत् ॥४५०॥

[त्रिषष्टि श पु च, प ८, स ७]

[2] तं च पयाहिणीकाऊण ... पलग्ग केसवकरयलम्मि।

[चउवन महापुरिस चरियं, पृ० १८९]

अरिष्टनेमि उन सव राजाओ के साथ कृष्ण के पास पहुचे। उन्हे देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सव राजाओ के राज्य उन्हें दे दिये। समुद्रविजय के कहने से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का चतुर्थांश राज्य दिया।

तदनन्तर पाण्डवों को हस्तिनापुर का, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल का और समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का तथा उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा का राज्य दिया।

सूर्यास्त के समय श्री अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने सौधर्म स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया और यादव-सेना अपने शिविर की ओर लौट पडी।

उसी समय तीन विद्याधरियो ने नभोमार्ग से आकर समुद्रविजय को सूचना दी कि जरासन्ध की सहायतार्थ इस युद्ध मे सम्मिलित होने हेतु आने वाले वैताढ्यगिरि के विविध विद्याओ के वल से अजेय विद्यावर राजाओ को वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्व और वसुदेव के मित्र विद्यावर राजाओ ने वही पर युद्ध मे उलझाये रखा था। जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के समाचार सुन कर जरासन्ध के समर्थक सभी विद्याधर राजा वसुदेव की चरण-शरण मे आ गये। प्रद्युम्न एव शाम्व के साथ उन्होने अपनी कन्याओ का विवाह कर दिया। अव वे सव यहा आ रहे है।

यादवो के शिविर मे महाराज समुद्रविजय आदि सभी यादव-प्रमुख विद्याधरियो के मुख से वसुदेव आदि के कुशल-मंगल और शीघ्र ही आगमन के समाचार सुनकर वडे प्रसन्न हुए। थोड़ी ही देर मे वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और मुकुटधारी अनेक विद्याधरपति वहा आ पहुँचे और सवने समुद्रविजय आदि पूज्यो के चरणो मे सिर झुकाया।

यादव-सेना ने अपनी महान् विजय के उपलक्ष मे वड़े ही समारोह के साथ आनन्दोत्सव मनाया। अपने इस आनन्दोत्सव की याद को चिरस्थायी वनाने के लिये यादवो ने अपने शिविर के स्थान पर सिनपल्ली ग्राम के पास सरस्वती नदी के तट पर आनन्दपुर नामक एक नगर वसाया।[1]

तदनन्तर तीन खण्ड की साधना करके श्रीकृष्ण समस्त यादवो और यादव-सेनाओ के साथ द्वारिकापुरी पहुँचे और सभी यादव वहां विविध भोगोपभोगो का आनन्दानुभव करते हुए वड़े सुख से रहने लगे।

महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी और सभी यादव-मुख्यो ने कुमार अरिष्टनेमि से वड़े दुलार के साथ विवाह करने का अनेक वार अनुरोध

---

१ . . तत्रानन्दपुरं चक्रे सिनपल्लीपदे पुरम् ॥ २६ ॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ८,]

किया पर कुमार अरिष्टनेमि तो जन्म से ही संसार से विरक्त थे। उन्होने हर वार विवाह के प्रस्ताव को गम्भीरतापूर्वक यह कहकर टाल दिया – "नारी वास्तव में भवभ्रमण के घोर दु खसागर मे गिराने वाली है। मैं ससार के भवचक्र मे परिभ्रमण करते-करते बिल्कुल थक चुका हूँ, अव इस विकट भवाटवी मे भटकने का मुझमे किंचित् मात्र भी सामर्थ्य नही है अत. मैं इस विवाह के चक्र से सदा कोसो दूर ही रहूंगा।" समुद्रविजयजी को कुमार को मनाने मे सफलता नही मिली।

अरिष्टनेमि का अलौकिक वल

एक दिन कुमार अरिष्टनेमि यादव कुमारो के साथ घूमते हुए वासुदेव कृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गये। उन्होने वहां ग्रीष्मकालीन मध्याह्न के सूर्य के समान अतीव प्रकाशमान सुदर्शन चक्र, शेषनाग की तरह भयंकर शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और वृहदाकार पाचजन्य शख को देखा।

कुमार अरिष्टनेमि को कौतुक से शख की ओर हाथ वढाते देख चारुकृष्ण नामक आयुधशाला-रक्षक ने कुमार को प्रणाम कर कहा – "यद्यपि आप श्रीकृष्ण के भ्राता हैं और निस्सदेह प्रवल पराक्रमी भी हैं फिर भी इस शख को पूरना तो अलग रहा आप इसको उठाने मे भी समर्थ नही है। इसको तो केवल श्रीकृष्ण ही उठा और वजा सकते हैं अत. आप इसे उठाने का वृथा प्रयास न कीजिये।"

रक्षक पुरुष की वात सुनकर कुमार अरिष्टनेमि ने मुस्कुराते हुए अनायास ही शख को उठा अधर-पल्लवों के पास ले जाकर पूर (वजा) दिया।

प्रथम तो कुमार अरिष्टनेमि तीर्थंकर होने के कारण अनन्त शक्ति-सम्पन्न थे, फिर पूर्ण ब्रह्मचारी थे अत. उनके द्वारा पूरे गये पाचजन्य की ध्वनि से लवण समुद्र मे भीषण उत्ताल तरगे उठी और उछल-उछल कर बड़े वेग के साथ द्वारिका के प्राकार से टकराने लगी, द्वारिका के चारो ओर के नगाधिराजो के शिखर और द्वारिका के समग्र भव्य-भवन थर्रा उठे। औरो का तो ठिकाना ही क्या स्वयं श्रीकृष्ण और वलराम भी क्षुब्ध हो उठे। खम्भो से वँधे हाथी खम्भो को उखाड, लोह शृंखलाओ को तोड चिंघाडते हुए इधर-उधर वेग से भागने लगे, द्वारिका के नागरिक उस शख के अतिघोर निर्घोष से मूर्च्छित हो गये और शंख-निनाद के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण शस्त्रागार के रक्षक तो मृतप्राय ही हो गये।

श्रीकृष्ण साश्चर्य सोचने लगे – "इस प्रकार इतने अपरिमित वेग से शख वजाने वाला कौन हो सकता है? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है अथवा इन्द्र पृथ्वी पर आया है? मेरे शख के निर्घोष से तो सामान्य भूपति ही भौंचक्के होते है पर शख के इस अद्भुत निर्घोष से तो मै और बलराम भी क्षुब्ध हो गये।"

थोड़ी ही देर मे आयुधशाला के रक्षक ने वहां आकर कृष्ण से निवेदन किया – "देव ! कुतूहलवश कुमार अरिष्टनेमि ने आयुधशाला में पाचजन्य शंख वजाया है। यह सुनकर कृष्ण वहुत विस्मित हुए पर उन्हे उस वात पर विश्वास नही हुआ। उसी समय कुमार अरिष्टनेमि वहा आ पहुचे। कृष्ण ने अतिशय आश्चर्य, स्नेह एवं आदरयुक्त मन.स्थिति में अरिष्टनेमि को अपने अर्द्धसिंहासन पर पास वैठाया और वडे दुलार से पूछा – "प्रिय भ्रात ! क्या तुमने पाचजन्य शख वजाया था जिसके कारण कि सारा वातावरण अभी तक विक्षुब्ध हो रहा है?"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज स्वर में उत्तर दिया – "हा भैया।"

कृष्ण ने स्नेहातिरेक से कुमार अरिष्टनेमि को अक मे भरते हुए कहा – "मुझे प्रसन्नता हो रही है कि मेरे छोटे भाई ने पाञ्चजन्य शख को वजाया है। आज तक मेरी यह धारणा थी कि इसे मेरे अतिरिक्त कोई नही वजा सकता। कुमार ! अपन दोनो भाई व्यायामशाला मे चलकर वल-परीक्षा करले कि किसमे कितना अधिक वल है।"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज सरल स्वर में कहा – "जैसी आपकी इच्छा।"

यादव कुमारो से घिरे हुए दोनो नर-शार्दूल व्यायामशाला मे पहुचे।

सहज करुणार्द्र कुमार अरिष्टनेमि ने मन ही मन सोचा – "कही मेरी भुजाओं, वक्ष और जघाओ के सघर्ष से मल्लयुद्ध मे मेरे वल से अनभिज्ञ वड़े भाई कृष्ण को पीडा न हो जाय।" यह सोचकर उन्होने कहा – "भैया ! भू-लुण्ठनादि क्रिया वाले इस ग्राम्य मल्लयुद्ध की अपेक्षा वाहु को झुकाने से भी वल का परीक्षण किया जा सकता है।"

श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि से सहमति प्रकट करते हुए अपनी प्रचण्ड विशाल दाहिनी भुजा फैला दी और कहा – "कुमार ! देखें, इसे झुकाना।"

कुमार अरिष्टनेमि ने विना प्रयास के सहज ही मे कमल की कोमल डण्डी की तरह कृष्ण की भुजा को झुका दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा – "अच्छा कुमार ! अव तुम अपनी भुजा फैलाओ।"

कुमार अरिष्टनेमि ने भी सहज-मुद्रा मे अपनी भुजा फैलाई।

श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को झुकाने का प्रयास किया पर वह किंचित् मात्र भी नही झुकी। अन्त मे कृष्ण ने अपने दोनो वज्र-कठोर हाथो से कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को कस कर पकड़ा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने पैरो को भूमि से ऊपर उठा शरीर का सारा भार भुजा पर पटकते हुए वडे जोर का झटका लगाया, वे कुमार अरिष्टनेमि की भुजा पकडे अधर झूलने लगे पर कुमार की भुजा को नही झुका सके।

श्रीकृष्ण को कुमार का अपरिमित वल देखकर वडा आश्चर्य हुआ। उन्होने कुमार की भुजा छोडकर उन्हे हृदय से लगा लिया और वोले – "प्रिय अनुज ! मुझे तुम्हारे अलौकिक वल को देखकर इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिस प्रकार मेरे भुजवल के सहारे वलराम सभी योद्धाओ को तुच्छ समझते है, उसी तरह मै तुम्हारी शक्ति के भरोसे समस्त संसार के योद्धाओ को तृणवत् समझता हूँ।"

कुमार अरिष्टनेमि के चले जाने के अनन्तर कृष्ण ने वलराम से कहा – "भैया ! देखा आपने अपने छोटे भाई का वल ! मै तो वृक्ष की डाल पर गोपवाल की तरह कुमार की भुजा पर लटक गया। इतना अपरिमित वल तो चक्रवर्ती और इन्द्र मे भी नही होता। इतनी अमित शक्ति के होते हुए भी यह हमारा अनुज समग्र भरत के छ ही खण्डो को क्यो नही जीत लेता।

वलराम ने कहा – "चक्रवर्ती और इन्द्र से अधिक शक्तिशाली होते हुए भी कुमार स्वभाव से बिल्कुल शान्त है। उन्हे किंचित् मात्र भी राज्यलिप्सा नही है।"

फिर भी कृष्ण के मन का सन्देह नही मिटा। उस समय आकाशवाणी हुई कि ये वावीसवे तीर्थंकर है, विना विवाह किये ब्रह्मचर्यावस्था मे ही प्रव्रजित होगे।

तदनन्तर कृष्ण ने अपने अन्त पुर में जाकर कुमार अरिष्टनेमि को बुलाया और बडे प्रेम से अपने साथ खाना खिलाया। कृष्ण ने अपने अन्त पुर के रक्षको को आदेश दिया कि कुमार अरिष्टनेमि को विना रोक-टोक के समस्त अन्त.पुर में आने-जाने दिया जाय क्योकि ये पूर्णरूपेण निर्विकार है।

कुमार अरिष्टनेमि सहज शान्त, भोगो से विमुख और निर्विकार भाव से सुखपूर्वक सर्वत्र विचरण करते। रुक्मिणी आदि सभी रानिया उनका वड़ा सम्मान रखती। कृष्ण उनके साथ ही खाते-पीते और क्रीड़ा करते हुए वडे आनन्द से रहने लगे। कुमार नेमि पर कृष्ण का स्नेह दिन प्रति दिन वढता ही गया।

एक दिन उन्होने सोचा – "नेमि कुमार का विवाह कर इन्हे दाम्पत्य जीवन मे सुखी देख सकूँ तभी मेरा राज्य, ऐश्वर्य एव भ्रातृ-प्रेम सही माने मे सार्थक हो सकता है और यह तभी सभव हो सकता है जव कि कुमार अरिष्टनेमि को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर उनके मन मे भोग-लिप्सा पैदा की जाय।"

यह सोचकर श्रीकृष्ण ने अपनी सव रानियो से कहा– "मैं कुमार अरिष्टनेमि को सव प्रकार से सुखी देखना चाहता हूँ। मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी सुन्दर कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया जाय और वे विवाहित जीवन का आनन्दोपभोग करे। पर कुमार सासारिक भोगो के प्रति पूर्ण उदासीन हैं। अत यह आवश्यक है कि विरक्त और भोगों से पराड् मुख अरिष्टनेमि को हर सभव प्रयास कर विवाह करने के लिये राजी किया जाय।"

रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करते हुए कहा – "महाराज ! बडे-बडे योगियो को भी योगमार्ग से विचलित कर देने वाली रमणियो के लिये यह कोई कठिन कार्य नही है। हम हमारे प्रिय देवर को विवाह करने के लिये अवश्य सहमत कर लेगी।"

रुक्मिणी आदि का नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव

श्रीकृष्ण के सकेतानुसार रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ने वसत-क्रीडा के निमित्त रेवताचल पर एक कार्यक्रम आयोजित किया। निर्विकार नेमिनाथ को भी अपने वड़े भाई कृष्ण द्वारा आग्रह करने पर वसन्तोत्सव मे सम्मिलित होना पडा।

वसन्तोत्सव के प्रारम्भ मे रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियो ने विविध रंगों और सुगन्धियों से मिश्रित पानी पिचकारियो और डोलियो मे भर-भर कर कृष्ण और नेमिनाथ पर वरसाना प्रारम्भ किया। कृष्ण ने भी उन्हे उन्ही के द्वारा लाये गये पानी से शरावोर कर दिया।

कृष्ण द्वारा किये गये जलधारा प्रपात से विचलित होकर भी वे वार-वार कृष्ण को चारो ओर से घेर कर पद्मपराग मिश्रित जल की अनवरत धाराओ से भिगोती हुई खिलखिलाकर हसती। किन्तु कृष्ण और रानियो की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओ से नेमिकुमार आकृष्ट नही हुए। वे निर्विकार भाव से सारी लीला को देखते रहे, केवल अपनी भाभियो के विनम्र निवेदन का मान रखने कभी कभी उनके द्वारा उ डेले गये पानी के उत्तर मे उन पर कुछ पानी उ डेल देते।

वड़ी देर तक विविध हासोल्लास से फाग खेला जाता रहा। वारिधाराओ की तीव्र वौछारो से सव के नेत्र लाल हो चुके थे। अव सभी रानिया मिल कर नेमिनाथ के साथ फाग खेलने लगी। निर्विकार रूप से नेमिकुमार भी अपने पर अनेक वार पानी उ डेलने पर उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप मे एक दो वार उन पर पानी उछाल देते।

अपने प्रिय छोटे भाई नेमिकुमार को फाग खेलते देख कर कृष्ण अलग हो, सरोवर मे जल-क्रीडा करने लगे। फिर क्या था, अव तो सभी सुन्दरियो ने आपस मे सलाह कर नेमिनाथ को अपना मुख्य लक्ष्य वना लिया। वे उन्हे मोह, राग और भोग-मार्ग में आकर्षित कर वैवाहिक वन्धन मे वाधने का दृढ संकल्प लिये नारी-लीला का प्रदर्शन करने लगी।

सभी रानिया दिव्य वस्त्राभूषणादि से षोडश अलकार किये रूप-लावण्य मे सुरवधुओ को भी तिरस्कृत करती हुई चारुहासो, तीक्ष्ण-तिरछे चितवनो के कटाक्षो और हसने-हसाने, रूठने-मनाने आदि विविध मनोरम हावभावो से एवं नर-नारी के सगजन्य आनन्द को ही जीवन का सार प्रकट करने वाले अनुपम अभिनयो से कुमार के मन मे मनसिज को जगाने एव नारी के रमणीय कलेवर

की ओर उत्कट आकर्षण व स्पृहा पैदा करने मे ऐसी जुट गई मानो स्वयं पुष्पायुध ही सदलवल नेमिनाथ पर विजय पाने चढ़ आया हो ।

पर इन सव हावभावो और कमनीय कटाक्षो का नेमिनाथ के मन पर कोई असर नही हुआ । प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन के झोको मे जैसे सुमेरु अचल-अडोल खडा रहता है उसी तरह उनका मन भी इस रग भरे वातावरण मे निर्विकार-निर्मल वना रहा ।

अपनी असफलता से उत्तेजित हो उन रमणी-रत्नो ने अपने किन्नर-कण्ठो से वज्र-कठोर हृदय को भी गुदगुदा देने वाले मधुर प्रणय-गीत गाने आरभ किये । पर जिन्होने इस सार तत्त्व को जान लिया है कि – "सव्वं विलवियं गीयं, सव्व नट्ट विडम्वियं" – उन प्रभु नेमिनाथ पर इस सव का क्या असर होने वाला था ।

जव कृष्ण जल-क्रीड़ा कर सरोवर से वाहर निकले तो कृष्ण की सभी रानिया सरोवर तट के आजानु पानी मे जल-क्रीड़ा करने लगी और नेमिकुमार ने भी राजहंस की तरह सरोवर मे प्रवेश किया । पर घुटनों तक के तटवर्ती पानी मे स्नान करने लगे । रुक्मिणी ने रत्न-जटित चौकी विछा उस पर नेमिकुमार को बिठाया और अपनी चुन्दरी से वह उनके शरीर को मलने लगी । शेप सभी रानियां उनके चारो ओर एकत्रित हो गई ।

रानियो द्वारा नेमिनाथ को भोगमार्ग की ओर मोड़ने का यत्न

सत्यभामा वडे ही मीठे शव्दो मे कहने लगी – "प्रिय देवर ! आप सदा हमारी सव वाते शान्ति से सुन लिया करते हो इसलिए मैं आप मे यह पूछना चाहती हूँ कि आपके वड़े भैया तो सोलह हजार रानियो के पति हैं, उनके छोटे भाई होकर आप कम से कम एक कन्या के साथ भी विवाह नही करते यह कैसी अजीव वात है ? सौन्दर्य और लावण्य की दृष्टि से तीनों लोक मे कोई भी आपकी तुलना नही कर सकता । युवावस्था मे भी पदार्पण कभी के कर चुके हो फिर समझ मे नही आता कि आपकी यह क्या स्थिति है ? आपके माता-पिता, भाई और हम सव आपकी भाभिया, सव के सव आपसे प्रार्थना करते है, एक वार तो सव का कहना मान कर विवाह कर ही लो ।"

"आप स्वय विचार कर देखो – विना जीवन-सगिनी के कुँआरे कितने दिन तक रह सकोगे ? आखिर वोलो तो सही, क्या तुम काम-कला से अनभिज्ञ हो, नीरस हो अथवा पौरुष-विहीन हो ? याद रखो कुमार ! विना स्त्री के तुम्हारा जीवन निर्जन वन में खिले सुन्दर-मनोहर सुरभिसंयुक्त पुष्प के समान निरर्थक ही रहेगा ।"

"जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने पहले विवाह किया, फिर धर्म-तीर्थ की स्थापना की, उसी प्रकार आप भी पहले गृहस्थोचित सव कार्य सम्पन्न कर फिर समय पर यथारुचि ब्रह्मव्रत की साधना कर लेना । गृहस्थ-

जीवन मे ब्रह्मचर्य अशुचि-स्थान में मन्त्रोच्चारण के समान है।[1] फिर आप ही के वंश मे मुनि सुव्रत तीर्थंकर हुए। उन्होने भी पहिले विवाहित होकर फिर मुनि-व्रत ग्रहण किया था। आपके पीछे होने वाले तीर्थंकर भी ऐसा ही करेंगे। फिर आप ही क्या ऐसे नये मुमुक्षु है जो पूर्व-पुरुषो के पथ को छोडकर जन्म से ही स्त्री, भोग एवं विपयादि से पराङ्मुख हो रहे हो ?"

सत्यभामा ने तमक कर कहा – "ये मिठास से रास्ते आने वाले नही हैं। माता-पिता-भाई सव समझाते-समझाते हार गये, अव कड़ाई से काम लेना होगा। हम सवको मिल कर अव इन्हे पास के एक स्थान मे वन्द कर देना चाहिए और जव तक ये हमारी वात मान नही ले तव तक छोड़ना ही नही चाहिए।"

रुक्मिरणी ने कहा – "वहिन ! हमे अपने प्रिय सुकुमार देवर के साथ ऐसा कठोर व्यवहार नही करना चाहिए, हमे वडे मीठे वचनों से नम्रतापूर्वक इन्हे विवाह के लिए राजी करना चाहिए।"

रुक्मिरणी यह कह कर श्री नेमिकुमार के चरणो मे झुक गईं। श्रीकृष्ण की शेष सव रानियों ने भी नेमि के चरणो में अपने सिर झुका दिये और विवाह की स्वीकृति हेतु अनुनय-विनय करने लगी।

यह देख कर कृष्ण आ गये और नेमिनाथ से वड़े ही मीठे वचनों से कहने लगे – "भाई ! अव तुम विवाह कर लो।"

इतने मे अन्य यादवगण भी वहां आ पहुचे और नेमिनाथ से कहने लगे – "कुमार ! अपने वड़े भाई का कहना मान लो और माता-पिता एवं अपने स्वजन-परिजन को प्रमुदित करो।"

इन सव के हठाग्रह को देख, नेमिकुमार ने मन ही मन विचार किया – "ओह ! कैसा इन लोगो का मोह है कि ये लोग केवल स्वयं ही ससार-सागर मे नही डूव रहे हैं अपितु दूसरो को भी स्नेह-शिला से वांध कर भवार्णव मे पटक रहे हैं। इनके आग्रह को देखते हुए यही उपयुक्त है कि इस समय मुझे केवल वचन मात्र से इनका कहना मान लेना चाहिए और समय आने पर अपना कार्य कर लेना चाहिए। ऐसा करने से गृह, कुटुम्व आदि का परित्याग करने का कारण भी मेरे सम्मुख उपस्थित होगा।" यह सोच कर नेमि ने कहा – "हा ठीक है, ऐसा ही करेंगे।"[2]

नेमिकुमार की वात सुन कर कृष्ण और सभी यादव वड़े प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण सपरिवार द्वारिका मे आकर नेमिनाथ के योग्य कन्या ढूंढ़ने का प्रयत्न

---

[1] समये प्रतिपद्येथा, ब्रह्मापि हि यथा रुचि।
गार्हस्थ्ये नोचित ब्रह्म, मन्त्रोद्गार इवाशुचौ ॥ १०५
[त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

[2] एय चेव कीरत मज्झ पि परिच्चायकारणं भविस्सइ। त्ति कलिऊण परिहास पयारणा-पुव्वय पि भणिऊण पडिवण्ण एव चेव कीरइ। [चउवन्न महापुरिसचरिय, पृष्ठ १९२]

करने लगे। सत्यभामा ने कृष्ण से कहा – "मेरी अनुपम रूप-गुण-सम्पन्ना छोटी बहिन राजीमती पूर्णरूपेण नेमिकुमार के अनुरूप एव योग्य है।"

यह सुन कर कृष्ण अति प्रसन्न हुए और उन्होने तत्काल महाराज उग्रसेन के पास पहुच कर अपने भाई नेमिकुमार के लिए उनकी पुत्री राजीमती की उनसे याचना की। उग्रसेन ने अपना अहोभाग्य समझते हुए प्रमुदित हो कृष्ण के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उग्रसेन द्वारा स्वीकृति मिलते ही कृष्ण महाराज समुद्रविजय के पास आये और उनकी सेवा मे नेमिनाथ के लिए राजीमती की याचना, उग्रसेन द्वारा सहर्ष स्वीकृति आदि के सम्बन्ध में निवेदन किया।

समुद्रविजय ने हर्ष-गद्गद् स्वर मे कहा – "कृष्ण! तुम्हारी पितृ-भक्ति एव भ्रातृ-प्रेम वहुत ही उच्च कोटि के है। इतने दिनो से जो हमारी मनोभिलाषा केवल मन मे ही मरी पडी थी उसे तुमने नेमिकुमार को विवाह करने हेतु राजी कर सजीव कर दिया है। पुत्र! वडी कठिनाई से नेमिकुमार ने विवाह करने की स्वीकृति दी है, अत कालक्षेप उचित नही है।"

समुद्रविजय आदि ने नैमित्तिक को बुलाया और श्रावण शुक्ला ६ को विवाह का मुहूर्त्त निश्चित कर लिया।[1] श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका नगरी के प्रत्येक पथ, वीथि, उपवीथि, अट्टालियो, गोपुर और घर-घर को रत्नमचो, तोरणो आदि से खूब सजाया। वडी धूमधाम के साथ नेमिकुमार के विवाह की तैयारिया की गई।

विवाह से एक दिन पहले दशो दशार्हो, वलभद्र, कृष्ण आदि ने अन्त.पुर की समस्त सुहागिनियो द्वारा गाये जा रहे मगल-गीतो की मधुर ध्वनि के बीच नेमिनाथ को एक ऊचे सिहासन पर पूर्वाभिमुख वैठाया। अनेक सुगन्धित महार्घ्य, विलेपनादि के पश्चात् स्वय वलराम और कृष्ण ने उन्हे सब प्रकार की औषधियो से स्नान कराया[2] और उनके हाथ पर कर-सूत्र (ककण-डोरा) वांधा।

तदनन्तर श्रीकृष्ण उग्रसेन के राजप्रासाद मे गये। वहा पर भी उन्होने दुलहिन राजीमती के कर मे उसी प्रकार मगल-मृदु गीतो की स्वर-लहरियो के वीच उवटन-विलेपन-स्नानादि के पश्चात् कर-सूत्र वधवाया और अपने भवन को लौटे।

दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथ की वरात सजायी गई। महार्घ्य, सुन्दर श्वेत वस्त्र एव वहुमूल्य मोतियो के आभूषण पहने, श्वेत छत्र तथा श्वेत चामरो से

---

[1] चउवन महापुरिस चरिय मे उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर देने का उल्लेख है। यथा – "भयव पुण तेरगेव ववएसेण सवच्छरिय महादाउण दाउमाढत्तो,   [चउवन महापुरिस, चरिय, पृष्ठ १९२]

[2] मव्वोसहीहिं ण्हदियो कयकोउय मगलो।   [उत्तराध्ययन, अ० २२, गा. ६]

सुशोभित, कस्तूरी और गौशीर्ष चन्दन का विलेपन किये दूल्हा अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ मस्त गन्धहस्ती पर आरूढ़ हुए ।[1]

नेमिकुमार के हाथी के आगे अनेको देवोपम यादव कुमार घोड़ो पर सवार हो चल रहे थे। घोड़ों की हिनहिनाहट से सारा वायुमण्डल गूंज रहा था। नेमिकुमार के दोनो पार्श्व मे मदोन्मत्त हाथियो पर बैठे हजारो राजा चल रहे थे और नेमिकुमार के हाथी के पीछे-पीछे दशो भाई दशार्ह, वलराम और कृष्ण हाथियों पर आरूढ़ थे। तथा उनके पीछे वहुमूल्य सुन्दर पालकियो मे बैठी हुई राजरानियां, अन्त पुर की व अन्य सुन्दर रमणिया मंगल-गीतो से वायुमण्डल मे स्वर लहरिया पैदा करती हुई चल रही थी। उच्च स्वर से किये जाने वाले मंगल पाठ से और विविध वाद्यो की कर्णप्रिय ध्वनि से सारा वातावरण वड़ा मृदु, मनोरम एव मादक वन गया था। इस तरह वडे ही ठाट-वाट के साथ नेमिकुमार की वारात महाराज उग्रसेन के प्रासाद की ओर वढी। वर-यात्रा का दृश्य वड़ा ही सम्मोहक, मनोहारी और दर्शनीय था। सुन्दर, समृद्ध एव सुसज्जित वरातियो के वीच दूल्हा नेमिकुमार ससार के सिरमौर, त्रैलोक्य चूडामणि की तरह सुशोभित हो रहे थे।

राजमार्ग के दोनों ओर वातायन, अट्टालिकाए, गृहद्वार आदि द्वारिका की रमणियो के समूहो से खचाखच भरे थे। त्रिभुवन-मोहक दूल्हे नेमिकुमार को देखकर आवाल वृद्ध-नरनारी-वृन्द अपनी दृष्टि को सफल और जीवन को धन्य मानते हुए दूल्हे की भूरि-भूरि सराहना करने लगे।

इस तरह पौर-जनो के नयनो और मनो को आनन्दविभोर करते हुए नेमिनाथ की वरात उग्रसेन के भवन के पास आ पहुंची। वरात के आगमन के तुमुलनाद को सुनते ही राजीमती मेघ-गर्जन रव से मस्त हुई मयूरी की तरह परम प्रमुदित हो खड़ी हुई। सखियो ने वर को देखते ही दौड़कर राजीमती को घेर लिया और उसके भाग्य की सराहना करती हुई कहने लगीं—"राजदुलारी! तुम परम भाग्यवती हो जो श्री नेमिनाथ जैसा त्रैलोक्य-तिलक वर तुम्हारा पाणिग्रहण करेगा। नयनाभिराम वर आखिर तो यहां हमारे सामने आयेंगे ही पर हम अपनी वर-दर्शन की प्रवल उत्कण्ठा को रोक नही सकती, अत सलोनी सखि! लज्जा का परित्याग कर शीघ्रता से चलो। हम सव अति कमनीय वर को गवाक्षो से देखले।"

मनोभिलषित वात सुनकर सघन घन-घटा में चमचमाती हुई चचल चपला सी राजीमती एक झरोखे की ओर वढी और वहां से उसने रोम-रोम मे झन-

[1] (क) मत्त च गन्ध हत्थि वासुदेवस्स जेट्ठग आरूढो सोहए अहिय, सिरे चूडामणि जहा।
[उत्तराध्ययन, अ० २२ गा० १०]

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र मे श्वेत घोडो के रथ पर आरूढ होने का उल्लेख है। यथा —आरुरोहारिष्टनेमि स्यन्दन श्वेतवाजिनम्॥ [पर्व ८, स० ९, श्लो० १४९]

झनाहट सी पैदा कर देने वाले साक्षात् कामदेव के समान ठाट-वाट से आते हुए नेमिकुमार को देखा। राजीमती निर्निमेश नयनो से अपने प्रियतम की रूप-सुधा का पान करती हुई विचारने लगी – "अहोभाग्य! मन से भी अचिन्त्य ऐसा त्रैलोक्य-मुकुटमरिण नर-रत्न यदि मुझे मेरे प्राणनाथ के रूप मे प्राप्त हो जाये तो मेरा जन्म सफल हो जाय। यद्यपि ये स्वतः मुझे अपनी जीवन-संगिनी वनाने की इच्छा लिये यहा आ रहे हैं फिर भी मेरे मन को धैर्य नही होता कि मैं अपने किन सुकृतो के फलस्वरूप इन्हे अपने प्राणनाथ के रूप मे प्राप्त कर सकूंगी।"

इस प्रकार मन ही मन ऊहापोह मे डूबी हुई राजकुमारी राजीमती की सहसा दाहिनी आख और भुजा फडकने लगी। अनिष्ट की आशका से उसका हृदय धड़कने लगा और विकसित कमल के फूलो के समान सुन्दर नेत्रो से अश्रु-धाराए वहाते हुए उसने अवरुद्ध कण्ठ से अपनी सखियो को अनिष्ट-सूचक अंगस्फुरण की बात कही।

सखियो ने उसे ढाढस बधाते हुए कहा – "राजदुलारी! इस मंगलमय वेला मे तुम अमगल की आशका क्यो कर रही हो? हमारी कुलदेविया प्रसन्न हो तुम जैसी पुण्यशालिनी का सब तरह से कल्याण ही करेगी। कुमारी! धैर्य रखो। अव तो कुछ ही क्षणो की देर है, वस अव तो तुम्हारे पाणि-ग्रहण के लिए वर आ ही चुका है।"

इधर राजीमती अनिष्ट की आशका से सिसक-सिसक कर रोती हुई आसू वहा रही थी और उसे उसकी सहेलिया धैर्य वधा रही थी। उधर आते हुए नेमिकुमार ने पशुओ के करुण क्रन्दन को सुन कर जानते हुए भी अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा – सारथे! यह किसका करुण क्रन्दन कर्णगोचर हो रहा है?

सारथि ने कहा – "स्वामिन्! क्या आपको पता नही कि आपके विवाहोत्सव के उपलक्ष मे विविध भोज्य-सामग्री वनाने हेतु अनेको वकरे, मेढे तथा वन्य पशु-पक्षी लाये गये हैं। प्राणिमात्र को अपने प्राण परम प्रिय हैं अतः ये क्रन्दन कर रहे हैं।"

नेमिनाथ ने महावत को पशुओ के वाड़ो की ओर हाथी को वढ़ाने की आज्ञा दी। वहा पहुच कर नेमिकुमार ने देखा कि अगणित पशुओ की गर्दने और पैर रस्सियों से वधे हुए हैं एव अगणित पक्षी पिंजरो तथा जाल-पाशो मे जकड़े म्लानमुख कापते हुए दयनीय स्थिति मे वन्द हैं।

आनन्ददायक नेमिकुमार को देखते ही पशु-पक्षियो ने अपनी वोली में अपनी करुण पुकार सुनानी प्रारम्भ की – "नाथ! हम दीन, दु:खी, असहायो की रक्षा करो।"

दयामूर्ति नेमिकुमार का करुण, कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होने अपने सारथि को आज्ञा दी कि वह उन सब पशु-पक्षियो को तत्क्षण मुक्त कर दे। देखते ही देखते सब पशु-पक्षी मुक्त कर दिये गये। स्नेहपूर्ण दृष्टि से नेमिनाथ के

प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए पशु यथेप्सित स्थानो की ओर दौड़ पडे और पक्षि-समूह पख फैला कर अपने विविध कण्ठरवो से खुशी-खुशी नेमिनाथ की यशोगाथाएं गाते हुए अनन्त आकाश में उडते हुए तिरोहित हो गये ।

पशु-पक्षियो को विमुक्त करने के पश्चात् नेमिनाथ ने अपने कानो के कुडल-युगल, करधनी एव समस्त आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये[1] और अपना हाथी अपने प्रासाद की ओर मोड दिया । उनको लौटते देख यादवो पर मानो अनभ्र वज्रपात सा हो गया । माता शिवा महारानी, महाराज समुद्रविजय, श्रीकृष्ण-बलदेव आदि यादव-मुख्य अपने-अपने वाहनो से उतर पडे और नेमिनाथ के सामने राह रोक कर खडे हो गये ।

आखो से अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए समुद्रविजय और माता शिवा ने बडे दुलार से अनुनयपूर्वक कहा – "वत्स ! तुम अचानक ही इस मगल-महोत्सव से मुख मोड कर कहा जा रहे हो ?"

विरक्त नेमिकुमार ने कहा – "अम्ब-तात ! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनो से बधे हुए थे उसी प्रकार आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ बन्धन में बन्धे हुए हैं । जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियो को बन्धनमुक्त कर दिया उसी प्रकार मैं अब अपने आपको कर्म-बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त करने हेतु कर्म-बन्धन काटने वाली शिव-सुख प्रदायिनी दीक्षा ग्रहण करूगा ।"

नेमिकुमार के मुख से दीक्षा-ग्रहण की बात सुनते ही माता शिवादेवी और महाराज समुद्रविजय मूर्च्छित हो गये एव समस्त यादव-परिवार की आखें रोते-रोते लाल हो गईं । श्रीकृष्ण ने सब को ढाढस बन्धाते हुए नेमिकुमार से कहा – "भ्रात ! तुम हमेशा हम सबके परम माननीय रहे हो, हर समय तुमने भी हमारा बडा मान रखा है । इसमे कोई सन्देह नही कि तुम्हारा सौन्दर्य त्रैलोक्य मे अनुपम है और तुम अभिनव यौवन के धनी हो, राजकुमारी राजीमती भी पूर्णरूपेण तुम्हारे ही अनुरूप है, ऐसी दशा मे तुम्हारे इस असामयिक वैराग्य का क्या कारण है ? अब रही पशु-पक्षियों की हिंसा की बात, तो उनको तुमने मुक्त कर दिया है । तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब माता-पिता और हम सब प्रियजनो के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करो ।"

"साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं । आपको अपने इन शोक-सागर मे डूबे हुए माता-पिता की उपेक्षा नही करनी चाहिए । जिस प्रकार आपने इन दीन पशु-पक्षियो को प्राणदान देकर प्रमुदित कर दिया उसी प्रकार इन प्रियबन्धु-

---

[1] सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तग च महायसो ।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥२०॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा २०]

बान्धवो को भी अपने विवाह के सुन्दर दृश्य का दर्शन करा कर प्रसन्न कर दीजिये।"

अरिष्टनेमि ने कहा – "चक्रपाणे ! माता-पिता और आप सब सज्जनो के दु ख का कोई कारण मुझे दृष्टिगोचर नही होता। देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गति मे पुन -पुन. जन्म-मरण के चक्कर मे फसा हुआ प्राणी अनन्त असह्य दु.ख पाता है। यही मेरे वैराग्य का मुख्य कारण है। अनन्त जन्मो मे अनन्त माता-पिता, पुत्र और बन्धु-बान्धवादि हो गये पर कोई किसी के दु ख को नही बटा सका। अपने-अपने कृत-कर्मो के दारुण विपाक सभी को स्वयमेव भोगने पडते है। यदि पुत्रो को देखने से माता-पिता को आनन्दानुभव होता है तो महानेमि आदि मेरे भाई हैं अत मेरे न रहने पर भी माता-पिता के इस आनन्द मे किसी तरह की कमी नही आयेगी। हरे ! मै तो संसार के इस विना ओर-छोर के पथ पर चलते २ अत्यन्त वृद्ध और निर्बल पथिक की तरह थककर चूर-चूर हो चुका हूँ अत मै असह्य दु ख का अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, आप लोगों के लिए और संसार के समस्त प्राणियो के लिए परम शान्ति का प्रशस्त मार्ग ढूंढने को लालायित हूँ। मैंने दृढ निश्चय कर लिया है कि अब इस अनन्त दु.ख के मूल-भूत कर्मो का समूलोच्छेद करके ही दम लूंगा। बिना सयम ग्रहण किये कर्मो को ध्वस्त कर देना संभव नही अत मुझे अब निश्चित रूप से प्रव्रजित होना है। आप लोग वृथा ही बाधा न डाले।"

नेमिकुमार की बात सुनकर समुद्रविजय ने कहा – "वत्स ! गर्भ मे अव-तीर्ण होने के समय से आज तक तुम ऐश्वर्यसम्पन्न रहे हो, तुम्हारा भोग भोगने योग्य यह सुकुमार शरीर ग्रीष्मकालीन घोर आतप, शिशिरकाल की ठिठुरा देने वाली ठड, क्षुधा-पिपासा आदि असह्य दु.खो को सहने मे किस तरह समर्थ होगा ?"

नेमिकुमार ने कहा – "तात ! जो लोग नर्को के उत्तरोत्तर घोरातिघोर दु खो को जानते हैं उनके सम्मुख आपके द्वारा गिनाये गये ये दु ख तो नगण्य और नही के बराबर है। तात ! इन तपश्चरण सम्बन्धी दु खो को सहने से कर्मसमूह जलकर भस्मावशेष हो जाते हैं एवं अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है पर विषयजन्य सुखो से नर्क के अनन्त दारुण दु खो की प्राप्ति होती है। अत. आप स्वयं ही विचार कर फरमाइये कि मनुष्य को इन दोनो मार्गों मे से कौनसा मार्ग चुनना चाहिए ?"

नेमिकुमार के इस आध्यात्मिक तत्त्व से ओतप्रोत शाश्वत-सत्य उत्तर को सुनकर सब यदुश्रेष्ठ निरुत्तर हो गये। सबको यह दृढ विश्वास हो गया कि अब नेमिकुमार निश्चित रूप से प्रव्रजित होगे। सबकी आखें अजस्र अश्रुधाराएं प्रवाहित कर रही थी। नेमिनाथ ने आत्मीयो की स्नेहमयी लोहश्रृंखलाओ के प्रगाढ बन्धनो को एक ही झटके मे तोड़ डाला और सारथी को हाथी हाकने की आज्ञा दे तत्काल अपने निवासस्थान पर चले आये।

उपयुक्त अवसर देख लोकान्तिक देव प्राञ्जलिपूर्वक नेमिनाथ के समक्ष प्रकट हुए और उन्होने प्रभु से प्रार्थना की – "प्रभो ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये ।" लोकान्तिक देवो को आश्वस्त कर प्रभु ने उन्हे ससम्मान विदा किया और इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवो द्वारा द्रव्यो से भरे हुए भण्डार मे से वर्ष भर दान देते रहे ।

उधर अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय का सम्वाद सुनते ही राजीमती वृक्ष से काटी गई लता की तरह निश्चेष्ट हो धरणी पर धडाम से गिर पड़ी । शोकाकुल सखियो ने सुगन्धित शीतल जल के उपचार और व्यजनादि से उसको होश मे लाने का प्रयास किया तो होश मे आते ही राजीमती वडा हृदयद्रावी करुण-विलाप करते हुए बोली – "कहा त्रिभुवनतिलक नेमिकुमार और कहा मैं हतभागिनी ! मुझे तो स्वप्न मे भी आशा नही थी कि नेमिकुमार जैसा नरशिरोमणि मुझे वर रूप मे प्राप्त होगा । पर ओ निर्मोही ! तुमने विवाह की स्वीकृति देकर मेरे मन मे आशालता अकुरित क्यो की और असमय मे ही उसे उखाड़ कर क्यो फेक दिया ?"

"महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं । यदि मै आपको अपने अनुरूप नही जची तो पहले मेरे साथ विवाह की स्वीकृति ही क्यो दी ? जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वीकार किया उसी दिन मेरा आपके साथ पाणिग्रहण हो चुका, उसके वाद यह विवाह-मण्डप-रचना और विवाह का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया । नाथ ! मुझे सवसे वड़ा दु ख तो इस वात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन-भग करेगे तो सारी लौकिक मर्यादाए विनष्ट हो जायेंगी । प्राणेश ! इसमे आपका कोई दोष नही, मुझे तो यह सव मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है । अवश्य ही मैंने पूर्व जन्म मे किसी चिर-प्रणयी मिथुन का विछोह कर उसे विरह की बीभत्स ज्वाला में जलाया है । उसी जघन्य पाप के फलस्वरूप मैं हतभागिनी अपने प्राणाधार प्रियतम के करस्पर्श का भी सुखानुभव नही कर सकी ।"

इस प्रकार पत्थर को भी पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन से विह्वल राजीमती ने हृदय के हार एव कर-ककणो को तोडकर टुकडे २ कर डाला और अपने वक्ष स्थल पर अपने ही हाथो से प्रहार करने लगी ।

सखियों ने राजीमती की यह अवस्था देखकर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा – "नही, नही, राजदुलारी ! ऐसा न करो, उस निर्दयी नेमि कुमार से तुम्हारा क्या सम्वन्ध है ? उस मायावी से अब तुम्हे मतलव ही क्या है ? वह तो लोक-व्यवहार से विमुख, गृहस्थ-जीवन से सदा डरने वाला और स्नेह से अनभिज्ञ केवल मानव-वसति मे आ वसे वनवासी प्राणी की तरह है । सखि ! यदि वह चातुर्य-गुणविहीन, निष्ठुर, स्वेच्छाचारी और तुम्हारा शत्रु चला गया है तो जाने दो । यह तो खुशी की वात है कि विवाह होने से पहले ही उसके लक्षण प्रकट हो गये । यदि विवाह कर लेने के पश्चात् इस तरह ममत्वहीन हो

जाता तो तुम्हारी दशा अन्धकूप मे ढकेल देने जैसी हो जाती। सुभ्रू ! अब तुम उस निष्ठुर को भूल जाओ। तुम अभी तक कुमारी हो क्योकि उस नेमि कुमार को तो तुम केवल सकल्प मात्र से वाग्दान मे ही दी गई हो। प्रद्युम्न, शाम्ब आदि एक से एक बढकर सुन्दर, सशक्त, सर्वगुणसम्पन्न अनेक यादव-कुमार है, उनमे से अपनी इच्छानुसार किसी एक को अपना वर चुन लो।"

इतना सुनते ही राजीमती क्रुद्धा बाघिनी की तरह अपनी सखियो पर गरज पडी – "हमारे निष्कलक कुल पर काला धब्बा लगाने जैसी तुम यह कैसी बात करती हो ? मेरे प्राणनाथ नेमि तीनो लोक में सर्वोत्कृष्ट नरश्रेष्ठ है, भला बताओ तो सही, कोई है ऐसा जो उनकी तुलना कर सके ? क्षण भर के लिए मान लो अगर कोई है भी तो मुझे उससे क्या प्रयोजन, कन्या एक बार ही दी जाती है।"[१]

"वृष्णि कुमारो मे से उनका ही मैंने अपने मन और वचन से वरण किया है, और अपने गुरुजनो द्वारा भी उन्हे दी जा चुकी हू, अत मैं तो अपने प्रियतम नेमि कुमार की पत्नी हो चुकी। तीनो लोकवासियों मे सर्वश्रेष्ठ मेरे उस वर ने आज मेरे साथ विवाह नही किया है तो मै भी आज से सब प्रकार के भोगो को तिलाञ्जलि देती हूं। उन्होने यद्यपि विवाह-विधि से मेरे कर का स्पर्श नही किया है पर मुझे व्रतदान देने मे तो उनकी वाणी अवश्यमेव मेरे अन्तस्तल का स्पर्श करेगी।"

इस तरह काम-भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ प्रतिज्ञा से सहेलियो को चुप कर राजीमती अहर्निश भगवान् नेमिनाथ के ही ध्यान मे निमग्न रहने लगी।

इधर भगवान् नेमिनाथ प्रतिदिन दान देते हुए अनेक रको को राव बना रहे थे। उन्हे अपने विशिष्ट ज्ञान और लोगो के मुख से राजीमती द्वारा की गई भोग-परित्याग की प्रतिज्ञा का पता चल गया था फिर भी वे पूर्णरूपेण ममत्व से निर्लिप्त रहे।

निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा

वार्षिक दान सम्पन्न होने के पश्चात् मानवो, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रो द्वारा भगवान् का निष्क्रमणोत्सव बडे आनन्द और अलौकिक ठाट-बाट के साथ सम्पन्न किया गया। उत्तरकुरु नाम की रत्नमयी शिविका पर भगवान् नेमिनाथ आरूढ हुए। निष्क्रमणोत्सव मे देवो का सहयोग इस प्रकार बताया है—उस पालकी को देवताओ और राजा-महाराजाओ ने उठाया। सनत्कुमार प्रभु पर दिव्य छत्र किये हुए थे। शक्र और ईशानेन्द्र प्रभु के सम्मुख चँवर-व्यजन कर रहे थे। माहेन्द्र हाथ मे नग्न-खड्ग धारण किये और ब्रह्मेन्द्र प्रभु के सम्मुख दर्पण लिए चल रहे थे। लान्तकेन्द्र पूर्ण-कलश लिये, शुक्रेन्द्र हाथ मे स्वस्तिक धारण किये हुए और सहस्रार

---

२ नेमिर्जगत्त्रयोत्कृष्ट कोऽन्यस्तत्सदृशो वर।
सदृशो वास्तु किं तेन, कन्यादान सकृत् खलु ॥२३१॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, प० ८, सर्ग ९]

धनुष की प्रत्यञ्चा पर वाण चढाये हुए प्रभु के आगे चल रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र, नन्द्यावर्त और चमरादि शेष इन्द्र विविध शस्त्र लिये साथ थे। भगवान् नेमि को दशों दशार्ह, मातृवर्ग और कृष्ण-वलराम आदि चारो ओर से घेरे हुए चल रहे थे।

इस प्रकार भगवान् नेमि के निष्क्रमणोत्सव का वह विशाल समूह राजपथ से होता हुआ जव राजीमती के प्रासाद के पास पहुँचा तो एक वर्ष पुराना राजीमती का शोक भगवान् नेमिनाथ को देख कर तत्काल नवीन हो गया और वह मूर्च्छित होकर गिर पडी।

देवों और मानवो के जन-सागर से घिरे हुए नेमिनाथ उज्जयत पर्वत के परम रमणीय सहस्राम्र उद्यान मे पहुचे और वहा अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतर कर अपने सव आभरण उन्होने उतार दिये। इन्द्र ने प्रभु द्वारा उतारे गये वे सव आभूषण श्रीकृष्ण को अर्पित किये। ३०० वर्ष गृहस्थ-पर्याय मे रह कर श्रावण शुक्ला ६ के दिन पूर्वाह्न मे चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में तेले की तपस्या से प्रभु नेमिनाथ ने सुगन्धियो से सुवासित कोमल आकुंचित केसो का स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया।[1] शक्र ने प्रभु के केसो को अपने उत्तरीय मे लेकर तत्काल क्षीर समुद्र मे प्रवाहित किया। जव लुचन कर प्रभु ने सिद्ध-साक्षी से संपूर्ण सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया तव इन्द्र-आज्ञा से देव एवं मानवों का सारा समुदाय पूर्ण शान्त-निस्तब्ध हो गया।

प्रभु ने १००० पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय क्षण भर के लिये नारकीय जीवो को भी सुख प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही प्रभु को मन पर्यव नामक चौथा ज्ञान भी हो गया।

अरिष्टनेमि के दीक्षित होने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आशीर्वचन रूप से कहा – "हे दमीश्वर! आप शीघ्र ही अपने ईप्सित मनोरथ को प्राप्त करें। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र, तप, शान्ति और मुक्ति के मार्ग पर निरंतर आगे वढ़ते रहे।"[2]

प्रभु द्वारा मुनि-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् समस्त देव और देवेन्द्र, दशो दशार्ह, वलराम-कृष्ण आदि प्रभु अरिष्टनेमि को वन्दन कर अपने-अपने स्थान को लौट गये।

पारणा

दूसरे दिन प्रात.काल प्रभु नेमिनाथ ने सहस्राम्रवन-उद्यान से निकल कर 'गोष्ठ' मे 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहां अष्टम-तप का परमान्न से पारणा

---

[1] अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पचमुट्ठीहि समाहिओ ॥२४॥　　[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

[2] वासुदेवो य ण भणइ, लुत्तकेस जिइन्दिय।
इच्छियमणोरहे तुरिय, पावेमू त दमीसरा ॥२५॥　　[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

किया। "अहो दान, अहो दानम्" की दिव्य ध्वनि के साथ देवताओ ने दुन्दुभि बजाई, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य-वस्त्र और सोनैयो की वर्षा, इस तरह पाच दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने अपने घातिक कर्मो का क्षय करने के दृढ सकल्प के साथ कठोर तप और सयम की साधना प्रारम्भ की और वहा से अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया।

रथनेमि का राजीमती के प्रति मोह

अरिष्टनेमि के तोरण से लौट जाने पर भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उस पर मोहित हो गया और वह नित्य नई, सुन्दर वस्तुओ की भेट लेकर राजीमती के पास जाने लगा। रथनेमि के मनोगत कलुषित भावो को नही जानते हुए राजीमती ने यही समझ कर निषेध नही किया — "भ्रातृ-स्नेह के कारण मेरे लिए देवर आदर से भेट लाता है तो मुझे भी इनका मान रखने के लिए इन वस्तुओ को ग्रहण कर लेना चाहिए।"

उन सौगातों की स्वीकृति का अर्थ रथनेमि ने यह समझा कि उस पर अनुराग होने के कारण ही राजीमती उसके हर उपहार को स्वीकार करती है। इस प्रकार उसकी दुराशा बलवती होने लगी और वह क्षुद्रबुद्धि प्रतिदिन राजीमती के घर जाने लगा। भावज होने के कारण वह रथनेमि के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार करती।

एक दिन एकान्त पा रथनेमि ने राजीमती से कहा — "मुग्धे! मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हू। इस अनुपम अमूल्य यौवन को व्यर्थ ही बरबाद मत करो। मेरे भैया भोगसुख से नितान्त अनभिज्ञ थे, इसी कारण उन्होंने तुम्हारी जैसी परम सुकुमार सुन्दरी का परित्याग कर दिया। खैर, जाने दो उस बात को। उनके द्वारा परित्याग करने से तुम्हारा क्या बिगड़ा, वे ही घाटे मे रहे कि भोग-जन्य सुखो से पूर्णरूपेण वचित हो गये। उनमे और मुझमे नभ-पाताल जितना अन्तर है। एक ओर तो वे इतने अरसिक कि तुम्हारे द्वारा प्रार्थना करने पर भी उन्होने तुम्हारे साथ विवाह नही किया, दूसरी ओर मेरी गुण-ग्राहकता पर गम्भीरता से विचार करो कि मैं स्वय तुम्हे अपनी प्राणेश्वरी, चिरप्रेयसी बनाने के लिए तुम्हारे सम्मुख प्रार्थना कर रहा हूँ।"[1]

रथनेमि की बात सुनकर राजीमती के हृदय पर बडा आघात लगा। कुछ क्षण के लिए वह अवाक् सी रह गई। उस सरल स्वभाव वाली विशुद्धहृदया राजीमती की समझ मे अब आया कि वे सारे उपहार इस हीन भावना से ही भेट किये गये थे। धर्मनिष्ठा राजीमती ने रथनेमि को अनेक प्रकार से समझाया

---

[1] प्रार्थ्यमानोऽपि नाभूत्ते, स वरो वरवर्णिनि।
अह प्रार्थयमानस्त्वामस्मि पश्यान्तर महत् ॥२६४॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, सर्ग ६]

कि यशस्वी हरिवशीय कुमार के मन मे इस प्रकार के हीन विचारों का आना लज्जास्पद है पर उस भ्रष्ट-बुद्धि रथनेमि पर राजीमती के समझाने का कुछ भी प्रभाव नही पडा। उसने अपनी दुरभिलाषा को इसलिए नही छोड़ा कि निरन्तर के प्रेमपूर्ण व्यवहार से एक न एक दिन वह राजीमती को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो सकेगा। इस प्रकार की आशा लिए उस दिन रथनेमि राजीमती से यह कह कर चला गया कि वह कल फिर आयेगा।

रथनेमि के चले जाने पर राजमती सोचने लगी कि यह ससार का कुटिल काम-व्यापार कितना घृणित है। कामान्ध और पथभ्रष्ट रथनेमि को सही राह पर लाने के लिए कोई न कोई प्रभावोत्पादक उपाय किया जाना चाहिए। वह वडी देर तक विचारमग्न रही और अन्त मे उसने एक अद्भुत उपाय ढूंढ ही निकाला।

राजीमती ने दूसरे दिन रथनेमि के अपने यहा आने से पहले ही भरपेट दूध पिया और उसके आने के पश्चात् वमनकारक मदनफल को नासा-रन्ध्रो से छूकर सूघा और रथनेमि से कहा कि शीघ्र ही एक स्वर्ण-थाल ले आओ। रथनेमि ने तत्काल राजीमती के सामने सुन्दर स्वर्ण-पात्र रख दिया। राजीमती ने पहले पिये हुए दूध का उस स्वर्ण-पात्र मे वमन कर दिया और रथनेमि से गम्भीर दृढ स्वर मे कहा—"देवर! इस दूध को पी जाओ।"

रथनेमि ने हकलाते हुए कहा—"क्या मुझे कुत्ता समझ रखा है जो इस वमन किये हुए दूध को पीने के लिए कह रही हो?"

राजीमती ने जिज्ञासा के स्वर मे कहा—"रथनेमि! क्या तुम भी जानते हो कि यह वमन किया हुआ दूध पीने योग्य नही है?"

रथनेमि ने उत्तर दिया—"वाह खूव! केवल मै ही क्या, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी वमन की हुई हर वस्तु को अपेय एव अभक्ष्य जानता और मानता है।"

राजीमती ने कठोर स्वर मे कहा—"अरे रथनेमि! यदि तुम यह जानते हो कि वमन की हुई वस्तु अपेय और अभोग्य है—खाने-पीने और उपभोग करने योग्य नही है तो फिर मेरा उपभोग करना क्यो चाहते हो? मैं भी तो वमन की हुई हूँ। उन महान् अलौकिक पुरुष के भाई होकर भी तुम्हे अपनी इस घृणित इच्छा के लिए लज्जा नही आती? सावधान! भविष्य मे कभी ऐसी गर्हित-घृणित और नारकीय आयु का वन्ध करने वाली वात मुंह से न निकालना।[1]"

राजीमती की इस युक्तिपूर्ण फटकार से रथनेमि वडा लज्जित हुआ। उसके मुंह से एक भी शब्द नही निकल सका। उसके सारे कलुषित मनोरथ मिट्टी मे मिल गये और वह उन्मना हो अपना-सा मुंह लिए अपने घर को लौट

[1] तस्य भ्रातापि भूत्वा त्व, कथमेव चिकीर्षसि।
मातः परमिद वादीर्नरकायुर्निवन्धनम् ॥२७२॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, स० ९]

गया। उसने फिर कभी राजीमती के प्रासाद की ओर मुंह करने का भी साहस नही किया।

कुछ समय पश्चात् रथनेमि विरक्त हुए और दीक्षित होकर भगवान् नेमिनाथ की सेवा मे रेवताचल की ओर निकल पडे।

केवलज्ञान

प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद चौवन (५४) दिन तक विविध प्रकार के तप करते हुए प्रभु उज्जयतगिरि-रेवतगिरि पधारे और वही अष्टम-तप से ध्यानस्थ हो गये। एक रात्रि की प्रतिमा से शुक्ल-ध्यान की अग्नि मे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि घाति-कर्मो का क्षय कर आश्विन कृष्णा अमावस्या को पूर्वाह्न काल मे, चित्रा नक्षत्र के योग मे उन्होने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

समवसरण और प्रथम देशना

भगवान् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही देवेन्द्रो के आसन चलायमान हुए। देवेन्द्र तत्क्षण अपने देव-देवी समाज के साथ रैवतक पर्वत पर सहस्राम्र वन मे आये और भगवान् के चरणो मे भक्तिसहित वन्दन कर उन्होने अनुपम समवसरण की रचना की। उस समय सारा रेवताचल देव-देवियो की कमनीय कान्ति से जगमगा उठा। वहा के रक्षक यह सब अदृष्टपूर्व दृश्य देख कर बडे विस्मित हुए और तत्क्षण कृष्ण के पास जाकर उन्हे अरिष्टनेमि के समवसरण एव देव-देवियो के आगमन का सारा हाल कह सुनाया।

श्रीकृष्ण ने परम प्रसन्न हो उन रक्षक पुरुषो को साढे बारह करोड़ रौप्य मुद्राओ (रुपयो) का पारितोषिक प्रदान कर भगवान् नेमिनाथ के प्रति अपनी अपूर्व श्रद्धा और निष्ठा का परिचय दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ हो दशो दशार्हो, शिवा, रोहिणी और देवकी आदि माताओ तथा बलभद्र आदि भाइयो, एक करोड यादव कुमारो एव समस्त अन्त.पुर और सोलह हजार राजाओ के साथ अर्द्धचक्री की समस्त समृद्धि से सुशोभित हो भगवान् नेमिनाथ के समवसरण की ओर चल पडे। समवसरण को देखते ही श्रीकृष्ण आदि अपने २ वाहनो से उतर पडे और राजचिह्नो को वही रखकर सबने समवसरण के उत्तर द्वार से भीतर प्रवेश किया। अष्ट महाप्रातिहार्यो से सुशोभित प्रभु एक अलौकिक स्फटिक सिहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान थे। प्रभु का मुखारविन्द तीर्थकर के विशिष्ट अतिशयो के कारण चारो ही दिशाओ मे यथावत् समान रूप से दिख रहा था।

प्रभु की प्रदक्षिणा और भक्तिसहित विधिवत् वन्दना के पश्चात् श्रीकृष्ण और अन्य सब यथास्थान बैठ गये।

इन्द्र और श्रीकृष्ण ने बडे भक्तिभाव से प्रभु की स्तुति की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने सबकी समझ मे आने वाली भाषा मे भव्यो के अज्ञान-तिमिर का विनाश कर ज्ञान का परम प्रकाश प्रकट करने वाली देशना दी।

तीर्थ-स्थापना

प्रभु की ज्ञान-विरागपूर्ण देशना सुन कर सर्वप्रथम 'वरदत्त' नामक नृपति ने ससार से विरक्त हो तत्क्षरण प्रभु-चरणो मे दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् नेमिनाथ ने भी योग्य समझ कर वरदत्त को दीक्षा दी।

उसी समय श्रीकृष्ण ने नमस्कार कर प्रभु से पूछा—"प्रभो! यो तो प्रत्येक प्राणी का आपके प्रति अनुराग है, पर राजीमती का आपके प्रति सबसे अधिक अनुराग क्यो है?"

उत्तर मे प्रभु ने राजीमती के साथ अपने पूर्व के आठ भवो के सम्बन्धो का विवरण सुनाया। पूर्वभव के इस वृत्तान्त को सुन कर तीन राजाओ को जो समवसरण मे आये हुए थे और पूर्वभवो मे प्रभु के साथ रहे थे, तत्क्षण जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और उन्होने उसी समय प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। और भी अनेक मुमुक्षुओ ने प्रभु-चरणो मे दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार प्रभु के उपदेश को सुन कर विरक्त हुए दो हजार क्षत्रियो ने वरदत्त के पश्चात् उसी समय प्रभु की सेवा मे दीक्षा ग्रहण की। उन २००१ सद्य दीक्षित साधुओ मे से वरदत्त आदि ग्यारह (११) मुनियो को प्रभु ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान देकर गणधर-पदो पर नियुक्त किया। त्रिपदी के आधार पर उन मुनियो ने बारह अगो की रचना की और गणधर कहलाये।

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजपुत्रियों ने भी प्रभु-चरणो मे दीक्षा ग्रहण की। प्रभु ने यक्षिणी आर्या को श्रमणी-सघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया।

दशो दशार्हो, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र व प्रद्युम्न आदि ने प्रभु से श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[1]

महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि अनेक महिलाओ ने प्रभु के पास श्राविका-धर्म स्वीकार किया।[2]

इस प्रकार प्रभु ने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थ-स्थापना के कारण प्रभु अरिष्टनेमि भाव-तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती की प्रव्रज्या

उधर राजीमती अपने तन-मन की सुधि भूले रात दिन नेमिनाथ के चिंतन मे ही डूबी रहने लगी। अपने प्रियतम के विरह मे उसे एक एक दिन एक एक वर्ष के समान लम्बा लगता था।

---

[1] दशार्हा उग्रसेनश्च, वासुदेवश्च लागली।
प्रद्युम्नाद्या॰ कुमाराश्च, श्रावकत्वं प्रपेदिरे ॥३७८॥

[2] शिवा रोहिणीदेवक्यो, रुक्मिण्याद्याश्च योषित।
जगृहु श्राविका-धर्ममन्याश्च स्वामिसन्निधौ ॥३७९॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

वारह मास तक अपलक प्रतीक्षा के वाद जव राजीमती ने भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की वात सुनी तो हर्ष और आनन्द से रहित होकर स्तब्ध हो गई।[1] वह सोचने लगी – "धिक्कार है मेरे जीवन को जो मै प्राणनाथ नेमिनाथ के द्वारा ठुकराई गई हू। अव तो उन्ही के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की है तो अव मेरे लिए भी प्रव्रज्या ही हितकारी है।"

किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर उसने प्रव्रज्या का निश्चय किया एव अपने सुन्दर-श्यामल वालो का स्वयमेव लुचन कर धैर्य एवं दृढ निश्चय के साथ वह सयम मार्ग पर वढ चली। लुचित केश वाली जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप मे वोले – "हे कन्ये! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफलता के लिए घोर संसार-सागर को शीघ्रातिशीघ्र पार करना।[2] राजीमती ने दीक्षित होकर वहुत सी राजकुमारियो एवं अन्य सखियो को भी दीक्षा प्रदान की। शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए राजीमती वहुश्रुता भी हो गई थी।

भगवान् नेमिनाथ को चौपन दिन के छद्मस्थकाल के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे रेवताचल पर विराजमान थे अत. साध्वी राजीमती अनेक साध्वियो के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए रेवतगिरि की ओर चल पड़ी। अकस्मात् आकाश मे उमड-घुमड़ कर घटाएं घिर आई और वर्षा होने लगी जिससे मार्गस्थ साध्विया भीग गईं। वर्षा से वचने के लिए सव साध्विया इधर-उधर गुफाओं मे चली गईं। राजीमती भी पास की एक गुफा में पहुची, जिसे आज भी लोग राजीमती-गुफा कहते हैं। उसको यह ज्ञात नही था कि इस गुफा मे पहले से ही रथनेमि बैठे हुए है। उसने अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैलाये।

रथनेमि का आकर्षण

नग्नावस्था में राजीमती को देख कर रथनेमि का मन विलचित हो उठा। उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गईं। उसको भयभीत और कापती हुई देख कर रथनेमि वोले – "हे भद्रे! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हू। हे सुरूपे! मुझे अब भी स्वीकार करो। हे चारुलोचने! तुम्हे किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। सयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है। आओ, जरा इन्द्रिय-सुखो का भोग करले। मनुष्य-जन्म वहुत दुर्लभ है। अत भुक्तभोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे।

---

[1] सोऊण रायवरकन्ना, पवज्ज सा जिणस्स उ।
णीहासा य णिराणन्दा, सोगेण उ समुत्थिया॥ [उत्तराध्ययन अ० २२, श्लो० २८]

[2] संसार सायर घोर, तर कन्ने लहु लहु। [उ० सू०, अ० २२]

रथनेमि को इस प्रकार भग्नचित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देख कर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमो में सुस्थिर होकर कुल-जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए वह बोली – "रथनेमि ! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता मे नलकूबर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जाय तो भी मैं उन्हे नही चाहूगी, क्योकि हम कुलवती हैं। नाग जाति मे अगधन कुल के सर्प होते हैं, जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नही लेते। फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हे इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नही आती ? रथनेमि तुम्हे धिक्कार है। इस प्रकार अगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है।"[1]

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुन कर अकुश से उन्मत्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म मे स्थिर हो गया। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणो मे पहुच कर, आलोचना-प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि मे कर्मसमूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात् कर वे शुद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो गये। राजीमती ने भी भगवच्चरणो मे पहुच कर वंदन किया और तप-संयम का साधन करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन

धर्मतीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमि भव्यजनो के अन्तर्मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करते हुए, कुमार्ग पर लगे हुए असख्य लोगो को धर्म के सत्पथ पर आरूढ करते हुए, कनक-कामिनी और प्रभुता के मद मे अन्धे बने राजाओ, श्रेष्ठियो और गृहस्थो को परमार्थ-साधना के अमृतमय उपदेश से मद-विहीन करते हुए कुसट्ट, आनर्त, कलिंग आदि अनेको जनपदो मे विचरण कर भद्दिलपुर नगर मे पधारे।

भद्दिलपुर में भगवान् की भवभयहारिणी अमोघ देशना को सुनकर देवकी के ६ पुत्र अनीक सेन, अजित सेन, अनिहत ऋपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने, जो सुलसा गाथापत्नी के द्वारा पुत्र रूप मे वडे लाड-प्यार से पाले गये थे, विरक्त हो भगवान् के चरणो मे श्रमणदीक्षा ग्रहण की। इनका प्रत्येक का वत्तीस २ इभ्य कन्याओ के साथ पाणिग्रहण किया गया था, वैभव का इनके पास कोई पार नही था[2] पर भगवान् नेमिनाथ की देशना सुन कर ये विरक्त हो गये।

भद्दिलपुर से विहार कर भगवान् अरिष्टनेमि अनेको श्रमणो के साथ द्वारिकापुरी पधारे। भगवान् के समवसरण के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी

---

[1] धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो त जीविय कारणा।
वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ॥७॥ [दशवैकालिक सूत्र, अ० २]

[2] अन्तगढ दसा वर्ग ३ अ० १ से ६

बारह मास तक अपलक प्रतीक्षा के बाद जब राजीमती ने भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की बात सुनी तो हर्ष और आनन्द से रहित होकर स्तब्ध हो गई।[1] वह सोचने लगी – "धिक्कार है मेरे जीवन को जो मैं प्राणनाथ नेमिनाथ के द्वारा ठुकराई गई हू। अब तो उन्ही के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की है तो अब मेरे लिए भी प्रव्रज्या ही हितकारी है।"

किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर उसने प्रव्रज्या का निश्चय किया एव अपने सुन्दर-श्यामल बालो का स्वयमेव लुचन कर धैर्य एवं दृढ़ निश्चय के साथ वह सयम मार्ग पर बढ चली। लुचित केश वाली जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप मे बोले – "हे कन्ये! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफलता के लिए घोर संसार-सागर को शीघ्रातिशीघ्र पार करना।[2] राजीमती ने दीक्षित होकर बहुत सी राजकुमारियो एवं अन्य सखियो को भी दीक्षा प्रदान की। शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थी।

भगवान् नेमिनाथ को चौपन दिन के छद्मस्थकाल के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे रेवताचल पर विराजमान थे अत. साध्वी राजीमती अनेक साध्वियो के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए रेवतगिरि की ओर चल पड़ी। अकस्मात् आकाश मे उमड़-घुमड़ कर घटाए घिर आईं और वर्षा होने लगी जिससे मार्गस्थ साध्वियां भीग गईं। वर्षा से बचने के लिए सब साध्विया इधर-उधर गुफाओ मे चली गईं। राजीमती भी पास की एक गुफा मे पहुची, जिसे आज भी लोग राजीमती-गुफा कहते है। उसको यह ज्ञात नही था कि इस गुफा मे पहले से ही रथनेमि बैठे हुए है। उसने अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैलाये।

रथनेमि का आकर्षण

नग्नावस्था मे राजीमती को देख कर रथनेमि का मन विलचित हो उठा। उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गईं। उसको भयभीत और कांपती हुई देख कर रथनेमि बोले – "हे भद्रे! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हू। हे सुरूपे! मुझे अब भी स्वीकार करो। हे चारुलोचने! तुम्हे किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। संयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है। आओ, जरा इन्द्रिय-सुखो का भोग करले। मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है। अत भुक्तभोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे।

---

[1] सोऊण रायवरकन्ना, पवज्ज सा जिणस्स उ।
णीहासा य णिराणन्दा, सोगेण उ समुत्थिया॥ [उत्तराध्ययन अ० २२, श्लो० २८]

[2] समार सायर घोर, तर कन्ने लहु लहु। [उ० सू०, अ० २२]

रथनेमि को इस प्रकार भग्नचित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देख कर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमो में सुस्थिर होकर कुल-जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए वह वोली – "रथनेमि! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता मे नलकूबर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जाय तो भी मै उन्हे नही चाहूंगी, क्योकि हम कुलवती हैं। नाग जाति मे अगंधन कुल के सर्प होते हैं, जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नहीं लेते। फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयो को फिर से ग्रहण करोगे? तुम्हे इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नही आती? रथनेमि तुम्हे धिक्कार है। इस प्रकार अगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है।"[1]

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुन कर अकुश से उन्मत्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म मे स्थिर हो गया। उन्होने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणो मे पहुच कर, आलोचना-प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि मे कर्मसमूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात् कर वे शुद्ध, वुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी भगवच्चरणो मे पहुच कर वंदन किया और तप-संयम का साधन करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली और अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया।

अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन

धर्मतीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमि भव्यजनो के अन्तर्मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करते हुए, कुमार्ग पर लगे हुए असख्य लोगो को धर्म के सत्पथ पर आरूढ़ करते हुए, कनक-कामिनी और प्रभुता के मद मे अन्धे वने राजाओ, श्रेष्ठियो और गृहस्थो को परमार्थ-साधना के अमृतमय उपदेश से मद-विहीन करते हुए कुसट्ट, आनर्त, कलिग आदि अनेको जनपदो मे विचरण कर भद्दिलपुर नगर में पधारे।

भद्दिलपुर मे भगवान् की भवभयहारिणी अमोघ देशना को सुनकर देवकी के ६ पुत्र अनीक सेन, अजित सेन, अनिहत रिपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने, जो सुलसा गाथापत्नी के द्वारा पुत्र रूप मे वडे लाड़-प्यार से पाले गये थे, विरक्त हो भगवान् के चरणो मे श्रमणदीक्षा ग्रहण की। इनका प्रत्येक का वत्तीस २ इभ्य कन्याओ के साथ पाणिग्रहण किया गया था, वैभव का इनके पास कोई पार नही था[2] पर भगवान् नेमिनाथ की देशना सुन कर ये विरक्त हो गये।

भद्दिलपुर से विहार कर भगवान् अरिष्टनेमि अनेको श्रमणो के साथ द्वारिकापुरी पधारे। भगवान् के समवसरण के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी

---

[1] धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो त जीविय कारणा।
वत इच्छसि आवेउं, सेय ते मरण भवे ॥७॥ [दशवैकालिक सूत्र, अ० २]

[2] अन्तगढ दसा वर्ग ३ अ० १ से ६

अपने समस्त यादव-परिवार और अन्त पुर आदि के साथ भगवान् के समवसरण में आये। जिस प्रकार गंगा और यमुना नदियाँ बड़े वेग से बढती हुई समुद्र मे समा जाती हैं उसी तरह नर-नारियों की दो धाराओ के रूप में द्वारिकापुरी की सारी प्रजा भगवान् के समवसरण-रूप सागर मे कुछ ही क्षणो मे समा गई। भगवान् की भवोदधितारिणी वाणी सुन कर अगणित लोगो ने अपने कर्मों के गुरुतर भार को हल्का किया।

अनेको भव्य-भाग्यवान् नर-नारियो ने दीक्षित हो प्रभु के चरणो की शरण ली। अनेको व्यक्ति श्रावक-धर्म स्वीकार कर मुक्ति-पथ के पथिक बने और भवभ्रमण से विभ्रान्त अगणित व्यक्तियो के अन्तर मे मिथ्यात्व के निबिड-तम तिमिर को ध्वस्त करने वाले सम्यक्त्व सूर्य का उदय हुआ।

धर्म-परिषद् मे आये हुए श्रोताओ के, देशनानन्तर यथास्थान चले जाने के पश्चात् छट्ठ २ की निरन्तर तपस्या के कारण कृषकाय वे छहो मुनि अर्हन्त अरिष्टनेमि की अनुमति लेकर दो दिन के – छट्ठ तप के पारण हेतु दो-दो के सघाटक से भिक्षार्थ द्वारिकापुरी की ओर अग्रसर हुए।

इन मुनियो का प्रथम युगल विभिन्न कुलो मे मधुकरी करता हुआ देवकी के प्रासाद मे पहुँचा। राजहसो के समान उन मुनियो को देखते ही देवकी ने उन्हे भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक विशुद्ध एषणीय आहार की भिक्षा दी। भिक्षा ग्रहण कर मुनि वहा से लौट पड़े।

मुनि-युगल की सौम्य आकृति, सदृश-वय, कान्ति और चाल ढाल को परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर देवकी ने रोहिणी से कहा– "दीदी ! देखो, देखो, इस वय मे दुष्कर कठोर तपस्या से शुष्क एव कृषकाय इन युवा-मुनियो को। इनका रूप, सौन्दर्य, लावण्य और सहज प्रफुल्लित मुखड़ा कितना अद्भुत है। दीदी ! वह देखो, इनके सुकुमार तन पर कृष्ण के समान ही श्रीवत्स का चिह्न दिखाई दे रहा है।"

देवकी ने दीर्घ नि श्वास छोडते हुए शोकातिरेक से अवरुद्ध करुण स्वर मे कहा– "दीदी! देव दुर्विपाक से यदि विना कारण के शत्रु कस ने मेरे छह पुत्रो को नही मारा होता तो वे भी आज इन मुनियो के समान वय और वपु वाले होते। धन्य है वह माता जिसके कि ये लाल हैं।"

देवकी के नयनो से अनवरत अश्रुधाराए वह रही थी।

देवकी का अन्तिम वाक्य पूरा ही नही हो पाया था कि उसने मुनि-युगल के दूसरे सघाटक को आते देखा। यह मुनि-युगल भी दिखने मे पूर्णरूपेण प्रथम मुनि-युगल के समान था। इस सघाटक ने भी कृतप्रणामा देवकी से भिक्षा की याचना की। वही पहले के मुनियो का सा कण्ठ-स्वर देवकी के कर्णरन्ध्रो मे गूंज उठा। वही नपे-तुले शब्द और वही कण्ठ-स्वर।

देवकी ने मन ही मन यह सोचते हुए कि पहले जो भिक्षा मे इन्हे दिया गया, वह इनके लिये पर्याप्त नही होगा, इसलिए पुन: लौटे हैं, उसने वडे आदर और हर्षोल्लास से मुनियो को पुन प्रतिलाभ दिया। दोनो साधु भिक्षा लेकर चले गये।

उन दोनो साधुओ के जाने पर सयोगवश छोटे वडे कुलो मे मधुकरी के लिये घूमता हुआ तीसरा मुनि – सघाटक भी देवकी के यहा जा पहुँचा। यह युगल-जोड़ी भी पूर्ण रूप से भिक्षार्थ पहले आये हुए दोनो सघाटको के मुनि-युगल से मिलती-जुलती थी।

देवकी ने पूर्ण सम्मान और वडे प्रेम से उन्हे भिक्षा दी। मुनियो को भिक्षा देने के कारण देवकी का अन्तर्मन असीम आनन्द का अनुभव करते हुए इतना पुलकित हो उठा था कि वह स्नेहातिरेक और परा भक्ति के उद्रेक से अपने आपको सम्हाल भी नही पा रही थी। फिर भी अन्तर मे उठे हुए एक कुतूहल और सन्देह का निवारण करने हेतु हर्षाश्रुओ से मुनि-युगल की ओर देखते हुए उसने कहा – "भगवन् ! मन्दभाग्य वाले लोगो के आगन मे आप जैसे महान् त्यागियो के चरण-कमल दुर्लभ हैं। मेरा अहोभाग्य है कि आपने अपने पावन चरणकमलो से इस आंगन को पवित्र किया, पर मेरी शका है कि द्वारिका मे हजारो गुणानुरागी, सन्तसेवी कुलो को छोड़कर आप मेरे यहा तीन वार कैसे पधारे ?"

अन्तगड़ सूत्र के अनुसार देवकी ने मुनि-युगल से कहा – "महाराज कृष्ण की देवपुरी सी द्वारिकानगरी मे क्या श्रमण निर्ग्रन्थो को अटन करते भिक्षा-लाभ नही होता जिससे उन्ही कुलो मे दूसरी तीसरी वार वे प्रवेश करते हैं ?"

देवकी की वात सुनकर मुनि समझ गये कि उनसे पूर्व उनके चारो भाइयो के दो संघाडे भी यहा आ चुके हैं। उनमे से एक ने कहा – "देवकी ! ऐसी वात नही है कि द्वारिकानगरी के विभिन्न कुलो मे घूमकर भी भिक्षा नही मिलने से हम तीसरी वार तुम्हारे यहा भिक्षा को आये हैं। पर सही वात यह है कि हम एक ही मा के उदर से उत्पन्न हुए छ भाई हैं। वय और रूप की समानता से हम सव एक से प्रतीत होते हैं। कस के द्वारा हम मार दिये जाते किन्तु हरिणैगमेषी देव ने भद्दिलपुर की मृतवत्सा सुलसा गाथापत्नी की भक्ति से प्रसन्न हो, हमे जन्म लेते ही सुलसा के प्रीत्यर्थ तत्काल उसके पुत्रो से वदल दिया[1]। सुलसा ने ही हमे पाल-पोसकर वडा किया और हम सव का पाणिग्रहण करवाया। वड़े होकर हमने भगवान् नेमिनाथ के मुखारविन्द से अपने कुल-परिवर्तन का पूरा वृत्तान्त सुना और एक ही जन्म मे दो कुलो मे उत्पन्न होने की घटना से हम छहो भाइयों को ससार से पूर्ण विरक्ति हो गई। कर्मों का कैसा विचित्र खेल है ?

[1] जन्मजात छ. पुत्रो के परिवर्तन की वात देवकी को भगवान् अरिष्टनेमि से ज्ञात हुई इस प्रकार का अन्तगड़ मे उल्लेख है।

यह संसार असार है और विषयो का अन्तिम परिणाम घोर दुख है – यह सोचकर हम छहो भाइयो ने भगवान् नेमिनाथ के चरणों मे दीक्षा ग्रहण करली ।"

मुनि की वात समाप्त होते ही महारानी देवकी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडी ।

दासियो द्वारा शीतलोपचार से थोड़ी देर मे देवकी फिर सचेत हुई और देवकी का मातृहृदय सागर की तरह हिलोरे लेने लगा । मुनियो को देखकर उसके स्तनो से दूध की और आँखो से अश्रुओ की धाराए एक साथ वहने लगी ।

देवकी रोते-रोते अत्यन्त करुण स्वर मे कहने लगी – "अहो ! ऐसे पुत्र रत्नों को पाकर भी मैं परम अभागिन ही रही जो दुर्दैव ने मुझसे इनको छीन लिया । मेरी पुत्र-प्राप्ति तो विल्कुल उस अभागे के समान है जो स्वप्न मे अमूल्य रत्न प्राप्त कर धन-कुवेर वन जाता है किन्तु जगने पर कंगाल का कंगाल । कितनी दयनीय है मेरी स्थिति कि पहले तो मैं सजल उपजाऊ भूमि के फल-फूलो से लदे सघन सुन्दर तरुवर की तरह खूव फली-फूली किन्तु असमय मे ही ऊसर भूमि की लता के समान ये मेरे अनुपम अमृतफल – मेरे पुत्र मुझसे विलग हो दूर गिर पडे । परम भाग्यवती है वह नारी जिसने वाललीला के कारण धूलि-धूसरित इन सलोने शिशुओं के मुखकमल को अगणित वार वड़े प्यार से चूमा है ।"

देवकी के इस अन्तस्तलस्पर्शी करुण विलाप को सुनकर मुनियो के सिवाय वहा उपस्थित सव लोगो की आँखे अश्रु-प्रवाह करने लगी ।[1]

विजली की तरह यह समाचार सारी द्वारिका मे फैल गया । नागरिको के मुख से यह वात सुनकर वे चारो मुनि भी वहा लौट आये और छहो मुनि देवकी को समझाने लगे – "न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता अथवा पुत्र । इस संसार में सव प्राणी अपने-अपने कर्म-वन्धन से बंधे रहट मे मृत्तिका-पात्र (घटी-घड़ली) की तरह जन्म-मरण के चक्कर में निरन्तर परि-भ्रमण करते हुए भटक रहे हैं । प्राणी एक जन्म में किसी का पिता होकर दूसरे जन्म मे उसका पुत्र हो जाता है और तदनन्तर फिर किसी जन्म मे पिता वन जाता है । इसी तरह एक जन्म की माता दूसरे जन्म मे पुत्री, एक जन्म का स्वामी दूसरे जन्म मे दास वन जाता है । एक जन्म की माँ दूसरे जन्म में सिंहनी वनकर अपने पूर्व के प्रिय पुत्र को मार कर उसके मास से अपनी भूख मिटाने लग जाती है । एक जन्म मे एक पिता अपने पुत्र को वडे दुलार से पाल-पोसकर बड़ा करता है, वही पुत्र भवान्तर मे उस पिता का भयकर शत्रु वनकर अपनी तीक्ष्ण तलवार से उसका सिर काट लेता है । जिस माँ ने अपनी कुक्षि से जन्म दिये हुए

[1] अन्तगड सूत्र मे देवकी द्वारा पूछे जाने पर यह वात अरिहन्त नेमिनाथ ने कही है और वहीं पर देवकी का मुनियो के दर्शन से वात्सल्य उमड पडा और उसके स्तनो से दूध छूटने लगा एवं हर्षातिरेक से रोम-रोम पुलकित हो गये ।

अपने स्तनो का दूध पिलाकर प्यार से पाला, कर्मवश भटकती हुई वही माता ने उस पुत्र से अनग-क्रीड़ा करती हुई अपनी काम-पिपासा शान्त करती है। उस तरह पिता अपने दुष्कर्मों से अभिभूत अपनी पुत्री से मदन-क्रीडा करता हुआ अपनी कामाग्नि को शान्त करता है — ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यह है इस ससार की घृणित और विचित्र नट-क्रीड़ा, जिसमे प्राणी अपने ही किये कर्मों के कारण नट की तरह विविध रूप धारण कर भव-भ्रमण करता रहता है और पग-पग पर दारुण दु खो को भोगता हुआ भी मोह एव अज्ञानवश लाखो जीवो का घोर सहार करता हुआ मदोन्मत्त स्वेच्छाचारी हाथी की तरह दु खानुवन्धी विषय-भोगो मे निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। निविड़ कर्म-वन्धनो से जकड़े हुए प्राणी को माता-पिता-पुत्र-कलत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह मकड़ी की तरह अपने ही वनाये हुए भयकर कुटुम्व-जाल मे फसकर जीवन भर तड़फता एवं दु खो से विलविलाता रहता है तथा अन्त मे मर जाता है।"

"इस तरह पुन. पुन जन्म ग्रहण करता और मरता है। संसार की इस दारुण भयावह स्थिति को देखकर हम लोगों को विरक्ति हो गई। हमने भगवान् नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण कर लिया और ससार के इस दु खदायक आवागमन के मूल कारण कर्म-वन्धनो को काटने मे सतत प्रयत्नशील रहने लगे हैं।"[1]

इस परमाश्चर्योत्पादक वृत्तान्त को सुनकर वसुदेव, वलराम और कृष्ण आदि भी वहां आ पहुचे। वसुदेव अपने सात पुत्रों के वीच ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अपने सात नक्षत्रो के साथ स्वय चन्द्रमा ही वहा आ उपस्थित हो गया हो। सवकी आंखो मे आसुओ की गगा-यमुना मानो पूर्ण प्रवाह से वह रही थी, सवके हृदयो मे स्नेह-सागर हिलोरे ले रहा था, सव विस्फारित नेत्रो से टकटकी लगाये साश्चर्य उन छहो मुनियों की ओर देख रहे थे, पर छहो मुनि शान्त, रागरहित, निर्विकार सहज मुद्रा मे खड़े थे।

कृष्ण ने भावातिरेक के कारण अवरुद्ध कण्ठ से कहा — "हमारे इस अचिन्त्य अद्भुत मिलन से किसको आश्चर्य नही होगा? हा दुर्दैव! कस के मारे जाने के पश्चात् भी हम उसके द्वारा पैदा किये गये विछोह के दावानल मे अव तक जल रहे हैं। कैसी है यह विधि की विडम्बना कि एक ओर मैं त्रिखण्ड की राज्यश्री का उपभोग कर रहा हूँ और दूसरी ओर मेरे सहोदर छ भाई भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह कर रहे है।"[2]

"मेरे प्राणाधिक अग्रजो! आज हम सवका नया जन्म हुआ है। आओ! हम सातो सहोदर मिलकर इस अपार वैभव और राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करे।"

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरिय, पृ० १९६–१९७

[2] केरिसा वा मइ रिद्धिममदये भिक्खा भोइणो तुम्हे? किवा ममेइण रज्जेण?
[चउप्पन्न महापुरिस चरिय, पृ० १९७]

वसुदेव आदि सभी उपस्थित यादवों ने श्रीकृष्ण की वात क त्र कोचकर साथ अनुमोदन करते हुए उन मुनियों से राज्य-वैभव का उपभो अप प्रार्थना की। नेत

मुनियो ने कहा – "व्याध के जाल में एक बार फंसकर उस जाल स कला हुआ हरिण जिस प्रकार फिर कभी जाल के पास तक नही फटकता उसी तरह विषय-भोगो के दारुण जाल से निकलकर अब हम उनमें नही फसना चाहते। जन्म लेकर, एक वार मिले हुए मर कर विछुड जाते है, तत्त्ववेत्ताओ के लिये यही तो वैराग्य का मुख्य कारण होता है पर हमने तो एक ही जन्म मे दो जन्म का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है फिर हमे क्यो नही विरक्ति होती ? सव प्रकार के स्नेह-बन्धनों को काटना ही तो साधुओ का चरम लक्ष्य है फिर हम लोग स्नेह-पाश को दु ख-मूल समझते हुए इन काटे हुए स्नेह-वन्धनो को पुन. जोडने का विचार ही क्यो करेंगे ? हम तो इस स्नेह-वन्धन से मुक्त हो चुके हैं।"

"कर्मवश भवार्णव मे डूबे हुए प्राणी को पग-पग पर वियोग का दारुण दु ख भोगना पडता है। अज्ञानवश मोहजाल मे फसा हुआ प्राणी यह नही सोचता कि इन्द्रियो के विषय भयकर काले सर्प की तरह सर्वनाश करने वाले है। लक्ष्मी ओस-विन्दु के समान क्षण-विध्वसिनी है, अगाध समुद्र मे गिरे हुए रत्न की तरह यह मनुष्य-जन्म पुन. दुर्लभ है अत मनुष्य-जन्म पाकर सव दु.खो के मूलभूत कर्म-वन्ध को काटने का प्रत्येक समझदार व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये।"[1]

इस प्रकार अपने माता-पिता आदि को प्रतिवोध देकर वे छहो साधु भगवान् नेमिनाथ की सेवा मे लौट गये।

शोकसतप्त देवकी भगवान् के समवसरण मे पहुँची और त्रिकालदर्शी प्रभु नेमिनाथ ने कर्मविपाक की दारुणता वताते हुए अपने अमृतमय उपदेश से उसकी शोक-ज्वाला को शान्त किया।[2]

अनीकसेन आदि छहो मुनियो ने चौदह पूर्व का ज्ञान उपार्जित किया और वीस वर्ष का सयम पालन कर वे एक मास की संलेखना से काल प्राप्त कर सिद्ध-वुद्ध-मुक्त हो गये।

अन्तगड सूत्र मे मुनियो द्वारा देवकी को उपदेश करने के स्थान पर इस तरह का उल्लेख है कि कृष्ण के अनुरूप उन छ. मुनियो को देख कर देवकी विचार-सागर मे निमग्न हो सोचने लगी – "पोलासपुर में मुनि अतिमुक्त कुमार ने मुझे कहा था कि तुम समान रूप वाले आठ सुन्दर पुत्रो को जन्म दोगी। भारतवर्ष मे दूसरी कोई माँ वैसे पुत्रो को जन्म नही देगी। तो क्या मुनि की वह वात मिथ्या है ?"

---

[1] चउवन महापुरिस चरियं।

[2] नम्रो तमायण्णिऊण देवतीए वियलियो सोयण्णसरो।

[चउवन महापुरिस चरियं, पृ० १९८]

की अपनी इस शंका का निवारण करने हेतु भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण की ओर मे पहुँची।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने उसके मनोगत भावो को जान कर कहा – "देवकी! तुमने जो छ: मुनि देखे है वे सुलसा के नही, अपितु तुम्हारे ही पुत्र है। हरिणैगमेषी देव ने इन्हे तत्काल प्रसव के समय ही सुलसा को उसके मृत पुत्रो से वदल कर सौंप दिया, अत: ये वहां वृद्धि पाये हैं।"

अतगड सूत्र से मिलता-जुलता हुआ वर्णन त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे निम्न प्रकार से उपलव्ध होता है –

सर्वज्ञ प्रभु के वचन सुनकर देवकी ने हर्षविभोर हो तत्काल उन छहो मुनियो को वन्दन करते हुए कहा – "मुझे प्रसन्नता है कि आखिर मुझे अपने पुत्रो को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भी मेरे लिये हर्ष का विषय है कि मेरी कुक्षि से उत्पन्न हुए एक पुत्र ने उत्कृष्ट कोटि का विशाल साम्राज्य प्राप्त किया है और शेष छहो पुत्रो ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य प्राप्त कराने वाली मुनि-दीक्षा ग्रहण की है। पर मेरा हृदय इस सताप की भीषण ज्वाला से सतप्त हो रहा है कि तुम सातो सुन्दर पुत्रो के शैशवावस्था के लालन-पालन का अति मनोरम आनन्द मैंने स्वल्पमात्र भी अनुभव नही किया।"

देवकी को शान्त करते हुए करुणासागर प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा – "देवकी! तुम व्यर्थ का शोक छोड़ दो। अपने पूर्व-भव में तुमने अपनी सपत्नी के सात रत्नो को चुरा लिया था और उसके द्वारा वार-वार मागने पर भी उसे नही लौटाया। अन्त मे उसके वहुत कुछ रोने-धोने पर उसका एक रत्न लौटाया और शेष छ रत्न तुमने अपने पास ही रखे। तुम्हारे उसी पाप का यह फल है[1] कि तुम्हारे छ पुत्र अन्यत्र पाले गये और श्रीकृष्ण ही एक तुम्हारे पास हैं।

क्षमामूर्ति महामुनि गज सुकुमाल

भगवान् के समवसरण से लौटकर देवकी अपने प्रासाद में आ गई। पर भगवान् के मुख से छ: मुनियो के रहस्य को जान कर उसका अन्तर्मन पुत्र-स्नेह से विकल हो उठा और उसके हृदय मे मातृ-स्नेह हिलोरे लेने लगा।

वह यह सोच कर चिन्तामग्न हो गई कि ७ पुत्रो की जननी होकर भी मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि एक भी स्तनधय पुत्र को गोद मे लेकर स्तनपान नही करा पाई, मीठी-मीठी लोरियाँ गाकर अपने एक भी शिशु पर मातृ-स्नेह नही उँडेल सकी और एक भी पुत्र की शैशवावस्था की तुतलाती हुई मीठी वोली का श्रवणों से पान कर आनन्दविभोर न हो सकी। इस प्रकार विचार करती हुई वह अथाह

---

[1] सपत्न्या सप्त रत्नानि, त्वमाहार्षी पुरा भवे।
रुदत्याश्चार्पित तस्या, रत्नमेक पुनस्त्वया॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०, श्लोक ११५]

शोकसागर मे गोते लगाने लगी। उसने चिन्ता ही चि देखकर छोड दिया। वमरर

माता को उदास देख कर कृष्ण के मन मे चिन्ता हुई। उन्होंने माता की मनोव्यथा समझी और उसे आश्वस्त किया।

देवकी के मनोरथ की पूर्ति हेतु कृष्ण ने तीन दिन का निराहार तप कर देव का स्मरण किया। एकाग्र मन का चिन्तन इन्द्र-महेन्द्र का भी हृदय हर लेता है, फलस्वरूप हरिणैगमेषी का आसन डोलायमान हुआ। वह आया।

देव के पूछने पर कृष्ण ने कहा – "मैं अपना लघु भाई चाहता हूँ।"

देव ने कहा – "देवलोक से निकल कर एक जीव तुम्हारे सहोदर भाई के रूप मे उत्पन्न होगा पर वाल भाव से मुक्त होकर तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही वह अर्हन्त अरिष्टनेमि के पदारविन्द की शरण ले मुण्डित हो दीक्षित होगा।"

कृष्ण वड़े प्रसन्न हुए, उन्होने सोचा – "माता की मनोभिलाषा पूर्ण होगी, मेरे लघु भाई होगा।"

प्रसन्न मुद्रा मे कृष्ण ने आकर देवकी से सारी घटना कह सुनाई। कालान्तर मे देवकी ने गर्भधारण किया और सिंह का शुभ-स्वप्न देखकर जागृत हुई। स्वप्नफल को जानकर महाराज वसुदेव और देवकी आदि सब प्रसन्न हुए। जन्म होने पर बालक का, गजतालू के समान कोमल होने से, गज सुकुमाल नाम रखा। द्वितीया के चन्द्र की तरह सुखपूर्वक वढ़ते हुए गज सुकुमाल तरुण-भोग समर्थ हुए।

द्वारिकानगरी मे सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदाग का पारगामी था। उसकी भार्या सोमश्री से उत्पन्न सोमा नामकी एक कन्या थी। किसी दिन सभी अलंकारो से विभूषित हो सोमा कन्या स्वर्णकदुक से राजमार्ग मे खेल रही थी।

उस समय अरहा अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राम्र उद्यान मे पधारे हुए थे। अत. कृष्ण वासुदेव गज सुकुमाल के साथ गजारूढ़ हो प्रभु-वन्दन को निकले। मार्ग मे उन्होने उत्कृष्ट रूपलावण्य युक्त सर्वांग सुन्दरी सोमा कन्या को देखा। सोमा के रूप से विस्मित होकर कृष्ण ने राजपुरुषो को आदेश दिया – "जाओ सोमिल ब्राह्मण से माग कर इस सोमा कन्या को उसकी अनुमति से अन्त पुर मे पहुँचा दो। यह गज सुकुमाल की भार्या बनाई जायगी।"

श्रीकृष्ण फिर नगरी के मध्य होकर सहस्राम्र उद्यान मे पहुँचे और वन्दन कर भगवान् की देशना सुनने लगे।

धर्म कथा की समाप्ति पर कृष्ण लौट गये किन्तु गज सुकुमाल शान्त मन से चिन्तन करते रहे। गज सुकुमाल ने खडे होकर भगवान् से कहा – "मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा एव प्रतीति करता हूँ, मेरी इच्छा है कि मातापिता से पूछ कर आपके पास श्रमण धर्म स्वीकार करू।"

राजभवन मे आकर गज सुकुमाल ने माता देवकी से निवेदन किया। देवकी अश्रुतपूर्व अपने लिए वज्रकठोर इस वचन को सुन कर मूर्च्छित हो गई।

ज्ञात होते ही श्रीकृष्ण आये और गज सुकुमाल को दुलार से गोद मे लेकर वोले – "तुम मेरे प्राणप्रिय लघु सहोदर हो, मैं अपना सर्वस्व तुम पर न्यौछावर करता हूँ अत. अर्हत अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण मत करो, मैं द्वारवती नगरी के महाराज पद पर तुम्हे अभिषिक्त करता हूँ।"

गज सुकुमाल ने कहा– "अम्म-तात ! ये मनुष्य के काम भोग मलवत् छोडने योग्य हैं। आगे पीछे मनुष्य को इन्हें छोड़ना ही होगा। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपकी अनुमति पाकर अरिहन्त अरिष्टनेमि के चरणो मे प्रव्रज्या लेकर स्व-पर का कल्याण करू।"

विविध युक्ति-प्रयुक्तियो से समझाने पर भी जव गज सुकुमाल संसार के वन्धन मे रहने को तैयार नही हुए तव इच्छा न होते हुए भी मातापिता और कृष्ण ने कहा – "वत्स ! हम चाहते हैं कि अधिक नही तो कम से कम एक दिन के लिये ही सही, तू राज्य लक्ष्मी का उपभोग अवश्य कर।"

श्रीकृष्ण ने गज सुकुमाल का राज्याभिषेक किया, किन्तु गज सुकुमाल अपने निश्चय पर अडिग रहे।

वडे समारोह से गज सुकुमाल का निष्क्रमण हुआ। अर्हत अरिष्टनेमि के चरणो मे दीक्षित होकर गज सुकुमाल अणगार वन गये।

दीक्षित होकर दोपहर के समय उसी दिन वे अर्हत अरिष्टनेमि के पास आये और तीन वार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन कर वोले– "भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान मे एक रात्रि की प्रतिमा ग्रहण कर रहना चाहता हूँ।"

भगवान् की अनुमति पाकर गज सुकुमाल ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राम्र वन उद्यान से भगवान् के पास से निकलकर महाकाल श्मशान मे आये, स्थडिल की प्रतिलेखना की और फिर थोडा शरीर को झुका कर दोनो पैर सकोच कर एक रात्रि की महाप्रतिमा मे ध्यानस्थ हो गये।

उधर सोमिल ब्राह्मण जो यज्ञ की समिधा – लकडी आदि के लिए नगर के वाहर गया हुआ था, समिधा, दर्भ, कुश और पत्ते लेकर लौटते समय महाकाल श्मशान के पास से निकला। सन्ध्या के समय वहां गज सुकुमाल मुनि को ध्यानस्थ देखते ही पूर्वजन्म के वैर की स्मृति से वह क्रुद्ध हुआ और उत्तेजित हो वोला – "अरे इस गज सुकुमाल ने मेरी पुत्री सोमा को विना दोष के काल-प्राप्त दशा मे छोडकर प्रव्रज्या ग्रहण की है अत मुझे गज सुकुमाल से वदला लेना चाहिए।"

ऐसा सोच कर उसने चहु ओर देखा और गीली मिट्टी लेकर गज सुकुमाल मुनि के सिर पर मिट्टी की पाज वाधकर जलती हुई चिता मे से केसू के फूल के समान लाल-लाल ज्वाला से जगमगाते अगारे मस्तक पर रख दिये।

पाप मानव को निर्भय नही रहने देता। सोमिल भी भयभीत होकर पीछे हटा और छुपता हुआ दबे पांवो अपने घर चला गया।

गज सुकुमाल मुनि के शरीर मे उन अगारों से भयंकर वेदना उत्पन्न हुई जो असह्य थी, पर मुनि ने मन से भी सोमिल ब्राह्मण से द्वेष नही किया। शान्त मन से सहन करते रहे। ज्यो-ज्यो श्मशान की सनसनाती वायु से मुनि के मस्तक पर अग्नि की ज्वाला तेज होती गई और सिर की नाड़िये, नसे तड़-तड़कर टूटने लगी, त्यो-त्यो मुनि के मन की निर्मल ज्ञान-धारा तेज होने लगी। शास्त्रीय शब्दज्ञान अति अल्प होने पर भी मुनि का आत्मज्ञान और चरित्रबल उच्चतम था। दीक्षा के प्रथम दिन बिना पूर्वाभ्यास के ही भिक्षु प्रतिमा की इस कठोर साधना पर अग्रसर होना ही उनके उन्नत-मनोबल का परिचायक था। शुक्ल-ध्यान से चारित्र के सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर उन्होने वीतराग वाणी को पूर्णरूप से हृदयगम कर लिया। वे तन्मय हो गये, स्व-पर के भेद को समझ लेने से उनका अन्तर्मन गूंज रहा था कि शरीर के जलने पर मेरा कुछ भी नही जल रहा है क्योकि मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ। मुझे न अग्नि जला सकती, न शस्त्र काट सकते और न भौतिक सुख-दु खो के ये झोंके ही हिला सकते है। मैं सदा अच्छेद्य, अभेद्य और अदाह्य हूँ। यह सोमिल जो अपना पुराना ऋरण ले रहा है वह मेरा कुछ नही बिगाड़ता, वह तो उल्टे मेरे ऋणमुक्त होने मे सहायता कर रहा है। अत ऋरण चुकाने मे दु ख, चिन्ता, क्षोभ और आनाकानी का कारण ही क्या है ?

कितना साहसपूर्ण विचार है। गज सुकुमाल चाहते तो सिर को थोडा-सा झुकाकर उस पर रखे अगारो को एक हल्के झटके से ही नीचे गिरा सकते थे पर वे महामुनि अर्हत् अरिष्टनेमि के उपदेश से जड-चेतन के पृथक्त्व को समझकर सच्चे स्थितप्रज्ञ एव अन्तर्द्रष्टा राजर्षि बन चुके थे। नमी राजर्षि ने मिथिला को जलते देखकर कहा था –

"मिहिलाए डज्झमारिणए न मे डज्झइ किचरण"

परन्तु गज सुकुमाल ने तो अपने शरीर के उत्तमांग को जलते हुए देखकर भी निर्वात प्रदेश-स्थित दीपशिखा की तरह अचल-अकम्प ध्यान से अडोल रहकर विना वोले ही यह वता दिया –

"डज्झमाणे सरीरम्मि, न मे डज्झइ किंचरण"

धन्य है उस वीर साधक के अदम्य धैर्य और निश्चल मनोवृत्ति को। राग-द्वेप रहित होकर उसने उत्कृष्ट अध्यवसायो की प्रवल आग मे समस्त कर्मसमूह को अन्तर्मुहूर्त में ही भस्मावशेप कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के साथ शुद्ध बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार, सच्चिदानन्द शिवस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति करली। कोटि-कोटि जन्मो की तपस्याओ से भी दुष्प्राप्य मोक्ष को उन्होंने एक दिन से भी कम की सच्ची साधना से प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि

मानव की भावपूर्ण उत्कट साधना और लगन के सामने सिद्धि कोई दूर एवं दुष्प्राप्य नही है।

गज सुकुमाल के लिए कृष्ण की जिज्ञासा

दूसरे दिन प्रात काल कृष्ण महाराज गज पर आरूढ हो भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने निकले। वन्दन के पश्चात् जब उन्होने गज सुकुमाल मुनि को नही देखा तो पूछा – "भगवन्! मेरा छोटा भाई गज सुकुमाल मुनि कहा है ?"

भगवान् ने कहा – "कृष्ण! मुनि गज सुकुमाल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है।"

कृष्ण बोले – "भगवन्, यह कैसे ?"

इस पर अरिहत अरिष्टनेमि ने सारी घटना कह सुनाई। कृष्ण ने रोष मे आकर कहा – "प्रभो! वह कौन है, जिसने गज सुकुमाल को अकाल मे ही जीवन रहित कर दिया ?"

भगवान् ने कृष्ण को उपशान्त करते हुए कहा – "कृष्ण! तुम रोष मत करो, उस पुरुष ने गज सुकुमाल को सिद्धि प्राप्त करने मे सहायता प्रदान की है। द्वारवती से आते समय जैसे तुमने ईंट उठा कर वृद्ध ब्राह्मण की सहायता की वैसे ही उस पुरुष ने गज सुकुमाल के लाखो भवो के कर्मों को क्षय करने मे सहायता प्रदान की है।"

जब श्रीकृष्ण ने उस पुरुष के सम्बन्ध मे जानने का विशेष आग्रह किया तब श्री नेमिनाथ ने कहा – "द्वारिका लौटते समय जो तुम्हे अपने सम्मुख देख कर भूमि पर गिर पड़े, वही गज सुकुमाल का प्राणहारी है।"

कृष्ण त्वरा मे भगवान् को वन्दन कर द्वारिका की ओर चल पडे।

जब सोमिल को यह मालूम हुआ कि कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के दर्शन एवं वन्दन के लिए गये हैं तो वह मारे भय के थर-थर कापने लगा। उसने सोचा – "सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ से कृष्ण को मेरे अपराध के सम्बन्ध मे पता चल जायेगा और कृष्ण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई की हत्या के अपराध मे मुझे दारुण प्राणदण्ड देंगे।"

यह सोच कर सोमिल अपने प्राण बचाने के लिए अपने घर से भाग निकला। सयोगवश वह उसी मार्ग से आ निकला जिस मार्ग से श्रीकृष्ण लौट रहे थे। गजारूढ़ श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखते ही सोमिल आतंकित हो भूमि पर गिर पडा और मारे भय के वह तत्काल वही पर मर गया।

अरिहत अरिष्टनेमि ने गज सुकुमाल जैसे राजकुमार को क्षमावीर बनाकर उनका उद्धार किया। गज सुकुमाल की सयमसाधना से यादव-कुल मे व्यापक प्रभाव फैल गया और इसके फलस्वरूप अनेक कर्मवीर राजकुमारो ने धर्मवीर बन कर आत्म-साधना के मार्ग मे आदर्श प्रस्तुत किया।

नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि

भगवान् नेमिनाथ के साधु-सघ में यो तो सभी साधु घोर तपस्वी और दुष्कर करणी करने वाले थे फिर भी उन सब मुनियो मे ढंढण मुनि का स्थान स्वय भगवान् नेमिनाथ द्वारा सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

वासुदेव श्रीकृष्ण की 'ढढणा' रानी के आत्मज 'ढढण कुमार' भगवान् नेमिनाथ का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गये। उन्होने पूर्ण यौवन में अपनी अनेक सद्य परिणीता सुन्दर पत्नियों और ऐश्वर्य का परित्याग कर भगवान् नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की। इनकी दीक्षा के समय श्रीकृष्ण ने बड़ा ही भव्य निष्क्रमणोत्सव किया।

मुनि ढढण दीक्षित होकर सदा प्रभु नेमिनाथ की सेवा मे रहे। सहज विनीत और मृदु स्वभाव के कारण वे थोडे ही दिनो मे सबके प्रिय और सम्मान-पात्र बन गये। कठिन सयम और तप की साधना करते हुए उन्होने शास्त्रो का भी अध्ययन किया। कुछ काल व्यतीत होने पर ढढण मुनि के पूर्व-सचित अन्तराय-कर्म का उदय हुआ। उस समय वे कही भी भिक्षा के लिए जाते तो उन्हे किसी प्रकार की भिक्षा नही मिलती। उनका अन्तराय-कर्म इतनी भयकरता के साथ उदित हुआ कि उनके साथ भिक्षार्थ जाने वाले साधुओ को भी कही से भिक्षा प्राप्त नही होती और ढढण मुनि एव उनके साथ गये हुए साधुओ को खाली हाथ लौटना पड़ता। यह क्रम कई दिन तक चलता रहा।

एक दिन साधुओ ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने के पश्चात् पूछा—"भगवन्! यह ढढण ऋषि आप जैसे त्रिलोकीनाथ के शिष्य है, महाप्रतापी अर्द्धचक्री कृष्ण के पुत्र है पर इन्हे इस नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियों, धर्मनिष्ठ श्रावको एव परम उदार गृहस्थो के यहा से किंचित् मात्र भी भिक्षा प्राप्त नही होती। इसका क्या कारण है?"

मुनियो के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु नेमिनाथ ने कहा—"ढढण अपने पूर्व भव में मगध प्रान्त के 'धान्यपुर' ग्राम मे 'पारासर' नाम का ब्राह्मण था। वहा राजा की ओर से वह कृषि का आयुक्त नियुक्त किया गया। स्वभावत: कठोर होने से वह ग्रामीणो के द्वारा राज्य की भूमि मे खेती करवाता और उनको भोजन के समय भोजन आ जाने पर भी खाने की छुट्टी नही देकर काम मे लगाये रखता। भूखे, प्यासे और थके हुए बैलो एव हालियो से पृथक् २ एक-एक हलाई (हल द्वारा भूमि को चीरने की रेखा) निकलवाता। अपने उस दुष्कृत के फल-स्वरूप इसने घोर अन्तराय-कर्म का बन्ध किया। वही पारासर मर कर अनेक भवो मे भ्रमण करता हुआ ढढण के रूप मे जन्मा है। पूर्वकृत अन्तराय-कर्म के उदय से ही इसको सम्पन्न कुलो मे चाहने पर भी भिक्षा नही मिलती।"

भगवान् के मुखारविन्द से यह सब सुन कर ढढण मुनि को अपने पूर्वकृत दुष्कृत के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने प्रभु को नमस्कार कर यह अभिग्रह

किया "मैं अपने दुष्कर्म को स्वय भोग कर काटूँगा और कभी दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ भोजन ग्रहण नही करूँगा।"

अन्तराय के कारण ढढण को कही से भिक्षा मिलती नही और दूसरो द्वारा लाया गया आहार उन्हे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लेना था नही, इसके परिणामस्वरूप ढढण मुनि को कई दिन तक निरन्तर निराहार तपस्या हो गई। फिर भी वे समभाव से तप और संयम की साधना अविचल भाव से करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने समवसरण मे ही पूछा–"भगवन्! आपके इन सभी महान् मुनियो मे कठोर साधना करने वाले कौनसे मुनि है?"

भगवान् ने फरमाया–"हरे! सभी मुनि कठोर साधना करने वाले है पर इन सवमे ढढण दुष्कर करणी करने वाला है। उसने काफी लम्वा काल अलाभ-परिषह को समभाव से सहते हुए अनशन-पूर्वक विताया है। उसके मन मे किंचित्मात्र भी ग्लानि नही अत. यह सर्वोत्कृष्ट तपस्वी मुनि है।"

कृष्ण यह सुन कर वड़े प्रसन्न हुए और देशना के पश्चात् भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर मन ही मन ढढण मुनि की प्रशंसा करते हुए अपने राज-प्रासाद की ओर लौटे। उन्होंने द्वारिका मे प्रवेश करते ही ढंढण मुनि को गोचरी जाते हुए देखा। कृष्ण तत्काल हाथी से उतर पड़े और वडी भक्ति से उन्होने ढढण ऋषि को नमस्कार किया।

एक श्रेष्ठि अपने द्वार पर खडा-खडा यह सव देख रहा था। उसने सोचा कि धन्य है यह मुनि जिनको कृष्ण ने हाथी से उतर कर श्रद्धावनत हो वडी भक्ति के साथ वन्दन किया है।

सयोग से ढढण भी भिक्षाटन करते हुए उस श्रेष्ठि के मकान मे भिक्षार्थ चले गये। सेठ ने वडे आदर के साथ ढढण मुनि के पात्र मे लड्डू वहराये। ढंढण मुनि भिक्षा लेकर प्रभु की सेवा मे पहुँचे और वन्दन कर उन्होने प्रभु से पूछा–"प्रभो! क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है जिससे कि मुझे आज भिक्षा मिली है?"

प्रभु ने फरमाया–"ढंढण मुने! तुम्हारा अन्तराय कर्म अभी क्षीण नही हुआ है। हरि के प्रभाव से यह भिक्षा तुम्हे मिली है। हरि ने तुम्हे प्रणाम किया इससे प्रभावित हो श्रेष्ठि ने तुम्हे यह भिक्षा दी है।"

चिरकाल से उपोसित ढढण ने अपने मन मे भिक्षा के प्रति राग का लेश भी पैदा नही होने दिया। "यह भिक्षा अपनी लब्धि नही अपितु पर-प्राप्ति है अत. मुझे इसे एकान्त निर्जीव भूमि मे परिष्ठापित कर देना चाहिये" यह सोच कर ढढण ऋषि स्थडिल भूमि मे उस भिक्षा को परठने चल पड़े। उन्होने एकान्त मे पहुँच कर भूमि को रजोहरण से परिमार्जित किया और वहां भिक्षान्न परठने लगे। उस समय उनके अन्तस्तल मे शुभ भावो का उद्रेक हुआ। वे स्थिर

ध्यान से सोचने लगे – "ओह ! उपार्जित कर्मों को क्षय करना कितना दुस्साध्य है। प्राणी मोह मे फँसकर दुष्कृत करते समय यह नही सोचता कि इन दुष्कृतो का परिणाम मुझे एक न एक दिन भोगना ही पड़ेगा।"

इस प्रकार विचार करते २ उनका चिन्तन शुभ-ध्यान की उच्चकोटि पर पहुँच गया। शुक्ल-ध्यान की इस प्रक्रिया मे उनके चारो घातिक-कर्म नष्ट हो गये और उन्हे केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। तत्क्षण गगनमण्डल देव दुन्दुभियो की ध्वनि से गूँज उठा।

समस्त लोकालोक को हस्तामलक के समान देखने वाले मुनि ढंढण स्थंडिल भूमि से प्रभु की सेवा मे लौटे और भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर वे प्रभु की केवली-परिषद् मे बैठ गये।

ढंढण मुनि ने केवल अन्तराय ही नही, चारो घाती कर्मो का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर सकल कर्म क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

भगवान् अरिष्टनेमि के समय का महान् आश्चर्य

श्रीकृष्ण का यादवो की ही तरह पाण्डवो के प्रति भी पूर्ण वात्सल्य था। वे सबके सुख-दु.ख मे सहायक होकर सब की प्रतिपालना करते। श्रीकृष्ण की छत्रछाया मे पाण्डव इन्द्रप्रस्थ मे बड़े आनन्द से राज्यश्री का उपभोग कर रहे थे।

एक समय नेमिनारद इन्द्रप्रस्थ नगर मे आये और महारानी द्रौपदी के भव्य प्रासाद में जा पहुँचे। पाण्डवो ने नारद का सत्कार किया पर द्रौपदी ने नारद को अविरति समझ कर विशेष आदर-सत्कार नही दिया। नारद क्रुद्ध हो मन ही मन द्रौपदी का कुछ अनिष्ट करने की सोचते हुए वहा से चले गये।

वे यह भली प्रकार जानते थे कि पाण्डवो पर श्रीकृष्ण की असीम कृपा के कारण भरतखण्ड मे कृष्ण के भय से कोई द्रौपदी की ओर आँख उठाकर भी नही देख सकता अत द्रौपदी के लिये अनिष्टप्रद कुछ प्रपञ्च खड़ा करने की उधेड-बुन मे वे धातकी खण्ड द्वीप के भरत क्षेत्र की अमरकका नगरी मे स्त्रीलम्पट पद्मनाभ राजा के राज-प्रासाद मे पहुँचे।

राजा पद्म ने राजसिंहासन से उठकर नारद का बडा सत्कार किया और उन्हे अपने अन्त पुर मे ले गया। उसने वहा अपनी सात सौ (७००) परम सुन्दरी रानियो की ओर इगित करते हुए नारद से गर्व सहित पूछा – "महर्षे ! आपने विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरो के राज-प्रासादो और बडे-बडे अवनिपतियो के अन्त पुरो को देखा है पर क्या कही इस प्रकार की चारुहासिनी, सर्वागसुन्दरी स्त्रियो मे रत्नतुल्य रमणिया देखी है ?

अपने अभीप्सित कार्य के सम्पादन का उचित अवसर समझ कर नारद बोले[1] – "राजन् ! तुम कूपमण्डूक की तरह बात कर रहे हो। जम्बूद्वीपस्था

[1] ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

भरतखण्ड के हस्तिनापुराधिप पाण्डवो की महारानी द्रौपदी के सामने तुम्हारी ये सव रानिया दासिया सी लगती हैं।" यह कहकर नारद वहां से चल दिये।

द्रौपदी को प्राप्त करने हेतु पद्मनाभ ने तपस्यापूर्वक अपने मित्र देव की आराधना की और देव के प्रकट होने पर उससे द्रौपदी को लाने की प्रार्थना की। देव ने पद्मनाभ से कहा – "द्रौपदी पतिव्रता है। वह पांडवो के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को नही चाहती। फिर भी तुम्हारी प्रीति हेतु मैं उसे ले आता हूं।"

यह कहकर देव हस्तिनापुर पहुचा और अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को प्रगाढ निद्राधीन कर पद्मनाभ के पास ले आया।

निद्रा खुलने पर सारी स्थिति देख कर द्रौपदी वड़ी चिन्तित हुई। उसे चिन्तित देख पद्मनाभ ने कहा – "सुन्दरि! किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मैं धातकीखण्ड द्वीप की अमरकका नगरी का नरेश्वर पद्मनाभ हूँ। तुम्हे अपनी पट्टमहिषी वनाने हेतु मैंने तुम्हे यहाँ मँगवाया है।"

द्रौपदी ने क्षणभर मे ही अपनी जटिल स्थिति को समझ लिया और वड़ा दूरदर्शितापूर्ण उत्तर दिया – "राजन्! भरतखण्ड में कृष्ण वासुदेव मेरे रक्षक हैं, वे यदि छः मास के भीतर मेरी खोज करते हुए यहा नही आयेंगे तो मैं तुम्हारे निर्देशानुसार वात करूंगी।[1]

यहाँ किसी दूसरे द्वीप के किसी आदमी का पहुँचना अशक्य है, यह समझ कर कुटिल पद्मनाभ ने द्रौपदी की वात मान ली और द्रौपदी को कन्याओ के अन्त.पुर में रख दिया। वहां द्रौपदी आयविल तप करते हुए रहने लगी।[2]

प्रात काल होते ही पाण्डवो ने द्रौपदी को न पाकर उसे ढूंढने के सव प्रयास किये पर द्रौपदी का कही पता न चला। लाचार हो उन्होंने कुन्ती के माध्यम से श्रीकृष्ण को निवेदन किया।

कृष्ण भी यह सुन कर क्षणभर विचार मे पड गये। उसी समय नारद स्वय द्वारा उत्पन्न किये गये अनर्थ का कौतुक देखने वहां आ पहुँचे। कृष्ण द्वारा द्रौपदी का पता पूछने पर नारद ने कहा कि उन्होने धातकीखण्ड द्वीप की अमरकका नगरी के राजा पद्मनाभ के रणवास मे द्रौपदी जैसा रूप देखा है।

नारद की वात सुन कर कृष्ण ने पाण्डवों एव सेना के साथ मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया और वहा अष्टम तप से लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का चिंतन किया। सुस्थित यह कहते हुए उपस्थित हुआ – "कहिये! मैं आपकी क्या सेवा करू?"

---

[1] ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

[2] वही।

कृष्ण ने कहा – "पद्मनाभ ने सती द्रौपदी का हरण कर लिया है, इसलिए ऐसा उपाय करो जिससे वह लाई जा सके।"

सुस्थित देव ने कहा – "पद्मनाभ के एक मित्र देव ने द्रौपदी का हरण कर उसे सौंपा है, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहां से आपके पास ले आऊँ अथवा आप आज्ञा दें तो पद्मनाभ को सदलवल समुद्र में डुवो दूं और द्रौपदी आपको सौंप दूं।"

श्रीकृष्ण ने कहा – "इतना कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हमारे छहों के रथ लवण सागर को निर्वाध गति से पार कर सकें, ऐसा प्रवन्ध कर दो। हम खुद ही जाकर द्रौपदी लायें, यह हमारे लिए शोभनीय कार्य होगा।"

सुस्थित देव ने श्रीकृष्ण की इच्छानुसार प्रवन्ध कर दिया और छहों रथ स्थल की तरह विस्तीर्ण लवणोदधि को पार कर अमरकंका पहुँच गये।

कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को पद्मनाभ के पास भेज कर द्रौपदी को लौटाने को कहलवाया[1] पर पद्मनाभ यह सोचकर कि ये छह आदमी मेरी अपार सेना के सामने क्या कर पायेंगे, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आ डटा।

पाण्डवों की इच्छानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को पद्मनाभ से युद्ध करने की अनुमति दी, पर वे पद्मनाभ के अपार सैन्यवल से पराजित हो कृष्ण के पास लौट आये।

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख का महाभयकर घोष किया और सार्ङ्ग-धनुष की टंकार लगाई तो पद्मनाभ की दो तिहाई सेना नष्टप्राय हो तितर-बितर हो गई और भय से थर-थर कांपता हुआ पद्मनाभ एक तिहाई अपनी वची-खुची भयत्रस्त सेना के साथ अपने नगर की ओर भाग खड़ा हुआ।

पद्मनाभ ने नगर के अन्दर पहुँच कर अपने नगरद्वार के लोह-कपाट वन्द कर दिये और रणवास में जा छुपा।

इधर श्रीकृष्ण ने नृसिंहरूप धारण कर एक हत्थल (हस्ततल) के प्रहार से ही नगर के लोह-कपाटों को चूर्ण कर दिया और वे सिंह-गर्जना करते हुए पद्मनाभ के राज-प्रासाद की ओर वढ चले। उनकी सिंह-गर्जना से सारी अमर-कंका हिल उठी और शत्रुओं के दिल दहल गये।

साक्षात् महाकाल के समान अपनी ओर झपटते श्रीकृष्ण को देख कर पद्मनाभ द्रौपदी के चरणों में जा गिरा और प्राण भिक्षा मांगते हुए गिडगिडाकर कहने लगा – "देवि! क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस कराल कालोपम केशव से मेरी रक्षा करो।"

द्रौपदी ने कहा – "यदि प्राणों की कुशल चाहते हो तो स्त्री के कपड़े पहन कर मेरे पीछे-पीछे चले आओ।"

---

[1] ज्ञाता धर्म कथा १।१६

कापते हुए पद्मनाभ ने तत्काल अवला नारी का वेप वनाया और द्रौपदी को आगे कर उसके पीछे-पीछे जा उसने श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार किया। शरणागतवत्सल कृष्ण ने उसे अभयदान दिया और द्रौपदी को पाण्डवो के पास ले आये।[1]

तदनन्तर द्रौपदी सहित वे सव छह रथों पर आरूढ हो जिस पथ से आये थे उसी पथ से लौट पड़े।

उस समय धातकीखण्ड की चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान मे वहा के तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समवसरण मे वैठे हुए धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने कृष्ण द्वारा किये गये शंखनाद को सुन कर जिनेन्द्र प्रभु से प्रश्न किया – "प्रभो ! मेरे शंखनाद के समान यह किसका शखनाद कर्णगोचर हो रहा है ?"

द्रौपदी-हरण का सारा वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वज्ञ प्रभु मुनिसुव्रत ने कहा – "कपिल ! जम्बूद्वीपस्थ भरत क्षेत्र के त्रिखण्डाधिपति वासुदेव कृष्ण द्वारा किया हुआ यह शख-निनाद है।"

कपिल ने कहा – "भगवन् ! मुझे उस अतिथि का स्वागत करना चाहिए।"

भगवान् मुनिसुव्रत ने कहा – "कपिल जिस तरह दो तीर्थंकर और दो चक्रवर्ती एक जगह नही मिल सकते उसी प्रकार दो वासुदेव भी नहीं मिल सकते। हा तुम कृष्ण की श्वेत-पीत ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।"[2]

भगवान् से यह सुन कर कपिल वासुदेव श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने की इच्छा लिये कृष्ण के रथ के पहियो का अनुसरण करता हुआ त्वरित गति से समुद्रतट की ओर वढ़ा और उसने समुद्र मे जाते हुए कृष्ण के रथ की श्वेत और पीत वर्ण की ध्वजाओं के अग्रभाग देखे। उसने अपने शख मे इस आशय की ध्वनि को पूरित कर शखनाद किया – "यह मैं कपिल वासुदेव आपसे मिलने की उत्कठा लिये आया हूँ। कृपा कर लौटिये।"

---

[1] साप्यूचे मा पुरस्कृत्य, स्त्रीवेश विरचय्य च।
प्रयाहि शरण कृष्णं, तया जीवसि नान्यथा ॥६१॥
इत्युक्त स तथा चक्रे, नमस्चक्रे च शार्ङ्गिणम्।
शरण्यो वासुदेवोऽपि मा भैपीरित्युवाच तम् ॥६२॥
[त्रिपष्टि शलाका पु० चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

[2] तए ण मुणि सुव्वए अरहा कविल वासुदेव एव वयासी, णो खलु देवाणुप्पिया एव भूय वा ३ जण्ण अरिहता वा अरहत पासति, चक्कवटी वा चक्कवटि पासति ‥ ‥ वासुदेवा वा वासुदेवं पासन्ति। तह वि य ण तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्द मज्झमज्झेण वी ईवयमाणस्स सेया पीयाइ धयग्गाइ पासिहिसि। [ज्ञाता धर्म कथा, सूत्र १, अध्याय १६]

श्रीकृष्ण ने भी शंख-निनाद से ही उत्तर दिया – "हम बहुत दूर निकल आये हैं। अब आप कुछ न कहिये।"[1]

शंख-ध्वनि से कृष्ण का उत्तर पा कपिल अमरकंका नगरी पहुचा। उसने पद्मनाभ की भर्त्सना कर उसे निर्वासित कर दिया एवं उसके पुत्र को अमरकका के राजसिंहासन पर आसीन किया।

इधर लवण समुद्र पार कर कृष्ण ने पाण्डवो से कहा – "मैं सुस्थित देव को धन्यवाद देकर आता हू तब तक आप लोग गंगा के उस पार पहुंच जाइये।"

पाण्डवो ने नाव मे बैठ कर गगा के प्रबल प्रवाह को पार किया और परस्पर यह कहते हुए कि आज श्रीकृष्ण के बल को देखेंगे – कि वे गगा के इस अतितीव्र प्रवाह को कैसे पार करते हैं, नाव को वही रख लिया।[2]

सुस्थित देव से विदा हो कृष्ण गंगा तट पर आये और वहां नाव न देख कर एक हाथ से घोडो सहित रथ को पकडे दूसरे हाथ से तैरते हुए गगा को पार करने लगे। पर गगा के प्रवाह के बीचोंबीच पहुंचते २ वे थक गये और सोचने लगे कि बिना नाव के पाण्डवो ने गंगा नदी पार कर ली, वे बड़े सशक्त हैं। कृष्ण के मन मे यह विचार उत्पन्न होते ही गगा के प्रवाह की गति धीमी पड़ गई और उन्होने सहज ही गगा को पार कर लिया।

गगा के तीर पर पहुचते ही कृष्ण ने पाण्डवो से प्रश्न किया – "आप लोगो ने गंगा को कैसे पार कर लिया?"

पाण्डवो ने उत्तर दिया – "नाव से।"

कृष्ण ने पूछा – "फिर, आप लोगों ने मेरे लिए नाव क्यो नही भेजी?"

पाण्डवो ने हँसते हुए कहा – "आपके बल की परीक्षा करने के लिए।"

कृष्ण उस उत्तर से अतिक्रुद्ध हो बोले – "मेरे बल की परीक्षा क्या अभी भी अवशेष रह गई थी? अथाह-अपार लवण समुद्र को पार करने और अमरकका की विजय प्राप्त करने के बाद भी आप लोगो को मेरा बल ज्ञात नही हुआ।"

यह कहते हुए कृष्ण ने लौह-दण्ड से पाण्डवो के रथो को चकनाचूर कर डाला और उन्हे अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया।

---

[1] कपिलो विष्णुरेषोऽहमुत्कस्त्वा द्रष्टुमागत।
तद्बलस्वेत्यक्षराढ्य, शख दध्मौ स शार्ङ्गभृत् ॥७२॥
आगमाम वय दूर त्वया वाच्य न किंचन।
इति व्यक्ताक्षरध्वान, शख कृष्णोऽप्यपूरयत् ॥७३॥
[त्रिषष्टि शलाका पु चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

[2] द्रक्ष्यामोऽद्य बल विष्णोर्नौरत्रैव विधार्यताम्।
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ८, सर्ग १०, श्लो ७६]

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका की ओर चल दिये। द्वारिका से पाँचो पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये। उन्होने माता कुन्ती से सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

सारा वृत्तान्त सुन कर कुन्ती द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से कहने लगी – "कृष्ण! तुम्हारे द्वारा निर्वासित मेरे पुत्र कहाँ रहेगे क्योकि इस भरतार्द्ध में तो तिल रखने योग्य भूमि भी ऐसी नही है जो तुम्हारी न हो।"

कृष्ण ने कहा – "दक्षिण सागर के तट के पास पाण्डु-मथुरा[1] नामक नया नगर वसा कर आपके पुत्र वहाँ रहे।"

कुन्ती के लौटने पर पाण्डवो ने दक्षिण समुद्र के तट के पास पाण्डु-मथुरा वसाई और वहाँ रहने लगे।[2]

उधर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपनी बहिन सुभद्रा के पौत्र एव अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया।[3]

जिस स्थान पर कृष्ण ने क्रुद्ध हो पाण्डवो के रथो को तोड़ा था वहाँ कालान्तर मे 'रथमर्दन' नामक नगर वसाया गया।[4]

द्वारिका का भविष्य

भगवान् अरिष्टनेमि भारतवर्ष के अनेक प्रान्तो मे अपने अमोघ अमृतमय उपदेशो से भव्य प्राणियो का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे। भगवान् के पधारने का समाचार सुन कर कृष्ण-वलराम अपने समस्त राज परिवार के साथ समवसरण मे गये और भगवान् को वन्दन कर यथास्थान वैठ गये। द्वारिका और उसके आसपास की वस्तियो का जनसमूह भी समवसरण मे उमड पडा।

---

[1] (क) त गच्छंतु ण पच पडवा दाहिणिल्लवेयालिं तत्थ पडु महुर निवेसतु······

[ज्ञाता धर्म कथा, १।१६]

(ख) कृष्णोऽप्यूचे दक्षिणाब्वे रोवस्यभिनवा पुरीम्।
निवेश्य पाण्डुमथुरा, वसन्तु तव सूनव ॥६१॥

[त्रिषष्टि श पु चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

[2] ·········· पडु महुर नगर निवेसति।

[ज्ञाता० १।१६]

[3] कृष्णोऽपि हस्तिनापुरेऽभिषिषेच परीक्षितम्। · · ·

[त्रिषष्टि श. पु च. पर्व ८, सर्ग १०, श्लो ६३]

[4] · · लोहदण्ड परामुसइ पचण्ह पडवाण रहे सुचूरेइ, निव्विसए आणवेइ····· तत्थ ण रहमद्दणे नाम कोड्डे निविट्ठे।

[ज्ञाता धर्म कथा, सु १, अ १६]

श्रीकृष्णदेशना के पश्चात् कृष्ण ने सविधिवन्दन कर प्राजलिपूर्वक भगवान् से आये हैं।[1] – "भगवन्! सुरपुर के समान इस द्वारिका का, इस विशाल और समृद्ध यदुवश का तथा मेरा अन्त कालवश स्वत ही होगा या किसी निमित्त से, किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ से होगा।"

भगवान् ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया – "कृष्ण! घोर तपस्वी परासर के पुत्र ब्रह्मचारी परिव्राजक द्वैपायन को शाम्ब आदि यादव-कुमार सुरापान से मदोन्मत्त हो निर्दयतापूर्वक मारेंगे। इससे क्रुद्ध हो द्वैपायन यादवो के साथ ही साथ द्वारिका को जलाने का निदान कर देव होगा और वह यादवो सहित द्वारिका नगरी को जला कर राख कर डालेगा। तुम्हारा प्राणान्त तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से कौशाम्बी वन मे होगा।"[2]

त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के उत्तर को सुनकर सभी श्रोता स्तब्ध रह गये। सबकी घृणादृष्टि जराकुमार पर पडी। जराकुमार आत्मग्लानि से बड़ा खिन्न हुआ। उसने तत्काल उठ कर प्रभु को प्रणाम किया और अपने आपको इस घोर कलकपूर्ण पातक से बचाने के लिए केवल धनुष-बाण ले द्वारिका से प्रस्थान कर वनवासी बन गया।

लोगो के मुख से प्रभु अरिष्टनेमि द्वारा कही गई बात सुन कर द्वैपायन परिव्राजक भी द्वारिका एव द्वारिकावासियो की रक्षार्थ नगर से दूर वन मे रहने लगा।

बलराम के सारथि व भाई सिद्धार्थ ने भावी द्वारिकादाह की बात सुन कर ससार से विरक्त हो प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की। बलराम ने भी उसे यह कहते हुए दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति दी कि देव होने पर वह समय पर प्रतिबोध देने अवश्य आवे। मुनि-धर्म स्वीकार कर सिद्धार्थ ने छ मास की घोर तपस्या की और आयु पूर्ण कर देव हो गया।

द्वारिका की रक्षार्थ मद्य-निषेध

श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका, यादवो एव प्रजाजनो की रक्षार्थ द्वारिका मे कड़ी मद्य-निषेधाज्ञा घोषित करवाई कि जो भी कोई सुरापान करेगा उसे कडे से कड़ा दण्ड दिया जायगा। "न रहेगा बास न बजेगी बांसुरी" इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कृष्ण ने सुरा को सब अनर्थों का मूल समझ कर द्वारिका के समस्त मद्यपात्रो को द्वारिका से कुछ दूर कदम्ब वन मे पर्वत की कादम्बरी गुफा के शिलाखण्डो पर फिकवा दिया। प्रत्येक नागरिक के मन मे द्वारिका के प्रति

---

[1] चउवन महापुरिस चरिय मे बलदेव द्वारा प्रश्न किये जाने का उल्लेख है। यथा – "लद्धाव-सरेण य पुच्छियं बलदेवेण जहाभगव केच्चिराउकालाओ इमीए णयरीए अवसाण भवि-स्सइ? कुओ वा सयासाओ वासुदेवस्स य?"

[चउवन महापुरिस चरिय, पृ. १९८]

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो ३ से ६

ऽ गाढ प्रेम था अतः उसे विनाश से बचाने के लिए समस्त प्रजाजन द्वारिका से
का नाम तक मिटा देने का दृढ सकल्प लिए अगणित मद्यपात्रो को ले
कादम्बरी गुफा की चट्टानों पर पटकने मे जुट गये।

श्रीकृष्ण ने प्रमुख नागरिको को और विशेषतः समस्त क्षत्रिय-कुमारो को
ाज्ञा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए सावधान किया कि वे जीवन
ाद्यपान न करें क्योकि मद्य बुद्धि को विलुप्त करने वाला और सब
न है।

ना के साथ ही साथ श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करवा दी कि
सुन्दर द्वारिकापुरी का सुरा, अग्नि एव द्वैपायन के निमित्त से
ाश पूर्व जो भी भगवान् नेमिनाथ के चरणों मे दीक्षित होना चाहे
व सब प्रकार से हार्दिक सहयोग देने के लिए सहर्ष तत्पर हैं।

श्रीकृष्ण की इस उदार घोषणा से उत्साहित हो अनेक राजाओ, रानियो, राजकुमारो एवं नागरिको ने ससार को निस्सार और दु ख का सागर समझकर भगवान् अरिष्टनेमि के पास मुनि-धर्म स्वीकार किया।

कुछ ही समय पश्चात् शाम्वकुमार का एक सेवक किसी कार्यवश कादम्वरी गुफा की ओर जा पहुँचा। वैशाख की कडी धूप के कारण प्यास लगने पर इधर-उधर पानी की तलाश करता हुआ वह एक शिलाकुण्ड के पास गया और अपनी प्यास बुझाने हेतु उसमें से पानी पीने लगा। प्रथम चुल्लू के आस्वादन से ही उसे पता चल गया कि कुण्ड मे पानी नही अपितु परम स्वादिष्ट मदिरा है।

द्वारिकावासियो ने जो सुरापात्र वहा शिलाओं पर पटके थे वह सुरा वह कर उस शिलाकुण्ड मे एकत्रित हो गई थी। सुगन्धित विविध पुष्पो के कुण्ड मे झडकर गिरने से वह मदिरा वडी ही सुगन्धित और सुस्वादु हो गई थी।

शाम्व के सेवक ने जी भर वह स्वादु सुरा पी और अपने पास की केतली भी उससे भर ली। द्वारिका लौट कर उस सेवक ने मदिरा की केतली शाम्व को भेट की। शाम्व सायकाल मे उस सुस्वादु सुरा का रसास्वादन कर उस सुरा की सराहना करते हुए वार-वार अपने सेवक से पूछने लगे कि इतनी स्वादिष्ट सुरा वह कहा से लाया है ?

सेवक से सुराकुण्ड का पता पाकर शाम्व दूसरे दिन कई युवा यदु-कुमारों के साथ कादम्वरी गुफा के पास उस कुण्ड पर गया। उन यादव-कुमारो ने उस कादम्वरी मदिरा को वड़े ही चाव के साथ खूब छक कर पिया और नशे मे झूमने लगे।

अचानक उनकी दृष्टि उस पर्वत पर ध्यानस्थ द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। नशे मे चूर शाम्व उसे देखते ही उस पर यह कहते हुए टूट पड़ा – "यह स्वान

हमारी प्यारी द्वारिका और यादव कुल का नाश करेगा । अरे ! इसे इसी समय मार दिया जाय, फिर यह मरा हुआ किसे मारेगा ?"[1]

बस, फिर क्या था वे सभी मदान्ध यादव-कुमार द्वैपायन पर लातो, घूसों और पत्थरो की वर्षा करने लगे और उसे अधमरा कर भूमि पर पटक द्वारिका मे आ अपने २ घरो मे जा घुसे ।

श्रीकृष्ण को अपने गुप्तचरो से इस घटना का पता चला तो वे यदु-कुमारो के इस क्रूर कृत्य पर बडे क्रुद्ध हुए । बलराम को साथ ले कृष्ण तत्काल द्वैपायन के पास पहुँचे और कुमारो की दुष्टता के लिए क्षमा मागते हुए बार-बार उसे शान्त करने का पूर्ण रूप से प्रयास करने लगे ।

द्वैपायन का क्रोध किसी तरह शान्त नही हुआ । उसने कहा – "कुमार जिस समय मुझे निर्दयतापूर्वक मार रहे थे उस समय मैं निदान कर चुका हूँ कि तुम दोनो भाइयो को छोड कर सब यादवो और नागरिको को द्वारिका के साथ ही जला कर खाक कर दूँगा । तुम दोनो के सिवा द्वारिका का कोई कुत्ता तक भी नही बच पायेगा ।"[2]

श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय

हताश हो बलराम और कृष्ण द्वारिका लौट आये और द्वैपायन द्वारा द्वारिकावासियो सहित द्वारिकादाह का निदान करने की बात द्वारिका के घर-घर मे फैल गई । श्रीकृष्ण ने दूसरे दिन द्वारिका मे घोषणा करवा दी, "आज से सब द्वारिकावासी अपना अधिकाधिक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कृत्यो को करते हुए बिताये ।"

श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार सब द्वारिकावासी धार्मिक कार्यो मे जुट गये ।

उन्ही दिनो भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारे । श्रीकृष्ण और बलराम के पीछे-पीछे द्वारिका के नागरिक भगवान् के अमृतमय उपदेश को सुनने के लिए रैवतक पर्वत की ओर उमड पडे । मोहान्धकार को मिटाने वाले भगवान् के प्रवचनो को सुन कर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक, निसढ आदि अनेको यादव-कुमारो और रुक्मिणी जाम्बवती आदि अनेको स्त्रीरत्नो ने विरक्त हो प्रभु चरणो मे श्रमण-दीक्षा स्वीकार की ।

---

[1] शाम्बो बभाषे स्वानित्थमय मे नगरि कुलम् ।
हन्ता तद्धन्यतामेष, हनिष्यति हत कथम् ॥२८॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११]

[2] तओ दीवायरणेण भणिय–कण्ह ! मया पहम्ममाणेण पइण्णा पडिवण्णा जहा–तुमे मोत्तूण पर दुवे वि ण अण्णस्स तुणयमेत्तस्स वि जन्तुणो मोक्खो,...

[चउवन महापुरिस चरिय, पृष्ठ १९९]

श्रीकृष्ण द्वारा किये गये एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् अरिष्टनेमि ने फरमाया – "आज से वारहवे वर्ष मे द्वैपायन द्वारिका को भस्मसात् कर देगा।"

श्रीकृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आश्वासन

भगवान् अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने प्रश्न का उत्तर सुनते ही श्रीकृष्ण की आखो के सामने द्वारिकादाह का भावी वीभत्स-दारुण-दुखान्त दृश्य साकार हो मडराने लगा। वे सोचने लगे–"धनपति कुवेर की देखरेख में विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण-रजत एवं मणि-माणिक्य, हीरो, पन्नो आदि अमूल्य रत्नो से निर्मित इस धरा का साकार स्वर्ग सा यह नगर आज से वारहवे वर्ष मे सुरो और सुररमणियो से स्पर्द्धा करने वाले समस्त नागरिको सहित जला कर भस्मसात् कर दिया जायगा।"

उनकी अन्तर्व्यथा असह्य हो उठी, उनके हृदयपटल पर संसार की नश्वरता का, जीवन, राज्यलक्ष्मी व ऐश्वर्य की क्षणभगुरता का अमिट चित्र अकित हो गया। वे सोचने लगे – "धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, धन्य हैं जालि, मयालि, प्रद्युम्न, शाम्व, रुक्मिणी, जाम्ववती आदि जिन्होने भोगों एव भवनादि की भंगुरता के तथ्य को समझ कर त्याग-मार्ग अपना लिया। उन्हे अव द्वारिकादाह का ज्वाला-प्रलय नही देखना पड़ेगा। ओफ्! मैं अभी तक त्रिखण्ड के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य मे मूच्छित हूँ।"

अन्तर्यामी भगवान् अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण की अन्तर्वेदना छुपी न रही। उन्होने कहा – "त्रिखण्डाधिप वासुदेव! निदान की लोहार्गला के कारण त्रिकाल मे भी यह संभव नही कि कोई भी वासुदेव प्रव्रज्या ग्रहण करे। निदान का यही अटल नियम है अत तुम प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकने की व्यर्थ चिन्ता न करो। आगामी उत्सर्पिणीकाल मे इसी भरत क्षेत्र में तुम भी मेरी तरह वारहवे तीर्थंकर वनोगे[1] और वलराम भी तुम्हारे उस तीर्थकाल मे सिद्ध, वुद्ध और मुक्त होगे।"

---

[1] (क) एएसिण चउव्वीसाए तित्थकराण पुव्वभविया चउव्वीस नामदेज्जा भविस्सति त जहा सेणिए सुपास · कण्ह ··· [समवायाग सूत्र, सूत्र २१४]

(ख) च्युत्वा भाव्यत्र भरते गगाद्वार पुरेशितुः। जितशत्रो सुतोऽर्हंस्त्व द्वादशो नामतोऽमम ॥ [त्रिपष्टि श पु चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो ५२]

(ग) अरहा अरिट्ठणेमी कण्ह वासुदेव एव वयासी मा ण तुम देवाणुप्पिया ओह्य-जाव झियाहि · तुम·· ···वारसमे अममे नाम अरहा भविस्ससि ·· ··· ··· [अतगड दशा]

भगवान् के इन परम आह्लादकारी वचनो को सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द-विभोर हो पुलकित हो उठे। बडी ही श्रद्धा से उन्होने प्रभु को वन्दन किया और द्वारिका लौट आये। उन्होने पुन. द्वारिका मे घोषणा करवाई – "द्वारिका का दाह अवश्यभावी है अत जो भी व्यक्ति प्रभु-चरणो मे प्रव्रजित हो मुनि-धर्म स्वीकार करना चाहता है वह अपने आश्रितो के निर्वाह, सेवा-शुश्रूषा आदि की सब प्रकार की चिन्ताओ का परित्याग कर बडी खुशी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। मुनि-धर्म स्वीकार करने की इच्छा रखने वालो को मेरी ओर से पूर्णरूपेण अनुमति है। उनके आश्रितो के भरण-पोषण आदि का सारा भार मैं अपने कधो पर लेता हू।" उन्होने द्वारिकावासियो को निरन्तर धर्म की आराधना करते रहने की सलाह दी।

श्रीकृष्ण की इस घोषणा से पद्मावती आदि अनेकों राज्य परिवार की महिलाओ, कई राजकुमारो और अन्य अनेको स्त्री-पुरुषो ने प्रबुद्ध एव विरक्त हो प्रभु चरणो में दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण ने शासन और धर्म की अत्युत्कृष्ट भावना से सेवा की और इस तरह उन्होने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

इस प्रकार अनेक भव्य प्राणियो को मुक्तिपथ का पथिक बना प्रभु अरिष्टनेमि वहा से अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

उधर द्वैपायन निदानपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार देव हुआ और अपने वैर का स्मरण कर वह क्रुद्ध हो द्वारिका को भस्मसात् कर डालने की इच्छा से द्वारिका पहुँचा। पर उस समय सारी द्वारिका तपोभूमि बनी हुई थी। समस्त द्वारिकावासी आत्म-चिन्तन, धर्माराधन और प्रसिद्ध आयम्बिल (आचाम्ल) तप की साधना मे निरत थे, अनेको नागरिक चतुर्थ भक्त, षष्टम भक्त और अष्टम भक्त किये हुए थे अत धर्म के प्रभाव से अभिभूत हो वह द्वारिकावासियो का कुछ भी अनिष्ट नही कर सका और हताश हो लौट गया। द्वारिका को जलाने के लिए वह सदा छिद्रान्वेषण और उपयुक्त अवसर की टोह मे रहने लगा।

द्वैपायन द्वारा द्वारिकादाह

इस प्रकार द्वैपायन निरन्तर ग्यारह वर्ष तक द्वारिका को दग्ध करने का अवसर देखता रहा पर द्वारिकावासियो की निरन्तर धर्माराधना के कारण ऐसा अवसर नही मिला।

इधर द्वारिकावासियों के मन मे यह धारणा वलवती होती गई कि उनके निरन्तर धर्माराधन और कठोर तपस्या के प्रभाव से उन्होने द्वैपायन के प्रभाव को नष्ट कर उसे जीत लिया है अत. अव काय-क्लेश की आवश्यकता नही है।

इस विचार के आते ही कुछ लोग स्वेच्छापूर्वक सुरा, मांसादिक का सेवन करने लगे। "गतानुगतिको लोक" इस उक्ति के अनुसार अनेक द्वारिकावासी धर्माराधन एवं तप-साधना के पथ का परित्याग कर अनर्थकर-पथ मे प्रवृत्त होने लगे।

द्वैपायन के जीव अग्निकुमार ने तत्काल यह रन्ध्र देख द्वारिका पर प्रलय ढाना प्रारम्भ कर दिया। अग्नि की भीषण वर्षा से द्वारिका मे सर्वत्र प्रचण्ड ज्वालाएँ भभक उठी। अशनिपात एवं उल्कापात से धरती धूजने लगी। द्वारिका के प्राकार, द्वार और भव्य-भवन भूलुण्ठित होने लगे। कृष्ण और वलराम के चक्र व हल आदि सभी रत्न विनष्ट हो गये। समस्त द्वारिका देखते ही देखते ज्वाला का सागर वन गई। रमणियों, किशोरो, वच्चो और वृद्धो के करुण-क्रन्दन से आकाश फटने लगा, वड़े अनुराग और प्रेम से पोषित किये गये सुगौर सुन्दर और पुष्ट अगणित मानव-शरीर कपूर की पुतलियो की तरह जलने लगे। भागने का प्रयास करने पर भी कोई द्वारिकावासी भाग नही सका। अग्निकुमार द्वारा जो जहाँ था वही स्तंभित कर दिया गया।

श्रीकृष्ण और वलराम ने वसुदेव, देवकी और रोहिणी को एक रथ मे वठाकर रथ चलाना चाहा पर हजार प्रयत्न करने पर भी घोड़ो ने एक डग तक आगे नही वढाया। हताश हो कृष्ण और वलदेव ने रथ को स्वयं खीचना प्रारम्भ किया पर एक विशाल द्वार से कृष्ण और बलराम के निकलते ही वह द्वार भयंकर शब्द करता हुआ रथ पर गिर पडा।

द्वैपायन देव ने कहा — "कृष्ण-वलराम! मैंने पहले ही कह दिया था कि आप दोनो भाइयो को छोडकर और कोई वचा नही रह सकेगा।"

वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने कहा — "पुत्रो! हमे वचाने का तुम पूरा प्रयास कर चुके हो, कर्मगति वलीयसी है, हम अव प्रभु-शरण लेते हैं। तुम दोनो भाई कुशलपूर्वक जाओ।"

कृष्ण और वलराम वडी देर तक वहाँ खडे रहे। सव ओर से स्त्रियो की चीत्कारें, वच्चों एव वृद्धो के करुण-क्रन्दन और जलते हुए नागरिको की पुकारे उनके कानो के द्वार से हृदय मे गूंज रही थी — "कृष्ण हमारी रक्षा करो,

हलधर हमे बचाओ ।" पर दोनो भाई हाथ मलते ही खड़े रह गये, कुछ भी न कर सके । सभवत इन नरशार्दूलो ने अपने जीवन में पहली ही वार विवशता का यह दु खद अनुभव किया था ।

सारी द्वारिका जल गई और भू-स्वर्ग-द्वारिका के स्थान पर धधकती आग का दरिया हिलोरे ले रहा था ।

अन्ततोगत्वा असह्य अन्तर्व्यथा से सतप्त हो कृष्ण और वलदेव वहाँ से चल दिये ।

शोकातुर कृष्ण ने वलराम से पूछा – "भैया ! अव हमे किस ओर जाना है ? प्राय सभी नृपवर्ग अपने मन मे हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण भावना रखते हैं ।"

बलराम ने कहा – दक्षिण दिशा मे पाण्डव-मथुरा की ओर ।

श्रीकृष्ण ने कहा – "वलदाउ भैया ! मैंने पाण्डवो को निर्वासित कर उनका अपकार किया है ।"

वलराम बोले – "उन पर तुम्हारे उपकार असीम है ? इसके अतिरिक्त पाण्डव बड़े सज्जन और हमारे सम्बन्धी हैं । इस विपन्नावस्था मे हमे वे वडे स्नेह, सौहार्द और सम्मान के साथ रखेगे ।"

कृष्ण ने भी "अच्छा" कहते हुए अपने वड़े भाई के प्रस्ताव से सहमति प्रकट की और दोनो भाइयो ने दक्षिणापथ की ओर प्रयाण किया ।

शत्रु राजाओ से सघर्पों और मार्ग की अनेक कठिनाइयो का दृढतापूर्वक सामना करते हुए कई दिनो वाद दोनो भाई अत्यन्त दुर्गम कोशाम्वी वन मे जा पहुँचे । वहा पिपासाकुल हो कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भाई वलदेव से कहा – "आर्य ! मैं प्यास से इतना व्याकुल हूँ कि इस समय एक डग भी आगे वढ़ना मेरे लिए असभव है । कही से ठडा जल लाकर पिलाओ तो अच्छा है ।"

वलदेव तत्क्षण कृष्ण को एक वृक्ष की छाया मे वैठा कर पानी लाने के लिए चल पडे ।

बलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना

पिपासाकुल कृष्ण पीताम्बर ओढ़े बाये घुटने पर दाहिना पैर रखे छाया मे लेटे हुए थे । उसी समय शिकार की टोह मे जराकुमार उधर से निकला और पीताम्वर ओढे लेटे हुए कृष्ण पर हरिण के भ्रम से बाण चला दिया ।[1] बाण

[1] श्रीमद्भागवत मे जरा नामक व्याध द्वारा श्रीकृष्ण के पादतल मे वाण का प्रहार करने का उल्लेख है –

मुमलावशेपाय खण्डकृतेपुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकार तच्चरण, विव्याध मृगशकया ।।३३।।

[श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अ० ३०]

कृष्ण के दाहिने पादतल मे लगा। कृष्ण ने ललकारते हुए कहा – "सोते हुए मुझ पर इस तरह तीर का प्रहार करने वाला कौन है ? मेरे सामने आये।"

कृष्ण के कण्ठ-स्वर को पहचान कर जराकुमार तत्क्षण कृष्ण के पास आया और उसने रोते हुए कहा – "मैं तुम्हारा हतभाग्य वडा भाई जराकुमार हूँ। तुम्हारे प्राणो की रक्षा हेतु वनवासी होकर भी दुर्दैव से मैं तुम्हारे प्राणो का ग्राहक वन गया।"

कृष्ण ने सक्षेप मे द्वारकादाह, यादवकुल-विनाश आदि का वृत्तान्त सुनाते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा – "हमारे यादव-कुल मे केवल तुम्ही वचे हो, अत पाण्डवो को यह मणि दिखा कर तुम उनके पास ही रहना। शोक का त्याग कर शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ वलराम आने ही वाले हैं। उन्होने यदि तुम्हे देख लिया तो तत्क्षण मार डालेंगे।"

कृष्ण के समझाने पर जराकुमार ने पाण्डव-मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया।

प्यास के साथ वाण की तीव्र वेदना से व्यथित श्रीकृष्ण वलदेव के आने से पूर्व ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवनलीला समाप्त कर गये।

थोड़ी ही देर मे शीतल जल लेकर ज्योही वलदेव पहुँचे और दूर से ही कृष्ण को लेटे देखा तो उन्हे निद्राधीन समझ कर उनके जगने की प्रतीक्षा करते रहे। वड़ी इन्तजार के वाद भी जव कृष्ण को जगते नही देखा तो बलदेव ने पास आकर कृष्ण को सम्वोधित करते हुए कहा – "भाई! जगो वहुत देर हो गई।"

पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न पा उन्होने पीताम्वर हटाया। कृष्ण के पादतल मे घाव देखते ही वे क्रुद्ध सिंह की तरह दहाडने लगे – "अरे कौन है वह दुष्ट जिसने सोते हुए मेरे प्राणप्रिय भाई पर प्रहार किया है ? वह नराधम मेरे सम्मुख आये, मैं अभी उसे यमधाम पहुँचाये देता हूँ।"

वलदेव वड़ी देर तक जगल मे इधर-उधर घातक को खोजने लगे। पर कृष्ण पर प्रहार करने वाले का कही पता न चलने पर वे पुन. कृष्ण के पास लौटे और शोकाकुल हो करुण विलाप करते हुए वार वार कृष्ण को जगाने लगे और भीषण वन की काली अन्धेरी रात में कृष्ण के पास वैठे-वैठे करुण विलाप करते रहे।

अन्त मे सूर्योदय होने पर वलराम ने कृष्ण को सम्वोधित करते हुए कहा– "भाई! उठो, महापुरुप होकर भी आज तुम साधारण पुरुप की तरह इतने अधिक कैसे सोये हो ? उठो, सूर्योदय हो गया, अव यहाँ सोने से क्या होगा ? चलो आगे चलें।"

यह कह कर वलराम ने अपने भाई के प्रति प्रवल अनुराग और मोह के कारण निर्जीव कृष्ण के तन को भी सजीव समझ कर अपने कन्धे पर उठाया

और ऊवड़-खावड दुर्गम भूमि पर यत्र-तत्र स्खलित होते हुए भी आगे की ओर चल पडे। इस तरह वे विना विश्राम किये कृष्ण के पार्थिव शरीर को कन्धे पर उठाये, करुण-क्रन्दन करते हुए वीहड वनो मे निरन्तर इधर-उधर घूमते रहे।

वलराम को इस स्थिति मे देखकर उनके सारथि सिद्धार्थ का जीव जो भगवान् नेमिनाथ के चरणो मे दीक्षित हो सयमसाधना कर आयु पूर्ण होने पर देव हो गया था, वडा चिन्तित हुआ। उसने सोचा – "अहो! कर्म की परिणति कैसी दुर्निवार है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण और वलराम की यह अवस्था? मेरा कर्त्तव्य है कि मैं वलदेव को जाकर समझाऊँ।"

इस प्रकार सोचकर देव ने विभिन्न प्रकार के दृष्टान्तो से वलराम को समझाने का प्रयत्न किया।

उसने वढई का वेष वना कर जिस पथ पर वलदेव जा रहे थे उसी पथ मे आगे वढ विकट पर्वतीय ऊँचे मार्ग को पार कर समतल भूमि मे चकनाचूर हुए रथ को ठीक करने का उपक्रम प्रारम्भ किया। जव वलदेव उसके पास पहुँचे तो उन्होने वढई से कहा – "क्यो व्यर्थ प्रयास कर रहे हो? दुर्लंघ्य पर्वतीय विकट मार्ग को पार करके जो रथ समतल भूमि मे टूट गया वह अव भला क्या काम देगा?"

वढई बने देव ने अवसर देख तत्काल उत्तर दिया – "महाराज! जो कृष्ण तीन सौ साठ (३६०) भीषण युद्धो मे नही मरे और अन्त मे विना किसी युद्ध के ही मारे गये, वे जीवित हो जायेगे तो मेरा यह विकट दुर्लंघ्य गिरि-पथों को पार कर समतल भूमि मे टूटा हुआ रथ क्यो नही ठीक होगा?"

"कौन कहता है कि मेरा प्राणप्रिय भाई कृष्ण मर गया है? यह तो प्रगाढ़ निद्रा मे सोता हुआ है। तुम महामूढ़ हो।" वलदेव गरज कर वोले और पथ पर आगे की ओर वढ गये।

देव उसी पथ पर आगे पहुँच गया और माली का रूप वनाकर मार्ग में ही निर्जल भूमि की एक शिला पर कमल उगाने का उपक्रम करने लगा।

वहाँ पहुँचने पर वलदेव ने उसे देख कर कहा – "क्या पागल हो गये हो जो निर्जल स्थल मे और वह भी पाषाण-शिला पर कमल लगा रहे हो। भला शिला पर भी कभी कमल उगा है?"

माली वने देव ने कहा – "महाराज! मृत कृष्ण जीवित हो जायेंगे तो यह कमल भी इस शिला पर खिल जायगा।"

वलदेव क्रोधपूर्वक वही अपना उपरोक्त उत्तर दोहराते हुए आगे बढ गये।

देव ने भी अपना प्रयास नही छोड़ा और वह राह पर आगे पहुँच कर जले हुए वृक्ष के अवशेष ठूठ को पानी से सीचने लगा।

वलदेव ने जव उसे जले हुए सूखे ठूंठ को पानी से सीचते हुए देखा तो कहने लगे – "अरे तुम विक्षिप्त तो नही हो गये हो, यह जला हुआ ठूठ भी कही जल सीचने से हरा हो सकता है ?"

उस छद्म-वेषधारी देव ने कहा– "महाराज ! जब मरे हुए कृष्ण जीवित हो सकते हैं तो यह जला हुआ वृक्ष क्यो नही हरा होगा ?"

वलराम भृकुटि-विभग से उसे देखते हुए आगे वढ गये ।

देव भी आगे पहुँच गया और एक मृत वैल के मुँह के पास घास और पानी रख कर उसे खिलाने-पिलाने की चेष्टा करने लगा ।

जव वलदेव उस स्थान पर पहुँचे तो यह सव देख कर बोले – "भले मनुष्य ! तुम मे कुछ वुद्धि भी है या नही ? मरा जानवर भी कही खाता पीता है ?"

किसान वने हुए उस देव ने कहा – "पृथ्वीनाथ ! मृत कृष्ण भोजन पानी ग्रहण करेगे तो यह वैल भी अवश्यमेव घास चरेगा और पानी पीयेगा ।"

इस पर वलराम कुछ नही वोले और मार्ग पर आगे वढ गये ।

इस प्रकार उस देव ने विविध उपायो से वलदेव को समझाने का प्रयास किया तव अन्त मे वलदेव के मन मे यह विचार आया – "क्या सचमुच कसकेशि-निषूदन केशव अव नही रहे ? क्या जरासन्ध जैसे प्रवल पराक्रमी शत्रु का प्राण-हरण करने वाले मेरे भैया कृष्ण परलोकगमन कर चुके हैं, जिस कारण कि ये सव लोग एक ही प्रकार की वात कह रहे हैं ?"

उसी समय उपयुक्त अवसर समझ कर देव अपने वास्तविक स्वरूप मे वलदेव के समक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा – "बलदेव ! मैं वही आपका सारथि सिद्धार्थ हूँ । भगवान् की कृपा से सयम-साधना कर मैं देव वना हूँ । आपने मुझे मेरी दीक्षा के समय कहा था कि सिद्धार्थ ! यदि देव वन जाओ तो मुझे प्रतिवोध देने हेतु अवश्य आना । आपके उस वचन को याद करके आया हूँ । महाराज ! यह ध्रुव सत्य और ससार का अपरिवर्तनीय अटल नियम है कि जो जन्म ग्रहण करता है वह एक न एक दिन अवश्य मरता है । सच वात यह है कि श्रीकृष्ण अव नही रहे । आप जैसे महान् और समर्थ सत्पुरुष भी इस अपरिहार्य मृत्यु से विचलित हो मोह और शोक के शिकार हो जायेंगे तो साधारण व्यक्तियों की क्या स्थिति होगी ? स्मरण है आपको, प्रभु नेमिनाथ ने द्वारिकादाह के लिये पहले ही फरमा दिया था । वह भीषण लोमहर्षक काण्ड श्रीकृष्ण और आपके देखते-देखते हो गया ।"

"जो वीत चुका उसका शोक व्यर्थ है । अव आप अणगार-धर्म को ग्रहण कर आत्मोद्धार कीजिए जिससे फिर कभी प्रिय-वियोग का दारुण दु ख सहना ही नही पड़े ।

सिद्धार्थ की वातो से वलदेव का व्यामोह दूर हुआ । उन्होने ससम्मान श्रीकृष्ण के पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि संस्कार किया ।

उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि ने बलराम की दीक्षा ग्रहण करने की अन्तर्भावना जान कर अपने एक जंघाचारण मुनि को बलराम के पास भेजा। बलराम ने आकाश-मार्ग से आये हुए मुनि को प्रणाम किया और तत्काल उनके पास दीक्षा ग्रहण कर श्रमण-धर्म स्वीकार किया[1] और कठोर तपस्या की ज्वाला में अपने कर्मसमूह को इंधन की तरह जलाने लगे।

कालान्तर मे उन हलायुध मुनि ने परम संवेग और वैराग्य भाव से षष्टम अष्टम, मासक्षमणादि तप करते हुए गुरु-आज्ञा से एकल विहार स्वीकार किया। वे ग्राम नगरादि मे विचरण करते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता वही रात भर के लिए निवास कर लेते।

किसी समय मासोपवास की तपस्या के पारण हेतु बलराम मुनि ने एक नगर मे भिक्षार्थ प्रवेश किया। उनका तप से शुष्क शरीर भी अप्रतिहत सौन्दर्य-युक्त था। धूलि-धूसरित होने पर भी उनका तन बडा मनोहर, कान्तिपूर्ण और लुचितकेश-सिर भी बड़ा मनोहर प्रतीत हो रहा था। बलराम के अद्भुत रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट नगर का सुन्दरी-मण्डल भिक्षार्थ जाते हुए महर्षि बलदेव को देख कुलमर्यादा को भूल कर उनके प्रति हाव-भाव बताने लगा। कूप-तट पर एक पुर-सुन्दरी ने तो मुनि की ओर एकटक देखते हुए कुए से जल निकालने के लिए कलश के बदले अपने शिशु के गले मे ही रज्जु डाल दी। वह अपने शिशु को कुएं मे डाल ही रही थी कि पास ही खडी एक अन्य स्त्री ने उसे—"अरे क्या अनर्थ कर रही है" यह कह कर सावधान किया।[2]

लोक-मुख से यह बात सुनकर महामुनि बलराम ने सोचा—"अहो कैसी मोह की छलना है जिसके वशीभूत हो हमारे जैसे मुण्डित सिर वालो के पीछे भी ये ललनाएँ ऐसा कार्य करती है। पर इनका क्या दोष, मेरे ही पूर्वकृत कर्मो की परिणति से पुद्गलो का ऐसा परिणमन है। ऐसी दशा मे अब भिक्षा हेतु नगर या ग्राम मे मुझे प्रवेश नही करना चाहिए। आज से मै वन मे ही निवास करूंगा।"

ऐसा विचार कर मुनि बलराम बिना भिक्षा ग्रहण किये ही वन की ओर लौट गये और तुंगियागिरी के गहन वन मे जाकर घोर तपस्या करने लगे।

शत्रु राजाओ ने हलधर का एकाकी वनवास जान कर उन्हे मारने की तैयारी की, परन्तु सिद्धार्थ देव की रक्षा-व्यवस्था से वे वहाँ नही पहुँच सके।

---

[1] (क) ताव य णहगणाओ तमुद्देस समागओ भयवओ सयासाओ एक्को विज्जाहर समणो। दट्ठूण य त' '' पडिवण्णा रामेण तस्सन्तिए दिक्खा।

[चउवन महापुरिस चरिय, पृष्ठ २०४]

(ख) दीक्षा जिघृक्षु राम च, ज्ञात्वा श्री नेम्यपि द्रुतम्।
विद्याधरमृषि प्रैपीदेकमंक कृपालुपु ॥३६॥ त्रि श. पु च, ८।१२

[2] '' 'हा! हयासि त्ति ह्याले! भणमाणेण सबोहिया' [चउवन म. पु च, पृ. २०८]

मुनि वलराम वन मे शान्त भाव से तप का आराधन करने लगे।

उनके तप प्रभाव से वन्य प्राणी- सिंह और मृग परस्पर का वैर भूल उनके निकट वैठे रहते। एक दिन वे सूर्य की ओर मु ह किये कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानस्थ खडे थे। उस समय कोई वन-छेदक वृक्ष काटने हेतु उधर आया और उसने मुनि को देख कर भक्ति सहित प्रणाम किया। तपस्वी मुनि को धन्य-धन्य कहते हुए पास के वृक्षो मे से एक वृक्ष को काटने मे जुट गया।

भोजन के समय अधकटे वृक्ष के नीचे छाया मे वह भोजन करने वैठा। उसी समय अवसर देख मुनि शास्त्रोक्त विधि से चले। शुभ अध्यवसाय से एक हरिण भी यह सोच कर कि अच्छा धर्म-लाभ होगा, महामुनि का पारणा होगा, मुनि के आगे-आगे चला।

वृक्ष काटने वाले ने ज्योही मुनि को देखा तो वह वडा प्रसन्न हुआ और वडी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम के साथ मुनि को अपने भोजन मे से भिक्षा देने लगा। 'काकतालीय' न्याय से उसी समय वडे तीव्र वेग से वायु का झोका आया और वह अधकटा विशाल वृक्ष मुनि वलराम, उस श्रद्धावनत सुथार और हरिण पर गिर पडा। शुभ अध्यवसाय मे मुनि वलराम, सुथार और हरिण तीनो एक साथ काल कर ब्रह्मलोक-पचम कल्प में देव रूप से उत्पन्न हुए।

मुनि की तपस्या के साथ हरिण और सुथार की भावना भी वड़ी उच्च-कोटि की रही। मृग ने विना कुछ दिये शुभ-भावना के प्रभाव से पचम स्वर्ग की प्राप्ति कर ली।[1]

महामुनि थावच्चापुत्र

द्वारिका के समृद्धिशाली श्रेष्ठिकुलो मे थावच्चापुत्र का प्रमुख स्थान था। इनकी अल्पायु मे ही इनके पिता के दिवगत हो जाने के कारण कुल का सारा कार्यभार थावच्चा गाथा-पत्नी चलाती रही। उसने अपने कुल की प्रतिष्ठा और धाक उसी प्रकार जमाये रखी जैसी कि श्रेष्ठि ने जमाई थी। थावच्चा गाथा-पत्नी की लोक मे प्रसिद्धि होने के कारण उसके पुत्र की भी (थावच्चापुत्र की भी) थावच्चापुत्र के नाम से ही प्रसिद्धि हो गई।

गाथा-पत्नी ने वडे लाड-प्यार से अपने पुत्र थावच्चापुत्र का लालन-पालन किया और ८ आठ वर्ष की आयु में उन्हे एक योग्य आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए रखा। कुशाग्रवुद्धि थावच्चापुत्र ने विनयपूर्वक अपने कला-चार्य के पास विद्याध्ययन किया और सर्वकलानिष्णात हो गये।

---

[1] (क) " " सुभभावणोवगयमाणसा य समुप्पण्णा वम्भलोयकप्पम्मि""

[चउवन महा. पु. चरिय, पृ २०९

(ख) ते त्रयस्तरुणा तेन, पतितेन हता मृता ।
पद्मोत्तरविमानान्तर्व्रह्मलोकेऽभवन् सुरा ॥७०॥

[त्रिपष्टि शलाका पु च., पर्व ८

हर्ष
यित्व

गाथा-पत्नी ने अपने इकलौते पुत्र का युवावस्था मे पदार्पण करते ही बड़ी धूमधाम से बत्तीस इभ्यकुल की सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर कन्याओ के साथ पाणिग्रहण कराया। थावच्चापुत्र पहले ही विपुल सम्पत्ति के स्वामी थे फिर कन्यादान के साथ प्राप्त सम्पदा के कारण उनकी समृद्धि और अधिक वृद्धिगत हो गई। वे बडे आनन्द के साथ गार्हस्थ्य-जीवन के भोगों का उपभोग करने लगे।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि अठारह हजार श्रमण और चालीस हजार श्रमणियो के धर्मपरिवार सहित विविध ग्राम-नगरो को अपने पावन चरणो से पवित्र करते हुए रैवतक पर्वत के नन्दन उद्यान मे पधारे।

प्रभु के शुभागमन के सुसम्वाद को पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी सुधर्मसभा की कौमुदी घटी बजवाई और द्वारिकावासियो को प्रभुदर्शन के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने की सूचना दी। तत्काल दशो दशार्ह, समस्त यादव-परिवार और द्वारिका के नागरिक स्नानानन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत हो भगवान् के समवसरण मे जाने के लिए कृष्ण के पास आये।

श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ हो दशों दशार्हों, परिजनो, पुरजनो, चतुरगिणी सेना और वासुदेव की सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ द्वारिका के राजमार्गो पर अग्रसर होते हुए भगवान् के समवसरण में पहुँचे। थावच्चा कुमार भी इस विशाल जनसमुदाय के साथ समवसरण में पहुँचा।

अत्यन्त प्रियदर्शी, नयनाभिराम एव मनोहारी भगवान् के दर्शन करते ही सबके नयन-कमल और हृदय-कुमुद विकसित हो गये। सबने बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन किया और यथोचित स्थान ग्रहण किया।

भगवान् की अघदलहारिणी देशना सुनने के पश्चात् श्रोतागण अपने २ आध्यात्मिक उत्थान के विविध संकल्पो को लिए अपने २ घर की ओर लौट गये।

थावच्चापुत्र भी भगवान् को वन्दन कर अपनी माता के पास पहुँचा और माता को प्रणाम कर कहने लगा – "अम्बे! मुझे भगवान् अरिष्टनेमि के अमोघ प्रवचन सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरी इच्छा संसार के विषय-भोगो से विरत हो गई है। मैं जन्म-मरण के बन्धनो से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने हेतु प्रभु की चरण-शरण मे प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।

अपने पुत्र की बात सुन कर गाथा-पत्नी थावच्चा अवाक् रह गई मानो उस पर अनभ्र वज्र गिरा हो। उसने अपने पुत्र को त्याग-मार्ग मे आने वाले घोर कष्टो से अवगत कराते हुए गृहस्थ-जीवन मे रह कर ही यथाशक्ति धर्म-साधना करते रहने का आग्रह किया पर थावच्चा कुमार के अटल निश्चय को देख कर अन्त मे उसने अपनी आन्तरिक इच्छा नही होते हुए भी उसे प्रव्रज्या ने की अनुमति प्रदान की।

गाथा-पत्नी ने बड़ी धूमधाम के साथ अपने पुत्र का अभिनिष्क्रमणोत्सव निश्चय किया। वह अपने कुछ आत्मीयो के साथ श्रीकृष्ण के प्रासाद

मे पहुँची और बहुमूल्य भेट अर्पित कर उसने कृष्ण से निवेदन किया – "राजराजेश्वर ! मेरा इकलौता पुत्र थावच्चा कुमार प्रभु अरिष्टनेमि के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। मेरी महती आकाक्षा है कि मैं वडे ठाट के साथ उसका निष्क्रमणोत्सव करू। अत आप कृपा कर छत्र, चवर और मुकुट प्रदान कीजिये।"

श्रीकृष्ण ने कहा – "देवानुप्रिये ! तुम्हे इसकी किंचित्मात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमणोत्सव करूगा।"

कृष्ण की बात से गाथा-पत्नी आश्वस्त हो अपने घर लौट आई। श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ हो चतुरंगिणी सेना के साथ थावच्चा गाथा-पत्नी के भवन पर गये और थावच्चापुत्र से वडे मीठे वचनो मे बोले – "देवानुप्रिय ! तुम मेरे वाहुवल की छत्रछाया मे वडे आनन्द के साथ सासारिक भोगो का उपभोग करो। मेरी छत्रछाया मे रहते हुए तुम्हारी इच्छा के विपरीत सिवा वायु के तुम्हारे शरीर का कोई स्पर्श तक भी नही कर सकेगा। तुम सासारिक सुखो को ठुकरा कर व्यर्थ ही क्यो प्रव्रजित होना चाहते हो ?"

थावच्चापुत्र ने कहा – "देवानुप्रिय ! यदि आप मृत्यु और बुढापे से मेरी रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर लेते हों तो मैं दीक्षित होने का विचार त्याग कर वेखटके सांसारिक सुखो को भोगने के लिए तत्पर हो सकता हूँ। वास्तव मे मैं इस जन्म-मरण से इतना उत्पीडित हो चुका हूँ कि गला फाड कर रोने की इच्छा होती है। त्रिखण्डाधिपते ! क्या आप यह उत्तरदायित्व लेते हैं कि जरा और मरण मेरा स्पर्श नही कर सकेंगे ?"

श्रीकृष्ण वडी देर तक थावच्चापुत्र के मुख की ओर देखते ही रहे और अन्त मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होने कहा – "जन्म, जरा और मरण तो दुर्निवार्य हैं। अनन्तवली तीर्थंकर और महान् शक्तिशाली देव भी इनका निवारण करने मे असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्म-मल का क्षय करने से ही सभव है।"

थावच्चापुत्र ने कहा – "हरे ! मैं इस जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को मूलत. विनष्ट करना चाहता हूँ जो विना प्रव्रज्या-ग्रहण के सभव नही अतः मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।"

परम विरक्त थावच्चापुत्र के इस ध्रुव-सत्य उत्तर से श्रीकृष्ण वड़े प्रभावित हुए। उन्होने तत्काल द्वारिका मे घोषणा करवा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। उनके साथ जो कोई राजा, युवराज, देवी, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माण्डविक, इभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति या सार्थवाह दीक्षित होना चाहते हो तो कृष्ण वासुदेव उन्हे सहर्ष आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके आश्रित-जनो के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व कृष्ण लेते है।"

श्रीकृष्ण की इस घोषणा को सुन कर थावच्चापुत्र के प्रति असीम अनुराग रखने वाले उग्र-भोगवशीय व इभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति आदि एक हजार पुरुष दीक्षित होने हेतु तत्काल वहाँ आ उपस्थित हुए।

स्वय श्रीकृष्ण ने जलपूर्ण चादी-सोने के घड़ो से थावच्चापुत्र के साथ-साथ उन एक हजार दीक्षार्थियो का अभिषेक किया और उन सब को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलकृत कर एक विशाल पालकी मे विठा उनका दीक्षा-महोत्सव किया।

निष्क्रमणोत्सव की शोभायात्रा मे सबसे आगे विविध वाद्यो पर मन को मुग्ध करने वाली मधुर धुन बजाते हुए वादको की कतारे, उनके पीछे वाद्य-ध्वनि के साथ-साथ पदक्षेप करती हुई वासुदेव की सेना, नाचते हुए तरल तुरंगों की सेना, फिर मेघगर्जना सा 'घर-घर' रव करती रथसेना, चिघाडते हुए दीर्घ-दन्त, मदोन्मत्त हाथियो की गजसेना और तदनन्तर एक हजार एक दीक्षार्थियों की देवविमान सी सुन्दर विशाल पालकी, उनके पीछे श्रीकृष्ण, दशार्ह, यादव कुमार और उनके पीछे लहराते हुए सागर की तरह अपार जन-समूह।

समुद्र की लहरों की तरह द्वारिका के विस्तीर्ण स्वच्छ राजपथ पर अग्रसर होता हुआ निष्क्रमणोत्सव का यह जलूस समवसरण की ओर बढा। समवसरण के छत्रादि दृष्टिगोचर होते ही दीक्षार्थी पालकी से उतरे।

श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र को आगे लिये प्रभु के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणापूर्वक उन्हे वन्दन किया। थावच्चापुत्र ने भगवान् को वन्दन किया और एक हजार पुरुषो के साथ सब आभूषणो को उतार स्वयमेव पंचमुष्टि लुचन कर प्रभु नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षित होकर थावच्चापुत्र ने भगवान् अरिष्टनेमि के स्थविरो के पास चौदह पूर्वो एव एकादश अगो का अध्ययन किया और चतुर्थ भक्तादि तपस्या से अपने कर्म-मल को साफ करने लगे।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने थावच्चाकुमार की आत्मनिष्ठा, तपोनिष्ठा, तीक्ष्ण बुद्धि और हर तरह योग्यता देखकर उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार मुनियो को उनके शिष्य रूप मे प्रदान किया और उन्हे भारत के विभिन्न जनपदों मे विहार कर जन-कल्याण करने की आज्ञा दी। अरणगार थावच्चापुत्र ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर भारत के सुदूर प्रान्तो मे अप्रतिहत विहार किया एवं धर्म का प्रचार करते हुए अनेक भव्यो का उद्धार किया।

अनेक जनपदो मे विहार करते हुए थावच्चापुत्र अपने एक हजार शिष्यो के साथ एक समय शैलकपुर पधारे। वहां आपके तात्त्विक एवं विरक्तिपूर्ण उपदेश को सुनकर 'शैलक' जनपद के नरपति 'शैलक राजा' ने अपने पथक आदि पाँच सौ मन्त्रियो के साथ श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

इस प्रकार अनेको धर्मपथ से भूले-भटके लोगो को सत्पथ पर अग्रसर करते हुए थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी पधारे।

सौगन्धिका नगरी मे अरणगार थावच्चापुत्र के पधारने से कुछ दिनो पहले वेद-वेदांग और साख्यदर्शन के पारगामी गैरुक वस्त्रधारी शुक नामक प्रकाण्ड विद्वान् परिव्राजकाचार्य आये थे। शुक के उपदेश से सौगन्धिका नगरी का सुदर्शन नामक प्रतिष्ठित श्रेष्ठि वडा प्रभावित हुआ और शुक द्वारा प्रतिपादित शौचधर्म को स्वीकार कर वह शुक का उपासक वन गया था।

अरणगार थावच्चापुत्र के सौगन्धिका नगरी मे पधारने की सूचना मिलते ही सुदर्शन सेठ और सौगन्धिका नगरी के निवासी उनका धर्मोपदेश सुनने गये। उपदेश-श्रवरण के पश्चात् सुदर्शन ने थावच्चापुत्र से धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान सम्वन्धी अनेक प्रश्न किये। थावच्चापुत्र के युक्तिपूर्ण और सारगर्भित उत्तर से सुदर्शन के सव संशय दूर हो गये और उसने थावच्चा पुत्र से श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

किसी अन्य स्थान पर विचरण करते हुए शुक परिव्राजक को जव सुदर्शन के श्रमणोपासक बनने की सूचना मिली तो वे सौगन्धिका नगरी आये और सुदर्शन के घर पहुँचे।

किन्तु सुदर्शन से पूर्व की तरह अपेक्षित वन्दन, सत्कार, सम्मान न पाकर शुक ने उससे उस उदासीनता और उपेक्षा का कारण पूछा।

सुदर्शन ने खडे हो हाथ जोडकर उत्तर दिया—"विद्वन्! मैने अरणगार थावच्चापुत्र से जीवाजीवादि तत्त्वो का वास्तविक स्वरूप समझ कर विनयमूलक धर्म स्वीकार कर लिया है।"

परिव्राजकाचार्य शुक ने सुदर्शन से पूछा—"तेरे वे धर्माचार्य कहाँ हैं?"

सुदर्शन ने उत्त[illegible]चा[illegible]के वाहर नीलाशोक उद्यान मे विराजमान हैं।" [illegible]थ उपकारक हुए अपनी [illegible]

शुक ने क[illegible]हँचा। उन्हे [illegible]-गुरु के पास जाता हूँ और उनसे सैद्धान्तिक, तात्त्विक, धर्म सम्वन्धी और व्याकरण विपयक जटिल प्रश्न पूछता हूँ। अगर उन्होने मेरे सव प्रश्नो का सतोपप्रद उत्तर दिया तो मैं उनको नमस्कार करूँगा अन्यथा उन्हे अकाट्य युक्तियो और नय-प्रमाण से निरुत्तर कर दूंगा।"

यह कह कर परिव्राड्राज शुक अपने एक हजार परिव्राजको और सुदर्शन सेठ के साथ नीलाशोक उद्यान मे अनगार थावच्चापुत्र के पास पहुचे। उसने उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न रखे।

अरणगार थावच्चापुत्र ने उसके प्रत्येक प्रश्न का प्रमाण नय एवं युक्तिपूर्ण ढग से हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर दिया। शुक को उन उत्तरो से पूर्ण संतोप के साथ वास्तविक वोध हुआ। उसने थावच्चा पुत्र से प्रार्थना की कि वे उसे धर्मोपदेश दें।

अरणगार थावच्चापुत्र से हृदयस्पर्शी धर्मोपदेश सुन कर शुक ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और तत्काल अपने एक हजार परिव्राजको के साथ पंचमुष्टि-लु चन कर उनके पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की तथा अरणगार थावच्चापुत्र के पास चौदह पूर्व एव एकादश अगो का अध्ययन कर स्वल्प समय में ही अध्यात्मविद्या का वह पारगामी बन गया। थावच्चापुत्र ने शुक को सब तरह से योग्य समझ कर आज्ञा दी कि वह अपने एक हजार शिष्यों के साथ भारतवर्ष के सन्निकट व सुदूर प्रदेशो मे विचरण कर भव्य प्राणियो को धर्म-मार्ग पर आरूढ करे।

अपने गुरु थावच्चा पुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर महामुनि शुक ने अपने एक हजार अरणगारो के साथ अनेक प्रदेशो मे धर्म का प्रचार किया। थावच्चापुत्र के श्रमणोपासक शैलकपुर के महाराजा शैलक ने भी शुक के उपदेश से प्रभावित हो पथक आदि अपने पाच सौ मन्त्रियो के साथ श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षो की कठोर सयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियो का कल्याण कर अन्त मे पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की सलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर में पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की सलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयकर व्याधियो से पीड़ित हो गये थे। यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पथक के प्रयास से सम्हल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन मे लग गये। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है वे अन्त मे आठो कर्मो का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणो ने अरिहत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढाते ... त्मा का कल्याण किया। ... मनिष्ठा, तपो ...

अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यो का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे। वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नही रहे। उन्होने दूर-दूर तक विहार किया। सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है। यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नही चलता फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकाशत. द्वारिका रहा है। वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनो की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है। भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है।

एक समय की वात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन में विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रो ने राज्यवैभव छोड कर प्रभु के चरणो मे प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरी वार हिमवत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रो के भी इसी भांति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है। तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की। सारणकुमार की पचास पत्निया थी पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होने सव भोगो को ठुकरा दिया। वलदेव पुत्र सुमुख, दुर्मुख, कूपक, और वसुदेव पुत्र दारुक एव अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका मे ही हुई प्रतीत होती है। फिर वसुदेव और धारिणी के पुत्र जालि, मयालि, उपयालि, पुरुषसेन, वारिषेण तथा कृष्ण के नन्दन प्रद्युम्न एव जाम्बवती के पुत्र साम्वकुमार, वैदर्भी-कुमार अनिरुद्ध तथा समुद्रविजय के सत्यनेमि, दृढनेमि ने तथा कृष्ण की अन्य रानियो ने भी द्वारिका मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। रानियो के अतिरिक्त मूल-श्री और मूलदत्ता नाम की दो पुत्रवधुओ की दीक्षा भी द्वारिका मे ही हुई थी। इन सवसे ज्ञात होता है कि कृष्ण वासुदेव के परिवार मे सभी लोग भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे।

पाण्डवो का वैराग्य और मुक्ति

श्रीकृष्ण के अन्तिम आदेश का पालन करते हुए जव जराकुमार पाण्डवो के पास पाण्डव-मथुरा[1] मे पहुँचा तो उसने श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त कौस्तुभ मणि पाण्डवों को दिखाई और रोते-रोते द्वारिकादाह, यदुवश के सर्वनाश और अपने द्वारा हरिण की आशंका से चलाये गये वाण के प्रहार से श्रीकृष्ण के निधन आदि की सारी दु.खद घटनाओ का विवरण उन्हे कह सुनाया।

जराकुमार के मुख से हृदयविदारक शोक-समाचार सुन कर पाचो पाण्डव और द्रौपदी आदि शोकाकुल हो विलख-विलख कर रोने लगे। अपने परम सहायक और अनन्य उपकारक श्रीकृष्ण के निधन से तो उन्हे वज्रप्रहार से भी अधिक आघात पहुँचा। उन्हे सारा विश्व शून्य सा लगने लगा। उन्हें ससार के जजाल भरे क्रिया-कलापो से सर्वथा विरक्ति हो गई।

घट-घट के मन की वात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु अरिष्टनेमि ने पाण्डवो की सयम-साधना की आन्तरिक इच्छा को जान कर तत्काल अपने चरम-शरीरी चार ज्ञान के धारक स्थविर मुनि धर्मघोष को ५०० मुनियो के साथ पाण्डवमथुरा भेजा।[2] पाण्डवमथुरा मे ज्योही स्थविर धर्मघोष के आने का

---

[1] ..... केणइ कालतरेण सपत्तो दाहिण महुर। [च म पु च, पृ २०५]

[2] तान् प्रविव्रजिषून्ज्ञात्वा, श्रीनेमि प्राहिणोन्मुनिम्।
धर्मघोप चतुर्ज्ञान, मुनिपञ्चशतीयुतम् ॥९२॥
[त्रिपष्टि शलाका पुरुप चरित्र, पर्व ८, सर्ग १२]

समाचार पाण्डवो ने सुना तो वे सपरिवार मुनि को वन्दन करने गये और उनके उपदेश से आत्मशुद्धि को ही सारभूत समझ कर युधिष्ठिर आदि पाचो भाइयो ने वसुदेव पुत्र जराकुमार[1] को पाण्डव-मथुरा का राज्य दे धर्मघोष के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की ।

महारानी द्रौपदी भी आर्या सुव्रता के पास दीक्षित हो गई ।

दीक्षित होने के पश्चात् पाचो पाण्डवों और सती द्रौपदी ने क्रमश. चौदह पूर्व और एकादश अगो का अध्ययन करने के साथ-साथ बडी घोर तपस्याए की । कठोर सयम और तप की तीव्र अग्नि मे अपने कर्मसमूह को भस्मसात् करते हुए जिस समय युधिष्ठिर, भीम आदि पाचो पाण्डव-मुनि ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे उस समय उन्होने सुना कि अरिहत अरिष्टनेमि सौराष्ट्र प्रदेश मे अनेक भव्य जीवो का उद्धार करते हुए विचर रहे है तो पांचो मुनियो के मन में भगवान् के दर्शन एव वन्दन की तीव्र उत्कण्ठा हुई । उन्होने अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर सौराष्ट्र की ओर विहार किया । पाचो मुनि मास, अर्द्धमास की तपस्या करते हुए सौराष्ट्र की ओर बढते हुए एक दिन उज्जयन्तगिरि से १२ योजन दूर हस्तकल्प[2] नगर के बाहर सहस्राम्रवन मे ठहरे ।

युधिष्ठिर मुनि को उसी स्थान पर छोड कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव मास-तप के पारण हेतु नगर मे भिक्षार्थ गये । भिक्षार्थ घूमते समय उन्होने सुना कि भगवान् नेमिनाथ उज्जयन्तगिरि पर एक मास की तपस्यापूर्वक ५३५ साधुओ के साथ चार अघाती कर्मो का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं । चारों मुनि यह सुन कर बडे खिन्न हुए और तत्काल ही सहस्राम्रवन में लौट आये ।

युधिष्ठिर के परामर्शानुसार पूर्वगृहीत आहार का परिष्ठापन कर पाचो मुनि शत्रुजय पर्वत पर पहुँचे और वहां उन्होने सलेखना की ।

अनेक वर्षो की सयम-साधना कर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने २ मास की सलेखना से आराधना कर कैवल्य की उपलब्धि के पश्चात् अजरामर निर्वाण-पद प्राप्त किया ।

आर्या द्रौपदी भी अनेक वर्षों तक कठोर सयम-तप की साधना और एक मास की सलेखना मे काल कर पचम कल्प मे महर्द्धिक देव-रूप से उत्पन्न हुई ।[3]

---

[1] (क) जारेय न्यस्य ते राज्ये ·· · ··।
[त्रिषष्टि श पु च, ८।१२, श्लोक ९३]
(ख) · · ···सयलसामन्ताण समप्पिऊण णिवेसियो नियय रज्जे जराकुमारो ।
[च म पु च, पृष्ठ २०५]
(ग) ज्ञाता धर्म कथा मे पाण्डुसेन को राज्य देने का उल्लेख है ।

[2] अस्माद् द्वादशयोजनानि स गिरिर्नेमि प्रगे वीक्ष्य तत्··· ···।
[त्रिषष्टि श पु. च, ८।१२, श्लो १२६]

[3] ज्ञाता धर्म कथाग १।१६ ।

धर्म-परिवार

भगवान् अरिष्टनेमि के सघ में निम्न धर्म-परिवार था –

गणधर एवं गण	–	ग्यारह (११) वरदत्त आदि गणधर एव ११ ही गण[1]
केवली	–	एक हजार पाच सौ (१५००)
मन.पर्यवज्ञानी	–	एक हजार (१०००)
अवधिज्ञानी	–	एक हजार पाच सौ (१५००)
चौदह पूर्वधारी	–	चार सौ (४००)
वादी	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	अठारह हजार (१८०००)
साध्वी	–	चालीस हजार (४००००)
श्रावक	–	एक लाख उन्हत्तर हजार (१६९०००)
श्राविका	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३३६०००)
अनुत्तरगति वाले	–	एक हजार छः सौ (१६००)

एक हजार पाच सौ (१५००) श्रमण और तीन हजार (३०००) श्रमणियां, इस प्रकार प्रभु के कुल चार हजार पांच सौ अन्तेवासी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

परिनिर्वाण

कुछ कम सात सौ वर्ष की केवलीचर्या के बाद प्रभु ने जब आयुकाल निकट समझा तो उज्जयतगिरि पर पाच सौ छत्तीस साधुओ के[2] साथ एक मास का अनशन ग्रहण कर आषाढ शुक्ला अष्टमी को चित्रा नक्षत्र के योग मे मध्य-रात्रि के समय आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाति-कर्मों का क्षय कर निषद्या आसन से वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। अरिहन्त अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमार अवस्था मे रहे, चौवन दिनो तक छद्मस्थ रूप से साधनारत रहे और कुछ कम सात सौ वर्ष केवली रूप में विचरे। इस तरह प्रभु की कुल आयु एक हजार वर्ष की थी।

ऐतिहासिक परिपार्श्व

आधुनिक इतिहासज्ञ भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ को ही अब तक ऐतिहासिक पुरुष मान रहे थे परन्तु कुछ वर्षों के तटस्थ एव निष्पक्ष अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि अरिहन्त अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक

---

[1] (क) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते।

[प्रवचन सारोद्धार, पूर्व भाग, द्वार १५, पृष्ठ ८९ (२)]

(ख) अरहओण अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा, अट्ठारस गणहरा हुत्था ॥१७५॥

[कल्प० ७ स०]

[2] आव० निर्युक्ति, गाथा २३०, पृ. २१४ प्रथम।

पुरुष थे। प्रसिद्ध कोषकार डॉ० नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्वज्ञ डॉ० फूहर, प्रोफेसर वारनेट, कर्नल टॉड, मिस्टर करवा, डॉ० हरिसन, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ० राधाकृष्णन् आदि अनेक विज्ञों ने धारणा व्यक्त की है कि अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

ऋग्वेद मे अरिष्टनेमि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है।[1] महाभारत मे तार्क्ष्य शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त हुआ है।[2] उन तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष सम्बन्धी उपदेश दिया है[3] उसकी तुलना जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी मन्तव्यों से की जा सकती है। तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने सगर से कहा – "सगर! ससार मे मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है किन्तु धन, धान्य, पुत्र, कलत्र एव पशु आदि मे आसक्त मूढ मनुष्य को इसका यथार्थ ज्ञान नही होता। जिसकी बुद्धि विषयों मे अनुरक्त एवं मन अशान्त है ऐसे जनो की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। स्नेह-बन्धन मे बँधा हुआ मूढ़ मोक्ष पाने के योग्य नही हैं।"

ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष मे विश्वास नही करते थे, एतदर्थ यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नही हो सकता। ऋग्वेद मे भी तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। इसके लिए विशेष पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता है "लंकावतार" के तृतीय परिवर्तन मे बुद्ध के अनेक नामो मे अरिष्टनेमि का नाम भी आया है। वहा लिखा है कि एक ही वस्तु के अनेक नाम होने की तरह बुद्ध के भी असंख्य नाम हैं। लोग इन्हे तथागत, स्वयभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर, विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों से पुकारते हैं। यह उल्लेख इससे पूर्व अरिष्टनेमि का होना प्रमाणित करता है। 'ऋषि-भासित सुत्त' में अरिष्टनेमि और कृष्ण-निरूपित पैतालीस अध्ययन हैं, उनमे बीस अध्ययनो के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल मे हुए थे। उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थो में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है। इतना ही नही तीर्थंकर अरिष्टनेमि का प्रभाव भारत के बाहर विदेशो में भी पहुचा प्रतीत होता है। कर्नल टॉड के शब्द हैं – "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे चार बुद्ध या मेधावो महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डोनेविया निवासियों के प्रथम "ओडिन" और चीनियो के प्रथम "फो" देवता थे।" धर्मानन्द कौशाम्बी ने घोर आगिरस को नेमिनाथ माना है।

---

[1] ऋग्वेद. १।१४।८६।६।१।२४।१८०।१०।३।४।५३।१७।१०।१२।१७८।१। मथुरा १९६०

[2] महाभारत का शान्ति पर्व २८८।४।।२८८।५।६।

[3] सगर चक्रवर्ती से भिन्न, यह कोई अन्य राजा सगर होना चाहिए।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने अपने "वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास" मे अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है, किन्तु उन्होने इससे अधिक जैन ग्रन्थो में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त का कोई उल्लेख नही किया। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने ग्रन्थ में डॉ० राय चौधरी ने कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के सम्बन्ध मे उपलब्ध प्रमाणों का संकलन किया है। अत. उनकी दृष्टि उसी ओर सीमित रही है।[1]

प्रभास पुराण मे भी अरिष्टनेमि और कृष्ण से सम्बन्धित इस प्रकार का उल्लेख है।[2] यजुर्वेद मे स्पष्ट उल्लेख है – "अध्यात्मवेद को प्रकट करने वाले ससार के सब जीवो को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवो की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ अरिष्टनेमि के लिए आहुति समर्पित है।"[3]

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के माडुक्य प्रश्न और मु डक में भी अरिष्टनेमि का नाम आया है।

महाभारत मे विष्णु के सहस्र नामो का उल्लेख है। उनमे "शूरः शौरिर्जनेश्वर." पद व्यवहृत हुआ है।

इन श्लोकों का अन्तिम चरण ध्यान देने योग्य है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे जयपुर मे टोडरमल नामक एक जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होने "मोक्ष मार्ग प्रकाश" नामक अपने ग्रन्थ मे 'जनेश्वर' के स्थान पर 'जिनेश्वर' लिखा है। दूसरी बात यह है कि इसमे श्रीकृष्ण को 'शौरि' लिखा है। आगरा जिले मे वटेश्वर के पास शोरिपुर नामक स्थान है। जैन ग्रन्थो के अनुसार आरम्भ मे यही पर यादवों की राजधानी थी। यही से यादवगण भाग कर द्वारिकापुरी पहुचे थे। यही पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, अत उन्हे 'शौरि' भी कहा है, और वे जिनेश्वर तो थे ही।

उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट होता है कि भगवान् अरिष्टनेमि निस्सदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अब तो आजकल के विद्वान् भी उन्हे ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंश-वर्णन

ससार के प्राय. सभी प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासज्ञो का अभिमत है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष हो गये हैं। ऐसी स्थिति मे श्रीकृष्ण

---

[1] जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. १७० से।

[2] अशोकस्तारणस्तार', शूर' शौरिर्जनेश्वर ॥५०॥
कालनेमिनिहा वीर शूरः शौरिर्जनेश्वर ॥८२॥

[3] वाजस्यनु प्रसव बभूवे मा च विश्वा भुवनानि सर्वत, स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजा पुष्टि वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा ॥ [वाजसनेयि माध्यदिन शुक्ल यजुर्वेद सहिता अ० ९ मत्र २५। यजुर्वेद सातवलेकर सस्करण (वि० स० १९८४)]

के ताऊ के सुपुत्र भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने मे कोई दो राय नही हो सकती और न इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार के विवाद की ही गुजायश रहती है।

फिर भी आज तक यह प्रश्न इतिहासज्ञो के समक्ष अनबूझी पहेली की तरह उपस्थित रहा है कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे जहा कि यादववश का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है वहा अरिष्टनेमि का कही उल्लेख है अथवा नही।

इस प्रहेलिका को हल करने के लिये इतिहास के विद्वानो ने समय-समय पर कई प्रयास किये पर उनकी शोध के केन्द्रबिन्दु सभवतः श्रीमद्भागवत और महाभारत ही रहे अत इस पहेली के समाधान में उन्हे पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। फलत. अन्यत्र सूक्ष्म अन्वेषण एव गहन गवेषणा के अभाव मे इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से संसार को वचित ही रहना पडा।

इस तथ्य के सम्बन्ध में यह धूमिल एव अस्पष्ट स्थिति हमे बहुत दिनो से खलती रही है। हमने वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थो मे इस पहेली के हल को ढूढने का अनवरत प्रयास किया और अन्ततोगत्वा वेदव्यास प्रणीत 'हरिवंश' को गहराई से देखा तो यह उलझी हुई गुत्थी स्वतः सुलझ गई और भारतीय इतिहास का एक धूमिल तथ्य स्पष्टतः प्रकट हो गया।

हरिवंश मे महाभारतकार वेदव्यास ने श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का चचरे भाई होना स्वीकार किया है। इस विषय से सम्बन्धित 'हरिवश' के मूल श्लोक इस प्रकार है :-

> वभूवुस्तु यदो: पुत्रा:, पच देवसुतोपमा:।
> सहस्रद पयोदश्च, क्रोष्टा नीलांऽजिकस्तथा ॥१॥
>
> [हरिवंश पर्व १, अध्याय ३३]

अर्थात् महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अजिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पाच पुत्र हुए।

> गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोर्भार्ये वभूवतु:।
> गान्धारी जनयामास, अनमित्र महावलम् ॥१॥
> माद्री युधाजितं पुत्र, ततोऽन्य देवमीढुषम् ॥
> तेपा वशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीना कुलवर्द्धन: ॥२॥
>
> [हरिवश, पर्व १, अध्याय ३४]

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित् और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए।

माद्र्या· पुत्रस्य जज्ञाते, सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णे·, स्वफल्कश्चित्रकस्तथा ।।३।।

[वही]

क्रोष्टा के बडे पुत्र युधाजित् के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था।

.... ।
अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिण ।।११।।

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए।

चित्रकस्याभवन् पुत्रा, पृथुर्विपृथुरेव च ।
अश्वग्रीवोऽश्ववाहुश्च, सुपार्श्वकगवेषणौ ।।१५।।
अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्माधर्मभृत्तथा ।
सुवाहुर्वहुवाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ।।१६।।

[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

चित्रक के पृथु,[1] विपृथु, अश्वग्रीव, अश्ववाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुवाहु और वहुवाहु नामक वारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रिया हुईं।

श्री अरिष्टनेमि के वंशवर्णन के साथ-साथ श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन भी 'हरिवंश' मे वेदव्यास ने इस प्रकार किया है .

अश्मक्यां जनयामास, शूर वै देवमीढुष. ।
महिष्यां जज्ञिरे शूराद्, भोज्यायां पुरुषा दश ।।१७।।
वसुदेवो महावाहु पूर्वमानकदुंदुभिः ।
... .।।१८।।
देवभागस्ततो जज्ञे, तथा देवश्रवा पुन. ।
अनाधृष्टि कनवको, वत्सवानथ गृंजिम. ।।२१।।
श्याम· शमीको गण्डूषः, पंच चास्य वरागना. ।
पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुतदेवा श्रुतश्रवा ।।२२।।
राजाधिदेवी च तथा, पचैते वीरमातर ।
. . .. ।।२३।।

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३४]

---

[1] श्रीमद्भागवत मे वृष्णि के दो पुत्रो का नाम स्वफल्क और चित्ररथ (चित्रक) दिया है। चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रो का नाम देते हुए 'पृथुर्विपृथु धन्याद्या' दूसरे पाठ मे 'पृथुर्विदूरथाद्याश्च' इतना ही उल्लेख कर केवल तीन और दो पुत्रो के नाम देने के पश्चात् आदि-आदि लिख दिया है।

[श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २४, श्लोक १८]

वसुदेवाच्च देवक्या, जज्ञे शौरि महायशा ।
. ... ॥७॥

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३५]

अर्थात् यदु के क्रोष्टा, क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के पुत्र शूर तथा शूर के वसुदेव आदि दश पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पाच पुत्रियां हुईं। वसुदेव की देवकी नाम की रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।

इस प्रकार वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थ 'हरिवश' मे दिये गये यादववश के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे और दोनो के परदादा युधाजित् और देवमीढुष सहोदर थे।

दोनो परम्पराओ मे अन्तर इतना ही है कि जैन परम्परा के साहित्य मे अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का वडा सहोदर माना गया है; जव कि 'हरिवश पुराण' मे चित्रक और वसुदेव को चचेरे भाई माना है। सभव है कि चित्रक (श्रीमद्भागवत के अनुसार चित्ररथ) समुद्रविजय का ही अपर नाम रहा हो।

पर दोनो परम्पराओ मे श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण को चचेरे भाई मानने में कोई दो राय नही है।

दोनो परम्पराओं के नामो की असमानता लम्बे अतीत मे हुए ईति, भीति, दुष्काल, अनेको घोर युद्ध, गृह-कलह, विदेशी आक्रमण आदि अनेक कारणो से हो सकती है।

किन्तु जैन साहित्य ने तीर्थंकरो के सम्वन्ध मे जो विवरण आगमो और इतिहास-ग्रन्थो मे सजोये रखा है, उसे प्रामाणिक मानने मे कोई संदेह की गुजायश नही रहती।

इतना ही नही 'हरिवश' मे श्रीकृष्ण की प्रमुख महारानी सत्यभामा की मझली बहिन व्रतिनी-दृढव्रता का भी उल्लेख है[1], जिसके विवाह होने का वहा कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। दृढव्रता, इस गुण-निष्पन्न नाम से सम्भव है कि वह राजीमती के लिये ही सकेत हो, कारण कि राजीमती से वढ कर व्रतिनी अथवा दृढव्रता उस समय के कन्यारत्नो में और कौन हो सकती है जिसने केवल वाग्दत्ता होते हुए भी तोरण से अपने वर के लौट जाने पर आजीवन अविवाहित रहने का प्रण कर दृढता के साथ महाव्रतो का पालन किया।

इतिहासप्रेमियो के विचारार्थ व पाठको की सुविधा के लिये श्रीकृष्ण व श्री अरिष्टनेमि से सम्वन्धित यदुकुल के तुलनात्मक वशवृक्ष यहा दिये जा रहे हैं।

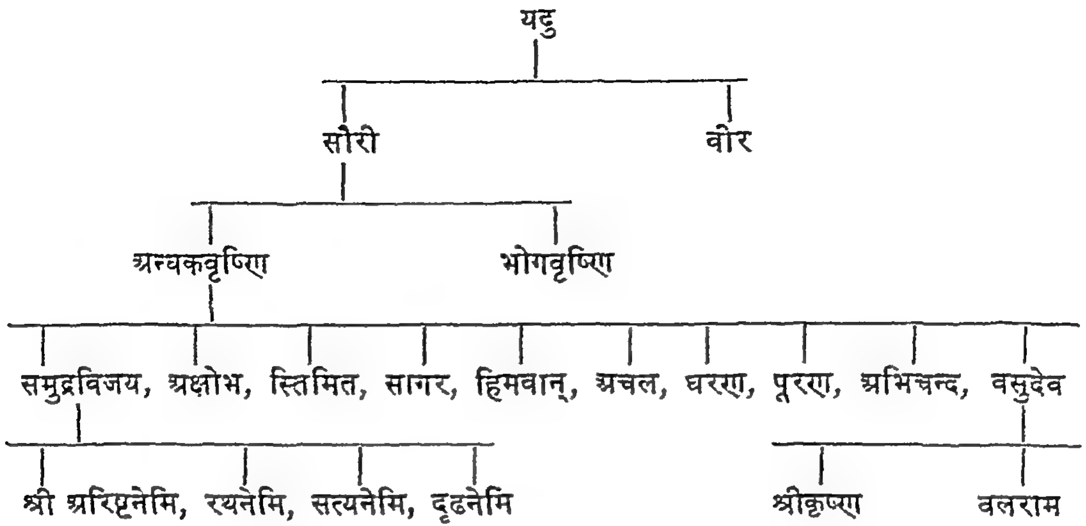
---

[1] सत्यभामोत्तमा स्त्रीणा, व्रतिनी च दृढव्रता।

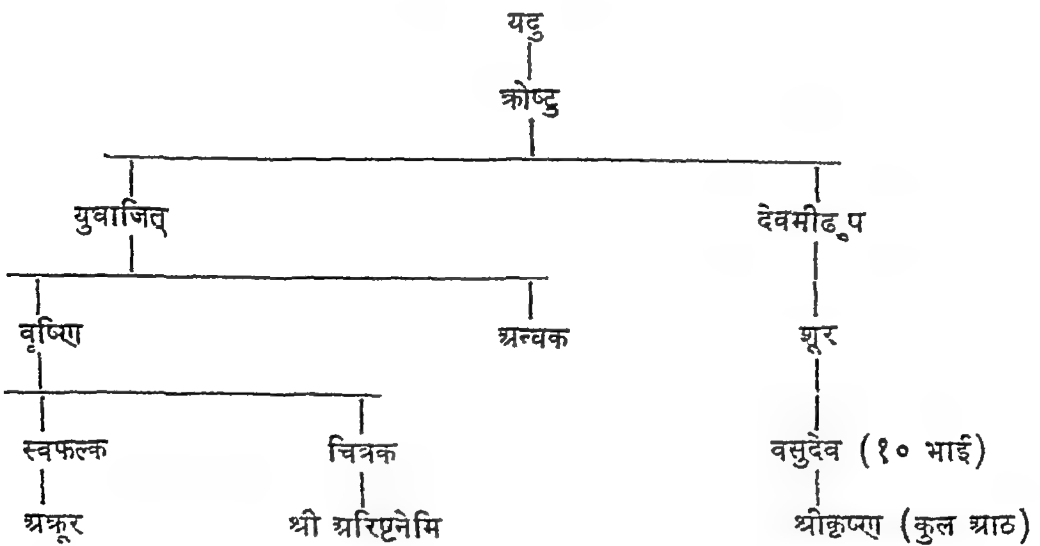
[हरिवश पर्व, अ० ३८, श्लोक ४७]

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के जैन व वैदिक परम्परा के अनुसार वंशवृक्ष –

जैन परम्परा



वैदिक परम्परा



वैदिक परम्परा की ही दूसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष –

हर्यश्व

१ यदु

२. माधव

३ सत्वत

४. भीम
|
५. अन्धक
|
६ रैवत
|
७ विश्वगर्भ
|
८. वसु
|
९. वसुदेव
|
१०. श्रीकृष्ण[1]

---

[1] आसीद् राजा मनोर्वंशे, श्रीमानिक्ष्वाकुसभव. ।
हर्यश्व इति विख्यातो, महेन्द्रसम विक्रम· ।।१२।।
तस्यैव च सुवृत्तस्य, पुत्रकामस्य धीमत ।
मधुमत्या सुतो जज्ञे, यदुर्नाम महायशा ।।४४।।
[हरिवश, पर्व २, अध्याय ३७]
स तासु नागकन्यासु, कालेन महता नृप ।
जनयामास विक्रान्तान्पच पुत्रान् कुलोद्वहान् ।। १ ।।
मुचुकुन्द महावाहु, पद्मवर्णं तथैव च ।
माधव सारस चैव, हरित चैव पार्थिवम् ।। २ ।।
एवमिक्ष्वाकुवशात्तु यदुवशो विनि सृतः ।
चतुर्धा यदुपुत्रैस्तु, चतुर्भिर्भिद्यते पुन. ।।३५।।
स यदुर्माधवे राज्य, विसृज्य यदुपुगवे ।
त्रिविष्टपं गतो राजा, देह त्यक्त्वा महीतले ।।३६।।
वभूव माधवसुत सत्वतो नाम वीर्यवान् ।
.... ।।३७।।
सत्वतस्य सुतो राजा, भीमो नाम महानभूत् ।
. ... ।।३८।।
....।
अन्वको नाम भीमस्य, सुतो राज्यमकारयत् ।।४३।।
अन्वकस्य सुतो जज्ञे, रैवतो नाम पार्थिव ।
ऋक्षोऽपि रैवतान्जज्ञे, रम्ये पर्वतमूर्धनि ।।४४।।
रैवतस्यात्मजो राजा, विश्वगर्भो महायशा ।
वभूव पृथिवीपाल पृथिव्या प्रथित. प्रभु ।।४६।।

वैदिक परम्परा की ही तीसरी मान्यता के अनुसार यादव हो गया। शोक
१. यदु ने ने ब्रह्म का
२ क्रोष्टा की थी
३. वृजिनिवान् व
४. उषंगु
५. चित्ररथ
६ शूर ...(छोटा पुत्र)
७ वसुदेव
८. श्रीकृष्ण ...(वासुदेव)

वैदिक परम्परा की ही चौथी मान्यता के अनुसार यादव वशवृक्ष[2]

तस्य तिसृषु भार्यासु, दिव्यरूपासु केशव ।
चत्वारो जज्ञिरे पुत्रा, लोकपालोपमा शुभा ॥४७॥
वसुर्वभ्रु सुषेणश्च, सभाक्षश्चैव वीर्यवान् ।
यदु प्रवीरा प्रख्याता, लोकपाला इवापरे ॥४८॥
वसोस्तु कुन्ति विषये, वसुदेव सुतो विभु. ।
.... ॥५०॥
एष 'ते स्वस्य वशस्य, प्रभव सप्रकीर्तित ।
श्रुतो मया पुरा कृष्ण, कृष्णद्वैपायनान्तिकात् ॥५२॥

[हरिवश, पर्व २, अध्याय ३८]

१ वुधात् पुरुरवश्चापि, तस्मादायुर्भविष्यति ।
नहुषो भविता तस्माद्, ययातिस्तस्य चात्मजः ॥२७॥
यदुस्तस्मान्महासत्वा , क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति ।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो, वृजिनिवान् भविष्यति ॥२८॥
वृजिनिवतश्च भविता उपगुरपराजित. ।
उपगोर्भविता पुत्र , शूरश्चित्ररथस्तथा ॥२६॥
तस्य त्ववरज' पुत्र शूरो नाम भविष्यति ।
. ... ॥३०॥
स शूर क्षत्रियश्रेष्ठो, महावीर्यो महायशा ।
स्ववश विस्तरकर, जनयिष्यति मानद ॥३१॥
वसुदेव इति ख्यात, पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।
तस्य पुत्रश्चतुर्वाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥३२॥

[महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४७]

२ ययातेर्देवयान्या तु, यदुर्ज्येष्ठोऽभवत् सुत ।
यदोरभूदन्ववाये, देवमीढ इति स्मृत. ॥ ६ ॥
यादवस्तस्य तु सुत , शूरस्त्रैलोक्यसम्मत ।
शूरस्य शौरिर्नृवरो, वसुदेवो महायशा. ॥ ७ ॥

[महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४]

४. ...
... (इनके वश मे देवमीढ नाम से विख्यात एक यादव हो गये है)[१]
३ देवमीढ
४. शूर
५. वसुदेव
६ श्रीकृष्ण

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

भगवान् अरिष्टनेमि के निर्वाण के पश्चात् और भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म से पूर्व के मध्यकाल मे अर्थात् भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म-शासन मे इस अवसर्पिणी काल का भारतवर्ष का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ। ब्रह्मदत्त का जीवन एक ओर अमावस्या की दुखद, वीभत्स अन्धेरी रात्रि की तरह भीपण दु.खों से भरपूर; और दूसरी ओर शरद पूर्णिमा की सुखद सुहावनी चटक-चांदनी से भरी हुई रात्रि की तरह सासारिक सुखों से ओतप्रोत रहा। इसके साथ ही साथ ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती-जीवन के बाद के एवं पहले के भव दारुण से दारुणतम दु खो के केन्द्र रहे।

ब्रह्मदत्त के ये भव भीषण भवाटवी के और भवभ्रमण की भयावहता के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते है। उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

काम्पिल्य नगर के पाचालपति ब्रह्म की महारानी चुलनी ने गर्भधारण के पश्चात् चक्रवर्ती के शुभजन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। समय पर महारानी चुलनी ने तपाये हुए सोने के समान कान्ति वाले परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया।

ब्रह्म नृपति को इस सुन्दर-तेजस्वी पुत्र का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण (आत्मरमण) के समान परम आनन्द की अनुभूति हुई इसलिये बालक का नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। माता-पिता और स्वजनो को अपनी बाललीलाओ मे आनन्दित करता हुआ बालक ब्रह्मदत्त शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र की तरह बढने लगा।

काशी-नरेश कटक, हस्तिनापुर के राजा कणेरुदत्त, कोशलेश्वर दीर्घ और चम्पापति पुष्पचूलक ये चार नरेश्वर काम्पिल्याधिपति ब्रह्म के अन्तरग मित्र थे। इन पाचो मित्रो मे इतना घनिष्ठ प्रेम था कि वे पाचो राज्यो की राजधानियों मे क्रमश एक-एक वर्ष साथ ही रहा करते थे। निश्चित क्रम के अनुसार वे पाचो मित्र वर्षभर साथ-साथ रहने के लिये काम्पिल्यपुर मे एकत्रित हुए। आमोद-प्रमोद के साथ पाचो मित्रो को काम्पिल्यपुर मे रहते हुए काफी समय बीत गया।

---

[१] इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवत. यहा एक, दो या इससे अधिक भी कुछ राजाओ का नामोल्लेख नही किया गया है। [सम्पादक]

एक दिन अचानक ही महाराजा ब्रह्म का देहावसान हो गया। शोक सन्तप्त परिजन, पुरजन और काशीपति आदि चारो मित्र राजाओ ने ब्रह्म का अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उस समय ब्रह्मदत्त की आयु केवल वारह वर्ष की थी अतः काशीपति आदि चारों नृपतियो ने मन्त्रणा कर यह निश्चय किया कि जब तक ब्रह्मदत्त युवा नही हो जाय तब तक एक-एक वर्ष के लिये उन चारो मित्रो मे से एक नरेश काम्पिल्यपुर मे ब्रह्मदत्त का और काम्पिल्य के राज्य का प्रहरी की तरह सरक्षक वन कर रहे।

इस सर्वसम्मत निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिये कोशलनरेश दीर्घ को ब्रह्मदत्त और उसके राज्य का सरक्षक नियुक्त किया गया और शेप तीनों राजा अपनी २ राजधानी को लौट गये।

कोशलपति दीर्घ वडा विश्वासघातक निकला। शनै.शनै उसने न केवल काम्पिल्य के कोष और राज्य पर ही अपना कब्जा किया अपितु अपने दिवंगत मित्र की पत्नी चुलना को भी कामवासना के जाल मे फँसा कर अपना मुह काला कर लिया और कोशल एवं काम्पिल्य के यशस्वी राजवशो के उज्ज्वल भाल पर कलंक का काला टीका लगा दिया।

कुलशील को तिलाजलि दे दीर्घ और चुलना यथेप्सित कामकेलि करते हुए एक दूसरे पर पूर्ण आसक्त हो व्यभिचार के घृणित गर्त मे गहरे डूवते गये।

चतुर प्रधानामात्य धनु उन दोनो के पापपूर्ण आचरण से वडा चिन्तित हुआ। उसने यह सोचकर कि ये दोनो कामवासना के कीट किसी भी समय वालक ब्रह्मदत्त के प्राणो के ग्राहक वन सकते हैं। अत उसने अपने पुत्र वरधनु के माध्यम से कुमार ब्रह्मदत्त को पूर्ण सतर्क रहने की सलाह दी और अपने पुत्र को अहर्निश कुमार के साथ रहने की आज्ञा दी।

मन्त्री-पुत्र वरधनु से अपनी माता के व्यभिचारिणी होने की वात सुनकर ब्रह्मदत्त वज्राहत सा तिलमिला उठा। सिह-शावक की तरह अत्यन्त क्रुद्ध हो वह गुर्राने लगा। एक कोकिल और काक को साथ-साथ वांध कर दीर्घ और चेलना के केलिसदन के द्वार पर जाकर वड़ी क्रोधपूर्ण मुद्रा मे ब्रह्मदत्त वार-वार तीव्र स्वर मे कहने लगा – "ओ नीच कौए! तेरी यह घृष्टता कि इस कोकिल के साथ केलि कर रहा है? तुम दोनो का प्राणान्त कर मैं तुम्हारी इस दुष्टता का दण्ड दूगा।"

कुमार की इस आक्रोशपूर्ण व्याजोक्ति को सुनकर दीर्घ उसके अन्तर्द्वन्द्व को भाप गया। उसने चुलना से कहा – "देखा प्रिये! यह कुमार मुझे कौआ और तुम्हे कोकिल वताकर हम दोनो को मारने की धमकी दे रहा है?"

कामासक्ता चुलना ने यह कह कर वात टाल दी – "यह अभी निरा वालक है इसकी वालचेष्टाओ से तुम्हे नही डरना चाहिये।"

बालक ब्रह्मदत्त के अन्तर में दीर्घ और अपनी माता के पापाचार के प्रति विद्रोह का ज्वालामुखी फट चुका था। वह बालक बालकेलियो को भूल रात-दिन उन दोनो को उनके दुराचार के लिये येन-केन-प्रकारेण सबक सिखाने की उधेड़-बुन में लग गया।

दूसरे दिन ब्रह्मदत्त एक राजहसिनी और बगुले को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना को दिखाते हुए आक्रोश भरे तीव्र स्वर में बार-बार कहने लगा- "यह महा अधम बगुला इस राजहसिनी के साथ सहवास कर रहा है। इस निकृष्ट पापाचार को कोई भी कैसे सहन कर सकता है ? मैं इन्हे अवश्य ही मौत के घाट उतारूंगा।"

कुमार ब्रह्मदत्त के इस इगित और आक्रोशपूर्ण उद्‌गारों को सुनकर दीर्घ को पूर्ण विश्वास हो गया कि ब्रह्मदत्त की ये चेष्टाएँ केवल बालचेष्टाएं नही हैं, वरन् उसके अन्तर में प्रतिशोध की भीषण ज्वालाएं भभक उठी हैं। उसने चुलना से कहा – "देवि ! देख रही हो तुम्हारे इस पुत्र की करतूते ? यह तुम्हे हसिनी और मुझे बगुला समझ कर हम दोनो को मारने का दृढ़ सकल्प कर चुका है। यह थोड़ा बड़ा हुआ नही कि हम दोनो का बड़ा प्रबल शत्रु और घातक हो जायगा। यह निश्चित समझो कि तुम्हारी मृत्यु के लिए साक्षात् काल ही तुम्हारे पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ है। अतः तुम्हारा और मेरा इसी में हित है कि राजसिंहासनारूढ़ होने से पहले ही इस जहरीले काले नाग को कुचल दिया जाय। हम दोनो का वियोग नही होगा तो तुम और भी पुत्रों को जन्म दे सकोगी। अतः इस प्राणहारी पुत्र-मोह का परित्याग कर इसका प्राणान्त कर दो।"

अन्त में कामान्धा चुलना पिशाचिनी की तरह अपने पुत्र के प्राणो की प्यासी हो गई। लोकापवाद से बचने के लिये उन दोनो ने कुमार ब्रह्मदत्त का विवाह कर सुहागरात्रि के समय वर-वधू को लाक्षागृह मे सुलाकर भस्मसात् कर डालने का षड्‌यन्त्र रचा।

ब्रह्मदत्त के लिये उसके मातुल पुष्पचूल नृपति की पुत्री पुष्पवती को वाग्दान मे प्राप्त किया गया और विवाह की बडी तेजी के साथ तैयारियां होने लगी।

प्रधानामात्य धनु पूर्ण सतर्क था और रात दिन दीर्घ और चुलना की हर गतिविधि पर पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसने इस गुप्त षड्‌यन्त्र का पता लगा लिया और वर-वधू के प्राणो की रक्षा का उपाय सोचने लगा।

उसने दीर्घ नृपति से बड़ी नम्रतापूर्वक निवेदन किया – "महाराज ! मेरा पुत्र प्रधानामात्य के पदभार को सम्भालने के पूर्ण योग्य हो चुका है और मैं जरा-ग्रस्त हो जाने के कारण राज्य-सचालन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों मे भी अब अपेक्षित तत्परता से दौड़धूप करने मे असमर्थ हूँ। मैं अब दान-धर्मादि पुण्य कार्यों मे अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। अत. प्रार्थना है कि मुझे प्रधाना-मात्य के कार्यभार से कृपा कर मुक्त कीजिये।"

कुटिल दीर्घ ने सोचा कि यदि इस प्रत्युत्पन्नमती, अनुभवी, राजनीति-निष्णात को राज-कार्यों से अवकाश दे दिया गया तो यह कोई न कोई अचिन्त्य उत्पात खड़ा कर मेरी सभी दुरभिसन्धियो को चौपट कर देगा।

उसने प्रकट मे बड़े मधुर स्वर मे कहा – "मन्त्रिवर ! आप जैसे विलक्षण बुद्धि वाले योग्य मत्री के विना तो हमारा राज्य एक दिन भी नही चल सकता क्योंकि आप ही तो इस राज्य की धुरी हैं। कृपया आप मंत्रिपद पर बने रहकर दान आदि धार्मिक कृत्य करते रहिये।"

चतुर प्रधान मंत्री धनु ने दीर्घ के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हुए अंजलिवद्ध हो उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और गगा नदी के तट पर विशाल यज्ञमण्डप का निर्माण करवाया। राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को देखते हुए उसने गगातट पर अन्नदान का महान् यज्ञ प्रारम्भ किया। वह यज्ञमण्डप मे प्रतिदिन हजारो लोगों को अन्न-पानादि से तृप्त करने लगा।

इस अन्नयाग के व्याज से उसने अपने विश्वस्त पुरुषो द्वारा वडी तेजी से यज्ञमण्डप से लाक्षागृह तक एक सुरग का निर्माण करवा लिया और अपने गुप्त-चर के द्वारा पुष्पचूल को दीर्घ और चुलना के भीषण षड्यत्र से अवगत करा वडी चतुराई से चाल चलने की सलाह दी।

विवाह की तिथि से पूर्व ही कन्यादान की विपुल वहुमूल्य सामग्री के साथ वड़े समारोहपूर्वक कन्या काम्पिल्य नगर के राज-प्रासाद मे पहुँच गई।

अपूर्व महोत्सव और वड़ी धूमवाम के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह सम्पन्न हुआ। सुहागरात्रि के लिये देवमन्दिर की तरह सजाये गये लाक्षागृह मे वर-वधू को पहुँचा दिया गया।

स्वच्छन्द विषयानन्द लूटने के लोभ मे कामान्ध वनी माँ ने अपने पुत्र को और अपनी समझ मे अपने सहोदर की पुत्री को मौत के मुह मे ढकेल कर –

ऋणकर्त्ता पिता शत्रु, माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रु, पुत्रः शत्रुरपण्डितः।।

इस सनातन नीति-श्लोक के द्वितीय चरण को चरितार्थ कर दिया।

मन्त्री-पुत्र वरधनु भी शरीर की छाया की तरह राजकुमार के साथ ही उस लाक्षागृह मे प्रविष्ट हो गया।

धनु की दूरदर्शिता और नीति-निपुणता के कारण किसी को किंचित्मात्र भी शका करने का अवसर नही मिला कि वधू वास्तव मे राजा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती नही, अपितु उसी के समान स्वरूप वाली सर्वतो अनुरूपिणी दासीपुत्री है।

अन्त मे अर्द्धरात्रि के समय दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि को कार्यरूप में परिणत किया गया। लाक्षागृह लपलपाती हुई लाल लाल ज्वाल-मालाओ का गगनचुम्बी शिखर सा वन गया।

ब्रह्मदत्त वरधनु द्वारा सारी स्थिति से अवगत हो उसके साथ सुरंग-द्वार में प्रवेश कर गंगातट के यज्ञमण्डप मे जा पहुँचा। तीव्र गति वाले सजे-सजाये दो घोड़ो पर ब्रह्मदत्त एवं वरधनु को बैठा अज्ञात सुदूर प्रदेश के लिये उन्हे विदा कर प्रधानामात्य धनु स्वयं भी किसी निरापद स्थान की ओर पलायन कर गया।

जो अतीत मे बड़े लाड़-प्यार से राजसी ठाट-बाट मे पला और जो भविष्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष के समस्त छहो खण्डो की प्रजा का पालक प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् बनने वाला है वही ब्रह्मदत्त अपने प्राणों को बचाने के लिये घने, भयावने, अगम्य अरण्यो मे अर्द्धरात्रि मे अनाथ की तरह अज्ञात स्थान की ओर अन्धाधुन्ध भागा जा रहा था।

पवन-वेग से निरन्तर सरपट भागते हुए घोड़ो ने काम्पिल्यपुर को पचास योजन पीछे छोड़ दिया पर अनवरत तीव्र गति से इतनी लम्बी दौड़ के कारण दोनों घोड़ो के फेफड़े फट गये और वे धराशायी हो चिरनिद्रा में सो गये।

ब्रह्मदत्त और वरधनु ने अब तक पराये पैरो पर भाग कर पचास योजन पथ पार किया था। अब वे अपने प्राणो को बचाने के लिये अपने पैरो के बल बेतहाशा भागने लगे। भागते-भागते उनके श्वास फूल गये फिर भी क्योकि अपने प्राण सबको अति प्रिय हैं अत. वे भागते ही रहे। अन्ततोगत्वा वे बडी कठिनाई से कोण्ठक नामक ग्राम के पास पहुँचे।

वरधनु गाँव मे पहुँचा और एक हज्जाम को साथ लिये लौटा। ब्रह्मदत्त ने नाई से अपना सिर मुण्डित करवा काला परिधान पहन महान् पुण्य और प्रताप के द्योतक श्रीवत्स चिह्न को ढक लिया। वरधनु ने उसके गले मे अपना यज्ञोपवीत डाल दिया।

इस तरह वेश बदलकर वे ग्राम में घुसे। एक ब्राह्मण उन्हे अपने घर ले गया और बड़े सम्मान एवं प्रेम के साथ उन्हे भोजन करवाया।

भोजनोपरान्त गृहस्वामिनी ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के मस्तक पर अक्षतो की वर्षा करती हुई अपनी परम सुन्दरी पुत्री को साथ लिये ब्रह्मदत्त के सम्मुख हाथ जोडे खड़ी हो गई। दोनों मित्र एक-दूसरे का मुँह देखते ही रह गये।

वरधनु ने कृत्रिम आश्चर्यद्योतक स्वर में कहा – "देवि! इस अनाड़ी भिक्षुक को अप्सरा सी अपनी यह कन्या देकर क्यो गजब ढा रही हो! तुम्हारा यह कृत्य तो गौ को भेड़िये के गले मे बाधने के समान मूर्खतापूर्ण है।"

गृहस्वामी ब्राह्मण ने उत्तर दिया – "सौम्य! भस्मी रमा लेने से भी कही भाग्य छुपाया जा सकता है? मेरी इस सर्वोत्तम गुण-सम्पन्न पुत्री बन्धुमती का पति इन पुण्यशाली कुमार के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता क्योकि इस कन्या के चक्रवर्ती की पत्नी होने का योग है। निमित्तज्ञो ने मुझे इस कन्या के वर की जो पहिचान बताई है उस महाभाग को मैंने आज सौभाग्य से प्राप्त कर

लिया है। उन्होंने जो पहिचान वताई वह भी मैं आपको वताए देता हूँ। निष्णात निमित्तज्ञो ने मुझे कहा था कि जो व्यक्ति अपने 'श्रीवत्स चिह्न' को वस्त्र से छुपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। यह देखिये वस्त्र से ढका होने पर भी यह श्रीवत्स का चिह्न चमक रहा है।"

दोनो मित्र आश्चर्यचकित हो गये। ब्रह्मदत्त का वन्धुमती के साथ विवाह हो गया। प्रलयानिल के दारुण दुखद अन्धड मे उड़ने के पश्चात् मानो ब्रह्मदत्त ने मादक मन्द मलयानिल के मधुर झोके का अनुभव किया, दम घोट देने वाले दुखो की कालरात्रि के पश्चात् मानो पूर्णिमा की सुखद श्वेत चादनी उसकी आखो के समक्ष थिरक उठी। एक रात्रि के सुख के वाद फिर दुख का दरिया।

दिनमणि के उदय होते-होते दीर्घराज के दुख ने उसे फिर आ घर दवाया। दोनो कोष्ठक ग्राम से भागे पर देखा कि दीर्घ के सैनिक दानवो की तरह सव रास्तों को रोके खड़े हैं। यह देख दोनो मित्र वन्य मृगों की तरह प्राण वचाने के लिए घने वनो की झाडियो मे छुपते हुए भाग रहे थे। उस समय 'छिद्रेष्वनर्थाः वहुली भवन्ति' इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मदत्त को जोर की प्यास लगी और मारे प्यास के उसके प्राण-पखेरू उडने लगे।

ब्रह्मदत्त ने एक वृक्ष की ओट मे वैठते हुए कहा – "वरधनु! मारे प्यास के अव एक डग भी नही चला जाता। कही न कही से शीघ्र ही पानी लाओ।"

वरधनु "अभी लाया", कह कर पानी लाने दौडा। वह पानी लेकर लौट ही रहा था कि दीर्घराज के घुडसवारों ने उसे आ घेरा और "कहा है ब्रह्मदत्त? वता कहा है ब्रह्मदत्त?" कहते हुए वरधनु को निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।

ब्रह्मदत्त ने देखा, पिटा जाता हुआ वरधनु उसे भाग जाने का सकेत कर रहा है। घोर दारुण दुखो से पीडित प्यासे ब्रह्मदत्त ने देखा उसके प्राणो के प्यासे दुष्ट दीर्घ के सैनिक यमदूत की तरह उसके सिर पर खडे हैं। वह घने वृक्षो और झाड़ियों की ओट मे घुस कर भागने लगा। कांटो से विंध कर उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया, प्यास से पीड़ित, प्राणो के भय से पीड़ित, प्रिय साथी के करालकाल के गाल मे पड़ जाने के शोक से पीड़ित, अथक थकान से केवल पाव ही नही रोम-रोम पीडित, कोई पारावार ही नही था पीडाओं का, फिर भी प्राणो के जाने के भय से भयभीत भागा ही चला जा रहा था ब्रह्मदत्त – क्योकि प्राण सवको अत्यन्त प्यारे हैं।

जव निरन्तर तीन दिन तक भागते २ दुख और पीडा चरम सीमा तक पहुच चुके तो परिवर्तन अवश्यंभावी था।

अत्यन्त दुखी अवस्था मे पहुचे ब्रह्मदत्त ने वन में एक तापस को देखा। वह उसे अपने आश्रम मे कुलपति के पास ले गया।

कुलपति ने ब्रह्मदत्त के धूलिधूमरित तन की तेजस्विता और वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का लाछन देख साश्चर्य उससे उस दशा मे वन मे आने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त से सारा वृत्तान्त सुनते ही आश्रम के कुलपति ने उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा – "कुमार ! तुम्हारे पिता महाराज ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। इस आश्रम को तुम अपना घर ही समझो और बडे आनन्द से यहा रहो।"

ब्रह्मदत्त वहां रहता हुआ कुलपति के पास विद्याध्ययन करने लगा। कुलपति ने कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्याओं का अध्ययन कराया और उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र व वेद-वेदाग का पारंगत विद्वान् बना दिया।

अब वह प्रलम्ब बाहु, उन्नत तेजस्वी भाल, विशाल वक्ष, वृषस्कन्ध, पुष्ट-मांसल पेशियो से शरीर की सात धनुष ऊंचाई वाला पूर्ण युवा हो चुका था। उसके रोम-रोम से तेज और ओज टपकने लगे।

एक दिन ब्रह्मदत्त कुछ तपस्वियों के साथ कन्द, मूल, फल-फूलादि लेने जगल मे निकल पड़ा। वन मे प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए उसने हाथी के तुरंत के पद-चिह्न देखे। यौवन का मद उस पर छा गया। हाथी को छकाने के लिए उसके भुजदण्ड फड़क उठे। तापसो द्वारा मना किये जाने पर भी हाथी के पद-चिह्नो का अनुसरण करता हुआ वह उन तपस्वियो से बहुत दूर निकल गया।

अन्ततोगत्वा उसने अपनी सूंड से एक वृक्ष को उखाड़ते हुए मदोन्मत्त जंगली हाथी को देखा और उससे जा भिड़ा। हाथी क्रोध से चिंघाड़ता हुआ ब्रह्मदत्त पर झपटा। ब्रह्मदत्त ने अपने ऊपर लपकते हुए हाथी के सामने अपना उत्तरीय फेंका और ज्योंही हाथी अपनी सूंड ऊंची किये हुए उस वस्त्र की ओर दौडा त्योंही ब्रह्मदत्त अवसर देख उछला और हाथी के दातों पर पैर रख पीठ पर सवार हो गया।

इस प्रकार हाथी से वह वड़ी देर तक क्रीड़ाएं करता रहा। उसी समय काली मेघ-घटाएं घुमड पड़ी और मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वर्षा से भीगता हुआ हाथी चिंघाड कर भागा। प्रत्युत्पन्नमति ब्रह्मदत्त एक विशाल वृक्ष की शाखा को पकड कर वृक्ष पर चढ गया। वर्षा कुछ मन्द पड़ी पर घनी मेघ-घटाओं के कारण दिशाएं धुंधली हो चुकी थी।

ब्रह्मदत्त वृक्ष से उतर कर आश्रम की ओर बढ़ा पर दिग्भ्रान्त हो जाने के कारण दूसरे ही वन मे निकल गया। इधर उधर भटकता हुआ वह एक नदी के पास आया। उस नदी को भुजाओ से तैर कर उसने पार किया और नदी-तट के पास ही उसने एक उजडा हुआ ग्राम देखा। ग्राम मे आगे बढते हुए उसने बांसो की एक घनी झाड़ी के पास एक तलवार और ढाल पडी देखी। उसकी मांसल भुजाएं अभी और श्रम करना चाहती थी। उसने तलवार म्यान से बाहर कर बांसो की झाडी को काटना प्रारम्भ किया कि बांसों की झाडी को काटते-काटते उसने देखा कि उसकी तलवार के वार से कटा एक मनुष्य का मस्तक एवं धड़ उसके

सम्मुख तड़फड़ा रहे है। उसने ध्यान से देखा तो पता चला कि कोई व्यक्ति वास पर उल्टा लटके किसी विद्या की साधना कर रहा था। उसे बडी आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही साधना करते हुए एक युवक को मार दिया है।

पश्चात्ताप करता हुआ ज्योंही वह आगे बढा तो उसने एक रमणीय उद्यान में एक भव्य भवन देखा। कुतूहलवश वह उस भवन की सीढियो पर चढने लगा। ऊपर चढते हुए उसने देखा कि ऊपर के एक सजे हुए कक्ष मे कोई अपूर्व सुन्दरी कन्या पलंग पर चिंतित मुद्रा में बैठी है। आश्चर्य करते हुए वह उस बाला के पास पहुँचा और पूछने लगा – "सुन्दरि! तुम कौन हो और इस निर्जन भवन में एकाकिनी शोकमग्न मुद्रा मे क्यों बैठी हो?"

अचानक एक तेजस्वी युवक को सम्मुख देखते ही वह अबला भयविह्वल हो गई और भयाक्रान्त जिज्ञासा के स्वर मे बोली – "आप कौन हैं? आपके यहा आने का प्रयोजन क्या है?"

ब्रह्मदत्त ने उसे निर्भय करते हुए कहा – "सुभ्रु! मैं पाचाल-नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ.. .."

ब्रह्मदत्त अपना वाक्य पूरा भी नही कर पाया था कि वह कन्या उसके पैरो मे गिर कर कहने लगी – "कुमार! मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुष्पवती नामक पुत्री हूँ, जिसे वाग्दान में आपको दिया गया था। मैं आपसे विवाह की बड़ी ही उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रही थी कि नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपने विद्याबल से मेरा हरण कर मुझे यहां ले आया। वह दुष्ट मुझे अपने वश मे करने के लिए पास ही की बांसो की झाडी में किसी विद्या की साधना कर रहा है। मेरे चिर अभिलषित प्रिय! अब मैं आपकी शरण मे हूँ। आप ही मेरी मझधार में डूबती हुई जीवन-तरणि के कर्णधार हो।"

कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा – "वह विद्याधर अभी-अभी मेरे हाथो अज्ञान में ही मारा गया है। अब मेरी उपस्थिति में तुम्हे किसी प्रकार का भय नही है।"

तदनन्तर ब्रह्मदत्त और पुष्पवती गान्धर्व विधि से विवाह के सूत्र मे बंध गये और इस प्रकार चिर-दुःख के पश्चात् फिर सुख के झूले मे झूलने लगे।

शहद की बिन्दु के समान मधुर सुख की वह एक रात्रि मधुरालाप और प्रणयकेलि मे कुछ क्षणो के समान ही कट गई। फिर प्रिय-वियोग की वेला आ पहुँची।

गगन में घनरव के समान घोष को सुन कर पुष्पवती ने कहा – "प्रियतम! विद्याधर नाट्योन्मत्त को खण्डा और विशाखा नाम की दो बहिने आ रही हैं। इन अबलाओ से तो कोई भय नही, पर अपने प्रिय सहोदर की मृत्यु का समाचार पा ये अपने विविध विद्याओ से सशक्त विद्याधर बन्धुओ को ले आई तो अनर्थ हो जायगा। अत. आप थोड़ी देर के लिए छिप जाइये। मैं बातो ही बातो मे इन

दोनो के अन्तर मे आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास करती हूँ। यदि उनकी क्रोधाग्नि को शान्त होते न देखा तो मै श्वेत पताका को हिलाकर आपको यहा से भाग जाने का संकेत करूंगी और यदि वे मेरे द्वारा वर्णित आपके अलौकिक गुण सौन्दर्यादि पर आसक्त हो गई तो मैं लाल पताका को फहराऊंगी उस समय आप निश्शक हो हमारे पास चले आना।"

यह कह कर पुष्पवती उन विद्याधर कन्याओ की अगवानी के लिए चली गई। कुमार एकटक उस ओर देखता रहा। उसने देखा कि सकट की सूचक श्वेत-पताका हिल रही है। ब्रह्मदत्त वहा से वन की ओर चल पडा।

एक विस्तीर्ण सघन वन को पार करने पर उसने स्वच्छ जल से भरे एक बडे जलाशय को देखा। मार्ग की थकान मिटाने हेतु वह उसमे कूद पड़ा और जी भर जल-क्रीडा करने के उपरान्त तैरता हुआ दूसरे तट पर जा पहुँचा।

वहा उसने पास ही के एक लता-कुन्ज मे फूल चुनती हुई एक अत्यन्त सुकुमार सर्वांग-सुन्दरी कन्या को देखा। ब्रह्मदत्त निर्निमेष दृष्टि से उसे देखता ही रह गया क्योकि उसने इतनी रूपराशि धरातल पर कभी नही देखी थी। वह अनुपम सुन्दरी भी तिरछी चितवन से उस पर अमृत वर्षा सी करती हुई मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी। ब्रह्मदत्त ने देखा कि वह वनदेवी सी वाला उसी की ओर इगित करते हुए अपनी सखी से कुछ कह रही है। उसने यह भी देखा कि उस पर विस्फारित नेत्रों से एकवारगी ही अमृत की दोहरी धारा बहा कर खुशी से मस्त मयूर सी नाचती हुई वह लता-कुन्ज मे अदृश्य हो गई। उसे पुन. देखने के लिए ब्रह्मदत्त की आखे बडी बेचैनी से उसी लता-कुन्ज पर न मालूम कितनी देर तक अटकी रही, इसका उसे स्वय को ज्ञान नही।

एकदम उसके पास ही मे हुई नूपुर की झकार से उसकी तन्मयता जव टूटी तो ताम्बूल, वस्त्र और आभूपण लिए उस सुन्दरी सी दासी को अपने समुख खडे पाया।

दासी ने कहा – "अभी थोड़ी ही देर पहले आपने जिन्हे देखा था उन राजकुमारीजी ने अपनी इष्ट सिद्धि हेतु ये चीजे आपके पास भेजी हैं और मुझे यह भी आदेश दिया है कि मैं आपको उनके पिताजी के मत्री के घर पहुँचा दूं।"

ब्रह्मदत्त वनो के वनचरो जैसे जीवन से ऊव चुका था अत' प्रसन्न होते हुए वह दासी के पीछे-पीछे चल पडा।

राजकीय अतिथि के रूप मे उसका खूब अतिथि-सत्कार हुआ और वहां के राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का उसके साथ वडी धूमधाम के साथ विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त एक वार फिर दु खी से सुखी वन गया। वह वहा कुछ दिन वडे आमोद-प्रमोद के साथ आनन्दमय जीवन विताता रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था पर गृह-कलह के कारण वह वहा से भाग कर चौर-पल्ली का राजा वन गया। वह लूट-पाट से अपने कुटुम्ब

और आश्रितो का पालन-पोषरण करता था। एक दिन उसने अपनी स्त्री वायुवेग खूख्वार लुटेरो के साथ किसी गाव को लूटने के लिए प्रयाण किया। गाव का कूचा। के समय ब्रह्मदत्त का विछुडा हुआ साथी वरधनु भी उससे आ मिला। वडे लम्बे समय के वाद मिलने के कारण दोनो ने एक दूसरे का वृत्तान्त पूछा।

वरधनु ने कहा—"कुमार! मैं आपके लिए पानी ला रहा था उस समय मुझे दीर्घ के सैनिको ने निर्दयता से पीटना प्रारम्भ कर दिया और आपके वारे मे पूछने लगे। मैंने रोते हुए कहा कि कुमार को तो सिह खा गया है। इस पर उन्होने जव उस स्थान को वताने को कहा तो मैंने उन्हे इधर से उधर भटकाते हुए आपको भाग जाने का संकेत किया। आपके भाग जाने पर मैं आश्वस्त हुआ और मैंने मौन ही साध ली। उन दुष्टो ने मुझे वडी निर्दयता से मारा और मैं अधमरा हो गया। मैं असह्य यातना से तिलमिला उठा और मौका पा मैंने उन लोगो की नजर वचा मूच्छित होने की गोली अपने मु ह मे रख ली। उस गोली के प्रभाव से मैं निश्चेष्ट हो गया और वे मुझे मरा हुआ समझ हताश हो लौट गये। उनके जाते ही मैंने अपने मुख मे से उस गोली को निकाल लिया और आपको इधर-उधर ढूंढने लगा पर आपका कही पता नही चला। पिताजी के एक मित्र से पिताजी के भाग निकलने और माता को दीर्घ द्वारा दु ख दिये जाने का वृत्तान्त सुन कर मैंने माता को काम्पिल्यपुर से किसी न किसी तरह ले आने का दृढ संकल्प किया। वडे नाटकीय ढंग से मैं माता को वहां से ले आया और उसे पिताजी के एक अन्तरंग मित्र के पास छोड़ कर आपको इधर-उधर ढूंढने लगा। अन्त मे मैंने आज महान् सुकृत के फल की तरह आपको पा ही लिया।"

ब्रह्मदत्त ने भी दीर्घकालीन दु ख के पश्चात् थोड़ी सुख की झलक फिर घोर दु ख भरे अपने सुख-दुःख के घटनाचक्र का वृत्तान्त वरधनु को सुनाया।

ब्रह्मदत्त अपनी वात पूरी भी नही कह पाया था कि उन्हे दीर्घराज के सैनिको के वडे दल के आने की सूचना मिली। वे दोनो अन्धेरे गिरि-गह्वरों की ओर दौड पडे। अनेकों विकट वनो और पहाडो मे भटकते २ वे दोनो कौशाम्वी नगरी पहुँचे।

कौशाम्वी के उद्यान मे उन्होने देखा कि उस नगर के सागरदत्त और वुद्धिल नामक दो वडे श्रेष्ठि एक-एक लाख रुपये दाव पर लगा अपने कुक्कुटो को लडा रहे हैं। दोनो श्रेष्ठियो के कुक्कुटो की वडी देर तक मनोरजक झडपे होती रही पर अन्त मे अच्छी जाति का होते हुए भी सागरदत्त का मुर्गा वुद्धिल के मुर्गे से हार कर मैदान छोड भागा।

सागरदत्त एक लाख का दाँव हार चुका था। ब्रह्मदत्त को सागरदत्त के अच्छी नस्ल के कुक्कुट की हार से आश्चर्य हुआ। उसने वुद्धिल के कुक्कुट को पकड कर अच्छी तरह देखा और उसके पंजो मे लगी सूई की तरह तीक्ष्ण लोहे की पतली कीलों को निकाल फेका।

दोनों के दोनों कुक्कुट पुनः मैदान में उतारे गये पर इस बार सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल के कुक्कुट को कुछ ही क्षणों में पछाड़ डाला।

हारे हुए दांव को जीत कर सागरदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ और कुमार के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन दोनों मित्रों को अपने घर ले गया। सागरदत्त ने अपने सहोदर की तरह उन्हें अपने यहां रखा।

बुद्धिल की बहिन रत्नवती उद्यान में हुए कुक्कुट-युद्ध के समय ब्रह्मदत्त को देखते ही उस पर अनुरक्त हो गई। रत्नवती बड़ी ही चतुर थी। उसने अपने प्रियतम को प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया। पहले उसने ब्रह्मदत्त के नाम से अंकित एक कीमती हार अपने सेवक के साथ ब्रह्मदत्त के पास भेजकर उसके मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर दी और तत्पश्चात् अपनी विश्वस्त वृद्धा परिचारिका के साथ अपनी प्रीति का संदेश भेजा।

ब्रह्मदत्त भी रत्नवती के अनुपम रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुन उसके पास जाने को व्याकुल हो उठा पर दीर्घ के अनुरोध पर कौशाम्बी का राजा ब्रह्मदत्त और वरधनु की सारे नगर में खोज करवा रहा था। इस कारण उसे अपने साथी वरधनु के साथ सागरदत्त के तलगृह में छिपे रहना पड़ा।

अर्द्धरात्रि के समय ब्रह्मदत्त और वरधनु सागरदत्त के रथ में बैठ कर कौशाम्बी से निकले। नगर के बाहर बड़ी दूर तक उन्हें पहुँचा कर सागरदत्त अपने घर लौट गया। ब्रह्मदत्त और वरधनु आगे की ओर बढ़े। वे थोड़ी ही दूर गये होंगे कि उन्होंने एक पूर्णयौवना सुन्दर कन्या को शस्त्रास्त्रों से सजे रथ में बैठे देखा।

उस सुन्दरी ने सहज आत्मीयता के स्नेह से सने स्वर में पूछा — "आप दोनों को इतनी देर कहां हो गई ? मैं तो आपकी बड़ी देर से यहां प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

कुमार ने आश्चर्य से पूछा — "कुमारिके ! हमने तुम्हें पहले कभी नहीं देखा ? हम कौन हैं, यह तुम कैसे जानती हो ?"

रथारूढ़ा कुमारी ने अपना परिचय देते हुए कहा — "कुमार ? मैं बुद्धिल की बहिन रत्नवती हूँ। मैंने बुद्धिल और सागरदत्त के कुक्कुट-युद्ध में जिस दिन आपके प्रथम दर्शन किये तभी से मैं आपसे मिलने को लालायित थी — अब चिर-अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु यहां उपस्थित हूं ! इस चिर-विरहिणी अपनी दासी को अपनी सेवा में लेकर के अनुगृहीत कीजिये।"

रत्नवती की बात सुनते ही दोनों मित्र उसके रथ पर बैठ गये। वरधनु ने सारथी की जगह सम्हाली।

ब्रह्मदत्त ने रत्नवती से पूछा — "अब किस ओर जाना होगा ?"

रत्नवती ने कहा — "रत्नपुर में मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठि के पास।"

वरघनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढाया। तरल तुरंगी की वायुवेग सी गति से दौड़ता हुआ रथ कौशावी की सीमा पार कर भीपण वन में पहुचा। मार्ग मे डाकूदल से सघर्ष, वरधनु से वियोग आदि संकटो के वाद ब्रह्मदत्त राजगृह पहुँचा। राजगृह के बाहर तापसाश्रम मे रत्नवती को छोड़कर वह नगर मे पहुँचा। राजगृह मे विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एव विशाखा नाम की दो विद्याघर कन्याओ के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठि धनावह के घर पहुँचा। धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर वडा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया। धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ अतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ वड़े आनन्द से राजगृह मे रहने लगा पर अपने प्रिय मित्र वरघनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा। उसने वरघनु को ढूंढ़ने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी पर हर सभव प्रयास करने पर भी उसका कही पता नही चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणो को भोजन के लिये आमन्त्रित किया।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणो के वीच आ पहुँचा और वोला—"मुझे जो भोजन खिलाया जायेगा, वह साक्षात् वरघनु को ही प्राप्त होगा।"

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खड़ा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने वाहुपाश में जकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से वोला—"लो! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं यह वरधनु का प्रेत चला आया है।"

सब खिलखिला कर हस पड़े। शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर मे ही सुख और आनन्द के वातावरण मे परिणत होगया।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायव होगया, वरधनु ने कहा—"दस्युओं से युद्धजन्य श्रमातिरेक से आप प्रगाढ़ निद्रा मे सो गये। उस समय कुछ लुटेरो ने रथ पर पुन. आक्रमण किया। मैंने बाणों की वौछार कर उन्हे भगा दिया पर वृक्ष की ओट मे छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मैं तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पडा और झाड़ियो मे छुप गया। चोरो के चले जाने पर झाडियों मे से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गाव मे आ पहुँचा जहा आप ठहरे हुए थे। ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने मैं स्वयं आपकी सेवा मे उपस्थित हो गया।"

दोनो मित्र राजगृह मे आनन्दपूर्वक रहने लगे पर अब उन पर काम्पिल्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी।

दोनो मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले। सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी मे झूमती हुई राजगृह की तरुणिया और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणो एव चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओ से सजे खुशी से अठखेलिया करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान मे मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह श्रृखलाओ और हस्ती-स्तम्भ को तोडकर मद मे झूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान मे आ पहुँचा। उपस्थित लोगो मे भगदड मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारो और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारो से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीडास्थल वन गया।

वह मस्त गजराज एक मधुवाला सी सुन्दर सुगौर वाला की ओर झपटा और उसे अपनी सूड मे पकड लिया। सव के कलेजे धक् होगये।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर में उसे ललकारने लगा।

हाथी उस कन्या को छोड अपनी लम्वी सूँड और पूँछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा। हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे मे डालता रहा और फिर वडी तेजी से कूदकर हाथी के दांतों पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा वैठा।

हाथी थोड़ी देर तक चिघाडता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा पर अन्त मे कुमार ने हाथी को वश मे करने वाले गूढ साकेतिक अद्‌भुत शव्दो के उच्चारण से उसे वश मे कर लिया।

वसंतोत्सव मे सम्मिलित हुए सभी नर-नारी जो अव तक श्वास रोके, चित्रलिखित से खडे महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश मे हुआ जानकर जयघोष करने लगे। तरुणो और तरुणियो ने अपने गलो मे से फूलमालाएँ उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी। उस समय कुमार वसन्ती फूलो और फूलमालाओ से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से झूमता हुआ स्वय मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ वैठा हो।

कुमार स्वेच्छानुसार हाथी को हाकता हुआ हस्तिशाला की ओर अग्रसर हुआ। हजारो हर्षविभोर युवक जयघोष करते हुए उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

कुमार ने उस हाथी को हस्तिशाला मे ले जाकर स्तम्भ से वाध दिया। गगनभेदी जयघोषों को सुनकर मगधेश्वर भी हस्तिशाला में आ पहुँचे। सुकुमार देव के समान सुन्दर कुमार के अलौकिक साहस को देखकर मगधेश्वर अत्यन्त विस्मित हुआ और उसने अपने मन्त्रियो और राज्य सभा के सदस्यो की ओर

देखते हुए साश्चर्य जिज्ञासा के स्वर मे पूछा – "सूर्य के समान तेजस्वी और शुक्र के समान शक्तिशाली यह मनमोहक युवक कौन है ?"

नगरश्रेष्ठि धनावह से ब्रह्मदत्त का परिचय पाकर मगधपति बडा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी पुत्री पुण्यमानी का ब्रह्मदत्त के साथ वड़े हर्षोल्लास, धूमधाम और ठाट-वाट से विवाह कर दिया।

राजगृही नगरी कई दिनों तक महोत्सवपुरी बनी रही। राजकीय दामाद के सम्मान मे मन्त्रियो, श्रेष्ठियो और गण्य-मान्य नागरिको की ओर से भव्य-भोजो का आयोजन किया गया।

जिस कुमारी को वसन्तोत्सव के समय ब्रह्मदत्त ने हाथी से वचाया था वह राजगृह के वैश्रवण नामक धनाढ्य श्रेष्ठि की श्रीमती नाम की पुत्री थी। श्रीमती ने उसी दिन प्रण कर लिया था कि जिसने उसे हाथी से वचाया है उसी से विवाह करेगी अन्यथा जीवनभर अविवाहित रहेगी।

ब्रह्मदत्त को जव श्रीमती पर मा से भी अधिक स्नेह रखने वाली एक वृद्धा से श्रीमती के प्रण का पता चला तो उसने विवाह की स्वीकृति दे दी। वैश्रवण श्रेष्ठि ने वडे समारोहपूर्वक अपनी कन्या श्रीमती का ब्रह्मदत्त के साथ पाणिग्रहण करा दिया।

मगधेश के मन्त्री सुवुद्धि ने भी अपनी पुत्री नन्दा का वरधनु के साथ विवाह कर दिया।

थोड़े ही दिनो मे ब्रह्मदत्त की यशोगाथाए भारत के घर-घर मे गाई जाने लगी। कुछ दिन राजगृह मे ठहर कर ब्रह्मदत्त और वरधनु युद्ध के लिये तैयारी करने हेतु वाराणसी पहुचे।

वाराणसी-नरेश ने जव अपने प्रिय मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुना तो वह प्रेम से पुलकित हो उसका स्वागत करने के लिये स्वयं ब्रह्मदत्त के सम्मुख आया और वड़े सम्मान के साथ उसे अपने राज-प्रासाद मे ले गया।

वाराणसी-पति कटक ने अपनी कन्या कटकवती का ब्रह्मदत्त के साथ विवाह कर दिया और दहेज मे अपनी शक्तिशालिनी चतुरगिनी सेना दी।

ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर के नृपति कणेरुदत्त, चम्पानरेश पुण्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओ के साथ वाराणसी नगरी मे आगये। सभी सेनाओ को सुसगठित कर वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और ब्रह्मदत्त ने दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये सेना के साथ काम्पिल्यपुर की ओर प्रयाण किया।

दीर्घ ने सैनिक अभियान का समाचार सुनकर वाराणसी-नरेश कटक के पास दूत भेजा और कहलाया कि वे दीर्घ के साथ अपनी वाल्यावस्था मे चली आई अटूट मैत्री न तोडे।

भूपति-कटक ने उस दूत के साथ दीर्घ को कहलवाया – "हम पाँचों मित्रो मे सहोदरो के समान प्रेम था। स्वर्गीय काम्पिल्येश्वर ब्रह्म का पुत्र और राज्य तुम्हे धरोहर के रूप में रक्षार्थ सौपे गये थे। सौपी हुई वस्तु तो डाकिनी भी नही खाती पर दीर्घ तुमने जैसा घृणित और क्षुद्र पापाचरण किया है वैसा तो अधम से अधम चाडाल भी नही कर सकता। अतः तेरा काल बनकर ब्रह्मदत्त आ रहा है, युद्ध या पलायन में से एक कार्य चुन लो।"

दीर्घ भी वडी शक्तिशाली सेना ले ब्रह्मदत्त के साथ युद्ध करने के लिये रण-क्षेत्र मे आ डटा। दोनो सेनाओ के बीच भयकर युद्ध हुआ। दीर्घ की उस समय के रणनीति-कुशल शक्तिशाली योद्धाओ मे गणना की जाती थी। उसने ब्रह्मदत्त और उसके सहायकों की सेनाओ को अपने भीषण प्रहारो से प्रारम्भ मे छिन्न-भिन्न कर दिया। अपनी सेनाओ को भय-विह्वल देख ब्रह्मदत्त क्रुद्ध हो कृतान्त की तरह दीर्घ की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रो से प्रहार करने लगा। ब्रह्मदत्त के असह्य पराक्रम के सम्मुख दीर्घ की सेना भाग खड़ी हुई। ब्रह्मदत्त ने दण्डनीति के साथ-साथ भेदनीति से भी काम लिया और दीर्घ के अनेक योद्धाओ को अपनी ओर मिला लिया।

अन्त में दीर्घ और ब्रह्मदत्त का द्वन्द्व-युद्ध हुआ। दोनो एक-दूसरे पर घातक से घातक शस्त्रास्त्रो के प्रहार करते हुए बडी देर तक द्वन्द्व-युद्ध करते रहे पर जय-पराजय का कोई निर्णय नही हो सका। दोनो ने एक-दूसरे के अमोघास्त्रों को अपने पास पहुँचने से पहले ही काट डाला। दोनो योद्धा एक-दूसरे के लिये अजेय थे।

एक पतित पुरुषाधम मे भी इतना पौरुष और पराक्रम होता है यह दीर्घ के अद्भुत युद्ध-कौशल को देखकर दोनो ओर की सेनाओ के योद्धाओ को प्रथम बार अनुभव हुआ। दोनो ओर के सैनिक चित्रलिखित से खडे दोनो विकट-योद्धाओ का द्वन्द्व-युद्ध देख रहे थे।

दर्शको को सहसा यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि आषाढ की घनघोर मेघ-घटाओ के समान गम्भीर ध्वनि करता हुआ, प्रलयकालीन अनल की तरह जाज्वल्यमान ज्वालाओ को उगलता हुआ, भीषण उल्कापात-का-सा दृश्य प्रस्तुत करता हुआ, अपनी अदृष्टपूर्व तेज चमक से सबकी आखो को चकाचौंध करता हुआ एक चक्ररत्न अचानक प्रकट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा कर उसके दक्षिण पार्श्व मे मुण्ड हस्त मात्र की दूरी पर आकाश मे अधर स्थित हो गया।

ब्रह्मदत्त ने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी पर चक्र को धारण कर घुमाया और उसे दीर्घ की ओर प्रेषित किया। क्षण भर मे ही घृणित पापाचरणो और भीषण षड्यन्त्रो का उत्पत्तिकेन्द्र दीर्घ का मस्तक उसके कालिमा-कलुषित धड से चक्र द्वारा अलग किया जाकर पृथ्वी पर लुढक गया।

पापाचार की पराजय और सत्य की विजय से प्रसन्न हो सेनाओ ने जय-घोषो से दिशाओ को कपित कर दिया।

वड़े समारोहपूर्वक ब्रह्मदत्त ने काम्पिल्यपुर में प्रवेश किया।

चुलनी अपने पतित पापाचार के लिए पश्चात्ताप करती हुई ब्रह्मदत्त के नगर-प्रवेश से पूर्व ही प्रव्रजित हो अन्यत्र विहार कर गई।

प्रजाजनो और मित्र-राजाओं ने वड़े ही आनन्दोल्लास और समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न किया।

इस तरह ब्रह्मदत्त निरन्तर सोलह वर्ष तक कभी विभिन्न भयानक जगलो मे भूख-प्यास आदि के दु.ख भोगता हुआ और कभी भव्य-प्रासादो मे सुन्दर रमणी-रत्नो के साथ आनन्दोपभोग करता हुआ अपने प्राणो की रक्षा के लिए पृथ्वी-मण्डल पर घूमते रह कर अन्त में भीषण सघर्षो के पश्चात् अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

काम्पिल्यपुर के राज्य सिंहासन पर बैठते ही उसने वन्धुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नवती, पुण्यमानी, श्रीमती और कटकवती इन नवो ही अपनी पत्नियो को उनके पितृ-गृहो से वुला लिया।

ब्रह्मदत्त छप्पन वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रह कर राज्य-सुखो का उपभोग करता रहा और तदनन्तर वहुत बड़ी सेना लेकर भारत के छह खण्डो की विजय के लिए निकल पड़ा। सम्पूर्ण भारत खण्ड की विजय के अभियान मे उसने सोलह वर्ष तक अनेक लडाइया लड़ी और भीषण सघर्षों के बाद वह सम्पूर्ण भारत पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर काम्पिल्यपुर लौटा।

वह चौदह रत्नो, नवनिधि और चक्रवर्ती की सव समृद्धियो का स्वामी वन गया।

नवनिधियो से चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की यथेप्सित भोग सामग्री इच्छा करते ही उपलब्ध हो जाती थी। देवेन्द्र के समान सासारिक भोगो का उपभोग करते हुए वड़े आनन्द के साथ उसका समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी रानियो, परिजनो एव मंत्रियो से घिरा हुआ अपने रंगभवन मे बैठा मधुर संगीत और मनोहारी नाटको से मनोरजन कर रहा था। उस समय एक दासी ने ब्रह्मदत्त की सेवा में एक वहुत ही मनोहर पुष्प-स्तवक प्रस्तुत किया जिस पर सुगन्धित फूलो से हस, मृग, मयूर, सारस, कोकिल आदि की वड़ी सुन्दर और सजीव आकृतिया गुंफित की हुई थीं। उच्च कोटि की कलाकृति के प्रतीक परम मनोहारी उस पुष्प-कन्दुक को विस्मय और कौतुक से देखते-देखते ब्रह्मदत्त के हृदय में धुंधली सी स्मृति जागृत हुई कि इस तरह के अलौकिक कलापूर्ण पुष्प-स्तवक पर अंकित नाटक उसने कही देखे हैं। ऊहापोह, एकाग्र चिन्तन और स्मृति पर अधिक जोर देने से उसके स्मृति-पटल पर सौधर्मकल्प में पद्मगुल्म विमान के देव का पूर्व भव स्पष्ट अंकित हो गया। उसे उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और अपने पूर्व के पाच भव यथावत् दिखने लगे। ब्रह्मदत्त तत्क्षण मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पडा।

यह देख सामानियों, अमात्यों और आत्मियों पर मानों वज्रपात सा हो गया। विविध शीतलोपचारों से बड़ी देर मे ब्रह्मदत्त की मूर्च्छा टूटी पर अपने पूर्व भवो को याद कर वह बार-बार मूर्च्छित हो जाता। आत्मियों द्वारा मूर्च्छा का कारण बार-बार पूछने पर भी उसने अपने पूर्व भवो की स्मृति का रहस्य प्रकट नहीं किया और यही कहता रहा कि यों ही पित्तप्रकोप से मूर्च्छा आ जाती है।

ब्रह्मदत्त एकान्त में निरन्तर यही सोचता रहा कि वह अपने पूर्व भवों के सहोदर से कहां, कब और कैसे मिल सकता है। अन्त में एक उपाय उसके मस्तिष्क मे आया। उसने अपने विशाल साम्राज्य के प्रत्येक गांव और नगर में घोषणा करवा दी कि जो इस गाथाद्वय के चतुर्थ पद की पूर्ति कर देगा उसे वह अपना आधा राज्य दे देगा। वे गाथाएं इस प्रकार थी :-

दासा दसण्णए आसी, मिया कालिंजरे णगे।
हंसा मयंग तीराए, सोवागा कासिभूमिए।।
देवा य देवलोयम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
.. ..

आधे राज्य की प्राप्ति की आशा मे प्रत्येक व्यक्ति ने इस समस्या-पूर्ति का पूरा प्रयास किया और यह डेढ़ गाथा जन-जन की जिह्वा पर मुखरित हो गई।

एक दिन चित्त नामक एक महान् तपस्वी श्रमण ग्राम नगरादि में विचरण करते हुए काम्पिल्यनगर के मनोरम उद्यान में आये और एकान्त में कायोत्सर्ग कर ध्यानावस्थित हो गये। अपने कार्य में व्यस्त उस उद्यान का माली उपरोक्त तीन लाइनें बार-बार गुनगुनाने लगा। माली के कंठ से इस डेढ़ गाथा को सुन कर चित्त मुनि के मन मे भी संकल्प-विकल्प ऊहापोह उत्पन्न हुआ और उन्हे भी जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे भी अपने पूर्व-जन्म के पांच भवो को अच्छी तरह से देखने लगे। उन्होंने समस्या-पूर्ति करते हुए मालाकार को निम्नलिखित आधी गाथा कण्ठस्थ करवा दी :-

इमा णो छट्ठिया जाई, अण्णमण्णेहिं जा विणा।।

माली ने इसे कंठस्थ कर खुशी-खुशी ब्रह्मदत्त के समक्ष जाकर समस्या-पूर्ति कर दोनों गाथाएं पूरी सुना दीं। सुनते ही राजा पुनः मूर्च्छित हो गया। यह देख ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक यह समझकर कि इस माली के इन कठोर वचनों के कारण राजाधिराज मूर्च्छित हुए हैं, उस माली को पीटने लगे। राज्य पाने की आशा से आया हुआ माली ताड़ना पाकर स्तब्ध रह गया और बार-बार कहने लगा - "मैं निरपराध हूं, मैंने यह कविता नहीं बनाई है। मुझे तो उद्यान में ठहरे हुए एक मुनि ने सिखाई है।"

थोड़ी ही देर में शीतलोपचारों से ब्रह्मदत्त पुनः स्वस्थ हुआ। उसने राज-पुरुषों को शान्त करते हुए माली से पूछा - "भाई! क्या यह चौथा पद तुमने बनाया है?"

माली ने कहा – "नही पृथ्वीनाथ ! यह रचना मेरी नही। उद्यान मे आये हुए एक तपस्वी मुनि ने यह समस्या-पूर्ति की है।"

ब्रह्मदत्त ने प्रसन्न हो मुकुट के अतिरिक्त अपने सब आभूषण उद्यानपाल को पारितोषिक के रूप मे दे दिये और अपने अन्त पुर एव पूर्ण ऐश्वर्य के साथ मनोरम उद्यान मे पहुचा। चित्त मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त ने उनके चरणों पर मुकुट-मणियो से प्रकाशमान अपना मस्तक झुका दिया। उसके साथ ही साम्राज्ञियो, सामन्तो आदि के लाखो मस्तक भी झुक गये। पूर्व के अपने पांच भवों का भ्रातृस्नेह ब्रह्मदत्त के हृदय मे हिलोरे लेने लगा। उसकी आंखो से अविरल अश्रु-धाराए बहने लगी। पूर्व स्नेह को याद कर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

मुनि के अतिरिक्त सभी के विस्फारित नेत्र सजल हो गये। राजमहिषी पुष्पवती ने साश्चर्य ब्रह्मदत्त से पूछा – "प्राणनाथ ! चक्रवर्ती सम्राट् होकर आज आप सामान्य जन की तरह करुण विलाप क्यो कर रहे हैं ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "महादेवि ! यह महामुनि मेरे भाई है।"

पुष्पवती ने साश्चर्य प्रश्न किया – "यह किस तरह महाराज ?"

ब्रह्मदत्त ने गद्गद स्वर मे कहा – "यह तो मुनिवर के मुखारविन्द से ही सुनो।"

साम्राज्ञियो के विनय भरे अनुरोध पर मुनि चित्त ने कहना प्रारम्भ किया – "इस ससार-चक्र मे प्रत्येक प्राणी कुम्भकार के चक्र पर चढे हुए मृत्पिण्ड की तरह जन्म, जरा और मरण के अनवरत क्रम से अनेक प्रकार के रूप धारण करता हुआ अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणी से माता, पिता, पुत्र, सहोदर, पति, पत्नी आदि स्नेहपूर्ण सम्बन्धो से बँधकर अनन्त वार विछुड़ चुका है।"

"सक्षेप मे यही कहना पर्याप्त होगा कि यह ससार वास्तव मे सयोग-वियोग, सुख-दुख और हर्ष-विषाद का सगमस्थल है। स्वय अपने ही वनाये हुए कर्मजाल मे मकडी की तरह फँसा हुआ प्रत्येक प्राणी छटपटा रहा है। कर्मवश नट की तरह विविध रूप वनाकर भव-भ्रमण मे भटकते हुए प्राणी के अन्य प्राणियो के साथ इन विनाशशील पिता, पुत्र, भाई आदि सम्वन्धो का कोई पारावार ही नही है।"

"हम दोनो भी पिछले पाच भवो मे सहोदर रहे हैं। पहले भव मे श्रीदह ग्राम के शाण्डिल्यायन ब्राह्मण की जसमती नामक दासी के गर्भ से हम दोनों दास के रूप मे उत्पन्न हुए। वह ब्राह्मण हम दोनो भाइयो से दिन भर कसकर श्रम करवाता। एक दिन उस ब्राह्मण ने कहा कि यदि कृषि की उपज अच्छी हुई तो वह हम दोनो का विवाह कर देगा। इस प्रलोभन से हम दोनो भाई और भी अधिक कठोर परिश्रम से विना भूख-प्यास आदि की चिन्ता किये रात-दिन जी तोड कर काम करने लगे।"

"एक दिन शीतकाल में हम दोनों भाई खेत मे कार्य कर रहे थे कि अचानक आकाश काली मेघ-घटाओ से छा गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा। ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनों भाई खेत में ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये। वर्षा थमने का नाम नही ले रही थी और चारो ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था। क्रमश. सूर्यास्त हुआ और चारों ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया। दिन भर के कठिन श्रम से हमारा रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरो से ठिठुरे हुए हम दोनों भाइयों के दांत बोलने लगे।"

"वटवृक्ष के कोटर मे सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे मे इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयंकर विषधर ने हम दोनों को डस लिया। हम दोनो भाई अनाथावस्था में असहाय छटपटाते रहे। विष का प्रभाव बढ़ा और हम दोनो भाई एक-दूसरे से सटे हुए कीट-पतंग की तरह कराल काल के ग्रास बन गये।"

"तदनन्तर हम दोनों कालिंजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप में उत्पन्न हुए। क्रमशः हम युवा हुए और दोनों भाई अपनी मां के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे। एक दिन हम दोनो प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये। पानी में मुँह भी नही दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बीध दिया। कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनो पञ्चत्व को प्राप्त हुए।"

"उसके पश्चात् हम दोनो मयंग नदी के तट पर स्थित सरोवर मे एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप में उत्पन्न हुए और सरोवर मे क्रीडा करते हुए हम युवा हुए। एक पारधी ने हम दोनो को एक साथ एक जाल में फँसा लिया और गर्दन तोड़-मरोड़ कर हमे मार डाला।"

"हंसो की योनि के पश्चात् हम दोनो काशी जनपद के वाराणसी नगर के बड़े समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अह्निका (अणहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप मे उत्पन्न हुए। मेरा नाम चित्र और इनका (ब्रह्मदत्त का) नाम संभूत रखा गया। बड़े लाड-प्यार से हम दोनों भाइयों का लालन-पालन किया गया। जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची[1] नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौंपा।"

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा – "यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रो को सम्पूर्ण कलाओ में निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें गृहतल मे

[1] चउवन्न महापुरिस चरियं मे पुरोहित का नाम 'मच्च' दिया हुआ है।

प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा मे नही वच सकते।"

"अपने प्राणो की रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमे पढ़ाने लगा।"

"हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय मे पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनो भाइयो ने विद्या-अध्ययन के लोभ मे यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनों के अनुचित सम्बन्ध के विषय मे सूचना नही दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनो भाई सव कलाओं मे निष्णात हो गये।"

"अन्त मे एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापाचरण का पता चल गया और उन्होने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया पर हम दोनो ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहां से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहां सनत्कुमार चक्रवर्ती का मंत्री वन गया।"

"हम दोनो भाई वाराणसी के वाजारों, चौराहो और गलीकूंचो मे लय-ताल पर मधुर सगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी सुमधुर स्वर-लहरियो से पुर-जन विशेषतः रमणिया आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौड़ी चली आती। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिको ने काशीनरेश से कह कर हम दोनो भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनो भाइयो ने मन मसोस कर नगर में जाना वन्द कर दिया।"

"एक दिन वाराणसी नगर में कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हसी-खुशी के मादक वातावरण मे झूम उठा। हम दोनो भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का सवरण नही कर सके और लोगो की दृष्टि से छिपते हुए शहर में घुस पड़े और हम दोनों ने नगर मे घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।"

"एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनो भाइयों के कण्ठो से अज्ञात मे ही स्वरलहरिया निकल पडी। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रो मे हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड पड़ा। हम दोनो भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारो ओर हजारो नर-नारी एकत्रित हो गये और हमारा मनमोहक सगीत सुनने लगे।"

"सहसा भीड मे से किसी ने पुकार कर कहा—'अरे! ये तो वही चाण्डाल के छोकरे हैं जिनका राजाज्ञा से नगर-प्रवेश निषिद्ध है।"

"वस, फिर क्या था, हम दोनो भाइयों पर थप्पडो, लातो, मुक्को और भगने पर लाठियो व पत्थरो की वर्षा होने लगी। हम दोनो अपने प्राणो की रक्षा के लिए प्राण-पण से भाग रहे थे और नागरिको की भीड हमारे पीछे भागती

हुई हम पर पत्थरों की इस तरह वर्षा कर रही थी मानो हम मानववेषधारी पागल कुत्ते हो ।"

"हम दोनो नागरिकों द्वारा कुटते-पिटते शहर के बाहर आ गये । तब कही क्रुद्ध जनसमूह ने हमारा पीछा छोडा । फिर भी हम जगल की ओर बेतहाशा भागे जा रहे थे । अन्त मे हम एक निर्जन स्थान मे रुके और यह सोच कर कि ऐसे तिरस्कृत पशुतुल्य जीवन से तो मर जाना अच्छा है, हम दोनों भाइयों ने पर्वत से गिर कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया ।"

"आत्महत्या का दृढ निश्चय कर हम दोनो भाई एक विशाल पर्वत के उच्चतम शिखर की ओर चढने लगे । पर्वत शिखर पर चढ़ कर हमने देखा कि एक मुनि शान्त मुद्रा मे ध्यानस्थ खड़े हैं । मुनि के दर्शन करते ही हम दोनों ने शान्ति का अनुभव किया । हम मुनि के पास गये और उनके चरणो पर गिर पड़े ।"

"तपस्वी ने थोडी ही देर मे ध्यान समाप्त होने पर आखे खोली और हमे पूछा – "तुम कौन हो और इस गिरिशिखर पर किस प्रयोजन से आये हो ?"

"हमने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् सुनाते हुए कहा कि इस जीवन से ऊबे हुए हम पर्वतशिखर से कूद कर आत्महत्या करने के लिए यहा आये है ।"

"इस पर करुणार्द्र मुनि ने कहा – "इस प्रकार आत्म-हत्या करने से तो तुम्हारे ये पार्थिव शरीर ही नष्ट होगे । दु खमय जीवन के मूल कारण जो तुम्हारे जन्मान्तरो के अर्जित कर्म हैं वे तो ज्यो के त्यो विद्यमान रहेगे । शरीर का त्याग ही करना चाहते हो तो सुरलोक और मुक्ति के सुख देने वाले तपश्चरण से अपने शरीर का पूरा लाभ उठा कर फिर शरीर-त्याग करो । तपस्या की आग में तुम्हारे पूर्व-सचित अशुभ कर्म तो जल कर भस्म होगे ही, पर इसके साथ-साथ शुभ कर्मों को भी तुम उपार्जित कर सकोगे ।"

"मुनि का हितपूर्ण उपदेश हमे बड़ा युक्तिसगत और रुचिकर लगा और हम दोनो भाइयो ने तत्क्षण उनके पास मुनि धर्म स्वीकार कर लिया । दयालु मुनि ने सब शास्त्रो का हमें अध्ययन कराया । हमने षष्टम-अष्टम भक्त, मास-क्षमण आदि तपस्याए कर अपने शरीरो को सुखा डाला ।"

"विभिन्न क्षेत्रो मे विचरण करते हुए हम दोनो एक दिन हस्तिनापुर पहुँचे और नगर के बाहर एक उद्यान मे कठोर तपश्चरण करने लगे ।"

"एकदा मास-क्षमण के पारण के दिन सभूत मुनि भिक्षार्थ हस्तिनापुर नगर मे गये । राजपथ पर नमूची ने सभूत मुनि को पहिचान लिया और यह सोच कर कि यह कही मेरे पापाचरण का भण्डाफोड न कर दे मुनि को नगर से बाहर धकेलने के लिए राजपुरुषों को आदेश दिया । नमूची का आदेश पाकर राजपुरुष घोर तपश्चरण से क्षीणकाय सभूत ऋषि पर तत्काल टूट पडे और उन्हे निर्दयता-

पूर्वक पीटने लगे।[1] मुनि शान्तभाव से उद्यान की ओर लौट पड़े। इस पर भी जब नमूची के सेवको ने पीटना बन्द नही किया तो मुनि क्रुद्ध हो गये। उनके मुख से भीषण आग की लपटे उगलती हुई तेजोलेश्या प्रकट हुई। बिजली की चमक के समान चकाचौंध कर देने वाली अग्निज्वालाओ से सम्पूर्ण गगनमण्डल लाल हो गया।[2] सारे नगर मे 'त्राहि-त्राहि' मच गई। झुण्ड के झुण्ड भयभीत नगरनिवासी आकर मुनि के चरणो मे सिर झुकाने लगे। सनत्कुमार चक्रवर्ती भी वहां पहुँचा और सम्भूत मुनि के चरणो मे मस्तक झुका कर उन्हे शान्त होने की प्रार्थना करने लगा। पर मुनि का कोप शान्त नही हुआ। तेजोलेश्या की ज्वालाए भीषण रूप धारण करने लगी।"

"सारे नभमण्डल को अग्निज्वालाओ से प्रदीप्त देख कर मैं भी घटना-स्थल पर पहुँचा और मैंने शीघ्र ही अपने भाई को शान्त किया।"

"पश्चात्ताप के स्वर मे सभूत ने कहा – 'ओफ्! मैंने बहुत बुरा किया[3]' और वे मेरे पीछे-पीछे चल दिये। क्षण भर मे ही अग्निज्वालाएं तिरोहित हो गईं।"

"हम दोनो भाई उद्यान मे लौटे और हमने विचार किया – इस नश्वर शरीर के पोषण हेतु हमे भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। हम निरीह-निर्मोही साधुओ को आहार एव इस शरीर से क्या प्रयोजन है? ऐसा विचार कर हम दोनो भाइयो ने सलेखना कर चारो प्रकार के आहार का जीवन भर के लिए परित्याग कर दिया।"

"उधर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने अपराधी का पता लगाने के लिए अपने अधिकारियो को आदेश देते हुए कहा – 'मेरे राज्य मे मुनि को कष्ट देने का किसने दुस्साहस किया? इसी समय उसे मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाय।"

"तत्क्षण नमूची अपराधी के रूप में प्रस्तुत किया गया।"

"सनत्कुमार ने क्रुद्ध हो कर्कश स्वर मे कहा – "जो साधुओ की सत्कार-सम्मानादि से पूजा नही करता वह भी मेरे राज्य में दण्डनीय है, इस दुष्ट ने तो महात्मा को ताड़ना कर बड़ा कष्ट पहुचाया है। इसे चोर की तरह रस्सो से बाध कर सारे नगर मे घुमाया जाय और मेरी उपस्थिति मे मुनियो के समक्ष

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरिय मे स्वय पुरोहित द्वारा मुनि को पीटने का उल्लेख है। यथा –
पुरोहियेण। 'अमगल' ति कलिऊण दढ कसप्पहारेण ताडिओ।
[पृष्ठ २१६]

[2] तेजोलेश्योल्ललासाय, ज्वालापटलमालिनी।
तडिन्मण्डलमकीर्णामिव द्यामभितन्वती ।।७२।।
[त्रिषष्टि शलाका पु च, पर्व ६, सर्ग १]

[3] 'अहो दुक्कयं कय' ति भणतो उद्विग्गो तप्पएसाओ।
[चउप्पन्न म पुरिस च, पृ० २१६]

प्रस्तुत किया जाय। मै इसे कठोर से कठोर दण्ड दूंगा ताकि भविष्य मे कोई भी इस प्रकार का अधर्मपूर्ण दुस्साहस न कर सके।"

"नमूची को रस्सो से बाध कर सारे नगर में घुमाया गया। सनत्कुमार अपने अनुपम ऐश्वर्य के साथ हमारे पास आया और रस्सो से बधे हुए नमूची को हमे दिखाते हुए बोला—'पूज्यवर! आपका यह अपराधी प्रस्तुत है। आज्ञा दीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?"

"हमने चक्रवर्ती को उसे मुक्त कर देने को कहा। तदनुसार सनत्कुमार ने भी उसे तत्काल मुक्त कर अपने नगर से बाहर निकलवा दिया।"

"उसी समय सनत्कुमार की चौसठ हजार राजमहिपियो के साथ पट्टमहिषि सुनन्दा हमे वन्दन करने के लिए आई।[1] मुनि सभूत के चरणों मे नमस्कार करते समय स्त्री-रत्न सुनन्दा के भौरो के समान काले-घुंघराले, सुगन्धित लम्बे वालो की सुन्दर लटी का सभूत के चरणों से स्पर्श हो गया।[2] विधिवत् वन्दन के पश्चात् चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार सहित लौट गया।"

"हम दोनो साधु समाधिपूर्वक साथ-साथ ही अपनी आयु पूर्ण कर सौधर्म कल्प के नलिनी गुल्म (पद्मगुल्म) नामक विमान मे देव हुए। वहाँ हम दोनों दिव्य सुखों का उपभोग करते रहे। देव आयु पूर्ण होने पर मैं पुरिमताल नगर के महान् समृद्धिशाली गुणपुञ्ज नामक श्रेष्ठि की पत्नी नन्दा के गर्भ से उत्पन्न हुआ और युवा होने पर भी विषय-सुखो मे नही उलझा और एक मुनि के पास धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रजित हो गया। सयम का पालन करते हुए अनेक क्षेत्रो मे विचरण करता हुआ मै इस उद्यान मे आया और उद्यान-पालक के मुख से ये गाथाए सुनकर मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। इस छट्ठे जन्म मे हम दोनो भाइयो का वियोग किस कारण से हुआ इसका मुझे पता नही।"[3]

यह सुनकर सब श्रोता स्तब्ध रह गये और साश्चर्य विस्फारित नेत्रो से कभी मुनिवर की ओर एव कभी ब्रह्मदत्त की ओर देखने लगे।

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरिय मे, किसी दूसरे मुनि को, जो उस उद्यान मे ठहरे हुए थे, चक्रवर्ती की रानियो का वन्दन हेतु आने का उल्लेख है। [पृष्ठ २१६]

[2] तस्याश्चालकसस्पर्शं, सभूतमुनिरन्वभूत्।
रोमाचितश्च सद्योऽभूच्छलान्वेषी हि मन्मथ ॥९६॥

[त्रिषष्टि श पु च, पर्व ९, सर्ग १]

[3] (क) ता ण याणामि छट्ठीए जातीए विओओ कहमम्ह जाओ त्ति।

[चउप्पन्न महापुरिस चरिय, पृष्ठ २१७]

(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र मे सभूत द्वारा किये गये निदान का चित्त को उसी समय पता चल जाने और चित्त द्वारा सभूत को निदान न करने के सम्बन्ध मे समझाने का उल्लेख है किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १३ की गाथा २८ और २९ मे स्पष्ट है कि चित्त को सभूत के निदान का ज्ञान नही था।

ब्रह्मदत्त ने कहा – "महामुने ! इस जन्म मे हम दोनों भाइयों के बिछुड़ जाने का कारण मुझे मालूम है । चक्रवर्ती सनत्कुमार के अद्भुत ऐश्वर्य और उसके सुनन्दा आदि स्त्रीरत्नो के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर मैंने तत्क्षण निदान कर लिया था कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मुझे भी चक्रवर्ती के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति हो । मैंने अपने इस अध्यवसाय की अन्तिम समय तक आलोचना निन्दा नही की[1] अत सौधर्म देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर उस निदान के कारण मैं छह खण्ड का अधिपति वन गया और देवताओं के समान यह महान् ऋद्धि मुझे प्राप्त हो गई । मेरे इस विशाल राज्य एवं ऐश्वर्य को आप अपना ही समझिये । अभी आपकी इस युवावस्था मे विषय-सुखो और सासारिक भोगो के उपभोग करने का समय है । आप मेरे पाँच जन्मो के सहोदर है अत. यह समस्त साम्राज्य आपके चरणो मे समर्पित है । आइये ! आप स्वेच्छापूर्वक सासारिक सुखो का यथारुचि उपभोग कीजिये और जव सुखोपभोग से सव इन्द्रिया तृप्त हो जायं तव वृद्धावस्था मे संयम लेकर आत्मकल्याण की साधना कर लेना । तपस्या से भी आखिर सव प्रकार की समृद्धि, ऐश्वर्य और भोगोपभोगों की प्राप्ति होती है, जो आपके समक्ष सव उपस्थित हैं फिर आपको तपस्या करने की क्या आवश्यकता है ? महान् पुण्यो के प्रकट होने से मुझे आपके दर्शन हुए है । कृपा कर इच्छानुसार इस ऐश्वर्य का आनन्द लीजिये, यह सब कुछ आपका ही है ।"

मुनि चित्त ने कहा – "चक्रवर्तिन् ! इस निस्सार संसार मे केवल धर्म ही सारभूत है । शरीर, यौवन, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, समृद्धि और बन्धु-बान्धव, ये सब जल-बुदबुद के समान क्षण-विध्वसी हैं । तुमने षट्खण्ड की साधना कर बहिरग शत्रुओ पर विजय प्राप्त करली, अब मुनिधर्म अंगीकार कर काम क्रोधादि अन्तरग शत्रुओं को भी जीत लो जिससे कि तुम्हें मुक्ति का अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त हो सके ।"

"प्रगाढ स्नेह के कारण तुम मुझे अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिये आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हो पर मैंने तो प्राप्त सपत्ति का भी परित्याग कर सयम ग्रहण किया है, क्योकि मैं समस्त विषय-सुखो को विषवत् घातक और त्याज्य समझता हूँ ।"

"तुम स्वय यथावत् यह अनुभव कर रहे हो कि हम दोनों ने दास, मृग, हस और मातग के भवो मे कितने दारुण दु.ख देखे एव तपश्चरण के प्रभाव से सौधर्म कल्प के दिव्य सुखो का उपभोग किया । पुण्य के क्षीण हो जाने से हम देवलोक

[1] हत्थिणपुरम्मि चित्ता, दट्ठूण नरवइ महिड्ढिय ।
कामभोगेसु गिद्धेण, नियाणमसुह कड ॥२८॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स, इम एयारिस फल ।
जाणमाणो वि जं धम्म, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १३]

से गिरकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए है। यदि तुमने इस अलभ्य मानव-जन्म का मुक्तिपथ की साधना में उपयोग नही किया तो और भी अधोगतियो मे-असह्य दु.ख उठाते हुए तुम्हे भव-भ्रमण करना पडेगा।"

"इस आर्य धरा पर श्रेष्ठ कुल में तुमने मानव-जन्म पाया है। इस अमूल्य मानव-जन्म को विषय-सुखो मे व्यर्थ ही बिताना अमृत को कण्ठ मे न उतार कर पैर धोने के उपयोग में लेने के समान है। राजन्! तुम यह सब जान-बूझकर भी बालक की तरह अनन्त दु खदायी इन्द्रिय-सुख मे क्यों लुब्ध हो रहे हो?"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "भगवन्! जो आपने कहा है वह शतप्रतिशत सत्य है। मै भी जानता हूँ कि विषयासक्ति सब दु खो की जननी और सब अनर्थों की मूल है किन्तु जिस प्रकार गहरे दलदल मे फँसा हुआ हाथी चाहने पर भी उससे बाहर नही निकल सकता उसी प्रकार मै भी निदान से प्राप्त इन कामभोगो के कीचड मे बुरी तरह फँसा हुआ हूँ अत मैं सयम ग्रहण करने मे असमर्थ हूँ।"

चित्त ने कहा – "राजन्! यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन तीव्र गति से बीतता चला जा रहा है, दिन और रात्रियां दौडती हुई जा रही हैं। ये काम-भोग भी जिनमें तुम फँसे हुए हो सदा बने रहने वाले नही है। जिस प्रकार फलविहीन वृक्ष को पक्षी छोडकर चले जाते है उसी प्रकार ये काम-भोग एक दिन तुम्हे अवश्य छोड देगे।"

अपनी बात समाप्त करते हुए मुनि ने कहा – "राजन्! निदान के कारण तुम भोगों का पूर्णतः परित्याग करने मे असमर्थ हो पर तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखते हुए परोपकार के कार्यो मे तो सलग्न रहो जिससे कि तुम्हे दिव्य सुख प्राप्त हो सके।"

यह कहकर मुनि चित्त वहां से अन्यत्र विहार कर गये। उन्होने अनेक वर्षों तक संयम का पालन करते हुए कठोर तपस्या की आग में समस्त कर्मो को भस्मसात् कर अन्त मे शुद्ध-बुद्ध हो निर्वाण प्राप्त किया।

मुनि के चले जाने के पश्चात् ब्रह्मदत्त अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धियो और राज्यश्री का उपभोग करने लगा। भारत के छह ही खण्डों के समस्त भूपति उसकी सेवा मे सेवक की तरह तत्पर रहते थे। वह दुराचार का कट्टर विरोधी था।

एक दिन ब्रह्मदत्त युवनेश्वर (यूनान के नरेश) से उपहार मे प्राप्त एक अत्यन्त सुन्दर घोड़े पर आरूढ हो उसके वेग की परीक्षा के लिये काम्पिल्यपुर के बाहर घूमने को निकला। चाबुक की मार पड़ते ही घोड़ा बडे वेग से दौडा और ब्रह्मदत्त द्वारा रोकने का प्रयास करने पर भी नही रुका और अनेक नदी, नालो एव वनो को पार करता हुआ दूर के एक घने जंगल मे जा रुका।

उस वन मे सरोवर के तट पर उसने एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार के साथ सभोग करते देखा और इस दुराचार को देख कर वह क्रोध से तिलमिला

उठा। उसने स्वैर और स्वैरिणी को अपने चावुक से धुनते हुए उनकी चमड़ी उघेड दी।

थोडी ही देर मे ब्रह्मदत्त के अगरक्षक अश्व के पदचिह्नो का अनुसरण करते हुए वहा आ पहुँचे और वे भी उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आये।

उधर उस स्वैरिणी नागकन्या ने चावुक की चोटों से लहूलुहान अपना तन अपने पति नागराज को वताते हुए करुण पुकार की – "नाथ! आज तो आपकी प्राणप्रिया को कामुक ब्रह्मदत्त ने मार ही डाला होता। मैं अपनी सखियों के साथ वन-विहार एव जल-क्रीडा के पश्चात् लौट रही थी कि मुझे उस स्त्री-लम्पट ने देखा और वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो मेरे पातिव्रत्य धर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत हो गया। मेरे द्वारा प्रतीकार करने पर मुझे निर्दयता-पूर्वक चावुक से पीटने लगा। मैंने वार-वार आपका नाम वताते हुए उससे कहा कि मैं महान् प्रतापी नागराज की पतिव्रता प्रेयसी हूँ पर वह अपने चक्रवर्तित्व के घमण्ड मे आपसे भी नही डरा और मुझ पतिपरायणा अवला को तव तक पीटता ही रहा जव तक कि मैं अधमरी हो मूच्छित नही हो गई।"

यह सुन कर नागराज प्रकुपित हो ब्रह्मदत्त का प्राणान्त कर डालने के लिये प्रच्छन्न रूप से उसके शयनागार में प्रविष्ट हुआ। उस समय रात्रि हो चुकी थी और ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था।

उस समय राजमहिषी ने ब्रह्मदत्त से प्रश्न किया – "स्वामिन्! आज आप अश्वारूढ़ हो अनेक अरण्यों मे घूम आये हैं, क्या वहाँ आपने कोई आश्चर्यजनक वस्तु भी देखी?"

उत्तर मे ब्रह्मदत्त ने नागकन्या के दुश्चरित्र और अपने द्वारा उसकी पिटाई किए जाने की सारी घटना सुना दी। यह त्रिया-चरित्र सुनकर छिपे हुए नागराज की आखे खुल गईं।

उसी समय ब्रह्मदत्त शारीरिक शका-निवारणार्थ शयन-कक्ष से वाहर निकला तो उसने कान्तिमान नागराज को साञ्जलि मस्तक झुकाये अपने सामने खडे देखा।

अभिवादन के पश्चात् नागराज ने कहा – "नरेश्वर! जिस पुंश्चली नागकन्या को आपने दण्ड दिया उसका मैं पति हूँ। उसके द्वारा आप पर लगाये गये असत्य आरोप से क्रुद्ध हो मैं आपके प्राण लेने आया था पर आपके मुंह से वास्तविक तथ्य सुनकर आप पर मेरा प्रकोप परम प्रीति मे परिवर्तित हो गया है। दुराचार का दमन करने वाली आपकी दण्ड-नीति से मैं अत्यधिक प्रभावित और प्रसन्न हूँ, कहिये मैं आपकी क्या सेवा करू?"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "नागराज! मैं यह चाहता हूँ कि मेरे राज्य मे पर-स्त्रीगमन, चोरी और अकाल-मृत्यु का नाम तक न रहे।"

"ऐसा ही होगा", यह कहते हुए नागराज बोला – "भारतेश ! आपकी परोपकारपरायणता प्रशंसनीय है। अब आप कोई निज हित की बात कहिये।"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "नागराज ! मेरी अभिलाषा है कि मैं प्राणिमात्र की भाषा को समझ सकूं।"

नागराज बोला – "राजन् ! मैं वास्तव मे आप पर बहुत ही अधिक प्रसन्न हूँ इसलिये यह अदेय विद्या भी आपको देता हूँ पर इस विद्या के अटल और कठोर नियम को आप सदा ध्यान मे रखे कि किसी प्राणी की बोली को समझ कर यदि आपने किसी और के सम्मुख उसे प्रकट कर दिया तो आपके सिर के सात टुकड़े हो जायेंगे।"

ब्रह्मदत्त ने सावधानी रखने का आश्वासन देते हुए नागराज के प्रति आभार प्रकट किया और नागराज भी ब्रह्मदत्त का अभिवादन करते हुए तिरोहित हो गया।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी अतीव प्रिया महारानी के साथ प्रसाधन-गृह में बैठा हुआ था। उस समय नर-घरोली और नारी-घरोली अपनी बोली में बात करने लगे। गर्भिणी घरोली अपने पति से कह रही थी कि वह उसके दोहद की पूर्ति के लिये ब्रह्मदत्त का अंगराग ला दे। नर-घरोली उससे कह रहा था – "क्या तुम मुझसे ऊब चुकी हो, जो जानबूझ कर मुझे मौत के मुह में ढकेल रही हो ?"

ब्रह्मदत्त घरोली दम्पत्ति की बात समझ कर सहसा अट्टहास कर हँस पड़ा। रानी ने अकस्मात् हँसने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त जानता था कि यदि उसने उस रहस्य को प्रकट कर दिया तो तत्काल मर जायगा, अत. वह बडी देर तक अनेक प्रकार की बाते बना कर उसे टालता रहा। रानी को निश्चय हो गया कि उस हँसी के पीछे अवश्य ही कोई बडा रहस्य छिपा हुआ है और उसके स्वामी उससे उसे छिपा रहे हैं। रानी ने नारीहठ का आश्रय लेते हुए दृढ स्वर मे कहा – "महाराज ! आप अपनी प्राण-प्रिया से भी कुछ छिपा रहे हैं, यह मुझे इस जीवन मे पहली ही बार अनुभव हुआ है। यदि आप मुझे हँसी का सही कारण नही बतायेंगे तो मैं इसी समय अपने प्राण दे दूगी।"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "महारानी ! मैं तुमसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता पर केवल यही एक ऐसा रहस्य है कि यदि इसे मैंने प्रकट कर दिया तो तत्काल मेरे प्राण निकल जायेंगे।"

रानी ने ब्रह्मदत्त की बात पर अविश्वास करते हुए निश्चयात्मक स्वर में कहा – "यदि ऐसा हुआ तो आपके साथ ही साथ मैं भी अपने प्राण दे दूगी, पर इस हँसी का कारण तो मालूम करके ही रहूँगी।"

रानी मे अत्यधिक आसक्ति होने के कारण ब्रह्मदत्त ने रानी के साथ मरघट मे जा चिता चुनवाई और रहस्य को प्रकट करने के लिये उद्यत हो गया।

नारी में आसक्ति के कारण अकाल-मृत्यु के लिये तैयार हुए ब्रह्मदत्त को समझाने के लिए उसकी कुलदेवी ने देवमाया से एक गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाया।

बकरी ने अपनी बोली मे बकरे से कहा – "स्वामिन्! राजा के घोडे को चराने के लिये जो हरी-हरी जौ की पूलिया पडी हुई है उनमे से एक पूली लाओ जिसे खाकर मै अपना दोहला पूर्ण करूँ।"

बकरे ने कहा – "ऐसा करने पर तो मैं राज-पुरुषों द्वारा मार डाला जाऊंगा।"

बकरी ने हठपूर्वक कहा – "यदि तुम जौ की पूली नही लाओगे तो मैं मर जाऊंगी।"

बकरे ने कहा – "तू मर जायगी तो मैं दूसरी बकरी को अपनी पत्नी बना लूगा।"

बकरी ने कहा – "इस राजा के प्रेम को भी तो देखो कि अपनी पत्नी के स्नेह मे जान-बूझ कर मृत्यु का आलिगन कर रहा है।"

बकरे ने उत्तर दिया – "अनेक पत्नियो का स्वामी होकर भी ब्रह्मदत्त एक स्त्री के हठ के कारण पतगे की मौत मरने की मूर्खता कर रहा है, पर मैं इसकी तरह मूर्ख नही हूँ।"

बकरे की बात सुन कर ब्रह्मदत्त को अपनी मूर्खता पर खेद हुआ और अपने प्राण बचाने वाले बकरे के गले मे अपना अमूल्य हार डाल कर राजप्रासाद की ओर लौट गया तथा आनन्द के साथ राज्यश्री का उपभोग करने लगा।

चक्रवर्ती की राज्यश्री का उपभोग करते हुए जब ५८४ वर्ष बीत चुके उस समय उसका पूर्व-परिचित एक ब्राह्मण उसके पास आया। ब्रह्मदत्त ने परिचय पाकर उसको बड़ा आदर-सम्मान दिया।

भोजन के समय ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त से कहा – "राजन्! जो भोजन आपके लिये बना है उसी भोजन को खाने की मेरी अभिलाषा है।"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "ब्रह्मन्! वह आपके लिये दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा।"

ब्रह्महठ के सामने ब्रह्मदत्त को हार माननी पडी और उसने उस ब्राह्मण तथा उसके परिवार के सब सदस्यों को अपने लिये बनाया हुआ भोजन खिला दिया।

रात्रि होते ही उस अत्यन्त गरिष्ठ और उत्तेजक भोजन ने अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया। अदम्य कामाग्नि ब्राह्मण-परिवार के रोम-रोम से प्रस्फुटित होने लगी। कामोन्माद मे अन्धा ब्राह्मण परिवार मा, बहिन, बेटी, पुत्रवधू, पिता, पुत्र, भाई आदि अगम्य सम्बन्धो को भूल गया। उस ब्राह्मण ने

और उसके पुत्र ने अपने परिवार की सब स्त्रियों के साथ पशु की तरह काम-क्रीडा करते हुए सारी रात्रि व्यतीत की ।

प्रात काल होते ही जब उस भोजन का प्रभाव कुछ कम हुआ तो ब्राह्मण-परिवार का कामोन्माद थोडा शान्त हुआ और परिवार के सभी सदस्य अपने घृणित दुष्कृत्य से लज्जित हो एक दूसरे से कतराते हुए अपना मुह छुपाने लगे ।

"अरे ! इस दुष्ट राजा ने अपने दूषित अन्न से मेरे सारे परिवार को घोर पापाचार मे प्रवृत्त कर पतित कर दिया ।" यह कहता हुआ ब्राह्मण अपने पाशविक कृत्य से लज्जित हो नगर के बाहर चला गया ।

वन में निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते हुए ब्राह्मण ने देखा कि एक चरवाहा पत्थर के छोटे-छोटे ढेलो को गिलोल से फेंक कर वटवृक्ष के कोमल और कच्चे पत्ते पृथ्वी पर गिरा कर अपनी बकरियो को चरा रहा है ।

गडरिये की अचूक और अद्भुत निशानेबाजी को देख कर ब्राह्मण ने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से अपने वैर का बदला लिया जा सकता है । ब्राह्मण ने उस गडरिये को धन दिया और कहा – "नगर में राजमार्ग पर श्वेत छत्र-चवरधारी जो व्यक्ति हाथी की सवारी किये निकले उसकी आंखे एक साथ दो पत्थर की गोलियो के प्रहार से फोड देना ।"

"अपने कृत्य के दुष्परिणाम का विचार किये बिना ही गड़रिये ने नगर मे जाकर गजारूढ हो राजपथ से निकलते हुए ब्रह्मदत्त की दोनो आंखे एक साथ गिलोल से दो गोलियां फेंक कर फोड़ डाली[1] ।"

"तत्क्षरण राजपुरुषो द्वारा गडरिया पकड लिया गया । उससे यह ज्ञात होने पर कि इस सारे दुष्कृत्य का सूत्रधार वही ब्राह्मण है जिसे गत दिवस भोजन कराया गया था, ब्रह्मदत्त बडा क्रुद्ध हुआ । उसने उस ब्राह्मण को परिवार सहित मरवा डाला । फिर भी अन्धे ब्रह्मदत्त का क्रोध शान्त नही हुआ । वह बार-बार सारी ब्राह्मण जाति को ही कोसने लगा एवं नगर के सारे ब्राह्मणो और अपने पुरोहितो तक को चुन-चुन कर उसने मौत के घाट उतार दिया ।"

अपने अन्धे कर दिये जाने की बात से प्रतिपल उसकी क्रोधाग्नि उग्ररूप धारण करती गई । उसने अपने मत्री को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आखे निकलवा कर बडे थाल मे उसके सम्मुख रख दी जायँ । मन्त्री ने आखो के समान श्लेष्मपुज चिकने लेसवा-लसोडा (गूदे) के गुठली निकले फलो से

[1] 'केण उण उवाएण पच्चु (पच्च) वयारो णखइणो कीरई ?" त्ति झायमाणेण कओ वहूहिं अ (उ) वयरियव्व विण्णासेहिं गुलियाधणुविक्खेवणिउणो वयसो । कयसब्भा-वाइसयस्स य साहिओ णिययाहिप्पाओ । तेणावि पडिवण्णा सरहस ।

[चउव्वन्न महापुरिस चरिय, पृ० २४३]

वडा थाल भर कर अन्धे ब्रह्मदत्त के सम्मुख रखवा दिया[1]। गूदो को ब्राह्मणों की आंखे समझ कर ब्रह्मदत्त अतिशय आनन्दानुभव करते हुए कहता – "ब्राह्मणो की आखो से थाल को वहुत अच्छी तरह भरा गया है।"

वह एक क्षण के लिये भी उस थाल को अपने पास से नही हटाता। रात दिन वार-वार उसका स्पर्श कर परम संतोप का अनुभव करता।

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष निरन्तर अति तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान मे विताये एव सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर[2] अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का वार-वार उच्चारण करता हुआ मर कर सातवी नर्क मे चला गया।

प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी

वारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जैन आगमो और ग्रन्थो से कतिपय अशो में मिलता-जुलता वर्णन वेदव्यास रचित महाभारत पुराण और हरिवश पुराण में भी उपलब्ध होता है।

ब्रह्मदत्त के जीवन की कतिपय घटनाएं जिनके सम्वन्ध में जैन और वैदिक परम्पराओं के साहित्य में समान मान्यता है उन्हे तुलनात्मक विवेचन हेतु यहा दिया जा रहा है :–

(१) ब्रह्मदत्त पाचाल जनपद के काम्पिल्यनगर मे निवास करता था।

वैदिक परम्परा :– काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य, त्वन्त.पुरनिवासिनी।
(महाभारत, शा० प०, अ० १३६, श्लो० ५)

ब्रह्मदत्तश्च पांचाल्यो, राजा वुद्धिमता वर.।
(वही, अ० २२४, श्लो० २६)

जैन परम्परा :–

'अत्थि इहेव जवुद्दीवे भारहे वासे णिरतर......पचालाहिहाणो जणवओ। तत्थ य..... कपिल्लं णाम णयरं। तम्मि .. वम्भयत्तो णाम चक्कवट्टी।' (चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१०)

---

[1] मतिणा वि मुणिऊण तस्स कम्मवसत्तणओ तिव्वमज्भवसायविसेस घेत्तूण लेसुरुडयतरुणो वहवे फलट्ठिया पक्खिविऊण थालम्मि णिवेइया पुरओ।

[2] (क) यातेपु जन्मदिवसोऽथ समा शतेपु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृद्ब्रुवाण।
हिसानुवन्धिपरिणामफलानुरूपा, ता सप्तमी नरकलोकभुव जगाम ॥
[त्रिपष्टि श पु चरित्र, पर्व ६, सर्ग १, श्लो ६००]

(ख) 'चउव्वन्न महापुरिस चरिय' मे ब्रह्मदत्त की ७१६ वर्ष की आयु वताई गई है। यथा – " अइक्कंताइ कइवयदिणाणि मत्तवामनयाइ सोलमुत्तराइ।
[चउव्वन्न महापुरिम चरिय, पृष्ठ २४४]

(२) ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव मे एक राजा की ऋद्धि देखकर यह निदान किया था – "यदि मैंने कोई सुकृत, नियम और तपश्चरण किया है तो उस सबके फलस्वरूप मै भी ऐसा राजा बनू ।"

वैदिक परम्परा :–

स्वतन्त्रश्च विहगोऽसौ, स्पृहयामास त नृपम् ।
दृष्ट्वा यान्त श्रियोपेत, भवेयमहमीदृश ।।४३।।
यद्यस्ति सुकृत किंचित्तपो वा नियमोऽपि वा ।
खिन्नोऽस्मि ह्युपवासेन, तपसा निष्फलेन च ।।४४।।

(हरिवश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :–

'सलाहणीओ चक्कवट्टिविहवो ममपि एस सपज्जउ त्ति जइ इमस्स तवस्स सामत्थमत्थि' त्ति हियएण चितिऊण कय णियाण त्ति । परिणय छक्खंडभरहाहिवत्तण ।

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१७)

(३) ब्रह्मदत्त को जातिस्मरण-ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हुआ इसका दोनो परम्पराओ मे निमित्तभेद को छोड कर समान वर्णन है ।

वैदिक परम्परा –

तच्छ्रुत्वा मोहमगमद्, ब्रह्मदत्तो नराधिप. ।
सचिवश्चास्य पाचाल्य , कण्डरीकश्च भारत ।।२२।।
ततस्ते तत्सर. स्मृत्वा, योगं तमुपलभ्य च ।
ब्राह्मण विपुलैरर्थैर्भोगैश्च समयोजयन् ।।२५।।

जैन परम्परा :–

'समुप्पण्णो मणम्मि वियप्पो-अण्णया वि मए एवं विहसगीओवलक्खिया णाडयविहि दिट्ठउव्वा, एय च सिरिदामकुसुमगड ति । एव च परिचितयंतेण सोहम्मसुरकप्पे पउमगुम्मे विमाणे सुरविलासिणीकलिज्जमाणणाड़यविही दिट्ठा । सुमरिओ अत्तणो पुव्वभवो । तओ मुच्छावसमउलमाणलोयणो सुकुमारत्तणणीसहवेविरसरीरो तक्खण चेव धरायलम्मि णिवड़िओ त्ति ।'

(चउवन्न महापुरिस चरिय, पृ० २११)

(४) ब्रह्मदत्त के पूर्वभवो का वर्णन दोनो परम्पराओं द्वारा एक दूसरे से काफी मिलता जुलता दिया गया है ।

वैदिक परम्परा :–

सप्त व्याधा दशार्णेषु, मृगा कालिंजरे गिरौ ।
चक्रवाका शरद्वीपे, हसा सरसि मानसे ।।२०।।

तेऽभिजाता कुरुक्षेत्रे, ब्राह्मणा वेदपारगा.।
प्रस्थिता: दीर्घमध्वान, यूयं किमवसीदथ ॥२१॥
(हरिवंश, पर्व १, अध्याय २५)

जैन परम्परा :–

दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीराए सोवागा कासिभूमिए ॥६॥
देवा य देवलोयम्मि, आसी अम्हे महिड्ढिया।
इमा णो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १३)

(५) ब्रह्मदत्त का विवाह एक ब्राह्मण कन्या के साथ हुआ था इस सम्बन्ध में भी दोनो परम्पराओ की समान मान्यता है।

वैदिक परम्परा :–

ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु, देवलस्यात्मजाभवत्।
असितस्य हि दुर्धर्षा, सन्मतिर्नाम नामत· ॥२६॥
(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :–

ताव य एक दियवरमदिराओ पेसिएण णिग्गतूण दासचेड़एण भणिया अम्हे एह भुजह त्ति।··· ·भोयणावसाणम्मि··· ··· ····· ···· ····...
तओ तम्मि चेव दिणे जहाविहववित्थरेण वत्त पाणिग्गहणं।
(चउवन्न महापुरिस चरिय, पृ० २२१)

(६) ब्रह्मदत्त पशु-पक्षियो की भापा समझता था, इस वात का उल्लेख दोनो परम्पराओ मे है।

वैदिक परम्परा :–

तत. पिपीलिकारुत, स शुश्राव नराधिप।
कामिनी कामिनस्तस्य, याचत क्रोशतो भृशम् ॥३॥
श्रुत्वा तु याच्यमाना तां, क्रुद्धा सूक्ष्मा पिपीलिकाम्।
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत् ॥४॥
तथा श्लोक ७ से १०।
[हरिवंश, पर्व १, अ० २४]

जैन परम्परा :–

गृहगोल गृहगोला, तत्रोवाचानय प्रिय।
राजोऽङ्गरागमेत मे, पूर्यते येन दोहृद ॥५५२॥

प्रत्यूचे गृहगोलोऽपि, कार्य किं मम नात्मना ।
भाषां ज्ञात्वा तयोरेव, जहास वसुधाधिप. ॥५५३॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग १]

इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा मे पूजनिका नाम की एक चिड़िया के द्वारा ब्रह्मदत्त के पुत्र की आँखे फोड डालने का उल्लेख है तो जैन परम्परा के ग्रन्थो मे ब्रह्मदत्त के परिचित एक ब्राह्मण के कहने से अचूक निशाना मारने वाले किसी गडरिये द्वारा स्वय ब्रह्मदत्त की आँखे फोडने का उल्लेख है ।

इन कतिपय समान मान्यताओ के होते हुए भी ब्रह्मदत्त के राज्यकाल के सम्वन्ध मे दोनो परम्पराओ के ग्रन्थो मे वडा अन्तर है ।

हरिवश मे महाभारतकाल से वहुत पहले ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है,[1] पर इसके विपरीत जैन परम्परा के आगम व अन्य ग्रन्थो मे पाण्डवो के निर्वाण के वहुत काल पश्चात् ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है ।

जैन परम्परा के आगमो और प्राचीन ग्रन्थो मे प्रत्येक तीर्थंकर, चक्रवर्ती वलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के पूरे जीवनचरित्र के साथ-साथ इन सव का काल उपलव्ध होता है । इसके साथ ही एक उल्लेखनीय वात यह है कि इन त्रेसठ श्लाघ्य पुरुषो का जो समय एक आगम मे दिया गया है, वही समय अन्य आगमो एव सभी प्राचीन ग्रन्थो मे दिया हुआ है । अत. ऐसी दशा मे जैन परम्परा के साहित्य मे दिये गये इनके जीवनकाल के सम्वन्ध मे विशेष शंका की गुजायश नही रह जाती ।

भारतवर्ष की इन दो अत्यन्त प्राचीन परम्पराओ के मान्य ग्रन्थों मे जो अधिकाशत समानता रखने वाला ब्रह्मदत्त का वर्णन उपलव्ध है उसके सम्वन्ध मे इतिहासज्ञो द्वारा खोज की जाय तो निश्चित रूप से यह भारतीय प्राचीन इतिहास की शृखला को जोडने मे सहायक सिद्ध हो सकता है ।

---

[1] प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुल्यकालो नराधिप ।
पितामहस्य मे राजन्, वभूवेति मया श्रुतम् ॥११॥
ब्रह्मदत्तो महाभागो, योगी राजर्षिसत्तम ।
रुतज्ञ सर्वभूताना, सर्वभूतहिते रत ॥१२॥

भगवान् श्री पार्श्वनाथ

भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के पश्चात् तेवीसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए। आपका समय ईसा से पूर्व नवमी-दशवी शताब्दी है। आप भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए। ऐतिहासिक शोध के आधार पर आज के ऐतिहासिक विषय के विद्वान् भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

मेजर जनरल फर्लांग ने ऐतिहासिक शोध के पश्चात् लिखा है – "उस काल मे सम्पूर्ण उत्तर भारत मे एक ऐसा अतिव्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एव तप-प्रधान धर्म अर्थात् जैनधर्म अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एव वौद्धादि धर्मों के सन्यासमार्ग वाद मे विकसित हुए। आर्यो के गंगा-तट एव सरस्वती-तट पर पहुचने से पूर्व ही लगभग वाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनो को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके वाद पार्श्व हुए और उन्हे अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरो का अथवा पवित्र ऋषियो का ज्ञान था, जो वडे-वडे समयान्तरो को लिये हुए पहले हो चुके थे। उन्हे उन अनेको धर्मशास्त्रो का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घकाल से मान्य मुनियो, वानप्रस्थो या वनवासी साधुओ की परम्परा मे मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।[१]

डॉ० हर्मन जैकोवी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते है। उन्होने जैनागमो के साथ ही वौद्ध पिटको के प्रकाश मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे।[२]

डॉ० हर्मन जैकोवी के प्रस्तुत कथन का समर्थन अन्य अनेको इतिहासविज्ञो ने भी किया है। डॉ० 'वासम' के अभिमतानुसार भगवान् महावीर वौद्ध पिटको मे वुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी के रूप मे उट्टंकित किये गये है एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता मे सन्देह नही रह जाता।[३]

---

१ भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद, पृष्ठ १४६

२ The Sacred Books of the East Vol. XLV, Introduction, page 21 "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable, "

३ The Wonder that was India (A L Basham B A, Ph D, F R A S) Reprinted 1956, P 287–288 –

"As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist Scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt Parswa was remembered as twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthankaras (Ford makers) of the Jaina faith."

डॉ० चार्ल शार्पेंटियर ने लिखा है – "हमे इन दो वातो का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन धर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्राय निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं, एव परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तो की मुख्य वाते महावीर से वहुत पहले सूत्र-रूप धारण कर चुकी होगी।"[१]

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो की विशिष्टता समझने के लिये उस समय की देश की धार्मिक स्थिति कैसी थी, यह समझना आवश्यक है। उपलव्ध वैदिक साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ई० ६वी सदी से पूर्व ऋग्वेद के अन्तिम मडल की रचना हो चुकी थी। मडल के नासदीय[२] सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त[३] तथा पुरुषसूक्त[४] प्रभृति से प्रमाणित होता है कि उस समय देश मे तत्त्व-जिज्ञासाए उद्भूत होने लगी और उन पर गम्भीर चिंतन चलने लगे थे। उपनिपद्काल मे ये जिज्ञासाए इतनी प्रवल हो चुकी थी कि उनके चिन्तन-मनन के लिये विद्वानो की सभाए की जाने लगी। उनमे राजा, ऋपि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। उनमे जगत् के मूलभूत तत्त्वो के सम्वन्ध में गम्भीर चिन्तन कर सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये जिनको 'पराविद्या' कहा गया। उनमे गार्ग्यायण, जनक, भृगु, वारुणि, उद्दालक और याज्ञवल्क्य आदि पराविद्या के प्रमुख आचार्य थे। इनके विचारो मे विविधता थी। आत्मविषयक चिन्तन मे गति वढ़ने पर सहज-स्वाभाविक था कि यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड मे रुचि कम हो, कारण कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये यज्ञ आदि क्रियाओ का किसी प्रकार का उपयोग नही। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विचारको ने यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को 'अपराविद्या' और मोक्षदायक आत्मज्ञान को 'पराविद्या' की सज्ञा देकर 'अपराविद्या' से 'पराविद्या' को श्रेष्ठ वतलाया।

कठोपनिषद् मे तो यहा तक कहा गया कि :–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया वा वहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्॥
[१/२/२,३]

इस प्रकार की विचारधाराए आगे वढी तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व पर आक्षेप आने लगा। ये विचारक एकान्त, शान्त वन-प्रदेशों में

---

१ The Uttaradhyana Sutra, Introduction, Page 21.—
"We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parshva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira"

२ ऋग्वेद १०।१२६

३ वही १०।१२१

४ वही १०।६०

ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयो पर चिन्तन किया करते। ये अधिकाशत· मौन रहते, अत मुनि कहलाये। वेदों मे भी ऐसे वातरशना तत्व-चिन्तको को ही मुनि[1] कहा गया है।

इन वनवासियो का जीवन-सिद्धान्त तपस्या, दान, आर्जव, अहिसा और सत्य था। छान्दोग्योपनिषद्[2] मे श्री कृष्ण को घोर अगिरस ऋषि ने यज्ञ की यही सरल विधि वतलाई थी और उनकी दक्षिणा भी यही थी। गीता[3] के अनुसार इन भावनाओ की उत्पत्ति ईश्वर से वताई गई है।

उस समय एक ओर इस प्रकार का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था तो दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओ की वलि चढा कर देवो को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुल कर होता था। जव लोक-मानस कल्याणमार्ग का निर्णय करने मे दिग्मूढ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा मे था ऐसे ही समय मे भगवान् पार्श्वनाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में उत्तरण हुआ। उनका करुणाकोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शान्ति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होने अनुकूल समय मे यज्ञ-याग की हिंसा का प्रवल विरोध किया और आत्मध्यान, इन्द्रियदमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आधुनिक इतिहासलेखको की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञप्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोडकर अनार्य देश को अपना उपदेश-क्षेत्र वनाना पडा।[4] वास्तव में ऐसी वात नही है। यज्ञ का विरोध भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के समय से भी उग्र रूप से किया गया था फिर भी वे अपने जन्मस्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति मे पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश मे भ्रमण भी विरोध के भय से नही किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना सगत प्रतीत होता है।

पूर्वभव की साधना

अन्यान्य तीर्थंकरो की तरह भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की साधना के फलस्वरूप ही तीर्थंकर-पद की योग्यता प्राप्त की थी। कोई भी आत्मा एका-एक पूर्ण विकास नही कर लेता। जन्मजन्मान्तर की करणी और साधना से ही विशुद्धि प्राप्त कर वह मोक्षयोग्य स्थिति प्राप्त करता है। भगवान् पार्श्व का साधनारम्भकाल दश भव पूर्व से वतलाया है जिसका विस्तृत परिचय 'चउवन

[1] भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० १४–१६।

[2] छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।४–६

[3] अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश।
भवन्ति भावा भूताना मत्त एव पृथग्विधा ॥

[गीता १०।५]

[4] हिस्टोरिकल विगिनिंग आफ जैनिज्म, पृ० ७८।

महापुरिस चरियम्', 'त्रिषष्टि शलाका पुरिष चरित्र' आदि मे द्रष्टव्य है। यहा उनका नामोल्लेख कर आठवे भव से जहां तीर्थंकर-गोत्र का वन्ध किया, संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। जैसे प्रथम मरुभूति और कमठ का भव, दूसरा हाथी का भव, तीसरा सहस्रार देव का, चौथा किरणदेव विद्याधर का, पाचवा अच्युत देव का, छट्ठा वज्रनाभ का, सातवा ग्रैवेयक देव का, आठवा स्वर्णवाहु का, नवमा प्राणतदेव का और दशवा पार्श्वनाथ का।

इन्होने स्वर्णवाहु के अपने आठवे भव मे तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित करने के वीस वोलो की साधना की और तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया, जिसका सक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है :-

वज्रनाभ का जीव देवलोक से च्युत हो पूर्व-विदेह मे महाराज कुलिश-वाहु की धर्मपत्नी सुदर्शना की कुक्षि से चक्रवर्ती के सव लक्षणो से युक्त सुवर्ण-वाहु के रूप में उत्पन्न हुआ। सुवर्णवाहु के युवा होने पर महाराज कुलिशवाहु ने योग्य कन्याओ से उनका विवाह कर दिया और उन्हे राजपद पर अभिषिक्त कर वे स्वय दीक्षित होगये।

राजा होने के पश्चात् सुवर्णवाहु एक दिन घोड़े पर सवार होकर प्रकृति-दर्शन के लिये वन की ओर निकले। घोड़ा वेकावू हो गया और उन्हे एक गहन वीहड वन मे ले गया। उनके सव साथी पीछे रह गये। एक सरोवर के पास घोडे के खडे होने पर राजा घोड़े से नीचे उतरे। उन्होने सरोवर में जलपान किया और घोडे को एक वृक्ष से वाधकर वन-विहार के लिये निकल पड़े। घूमते हुए सुवर्णवाहु एक आश्रम के पास पहुंचे जिसमे कि आश्रमवासी तापस रहते थे। राजा ने देखा कि उस आश्रम के कुसुम-उद्यान मे कुछ युवा कन्याये क्रीड़ा कर रही हैं। उनमे से एक अति कमनीय सुन्दरी को देख कर सुवर्णवाहु का मन उस कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया और वे उस कन्या के सौन्दर्य को अपलक देखने लगे। कन्या के ललाट पर किये गये चन्दनादि के लेप और सुवासित हार से उसके मुख पर भौंरे मडराने लगे। कन्या द्वारा वार वार हटाये जाने पर भी भौंरे अधिकाधिक सख्या मे उसके मुखमण्डल पर मंडराने लगे, इससे घवड़ा कर कन्या सहसा चिल्ला उठी। इस पर सुवर्णवाहु ने अपनी चादर के छोर से भौंरों को हटा कर कन्या को भयमुक्त कर दिया।

सुवर्णवाहु के इस अयाचित साहाय्य से क्रीड़ारत सभी कन्याएं प्रभावित हुई और राजकुमारी का परिचय देते हुए वोली – "यह राजा खेचरेन्द्र की राजकुमारी पद्मा हैं। अपने पिता के देहान्त के कारण राजमाता रत्नावली के साथ यह यहा गालव ऋषि के आश्रम मे सुरक्षा हेतु आई हुई है। यहा कल एक दिव्यज्ञानी ने आकर रत्नावली से कहा – "तुम चिन्ता न करो, तुम्हारी कन्या को चक्रवर्ती सुवर्णवाहु जैसे योग्य पति की प्राप्ति होगी। आज वह वात सत्य सिद्ध हुई है।"

आश्रम के सचालक गाल्व ऋषि ने जब सुवर्णबाहु के आने की वात सुनी तो महारानी रत्नावली को साथ लेकर वे भी वहा आये और अतिथिसत्कार के पश्चात् सुवर्णवाहु के साथ पद्मा का गाधर्व-विवाह कर दिया। इस समय राजा सुवर्णवाहु का सैन्यदल और पद्मा का भाई पद्मोत्तर भी वहा आगये। पद्मोत्तर के आग्रह से सुवर्णबाहु कुछ समय तक वहा रहे और फिर अपने नगर को लौट आये।

राज्य का उपभोग करते हुए सुवर्णवाहु के यहा चक्ररत्न प्रगट हुआ। उसके प्रभाव से षट्खंड की साधना कर सुवर्णवाहु चक्रवर्ती सम्राट् वन गये।[1]

एक दिन पुराणपुर के उद्यान में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवशरण हुआ। सुवर्णवाहु ने सहस्रो नर-नारियो को समवशरण की ओर जाते देख कर द्वार-पाल से इसका कारण पूछा और जब उन्हे तीर्थंकर जगन्नाथ के पधारने की वात मालूम हुई तो हर्षित होकर वे भी सपरिवार उन्हे वन्दन करने गये। तीर्थंकर जगन्नाथ के दर्शन और समवशरण मे आये हुए देवो को बार वार स्मरण कर सुवर्णवाहु वहुत प्रभावित हुए और उन्हे वीतराग-जीवन की महिमा पर चिन्तन करते हुए जातिस्मरण हो आया।[2] फलतः पुत्र को राज्य सौंप कर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षा ग्रहण की एवं उग्र तपस्या करते हुए गीतार्थ होगये। मुनि सुवर्णवाहु ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जित करने के अर्हद्भक्ति आदि वीस साधनो मे से अनेक की सम्यक्रूप से आराधना कर तीर्थंकरगोत्र का वंध किया।[3] तपस्या के साथ साथ उनकी प्रतिज्ञा बड़ी बढ़ी-चढी थी। एक वार वे विहार करते हुए क्षीरगिरि के पास क्षीरवर्ण नामक वन मे आए और सूर्य के सामने दृष्टि रख कर कायोत्सर्गपूर्वक आतापना लेने खड़े हो गये। उस समय कमठ का जीव जो सप्तम नर्क से निकल कर उस वन मे सिह रूप से उत्पन्न हुआ था, अपने सामने सुवर्णवाहु मुनि को खड़े देख कर क्रुद्ध हो गर्जना करता हुआ उन पर झपट पड़ा।

मुनि सुवर्णबाहु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया और अपनी आयु निकट समझ कर सलेखनापूर्वक अनशन कर वे ध्यानावस्थित हो गये।

सिंह ने पूर्वभव के वैर के कारण मुनि पर आक्रमण किया और उनके शरीर को चीरने लगा पर मुनि सर्वथा शान्त और अचल रहे। समभाव के साथ आयु पूर्ण कर वे महाप्रभ नाम के विमान मे वीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

सिंह भी मर कर चौथी नर्कभूमि में दश सागर की स्थिति वाले नारक-जीव के रूप मे उत्पन्न हुआ। नारकीय आयु पूर्ण करने के पश्चात् कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यग् योनि मे अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा।

---

[1] त्रिषष्टि शलाका पु० च० ९।२१

[2] चउ म पु च, पृ. २५५

[3] चउवन्न महापुरिस चरिय, पृ० २५६

विविध ग्रन्थो में पूर्वभव

पद्मचरित्र के अनुसार पार्श्वनाथ की पूर्वजन्म की नगरी का नाम साकेता और पूर्वभव का नाम आनन्द था और उसके पिता का नाम वीतशोक डामर था। रविसेन ने पार्श्वनाथ को वैजयन्त स्वर्ग से अवतरित माना है, जबकि तिलोयपण्णत्ती और कल्पसूत्र मे पार्श्वनाथ के प्राणत कल्प से आने का उल्लेख है।

जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उत्तर पुराण पद्मचरित्र के पश्चात् की रचनाएं है।

उत्तरपुराण और पासनाह चरिउं मे पार्श्वनाथ के पूर्वभव का वर्णन प्राय समान है।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और लक्ष्मी वल्लभ की उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के तेवीसवे अध्ययन में भी पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है।

पश्चाद्वर्ती आचार्यो द्वारा पार्श्वनाथ की जीवनगाथा स्वतन्त्र प्रवन्ध के रूप मे भी ग्रथित की गई है। श्वेताम्बर परम्परा मे पहले पहल श्री देवभद्र सूरि ने सिरि पासनाह चरिउ के नाम से एक स्वतन्त्र प्रवन्ध लिखा। उसमें निर्दिष्ट पूर्वभवो का वर्णन प्राय वही है जो गुणभद्र के उत्तर पुराण में उल्लिखित है। केवल परम्परा की दृष्टि से कुछ स्थलों में भिन्नता पाई जाती है, जो श्वेताम्वर परम्परा के उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे भी स्वीकृत है। देवभद्र सूरि के अनुसार मरुभूति अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् खिन्न मन रहने लगे एवं हरिश्चन्द्र नामक मुनि के द्वारा दिये गये उपदेश का अनुसरण करके अपने घरवार, यहा तक कि अपनी पत्नी के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन रहने लगे। इसके परिणामस्वरूप उनकी पत्नी वसुन्धरी का कमठ नामक किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण हो गया। कमठ और अपनी पत्नी के पापाचरण की कहानी मरुभूति को कमठ की पत्नी वरुणा से ज्ञात हुई। मरुभूति ने इसकी सच्चाई को जानने के लिये नगर के वाहर जाने का ढोग किया। रात्रि मे याचक के वेप मे लौटकर उसी स्थान पर ठहरने की अनुमति पा ली। वहा उसने कमठ और वसुन्धरी को मिलते देखा।[1]

जन्म और मातापिता

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र मे स्वर्णवाहु का जीव प्राणत देवलोक से वीस सागर की स्थिति भोग कर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि मे मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। माता वामादेवी चौदह शुभ-स्वप्नो को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्र-रत्न की सुरक्षा के लिए सावधानी पूर्वक गर्भ का धारण-पालन करती रही। गर्भकाल के पूर्ण होने पर पौष

---

[1] पासनाह चरिउ, पद्मकीर्त्ति विरचित, प्रस्तावना, पृष्ठ ३१

कृष्णा[1] दशमी के दिन मध्यरात्रि के समय विशाखा नक्षत्र से चन्द्र का योग होने पर आरोग्ययुक्त माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। तिलोयपन्नत्ती मे भगवान् नेमिनाथ के जन्मकाल से ८४ हजार छह सौ ५० वर्ष बीतने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म लिखा है।[2] प्रभु के जन्म से घर-घर मे आमोद-प्रमोद का मगलमय वातावरण प्रसरित हुआ और क्षणभर के लिए समग्र लोक मे उद्योत हो गया।

समवायाग और आवश्यक निर्युक्ति मे पार्श्व के पिता का नाम आससेण (अश्वसेन) तथा माता का नाम वामा लिखा है। उत्तरकालीन अनेक ग्रन्थकारो ने भी यही नाम स्वीकृत किये है।

आचार्य गुणचन्द्र और पुष्पदन्त ने (उत्तरपुराण और महापुराण मे) पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र मे माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है। तिलोयपन्नत्ती मे पार्श्व की माता का नाम वर्मिला भी दिया है। अश्वसेन का पर्यायवाची हयसेन नाम भी मिलता है। मौलिक रूप से देखा जाय तो इससे कोई अन्तर नही पडता। गुण, प्रभाव और बोलचाल की दृष्टि से व्यक्ति के नाम मे भिन्नता होना आश्चर्य की बात नही है।

वंश एवं कुल

भगवान् पार्श्वनाथ के कुल और वश के सम्बन्ध मे समवायाग आदि मूल आगम मे कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति मे कुछ सकेत मिलता है, वहां बाईस तीर्थंकरो को काश्यपगोत्रीय और मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि को गौतमगोत्रीय बतलाया है। पर देवभद्र सूरि के "पार्श्वनाथ चरित्र" और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे अश्वसेन भूप को इक्ष्वाकुवशी[3] माना गया है। काश्यप और इक्ष्वाकु एकार्थक होने से कही इक्ष्वाकु के स्थान पर काश्यप कहते है। पुष्पदन्त ने पार्श्व को उग्रवशीय कहा है।[4] तिलोयपन्नत्ती मे भी आपका वश उग्रवंश बतलाया है। और आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् पार्श्व को उरग या नागवशी भी कहते हैं।

नामकरण

पुत्रजन्म की खुशी मे महाराज अश्वसेन ने दश दिनो तक मगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण करने के लिए अपने सभी स्वजन एव

[1] उत्तरपुराण मे दशमी के स्थान पर एकादशी को विशाखा नक्षत्र मे जन्म माना गया है।

[2] पण्णासाधियछस्सयचुलसी-दिसहस्स-वस्सपरिवत्ते।
णेमि जिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स। ति प, ४।५७६।पृ २१४

[3] तस्यामिक्ष्वाकुवंश्योऽभूदश्वसेनो महीपति। [त्रि०श०पु०च०, प ९, स ३, श्लो० १४]

[4] महापुराण – ९४।२२।२३

मित्र-वर्ग को आमन्त्रित कर बोले – "बालक के गर्भस्थ रहते समय इसकी माता ने अंधेरी रात मे भी पास (पार्श्व) मे चलते हुए सर्प को देख कर मुझे सूचित किया और अपनी प्राणहानि से मुझे बचाया अतः इस बालक का नाम पार्श्वनाथ रखना चाहिए।" इस निश्चय के अनुसार बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।[1]

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा।[2]

बाललीला

नीलोत्पल कमल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे। अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणो से विभूषित थे। सर्प-लाछन वाले पार्श्व कुमार बालभाव मे अनेक राजकुमारो और देवकुमारो के साथ क्रीडा करते हुए उडुगण मे चन्द्र की तरह चमक रहे थे।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम सतुष्ट थे।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन मे प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी। आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है –

पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा मे बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला – "कुशस्थल के भूपति नरवर्मा जो बडे धर्म-

---

[1] (क) सामण्ण सव्वे जाणका पासका य सव्व भावाणं, विसेसो माता अन्धारे सप्प पासति, रायाण भणति-हत्थ विलएह सप्पो जाति, किह एस दीसति ? दीवएण पलोइओ दिट्ठो।

[आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृष्ठ ११]

(ख) गर्भस्थितेऽस्मिन्जननी, कृष्णनिश्यपि पार्श्वत ।
सर्पन्त सर्पमद्राक्षीत्, सद्य पत्यु शशस च ।।
स्मृत्वा तदेष गर्भस्य, प्रभाव इति निर्णयन् ।
पार्श्व इत्यभिधा सूनोरश्वसेननृपोऽकरोत् ।।

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो ४५]

(ग) पासोवसप्पेण सुविणयमि सप्प पलोइत्था·····

[सिरि पासनाह चरिउं, गाथा ११, प्र. ३, पृष्ठ १४०]

[2] जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् ।
पार्श्वाभिधान कृत्वास्य, पितृभ्या तं समर्पयन् ।।

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ९२]

प्रेमी, साधु-महात्माओ के परम उपासक थे उन्होने ससार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का सचालन कर रहे हैं। उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप की महिमा सुनी तभी से वह इन पर मुग्ध है। उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नही करूंगी।

मातापिता भी कुमारी की इस पसद से प्रसन्न थे किन्तु कलिंग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना तो उसने कुशस्थल पर चढाई कर दी और भरी सभा मे यह घोषणा की – "मेरे रहते हुए प्रभावती को व्याहने वाला पार्श्व कौन है ?"

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया। उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो। कुशस्थल के महाराज प्रसेनजित बडे असमजस मे हैं। उन्होने मुझे सारी स्थिति से आपको अवगत करने के लिए आपकी सेवा मे भेजा है। अब आगे क्या करना है, इसमे देव ही प्रमाण हैं।"

दूत की बात सुन कर महाराज अश्वसेन क्रोधावेश मे बोले – "अरे! उस पामर यवनराज की यह हिम्मत जो मेरे रहते हुए तुम लोगो पर आक्रमण करे। मैं कुशस्थल के रक्षण की अभी व्यवस्था करता हूं।"

यह कह कर महाराज अश्वसेन ने युद्ध की भेरी बजवा दी। क्रीडागण मे खेलते हुए पार्श्वकुमार ने जब रणभेरी की आवाज सुनी तो वे पिता के पास आये और प्रणाम कर पूछने लगे – "तात! यह कैसी तैयारी है ? आप कहा जा रहे हैं ? मेरे रहते आपके जाने की क्या आवश्यकता है ? छोटे-मोटे शत्रुओ को तो मैं ही शिक्षा दे सकता हूं। कदाचित् आप सोचते होगे कि यह बालक है, इसको खेल से क्यो वचित रखा जाय परन्तु महाराज क्षत्रियपुत्र के लिए युद्ध भी एक खेल ही है। मुझे इसमे कोई विशेष श्रम प्रतीत नही होता।"

पुत्र के इन साहस भरे वचनो को सुन कर महाराज अश्वसेन ने उन्हे सहर्ष कुशस्थल जाने की अनुमति प्रदान कर दी। पार्श्वकुमार ने गजारूढ हो चतुरगिणी सेना के साथ शुभमुहूर्त मे वहा से प्रयाण किया। प्रभु के प्रयाण करने पर शक्र का सारथि सहयोग हेतु आया और विनयपूर्वक नमस्कार कर बोला – "भगवन्! क्रीडा की इच्छा से आपको युद्ध के लिए तत्पर देख कर इन्द्र ने मेरे साथ साग्रामिक रथ भेजा है। आपकी अपरिमित शक्ति को जानते हुए भी इन्द्र ने अपनी भक्ति प्रकट की है।"

कुमार पार्श्वनाथ ने भी कृपा कर धरातल से ऊपर चलने वाले उस रथ पर आरोहण किया[1] और कुछ ही दिनो मे कुशस्थल पहुँच कर युद्ध की घोषणा करवा दी। उन्होने पहले यवनराज के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि

[1] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३, श्लोक ११७–१२०।

राजा प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन की शरण ग्रहण की है। इसलिए कुशस्थल को घेरावन्दी से मुक्त कर दो। अन्यथा महाराज अश्वसेन के कोप-भाजन वनने से तुम्हारा भला नही है।

दूत की बात सुनकर यवनराज ने आवेश मे आकर कहा – "जाओ अपने स्वामी पार्श्व को कह दो कि यदि वह अपनी कुशल चाहता है तो वीच मे न पड़े। ऐसा न हो कि हमारे क्रोध की आग मे पड़ने से उस वालक को असमय मे ही प्राण गंवाना पड़े।"

दूत के मुख से यवनराज की वात सुनकर करुणासागर पार्श्वकुमार ने यवनराज को समझाने के लिये दूत को दूसरी वार और भेजा।

दूत ने दुबारा जाकर यवनराज से फिर कहा – "स्वामी ने तुम पर कृपा करके पुन: मुझे भेजा है न कि किसी प्रकार की कमजोरी के कारण। तुम्हारा इस ही मे भला है कि उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लो।"

दूत की बात सुनकर यवनराज के सैनिक उठे और जोर-जोर से कहने लगे – "अरे ! अपने स्वामी के साथ क्या तुम्हारी कोई शत्रुता है जिससे तुम उन्हे युद्ध मे ढकेल रहे हो ?"

सैनिको को रोक कर वृद्ध मन्त्री बोला – "सैनिको ! स्वामी के प्रति द्रोह यह दूत नही अपितु तुम लोग कर रहे हो। पार्श्व की महिमा तुम लोग नही जानते, वह देवो, दानवो और मानवो के पूजनीय एव महान् पराक्रमी हैं। इन्द्र भी उनकी शक्ति के सामने सिर झुकाते है अत. सवका हित इस ही मे है कि पार्श्वनाथ की शरण स्वीकार कर लो।"

मन्त्री की इस स्व-परहितकारिणी शिक्षा से यवनराज भी प्रभावित हुआ और पार्श्वनाथ का वास्तविक परिचय प्राप्त कर उनकी सेवा मे पहुँचा। विशाल सेना से युक्त प्रभु के अद्भुत पराक्रम को देखकर उसने सविनय अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। पार्श्वनाथ ने भी उसको अभय कर विदा कर दिया।

उसी समय कुशस्थल का राजा प्रसेनजित प्रभावती को लेकर पार्श्वकुमार के पास पहुँचा और बोला – "महाराज ! जिस प्रकार आपने हमारे नगर को पावन कर दुष्टो के आक्रमण से वचाया है उसी प्रकार हमारी प्राणाधिका पुत्री प्रभावती का पाणिग्रहण कर हमे अनुगृहीत कीजिये।"

इस पर पार्श्वनाथ वोले – "राजन् ! मै पिता की आज्ञा से आपके नगर की रक्षा करने के लिये आया हूँ न कि आपकी कन्या के साथ विवाह करने अत: इस विषय मे वृथा आग्रह न करिये।"[१] यह कहकर पार्श्वनाथ अपनी सेना सहित वाराणसी की ओर चल पडे।

---

[१] ताताज्ञया त्रातुमेव, त्वामायाता प्रसेनजित्।
भवत कन्यकामेतामुद्वोढु न पुनर्वयम्॥
[त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३, श्लो. १८५]

प्रसेनजित भी अपनी पुत्री प्रभावती सहित पार्श्वकुमार के साथ वाराणसी आये और महाराज अश्वसेन को सारी स्थिति से अवगत कराते ७९ उन्होने निवेदन किया – "आपकी छत्र-छाया मे हम सबका सब तरह से कुशल-मगल है, केवल एक ही चिन्ता है और वह भी आपकी दया से ही दूर होगी। मेरी एक प्रभावती नाम की कन्या है उसे मेरे आग्रह से पार्श्वकुमार के लिये स्वीकार किया जाय।"

महाराज अश्वसेन ने कहा – "राजन्! कुमार सर्वदा संसार से विरक्त रहता है, न मालूम कब क्या करले फिर भी तुम्हारे आग्रह से इस समय बलात् भी कुमार का विवाह करा दू गा।"

तदनन्तर महाराज अश्वसेन प्रसेनजित के साथ पार्श्वकुमार के पास आये और बोले – "कुमार! प्रसेनजित की सर्वगुणसम्पन्ना पुत्री प्रभावती से विवाह कर लो।"

पिता के वचन सुनकर पार्श्वकुमार बोले – "तात! मै मूल से ही अपरि-ग्रही हो ससारसागर को पार करूगा, अत ससार चलाने हेतु इस कन्या से विवाह कैसे करू ?"

महाराज अश्वसेन ने आग्रह भरे स्वर मे कहा – "तुम्हारी ऐसी भावना है तो समझ लो कि तुमने ससारसागर पार कर ही लिया। वत्स! एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करदो, फिर विवाहित होकर समय पर तुम आत्म-साधन कर लेना।[1]

अत मे पिता के आग्रह को टालने मे असमर्थ पार्श्वकुमार ने भोग्य कर्मों का क्षय करने हेतु पितृ-वचन स्वीकार किया और प्रभावती के साथ विवाह कर लिया।[2]

भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय मे आचार्यों का मतभेद

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और चउपन्न महापुरिस चरिय मे पार्श्व के विवाह का जिस प्रकार का वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन तिलोयपन्नत्ती, पद्मचरित्र, उत्तरपुराण, महापुराण और वादीराजकृत पार्श्व चरित मे नही मिलता। देवभद्र कृत पासनाह चरिय और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे यवन के आत्मसमर्पण के पश्चात् विवाह का वर्णन हुआ है किन्तु पद्मकीर्ति ने विवाह का प्रसग उठाकर भी विवाह होने का प्रसग नही दिया है। वहा पर यवनराज के साथ पार्श्व के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

---

[1] समारोऽपि त्वयोत्तीर्ण, एव यन्येदृश मन।
कृतोद्वाहोऽपि तज्जात, समये स्वार्थमाचरे ॥२०६॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, स० ३]

[2] इत्थ पितृवच पार्श्वोऽप्युल्लघयितुमनीश्वर।
भोग्य कर्म क्षपयितुमुद्वाह प्रभावतीम्। ॥२१०॥ [वही]

मूल आगम समवायाग और कल्पसूत्र मे विवाह का वर्णन नही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख ग्रन्थो मे यह उल्लेख मिलता है कि वासुपूज्य, मल्ली, नेमि, पार्श्व और महावीर तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए और उन्नीस (१६) तीर्थंकरों ने राज्य किया। इसी आधार पर दिगम्बर परम्परा इन्हे अविवाहित मानती है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यो का मन्तव्य है कि कुमारकाल का अभिप्राय यहा युवराज अवस्था से है। जैसा कि शब्दरत्न-कोष और वैजयन्ती मे भी कुमार का अर्थ युवराज किया है।[1]

पार्श्व को विवाहित मानने वालो की दृष्टि मे वे पिता के आग्रह से विवाह करने पर भी भोग-जीवन से अलिप्त रहे और तरुण एव समर्थ होकर भी उन्होने राज्यपद स्वीकार नही किया। इसी कारण से उन्हे कुमार कहा गया है। किन्तु दूसरे आचार्यो की दृष्टि मे वे अविवाहित रहने के कारण कुमार कहे गये हैं। यही मतभेद का मूल कारण है।

नाग का उद्धार

लोकानुरोध से पार्श्वनाथ ने प्रभावती के साथ वन, उद्यान आदि क्रीडा मे कितने ही दिन विताये।[2]

एक दिन प्रभु पार्श्वनाथ राजभवन के झरोखे मे बैठे हुए कुतूहल से वाराणसी पुरी की छटा निहार रहे थे। उस समय उन्होने सहस्रो नर-नारियो को पत्र, पुष्पादि के रूप मे अर्चा की सामग्री लिये वडी उमग से नगर के वाहर जाते देखा।

जव उन्होने इस विषय मे अनुचर से जिज्ञासा की तो ज्ञात हुआ कि नगर के उपवन मे कमठ नाम के एक वहुत वड़े तापस आये हुए है। वे वड़े तपस्वी हैं और सदा पञ्चाग्नि-तप करते हैं। यह मानव-समुदाय उन्ही की सेवा-पूजा के लिये जा रहा है।

अनुचर की वात सुनकर कुमार भी कुतूहलवश तापस को देखने चल पड़े। वहा जाकर उन्होने देखा कि तापस धूनी लगाये पंचाग्नि-तप तप रहा है। उसके चारो ओर अग्नि जल रही है और मस्तक पर सूर्य तप रहा है। झुण्ड के झुण्ड भक्त लोग जाते है और विभूति का प्रसाद लेकर अपने आपको धन्य और कृत-कृत्य मानते है। तपस्वी के सिर की फैली हुई लम्वी जटाओ के वीच लाल-लाल आखे डरावनी-सी प्रतीत हो रही थी।

---

[1] कुमारो युवराजेऽश्ववाहके वालके शुके। — शब्दरत्न समन्वय कोष, पृ० २६८
कुमारस्स्याग्रहे वाले वरणेऽश्वानुचारके ।।२८।।
युवराजे च.. — वैजयन्ती कोष, पृ० २५६

[2] जनोपरोधादुद्यानक्रीडा शैलादिपु प्रभु ।
रममाणस्तया सार्धं, वासरानत्यवाहयत् ।।२११।।
[त्रिषष्टि श० पु. च., पर्व ६, स ३]

पार्श्वकुमार ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि धूनी मे जो लक्कड़ पड़ा है, उसमे एक वड़ा नाग (उत्तरपुराण के अनुसार नाग-नागिन का जोडा) जल रहा है।[1] उसके जलने की तीव्र आशका से कुमार का हृदय दया से द्रवित हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे – "अहो कैसा अज्ञान है, तप मे भी दया नही।"

पार्श्वकुमार ने कमठ से कहा – "धर्म का मूल दया है, वह आग के जलाने मे किस तरह संभव हो सकती है? क्योकि अग्नि प्रज्वलित करने से सव प्रकार के जीवों का विनाश होता है।[2] अहो! यह कैसा धर्म है जिसमें कि धर्म की मूल दया ही नही? विना जल के नदी की तरह दया-शून्य धर्म निस्सार है।"

पार्श्वकुमार की वात सुनकर तापस आग-ववूला हो वोल उठा – "कुमार! तुम धर्म के विपय मे क्या जानते हो? तुम्हारा काम हाथी-घोडो से मनोविनोद करना है। धर्म का मर्म तो हम मुनि लोग ही जानते है। इतनी वढ़कर वात करते हो तो क्या इस धूनी मे कोई जलता हुआ जीव वता सकते हो?"

यह सुनकर राजकुमार ने सेवको को अग्निकुण्ड मे से लक्कड निकालने की आज्ञा दी। लक्कड आग से वाहर निकालकर सावधानीपूर्वक चीरा गया तो उसमें से जलता हुआ एक साप वाहर निकला। भगवान् ने सर्प को पीडा से तड़पते हुए देखकर सेवक से नवकार मन्त्र सुनवाया और पच्चक्खाण दिलाकर उसे आर्त-रौद्र-रूप दुर्ध्यान से वचाया। शुभ भाव से आयु पूर्ण कर नाग भी नाग जाति के भवन वासी देवो मे धरणेन्द्र नाम का इन्द्र हुआ।[3]

---

[1] (क) तत्थ पुलइयो इसीसि डज्झमाणो एको महाणागो।
तओ भयवयाणियपुरिसवयणेण दवाविओ से पचणमोक्कारो पच्चखाण च॥
[चउपन्न म० पु० चरिय, पृ० २६२]

(ख) नागी नागश्च तच्छेदात्, द्विधा खण्डमुपागतौ॥
[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक १०३]

(ग) सुमहानुरगस्तस्मात् सहसा निर्जगाम च॥२२४॥
[त्रिपष्टि शलाका पु० च०, पर्व ९, सर्ग ३]

[2] (क) धम्मस्स दयामूल, सा पुण पज्जालणे कह सिहिणो।
[सिरि पासनाह चरिउ, ३। १६६]

[3] तत्र पद्ह्यमानस्य, महाहेर्भगवान्नृभि।
अदापयन् नमस्कारान्, प्रत्याख्यान च तत्क्षणम्॥२२५॥
नाग: समाहितः सोऽपि, तत्प्रतीयेष शुद्धवी।
वीक्ष्यमाणो भगवता, कृपामधुरया दृशा॥२२६॥
[2] नमस्कारप्रभावेण, स्वामिनो दर्शनेन च।
विपद्य धरणो नाम, नागराजो वभूव स॥२२७॥
[त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३]

इस तरह प्रभु की कृपा से नाग का उद्धार हो गया। पार्श्वकुमार के ज्ञान और विवेक की सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशसा करने लगे।

इधर तापस की प्रतिष्ठा कम होगई और लोग उसे धिक्कारने लगे। तापस मन ही मन पार्श्वकुमार पर बहुत जलने लगा पर कुछ कर न सका। अन्त मे अज्ञान-तप से आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारो मे मेघमाली नाम का देव हुआ।

वैराग्य और मुनि-दीक्षा

तीर्थंकर स्वयबुद्ध (स्वत बोधप्राप्त) होते हैं, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यो ने पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण करते हुए उनके वैराग्य मे बाह्य कारणो का उल्लेख किया है। जैसे 'चउपन महापुरुष चरिय' के कर्ता आचार्य शीलाक, 'सिरि पास नाह चरिय' के रचयिता, देव भद्र सूरि और 'पार्श्व चरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेम विजयगरिण ने भित्तिचित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है। इनके अनुसार उद्यान मे घूमने को गये हुए पार्श्वकुमार को नेमिनाथ के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। उत्तरपुराण के अनुसार नाग-उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नही होती क्योकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे। जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेट भेजी। जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिए पूछा तो दूत ने पहले आदिनाथ का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये। ऋषभदेव के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति-स्मरण हो आया। यही वैराग्य का कारण बताया गया है, किन्तु पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना इकतीसवे वर्ष मे हुई और यही पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण बनी। महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्यभाव का कारण माना है।

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और वादिराज ने पार्श्व की वैराग्योत्पत्ति में बाह्य कारण को निमित्त न मानकर स्वभावत ही ज्ञानाभाव से विरक्त होना माना है?

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी यही पक्ष समीचीन और युक्ति-सगत प्रतीत होता है। शास्त्र मे लोकान्तिक देवो द्वारा तीर्थंकरो को निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादा-रूप ही माना गया है, कारण कि ससार मे बोध पाने वालो की तीन श्रेणियां मानी गई है – (१) स्वयबुद्ध, (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्धबोधित। इनमे तीर्थंकरों को स्वयबुद्ध कहा है – वे किसी गुरु आदि से बोध पाकर विरक्त नही होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक बुद्ध और ज्ञानवान् गुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-बोधित कहते है। तीन ज्ञान के धनी होने से तीर्थंकर स्वयबुद्ध होते है अत इनका बाह्यकारण-सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नही।

पार्श्वनाथ सहज-विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहकर भी वे काम-भोग मे आसक्त नही हुए।

भगवान् पार्श्व ने भोग्य कर्मों के फलभोगो को क्षीण समझ कर जिस समय संयम ग्रहण करने का सकल्प किया उस समय लोकान्तिक देवो ने उपस्थित होकर प्रार्थना की – "भगवन् ! धर्मतीर्थ को प्रकट करे।"[1] तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओ का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग मे देवो, असुरो एवं मानवो के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान मे पहुँच कर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहा भगवान् ने अपने ही हाथो आभूषणादि उतार कर पच-मुष्टि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास–अष्टम-तप से विशाखा नक्षत्र मे तीन सौ पुरुषो के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य-त्याग रूप अणगार-धर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनः पर्यवज्ञान हो गया।

प्रथम पारणा

दीक्षा-ग्रहण के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर प्रभु कोपकटक सन्निवेश मे पधारे। वहा धन्य नामक गृहस्थ के यहां आपने परमान्न-खीर से अष्टमतप का पारणा किया। देवो ने पच-दिव्यो की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' मे गुल्मखेट नगर के राजा धन्य[2] के यहा अष्टम-तप का पारणा होना लिखा है। पद्मकीर्ति ने अष्टम-तप के स्थान पर आठ उपवास से दीक्षित होना लिखा है जो विचारणीय है।

अभिग्रह

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ने यह अभिग्रह किया "तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थ-काल का मेरा साधना-समय है, उस पूरे समय मे शरीर से ममत्व हटा कर मैं पूर्ण समाधिस्थ रहूँगा। इस अवधि मे देव, मनुष्य और पशु-पक्षियो द्वारा जो भी उपसर्ग उत्पन्न होगे उनको अविचल भाव से सहन करता रहूँगा।"

---

[1] इतश्च पार्श्वो भगवान्, कर्मभोगफलं निजम्।
उपभुक्त हरिज्ञाय, प्रव्रज्यायां दवौ मनः ॥२३१॥
भावज्ञा इव तत्कालमेत्य लोकान्तिकामराः।
पार्श्वं विज्ञापयामामुर्नाथ तीर्थं प्रवर्तय ॥२३२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३]

[2] गुल्मखेटपुर कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥
तत्र धनाख्य भूपाल श्यामवर्णोऽष्ट मगलैः
प्रतिगृह्याशन शुद्ध, दत्वापत्तत्क्रियोचितम् ॥१३३॥ [उत्तरपुराण, पर्व ७३]

भ. पार्श्वनाथ की साधना और उपसर्ग

वाराणसी से विहार करते हुए उपरोक्त अभिग्रहानुसार भगवान् शिवपुरी नगर पधारे और कौशाम्ववन मे ध्यानस्थ हो खडे होगये।[1] यहा पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिये भगवान् पर छत्र कर दिया।[2] कहते है उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिछत्र' प्रसिद्ध हो गया।

फिर विहार करते हुए प्रभु एक नगर के पास तापसाश्रम पहुँचे और सायकाल हो जाने के कारण वही एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खडे हो गये।

सहसा कमठ के जीव ने, जो मेघमाली असुर बना था, अपने ज्ञान से प्रभु को ध्यानस्थ खडे देखा तो पूर्वभव के वैर की स्मृति से वह भगवान् पर बडा क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल सिह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला विच्छू और साप आदि के रूप बनाकर भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तदनन्तर उसने बीभत्स वैताल का रूप धारण कर प्रभु को अनेक प्रकार से डराने-धमकाने का प्रयास किया परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ पर्वतराज की तरह अडोल एव निर्मम भाव से सब कुछ सहते रहे।

मेघमाली अपनी इन करतूतो की विफलता से और अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने वैक्रिय-लब्धि की शक्ति से घनघोर मेघघटा की रचना की। भयकर गर्जन और विद्युत् की कडकड़ाहट के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। दनादन ओले गिरने लगे, वन्य-जीव भय के मारे त्रस्त हो इधर-उधर भागने लगे। देखते ही देखते सारा वन-प्रदेश जलमय हो गया। प्रभु पार्श्व के चारो ओर पानी भर गया और वह चढते-चढते घुटनो, कमर और गर्दन तक पहुँच गया। नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भगवान् का ध्यान भग नही हुआ।[3] जबकि थोड़ी ही देर मे भगवान् का सारा शरीर पानी मे डूबने ही वाला था तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ।[4] उसने अवधिज्ञान से देखा तो, पता चला "मेरे परम उपकारी भगवान् पार्श्वनाथ इस समय घोर कष्ट से घिरे हुए है।" यह देख कर वह बहुत ही क्षुब्ध हुआ और पद्मावती, वैरोट्या आदि देवियो के साथ तत्काल दौडकर प्रभु की सेवा मे पहुचा। धरणेन्द्र ने प्रभु को नमस्कार किया और उनके चरणो के नीचे दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एव प्रभु के शरीर को सप्तफणों के

---

[1] सिवनयरीए बहिया, कोसववणे ठिओ य पडिमाए

[पासनाह चरिय, ३। पृ १८७]

२ .... पहुणो उवरिं धरइ छत्त।

[वही पृ० १८८]

[3] अवगण्णियासेसोवसग्गस्स य लग्ग नासियाविवर जाव सलिल।

[चउवन्न म पु चरिय, पृ २६७]

[4] एत्थावसरम्मि य चलियमासण धरणराइणो।

[वही]

छत्र[1] से अच्छी तरह ढक दिया। भगवान् देव-कृत उस कमलासन पर समाधि-लीन राजहस की तरह शोभा पा रहे थे।

वीतराग भाव मे पहुँचे भगवान् पार्श्वनाथ कमठासुर की उपसर्ग लीला और धरणेन्द्र की भक्ति, दोनो पर समदृष्टि रहे। उनके हृदय मे न तो कमठ के प्रति द्वेष था और न धरणेन्द्र के प्रति अनुराग। वे मेघमाली के उपसर्ग से किंचितमात्र भी क्षुब्ध नही हुए। इतने पर भी मेघमाली क्रोधवश वर्षा करता रहा तब धरणेन्द्र को अवश्य रोष आया और वह गरज कर बोला – "दुष्ट ! तू यह क्या कर रहा है ? उपकार के बदले अपकार का पाठ तूने कहा पढ़ा है ? जिन्होने तुम्हे अज्ञानगर्त से निकाल कर समुज्वल सुमार्ग का दर्शन कराया उनके प्रति कृतघ्न होकर उनको ही उपसर्ग-पीडा से पीडित करने का प्रयास कर रहा है। तुम्हे नही मालूम कि ऐसी महान् आत्मा की अवज्ञा व अशातना अग्नि को पैर से दबाने के समान दु खप्रद है। इनका तो कुछ भी नही बिगडेगा, किन्तु तेरा सर्वनाश हो जायगा। भगवान् तो दयालु हैं पर मैं इस तरह सहन नही करू गा।

धरणेन्द्र की बात सुनकर मेघमाली भयभीत हुआ और प्रभु की अविचल क्षान्ति एव धरणेन्द्र की भक्ति से प्रभावित होकर उसने अपनी माया तत्काल समेट ली। प्रभु के चरणो मे सविनय क्षमा-याचना कर वह अपने स्थान को चला गया। धरणेन्द्र भी भक्ति-विभोर हो पार्श्व की सेवा-भक्ति कर वहा से अपने स्थान को चला गया।

उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान् अपनी अखण्ड साधना मे रत रहे। इस तरह अनेक स्थलों मे विचरण करते हुए प्रभु वाराणसी के बाहर आश्रमपद नामक उद्यान में पधारे और उन्होने छद्मस्थकाल की तिरासी राते पूर्ण की।

केवलज्ञान

छद्मस्थ दशा की तिरासी रात्रिया[2] पूर्ण होने के पश्चात् चौरासीवे दिन प्रभु वाराणसी के निकट आश्रमपद उद्यान मे धातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खडे हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण मे मोह कर्म का क्षय कर आपने सम्पूर्ण घातिक कर्मों पर विजय प्राप्त की और केवलज्ञान, केवलदर्शन

---

[1] [क] सिरिपासणाह चरियं मे सात फणो का छत्र करने का उल्लेख है। यथा–... .
सत्तसखफारफणाफल गमय . .
[ख] चउवन्न महापुरिस चरिय में सहस्रफण का उल्लेख है। यथा – विरइय
भयवओ उवरिं फणसहस्सायवत्त। [पृ०, २६७]

[2] दिगम्बर परम्परा मे प्रभु का छद्मस्थकाल चार मास और उपसर्गकर्त्ता का नाम शवर माना गया है। हेमचन्द्र ने 'दीक्षादिनादतिगतेपु तु दिनेपु चतुरशीतो '८४ दिन लिखा है।
—सम्पादक

की उपलब्धि की।[1] जिस समय आपको केवलज्ञान हुआ उस समय चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र मे चन्द्र का योग था।

पद्मकीर्ति ने कमठ द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्ग के समय प्रभु को केवलज्ञान होना माना है जबकि अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने कुछ दिनो बाद। तिलोयपण्णत्ती ने चार मास के बाद केवली होना माना है पर सबने केवलज्ञान-प्राप्ति का दिन चैत्र कृष्णा चतुर्थी और विशाखा नक्षत्र ही मान्य किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की उपलब्धि होने की सूचना पा कर महाराज अश्वसेन वन्दन करने आये और देव-देवेन्द्रो ने भी हर्षित मन से आकर केवलज्ञान की महिमा प्रकट की। उस समय सारे ससार मे क्षरण भर के लिये प्रद्योत हो गया था।

देशना और संघ-स्थापना

केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद भगवान् ने जगजीवो के हितार्थ धर्म-उपदेश दिया। आपने प्रथम देशना मे फरमाया – "मानवो! अनादिकालीन इस ससार मे जड और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ है। इनमे जड़ तो चेतनाशून्य होने के कारण केवल ज्ञातव्य है। उसका गुण-स्वभाव चेतन द्वारा ही प्रकट होता है। चेतन ही एक ऐसा द्रव्य है जो ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता एव प्रमाता हो सकता है। यह प्रत्येक के स्वानुभव से प्रत्यक्ष है। कर्म के सम्बन्ध से आत्म-चन्द्र की ज्ञान किरणे आवृत्त हो रही हैं, उनको ज्ञान-वैराग्य की साधना से प्रकट करना ही मानव का प्रमुख धर्म है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ही आवरण-मुक्ति का सच्चा मार्ग है, जो श्रुत और चारित्र धर्म के भेद से दो प्रकार का है। कर्मजन्य आवरण और बन्धन काटने का एकमात्र मार्ग धर्म-साधन है। बिना धर्म के जीवन शून्य व सारहीन है अत. धर्म की आराधना करो।

चारित्र धर्म आगार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। चार महाव्रत रूप अनगार-धर्म मुक्ति का अनन्तर कारण है और देश-विरति रूप आगार-धर्म परम्परा से मुक्ति दिलाने वाला है। शक्ति के अनुसार इनका आराधन कर परम तत्त्व की प्राप्ति करना ही मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

इस प्रकार त्याग-वैराग्यपूर्ण प्रभु की वाणी सुन कर महाराज अश्वसेन विरक्त हुए और पुत्र को राज्य देकर स्वय प्रव्रजित हो गये। महारानी वामा देवी, प्रभावती आदि कई नारियो ने भी भगवान् की देशना से प्रबुद्ध हो आर्हती-दीक्षा स्वीकार की। प्रभु के ओजपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो कर शुभदत्त आदि वेदपाठी विद्वान् भी प्रभु की सेवा मे दीक्षित हुए और पार्श्व प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान पाकर वे चतुर्दश पूर्वो के ज्ञाता एव गणधर पद के अधिकारी बन गये। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चतुर्विध सघ की स्थापना की और भावतीर्थंकर कहलाये।

---

[1] कल्पसूत्र मे छट्ठ तप का उल्लेख है।

पार्श्व के गणधर

समवायाग और कल्पसूत्र मे पार्श्वनाथ के आठ गणधर वतलाये है[1] जवकि आवश्यक निर्युक्ति एवं तिलोयपन्नत्ती आदि ग्रन्थो मे दश गणधरो का उल्लेख है।[2] इस संख्याभेद के सम्वन्ध मे कल्पसूत्र के टीकाकार उपाध्याय श्री विनय विजय ने लिखा है कि दो गणधर अल्पायु वाले थे[3] अत सूत्र मे आठ का ही निर्देश किया गया है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जव भगवान् का प्रथम समवशरण हुआ, सहस्रो नर-नारियो ने प्रभु की त्याग-वैराग्यपूर्ण वाणी को श्रवण कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उनमे आर्य शुभदत्त आदि विद्वानो ने प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर चौदह पूर्व की रचना की और गणनायक-गणधर कहलाये।

श्री पासनाह चरिउ के अनुसार गणधरो का परिचय निम्न प्रकार है

(१) शुभदत्त – ये भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर थे। इनकी जन्मस्थली क्षेमपुरी नगरी थी। पिता का नाम धन्य एव माता का नाम लीलावती था। सम्भूति मुनि के पास इन्होने श्रावकधर्म ग्रहण किया और माता-पिता के परलोकवासी होने पर संसार से विरक्त होकर वाहर निकल गये और आश्रमपद उद्यान मे आये, जहा कि भगवान् पार्श्वनाथ का प्रथम समवशरण हुआ। भगवान् की देशना सुनकर उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की और वे प्रथम गणधर वन गये।

(२) आर्यघोष – पार्श्वनाथ के दूसरे गणधर का नाम आर्यघोष था। ये राजगृह नगर के निवासी अमात्यपुत्र थे। जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ, वे अपने स्नेही साथियों के साथ वहा आये और दीक्षा लेकर गणधर पद के अधिकारी हो गये।

(३) वशिष्ठ – भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे गणधर वशिष्ठ हुए। ये कम्पिलपुर के अधीश्वर महाराज महेन्द्र के पुत्र थे। वाल्यावस्था से ही इनकी रुचि प्रव्रज्या ग्रहण करने की ओर रही। सयोग पाकर भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम समवशरण मे उपस्थित हुए और वही सयम ग्रहण करके तीसरे गणधर वन गये।

---

[1] पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठगणा, गणहरा हुत्था तजहा
सुभेय, अज्जघोसेय, वसिट्ठे वंभयारि य।
सोमे सिरिहरे चेव, वीरभद्दे जसे विया॥

[2] आर्यदत्त, आर्यघोषो वशिष्ठो ब्रह्मनामक।
सोमश्च श्रीधरो वारिषेणो भद्रयशो जय॥
विजयश्चेति नामानो, दशैत्ते पुरुषोत्तमा। पास च. ५।४३७।३८

[3] द्वौ अल्पायुष्कत्वादि कारणान्नोक्तौ इति टिप्पणके व्याख्यातम्।
[कल्पसूत्र, सुवोधिका टीका, पृष्ठ ३८१]

(४) आर्यब्रह्म – भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे गणधर आर्यब्रह्म हुए। ये सुरपुर नगर के महाराजा कनककेतु के पुत्र थे। इनकी माता शान्तिमती थी। भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होने पर ये भी अपने साथियों सहित वदन करने उनके पास पहुचे और देशना श्रवण कर प्रव्रजित हो गये।

(५) सोम – भगवान् पार्श्वनाथ के पाचवे गणधर सोम थे। क्षिति-प्रतिष्ठित नगर के महाराजा महीधर के ये पुत्र थे। इनकी माता का नाम रेवती था। युवावस्था प्राप्त होने पर "चम्पकमाला" नाम की कन्या के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। इनके हरिशेखर नाम का पुत्र हुआ, जो चार वर्ष की उम्र मे ही निधन को प्राप्त हो गया। पुत्र की मृत्यु एव पत्नी चम्पकमाला की लम्बी रुग्णता तथा निधन-लीला से इनको संसार से विरक्ति हो गई और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रवचन से प्रभावित होकर सयममार्ग मे प्रव्रजित हो गये।

(६) आर्य श्रीधर – भगवान् पार्श्वनाथ के छठे गणधर आर्य श्रीधर हुए। इनके पिता का नाम नागवल एव माता का महासुन्दरी था। युवावस्था प्राप्त होने पर महाराजा प्रसेनजित की पुत्री राजमती के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए उनको किसी दिन एक श्रेष्ठि पुत्र के द्वारा पूर्वजन्म की भगिनी के समाचार सुनाये गये। समाचार सुनकर इनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और ससार से विरक्ति हो गई। एक दिन वे अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति देने का आग्रह कर रहे थे कि सहसा अन्त पुर मे कोलाहल मच गया। अपने छोटे भाई के असमय मे ही आकस्मिक निधन का समाचार मिला। इससे इनकी वैराग्यभावना और प्रवल हो गई। भगवान् पार्श्वनाथ का सयोग पाकर ये भी दीक्षित हो गये।

(७) वारिसेन – ये भगवान् के सातवें गणधर थे। ये विदेह राज्य की राजधानी मिथिला के निवासी थे। इनके पिता का नाम नमिराजा तथा माता का यशोधरा था। पूर्वजन्म के सस्कारों के कारण वारिसेन प्रारम्भ से ही ससार से विरक्त थे। उनके अन्तर्मन मे प्रव्रज्या ग्रहण करने की प्रबल इच्छा जागृत हो रही थी। माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर वे अपने साथी राजपुत्रो के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के समवशरण मे पहुंचे। उनकी वीतरागता भरी देशना श्रवण की और प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर बन गये।

(८) भद्रयश – भगवान् के आठवे गणधर भद्रयश हुए। इनके पिता का नाम समरसिंह और माता का पद्मा था। किसी समय मत्तकुज नामक उद्यान मे गये। वहा उन्होने एक व्यक्ति को नुकीली कीलो से वेष्टित देखा। करुणा से दयार्द्र होकर उन्होने उसकी वे नुकीली कीले शरीर से निकाली और जब उन्हे यह ज्ञात हुआ कि उनके भाई ने ही पूर्वजन्म के वैर के कारण उसकी यह दशा की है तो उनको संसार की इस स्वार्थपरता के कारण विरक्ति हो गई। वे अपने कई साथियो के साथ भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा मे दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

(६), (१०) जय एवं विजय — इसी तरह जय एवं विजय क्रमशः भगवान् के नवमे एवं दसवे गणधर के रूप मे विख्यात हुए। ये दोनों श्रावस्ती नगरी के रहने वाले सहोदर थे। परस्पर इनमें अत्यन्त स्नेह था। एक वार उन्हे स्वप्न आया कि उनका आयुष्य अत्यल्प है। इससे विरक्त होकर दोनो भाई प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा मे पहुचे और दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी वने।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते है। तत्कालीन ऋजु एव प्राज्ञजनो को लक्ष्य कर पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र-धर्म की शिक्षा दी, वह चातुर्याम — चार व्रत के रूप मे थी। यथा :- (१) सर्वथा प्राणातिपात विरमण— हिंसा का त्याग, (२) सर्वथा मृषावाद विरमण—असत्य का त्याग, (३) सर्वथा अदत्तादान विरमण—चौर्य-त्याग और (४) सर्वथा वहिद्धादान विरमण अर्थात् परिग्रह-त्याग। इस प्रकार चातुर्याम धर्म को आत्म-साधना का पुनीत मार्ग वतलाया।

यम का अर्थ दमन करना कहा गया है। चार प्रकार से आत्मा का दमन करना, अर्थात् उसे नियन्त्रित रखना ही चातुर्याम धर्म का मर्म है। इसमे हिंसा आदि चार पापो की विरति होती है। इन चारो मे ब्रह्मचर्य का पृथक् स्थान नही है। इसका मतलव यह नही कि पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा मे ब्रह्मचर्य उपेक्षित था अथवा ब्रह्मचर्य की साधना कोई गौण मानी गई हो। ब्रह्मचर्य-पालन भी और व्रतो की तरह परम प्रधान और अनिवार्य था किन्तु पार्श्वनाथ के संत विज्ञ थे अत. वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर वहिद्धादान मे ही स्त्री और परिग्रह दोनो का अन्तर्भाव कर लेते थे। क्योंकि वहिद्धादान का अर्थ वाह्य वस्तु का आदान होता है। अत. धन-धान्य आदि की तरह स्त्री भी वाह्य वस्तु होने से दोनों का वहिद्धादान मे अन्तर्भाव माना गया है।

कुछ लेखक चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदो एव उपनिपदो से वतलाते हैं पर वास्तव मे चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदो या उपनिपदो से वहुत पहले श्रमण सस्कृति मे हो चुका था। इतिहास के विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्वी ने भी इस वात को मान्य किया है। उनके अनुसार चातुर्याम का मूल पहले के ऋषि-मुनियो का तपोधर्म माना गया है। वे ऋषि-मुनि ससार के दु खो और मनुष्य-मनुष्य के वीच होने वाले असद्व्यवहार से ऊवकर अरण्य मे चले जाते एवं चार प्रकार की तपश्चर्या करते थे। उनमे से एक तप अहिंसा या दया का होता था। पानी की एक वूद को भी कष्ट न देने की साधना आखिर तपश्चर्या नही तो और क्या थी? उन पर असत्य वोलने का अभियोग लग ही नही सकता था, क्योकि वे जनशून्य अरण्य मे एकान्त, शान्त स्थान मे निवास करते तथा फल-मूलो द्वारा जीवन-निर्वाह चलाते थे। चोरी के लिये भी उन्हे न तो कोई आवश्यकता थी और न निकट

सम्पर्क में चित्ताकर्षक परकीय सामग्री थी। अतः वे जगत् में रहकर भी एक तरह से संसार से अलिप्त थे। वे या तो नग्न रहते थे या फिर इच्छा हुई तो वल्कल पहनते थे। इसलिये यह स्पष्ट है कि वे पूर्णरूपेण अपरिग्रह व्रत का पालन करते थे, परन्तु इन यामों का वे प्रचार नहीं करते थे, अतः ब्राह्मणों के साथ उनका विवाद कभी नहीं हुआ। परन्तु पार्श्व ने भिक्षोपजीवी बनकर लोगों को इसकी शिक्षा दी जिससे ब्राह्मणों के यज्ञ अप्रिय होने लगे।[1]

ब्राह्मण-संस्कृति में अहिंसादि व्रतों का मूल नहीं है, क्योंकि वैदिक परम्परा में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता है। सन्यास परम्परा का वहां कोई प्रमुख स्थान नहीं है। अतः विशुद्ध अध्यात्म पर आधारित संन्यास-परम्परा, श्रमण-परम्परा की ही देन हो सकती है। आज जो वैदिक परम्परा के पुराणों, स्मृतियों तथा उपनिषदों में जो व्रतों एवं महाव्रतों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे सभी भगवान् पार्श्वनाथ के उत्तरकालीन हैं। इसलिये पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तरकाल से प्रभावित कहना उचित नहीं। डॉ० हरमन जेकोबी ने भ्रांतिवश इनका स्रोत ब्राह्मण-संस्कृति को माना है, संभव है उन्होंने बोधायन के आधार पर ऐसी कल्पना की है।

विहार और धर्म प्रचार

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ कहां-कहां विचरे और किस वर्ष किस नगर में चातुर्मास किया, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी सामान्य रूप से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर समझा जाता है कि महावीर की तरह भगवान् पार्श्वनाथ का भी सुदूर प्रदेशों में विहार एवं धर्म प्रचार हुआ हो। काशी-कोशल से नेपाल तक प्रभु का विहार-क्षेत्र रहा है। भक्त, राजा और उनकी कथाओं से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, काशी, कोशल, अवन्ति, पौण्ड्र, मालव, अंग, वंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड, लाट, द्राविड़, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया।

दक्षिण कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, और द्रविड आदि उस समय अनार्य क्षेत्र माने जाते थे। शाक भी अनार्य देश था परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ व उनकी निकट परम्परा के श्रमण वहां पहुंचे थे। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है, वहां भी पार्श्व के अनुयायी थे।[2] महात्मा बुद्ध के काका स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावक थे, जो शाक्य देश में भगवान् का विहार होने से ही संभव हो सकता है। सिकन्दर महान् और चीनी यात्री के समय में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में विशाल संख्या में जैन मुनियों के पाये जाने का जो उल्लेख

[1] "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" धर्मानन्द कौशाम्बी, पृ० १७–१८
[2] भावदेवसूरि, पार्श्वनाथ चरित्र २३, १८–१६/१५/७६–८५

मिलता है वह तभी सभव हो सकता है जबकि वह क्षेत्र भगवान् पार्श्वनाथ का विहारस्थल माना जाय ।[1]

सात सौ ई० मे चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने तथा उसके भी पूर्व सिकन्दर ने मध्य एशिया के "कियारिशि" नगर मे बहुसख्यक निग्रन्थ संतों को देखा था। अत. यह अनुमान से सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के समरकन्द, वल्ल आदि नगरो मे जैन धर्म उस समय प्रचलित था। आधुनिक खोज से यह प्रमाणित हो चुका है कि पार्श्वनाथ के धर्म का उपदेश सम्पूर्ण आर्यावर्त मे व्याप्त था। पार्श्वनाथ एक वार ताम्रलिप्त से चलकर कोपकटक पहुचे थे और उनके वहा आहार ग्रहण करने से वह धन्यकटक कहलाने लगा। आजकल वह "कोपारि" कहा जाता है। इन प्रदेशों मे भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता आज भी वनी हुई है। विहार के राची और मानभूमि आदि जिलो मे हजारो मनुष्य आज भी केवल पार्श्वनाथ की उपासना करते है और उन्ही को अपना इष्टदेव मानते है। वे आज सराक (श्रावक) कहलाते है।

लगभग सत्तर (७०) वर्ष तक भगवान् पार्श्वनाथ ने देश-देशान्तर मे विचरण किया और जैन धर्म का प्रचार किया।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे, यह आज ऐतिहासिक तथ्यो से असदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुका है। जैन साहित्य ही नही, वौद्ध साहित्य से भी भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है।

वौद्ध साहित्य के उल्लेखो के आधार पर वुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए डॉ० जेकोवी ने लिखा है – "यदि जैन और वौद्ध सम्प्रदाय एक से ही प्राचीन होते, जैसा कि वुद्ध और महावीर की समकालीनता तथा इन दोनो को इन दोनो सप्रदायों का सस्थापक मानने से अनुमान किया जाता है तो हमे आशा करनी चाहिये कि दोनो ने ही अपने अपने साहित्य मे अपने प्रतिद्वन्द्वी का अवश्य ही निर्देश किया होता, किन्तु वात ऐसी नही है। वौद्धो ने तो अपने साहित्य मे, यहा तक कि त्रिपटको मे भी निर्ग्रथो का वहुतायत से उल्लेख किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थो की धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्द्वी की उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुचते है कि वुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सप्रदाय नही था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।[2]

मज्झिम निकाय के महासिहनाद सूत्र मे वुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार वतलाये है, जो इस प्रकार हैं – '(१)

---

[1] पार्श्वनाथ चरित्र सर्ग १५–७६–८५

[2] इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० १६० ।

तपस्विता, (२) रुक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। इनका अर्थ है तपस्या करना, स्नान नही करना, जल की वूद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना। ये चारो तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय मे होते थे। स्वय भगवान् महावीर ने इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रंथो के लिये इनका पालन आवश्यक था।

बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय मे अजातशत्रु द्वारा भगवान् महावीर और उनके शिष्यो को चातुर्याम-युक्त कहलाया है। यथा :-

"भते ! मै निगन्ठ नातपुत्र के पास भी गया और उनसे श्रामण्यफल के विपय मे पूछा। उन्होने चातुर्याम सवरवार वतलाया और कहा, निगण्ठ चार सवरो से युक्त होता है, यथा – (१) वह जल का व्यवहार वर्जन करता है जिससे कि जल के जीव न मरे, (२) सभी पापो का वर्जन करता है, (३) पापो के वर्जन से धुत-पाप होता है और (४) सभी पापो के वर्जन से लाभ रहता है।"

पर जैन साहित्य की दृष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध है कि भगवान् महावीर की परम्परा पच महाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस वात की ओर सकेत करता है कि बौद्धभिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होने महावीर के धर्म को भी उसी रूप मे देखा है। हो सकता है वुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानो को श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा मे जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ उसका पता न चला हो। वुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान् पार्श्वनाथ की ही देन थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि वुद्ध पार्श्वनाथ के धर्म से परिचित थे।[1]

बौद्ध वाङ्मय के प्रकाड पडित धर्मानन्द कौशाम्वी ने लिखा है[2] – "निर्ग्रंथो के श्रावक 'वप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रंथो का चातुर्याम धर्म शाक्य देश मे प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कही नही मिलता कि उस देश मे निर्ग्रंथो का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रंथ श्रमण वीच-वीच मे शाक्य देश मे जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यो मे आलारकालाम के श्रावक अधिक थे, क्योकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर मे ही था। आलार के समाधिमार्ग का अध्ययन गौतम वोधिसत्व ने वचपन मे ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमत आलार के ही आश्रम में गये और उन्होने योगमार्ग का आगे अध्ययन प्रारम्भ किया। आलार ने उन्हे समाधि की सात सीढिया दिखाई। फिर वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवी सीढी सीखी परन्तु इतने ही से उन्हे सतोष नही हुआ क्योकि उस समाधि से मानव-मानव के वीच होने वाले विवाद का अन्त होना सभव नही था। तव वोधिसत्व "उद्रक रामपुत्र" का आश्रम छोडकर राजगृह चले गये। वहा के श्रमण-सम्प्रदाय मे उन्हे शायद निर्ग्रंथो का चातुर्याम-सवर ही विशेष

[1] मज्झिम निकाय महासिंहनाद सुत्त, पृ० ४८–५०।
[2] चातुर्याम (धर्मानन्द कौशाम्वी)

पसद आया क्योकि आगे चलकर उन्होने जिस आर्य अष्टागिक मार्ग का प्रवर्तन किया उसमे चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

भ० पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार

पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के सघ में निम्न धर्म परिवार था :—

गणधर एवं गण	—शुभदत्त आदि आठ गणधर और आठ ही गण
केवली	—एक हजार (१०००)
मन. पर्यवज्ञानी	—साढे सातसौ (७५०)
अवधिज्ञानी	—एक हजार चार सौ (१४००)
चौदह पूर्वधारी	—साढे तीन सौ (३५०)
वादी	—छह सौ (६००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—एक हजार दो सौ (१२००)
साधु	—आर्यदिन्न आदि सोलह हजार (१६०००)
साध्वी	—पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार (३८०००)
श्रावक	—सुनन्द आदि एक लाख चौंसठ हजार (१६४०००)
श्राविका	—नन्दिनी आदि तीन लाख सत्तावीस हजार (३२७०००)[1]

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन मे एक हजार साधुओ और दो हजार साध्वियो ने सिद्धिलाभ किया। यह तो मात्र व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त लाखो सम्यग्दृष्टि वनकर प्रभु के भक्त वने।

परिनिर्वाण

कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवलीचर्या से विचर कर जव भगवान् ने अपना आयुकाल निकट समझा तव वे वाराणसी से आमलकप्पा होकर सम्मेतशिखर पधारे और तेतीस साधुओ के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरण का अरोहण किया। फिर प्रभु ने श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र मे चन्द्र का योग होने पर योग-मुद्रा मे खड़े ध्यानस्थ आसन से वेदनीय आदि कर्मो का क्षय किया और वे सिद्ध-वुद्ध-मुक्त हुए।

श्रमण परम्परा और पार्श्व

श्रमण-परम्परा भारतवर्ष की वहुत प्राचीन धार्मिक परम्परा है। मन और इन्द्रिय से तप करने वाले श्रमण कहलाते हैं। जैन आगमो एव ग्रथों[2] मे श्रमण

[1] कल्पसूत्र'' ''' सूत्र १५७। (ख) ३ लाख ७७ हजार श्राविका [त्रि श पु च १।४।३१५]

[2] निग्गथा, सक्क, तावस, गेरुय, आजीव पचहा समणा।
नम्मिय निग्गथा ते, जे जिणसासणभवा मुणिणो ॥३८
सक्काय सुगय सिस्सा, जे जडिला ते उ तावसा गीता।
जे धाउरत्तवत्था, तिदडिणो गेरुया तेउ ॥३९
जे गोसालकमयमणुसरति भन्ननि तेउ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे, पच वि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥४० [प्रवचन सारोद्धार, द्वार ९४]

पाच प्रकार के बतलाए हैं, यथा – (१) निग्रन्थ, (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गेरुअ और (५) आजीवक। इनमे जैन श्रमणो को निग्रन्थ श्रमण कहा गया है। सुगतशिष्य-बौद्धो को शाक्य और जटाधारी वनवासी पाखडियो को तापस कहा गया है। गेरुए वस्त्र वाले त्रिदण्डी को गेरुक या परिव्राजक तथा गोशालकमती को आजीवक कहा गया है। ये पाचो श्रमण रूप से लोक मे प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रमण परम्परा की नीव ऋषभदेव के समय मे ही डाली गई थी, जिसका कि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थो मे भी उल्लेख है।[१] वृहदारण्यक उपनिषद् एवं वाल्मीकि रामायण मे भी[२] श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिपिटक साहित्य मे भी "निग्रथ" शब्द का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। डॉ० हरमन जेकोवी ने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध के पूर्व निर्ग्रंथ सम्प्रदाय विद्यमान था। "अगुत्तर निकाय" मे "वप्प" नाम के शाक्य को निर्ग्रंथ श्रावक बतलाया है जो महात्मा बुद्ध का चाचा था। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध से पहले या उसके बाल्यकाल मे शाक्य देश मे निग्रन्थ धर्म का प्रचार था। भगवान् महावीर बुद्ध के समकालीन थे। उनको निग्रन्थ धर्म का प्रवर्तक मानना युक्तिसगत नही लगता। अत यह प्रमाणित होता है कि इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ही श्रमण परम्परा के प्रर्वतक थे।

उपरोक्त आधार से आधुनिक इतिहासकार पार्श्वनाथ को निग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मानते हैं। वास्तव मे निग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन पार्श्वनाथ से भी पहले का है। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने का प्रतिवाद करते हुए डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है. –

"यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नही है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के सस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर (आदि-सस्थापक) मानने मे सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा मे कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है जो उन्हे (ऋषभ को) प्रथम तीर्थंकर मान्य करती है।"[३]

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म का अस्तित्व वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से बहुत पहले भी था।[४]

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी मे करुणा, मधुरता और शान्ति की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती थी। परिणामत जन-जन के मन पर उनकी वाणी का

---

१ The Sacred book of the East Vol XXII, Introduction page 24 Jecoby

२ बालकाण्ड सर्ग १४ श्लोक २२।

३ Indian Antigwary Vol IX, page 163
But there is nothing to prove that Parsva was a founder of Jainism Jain tradition is unanimous in making Rishabh, the first Tirthankara, as the founder There may be some Historical tradition which makes him the first Tirthankara

४ Indian Philosophy Vol I Page 281 Radhakrishnan

मगलकारी प्रभाव पड़ा, जिसमे हजारो ही नही लाखो लोग उनके अनन्य वन गये।

पार्श्वनाथ के कार्यकाल मे तापस परम्परा का प्रावल्य था। लोग तप के नाम पर जो अज्ञान-कष्ट चला रहे थे, प्रभु के उपदेश से उसका प्रभाव कम पड़ गया। अधिक सख्या में लोगो ने आपके विवेकयुक्त तप से नवप्रेरणा प्राप्त की। आपके ज्ञान-वैराग्यपूर्ण उपदेश से तप का सही रूप निखर आया।

'पिप्पलाद' जो उस समय का एक मान्य वैदिक ऋषि था, उसके उपदेशो पर भी आपके उपदेश की प्रतिछाया स्पष्ट रूप से झलकती है।[1] उसका कहना था कि प्राण या चेतना जव शरीर से पृथक् हो जाती है तव वह शरीर नष्ट हो जाता है। वह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के, 'पुद्गलमय शरीर से जीव के पृथक् होने पर विघटन' इस सिद्धान्त की अनुकृति है। 'पिप्पलाद' की नवीन दृष्टि से निकले हुए ईश्वरवाद से प्रमाणित होता है कि उनकी विचारधारा पर पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि 'भारद्वाज' जिनका अस्तित्व वौद्ध धर्म से पूर्व है, पार्श्वनाथ-काल मे वे एक स्वतन्त्र मुण्डक सप्रदाय के नेता थे।[2] बौद्धो के अगुत्तर निकाय मे उनके मत की गणना मुण्डक श्रावक के नाम से की गई है।[3] जैन 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ मे उन्हे क्रियावादी आस्तिक के रूप मे वताया गया है।[4] मुण्डक मत के लोग वन मे रहने वाले, पशु-यज्ञ करने वाले तापसो तथा गृहस्थ-विप्रो से अपने आपको पृथक् दिखाने के लिए सिर मु डा कर भिक्षावृत्ति से अपना उदर-पोपण करते थे किन्तु वेद से उनका विरोध नही था।[5] उनके इस मत पर पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव दिखाई देता है। यही कारण है कि एक विद्वान् ने उसकी परिगणना जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है, पर उनकी जैन सम्प्रदाय मे परिगणना युक्तियुक्त प्रतीत नही होती।

नचिकेता जो कि उपनिपद्कालीन एक वैदिक ऋषि थे, उनके विचारो पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पडती है। वे भारद्वाज के समकालीन थे तथा ज्ञान-यज्ञ को मानते थे। उनकी मान्यता के मुख्य अग थे — इन्द्रिय-निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर स्वरूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक् वोध। इसी तरह "प्रवुद्ध कात्यायन" जो कि महात्मा वुद्ध से पूर्व हुए थे तथा जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्व के मन्तव्यो का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीत जल मे जीव मान कर उसके उपयोग

---

१ Cambridge History of India, part I, page 180

२ Bilongs of the Boudha, Part II, page 22

३ वातरशनाह्वा · · ···

४ वर्मान्दर्शयितुकामो ·

५ वृहदारण्यकोपनिपद्, ४।३।२२

को धर्मविरुद्ध मानते थे, जो पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा से प्राप्त है। उनकी कुछ अन्य मान्यताएं भी पार्श्वनाथ की मान्यताओ से मेल खाती है।

'अजितकेशकम्वल' भी पार्श्व-प्रभाव से अछूते दिखाई नही देते। यद्यपि उन्होने पार्श्व के सिद्धान्त को विकृत रूप से प्रकट किया था फिर भी वे वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे।

भारत की तो वात ही क्या इससे वाहर के देशो पर भी पार्श्व के प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। ई पू ५८० मे उत्पन्न यूनानी दार्शनिक 'पाइथोगोरस' जो स्वय महावीर और बुद्ध के समकालीन थे, जीवात्मा के पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। इतना ही नही मांसप्रेमी जातियो को भी वे सभी प्रकार की हिसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देते थे। यहा तक कि कतिपय वनस्पतियो को भी वे धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानते थे। वे पूर्वजन्म के वृत्तान्त को भी स्मृति से वताने का दावा करते थे और आत्मा की तुलना में देह को हेय और नश्वर समझते थे।

उपर्युक्त विचारों का बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से कोई सादृश्य नही जवकि जैन धर्म के साथ उनका अद्‌भुत सादृश्य है। ये मान्यताएं उस काल में प्रचलित थी जवकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मो का प्रचलन प्रारम्भ ही कर रहे थे। अत· पाईथोगोरस आदि दार्शनिक पार्श्वनाथ के उपदेशो से किसी न किसी तरह प्रभावित रहे है, ऐसा प्रतीत होता है।

बुद्ध पर पार्श्व-मत का प्रभाव

बुद्ध के जीवन-दर्शन से यह वात साफ झलकती है कि उन पर भगवान् पार्श्व के आचार-विचार का गहरा प्रभाव पडा था। शाक्य देश जो कि नेपाल की उपत्यका मे है और जहा कि बुद्ध का जन्म हुआ था, वहां पार्श्वानुयायी संतो का आना-जाना बना रहता था। और तो क्या, उनके राजघराने पर भी पार्श्व की वाणी का स्पष्ट प्रभाव था। बुद्ध के चाचा भी पार्श्व-मतावलम्वी थे। इन सवसे सिद्ध होता है कि वचपन मे बुद्ध के कोमल अन्त.करण मे ससार की असारता एव त्याग-वैराग्य के जो अकुर जगे उनके वीज भगवान् पार्श्व के उपदेश रहे हो तो कोई आश्चर्य नही।

गृह-त्याग के पश्चात् बुद्ध की चर्या पर जव दृष्टिपात करते हैं तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न स्थानो पर घूमते रहे किन्तु उन्हे आत्मवोध या सच्ची शान्ति कही प्राप्त नही हुई। जव वे उद्रकराम पुत्र का आश्रम छोड कर राजगृह आए तो वहा के निग्रन्थ श्रमण सम्प्रदाय मे उन्हे निग्रथो का चातुर्याम सवर अत्यधिक पसन्द आया। क्योकि आगे चल कर उन्होने जिस आर्य अष्टागिक मार्ग का आविष्कार किया, उसमे चातुर्याम का समावेश किया गया है।[1]

---

[1] "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" पृ० २८।

बाद मे केवल चार यामो से ही काम चलने वाला नही, ऐसा जान कर उन्होंने उसमें समाधि एव प्रज्ञा को भी जोड दिया। शीलस्कन्ध वुद्ध धर्म की नीव है। शील के विना अध्यात्म मार्ग मे प्रगति पाना असभव है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम का सन्निवेश शीलस्कन्ध मे किया गया है और उस ही की रक्षा एव अभिवृद्धि के लिए समाधित-प्रज्ञा की आवश्यकता है।[1]

आकखेय सुत्त (मज्झिम निकाय) पढ़ने से पता चलता है कि वुद्ध ने शील को कितना महत्त्व दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि वुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारो यामो को पूर्णतया स्वीकार किया था। उन्होंने उन यामों मे आलारकलाम की समाधि और अपनी खोजी हुई चार आर्य-सत्यरूपी प्रज्ञा को जोड दिया और उन यामो को तपश्चर्या एव आत्मवाद से पृथक् कर दिया।

वुद्ध ने तपश्चर्या का त्याग कर दिया जो कि उन दिनो साधु वर्ग मे अत्यधिक प्रचलित थी, अत. लोग उन्हे और उनके शिष्यो को विलासी (मौजी) कहते थे। इस सम्वन्ध मे 'दीर्घनिकाय' के पासादिक सुत्त मे भगवान् वुद्ध चुन्द से कहते हैं—"अपन सव पर तपश्चर्या की कमी से आक्षेप रूप मे आने वाले मौजो के वारे में तुम आक्षेप करने वाले लोगो से कहना—"हिंसा, स्तेय, असत्य और भोगोपभोग (काम सुखल्लिकानुयोग) ये चार मौजे हीन-गवार, पृथक्-जन-सेवित, अनार्य एव अनर्थकारी हैं"—अर्थात् इनके विपरीत चतुर्याम पालन ही सच्ची तपस्या है और हम सव इस आर्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझते और पालते हैं।"

कहा जाता है कि वुद्ध के न सिर्फ विचारों पर ही जैन धर्म की छाप पडी थी वलिक सन्यास धारण के वाद "छ वर्षो तक जैन श्रमण के रूप में उन्होने जीवन व्यतीत किया था।[3]

जैन साहित्यकार कहते हैं कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर मे पिहिताश्रव साधु का शिष्य वुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो वहुश्रुत या वडा भारी शास्त्रज्ञ था। परन्तु मछलियो का आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्वर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की। "फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मास मे भी जीव नही है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने मे कोई पाप नही है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या वहने वाला पदार्थ है उसी प्रकार शराव है वह त्याज्य नही है।" इस प्रकार की घोषणा से उसने ससार मे पापकर्म की परिपाटी

---

[1] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३० ।

[2] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३१ ।

[3] जैन सूत्र (एस वी ई), भाग १, पृ० ३६।४१ और रत्नकरण्डक श्रावकाचार १।१०

चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, ऐसे सिद्धान्त की कल्पना कर लोगों को अपना अनुयायी बना कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।[१]

पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे बडे-बड़े राजा महाराजा भी प्रभावित हुए बिना नही रह सके। व्रात्य क्षत्रिय सब जैन धर्म के ही उपासक थे। पार्श्वनाथ के समय मे कई ऐसे राज्य थे जिनमें पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे।

डॉ० ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागो मे अनेक प्रबल नाग-सत्ताएं राजतन्त्रो अथवा गणतन्त्रो के रूप मे उदित हो चुकी थी और उन लोगो के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते है। उनके अतिरिक्त मध्य एव पूर्वी देशो के अधिकाश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे। लिच्छवी आदि आठ कुलो मे विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण मे तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था। कलिग के शक्तिशाली राजा "करकडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ मे उत्पन्न हुए थे और उनके उपासक उस युग के आदर्श नरेश थे। राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप मे उन्होने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है। इनके अतिरिक्त पाचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागाति, तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे।[२]

---

[१] सिरि पासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलास णयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुवो वुड्ढकित्तिमुणी ॥६

तिमिपूरणासणेहिं अहिगय पवज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तवर धरित्ता पवट्टिय तेण एयत ॥७

मसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय, दुद्ध, सक्करए।
तम्हा तं वछित्ता त भक्खतो ण पाविट्ठो ॥८॥

मज्ज ण वज्जणिज्जं दवदव्व जह जल तहा एद।
इदिलोए घोसित्ता पवट्टिय सव्वमावज्ज ॥९॥

अण्णो करेदि कम्म अण्णो त भुजदीदि सिद्दत।
परिकप्पिऊण णूण वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥१०॥ दर्शनसार।
[भगवान् महावीर और बुद्ध पृ० ४८-४९]

[२] भारतीय इतिहास मे जैन धर्म का योगदान।

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिर्मण्डल में

निरयावलिका सूत्र के पुष्पिता नामक तृतीय वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय अध्ययनो मे क्रमश. ज्योतिपियो के इन्द्र 'चन्द्र' और सूर्य का तथा तृतीय अध्ययन मे शुक्र महाग्रह का वर्णन है, जो इस प्रकार है –

एक समय जव भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशिलक नामक उद्यान मे पधारे हुए थे, उस समय ज्योतिष्चक्र का इन्द्र 'चन्द्र' भी प्रभुदर्शन के लिए समवशरण मे उपस्थित हुआ। प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् उसने प्रभु-भक्ति से आनन्दविभोर हो जिन शासन की प्रभावना हेतु समवशरण मे उपस्थित चतुर्विध-सघ एव अपार जनसमूह के समक्ष अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव-देवी समूहो को प्रकट कर वड़े मनोहारी, अत्यन्त सुन्दर एव अत्यद्भुत अनेक दृश्य प्रस्तुत किये। अलौकिक नटराज के रूप मे चन्द्र द्वारा प्रदर्शित आश्चर्यजनक दृश्यों को देख कर परिपद् चकित हो गई।

चन्द्र के अपने स्थान को लौट जाने के अनन्तर गौतम गणधर ने प्रभु से पूछा – "भगवन्! ये चन्द्रदेव पूर्वजन्म में कौन थे? इस प्रकार की ऋद्धि इन्हे किस कारण मिली है?"

भगवान् महावीर ने फरमाया – "पूर्वकाल मे श्रावस्ती नगरी का निवासी अगति नाम का एक सुसमृद्ध, उदार, यशस्वी, राज्य, प्रजा एव समाज द्वारा सम्मानित गाथापति था।"

"किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य मे शुभागमन हुआ। विशाल जनसमूह के साथ अगति गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के समवशरण मे पहुँचा और प्रभु के उपदेशामृत से आप्यायित एव संसार से विरक्त हो प्रभु की चरणशरण मे श्रमण वन गया।"

"अंगति अरणगार ने स्थविरो के पास एकादश अगो का अध्ययन कर कठोर तपश्चरण किया। उसने अनेक चतुर्थ, पष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, मासार्द्ध एव मासक्षमण आदि उग्र तपस्याओ से अपनी आत्मा को भावित किया।"

"सयम के मूल गुणो का उसने पूर्ण रूपेणपालन किया पर कभी वयालीस दोषो में से किसी दोपसहित आहार-पानी का ग्रहण कर लेना, ईर्या आदि समितियों की अराधना मे कभी प्रमाद कर वैठना, अभिग्रह ग्रहण कर लेने पर उसका पूर्ण रूप से पालन न करना, शरीर चरण आदि का वार-वार प्रक्षालन करना इत्यादि सयम के उत्तर गुणो की विरावना के कारण अगति अरणगार विराधित-चरित्र वाला वन गया।"

"उसने सयम के उत्तर गुणो के अतिचारो की आलोचना [illegible] की और अत मे पन्द्रह दिन के सथारे से आयु पूर्ण होने पर वह अगति अरणगार ज्योतिषियो का इन्द्र अर्थात् एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति वाला चन्द्रदेव वना। तप और सयम के प्रभाव से उन्हे यह ऋद्धि मिली है।"

गणधर गौतम ने पुन प्रश्न किया – "भगवन् ! अपनी देव-आयु पूर्ण होने पर चन्द्र कहा जायेंगे ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "गौतम ! यह चन्द्रदेव आयुष्यपूर्ण होने पर महाविदेश क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा ।"

इसी प्रकार उपरोक्त सूत्र के द्वितीय अध्ययन में ज्योतिषिमण्डल के इन्द्र सूर्य और उनके पूर्वभव का वर्णन किया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य मे भगवान् महावीर के पधारने पर सूर्य भी प्रभु के समवशरण मे उपस्थित हुआ ।

चन्द्र की तरह सूर्य ने भी प्रभु वन्दन के पश्चात् परिषद् के समक्ष वैक्रिय-शक्ति के अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किये और अपने स्थान को लौट गया ।

गौतम गणधर द्वारा सूर्य के पूर्वभव का वृत्तान्त पूछने पर भगवान् महावीर ने फरमाया कि श्रावस्ती नगरी का सुप्रतिष्ठ नामक गाथापति भी अंगति गाथापति के ही समान समृद्धिशाली, उदार, राज्य तथा प्रजा द्वारा सम्मानित एव कीर्तिशाली था ।

सुप्रतिष्ठ गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावस्ती-आगमन पर धर्म-देशना सुनने गया और ससार से विरक्त हो प्रभु-चरणो मे दीक्षित हो गया । उसने भी अगति की ही तरह उग्र तपस्याए की, सयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया, संयम के उत्तरगुणो की विराधना की और अन्त में वह सयम के अतिचारो की आलोचना किये विना ही सलेखनापूर्वक काल कर सूर्यदेव वना ।

देवायुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र मे जन्म ग्रहण कर तप-सयम की साधना से सिद्धि प्राप्त करेगा ।

श्रमणोपासक सोमिल

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के तीसरे अध्ययन मे शुक्र महाग्रह का निम्नलिखित कथानक दिया हुआ है –

"श्रमण भगवान् महावीर एक वार राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान मे पधारे । प्रभु के आगमन की सूचना पाकर नर-नारियों का विशाल समूह बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् के समवशरण मे पहुचा ।

उस समय शुक्र भी वहा आया और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् उसने अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आश्चर्योत्पादक दृश्यो का धर्म परिपद् के समक्ष प्रदर्शन किया । तदनन्तर प्रभु को भक्ति-भाव से वन्दन नमन कर अपने स्थान को लौट गया ।"

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे शुक्र का पूर्वभव बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा–"भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे वाणारसी नगरी मे वेद-वेदाग का पारंगत सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था ।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ का वाराणसी नगरी के आम्रशाल वन मे आगमन सुनकर सोमिल ब्राह्मण भी विना छात्रो को साथ लिए उनको वन्दन करने गया। सोमिल ने पार्श्व प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे और अपने सब प्रश्नो का सुन्दर एव समुचित उत्तर पाकर वह परम सन्तुष्ट हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ मे वोध पाकर श्रावक वन गया।

कालान्तर मे असाधुदर्शन और मिथ्यात्व के उदय से सोमिल के मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह अनेक प्रकार के उद्यान लगाये तो वड़ा श्रेयस्कर होगा। अपने विचारो को साकार वनाने के लिए सोमिल ने आम्रादि के अनेक आराम लगवाये।

कालान्तर में आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उसके मन मे तापस वनने की उत्कट भावना जगी। तदनुसार उसने अपने मित्रो और जातिवन्धुओ को अशन-पानादि से सम्मानित कर उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौप दिया। तदनन्तर अनेक प्रकार के तापसो को लोहे की कड़ाहिया, कलछू तथा ताम्वे के पात्रो का दान कर वह दिशाप्रोक्षक तापसो के पास प्रव्रजित हो गया।

तापस होकर सोमिल ब्राह्मण छट्ठ-छट्ठ की तपस्या और दिशा-चक्रवाल से सूर्य की आतापना लेते हुए विचरने लगा।

प्रथम पारण के दिन उसने पूर्व दिशा का पोषण किया और सोम लोकपाल की अनुमति से उसने पूर्व दिशा के कन्द-मूलादि ग्रहण किये।

फिर कुटिया पर आकर उसने क्रमश. वेदि का निर्माण, गगा-स्नान और विधिवत् हवन किया। इस सव कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के पश्चात् सोमिल ने पारणा किया।

इसी प्रकार सोमिल ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पारण क्रमश दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में किये।

एक रात्रि मे अनित्य जागरण करते हुए उसके मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि वह तापसो से पूछ कर उत्तर दिशा मे महाप्रस्थान करे, काष्ठमुद्रा से मु ह वाध कर मौनस्थ रहे और चलते-चलते जिस किसी भी जगह स्खलित हो जाय अथवा गिर जाय उस जगह से उठे नही, अपितु वहीं पडा रहे।

प्रात.काल तापसो से पूछ कर सोमिल ने अपने सकल्प के अनुसार उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अपराह्नकाल मे वह एक अशोक वृक्ष के नीचे पहुंचा। वहा उसने वास की छाव रक्खी और मज्जन एव वलि-वैश्वदेव करके काष्ठमुद्रा से मु ह वाधे वह मौनस्थ हो गया। अर्द्धरात्रि के समय एक देव ने आकर उससे कहा – "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नही है।"

सोमिल ने देव की वात का कोई उत्तर नही दिया। देव ने उपरोक्त वाक्य दो तीन वार दोहराया। पर सोमिल ने उसकी वात पर कोई ध्यान नही दिया और मौन रहा। अन्त मे देव वहां से चला गया।

सोमिल निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आगे बढता रहा और दूसरे, तीसरे व चौथे दिन के अपराह्नकाल मे क्रमश: सप्तपर्ण, अशोक और वटवृक्ष के नीचे उपरोक्त विधि से कर्मकाण्ड सम्पन्न कर एव काष्ठमुद्रा से मुख वाध कर प्रथम रात्रि की तरह उसने तीनो रात्रिया व्यतीत की ।

तीनो ही मध्यरात्रियो मे उपरोक्त देव सोमिल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने वही उपरोक्त वाक्य "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नही है, दुष्प्रव्रज्या है" को दो तीन वार दोहराया ।

सोमिल ने हर वार देव की वात पर कोई ध्यान नही दिया और मौनस्थ रहा ।

उत्तर दिशा मे अग्रसर होते हुए सोमिल पांचवे दिन की अन्तिम वेला मे एक गूलर वृक्ष के नीचे पहुचा और वहा अपनी कावड रख, वेदिनिर्माण, गगा-मज्जन, शरक एव अरणि से अग्निप्रज्वालन और दैनिक यज्ञ से निवृत्त होकर काष्ठमुद्रा से मु ह वाध कर मौनस्थ हो गया ।

मध्यरात्रि में फिर वही देव सोमिल के समक्ष प्रकट होकर कहने लगा– "सोमिल तुम्हारी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है ।"

सोमिल फिर भी मौन रहा ।

सोमिल के मौन रहने पर देव ने दूसरी वार अपनी वात दोहराई । इस वार भी सोमिल ने अपना मौन भग नही किया ।

देव ने तीसरी वार फिर कहा–"सोमिल ! तेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है ।"

इस पर सोमिल ने अपना मौन तोडते हुए देव से पूछा – "देवानुप्रिय ! आप वतलाइये कि मेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या किस प्रकार है ?"

उत्तर मे देव ने कहा – "सोमिल ! तुमने अर्हत् पार्श्व के समक्ष पाँच अणु-व्रत, सात शिक्षाव्रत, इस तरह वारह व्रत वाला श्रावकधर्म स्वीकार किया था । उनका तुमने त्याग कर दिया और दिशाप्रोक्षक तापस वन गये हो । यह तुम्हारी दुष्प्रव्रज्या है । मैंने वार-वार तुम्हे समझाया फिर भी तुम नही समझे ।"

सोमिल ने पूछा – "देव ! मेरी सुप्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?"

"सोमिल ! यदि तुम पूर्ववत् श्रावक के वारह व्रत धारण करो तो तुम्हारी प्रव्रज्या सुप्रव्रज्या हो सकती है ।" यह कहकर देव सोमिल को नमस्कार कर तिरोहित हो गया ।

तदनन्तर सोमिल देव के कथनानुसार स्वत. ही पूर्ववत् श्रावकधर्म स्वीकार कर बेला, तेला, चोला, अर्द्धमास, मास आदि की घोर तपश्चर्याओ के साथ श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करता हुआ वहुत वर्षो तक विचरण करता रहा ।

अन्त मे १५ दिन की संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत दुष्कृत की आलोचना किये विना आयुष्य पूर्ण कर वह शुक्र महाग्रह रूप से देव

हुआ। कठोर तप और श्रमणोपासकधर्म के पालन के कारण इसे यह ऋद्धि प्राप्त हुई है।"

गौतम ने पुन. प्रश्न किया – "भगवन् ! यह शुक्रदेव आयुष्य पूर्ण होने पर कहा जायगा ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "गौतम ! देवायु पूर्ण होने पर यह शुक्र महाविदेह क्षेत्र मे जन्म ग्रहण करेगा और वहा प्रव्रजित हो सकल कर्मो का क्षय निर्वाण प्राप्त करेगा।"

यहां पर सोमिल का काष्ठमुद्रा से मुख बाध कर मौन रहना विचारणीय एव शोध का विषय है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो मे कही भी मुख बाधने का विधान उपलब्ध नही होता। ऐसी स्थिति मे निरयावलिका मे सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा से मु ह बाधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय मे जैनेतर धार्मिक परम्पराओ मे काष्ठमुद्रा से मुख बाधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय मे जैन परम्परा मे भी मुखवस्त्रिका बाधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठमुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता।

जहा तक हमारा अनुमान है जैन साधु की मुखवस्त्रिका का तापस सम्प्रदाय पर भी अवश्य प्रभाव पडा होगा। काष्ठमुद्रा से मु ह बाधने वाली परम्परा का परिचय देते हुए राजशेखर ने षड्दर्शन प्रकरण मे कहा है –

वीटेति भारते ख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका।
दयानिमित्त भूताना मुखनिश्वासरोधिका ।।
घ्राणादनुप्रयातेन, श्वासेनैकेन जन्तव ।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिना ।।

ऐतिहासिक तथ्य की गवेषणा करने वाले विद्वानो को इस पर तटस्थ दृष्टि से गम्भीर विचार कर तथ्य प्रस्तुत करना चाहिए। इसके साथ ही जो मुखवस्त्रिका को अर्वाचीन और शास्त्र के पन्नो की थू क से रक्षा के लिए ही मानते हैं उन विद्वानो को तटस्थता से इस पर पुनर्विचार करना चाहिये।

बहुपुत्रिका देवी के रूप मे पार्श्वनाथ की आर्या

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के चतुर्थ अध्याय मे बहुपुत्रिका देवी के सम्बन्ध मे निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है –

एक समय राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान मे भगवान् महावीर के पधारने पर विशाल जनसमुदाय प्रभु के दर्शन व वन्दन को गया। उस समय सौधर्मकल्प की ऋद्धिशालिनी बहुपुत्रिका देवी भी भगवान् को वन्दन करने हेतु समवशरण मे उपस्थित हुई। देशनाश्रवण और प्रभुवन्दन के पश्चात् उस देवी ने अपनी दाहिनी भुजा फैला कर १०८ देवकुमारो, बाई भुजा से १०८ देवकुमारियो तथा अनेक छोटी-बडी उम्र के पोगण्ड एव वयस्क अगणित बच्चे-बच्चियो को

प्रकट कर वडी ही अद्भुत एव मनोरजक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर ने भगवान् महावीर स्वामी से साश्चर्य पूछा – "भगवन्! यह वहुपुत्रिका देवी पूर्वभव मे कौन थी और इसने इस प्रकार की अद्भुत ऋद्धि किस प्रकार प्राप्त की है ?"

भगवान् ने कहा – "पूर्व समय की वात है कि वाराणसी नगरी मे भद्र नामक एक अतिसमृद्ध सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी सुभद्रा वड़ी सुन्दर और सुकुमार थी। अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन के सभी प्रकार के भोगो का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सुभद्रा ने एक भी संतान को जन्म नही दिया क्योकि वह वन्ध्या थी।

सतति के अभाव मे अपने आपको वडी अभागिन, अपने स्त्रीत्व और स्त्री-जीवन को निन्दनीय, अकिंचन और विडम्वनापूर्ण मानती हुई वह विचारने लगी कि वे माताए धन्य है, उन्ही स्त्रियो का स्त्री-जीवन सफल और सारभूत है जिनकी कुक्षि से उत्पन्न हुए कुसुम से कोमल वच्चे कर्णप्रिय 'मां' के मधुर सम्वोधन से सम्वोधित करते हुए, संततिवात्सल्य के कारण दूध से भरे माताओ के स्तनों से दुग्धपान करते हुए, गोद, आगन और घर भर को अपनी मनोमुग्धकारिणी वालकेलियो से सुशोभित करते और अपनी माताओ एव परिजनो को हर्षविभोर कर देते हैं।

इस तरह सुभद्रा गाथापत्नी अपने वन्ध्यत्व से अत्यन्त दुखित हो रात दिन, चिन्ता मे घुलने लगी।

एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्या सुव्रता की आर्याओ का एक सघाटक वाराणसी के विभिन्न कुलो में मधुकरी करता हुआ सुभद्रा के घर पहुचा। सुभद्रा ने वडे सम्मान के साथ उन साध्वियो का सत्कार करते हुए उन्हे अपनी सन्ततिविहीनता का दुखड़ा सुना कर उनसे सन्तान उत्पन्न होने का उपाय पूछा।

आर्या ने उत्तर मे कहा – "देवानुप्रिये! हम श्रमणियो के लिए इस प्रकार का उपाय वताना तो दूर रहा, ऐसी वात सुनना भी वर्जित है। हम तो तुम्हे सर्व-दुखविनाशक वीतरागधर्म का उपदेश सुना सकती हैं। सुभद्रा द्वारा धर्मश्रवण की रुचि प्रकट किये जाने पर आर्या ने उसे सासारिक भोगोपभोगो की विडम्वना वताते हुए वीतराग द्वारा प्ररूपित त्यागमार्ग का महत्त्व समझाया।

आर्याओ के मुख से धर्मोपदेश सुन कर सुभद्रा ने सतोष एव प्रसन्नता का अनुभव करते हुए श्राविकाधर्म स्वीकार किया और अन्ततोगत्वा कालान्तर मे संसार से विरक्त हो अपने पति की आज्ञा प्राप्त कर वह आर्या सुव्रता के पास प्रव्रजित हो गई।

साध्वी बनने के पश्चात् आर्या सुभद्रा कालान्तर मे लोगो के बालको को देख कर मोहोदय से उन्हे बड़े प्यार और दुलार के साथ खेलाने लगी। वह उन बालको के लिए अजन, विलेपन, खिलौने, प्रसाधन एव खिलाने-पिलाने की सामग्री लाती, स्नान-मन्जन, अजन, विदी, प्रसाधन आदि से उन बच्चो को सजाती, मोदक आदि खिलाती और उनकी बाल-क्रीड़ाओ को बडे प्यार से देख कर अपने आपको पुत्र-पौत्रवती समझती हुई अपनी सततिलिप्सा को शान्त करने का प्रयास करती।

आर्या सुव्रता ने यह सब देख कर उसके इस आचरण को साधुधर्म से विरुद्ध बताते हुए उसे ऐसा न करने का आदेश दिया पर सुभद्रा अपने उस असाधु आचरण से बाज न आई। सुव्रता द्वारा और अधिक कहे जाने पर सुभद्रा अलग उपाश्रय मे चली गई। वहा निरकुश हो जाने के कारण वह पासत्था, पासत्थ-विहारिणी,उसन्ना, उसन्नविहारिणी, कुशीला, कुशील-विहारिणी, ससत्ता, संसत्त-विहारिणी एव स्वच्छन्दा, स्वच्छन्दविहारिणी बन गई।

इस प्रकार शिथिलाचारपूर्वक श्रामण्यपर्याय का बहुत वर्षो तक पालन करने के पश्चात् अत मे आर्या सुभद्रा मासार्द्ध की सलेखना से बिना आलोचना किये ही आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म कल्प मे बहुपुत्रिका देवी रूप से उत्पन्न हुई।"

गौतम ने प्रश्न किया – "भगवन्! इस देवी को बहुपुत्रिका किस कारण कहा जाता है?"

भगवान् महावीर ने कहा – "यह देवी जब-जब सौधर्मेन्द्र के पास जाती है तो अपनी वैक्रियशक्ति से अनेक देवकुमारो और देवकुमारियो को उत्पन्न कर उनको साथ लिए हुए जाती है अत. इसे बहुपुत्रिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"

गौतम ने पुन प्रश्न किया – "भगवन्! सौधर्म कल्प की आयुष्य पूर्ण होने के पश्चात् यह बहुपुत्रिका देवी कहा उत्पन्न होगी?"

भगवान् महावीर ने फरमाया – "सौधर्म कल्प से च्यवन कर यह देवी भारत के विभेल सन्निवेश मे सोमा नाम की ब्राह्मण पुत्री के रूप में उत्पन्न होगी। उसका पिता अपने भानजे राष्ट्रकूट नामक युवक के साथ सोमा का विवाह करेगा। पूर्वभव की अत्युत्कट पुत्रलिप्सा के कारण सोमा प्रतिवर्ष युगल बालक-बालिका को जन्म देगी और इस प्रकार विवाह के पश्चात् सोलह वर्षों मे वह बत्तीस बालक-बालिकाओ की माता बन जायगी। अपने उन बत्तीस बालक-बालिकाओं के क्रंदन, चीख-पुकार, सार-सम्हाल, मल-मूत्र-वमन को साफ करने आदि कार्यों से वह इतनी तग आ जायगी कि बालक-बालिकाओं के मल-मूत्र से सने अपने तन-बदन एव कपडो तक को साफ नही कर पायेगी।

जहा वह सुभद्रा सार्थवाहिनी के भव मे सतान के लिए छटपटाती रहती थी वहा अपने आगामी सोमा के भव मे सतति से ऊब कर बध्या स्त्रियो को धन्य और अपने आपको हतभागिनी मानेगी।

कालान्तर मे सोमा सासारिक जीवन को विडम्बनापूर्ण समझ कर सुव्रता नाम की किसी आर्या के पास प्रव्रजित हो जायगी और घोर तपस्या कर एक मास की सलेखनापूर्वक काल कर शक्रेन्द्र के सामानिक देव रूप में उत्पन्न होगी। देवभव पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य होकर बहुपुत्रिका का जीव तप-सयम की साधना से निर्वाणपद प्राप्त करेगा।"

भगवान् पार्श्वनाथ की साध्वियां विशिष्ट देवियो के रूप में

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से प्रभावित हो समय-समय पर २१६ जराजीर्ण कुमारिकाओ ने पार्श्व प्रभु की चरणशरण ग्रहण कर प्रव्रज्या ली, इस प्रकार के वर्णन निरयावलिका और ज्ञाताधर्म कथा सूत्रो में उपलब्ध होते है।

उन आख्यानो से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर, भगवान् पार्श्वनाथ की अत्यधिक लोकप्रियता और उनके नाम के साथ 'पुरुषादानीय' विशेषण प्रयुक्त किये जाने के कारणो पर काफी अच्छा प्रकाश पडता है अत उन उपाख्यानो को यहा सक्षेप मे दिया जा रहा है।

निरयावलिका सूत्र के पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग मे श्री, ह्री, धी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी नाम की दश देवियो के दश अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन मे श्रीदेवी के सम्बन्ध मे वर्णन किया गया है कि एक समय भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान मे पधारे। उस समय सौधर्म कल्प के श्री अवतसक विमान की महती ऋद्धिशालिनी श्रीदेवी भी, भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए समवशरण मे आई।

श्रीदेवी ने अपने नाम-गोत्र का उच्चारण कर प्रभु को प्रांजलिपूर्वक आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ वन्दन कर समवशरण में अपनी उच्चकोटि की वैक्रियलब्धि द्वारा अत्यन्त मनोहारी एव परम अद्भुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। तदनन्तर वह भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने देवलोक को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने श्रीदेवी का पूर्वजन्म बताते हुए फरमाया – "गौतम! राजा जितशत्रु के राज्यकाल मे सुदर्शन नामक एक समृद्ध गाथापति राजगृह नगर मे निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम प्रिया और इकलौती पुत्री का नाम भूता था। कन्या भूता का विवाह नही हुआ और वह जराजीर्ण हो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गई। बुढापे के कारण उसके स्तन और नितम्ब शिथिल हो गये थे।

एक समय पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व राजगृह नगर में पधारे। नगरनिवासी हर्षविभोर हो प्रभुदर्शन के लिए गये। वृद्धकुमारिका भूता भी अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर भगवान् के समवशरण मे पहुँची और पार्श्वनाथ के उपदेश को सुन कर एव हृदयगम करके बड़ी प्रसन्न हुई।

उसने वन्दन के पश्चात् प्रभु से हाथ जोड़ कर कहा – "प्रभो ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा रखती हूँ और उसके आराधन के लिये समुद्यत हूँ। अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहती हूँ।"

प्रभु पार्श्वनाथ ने कहा – "देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो वैसा ही करो।"

घर लौट कर भूता कन्या ने अपने माता-पिता के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर ली।

सुदर्शन गाथापति ने बडे समारोह के साथ दीक्षा-महोत्सव आयोजित किया और एक हजार पुरुषो द्वारा उठाई जाने वाली सुन्दर पालकी मे भूता को विठा कर दिशाओ को प्रतिध्वनित करने वाली विविध वाद्यो की ध्वनि के वीच स्वजन-परिजन सहित शहर के मध्यभाग के विस्तीर्ण राजपथ से वह गुणशील चैत्य के पास पहुँचा।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अतिशयो को देखते ही भूता कन्या शिविका से उतरी। गाथापति सुदर्शन और उसकी पत्नी प्रिया अपनी पुत्री भूता को आगे कर प्रभु के पास पहुँचे और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन, नमस्कार के पश्चात् कहने लगे – "भगवन् ! यह भूता दारिका हमारी इकलौती पुत्री है, जो हमे अत्यन्त प्रिय है। यह ससार के जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हो आपकी सेवा मे प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती है। अत हम आपको यह शिष्यारूपी भिक्षा समर्पित करते हैं। प्रभो ! अनुग्रह कर आप इस भिक्षा को स्वीकार कीजिये।"

भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा – "देवानुप्रियो ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो।"

तदनन्तर वृद्धकुमारिका भूता ने हृष्टतुष्ट हृदय से ईशान कोण मे जाकर आभूषण उतारे और वह पुष्पचूला आर्या के पास प्रव्रजित हो गई।

उसके वाद कालान्तर मे वह भूता आर्या शरीरवाकुशिका (अपने शरीर की अत्यधिक सार-सम्हाल करने वाली) हो गई और अपने हाथो, पैरो, शिर, मुँह आदि को वार-बार धोती रहती। जहाँ कही, सोने वैठने और स्वाध्याय आदि के लिये उपयुक्त स्थान निश्चित करती तो उस स्थान को पहले पानी से छिड़कती और फिर उस स्थान पर सोती, वैठती अथवा स्वाध्याय करती थी।

यह देख कर आर्या पुष्पचूला ने उसे वहुतेरा समझाया कि साध्वी के लिये शरीरवाकुशिका होना उचित नही है अत इस प्रकार के आचरण के लिये वह आलोचना करे और भविष्य मे ऐसा कभी न करे पर भूता आर्या ने पुष्पचूला की वात नही मानी। वह अकेली ही अलग उपाश्रय मे रहने लगी और स्वतन्त्र होकर पूर्ववत् शरीरवाकुशिका ही वनी रही।

तत्पश्चात् भूता आर्या ने अनेक चतुर्थ, षष्ठ और अष्टमभक्त आदि तप कर के अपनी आत्मा को भावित किया और सलेखनापूर्वक, अपने शिथिलाचार की

आलोचना किये विना ही, आयुष्य पूर्ण होने पर वह सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान मे देवी हुई और इस प्रकार वह ऋद्धि उसे प्राप्त हुई।

देवलोक मे एक पल्योपम की आयुष्य भोग कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेगी और वहा वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।

श्रीदेवी की ही तरह ह्री आदि ६ देवियो ने भी भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु समवशरण मे उपस्थित हो अपनी अत्यन्त आश्चर्यजनक वैक्रियलब्धि द्वारा मनोहारी दृश्यो का प्रदर्शन किया और प्रभु को वन्दन कर क्रमश॰ अपने स्थान को लौट गई।

उन ६ देवियो के पूर्वभव सम्वन्धी गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने फरमाया कि वे ६ ही देविया अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी। वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने तक उनका विवाह नही हुआ अत वे वृद्धा-वृद्धकुमारिका, जीर्णा-जीर्णकुमारिका के विशेषणो से सम्वोधित की गई हैं। उन सभी वृद्धकुमारिकाओ ने भूता वृद्ध-कुमारिका की तरह भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से प्रभावित हो प्रवर्तिनी पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण कर अनेक प्रकार की तपस्याए की पर शरीर-वाकुशिका वन जाने के कारण सयम की विराधिकाए हुई। अपनी प्रवर्तिनी पुष्प-चूला द्वारा समझाने पर भी वे नही मानी और स्वतन्त्र एकलविहारिणी हो गई। अन्त समय मे सलेखना कर अपने शिथिलाचार की आलोचना किये विना ही मर कर सौधर्म कल्प मे ऋद्धिशालिनी देविया हुई। देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर ये सव महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगी और अन्त मे वहां निर्वाण प्राप्त करेंगी।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गो मे कुल मिला कर २०६ जराजीर्ण वृद्धकुमारिकाओ द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित होने का निम्न क्रम से उल्लेख है –

प्रथम वर्ग मे चमरेन्द्र की पाच (५) अग्रमहिषिया।
दूसरे वर्ग मे वलीन्द्र की पाच (५) अग्रमहिषिया।
तीसरे वर्ग मे नव निकाय के नौ दक्षिणेन्द्रो मे से प्रत्येक की छ-छ अग्र-महिषियो के हिसाव से कुल ५४ अग्रमहिषिया।
चौथे वर्ग मे उत्तर के नव निकायो के उत्तरेन्द्रो की ५४ अग्रमहिषिया।
पाचवे वर्ग मे व्यन्तर के ३२ दक्षिणेन्द्रो की ३२ देविया।
छट्ठे वर्ग मे व्यन्तर के ३२ उत्तरेन्द्रों की ३२ देविया।
सातवे वर्ग मे चन्द्र की ४ अग्रमहिषिया।
आठवे वर्ग मे सूर्य की चार (४) अग्रमहिषिया।
नवमे वर्ग मे शकेन्द्र की ८ अग्रमहिषिया और
दशवे वर्ग मे ईशानेन्द्र की आठ (८) अग्रमहिषिया।

प्रथम वर्ग मे चमरेन्द्र की काली, राई, रयणी, विज्जू और मेघा इन ५ अग्रमहिषियो के कथानक दिये हुए हैं।

प्रथम काली देवी ने भगवान् महावीर को राजगृह नगर मे विराजमान देख कर भक्तिपूर्वक सविधि वन्दन किया और फिर अपने देव-देवीगण के साथ प्रभु की सेवा मे आकर सुर्याभ देव की तरह अपनी वैक्रियशक्ति से नाट्यकला का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा उसके पूर्वभव की पृच्छा करने पर प्रभु ने फरमाया – "जम्बू द्वीप के भारतवर्ष की आमलकल्पा नाम की नगरी मे काल नामक गाथापति की काल श्री भार्या की कुक्षि से काली वालिका का जन्म हुआ। वह वृद्ध वय की हो जाने तक भी कुमारी ही रही इसलिए उसे वृद्धा-वृद्धकुमारी, जुन्ना-जुन्नकुमारी कहा गया है।

आमलकल्पा नगरी मे किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का शुभागमन हुआ।

भगवान् का आगमन जान कर काली भी प्रभुवन्दन के लिए समवशरण मे गई और वहा प्रभु के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुन कर ससार से विरक्त हो गई। उसने अपने घर लौट कर मातापिता के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और मातापिता की आज्ञा प्राप्त होने पर वह भगवान् पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित हो गई। स्वय पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे पुष्पचूला आर्या को शिष्या रूप मे सौंपा। आर्या काली एकादश अंगो की ज्ञाता होकर चतुर्थ, पष्ट, अष्टभक्तादि तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी।

अन्यदा आर्या काली शरीरवाकुशिका होकर वार-वार अपने अग-उपागो को धोती और वैठने, सोने आदि के स्थान को पानी से छींटा करती। पुष्पचूला आर्या द्वारा मना किये जाने पर भी उसने शरीर वाकुशिकता का शिथिलाचार नही छोडा और अलग उपाश्रय मे रह कर स्वतन्त्र रूप से विचरने लगी।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अलग रहने के कारण उसे पासत्था, पासत्थ विहारिणी, उसन्ना, उसन्नविहारिणी आदि कहा गया। वर्षो चारित्र का पालन कर एक पक्ष की सलेखना से अन्त मे वह विना आलोचना किये ही काल कर चमरचचा राजधानी मे काली देवी के रूप मे चमरेन्द्र की अग्रमहिषी हुई। चमरचचा से च्यव कर काली महाविदेह मे उत्पन्न होगी और वहा अन्त मे मुक्ति प्राप्त करेगी।"

काली देवी की ही तरह रात्रि, रजनी, विद्युत् और मेघा नाम की चमरेन्द्र की अग्रमहिषियो ने भी भगवान् महावीर के समवशरण मे उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् अपनी वैक्रियलब्धियो का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया।

गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव वताते हुए फरमाया कि ये चारो देविया अपने पूर्वभव मे आमलकल्पा नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी और जराजीर्ण

वृद्धाए हो जाने तक भी उनका विवाह नही हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से विरक्त हो उन्होने काली की तरह प्रव्रज्या ग्रहण की, विविध तपस्याएं की, शरीर बाकुशिका वनी, श्रमणी सघ से अलग हो स्वतन्त्रविहारिणी वनी और अन्त मे विना अपने शिथिलाचार की आलोचना किये ही सलेखना कर वे चमरेन्द्र की अग्रमहिषिया वनी।

ये रात्रि आदि चारो देविया भी देवीआयुष्य पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र मे एक भव कर मुक्त होगी।

ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दूसरे वर्ग मे वर्णित शुंभा, निशु भा, रभा, निरभा और मदना नाम की वलीन्द्र की पांचो अग्रमहिषियो ने भी भगवान् महावीर के समवशरण मे उपस्थित हो काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

उन देवियो के अपने स्थान पर लौट जाने के अनन्तर गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव वताते हुए फरमाया कि वे सव अपने पूर्वभवो मे सावत्थी नगरी मे अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी।

तीसरे वर्ग मे वर्णित नवनिकायो के ६ ही दक्षिणेन्द्रो की छ-छ के हिसाव से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ–इला, सतेरा, सोयामणि आदि–अपने पूर्वभव मे वाणारसी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी।

इसी प्रकार चौथे वर्ग मे उल्लिखित उत्तर के नवनिकायों के ६ भूतानन्द आदि उत्तरेन्द्रो की ५४ अग्रमहिषिया भगवान् महावीर के समवशरण मे उपस्थित हुई। भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् क्रमश उन्होने भी काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का परिषद् के समक्ष अत्यद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किया।

गणधर गौतम द्वारा उन ५४ देवियो के पूर्वभव के सम्वन्ध मे प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने फरमाया –"गौतम ये ५४ ही उत्तरेन्द्रो की अग्रमहिषिया अपने पूर्वजन्म मे चम्पा नगरी के निवासी अपने समान नाम वाले मातापिताओ की रूपा, सुरूपा, रूपांसा, रूपकावती, रूपकान्ता, रूपप्रभा, आदि नाम की पुत्रिया थी। ये सभी वृद्धकुमारिया थी। जराजीर्ण हो जाने पर भी इन सवका विवाह नही हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के चम्पानगरी मे पधारने पर इन सव वृद्ध-कुमारिकाओ ने उनके उपदेश से प्रभावित हो प्रवर्तिनी सुव्रता के पास सयम ग्रहण किया। इन सवने कठोर तपस्या करके सयम के मूल गुणो का पूर्णरूपेण पालन किया। लेकिन शरीरवाकुशिका होकर संयम के उत्तर गुणो की यह सव विराधिकाएँ वन गई। वहुत वर्षों तक सयम और तप की साधना से इन्होने चारित्र का पालन किया और अन्त मे सलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अपने

चारित्र के उत्तर गुणो के दोषो की आलोचना नही करने के कारण उत्तरेन्द्र की अग्रमहिषिया हुई।

पचम वर्ग मे दक्षिण के व्यन्तरेन्द्रो की ३२ अग्रमहिषियो का वर्णन है। कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, वहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, वहुपुत्रिका, उत्तमा, भार्या, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा, वडेसा, केतुमती, नइरसेणा, रईप्रिया, रोहिणी, नमिया, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगावती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्सरा, सरस्वती, इन सब देवियो ने भी काली की ही तरह भगवान् महावीर के समवशरण मे उपस्थित हो अपनी वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

गौतम द्वारा इनके पूर्वभव के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करने पर महावीर ने कहा – "ये वत्तीसो देविया पूर्वभव मे नागपुर निवासी अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी। ये भी जीवनभर अविवाहित रही। जब ये वृद्ध कन्याये – जीर्ण कन्यायें हो चुकी थी उस समय नागपुर मे भगवान् पार्श्वनाथ का आगमन सुन कर ये भी भगवान् के समवशरण मे पहुची। और उनके उपदेश से विरक्त हो सुव्रता आर्या के पास प्रव्रजित हो गई। इन्होने अनेक वर्ष तक सयम का पालन किया और अनेक प्रकार की उग्र तपस्यायें की। किन्तु शरीरवाकुशिका हो जाने के कारण इन्होने सयम के उत्तर गुणो की विराधना की और अन्त समय मे विना संयम के अतिचारो की आलोचना किये सलेखनापूर्वक काल धर्म को प्राप्त हो ये दक्षिणेन्द्रो की अग्रमहिषिया वनी।

पष्ट वर्ग मे निरूपित व्यन्तर जाति के महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रो की देविया अपने पूर्वभव मे साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी। इन्होने भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से विरक्त हो आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। अनेक वर्षो तक इन सवने सयम एव तप की साधना की किन्तु सयम के उत्तर गुणो की विराधिकाए होने के कारण विना आलोचना किये ही सलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रो की अग्रमहिषिया वनी।

सप्तम वर्ग मे उल्लिखित सूरप्रभा, आतपा, अर्चिमाली और प्रभकरा नाम की सूर्य की ४ अग्रमहिषिया अपने पूर्वभव मे अरक्खुरी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी।

अष्टम वर्ग मे वर्णित चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली और प्रभगा नाम की चन्द्र की चार अग्रमहिषिया अपने पूर्वभव मे मथुरा के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी।

नवम वर्ग मे वर्णित पद्मा, शिवा, सती, अजु, रोहिणी, नवमिया, अचला और अच्छरा नाम की सौधर्मेन्द्र की ८ अग्रमहिषियो के पूर्वभव वताते हुए प्रभु महावीर ने फरमाया कि पद्मा और शिवा श्रावस्ती नगरी के, सती और अजु

हस्तिनापुर के, रोहिणी और नवमिया कम्पिलपुर के तथा अचला और अच्छरा साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापतियों की पुत्रिया थी ।

दशम वर्ग मे वर्णित ईशानेन्द्र की कृष्णा तथा कृष्णराजि अग्रमहिषिया वाणारसी, रामा और रामरक्खिया राजगृह नगर, वसु एव वसुदत्ता श्रावस्ती नगरी, तथा वसुमित्रा और वसुधरा नाम की अग्रमहिषिया कोशाम्बी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी ।

दूसरे वर्ग से दशम वर्ग तक मे वर्णित ये सभी २०१ देविया अपने अपने पूर्वभव मे जीवन भर अविवाहित रही । जराजीर्ण वृद्धावस्था मे इन सभी वृद्ध-कुमारियो ने भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से विरक्त हो श्रमणीधर्म स्वीकार किया । ग्यारह अगो की ज्ञाता होकर इन सबने अनेक प्रकार की तपस्याएं की पर कालान्तर मे ये सबकी सब शरीरबाकुशिका हो साध्विसघ से पृथक् हो स्वतन्त्रविहारिणिया एव शिथिलाचारिणिया वन गई और अन्त मे अपने अपने शिथिलाचार की आलोचना किये विना ही सलेखनापूर्वक कालकवलिताए हो उपरिवर्णित इन्द्रो एव सूर्य तथा चन्द्र की अग्रमहिषिया बनी ।

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव

वीतरागता और सर्वज्ञता आदि आत्मिक गुणो की सब तीर्थंकरो मे समानता होने पर भी संभव है पार्श्वनाथ मे कोई विशेषता रही हो जिससे कि वे अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके ।

जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र और मत्रपदो से भी ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरो मे से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप मे जितने मत्र या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं उतने अन्य के नही हैं ।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से ओतप्रोत अनेक महात्माओ एवं विद्वानो द्वारा रचित प्रभु पार्श्वनाथ की महिमा से पूर्ण कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, अगणित स्तोत्र आदि और देश के विभिन्न भागो मे प्रभु पार्श्व के प्राचीन भव्य कलाकृतियों के प्रतीक विशाल मन्दिरो का वाहुल्य, ये सव इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति धर्मनिष्ठ मानवसमाज पीढियो से कृतज्ञ और श्रद्धावनत रहा है ।

आगमो मे अन्यान्य तीर्थंकरो का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है । जैसे – 'मल्ली अरहा', 'उसभेण अरहा', 'सीयलेण अरहा', 'सतिस्सण अरहओ'[1] आदि । पर पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमो मे लिखा गया है – 'पासेण अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सण अरहओ पुरिसादाणिअस्स'[2] इससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल मे भी भगवान् पार्श्वनाथ की कोई

[1] समवायाग व कल्पसूत्र आदि ।

[2] समवायाग सूत्र, समवाय ८८ व कल्पसूत्र आदि ।

खास विशिष्टता मानी जाती थी। अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्ठनेमी' की तरह 'पासेणं अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता।

'पुरुषादानीय' का अर्थ होता है पुरुषो मे आदरपूर्वक नाम लेने योग्य। महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणे भगव महावीरे' लिखा जाता है वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अग-शास्त्रो मे 'पुरिसादाणी' विशेषण दिया गया है। अत इस विशेषण के जोड़ने का कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिये।

वह कारण यह हो सकता है कि पूर्वोक्त २२० देवों और देवियो के प्रभाव से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई हो। देवियों एव देवताओ की आश्चर्य-जनक विपुल ऋद्धि और अत्यन्त अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी विभिन्न नगरो के विशाल जनसमूहो ने जव उन देवताओं और देवियो के पूर्वभव के सम्बन्ध मे त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुखारविन्द से यह सुना कि ये सभी देव और देविया भगवान् पार्श्वनाथ के अन्तेवासी और अन्तेवासिनियाँ थी तो निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति उस समय के जनमानस मे प्रगाढ भक्ति और अगाध श्रद्धा का घर कर लेना सहज स्वाभाविक ही था।

इसके साथ ही साथ अपने नीरस नारिजीवन से ऊबी हुई उन दो सौ सोलह (२१६) वृद्धकुमारिकाओ ने भगवान् पार्श्वनाथ की कृपा से महती देवीऋद्धि प्राप्त की अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देविया बन कर उन्होने निश्चित रूप से जिनशासन की प्रभावना के अनेक कार्य किये होगे और उस कारण भारत का मानवसमाज निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ का विशिष्ट उपासक वन गया होगा।

भगवान् पार्श्वनाथ के कृपाप्रसाद से ही तापस की धूनी मे जलता हुआ नाग और नागिन का जोड़ा धरणेन्द्र और पद्मावती वना तथा भगवान् पार्श्वनाथ के तीन शिष्य क्रमश सूर्यदेव, चन्द्रदेव और शुक्रदेव वने।

श्रद्धालु भक्तो की यह निश्चित धारणा है कि इन देवियो, देवों और देवेन्द्रो ने समय-समय पर शासन की प्रभावना की है। इसका प्रमाण यह है कि धरणेन्द्र और पद्मावती के स्तोत्र आज भी प्रचलित है।

भद्रबाहु के समय में सघ को सकटकाल मे पार्श्वनाथ का स्तोत्र ही दिया गया था। सिद्धसेन जैसे पश्चाद्वर्ती आचार्यो ने भी पार्श्वनाथ की स्तुति से ही शासनप्रभावना की।

इन वृद्धकुमारिकाओ के आख्यानो से उस समय की सामाजिक स्थिति का भी दिग्दर्शन होता है कि सामाजिक रूढियो अथवा अन्य किन्ही कारणो से उस समय समृद्ध परिवारो को भी अपनी कन्याओ के लिये योग्य वरो का मिलना वडा दूभर था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जीवन से निराश ऐसे परिवारो के समक्ष साधना का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज को वडी राहत प्रदान की।

इन सब आख्यानो से सिद्ध होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने उस समय के मानवसमाज को सच्चे सुख की राह बता एवं उलझी हुई जटिल समस्याओ को सुलझा कर मानवसमाज की अत्यधिक भक्ति और प्रगाढ़ प्रीति प्राप्त की और अपने अमृतोपम प्रभावशाली उपदेशो से जनमन पर ऐसी अमिट छाप लगाई कि हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परागत छाप आज के जनमानस पर भी स्पष्टत दिखाई दे रही है।

इसके अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण उनका प्रबल पुण्यातिशय एव अधिष्ठाता देव-देवियों का सान्निध्य भी हो सकता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अपने दीर्घकाल के विहार मे अनार्य देशो मे भ्रमण कर अनार्यजनो को भी अधिकाधिक सख्या मे धर्मानुरागी बनाया हो तो यह भी उनकी लोकप्रियता का विशेष कारण हो सकता है। जैसा कि भगवान् पार्श्वनाथ के विहारक्षेत्रो के सम्बन्ध मे अनेक आचार्यों द्वारा किये गये वर्णनो से स्पष्ट प्रतीत होता है।

पार्श्व ने कुमारकाल मे प्रसेनजित् की सहायता की और राजा यवन को अपने प्रभाव से झुकाया। सभव है वह यवनराज भी आगे चल कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से अत्यधिक प्रभावित हुआ हो और उसके फलस्वरूप अनार्य कहे जाने वाले उस समय के लोग भी अधिकाधिक सख्या मे धर्ममार्ग पर आरूढ हुए हो और इस कारण भगवान् पार्श्वनाथ आर्य एव अनार्यजगत् मे अधिक आदरणीय और लोकप्रिय हो गये हो।

भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा

यह एक सामान्य नियम है कि किन्ही भी तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थकर द्वारा अपने धर्म-तीर्थ की स्थापना नही कर दी जाती तब तक पूर्ववर्ती तीर्थकर का ही धर्म-शासन चलता रहता है और उनकी आचार्य परम्परा भी उस समय तक चलती रहती है।

इस दृष्टि से मध्यवर्ती तीर्थंकरो के शासन मे असख्य आचार्य हुए हैं पर उन आचार्यो के सम्बन्ध मे प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही होने के कारण उनका परिचय नही दिया जा सका है।

तेवीसवे तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्तमान जैन धर्म के इतिहास से बडा निकट का सम्बन्ध है और भगवान् महावीर के शासन से उनका अन्तरकाल भी २५० वर्ष का ही माना गया है तथा कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की जो दो प्रकार की अन्तकड़ भूमि बतलाई गई है उसमे उनकी युगान्तकृत भूमि में चौथे पुरुषयुग (आचार्य) तक मोक्ष-गमन माना गया है[1] अत भगवान्

पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का उल्लेख यहाँ किया जाना ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है ।

उपकेशगच्छ-चरितावली में भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का जो परिचय दिया गया है वह संक्षेप मे इस प्रकार है :-

१. आर्य शुभदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए । उन्होने चौबीस वर्ष तक आचार्यपद पर रहते हुए श्रमणसघ का वडी कुशलता से नेतृत्व किया और धर्म का उपदेश करते रहे ।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के चौबीस वर्ष पश्चात् आर्य हरिदत्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आर्य शुभदत्त मोक्ष पधारे ।

२. आर्य हरिदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के द्वितीय पट्टधर आर्य हरिदत्त हुए । पार्श्वनिर्वाण संवत् २४ से ९४ तक आप आचार्यपद पर रहे ।

श्रमण वनने से पूर्व हरिदत्त ५०० चोरो के नायक थे । गणधर शुभदत्त के शिष्य श्री वरदत्त मुनि को एक वार जगल मे ही अपने ५०० शिष्यो के साथ रुकना पडा । उस समय चोर-नायक हरिदत्त अपने ५०० साथी चोरो के साथ मुनियो के पास इस आशा से गया कि उनके पास जो भी धन-सम्पत्ति हो वह लूट ली जाय । पर वरदत्त मुनि के पास पहुँचने पर ५०० चोरो और चोरो के नायक को धन के स्थान पर उपदेश मिला । मुनि वरदत्त के उपदेश से हरिदत्त अपने ५०० साथियो सहित दीक्षित हो गये और इस तरह जो चोरो के नायक थे वे ही हरिदत्त मुनिनायक और धर्मनायक वन गये ।

गुरुसेवा मे रह कर मुनि हरिदत्त ने वडी ही लगन के साथ ज्ञान-संपादन किया और अपनी कुशाग्रवुद्धि के कारण एकादशागी के पारगामी विद्वान् हो गये । इनकी योग्यता से प्रभावित हो आचार्य शुभदत्त ने उन्हे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया ।

आचार्य हरिदत्त अपने समय के वड़े प्रभावशाली आचार्य हुए हैं । आपने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" इस मत के कट्टर समर्थक और प्रवल प्रचारक, उद्‌भट विद्वान् लोहित्याचार्य को शास्त्रार्थ द्वारा राज्यसभा मे पराजित कर 'अहिंसा परमो धर्मः' की उस समय के जनमानस पर धाक जमा दी थी ।

सत्य के पुजारी लोहित्याचार्य अपने एक हजार शिष्यो सहित आचार्य हरिदत्तसूरि के पास दीक्षित हो गये और उनकी आज्ञा लेकर दक्षिण मे अहिंसा-धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पडे । आपने प्रतिज्ञा की कि जिस तरह अज्ञानवश उन्होंने हिंसा-धर्म का प्रचार किया था उससे भी शतगुणित वेग से वे अहिंसाधर्म का प्रचार करेंगे । अपने सकल्प के अनुसार उन्होने अपनी प्रतिज्ञा को निरन्तर धर्मप्रचार द्वारा कार्यरूप मे परिणत कर वताया ।

कहा जाता है कि लौहित्याचार्य ने दक्षिण में लका तक जैन धर्म का प्रचार किया। बौद्ध भिक्षु धेनुसेन ने ईसा की पाचवी शताब्दी मे लका के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला 'महावश काव्य' नामक पाली भाषा का एक काव्य लिखा था। उस काव्य मे ईस्वी सन् पूर्व ५४३ से ३०१ वर्ष तक की लका की स्थिति का वर्णन करते हुए धेनुसेन ने लिखा है कि सिहलद्वीप के राजा 'पनुगानय' ने लगभग ई० सन् पूर्व ४३७ मे अपनी राजधानी अनुराधापुर मे स्थापित की और वहा निग्रथ मुनियो के लिए 'गिरी' नामक एक स्थान खुला छोड रक्खा।

इससे सिद्ध होता है कि सुदूर दक्षिण मे उस समय जैन धर्म का प्रचार और प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार आचार्य हरिदत्त के नेतृत्व मे उस समय जैन धर्म का दूर-दूर तक प्रभाव फैल गया था।

आचार्य हरिदत्त ने ७० वर्ष तक धर्म का प्रचार कर समुद्रसूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अन्त मे पार्श्वनिर्वाण सवत् ९४ मे मुक्ति के अधिकारी हुए।

३. आर्य समुद्रसूरि

भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे पट्टधर आर्य समुद्रसूरि हुए। पार्श्व स० ९४ से १६६ तक ये भी जिनशासन की सेवा करते रहे। इन्होने विविध देशो मे घूम-घूम कर धर्म का प्रचार किया। आप चतुर्दश पूर्वधारी और यज्ञवाद से होने वाली हिंसा के प्रबल विरोधी थे। आपके आज्ञावर्ती विदेशी नामक एक मुनि जो बड़े प्रतिभाशाली और प्रकाण्ड विद्वान् थे, एक बार विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। कहा जाता है कि आपके त्याग-विरागपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो उज्ज-यिनी के राजा जयसेन और रानी अनग सुन्दरी ने अपने प्रिय पुत्र केशी के साथ जैन श्रमण-दीक्षा अगीकार की। उपकेशगच्छ-पट्टावली के अनुसार बालर्षि केशी जातिस्मरण के साथ-साथ चतुर्दश पूर्व तक श्रुतज्ञान के धारक थे।

इन्ही केशी श्रमण ने आचार्य समुद्रसूरि के समय मे यज्ञवाद के प्रचारक मुकुद नामक आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

अन्त मे आचार्य समुद्रसूरि ने अपना अन्तिम समय निकट देख केशी को आचार्यपद पर नियुक्त किया और पार्श्व स० १६६ मे सकल कर्मो का क्षय कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

४. आर्य केशी श्रमण

भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए जो बडे ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति, श्रुति एव अवधिज्ञान के धारक थे।

कहा जाता है कि आपने बडी योग्यता के साथ श्रमणसघ के सगठन को सुदृढ बना कर विद्वान् श्रमणो के नेतृत्व मे पाच-पाच सौ (५००-५००) साधुओ की ६ टुकडियो को पाचाल, सिन्धु-सौवीर, अग-वग, कलिग, तेलग, महाराष्ट्र, काशी-कोशल, सूरसेन, अवन्ती, कोकण आदि प्रान्तो मे भेज कर और स्वय ने एक हजार साधुओ के साथ मगध प्रदेश मे रह कर सारे भारत मे जैन धर्म का प्रचार और प्रसार किया। पार्श्व सम्वत् १६६ से २५० तक आपका कार्यकाल बताया गया है ।

आपने ही अपने अमोघ उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया। राजा प्रदेशी ने आपके पास श्रावक-धर्म स्वीकार किया और अपने राज्य की आय का चतुर्थ भाग दान मे देता हुआ वह सासारिक भोगो से विरक्त हो छट्ठ-छट्ठ-भक्त की तपस्यापूर्वक आत्मकल्याण मे जुट गया ।

अपने पति को राज्य-व्यवस्था के कार्यो से उदासीन देख कर रानी सूरिकान्ता ने स्वार्थवश अपने पुत्र सूरिकान्त को राजा बनाने की इच्छा से महाराज प्रदेशी को उनके तेरहवें छट्ठ-भक्त के पारणे के समय विषाक्त भोजन खिला दिया। प्रदेशी ने भी विष का प्रभाव होते ही सारी स्थिति समझ ली किन्तु रानी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नही रखते हुए समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग किया और सौधर्मकल्प मे ऋद्धिमान् सूर्याभ देव बना।

आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्वाण सवत् १६६ से २५० तक, अर्थात् चोरासी (८४) वर्ष तक आचार्यपद पर रहे और अन्त मे स्वयंप्रभ सूरि को अपना उत्तराधिकारी बना कर मुक्त हुए।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षो के समय मे मुक्त हुए ।

अनेक विद्वान् आचार्य केशिकुमार और कुमार केशिश्रमण को, जिन्होंने गौतम गणधर के साथ हुए सम्वाद से प्रभावित हो सावत्थी नगरी मे पच महाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार किया, एक ही मानते हैं पर उनकी यह मान्यता समीचीन विवेचन के पश्चात् संगत एव शास्त्रसम्मत प्रतीत नही होती ।

शास्त्र मे केशी नाम के दो मुनियो का परिचय उपलब्ध होता है। एक तो प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशिश्रमण और दूसरे गौतम के साथ सवाद के पश्चात् चातुर्यामधर्म से पचमहाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण। इन दोनो मे से भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर कौनसे केशिश्रमण थे, यह यहा एक विचारणीय प्रश्न है।

आचार्य राजेन्द्रसूरि ने अपने अभिधान राजेन्द्र-कोष मे दो स्थान पर केशि-श्रमण का परिचय दिया है। उन्होने इस कोप के भाग प्रथम, पृष्ठ २०१ पर 'अजणिय कण्णिया' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए केशिश्रमण के लिए निग्रथी पुत्र, कुमारावस्था मे प्रव्रजित एवं युगप्रवर्तक आचार्य होने का उल्लेख किया है और आगे चल कर इसी कोष के भाग ३, पृष्ठ ६६६ पर 'केशी' शब्द की व्युत्पत्ति मे उपरोक्त तथ्यो की पुष्टि करते हुए लिखा है :–

"केससंस्पृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निग्रन्थी पुत्रे, (स च यथा जातस्तथा 'अजणिकन्निया' शब्दे प्रथम भागे १०१ पृष्ठे दर्शित:) स च कुमार एव प्रव्रजित. पार्श्वापत्यीयश्चतुर्ज्ञानी अनगारगुणसम्पन्न: सूर्याभदेव-जीवं पूर्वभवे प्रदेशी नामान राजान प्रवोधयदिति। रा० नि०। ध० र०। (तद्वर्णकविशिष्ट 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते गोयमकेसिज्ज शब्दे गौतमेन सहास्य सवादो वक्ष्यते)"

इस प्रकार राजेन्द्रसूरि ने केशिश्रमण आचार्य को ही प्रदेशी प्रतिवोधक, चार ज्ञान का धारक और गौतम गणधर के साथ सवाद करने वाला केशी बता कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता प्रकट की है।

उपकेशगच्छ चरित्र मे केशिकुमार श्रमण को उज्जयिनी के महाराज जयसेन व रानी अनग सुन्दरी का पुत्र, आचार्य समुद्रसूरि का शिष्य, पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का चतुर्थ पट्टधर, प्रदेशी राजा का प्रतिवोधक तथा गौतम गणधर के साथ सवाद करने वाला बताया गया है।

एक ओर उपकेशगच्छ पट्टावली मे निग्रन्थीपुत्र केशी का कही कोई उल्लेख नही किया गया है तो दूसरी ओर अभिधान राजेन्द्र-कोष मे उज्जयिनी के राजा जयसेन के पुत्र केशी का कोई जिक्र नही किया गया है।

पर दोनो ग्रन्थो मे केशिश्रमण को भगवान् पार्श्वनाथ का चतुर्थ पट्टधर आचार्य, प्रदेशी का प्रतिवोधक तथा गौतम गणधर के साथ सवाद करने वाला मान कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता का प्रतिपादन किया है।

'जैन परम्परा नो इतिहास' नामक गुजराती पुस्तक के लेखक मुनि दर्शन-विजय आदि ने भी समान नाम वाले दोनो केशिश्रमणो को अलग न मान कर एक ही माना है।

इसके विपरीत 'पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' नामक पुस्तक में दोनों केशिश्रमणो का भिन्न-भिन्न परिचय नही देते हुए भी आचार्य केशी और केशिकुमार श्रमण को अलग-अलग मान कर दो केशिश्रमणो का होना स्वीकार किया गया हैं।[1]

[1] भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (पूर्वार्द्ध), पृ० ४८

इस सम्बन्ध मे वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले आचार्य केशी और गौतम गणधर के साथ सम्वाद के पश्चात् पच महाव्रत-धर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय मे दो केशिश्रमण हुए हैं।

आचार्य केशी जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और श्वेताम्बिका के महाराज प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गये है, उनका काल उपकेशगच्छ पट्टावली के अनुसार पार्श्व – निर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान् महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है।

इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी मे दूसरे केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है।

इस प्रकार प्रथम केशिश्रमण का काल भगवान् महावीर के छद्मस्थ-काल तक का और दूसरे केशिकुमार श्रमण का महावीर की केवलीचर्या के पन्द्रहवे वर्ष के पश्चात् तक का ठहरता है।

इसके अतिरिक्त रायप्रसेणी सूत्र मे प्रदेशिप्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है[1] तथा जिन केशिकुमार श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती मे सवाद हुआ, उन केशिकुमार श्रमण को उत्तराध्ययन सूत्र मे तीन ज्ञान का धारक बताया गया है।[2]

ऐसी दशा मे प्रदेशिप्रतिबोधक, चार ज्ञानधारक केशिश्रमण जो महावीर के छद्मस्थकाल मे हो सकते है, उनका महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् तीन ज्ञानधारक के रूप मे गौतम के साथ मिलना किसी भी तरह युक्तिसगत और सभव प्रतीत नही होता।

रायप्रसेणी और उत्तराध्ययन सूत्र मे दिये गये दोनो केशिश्रमणो के परिचय के समीचीन मनन के अभाव मे और समान नाम वाले इन दोनो श्रमणो के समय का सम्यक्रूपेण विवेचनात्मक पर्यवेक्षण न करने के कारण ही कुछ विद्वानो द्वारा दोनो को एक ही केशिश्रमण मान लिया गया है।

---

[1] इच्चेए ण पदेसी ! अह तव चउव्विहेण नाणेण इमेयारूव अब्भत्थिय जाव समुप्पन्न जाणामि। [रायपसेणी]

[2] तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसी कुमार समणे, विज्जाचरण पारगे ॥२॥
ओहिनाण सुए बुद्धे, सीससघसमाउले।
गामाणुगाम रीयन्ते, सावत्थि नगरिमागए ॥३॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३]

उपरोक्त तथ्यो से यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रदेशिप्रति-वोधक, चार ज्ञानधारी केशिश्रमण आचार्य समुद्रसूरि के शिष्य एव पार्श्वपरपरा के मोक्षगामी चतुर्थ आचार्य थे, न कि गौतम गणधर के साथ संवाद करनेवाले तीन ज्ञानधारक केशिकुमार श्रमण। दोनो एक न होकर भिन्न २ हैं। एक का निर्वाण पार्श्वनाथ के शासन मे हुआ जवकि दूसरे का महावीर के शासन मे।

भगवान् महावीर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे भरतक्षेत्र के चौवीसवे एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। घोरातिघोर परीषहो को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरुतुल्य अविचल दृढता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एव अनुपम समभाव के साथ सहन कर प्रभु महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एव अद्भुत घोर तपश्चर्या का ससार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया।

भगवान् महावीर न केवल एक महान् धर्मसंस्थापक थे अपितु वे महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, सच्चे पथ-प्रदर्शक, विश्ववन्धुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणिमात्र के परमप्रिय हितचिन्तक भी थे।

'सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरीजिउ' इस दिव्यघोष के साथ उन्होने न केवल मानवसमाज को अपितु पशुओ तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढाया। धर्म के नाम पर यज्ञो मे खुले आम दी जाने वाली क्रूर पशुवलि के विरुद्ध जनमत को आन्दोलित कर उन्होने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्तप्राय कर असख्य प्राणियो को अभयदान दिया।

यही नही, भगवान् महावीर ने रुढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्णभेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होने प्रगाढ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव-हृदयो मे अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणें प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव-समाज को न केवल विनाश से वचाया अपितु उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समाजवाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखा कर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।

भगवान् महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताव्दी माना गया है, जो कि विश्व के सास्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास मे वड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ई० पूर्व छठी शताव्दी मे जवकि भारत मे भगवान् महावीर ने और उनके समकालीन महात्मा वुद्ध ने अहिसा का उपदेश देकर धार्मिक एव सास्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, लगभग उसी समय चीन मे लाओत्से और कांग्फ्यूत्सी, यूनान मे पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान में जरथुष्ट, फिलिस्तीन मे जिरेमिया और इजकिल आदि महापुरुष अपने-अपने क्षेत्र मे सास्कृतिक एव धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार वने।

रूढिवाद और अन्धविश्वासो का विरोध कर उन सभी महापुरुषों ने जनता को सही दिशा में बढने का मार्ग-दर्शन किया और उन्हे शुद्ध चिन्तन की तीव्रतम प्रेरणा दी। समाज की तत्कालीन कुरीतियो मे युगान्तरकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर वे सही अर्थ मे युगपुरुष वने। इस सम्वन्ध मे उन्होने अपने ऊपर आने वाली आपदाओ का डट कर मुकावला किया और प्रतिशोधात्मक परीषहो के आगे वे रत्ती भर भी नही भुके।

भगवान् महावीर का इन युगपुरुषो मे सवसे उच्च, प्रमुख और वहुत ही सम्माननीय स्थान है। विश्वकल्याण के लिये उन्होने धर्ममयी-मानवता का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह अनुपम और अद्वितीय है।

महावीरकालीन देश-दशा

भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् भगवान् श्री महावीर[1] चौवीसवे तीर्थंकर के रूप मे भारत-वसुधा पर उत्पन्न हुए। उस समय देश और समाज की दशा काफी विकृत हो चुकी थी। खास कर धर्म के नाम पर सर्वत्र आडवर का ही बोलबाला था। पार्श्वकालीन तपसंयम और धर्म के प्रति रुचि मद पड गई थी। ब्राह्मरण सस्कृति के वढते हुए वर्चस्व मे श्रमरण सस्कृति दवी जा रही थी। यज्ञ-याग और बाह्य क्रिया-काण्ड को ही धर्म का प्रमुख रूप माना जाने लगा था। यज्ञ मे घृत, मधु ही नही अपितु प्रकटरूप मे पशु भी होमे जाते और उसमे अधर्म नही, धर्म माना जाता था। डंके की चोट कहा जाता था कि भगवान् ने यज्ञ के लिये ही पशुओ की रचना की है।[2] वेदविहित यज्ञ मे की जाने वाली हिसा, हिंसा नही प्रत्युत अहिसा है।[3]

धार्मिक क्रियाओ और सस्कृति-सरक्षरण का भार तथाकथित ब्राह्मरणो के ही आधीन था। वे चाहे विद्वान् हो या अविद्वान्, सदाचारी हो या दुराचारी, अग्नि के समान सदा पवित्र और पूजनीय माने जाते थे।[4] मनुष्य और ईश्वर के

---

[1] (क) "पास जिरणाओ य होइ वीरजिरणो, अड्ढाइज्जसयेहिं गयेहिं चरिमो समुप्पन्नो।
आवश्यक निर्युक्ति (मलय), पृ० २४१, गाथा १७
(ख) आवश्यक चूर्णि, गा० १७, पृ० २१७

[2] यज्ञार्थं पशव सृष्टा.। मनुस्मृति ५।२२।३६

[3] यज्ञार्थं पशव सृष्टा, स्वयमेव स्वयभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवध.॥
या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिश्चराचरे।
अहिंसामेव ता विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्वभौ॥ [मनुस्मृति, ५।२२।३६।४४]

[4] अविद्वांश्चैव विद्वांश्च, ब्राह्मरणो दैवत महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवत महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी, पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु, भूय एवाभिवर्द्धते॥
एव यद्यप्यनिष्टेपु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मरणा पूज्या, परम दैवत हि तत्॥ [मनुस्मृति, ९।३१७।३१८।३१९]

वीच सम्वन्ध जोडने की सारी शक्ति उन्ही के आधीन समझी जाती थी। वे जो कुछ कहते वह अकाट्य समझा जाता और इस तरह हिंसा भी धर्म का एक प्रमुख अग माना जाने लगा। वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के वन्धन मे मानव-समाज इतना जकडा हुआ और उलझा हुआ था कि निम्नवर्ग के व्यक्तियो को अपनी सुख-सुविधा और कल्याण-साधन मे भी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नही थी।

समाज में यद्यपि अमीर और गरीब का वर्ग-सघर्ष नही था फिर भी गरीवो के प्रति अमीरों की वत्सलता का स्रोत सूखता जा रहा था। ऊंच-नीच का मिथ्याभिमान मानवता को व्यथित और क्षुव्ध कर रहा था। जाति-पूजा और वेष-पूजा ने गुण-पूजा को भुला रखा था।

निम्नवर्ग के लोग उच्चजातीय लोगो के सामने अपने सहज मानवीय भाव भी भलीभाति व्यक्त नही कर पाते थे। कई स्थानों पर तो व्राह्मणो के साथ शूद्र चल भी नही सकते थे। शिक्षा-दीक्षा और वेदादि शास्त्र-श्रवण पर द्विजातिवर्ग का एकाधिपत्य था। शूद्र लोग वेद की ऋचाएं न सुन सकते थे, न पढ़ सकते थे और न वोल ही सकते थे। स्त्रीसमाज को भी वेद-पठन का अधिकार नही था।[1] शूद्रो के लिए वेद सुनने पर कानो मे शीशा भरने, वोलने पर जीभ काटने और ऋचाओ को कण्ठस्थ करने पर शरीर नष्ट कर देने का कठोर विधान था। इतना ही नही उनके लिए प्रार्थना की जाती कि उन्हें वुद्धि न दे, यज्ञ का प्रसाद न दें और व्रतादि का उपदेश भी नही दे।[2] स्त्री जाति को मात्र दासी मान कर हीन दृष्टि से देखा जाता था और उसे किसी भी स्थिति मे स्वतन्त्रता का अधिकार नही था।[3]

राजनैतिक दृष्टि से भी यह समय उथल-पुथल का था। उसमे स्थिरता व एकरूपता नही थी। कई स्थानो पर प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य थे, जिनमे नियमित रूप से प्रतिनिधियों का चुनाव होता था। जो प्रतिनिधि राज्य-मंडल या साथागार के सदस्य होते, वे जनता के व्यापक हितो का भी ध्यान रखते थे। तत्कालीन गणराज्यो मे लिच्छवी गणराज्य सवसे प्रवल था। इसकी राजधानी वैशाली थी। महाराजा चेटक इस गणराज्य के प्रधान थे। महावीर स्वामी की माता त्रिशला इन्ही महाराज चेटक की वहिन थी। काशी और कोशल के प्रदेश

---

[1] न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्।

[2] (क) वेदमुपशृण्वतस्तस्य जतुभ्या श्रोत्र. प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर-भेद। [गौतम धर्म सूत्र, पृ० १६५]

(ख) न शूद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्ट न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य, व्रतमादिशेत्॥ [वशिष्ठ स्मृति १८।१२।१३]

[3] न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

[वशिष्ठ स्मृति]

भी इसी गणराज्य मे शामिल थे। इनकी व्यवस्थापिका-सभा "वज्जियन राज-सघ" कहलाती थी।

लिच्छवी गणराज्य के अतिरिक्त शाक्य गणराज्य का भी विशेष महत्त्व था। इसकी राजधानी 'कपिलवस्तु' थी। इसके प्रधान महाराजा शुद्धोदन थे, जो गौतम बुद्ध के पिता थे। इन गणराज्यो के अलावा मल्ल गणराज्य, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी, कोल्य गणराज्य, आम्लकप्पा के बुलि-गण, पिप्पलिवन के मोरीयगण आदि कई छोटे-मोटे गणराज्य भी थे। इन गण-राज्यो के अतिरिक्त मगध, उत्तरी कोशल, वत्स, अवन्ति, कलिंग, अंग, बंग आदि कतिपय स्वतन्त्र राज्य भी थे।[1] इन गणराज्यो मे परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। इस तरह उस समय विभिन्न गण एव स्वतन्त्र राज्यो के होते हुए भी तथाकथित निम्नवर्ग की दशा अत्यन्त चिन्तनीय बनी हुई थी। ब्राह्मण-प्रेरित राजन्यवर्गो के उत्पीड़न से जनसाधारण मे क्षोभ और विषाद का प्राबल्य था।

इन सब परिस्थितियों का प्रभाव उस समय विद्यमान पार्श्वनाथ के सघ पर भी पड़े बिना नही रहा। श्रमणसंघ की स्थिति प्रतिदिन क्षीण होने लगी। मति-बल मे दुर्बलता आने लगी तथा अनुशासन की अतिशय मृदुता से आचार-व्यवस्था मे शिथिलता दिखाई देने लगी। फिर भी कुछ विशिष्ट मनोबल वाले श्रमण इस विषम स्थिति मे भी अपने मूलस्वरूप को टिकाये हुए थे। वे याज्ञिकी हिंसा का विरोध और अहिसा का प्रचार भी करते थे पर उनका बल पर्याप्त नही था। फिर साधना का लक्ष्य भी बदला हुआ था। धर्म-साधन का हेतु निर्वाण-मुक्ति के बदले मात्र अभ्युदय – स्वर्ग रह गया था। यह चतुर्थकाल की समाप्ति का समय था। फलत. जन-मन मे धर्मभाव की रुचि कम पडती जा रही थी। ऐसे विषम समय मे जन-समुदाय को जागृत कर, उसमे सही भावना भरने और सत्यमार्ग बताने के लिए ज्योतिर्धर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

पूर्वभव की साधना

जैन धर्म यह नही मानता कि कोई तीर्थंकर या महापुरुष ईश्वर का अश होकर अवतार लेता है। जैन शास्त्रो के अनुसार हर आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखती है और विशिष्ट क्रिया के माध्यम से उसका तीर्थंकर या भगवान् रूप से उत्तार – जन्म होता है। किन्तु ईश्वर कर्ममुक्त होने से पुन मानव रूप मे अवतार – जन्म नही लेते। हा, स्वर्गीय देव मानवरूप मे अवतार ले सकते है। मानव सत्कर्म से भगवान् हो सकता है। इस प्रकार नर का नारायण होना अर्थात् ऊपर चढना यह उत्तार है। अत जैन धर्म अवतारवादी नही उत्तारवादी है। भगवान् महावीर के जीव ने नयसार के भव में सत्कर्म का बीज डाल कर क्रमश सिचन करते हुए तीर्थंकर-पद की प्राप्ति की जो इस प्रकार है –

[1] मि० ह्वीस डेविड्स-बुद्धिस्ट इडिया, पृ० २३

किसी समय प्रतिष्ठानपुर का ग्रामचिन्तक नयसार, राजा के आदेश से वन में लकड़ियो के लिये गया हुआ था। एकदा मध्याह्न मे वह खाने बैठा ही था कि उसी समय वन मे मार्गच्युत कोई तपस्वी मुनि उसे दृष्टिगोचर हुए। उसने भूख-प्यास से पीड़ित उन मुनि को भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार-प्रदान किया और उन्हे गाँव का सही मार्ग बतलाया। मुनि ने भी नयसार को उपदेश देकर आत्म-कल्याण का मार्ग समझाया। फलस्वरूप उसने वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर भव-भ्रमण को परिमित कर लिया।

दूसरे भव मे वह सौधर्म कल्प मे देव हुआ और तीसरे भव मे भरत-पुत्र मरीचि के रूप मे उत्पन्न हुआ। चौथे भव मे ब्रह्मलोक मे देव, पाँचवें भव मे कौशिक ब्राह्मण, छठे भव मे पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवें भव मे सौधर्म देव, आठवे भव मे अग्निद्योत, नौवे भव मे द्वितीय कल्प का देव, दशवे भव मे अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवे भव मे सनत्कुमार देव, बारहवे भव मे भारद्वाज, तेरहवे भव मे महेन्द्रकल्प का देव, चौदहवे भव मे स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवे भव मे ब्रह्मकल्प का देव, और सोलहवे भव मे युवराज विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति हुआ। संसार की कपट-लीला देखकर इन्हे विरक्ति हो गई। मुनि बन कर उन्होने घोर तपस्या की और अन्त मे अपरिमित बलशाली बनने का निदान कर काल किया। सत्रहवा भव महाशुक्र देव का करके इन्होने अठारहवें भव मे त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप से जन्म ग्रहण किया।

एक दिन त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता प्रजापति के पास प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का सन्देश आया कि शालि-क्षेत्र पर शेर के उपद्रव से कृषको की रक्षा करने के लिये उनको वहा जाना है। महाराज प्रजापति कृषकों की रक्षा के लिये प्रस्थान कर ही रहे थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ ने आकर उन्हे कहा – "पिताजी! आप क्यों जाते है? उस अकिंचन शेर के लिये तो हम बच्चे ही पर्याप्त हैं।" इस तरह त्रिपृष्ठ कुमार राजा की आज्ञा लेकर उपद्रव के स्थान पर पहुचे और खेत के रखवालो से बोले – "भाई! यहा कैसे और कब तक रहना है?"

रक्षको ने कहा – "जब तक शालि-धान्य पक नही जाता तब तक सेना सहित घेरा डाल कर यही रहना है[1] और शेर से रक्षा करनी है।"

इतने समय तक यहाँ कौन रहेगा, ऐसा विचार कर त्रिपृष्ठ ने शेर के रहने का स्थान पूछा और सशस्त्र रथारूढ़ हो गुफा पर पहुच कर गुफास्थित शेर को ललकारा। सिंह भी उठा और भयकर दहाड करता हुआ अपनी माद से बाहर निकला।

उत्तम पुरुष होने के कारण त्रिपृष्ठ ने शेर को देख कर सोचा – "यह तो पैदल और शस्त्ररहित निहत्था है, फिर मैं रथारूढ एव शस्त्र से सुसज्जित हो इस पर आक्रमण करू, यह कैसे न्यायसगत होगा? मुझे भी रथ से नीचे उतर कर बराबरी से मुकाबला करना चाहिये।"

[1] त्रि श. पु च, १ प०, १० स०, श्लोक १४०

ऐसा सोच कर वह रथ से नीचे उतरा और शस्त्र फेंक कर सिंह के सामने तन कर खडा हो गया। सिंह ने ज्यो ही उसे बिना शस्त्र के सामने खड़े देखा तो सोचने लगा – "अहो! यह कितना धृष्ट है, रथ से उतर कर एकाकी मेरी गुफा पर आ गया है। इसे मारना चाहिये। ऐसा सोच सिंह ने आक्रमण किया। त्रिपृष्ट ने साहसपूर्वक छलांग भर कर शेर के जवड़े दोनो हाथो से पकड़ लिये और जीर्ण वस्त्र की तरह शेर को अनायास ही चीर डाला। दर्शक कुमार का साहस देख कर स्तब्ध रह गये और कुमार के जय-घोषो से गगन गूंज उठा।[1]

अश्वग्रीव ने जब कुमार त्रिपृष्ठ के अद्‌भुत शौर्य की यह कहानी सुनी तो उसे कुमार के प्रबल शौर्य से वडी ईर्ष्या हुई। उसने कुमार को अपने पास वुलवाया और कुमार के न आने पर नगर पर चढ़ाई कर दी। दोनो मे खूब जम कर युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ की शक्ति के सम्मुख अश्वग्रीव ने जब अपने शस्त्रो को निस्तेज देखा तो उसने चक्र-रत्न चलाया किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र-रत्न को पकड कर उस ही के द्वारा अश्वग्रीव का शिर काट डाला और स्वय प्रथम वासुदेव बना।

एक दिन त्रिपृष्ठ के राजमहल मे कुछ सगीतज्ञ आये और अपने मधुर संगीत की स्वर-लहरी से उन्होने श्रोताओ को मुग्ध कर लिया। राजा ने सोते समय शय्यापालको से कहा – "मुझे जब नीद आ जाय तो गाना बन्द करवा देना।" किन्तु शय्यापालक संगीत की माधुरी से इतने प्रभावित हुए कि राजा के सो जाने पर भी वे सगीत को वन्द नही करा सके। रात के अवसान पर जब राजा की नीद भग हुई तो उसने सगीत चालू देखा।

क्रोध मे भर कर त्रिपृष्ठ शय्यापालक से बोले – "गाना वन्द नही करवाया?" उसने कहा – "देव! सगीत की मीठी तान मे मस्त होकर मैंने गायको को नही रोका।" त्रिपृष्ठ ने आज्ञाभग के अपराध से रुष्ट हो शय्यापालक के कानो मे शीशा गरम करवा कर डाल दिया।

इस घोर कृत्य से उस समय त्रिपृष्ठ ने निकाचित कर्म का बध किया और मर कर सप्तम नरक मे नेरइया रूप से उत्पन्न हुआ।[2] यह महावीर के जीव का उन्नीसवा भव था। वीसवे भव मे सिंह और इक्कीसवे भव मे चतुर्थ नरक का नेरइया हुआ। वाइसवे प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती के भव में दीर्घकाल तक राज्य-शासन करके पोट्टिलाचार्य के पास सयम स्वीकार किया और करोड वर्ष तक तप-सयम की साधना की। तेवीसवे भव मे महाशुक्र कल्प मे देव हुआ और चौबीसवे भव मे नन्दन राजा के भव मे तीर्थंकरगोत्र का वंध किया, जो इस प्रकार है:–

छत्रा नगरी के महाराज जितशत्रु के पुत्र नन्दन ने पोट्टिलाचार्य के उपदेश से राजसी वैभव और काम-भोग छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। चौवीस लाख वर्ष

[1] एकेन पाणिनोर्ध्वोष्ठमपरेणाधर पुन। धृत्वा त्रिपृष्ठस्त सिंह जीर्णवस्त्रमिवाद्दणात्। पुष्पाभरण वस्त्राणि • ••। त्रि० श० पु० च० १०।१।१४१-१५०

[2] त्रि श०पु च० १०।१।१७८ मे १८१।

तक इन्होने संसार मे भोग-जीवन विताया और फिर एक लाख वर्ष की सयम-पर्याय मे निरन्तर मास-मास की तपस्या करते रहे और कर्मशूर से धर्मशूर वनने की कहावत चरितार्थ की। इस लाख वर्ष के संयमजीवन में इन्होने ग्यारह लाख साठ हजार मास-खमरण किये। सब का पारण-काल तीन हजार तीन सौ तैंतीस वर्ष, तीन मास और उन्तीस दिनो का हुआ। तप-संयम और अर्हत् आदि की भक्ति करते हुए इन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का वन्ध किया एव अन्त मे दो मास का अनशन कर समाधिभाव मे आयु पूर्ण की। पच्चीसवे भव में प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।

समवायाग सूत्र के अनुसार प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर नन्दन का जीव देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ इसे भगवान् का छब्वीसवा भव और देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला देवी की कुक्षि मे शक्राज्ञा से हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया इसे भगवान् का सत्ताईसवा भव माना गया है। क्रमश. दो गर्भो मे आगमन को पृथक्-पृथक् भव मान लिया गया है।

इस सम्वन्ध मे समवायाग सूत्र का मूल पाठ व श्री अभय देव सूरी द्वारा निर्मित वृत्ति का पाठ इस प्रकार है :—

"समणे भगव महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोटिल्ल भवग्गहणे एग वास कोडि सामण्ण परियाग "   "

[समवायाग, समवाय १३४, पत्र ९८ (१)]

"समणेत्यादि यतो भगवान् पोट्टिलाभिधान राजपुत्रो वभूव, तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्या पालितवानित्येको भव , ततो देवोऽभूदिति द्वितीय , ततो नन्दनाभिधानो राजसूनु छत्राग्रनगर्या जज्ञे इति तृतीय , तत्र वर्षलक्षण सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमस्ततस्तस्न्यसिततिमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थ-महाराजस्य त्रिपलाभिधानभार्याया कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन सहृतस्तीर्थंकरतया च जात. इति षष्ठ , उक्तभवग्रहण हि विना नान्यद्भवग्रहण षष्ठ श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यात, यस्माच्च भवग्रहणादिद षष्ठ तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते तीर्थंकर भवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।"

[समवायाग, अभयदेववृत्ति, पत्र ९८]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य गुण चन्द्रगणि कृत श्री महावीर चरिय, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति मे पोट्टिल (प्रियमित्र चक्रवर्ती) से पहले वावीसवा भव मानव के रूप मे

२६ देवानन्दा के गर्भ मे	२५ कनकोज्वल राजा
२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर	२६. लान्तक स्वर्ग का देव
	२७ हरिषेण राजा
	२८ महाशुक्र स्वर्ग का देव
	२६ प्रियमित्र चक्रवर्ती
	३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
	३१. नन्द राजा
	३२. अच्युत स्वर्ग का देव
	३३. भगवान् महावीर

दोनो परम्पराओ मे भगवान् के पूर्वभवो के नाम एव सख्या मे भिन्नता होने पर भी इस मूल एव प्रमुख तथ्य को एकमत से स्वीकार किया गया है कि अनन्त भवभ्रमण के पश्चात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तथा कर्मनिर्जरा के प्रभाव से नयसार का जीव अभ्युदय और आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हुआ। दुष्कृतपूर्ण कर्मबन्ध से उसे पुनः एक वहुत लम्वे काल तक भवाटवी मे भटकना पडा और अन्त मे नन्दन के भव में अत्युत्कट चिन्तन, मनन एव भावना के साथ-साथ उच्चतम कोटि के त्याग, तप, सयम, वैराग्य, भक्ति और वैयावृत्य के आचरण से उसने महामहिमापूर्ण सर्वोच्चपद तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

भगवान् महावीर के पूर्वभवो की जो यह सख्या दी गई है उसमे नयसार के भव से महावीर के भव तक के सम्पूर्ण भव नही आये हैं। दोनो परम्पराओ की इस सम्बन्ध मे समान मान्यता है कि ये २७ भव केवल प्रमुख-प्रमुख भव हैं। इन सत्ताईस भवो के वीच मे भगवान् के जीव ने अन्य अगणित भवो मे भ्रमण किया।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन

प्राणत स्वर्ग से निकल कर छव्वीसवें भव में नयसार का जीव ब्राह्मण-कुण्ड ग्राम के ब्राह्मण ऋषभदत्त की जलंधर गोत्रीया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि मे गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। उस समय आषाढ शुक्ला षष्ठी तिथि और अर्द्धरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से चन्द्र का योग था। देवानन्दा ने चौदह मगलकारी शुभस्वप्न देखे और ऋषभदत्त के पास आकर विनम्र शब्दो मे स्वप्न-दर्शन की जानकारी प्रदान की।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की वात सुनकर ऋषभदत्त वोले—"अयि देवानुप्रिये! तुमने वहुत ही अच्छे स्वप्न देखे है। ये स्वप्न शिव और मंगलरूप हैं। विशेष वात यह है कि नौ मास और साढे सात रात्रि-दिवस वीतने पर तुम्हे पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। वह पुत्र शरीर से सुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यञ्जन, सद्गुणो से युक्त और सर्वप्रिय होगा। जव वह वाल्यकाल पूर्ण कर यौवनावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारगत विद्वान्, वडा

२६ देवानन्दा के गर्भ मे	२५. कनकोज्वल राजा
२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर	२६. लान्तक स्वर्ग का देव
	२७. हरिषेण राजा
	२८ महाशुक्र स्वर्ग का देव
	२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती
	३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
	३१. नन्द राजा
	३२. अच्युत स्वर्ग का देव
	३३. भगवान् महावीर

दोनो परम्पराओ मे भगवान् के पूर्वभवो के नाम एव सख्या मे भिन्नता होने पर भी इस मूल एव प्रमुख तथ्य को एकमत से स्वीकार किया गया है कि अनन्त भवभ्रमण के पश्चात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तथा कर्मनिर्जरा के प्रभाव से नयसार का जीव अभ्युदय और आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हुआ। दुष्कृतपूर्ण कर्मवन्ध से उसे पुनः एक वहुत लम्बे काल तक भवाटवी मे भटकना पडा और अन्त मे नन्दन के भव मे अत्युत्कट चिन्तन, मनन एव भावना के साथ-साथ उच्चतम कोटि के त्याग, तप, संयम, वैराग्य, भक्ति और वैयावृत्य के आचरण से उसने महामहिमापूर्ण सर्वोच्चपद तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

भगवान् महावीर के पूर्वभवो की जो यह सख्या दी गई है उसमे नयसार के भव से महावीर के भव तक के सम्पूर्ण भव नही आये है। दोनो परम्पराओ की इस सम्वन्ध मे समान मान्यता है कि ये २७ भव केवल प्रमुख-प्रमुख भव हैं। इन सत्ताईस भवो के वीच में भगवान् के जीव ने अन्य अगणित भवो मे भ्रमण किया।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन

प्राणत स्वर्ग से निकल कर छव्वीसवे भव मे नयसार का जीव ब्राह्मण-कुण्ड ग्राम के ब्राह्मण ऋषभदत्त की जलधर गोत्रीया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि मे गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। उस समय आषाढ़ शुक्ला षष्ठी तिथि और अर्द्धरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से चन्द्र का योग था। देवानन्दा ने चौदह मंगलकारी शुभस्वप्न देखे और ऋषभदत्त के पास आकर विनम्र शव्दो मे स्वप्न-दर्शन की जानकारी प्रदान की।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की वात सुनकर ऋपभदत्त वोले—"अयि देवानुप्रिये! तुमने वहुत ही अच्छे स्वप्न देखे हैं। ये स्वप्न शिव और मंगलरूप है। विशेप वात यह है कि नौ मास और साढे सात रात्रि-दिवस वीतने पर तुम्हे पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। वह पुत्र शरीर से मुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यञ्जन, सद्गुणो से युक्त और सर्वप्रिय होगा। जव वह वाल्यकाल पूर्ण कर यौवनावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारगत विद्वान्, वडा

ग्राम मे आकर देवानन्दा को निद्रावश करके विना किसी प्रकार की वाधा-पीडा के महावीर के शरीर को करतल मे ग्रहण किया एव त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे लाकर रख दिया तथा त्रिशला का गर्भ लेकर देवानन्दा की कूख मे वदल दिया[1] और उसकी निद्रा का अपहरण कर चला गया।

आचाराग सूत्र के भावना अध्ययन मे कव और किस तरह गर्भपरिवर्तन किया, इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

'जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध भरत मे, दक्षिण ब्राह्मणकुडपुर सन्निवेश मे कोडालसगोत्रीय उसभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्र वाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिहअर्भक की तरह भगवान् महावीर गर्भरूप से उत्पन्न हुए। उस समय श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान के धारक थे। श्रमण भगवान् महावीर को हितानुकम्पी देव ने जीतकल्प समझ कर, वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पांचवे पक्ष मे, आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को जव चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग था, वयासी अहोरात्रियां वीतने पर तयासीवी रात्रि मे दक्षिण ब्राह्मणकुडपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश मे ज्ञात-क्षत्रिय, काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ की वशिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला के यहां अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलो के साथ गर्भ को उसकी कुक्षि मे रखा। और जो त्रिशला क्षत्रियाणी का गर्भ था उसको दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश मे ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा की कूख मे स्थापित किया।[2]

गर्भापहार-विधि

भगवती सूत्र मे हरिणैगमेषी द्वारा जिस प्रकार गर्भ-परिवर्तन किया जाता ‍सकी चर्चा की गई है। इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा करते हुए भगवान् ‍र से पूछा—"प्रभो! हरिणैगमेषी देव जो गर्भ का परिवर्तन करता है ‍से गर्भ का परिवर्तन करता है या गर्भ से लेकर योनि द्वारा परिवर्तन ‍ता है अथवा योनिद्वार से निकाल कर गर्भ मे परिवर्तन करता है या योनि से योनि मे परिवर्तन करता है ?"

उत्तर मे कहा गया—"गौतम! गर्भाशय से लेकर हरिणैगमेषी दूसरे गर्भ मे नही रखता किन्तु योनि द्वारा निकाल कर वाधा-पीडा न हो, इस तरह गर्भ को हाथ मे लिए दूसरे गर्भाशय मे स्थापित करता है। गर्भपरिवर्तन मे माता को पीड़ा इस कारण नही होती कि हरिणैगमेषी देव में इस प्रकार की लब्धि है कि वह गर्भ को सूक्ष्म रूप से नख या रोमकूप से भी भीतर प्रविष्ट कर सकता है।" जैसा कि कल्पसूत्र मे कहा है —

---

[1] आचाराग सूत्र

[2] आचाराग सूत्र

"हरिणेगमेषी ने देवानन्दा ब्राह्मणी के पास आकर पहले श्रमण भगवान् महावीर को प्रणाम किया और फिर देवानन्दा को परिवार सहित निद्राधीन कर अशुभ पुद्गलो का अपहरण किया और शुभ पुद्गलो का प्रक्षेप कर प्रभु की अनुज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर को बाधा-पीडा रहित दिव्य प्रभाव से करतल मे लेकर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे गर्भ रूप से साहरण किया।'

[कल्पसूत्र, सू० २७]

गर्भापहार असंभव नहीं आश्चर्य है

वास्तव मे ऐसी घटना अद्भुत होने के कारण आश्चर्यजनक हो सकती है पर असभव नही। आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है – "गर्भपरिवर्तन जैसी घटना लोक मे आश्चर्यभूत है जो अनन्त अवसर्पिणी काल और अनन्त उत्सर्पिणी काल व्यतीत होने पर कभी-कभी होती है।"

दिगम्बर परम्परा ने गर्भापहरण के प्रकरण को विवादास्पद समझ कर मूल से ही छोड दिया है। पर श्वेताम्बर परम्परा के मूल सूत्रो और टीका, चूर्णि आदि मे इसका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर आचार्यो का कहना है कि तीर्थंकर का गर्भहरण आश्चर्यजनक घटना हो सकती है पर असभव नही। समवायाग सूत्र के ८३ वे समवाय में गर्भपरिवर्तन का उल्लेख मिलता है। स्थानाग सूत्र के पाचवे स्थान मे भी भगवान् महावीर के पचकल्याणको मे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे गर्भपरिवर्तन का स्पष्ट उल्लेख है। स्थानांग सूत्र के १०वे स्थान मे दश आश्चर्य गिनाये गये है। उनमे गर्भ-हरण का दूसरा स्थान है। वे आश्चर्य इस प्रकार है –

उवसग्ग[1], गब्भहरणं[2], इत्थितित्थ[3] अभाविया-परिसा[4]।
कण्हस्स अवरकका[5], उत्तरणं चद-सूराण[6]॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती[7] चमरुप्पातो[8] त अट्ठसयसिद्धा[9]।
अस्सजतेसु[10] पूआ, दस वि अणतेण कालेण॥

[स्थानाग भा २, सूत्र ७७७, पत्र ५२३–२]

१. उपसर्ग :– श्रमण भगवान् महावीर के समवशरण मे गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर दिया। भगवान् पर भी तेजोलेश्या का उपसर्ग किया। यह प्रथम आश्चर्य है।

२ गर्भहरण .– तीर्थंकर का गर्भहरण नही होता, पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ। यह दूसरा आश्चर्य है। जैनागमो की तरह वैदिक परपरा मे भी गर्भ-परिवर्तन की घटना का उल्लेख है। वसुदेव की सतानो को कस जब नष्ट कर देता था तब विश्वात्मा विष्णु योगमाया को आदेश देते हैं कि देवकी का

गर्भ रोहिणी के उदर में रखा जाय। विश्वात्मा के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ को रोहिणी के उदर मे स्थापित किया।[1]

३ स्त्री-तीर्थंकर :— सामान्य रूप से तीर्थंकरपद पुरुष ही प्राप्त करते है, स्त्री नही। वर्तमान अवसर्पिणी काल मे १६वे तीर्थंकर मल्ली भगवती स्त्री रूप से उत्पन्न हुए अत आश्चर्य है।

४. अभाविता परिषद् :— तीर्थंकर का प्रथम प्रवचन अधिक प्रभावशाली होता है, उसे श्रवण कर भोगमार्ग के रसिक प्राणी भी त्यागभाव स्वीकार करते हैं। किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना में किसी ने चारित्र स्वीकार नही किया, वह परिषद् अभावित रही, यह आश्चर्य है।

५. कृष्ण का अमरकका गमन :— द्रौपदी की गवेषणा के लिये श्रीकृष्ण धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में गये और वहा के कपिल वासुदेव के साथ शंखनाद से उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। साधारणतया चक्रवर्त्ती एव वासुदेव अपनी सीमा से वाहर नही जाते पर कृष्ण गये, यह आश्चर्य की वात है।

६ चन्द्र-सूर्य का उतरना :— सूर्य चन्द्रादि देव भगवान् के दर्शन को आते है पर मूल विमान से नही। किन्तु कौशाम्वी में भगवान् महावीर के दर्शन हेतु चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से आये।[2] महावीर चरियं के अनुसार चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवशरण मे आये, जवकि सती मृगावती भी वहा वैठी थी। रात होने पर भी उसे प्रकाश से ज्ञात नही हुआ और वह भगवान् की वाणी सुनने में वही वैठी रही। चन्द्र-सूर्य के जाने पर जव वह अपने स्थान पर गई तव चन्दनवाला ने उपालम्भ दिया। मृगावती को आत्मालोचन करते-करते केवलज्ञान हो गया।[3] यह भगवान् की केवली-चर्या के चौवीसवे वर्ष की घटना है।

---

[1] गच्छ देवि व्रज भद्रे, गोपगोभिरलकृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य, भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कससविग्ना, विवरेषु वसन्ति हि ॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं, शेषाख्य धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या, उदरे सन्निवेशय ॥८॥

[श्रीमद्भागवत, स्कध १०, अध्याय २]

[2] आव० निर्युक्ति मे प्रभु की छद्मस्थावस्था मे सगम देव द्वारा घोर परीषह देने के वाद कौशाम्वी मे चन्द्र-सूर्य का मूल विमान से आगमन लिखा है। कोसवि चद सूरो अरण...
। आव नि० दी०, गा० ५१८, पत्र १०५

[3] साहावियाइ पच्चक्ख दिस्समाणाणि आरुहेउण।
ओयरिया भत्तीए वदणवडियाए ससिसूरा ॥९॥
तेसि विमाणनिम्मल मऊह निवहप्पयासिए गयणे।
जाय निसिपि लोगो अवियाणतो सुणइ धम्म ॥१०॥
नवर नाउ समय चदणवाला पवत्तिणी नमिउ।
सामि समणीहि समं निययावास गया सहसा ॥११॥
मा पुण मिगावई जिणकहाए वक्खित्तमाणसा वणिय।
एगागिणी चियट्ठिया दिणति काऊण ओसरणे ॥१२॥

[महावीर चरिय (गुणचन्द्र), प्रस्ताव ८, पत्र १७५]

७ हरिवंश कुलोत्पत्ति :- हरि और हरिणीरूप युगल को देखकर एक देव को पूर्वजन्म के वैर की स्मृति हो आई। उसने सोचा "ये दोनो यहां भोग-भूमि मे सुख भोग रहे है और आयु पूर्ण होने पर देवलोक मे जायेंगे। अत. ऐसा यत्न करू कि जिससे इनका परलोक दुखमय हो जाय।" उसने देव शक्ति से उनकी दो कोस की ऊंचाई को सौ धनुष कर दिया,[1] आयु भी घटाई और दोनो को भरतक्षेत्र की चम्पानगरी मे लाकर छोड दिया। वहा के भूपति का वियोग होने से 'हरि' को अधिकारियो द्वारा राजा बना दिया गया। कुसंगति के कारण दोनो ही दुर्व्यसनी हो गये और फलतः दोनो मरकर नरक मे उत्पन्न हुए। इस युगल से हरिवश की उत्पत्ति हुई।

युगलिक नरक मे नही जाते पर ये दोनो हरि और हरिणी नरक में गये। यह आश्चर्य की बात है।

८. चमर का उत्पात :- पूरण तापस का जीव असुरेन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। इन्द्र बनने के पश्चात् उसने अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य-भोगों का उपभोग करते हुए देखा और उसके मन में विचार हुआ कि इसकी शोभा को नष्ट करना चाहिए। भगवान् महावीर की शरण लेकर उसने सौधर्म देव-लोक में उत्पात मचाया। इस पर शक्रेन्द्र ने क्रुद्ध हो उस पर वज्र फेंका। चमरेन्द्र भयभीत हो भगवान् के चरणो में आ गिरा। शक्रेन्द्र भी चमरेन्द्र को भगवान् महावीर की चरण-शरण में जानकर वड़े वेग से वज्र के पीछे आया और अपने फेंके हुए वज्र को पकड कर उसने चमर को क्षमा प्रदान कर दी।

चमरेन्द्र का इस प्रकार अरिहत की शरण लेकर सौधर्म देवलोक में जाना आश्चर्य है।

९ उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध :- भगवान् ऋषभदेव के समय में ५०० धनुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध हुए। नियमानुसार उत्कृष्ट अव-गाहना वाले दो[2] ही एक साथ सिद्ध होने चाहिये पर ऋषभदेव और उनके पुत्र आदि १०८ एक समय मे साथ सिद्ध[3] हुए, यह आश्चर्य की बात है।

१०. असयत पूजा :- संयत ही वंदनीय-पूजनीय होते हैं पर नौवे तीर्थं-कर सुविधिनाथ के शासन में श्रमण-श्रमणी के अभाव मे असंयति की ही पूजा हुई, अतः यह आश्चर्य माना गया है।

---

[1] कुणतिय से दिव्वप्पभावेण धणुसय उच्चत्त ॥ वसु० हिं०, पृ० ३५७

[2] उक्कोसोगाहणाए य सिजते जुगव दुवे उ० । ३६

[3] रिसहो रिसहस्स सुया, अरहेण विवज्जिया नवनवई।
अट्ठेव भरहस्स सुया, सिद्धिगया एग समयम्मि ॥

[उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५३]

वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भापहार

भारतीय साहित्य मे वर्णित गर्भापहार जैसी कितनी ही वातो को लोग अव तक अविश्वसनीय मानते रहे है पर विज्ञान के अन्वेपण ने उनमे से वहुत कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया है। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी द्वारा प्रकाशित "जीवन विज्ञान" (पृष्ठ ४३) मे एक आश्चर्यजनक घटना प्रकाशित की गई है जो इस प्रकार है .—

"एक अमेरिकन डॉक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का ऑपरेशन करना था। वह गर्भवती थी अतः डॉक्टर ने एक गर्भिणी वकरी का पेट चीर कर उसके पेट का वच्चा विजली की शक्ति से युक्त एक डिव्वे में रखा और उस औरत के पेट का वच्चा निकाल कर वकरी के गर्भ मे डाल दिया। औरत का ऑपरेशन कर चुकने के वाद डॉक्टर ने पुनः औरत का वच्चा औरत के पेट मे रख दिया और वकरी का वच्चा वकरी के पेट मे रख दिया। कालान्तर मे वकरी और स्त्री ने जिन वच्चो को जन्म दिया वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।"

'नवनीत' की तरह अन्य पत्रों मे भी इस प्रकार के अनेक वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं, जिनसे गर्भापहरण की वात सभव और साधारण सी प्रतीत होती है।

त्रिशला के यहाँ

जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है जिस समय हरिणैगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा से महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला की कुक्षि में साहरण किया, उस समय वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पाचवे पक्ष का आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। देवानन्दा के गर्भ मे वयासी (८२) रात्रियां विता चुकने के पश्चात् तयासीवी रात्रि में चन्द्र के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग के समय भगवान् महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि मे साहरण किया गया।

गर्भसाहरण के पश्चात् देवानन्दा यह स्वप्न देखकर कि उसके चौदह मगलकारी शुभस्वप्न उसके मुखमार्ग से वाहर निकल गये है, तत्क्षण जाग उठी। वह शोकाकुल हो वारम्वार विलाप करने लगी कि किसी ने उसके गर्भ का अपहरण कर लिया है।[1]

उधर त्रिशला रानी को उसी रात उन चौदह महामंगलप्रद शुभस्वप्नो के दर्शन हुए। वह जागृत हो महाराज सिद्धार्थ के पास गईं और उसने अपने स्वप्न सुनाकर वडी मृदु-मजुल वाणी मे उनसे स्वप्नफल की पृच्छा की।

महाराज सिद्धार्थ ने निमित्त-शास्त्रियो को ससम्मान वुलाकर उनसे उन चौदह स्वप्नो का फल पूछा।

---

[1] (क) महावीर चरियम् (गुणचन्द्र सूरि), पत्र २१२ (२)।
(ख) त्रिपष्टि शलाका पुरुप चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २७ और २८

निमित्तज्ञो ने शास्त्र के प्रमाणों से बताया – "इस प्रकार के मांगलिक शुभस्वप्नो मे से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता चौदह महास्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात महास्वप्न, बलदेव की माता चार महास्वप्न तथा माण्डलिक की माता एक शुभस्वप्न देखकर जागृत होती है। महारानी त्रिशला देवी ने चौदह शुभस्वप्न देखे है अतः इनको तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे किसी महान् भाग्यशाली पुत्ररत्न का लाभ होगा। निश्चित रूप से इनके ये स्वप्न परम प्रशस्त और महामंगलकारी हैं।"

स्वप्नपाठको की बात सुनकर महाराज सिद्धार्थ परम प्रमुदित हुए और उन्होने उनको जीवनयापन योग्य प्रीतिदान देकर सत्कार एव सम्मान के साथ विदा किया। महारानी त्रिशला भी योग्य आहार-विहार और मर्यादित व्यवहारो से गर्भ का सावधानीपूर्वक प्रतिपालन करती हुई परमप्रसन्न मुद्रा मे रहने लगी।

महारानी त्रिशलादेवी ने जिस समय भगवान् महावीर को अपने गर्भ मे धारण किया उसी समय से तृजृंभक देवो ने इन्द्र की आज्ञा से पुरातन निधिया लाकर महाराज सिद्धार्थ के राज्य-भण्डार को हिरण्य-सुवर्ण आदि से भरना प्रारम्भ कर दिया और समस्त ज्ञातकुल की विपुल धन-धान्यादि ऋद्धियो से महती अभिवृद्धि होने लगी।[1]

महावीर का गर्भ में अभिग्रह

भगवान् महावीर जब त्रिशला के गर्भ मे थे तब उनके मन मे विचार आया कि उनके हिलने-डुलने से माता अतिशय कष्टानुभव करती है। यह विचार कर उन्होने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। किन्तु गर्भस्थ जीव की हलन-चलनादि क्रिया को बन्द देख कर माता बहुत घबराई। उनके मन मे शंका होने लगी कि उनके गर्भ का किसी ने हरण कर लिया है अथवा वह मर गया है या गल गया है। इसी चिन्ता मे वह उदास और व्याकुल रहने लगीं। माता की उदासी से राज-भवन का समस्त आमोद-प्रमोद एव मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता मे परिणत हो गया। गर्भस्थ महावीर ने अवधिज्ञान द्वारा मा की यह करुणावस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति देखी तो वे पुनः अपने अगोपाग हिलाने-डुलाने लगे जिससे मा का मन फिर प्रसन्नता से नाच उठा और राजभवन मे हर्ष का वातावरण छा गया। मा के इस प्रबल स्नेहभाव को देख कर महावीर ने गर्भकाल मे ही यह अभिग्रह धारण किया – "जब तक

[1] जद्दिवस च भयव······तिसला देवीए उदरकमलमइगओ तद्दिवसाओऽवि सुरवइवयणेण तिरियजभगा देवा विविहाइं महानिहाणाइं सिद्धत्थनरिंदभुवणमि भुज्जो-भुज्जो परिखिवति, तपि नायकुल धणेण धन्नेण····· बाढमभिवड्ढइ······

[महावीर चरित्र (गुणचन्द्र), पत्र ११४ (१)]

मेरे माता-पिता जीवित रहेगे तब तक मैं मुडित होकर दीक्षा-ग्रहण नही करूँगा।"[1]

जन्म-महिमा

प्रशस्त दोहद और मगलमय वातावरण मे गर्भकाल पूर्ण कर नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनि नक्षत्र मे त्रिशला क्षत्रियाणी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्मकाल मे सभी ग्रह उच्च स्थान में आये हुए थे। समस्त दिशाएं परम सौम्य, प्रकाशपूर्ण और अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही थी। धन-धान्य की समृद्धि एव सुख-सामग्री की अभिवृद्धि के कारण जन-जीवन बडा प्रमोदपूर्ण था। गगन-मण्डल से देवो ने पचदिव्यो की वर्षा की।

प्रभु के जन्म लेते ही समस्त लोक में अलौकिक उद्योत और शान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया। प्रभु का मंगलमय जन्ममहोत्सव मनाने वाले देव-देवियो के आगमन से सम्पूर्ण गगनमण्डल एक अपूर्व मृदु-मजुल रव से मुखरित हो उठा।

इन्द्र ने प्रभु को सुमेरुपर्वत पर लेजाकर प्रभु का जन्ममहोत्सव किया। उस समय शक्र के मन मे शंका उत्पन्न हुई कि नवजात प्रभु का कुसुम सा सुकोमल नन्हा सा वपु अभिषेक-कलशो के जलप्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा ?

प्रभु ने इन्द्र की इस शंका का निवारण करने हेतु अपने वामपाद के अगुष्ठ से सुमेरु को दबाया। इसके परिणामस्वरूप गिरिराज के उत्तुग शिखर झझावात से झकझोरित वेत्रवन की तरह प्रकंपित हो उठे।

शक्र को अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात हुआ कि यह सब प्रभु के अनन्त बल की माया है तो उसने नतमस्तक हो प्रभु से क्षमायाचना की।[2]

जन्माभिषेक का महोत्सव सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् इन्द्र ने प्रभु को माता त्रिशला के पास शय्या पर सुला दिया।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरियम्' में[3] और दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने 'आदि पुराण' मे[4] यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही देवगण तीर्थंकर के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नो की वृष्टि करना प्रारम्भ कर देते हैं।

---

[1] (क) आव० भाष्य० गा० ५८।५९। पत्र २५६
(ख) कल्पसूत्र, सूत्र ९१

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६० से ६४

[3] छम्मासेण जिणवरो, होही गब्भम्मि चवणकालाओ।
पाडेइ रयणवुट्ठी, धणओ मासाणि पण्णरस॥ [पउम चरिउ, ३, श्लोक ६७]

[4] षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति।
रत्नवृष्टिं दिवो देवा, पातयामासुरादरात्॥ [आदि पुराण, १२, श्लोक ८४]

आचार्य हेमचन्द्र और गुणचन्द्र आदि ने तीर्थंकर के गर्भावतरण के पश्चात् तृजृंभक देवो द्वारा शक्राज्ञा से तीर्थंकरों के पिता के राज्य-कोषों को विपुल निधियो से परिपूर्ण करने और उनके जन्म के समय रत्नादि की वृष्टि करने का उल्लेख किया है।

पुत्रजन्म की खुशी मे महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के बन्दियो को कारागार से मुक्त किया और याचको एव सेवको को मुक्तहस्त हो प्रीतिदान दिया। दश दिन तक बडे हर्षोल्लास के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाया गया। समस्त नगर मे बहुत दिनो तक आमोद-प्रमोद का वातावरण छाया रहा।

जन्मस्थान

महावीर की जन्मस्थली के सम्बन्ध मे इतिहासज्ञ विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वान् आगम साहित्य मे उल्लिखित 'वेसालिय' शब्द को देख कर इनकी जन्मस्थली वैशाली मानते है। क्योकि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'विशालाया भव.' इस अर्थ मे छ प्रत्यय होकर 'वेसालिय' शब्द बनता है, इसका अर्थ है वैशाली मे उत्पन्न होने वाला।

कुछ विद्वानो के मतानुसार भगवान् का जन्मस्थान 'कुंडनपुर' है तो कुछ के अनुसार क्षत्रियकुड। क्षत्रियकुड के सम्बन्ध मे भी विद्वानों मे मतैक्य नही है। कुछ इसे मगध देश में मानते हैं तो कुछ इसे विदेह मे। आचाराग और कल्पसूत्र मे महावीर को विदेहवासी कहा गया है।[1] डॉ० हर्मनजेकोबी ने विदेह का अर्थ विदेहवासी किया है।[2] परन्तु 'विदेह जच्चे' का अर्थ देह मे श्रेष्ठ होना चाहिये, क्योकि 'जच्चे' जात्य का अर्थ उत्कृष्ट होता है। कल्पसूत्र के बगला अनुवादक बसतकुमार चट्टोपाध्याय ने इसी मत का समर्थन किया है।[3] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो से भी इसी धारणा का समर्थन होता है। वहा कुडपुर-क्षत्रिय-कुड की अवस्थिति जम्बूद्वीप के भारतवर्ष मे विदेह के अन्तर्गत मानी है।[4]

---

[1] नाए नायपुत्ते, नायकुलचन्दे, विदेहे-विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे [कल्पसूत्र, सू० ११०]

[2] सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, सेक्ट २२, पृ० २५६

[3] बसतकुमार लिखते हैं—दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदर्श रूपवान्, वालीन, भद्रक, विनीत, ज्ञात, ज्ञातीपुत्र, ज्ञाती कुलचन्द्र, विदेह, विदेह दत्तात्मज, वैदेहश्रेष्ठ, वैदेह सुकुमार श्रमण भगवान् महावीर त्रिश वत्सर विदेह देशे काटाइया, माता पितार देवत्व प्राप्ति हइले गुरुजन ओ महत्तर गणेर अनुमति लइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त करिया छिलेन। कल्प सू० अ० व० कलकत्ता वि० वि० १६५३ ई०

[4] (क) विक्रमी पाचवी सदी के आचार्य पूज्यपाद दशभक्ति मे लिखते है 'सिद्धार्थनृपति तनयो, भारतवास्ये विदेह कुडपुरे। पृ० ११६

(ख) विक्रमी आठवीं सदी के आचार्य जिनसेन हरिवश पुराण, खण्ड १, सर्ग २ मे लिखते हैं:

भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनागणे।
राज्ञ कुण्डपुरेशस्य, वसुधारापतत् पृथु ॥ २५१।२५२। उत्तरार्द्ध

शास्त्र मे 'वेसालिय' शब्द होने के कारण वैशाली से भगवान् का सम्बन्ध प्राय सभी इतिहास-लेखको ने माना है, किन्तु उस सम्बन्ध का अर्थ जन्मस्थान मानना ठीक नही। मुनि कल्याण विजयजी ने कुडपुर को वैशाली का उपनगर लिखा है, जवकि विजयेन्द्रसूरि के अनुसार कुडपुर वैशाली का उपनगर नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र नगर माना गया है। मालूम होता है दोनों ने दृष्टिभेद से ऐसा उल्लेख किया हो और इसी दृष्टि से ब्राह्मणकुडग्राम-नगर और क्षत्रियकुंडग्राम नगर लिखा गया हो। ये दोनो पृथक्-पृथक् बस्ती के रूप में होकर भी इतने नजदीक थे कि उनको कुंडपुर के सन्निवेश मानना भी अनुचित नही समझा गया।

दोनो की स्थिति के विषय मे भगवती सूत्र के नववें उद्देशगत प्रकरण से अच्छा प्रकाश मिलता है। वहा ब्राह्मणकुड ग्राम से पश्चिम दिशा मे क्षत्रियकुड ग्राम और दोनो के मध्य मे वहुशाल चैत्य वतलाया गया है।[1] जैसाकि –

एक वार भगवान् महावीर ब्राह्मणकुड के वहुशाल चैत्य में पधारे, तब क्षत्रियकुड के लोग सूचना पाकर वंदन करने को जाने लगे। लोगो को जाते हुए देखकर राजकुमार जमालि भी वदन को निकले और क्षत्रियकुड के मध्य से होते हुए ब्राह्मणकुण्ड के वहुशाल चैत्य मे जहां भगवान् महावीर थे, वहा पहुँचे। उनके साथ पाच सौ क्षत्रियकुमारो के दीक्षित होने का वर्णन वतलाता है कि वहां क्षत्रियो की वड़ी वस्ती थी। सभव है, वढते हुए विस्तार के कारण ही इनको ग्राम-नगर कहा गया हो।

डॉ हारनेल ने महावीर का जन्मस्थान कोल्लाग सन्निवेश होना लिखा है, पर यह ठीक नही। उपर्युक्त प्रमाणो से सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् महावीर का जन्मस्थान कुंडपुर के अन्तर्गत क्षत्रियकुड ग्राम है, मगध या अग देश नही। इन सव उल्लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का जन्म मगध या अग देश मे न हो कर विदेह में हुआ था।

कुछ विद्वानो का कहना है कि महावीर के जन्मस्थान के सम्वन्ध मे शास्त्र के जो उल्लेख हैं, उनमे कुडपुर शब्द ही आया है, क्षत्रियकुंड नही। आवश्यक निर्युक्ति मे कुंडपुर या कुडग्राम का उल्लेख है।[2] और आचाराग सूत्र मे क्षत्रियकुंडपुर भी आता है। वास्तव में वात यह हैं कि दोनों स्थानों मे कोई मौलिक अन्तर नही है। कुण्डपुर के ही उत्तर भाग को क्षत्रियकुड और दक्षिण

---

[1] (क) तस्सणं माहणकुडग्गामस्स णयरस्स पच्चत्थिमेण एत्थण खत्तियकुडग्गामे नाम नयरे होत्था। भ० ९।३३। सूत्र ३८३। पत्र ४६१

(ख) जाव एगाभिमुहे खत्तियकुडग्गाम नयर मज्झमज्झेण निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव माहणकुडगामे नयरे जेणेव वहुसालए चेइए। भ०श० ९।३३ सूत्र ३८३। पत्र ४६१।

[2] (क) अह चेत्तसुद्ध पक्खस्स, तेरसी पुव्वरत्त कालम्मि
हत्थुत्तराहिं जाओ, कुंडग्गामे महावीरो ॥६१ भा॥ आ नि पृ. २५६

(ख) आवश्यक नि० ३९४।१८०

भाग को ब्राह्मणकुड कहा गया है। आचाराग सूत्र से भी यह प्रमाणित होता है कि वहा दक्षिण मे ब्राह्मणकुड सन्निवेश और उत्तर मे क्षत्रियकुडपुर सन्निवेश था।[१] क्षत्रियकुड मे "ज्ञातृ" क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थो मे "ज्ञातिक" अथवा "नातिक" नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। ज्ञातियो की बस्ती होने से इसको ज्ञातृग्राम भी कहा गया है। "ज्ञातृक" की अवस्थिति 'वज्जी' देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के बीच बताई गई है। उनके अनुसार कुडपुर क्षत्रियकुड अथवा "ज्ञातृक" वज्जि विदेह देश के अन्तर्गत था। महापरिनिव्वान सुत्त के चीनी सस्करण मे इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट कर दी गई है। वहा इसे वैशाली से सात ली अर्थात् १$\frac{3}{4}$ मील दूर बताया गया है।[२]

वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुत) डिविजन मे 'बनिया बसाढ' के नाम से प्रसिद्ध है। और बसाढ के निकट जो बासुकुड है, वहा पर प्राचीन कुडपुर की स्थिति बताई जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणो और ऐतिहासिक आधारो से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के कुडपुर (क्षत्रियकुंड) सन्निवेश मे हुआ था। यह 'कुडपुर' वैशाली का उपनगर नहीं किन्तु एक स्वतन्त्र नगर था।

महावीर के मातापिता

ज्ञातृ-वशीय महाराज सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता और महारानी त्रिशला माता थी। डॉ० हार्नेल और जैकोबी सिद्धार्थ को राजा नही मान कर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार मानते है, जो कि शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उपयुक्त नही जचता। शास्त्रो मे भगवान् महावीर को महान् राजा के कुल का कहा गया है। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय सरदार मात्र होते तो राजा शब्द का प्रयोग उनके लिये नही किया जाता।

शास्त्रो मे आये हुए सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द के प्रयोग से सिद्धार्थ को क्षत्रिय सरदार मानना ठीक नही क्योकि कल्पसूत्र मे "तएणं से सिद्धत्थे राया" आदि रूप से उनको राजा भी कहा गया है। इतना ही नही उनके बारे मे बताया गया है कि वे मुकुट, कुण्डल आदि से विभूषित "नरेन्द्र" थे। "महावीर चरित्र" में भी "सिद्धत्थो य नरिंदो" ऐसा उल्लेख मिलता है। प्राचीन

---

[१] दाहिण माहणकुडपुर सन्निवेसाओ उत्तर खत्तिय कुडपुर सन्निवेससि नायाण खत्तियाणं सिद्धत्थस्स .. ।।आचा० भावना अ० १५

[२] (क) Sino Indian Studies vol. I, part 4, page 195, July 1945.

(ख) Comparative studies "The parinivvan Sutta and its Chinese version, by Faub

(ग) ली, दूरी नापने का एक पैमाना है। कनिघम के अनुसार १ ली १।५ मील के बराबर होती है। एन्सियेन्ट जोग्राफी आफ इन्डिया।

साहित्य अथवा लोकव्यवहार में नरेन्द्र शब्द का प्रयोग साधारण सरदार या उमराव के लिये न होकर राजा के लिये ही होता आया है। साथ ही सिद्धार्थ के साथ गणनायक आदि राजकीय अधिकारियो का होना भी शास्त्रो मे उल्लिखित है। निश्चित रूप से इस प्रकार के अधिकारी किसी राजा के साथ ही हो सकते है।

दूसरी बात क्षत्रिय का अर्थ गुण-कर्म विभाग से तथाकथित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति नही अपितु राजा भी होता है। जैसे कि अभिधान चिन्तामणि मे लिखा है :-'क्षत्र तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभव.'।[1]

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य मे राजा दिलीप के लिये जो कि क्षत्रिय कुलोद्भव थे, लिखा है :-

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः,
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'

वस्तुत. विपत्ति से बचाने वाले के लिये रूढ "क्षत्रिय" शब्द राजा का भी पर्यायवाची हो सकता है, केवल साधारण क्षत्रिय का नही।

डॉ० हार्नेल और जैकोबी ने सिद्धार्थ को राजा मानने मे जो आपत्ति की है, उसका एकमात्र कारण यही दिखाई देता है कि वैशाली के चेटक जैसे प्रमुख राजाओ की तरह उस समय उनका विशिष्ट स्थान नही था, फिर भी राजा तो वे थे ही। बडे या छोटे जो भी हो, सिद्धार्थ उन सभी सुख-साधनो से सम्पन्न थे जो कि एक राजा के रूप मे किसी को प्राप्त हो सकते हैं। इस तरह सिद्धार्थ को राजा मानना उचित ही है, इसमे किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नही देती।

सिद्धार्थ की तरह त्रिशला के साथ भी क्षत्रियाणी शब्द देख कर इस प्रकार की उठने वाली शका का समाधान उपर्युक्त प्रमाण से हो जाता है। वैशाली जैसे शक्तिशाली राज्य की राजकुमारी और उस समय के महान् प्रतापी राजा चेटक की सहोदरा त्रिशला का किसी साधारण क्षत्रिय से विवाह कर दिया गया हो यह नितान्त असभव सा प्रतीत होता है। क्षत्रियाणी की तरह श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो परम्परा के ग्रन्थो मे देवी रूप से भी त्रिशला का उल्लेख किया गया है। अत. उसे रानी समझने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। महावीर चरिय[2], त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[3] और दशभक्ति ग्रन्थ[4] इसके लिये द्रष्टव्य हैं।

---

[1] अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ५२७

[2] (क) तस्स घरे त साहर, तिसला देवीए कुच्छिसि।५१। [महावीर चरिय, पृ २८]
(ख) सिद्धत्थो य नरिंदो, तिसला देवी य रायलोओ य।६८। [महावीर चरियं ३३]

[3] दधार त्रिशला देवी, मुदिता गर्भमद्भुतम्।३३।
देव्या पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूप निधाय स।५५।
उवाच त्रिशला देवी, सदने नस्त्वमागमः।१४१। [त्रिषष्टि शलाका, प० १०, सर्ग २]

[4] देव्या प्रियकारिण्या सुस्वप्नान् सप्रदर्श्य विभु।४। [दशभक्ति, पृ० ११६]

सिद्धार्थ को इक्ष्वाकुवंशी और गोत्र से काश्यप कहा गया है। कल्पसूत्र और आचाराग में सिद्धार्थ के तीन नाम वताये गये है· (१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयास और (३) यशस्वी।[१] त्रिशला वासिष्ठ गोत्रीया थी, उनके भी तीन नाम उल्लिखित है – (१) त्रिशला, (२) विदेहदिन्ना और (१) प्रियकारिणी। वैशाली के राजा चेटक की वहिन होने से ही इसे विदेहदिन्ना कहा गया है।

नामकरण

दश दिनों तक जन्म-महोत्सव मनाये जाने के वाद राजा सिद्धार्थ ने मित्रो और वन्धुजनो को आमन्त्रित कर स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से उन सवका सत्कार करते हुए कहा – "जवसे यह शिशु हमारे कुल मे आया है तवसे धन, धान्य, कोष, भण्डार, वल, वाहन आदि समस्त राजकीय साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है, अत· मेरी सम्मति मे इसका 'वर्द्धमान'[२] नाम रखना उपयुक्त जचता है।" उपस्थित लोगो ने राजा की इच्छा का समर्थन किया। फलतः त्रिशलानन्दन का नाम वर्द्धमान रखा गया। आपके वाल्यावस्था के कतिपय वीरोचित अद्भुत कार्यों से प्रभावित होकर देवो ने गुण-सम्पन्न दूसरा नाम 'महावीर' रखा।

त्याग-तप की साधना मे विशिष्ट श्रम करने के कारण शास्त्र मे आपको 'श्रमण' भी कहा गया है। विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न होने से 'भगवान्' और ज्ञातृकुल मे उत्पन्न होने से 'ज्ञातपुत्र' आदि विविध नामो से भी आपका परिचय मिलता है। भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में आपके तीन नाम वताये है। यथा :– माता-पिता के द्वारा 'वर्द्धमान', सहज प्राप्त सद्वुद्धि के कारण 'समण' अथवा शारीरिक व वौद्धिक शक्ति से तप आदि की साधना मे कठिन श्रम करने से 'श्रमण' और परीपहो मे निर्भय-अचल रहने से देवो द्वारा 'महावीर' नाम रखा गया।[३]

संगोपन और बालक्रीड़ा

महावीर का लालन-पालन राजपुत्रोचित सुसम्मान के साथ हुआ। इनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए पाच परम दक्ष धाइयां नियुक्त की गईं, जो कि अपने-अपने कार्य को यथासमय विधिवत् सचालन करती। उनमें से एक का काम दूध पिलाना, दूसरी का स्नान-मडन कराना, तीसरी का वस्त्रादि पहनाना, चौथी का क्रीडा कराना और पाचवी का काम गोद में खिलाना था।

वालक महावीर की वालक्रीड़ाए केवल मनोरजक ही नही अपितु शिक्षाप्रद एव वलवर्द्धक भी होती थी। एक वार आप समवयस्क साथियों के साथ राज-भवन के उद्यान मे 'सकुली' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इनकी अवस्था आठ वर्ष के लगभग थी पर साहस और निर्भयता मे कोई कमी नही थी।

---

[१] कल्पसूत्र, १०५।१०६ सूत्र। आचाराग भावनाध्ययन

[२] कल्पसूत्र, सूत्र १०३

[३] कल्पसूत्र, १०४

कुमार की निर्भयता देख कर एक बार देवपति शक्र ने देवो के समक्ष उनकी प्रशसा करते हुए कहा – "भरत क्षेत्र में बालक महावीर बाल्यकाल में ही इतने साहसी और पराक्रमी हैं कि देव-दानव और मानव कोई भी उन्हे पराजित नही कर सकता।"

इन्द्र के इस कथन पर एक देव को विश्वास नही हुआ और वह परीक्षा के लिए महावीर के क्रीडा-प्रागण मे आया।

सकुली खेल की यह रीति है कि किसी वृक्ष-विशेष को लक्षित कर सभी क्रीड़ारत बालक उस ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ कर उतर आता है वह विजयी माना जाता है और पराजित बालक के कन्धे पर सवार होकर वह उस स्थान तक जाता है जहा से कि दौड प्रारम्भ होती है।

परीक्षक देव विकट विषधर सर्प का रूप बना कर वृक्ष के तने पर लिपट गया और फूत्कार करने लगा। महावीर उस समय पेड पर चढे हुए थे। उस भयंकर सर्प को देखते ही सभी बालक डर के मारे इधर-उधर भागने लगे किन्तु महावीर तनिक भी विचलित नही हुए। उन्होने भागने वाले साथियो से कहा – "तुम सब भागते क्यों हो? यह छोटा सा प्राणी अपना क्या बिगाड़ने वाला है? इसके तो केवल मु ह ही है, हम सब के पास तो दो हाथ, दो पैर, एक मुख, मस्तिष्क और बुद्धि आदि बहुत से साधन हैं। आओ, इसे पकड कर अभी दूर फेंक आयें।"

यह सुन कर सभी बच्चे एक साथ बोल उठे – "महावीर, भूल से भी इसको छूना नही, इसके काटने से आदमी मर जाता है।" ऐसा कह कर सब बच्चे वहा से भाग गये। महावीर ने नि शक भाव से बायें हाथ से सर्प को पकडा और रज्जु की तरह उठा कर उसे एक ओर डाल दिया।[1]

महावीर द्वारा सर्प के हटाये जाने पर पुनः सभी बालक वहा चले आये और तिंदुसक खेल खेलने लगे। यह खेल दो-दो बालको में खेला जाता है। दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ते है और दोनो मे से जो वृक्ष को पहले छू लेता है, उसे विजयी माना जाता है। इस खेल का नियम है कि विजयी बालक पराजित पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।[2] परीक्षार्थी देव भी बालक का रूप बना कर खेल की टोली मे सम्मिलित हो गया और खेलने लगा। महावीर ने उसे दौड मे पराजित कर वृक्ष को छू लिया। तब नियमानुसार पराजित बालक को सवारी के रूप मे उपस्थित होना पडा। महावीर उस पर आरूढ होकर

---

१ (क) चेडरूवेहिं सम सुंकलिकउएण अभिरमति।

[आ चू, पृ २४६ पूर्वभाग]

(ख) स्मित्वा रज्जुमिवोत्क्षिप्य, त चिक्षेप क्षितौ विभु.। त्रि. पु च, १०।२।१०७ श्लो

२ तस्स तेमु रुक्खेसु जो पढम विलग्गति, जो पढम ओलुगति सो चेड रूवाणि वाहेति ॥ आव० चू० भा० १, पत्र २४६

नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने उनको भयभीत करने और अपहरण करने के लिए सात ताड़ के बराबर ऊंचा और भयावह शरीर बना कर डराना प्रारम्भ किया। इस अजीब दृश्य को देख कर सभी बालक घबरा गये परन्तु महावीर पूर्ववत् निर्भय चलते रहे। उन्होंने ज्ञान-बल से देखा कि यह कोई मायावी जीव हमसे वचना करना चाहता है। ऐसा सोच कर उन्होंने उसकी पीठ पर साहसपूर्वक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि देव उस आघात से चीख उठा और गेंद की तरह उसका फूला हुआ शरीर दब कर वामन हो गया।[1] उस देव का मिथ्याभिमान चूर-चूर हो गया। देव ने बालक महावीर से क्षमायाचना करते हुए कहा—"वर्द्धमान! इन्द्र ने जिस प्रकार आपके पराक्रम की प्रशंसा की वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वास्तव मे आप वीर ही नही, महावीर है।" इस प्रकार महावीर की वीरता, धीरता और सहिष्णुता बचपन से ही अनुपम थी।

तीर्थंकर का अतुल बल

भगवान् महावीर जन्म से ही अतुल बली थे। उनके बल की उपमा देते हुए कहा गया है कि—बारह सुभटो का बल एक वृषभ में, वृषभ से दश गुना बल एक अश्व मे, अश्व से बारह गुना बल एक महिष में, महिष से पन्द्रह गुना बल एक गज मे, पाच सौ गजो का बल एक केशरीसिंह मे, दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद मे, दश लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव मे, बलदेव से दुगुना बल एक वासुदेव मे, वासुदेव से द्विगुणित बल एक चक्रवर्ती मे, चक्रवर्ती से लाख गुना बल एक नागेन्द्र मे, नागेन्द्र से करोड गुना बल एक इन्द्र मे और इन्द्र से अनन्त गुना अधिक बल तीर्थंकर की एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। सचमुच तीर्थंकर के बल की तुलना किसी से नही की जा सकती। उनका बल जन्म-जन्मान्तर की करणी से सचित होता है। उनका शारीरिक सहनन वज्र-ऋषभनाराच और सस्थान समचतुरस्र बताया गया है।

महावीर और कलाचार्य

महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देख कर उनको अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। माता-पिता को उनके जन्मसिद्ध तीन ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का परिज्ञान नही था। उन्होने परम्परानुसार पण्डित को प्रथम श्रीफल आदि भेंट किये और वर्द्धमान कुमार को सामने खड़ा किया। जब देवेन्द्र को पता चला कि महावीर को कलाचार्य के पास लेजाया जा रहा है तो उन्हे आश्चर्य हुआ कि तीन ज्ञानधारी को अल्पज्ञानी-जन क्या पढायेगा।

---

[1] (क) स व्यरसीद्वर्धनान्न, यावत्तावन्महौजसा।
आहत्य मुष्टिना पृष्ठे, स्वामिना वामनीकृतः। त्रि पु च, १०।२।श्लो २१७
(ख) आव चू १ भा, पृ २४६

उसी समय वे निमेषार्ध में विद्या-गुरु और जनसाधारण को प्रभु की योग्यता का ज्ञान कराने के लिये एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में वहां प्रकट हुए और महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछने लगे। महावीर द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तरो को सुन कर कलाचार्य सहित सभी उपस्थित जन चकित हो गये। पडित ने भी अपनी कुछ शकाएं वालक महावीर के सामने रखी और उनका सम्यक् समाधान पा कर अवाक् रह गया।

जव पडित वालक वर्द्धमान की ओर साश्चर्य देखने लगा तो वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र ने कहा – "पडितजी ! यह साधारण वालक नही, विद्या का सागर और सकल शास्त्रो का पारगामी महापुरुष है।" जातिस्मरण और जन्म से तीन ज्ञान युक्त होने के कारण ये सब विद्याए जानते हैं। वृद्ध ब्राह्मण ने महावीर के तत्कालीन प्रश्नोत्तरो का सग्रह कर 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।[1]

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला महावीर की इस असाधारण योग्यता को देख कर परम प्रसन्न हुए और वोले – "हमे पता नही था कि हमारा कुमार इस प्रकार का 'गुरूणां गुरु' है।"

यशोदा से विवाह

वाल्यकाल पूर्ण कर जव वर्द्धमान युवावस्था में आये तव राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने वर्द्धमान – महावीर के मित्रो के माध्यम से उनके सम्मुख विवाह की वात चलाई। राजकुमार महावीर भोग-जीवन जीना नही चाहते थे क्योकि वे सहज-विरक्त थे। अत· पहले तो उन्होने इस प्रस्ताव का विरोध किया और अपने मित्रो से कहा – 'प्रिय मित्रो ! तुम जो विवाह के लिये आग्रह कर रहे हो, वह मोह-वृद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है। फिर भोग मे रोग का भय भी भुलाने की वस्तु नही है। माता-पिता को मेरे वियोग का दुख न हो इस लिये दीक्षा लेने हेतु उत्सुक होते हुए भी मैं अव तक दीक्षा नही ले रहा हूँ।"

जिस समय वर्द्धमान और उनके मित्रों मे परस्पर इस प्रकार की वात हो ही रही थी कि माता त्रिशलादेवी वहा आ पहुंची। भगवान् ने खड़े होकर माता के प्रति आदर प्रदर्शित किया। माता त्रिशला ने कहा – "वर्द्धमान ! मैं जानती हू कि तुम भोगों से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रवल इच्छा है कि तुम योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो।"

अन्ततोगत्वा माता-पिता के आग्रह के सामने महावीर को झुकना पड़ा

---

[1] अन्नया अवितअट्ठवासजाते · ·· तप्पभिति च ण ऐंद्र व्याकरण सवृत्त,
[आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २४८]

और वसतपुर के महासामन्त समरवीर की प्रिय पुत्री यशोदा[1] के साथ शुभ-मुहूर्त मे उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। सच है, भोगकर्म तीर्थंकर को भी नही छोडते।

गर्भकाल मे ही माता के स्नेहाधिक्य को देख कर महावीर ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, वे दीक्षा ग्रहण नही करेंगे। माता-पिता को प्रसन्न रखने के इस अभिग्रह के कारण ही महावीर को विवाह-वन्धन में वधना पड़ा।

भगवान् महावीर के विवाह के सम्वन्ध मे कुछ विद्वान् शकाशील हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति आदि सभी ग्रन्थो मे विवाह की चर्चा है। पर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो में यह स्वीकृत नही है। माता-पिता का विवाह के लिये अत्याग्रह और विभिन्न राजाओं द्वारा अपनी कन्याओ के लिये प्रार्थना एवं जितशत्रु की पुत्री यशोदा के लिये सानुनय निवेदन उन ग्रन्थो मे भी मिलता है। भगवान् महावीर विवाहित थे या नही, इस शका का आधार शास्त्र मे प्रयुक्त 'कुमार' शब्द है। उसका सही अर्थ समझ लेने पर समस्या का सरलता से समाधान हो सकता है। दोनो परम्पराओ मे वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाच तीर्थंकरों को 'कुमार प्रव्रजित' कहा है। कुमार का अर्थ अकृत-राज्य और अविवाहित दोनों मान लिया जाय जैसा कि एकविशतिस्थान प्रकरण[2] की टीका मे लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के तिलोयपन्नत्ती, हरिवशपुराण और पद्मपुराण[3] मे भी पाच तीर्थंकरो के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरो के राज्य करने का उल्लेख मिलता है। लोक प्रकाश मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेप नही थे अत. उन्होने विना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की।[4]

---

[1] उम्मुक्क वालभावो कमेण अह जोव्वण अणुपत्तो।
भोगसमत्थ णाउ, अम्मापियरो उ वीरस्स। ७८
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे, महन्त सामत कुलप्पसूयाए।
कारेन्ति पाणिग्गहणं, जसोयवर रायकण्णाए। ७९
[आ० नि० भा०, पृ० २५६]

[2] एकविंशतिस्थान प्रकरण मे कहा है 'वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया। रज्जं काउ सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया।' ३४। वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था मे प्रव्रजित हुए। शेप तीर्थंकरो ने राज्य किया। मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए।

[3] कुमाराः निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ।। पद्म० पु०, २०।६७

[4] अभोगफलकर्माणौ, मल्लिनेमिजिनेश्वरौ।
निरीयतुरनुद्वाहौ, कृतोद्वाहापरे जिनाः ।१००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

'कुमार' शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुआरा-अविवाहित नही होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है।[1] इसी लिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छिअभिसेया, कुमार वासमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास मे प्रव्रज्या लेना माना है।

मातापिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी ज्ञानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे ससार में रह कर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे। उनके ससारवास का प्रमुख कारण था कृतकर्म का उदयभोग और वाह्य कारण था माता-पिता का अतुल स्नेह। महावीर के मातापिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। वहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिए अर्हत्, सिद्ध एव आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया और दोषो से हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया तथा डाभ के सथारे पर वैठ कर चतुर्विध आहार का त्याग कर, सथारा ग्रहण किया और फिर अपश्चिम मरणान्तिक सलेखना से भूषित शरीर वाले काल के समय मे काल कर अच्युत कल्प (वारहवे स्वर्ग) मे देव रूप से उत्पन्न हुए।[2] वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह मे उत्पन्न होगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।

त्याग की ओर

मातापिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उस समय वे २८ वर्ष के थे। प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनों के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की। किन्तु नन्दिवर्धन इस वात को सुन कर वहुत दु खी हुए और वोले – "अभी माता-पिता के वियोगजन्य दु.ख को तो हम भूल ही नही पाये कि इसी वीच तुम भी प्रव्रज्या की वात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिडकने जैसा है। अत कुछ काल के लिए ठहरो, फिर प्रव्रज्या लेना। तव तक हम शोकरहित हो जायं।"[3]

---

[1] (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके वालके शुके। शव्दरत्न सम० कोप, पृ० २६८

(ख) युवराजः कुमारो भर्तृदारकः। अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६

(ग) कुमार–सन, वॉय, यूथ, ए वॉय विलो फाइव, ए प्रिन्स। आप्टे सस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३।

(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक ॥ अमरकोष, कांड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५।

[2] समणस्सण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था।········ अच्चुएकप्पे देवताए उववण्णा। ···· महाविदेहवासे चरिमेण।

[आवश्यक चू, १ भा, पृ २४९]

[3] अच्छह कचिकाल, जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि। आचा २।१५। (भावना)

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि इन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय मेरे प्रव्रजित होने पर ये सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड देंगे। ऐसा सोच कर उन्होने कहा – "अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा ?" इस पर स्वजनो ने कहा – "कम से कम अभी दो वर्ष तक तो ठहरना ही चाहिए।" महावीर ने उन सब की बात मान ली और बोले – "इस अवधि मे मैं आहारादि अपनी इच्छानुसार करूंगा।" स्वजनो ने भी सहर्ष यह बात स्वीकार की।

दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्तभाव से घर में रहे, पर सचित्त जल और रात्रि-भोजन का उपयोग नही किया। ब्रह्मचर्य का भी पालन किया।[1] टीकाकार के उल्लेखानुसार महावीर ने इस अवधि में प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था। वे पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाए भी अचित्त जल से ही करते थे। भूमि-शयन करते एव क्रोधादि से रहित हो एकत्वभाव मे लीन रहते।[2] इस प्रकार एक वर्ष तक वैराग्य की साधना कर प्रभु ने वर्षीदान प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओ का दान करते हुए उन्होने वर्ष भर मे तीन अरब अठ्यासी करोड एव अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओ का दान किया।

तीस वर्ष की आयु होने पर ज्ञात-पुत्र महावीर की भावना सफल हुई। उस समय लोकान्तिक देव अपनी नियत मर्यादा के अनुसार आये और महावीर को निम्न प्रकार से निवेदन करने लगे – "भगवन् ! दीक्षा ग्रहण कर समस्त जीवो के हितार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।"

भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और चाचा सुपार्श्व आदि की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा की तैयारी की। नन्दिवर्धन ने भगवान् के निष्क्रमण की तैयारी के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषो को आदेश दिया – "एक हजार आठ सुवर्ण, रूप्य आदि के कलश तैयार करो।"

आचाराग के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जान कर चार प्रकार के देव और देवियो के समूह अपने-अपने विमानो से सम्पूर्ण ऋद्धि और क्रान्ति के साथ आये और उत्तर क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश मे उतरे। वहा उन्होने वैक्रियशक्ति से सिंहासन की रचना की। सबने मिल कर महावीर को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। उन्होने शतपाक एव सहस्रपाक

---

[1] (क) अविसाहिए दुवेवासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खते, अफासुग आहार राइभत्त च अणाहारेंतो अविसाहिए दुते वासे, सीतोद अभोच्चा णिक्खते [आव चूर्णि, पृ २४६]

(ख) आचा, प्र ६, अ ११।

[2] (क) आचा प्र टीका, पृ २७५। समिति

(ख) बभयारी असजमवावाररहितो ठिओ, ण य फासुगेण विण्हातो, हत्थपादसोयण तु फासुगेण आयमण च। .... णाय बधवेहिवि अतिणेह कतव। आव चू १, पृ. २४६

तेल से महावीर का अभ्यगन किया और स्वच्छ जल से मज्जन कराया। गन्ध-कापाय वस्त्र से शरीर पोछा और गौशीर्ष चन्दन का लेपन किया। भार मे हल्के और मूल्यवान् वस्त्र एव आभूपण पहनाये। कल्पवृक्ष की तरह समलकृत कर देवों ने वर्द्धमान (महावीर) को चन्द्रप्रभा नामक शिविका मे आरूढ किया। मनुष्यो, इन्द्रो और देवो ने मिल कर शिविका को उठाया।

राजा नदिवर्धन गजारूढ हो चतुरगिणी सेना के साथ भगवान् महावीर के पीछे-पीछे चल रहे थे। प्रभु की पालकी के आगे घोडे, दोनो ओर हाथी और पीछे रथ चल रहे थे।

इस प्रकार विशाल जन-समूह से घिरे प्रभु क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्यभाग से होते हुए ज्ञातृ-खण्ड-उद्यान मे आये और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। आभूषणों एव वस्त्रो को हटा कर प्रभु ने अपने हाथ से पच-मुष्टि लोच किया। वैश्रमण देव ने हस के समान श्वेत वस्त्र मे महावीर के वस्त्रालकार ग्रहण किये। शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक वज्रमय थाल मे प्रभु के लु चित केश ग्रहण किये तथा "अनुजानासि" कह कर तत्काल क्षीरसागर मे उनका विसर्जन किया।

दीक्षा

उस समय हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, मृगशिर कृष्णा दशमी तिथि का समय, सुव्रत दिवस, विजय नामक मुहूर्त और चतुर्थ प्रहर मे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। ऐसे शुभ समय मे निर्जल वेले की तपस्या से प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। शक्रेन्द्र के आदेश से दीक्षा प्रसग पर वजने वाले वाद्य भी वन्द हो गये और सर्वत्र शान्ति छा गई।[1]

प्रभु ने देव-मनुष्यो की विशाल परिपद् के समक्ष सिद्धो को नमस्कार करते हुए यह प्रतिज्ञा की – "सव्व मे अकरणिज्ज पाव कम्म"। अव से मेरे लिए सव पाप-कर्म अकरणीय है अर्थात् मैं इसके वाद किसी भी प्रकार के पाप-कार्य मे प्रवृत्ति नही करूगा। यह कहते हुए प्रभु ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। उन्होने प्रतिज्ञा की – "करेमि सामाइय सव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि"। आज से सम्पूर्ण सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हू।"

जिस समय प्रभु ने यह प्रतिज्ञा स्वीकार की उस समय देव-मनुष्यो की सम्पूर्ण परिपद् चित्रलिखित सी रह गई। सभी देव और मनुष्य शान्त एव निर्निमेप-नेत्रो से उस नयनाभिराम दृश्य को देख रहे थे जो राग पर त्याग की विजय के रूप मे उन सवके सामने प्रत्यक्ष था।

महावीर के सामने सुख-साधनो की कोई कमी नही थी और न कमी थी चाहने वालो की, प्यार और सत्कार करने वालो की, फिर भी सव कुछ ठुकरा

---

[1] (क) 'दिव्वो मणुस्सघोसो, तुरियणिणाओ य सक्कवयणेण।'
खिप्पामेव णिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्त ।१। आचा भा ।
(ख) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २६२

कर वे साधना के कटकाकीर्ण पथ पर वढ चले। चारित्र ग्रहण करते ही भगवान् को मन पर्यवज्ञान हो गया। इससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियो के मनोगत भावों को महावीर जानने लगे।

महावीर का अभिग्रह और विहार

सवको विदा कर प्रभु ने निम्न अभिग्रह धारण किया :-

"आज से साढे वारह वर्ष पर्यंत, जव तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तव तक मै देह की ममता छोड कर रहूंगा अर्थात् इस वीच मे देव, मनुष्य या तिर्यंच जीवो की ओर से जो भी उपसर्ग-कष्ट उत्पन्न होगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक्-रूपेण सहन करूगा।[1] अभिग्रह ग्रहण के पश्चात् उन्होने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार किया। उस समय वहा उपस्थित सारा जनसमूह जाते हुए प्रभु को तव तक देखता रहा जव तक कि वे उसकी आंखो से ओझल नही हो गये। भगवान् सध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेप रहते कूर्मारग्राम पहुचे,[2] तथा वहा ध्याना-वस्थित हो गये।

कई आचार्यो की मान्यता है कि साधना मार्ग में प्रविष्ट होकर जव भगवान् ने विहार किया तो मार्ग मे एक वृद्ध ब्राह्मण मिला जो वर्षीदान के समय नही पहुंच सका था। कुछ न कुछ मिलेगा, इस आशा से वह भगवान् के पास पहुचा। भगवान् ने उसकी करुणाजनक स्थिति देख कर कधे पर रखे हुए देवदूष्य वस्त्र मे से आधा फाड कर उसको दे दिया। कल्पसूत्र मूल या अन्य किसी शास्त्र मे इसका उल्लेख नही मिलता। आचारांग और कल्पसूत्र में १३ मास के वाद देवदूष्य का गिरना लिखा है, पर आधा ब्राह्मण को देने का उल्लेख नही है। चूर्णि, टीका आदि में ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य मिलता है।

प्रथम उपसर्ग और प्रथम पारणा

जिस समय भगवान् कुर्मारग्राम के वाहर स्थाणु की तरह अचल ध्यानस्थ खडे थे, उस समय एक ग्वाला अपने वैलो सहित वहां आया। उसने महावीर के पास वैलो को चरने के लिये छोड़ दिया और गाय दूहने के लिये स्वयं पास के गांव मे चला गया। पशु-स्वभाव से वैल चरते-चरते वहां से वहुत दूर कही निकल गये। कुछ समय वाद जव ग्वाला लौटकर वहां आया तो वैलो को वहा नही देख कर उसने पास मे खड़े महावीर से पूछा – 'कहो, हमारे वैल कहां गये?' ध्यानस्थ महावीर की ओर से कोई उत्तर नही मिलने पर वह स्वयं उन्हें ढूढने

---

[1] वारस वासाइ वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जति, त जहा, दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पणे, समाणे सम्म सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥ आचा०, श्रु० २, अ० २३, पत्र ३६१।

[2] तओ ण समणस्स भगवओ ·····दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारगाम समणुपत्ते।
[आचाराग भावना]

के लिये जंगल की ओर चला गया। सयोगवश सारी रात खोजने पर भी उसे वैल नही मिले।

कालान्तर में वैल यथेच्छ चर कर पुनः महावीर के पास आकर वैठ गये। वैल नही मिलने से उद्विग्न ग्वाला प्रात.काल वापिस महावीर के पास आया और अपने वैलो को वहा वैठे देख कर आगववूला हो उठा। उसने सोचा कि निश्चय ही इसने रात भर वैलो को कही छुपा रखा था। इस तरह महावीर को चोर समझ कर वह उन्हे वैल वांधने की रस्सी से मारने दौडा।

इन्द्र जो भगवान् की प्राथमिकचर्या को जानना चाहता था, उसने जव यह देखा कि ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने के लिये झपट रहा है तो वह भगवान् की रक्षार्थ निमेषार्ध में ही वहा आ पहुंचा। ग्वाले के उठे हुए हाथ दैवी प्रभाव से उठे के उठे ही रह गये। इन्द्र ने ग्वाले के सामने प्रकट हो कर कहा – "ओ मूर्ख! तू यह क्या कर रहा है? क्या तू नही जानता कि ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्द्धमान राजकुमार हैं? आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने हेतु दीक्षा धारण कर साधना मे लीन हैं।"[1]

इस घटना के वाद इन्द्र भगवान् से अपनी सेवा लेने की प्रार्थना करने लगा। परन्तु प्रभु ने कहा – 'अर्हन्त केवलज्ञान और सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नहीं लेते जिनेन्द्र अपने वल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते है।" फिर भी इन्द्र ने अपने संतोषार्थ मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में नियुक्त किया और स्वय भगवान् को वन्दन कर चला गया।[2]

दूसरे दिन भगवान् वहा से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश मे आये और वहा वहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर) से छट्ठ तप का प्रथम पारणा किया।[3] 'अहो दानमहो दानम्' के दिव्यघोष के साथ देवगण ने नभमण्डल से पच-दिव्यो की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

भगवान् महावीर की साधना

आचारागसूत्र और कल्पसूत्र मे महावीर की साधना का वहुत विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दीक्षित होकर महावीर ने अपने पास देवदूष्य

---

[1] त्रि० श० पु० च०, १०।३।१७ से २६ श्लो०

[2] (क) आव०चू० १, पृ० २७०। सक्को पडिगतो, सिद्धत्थठितो।
(ख) नापेक्षा चक्रिरे ऽर्हन्त. पर साहायिकं क्वचित्। २९
केवल केवलज्ञान, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यत॰।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्रा परम पदम्। ३१।
त्रि० श० पु० च०, १०।३।२९ से ३३।

[3] (क) आचाराग द्वितीय भावना ॥
(ख) वीय दिवसे छट्ठ पाल्लणए कोल्लाए सन्निवेसे घयमहुसजुत्तेण परमन्नेण वहुलेण माहणेण पडिलाभितो, पंच दिव्या। आव चू०, २७० पृ०।

वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नही रखा। लगभग तेरह मास तक वह वस्त्र भगवान् के कधे पर रहा। तत्पश्चात् उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्णरूपेण अचेल हो गये।

अपने साधनाकाल मे वे कभी निर्जन झोपड़ी, कभी कुटिया, कभी धर्मशाला या प्याऊ मे निवास करते थे। शीतकाल मे भयंकर से भयकर ठंड पडने पर भी वे कभी वाहुओ को नही समेटते थे। वे नितान्त सहज मुद्रा मे दोनों हाथ फैलाये विचरते रहे। शिशिरकाल मे जब जोर-जोर से सन् सनाता हुआ पवन चलता, कडकडाती सर्दी जब शरीर को ठिठुरा कर असह्य पीड़ा पहुंचाती, उस समय दूसरे साधक शीत से वचने हेतु गर्म स्थान की गवेषणा करते, गर्म वस्त्र वदन पर लपेटते और तापस आग जला कर सर्दी भगाने का प्रयत्न करते परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ऐसे समय मे भी खुले स्थान मे नंगे खड़े रहते और सर्दी से वचाव की इच्छा तक भी नही करते।[1]

खुले शरीर होने के कारण सर्दी-गर्मी के अतिरिक्त उनको दंश-मशक आदि के कष्ट एव कई विविध कोमल तथा कठोर स्पर्श भी सहन करने पड़ते। निवास-प्रसग मे भी जो प्राय. शून्य स्थानो मे होता, प्रभु को विविध उपसर्गों का सामना करना पड़ता। कभी सर्पादि विषैले जन्तु और काक, गीध आदि तीक्ष्ण चञ्चु वाले पक्षियो के प्रहार भी सहन करने पडते।

कभी-कभी साधनाकाल मे दुष्ट लोग उन्हे चोर समझ कर उन पर शस्त्रो से प्रहार करते, एकान्त मे पीटते और अत्यधिक तिरस्कार करते। कामातुर नारियां उन्हे भोग-भावना से विमुख देख विविध उपसर्ग देती किन्तु उन सारी बाधाओ और उपसर्गों के वीच भी प्रभु समभाव से अचल, शान्त और समाधिस्थ रहते, कभी किसी प्रकार से मन में उद्वेग नही लाते और रात-दिन समाधिभाव से ध्यान करते रहते। जहा भी कोई स्थान छोड़ने के लिये कहता, सहर्ष वहा से हट जाते थे। साधनाकाल मे महावीर ने प्रायः कभी नीद नही ली, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जब उन्हे निद्रा सताती तो वे खड़े हो जाते अथवा रात्रि मे कुछ समय चक्रमण कर नीद को भगा देते थे। इस प्रकार प्रतिक्षण, प्रतिपल जागृत रह कर वे निरन्तर ध्यान, चिन्तन और कायोत्सर्ग मे रमण करते।

विहार के प्रसंग मे प्रभु कभी अगल-वगल या मुड़ कर पीछे की ओर नही देखते थे। मार्ग मे वे किसी से वोलते नही थे। क्षुधा-शान्ति के लिये वे कभी आधाकर्मी या अन्य सदोष आहार ग्रहण नही करते थे। लाभालाभ मे समभाव रखते हुए वे घर-घर भिक्षाचर्या करते। महल-झोपडी या सधन-निर्धन का उनकी भिक्षाचर्या मे कोई भेद-भाव नही होता था। साथ ही आहार के लिये वे कभी किसी के आगे दीन-भाव भी नही दिखाते। सुस्वादु पदार्थों की आकाक्षा नही करते हुए अवसर पर जो भी रूखा-सूखा ठडा-वासी, उडद, सूखा भात,

[1] आ० प्र०, ६।१।४५

थंथु-वोर की कुट्टी आदि आहार मिल जाता उसे वे निस्पृह भाव से ग्रहण कर लेते।[1]

शरीर के प्रति महावीर की निर्मोहभावना बड़ी आश्चर्यमयी थी। वे न सिर्फ शीतातप की ही उपेक्षा करते वल्कि रोग उत्पन्न होने पर भी कभी औषध-सेवन नही करते। आख मे रज-कण आदि के पड जाने पर भी वे उसे निकालने की इच्छा नही रखते थे। कारणवश शरीर खुजलाने तक का भी वे प्रयत्न नही करते थे। इस तरह देह के ममत्व से अत्यन्त ऊपर उठ कर वे सदेह होते हुए भी विदेहवत् प्रतीत होते थे।

दीक्षा के समय जो दिव्य सुगन्धित वस्त्र और विलेपन उनके शरीर पर थे, उनकी उत्कट सुवास-सुगन्ध से आकृष्ट होकर चार मास तक भ्रमर आदि सुरभिप्रेमी कीट उनके शरीर पर मडराते रहे और अपने तीक्ष्ण दश से पीड़ा पहुंचाते रहे, मास को नोचते रहे, कीडे शरीर का रक्त पीते रहे, पर महावीर ने कभी उफ् तक नही किया और न उनका निवारण ही किया। वस्तुत साधना की ऐसी अनुपम सहिष्णुता का उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

साधना का प्रथम वर्ष

'कोल्लाग' सन्निवेश से विहार कर भगवान् महावीर 'मोराक' सन्निवेश पधारे। वहा 'दूइज्जतक' नाम के पापंडस्थों के आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। महावीर को आते देख कर वह स्वागतार्थ सामने आया और उनसे वहा ठहरने की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थना को मान देकर महावीर ने रात्रिपर्यन्त वहा रहना स्वीकार किया।[1]

दूसरे दिन जव महावीर वहा से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने भावपूर्ण आग्रह के साथ कहा – "यह आश्रम दूसरे का नही, आपका ही है, अतः वर्षाकाल मे यही रहे तो वहुत अच्छा रहेगा।" कुलपति की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए भगवान् कुछ समय के लिये आसपास के ग्रामो मे घूम कर पुन· वर्पावास के लिये वही आ गये और एक पर्णकुटी मे रहने लगे।

महावीर के हृदय मे प्राणिमात्र के लिये मैत्री-भावना थी। किसी का कष्ट देख कर उनका मन दया से द्रवित हो जाता था। यथासंभव, किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने देना, यह उनका अटल संकल्प था। सयोगवश उस वर्प पर्याप्त रूप से वर्पा नही होने के कारण कृपि तो दरकिनार घास, दूव,

---

[1] अविसूइय वा, सुक्क वा सीयपिंड पुराण कुम्मास। अदुवुक्कस पुलाग वा,
[आचाराग भा० ४]

[1] (क) ताहे सामी विहरमाणो गतो मोराग सन्निवेस, तत्थ दूइज्जतगाणाम पासडत्था
आव चू उपोद्घात नि, पृ० २७१

(ख) अन्यदा विहरन् स्वामी मोराके सन्निवेशने।
[त्रि श पु. च, १०।३।४९ से]

वल्लरी, पत्ते आदि भी बराबर अकुरित नहीं हुए। परिणामत. भूखों मरती गाये आश्रम की झोंपड़ियो के तृण खाने लगी। अन्यान्य कुटियों में रहने वाले परिव्राजक गायों को भगा कर अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते, पर महावीर सम्पूर्ण सावद्य कर्म के त्यागी और निस्पृह होने के कारण सहज भाव से ध्यान मे खड़े रहे। उनके मन मे न कुलपति पर राग था और न गायों पर द्वेष। वे पूर्ण निर्मोही थे। किसी को पीड़ा पहुंचाना उनके साधु-हृदय को स्वीकार नही हुआ। अतः वे इन बातो की ओर ध्यान न देकर रात-दिन अपने ध्यान में ही निमग्न रहे।

जब दूसरे तापसो ने कुलपति से कुटी की रक्षा न करने के सम्बन्ध मे महावीर की शिकायत की तो मधुर उपालभ देते हुए कुलपति ने महावीर से कहा – "कुमार! ऐसी उदासीनता किस काम की? अपने घोंसले की रक्षा तो पक्षी भी करता है, फिर आप तो क्षत्रिय राजकुमार हैं। क्या आप अपनी झोंपड़ी भी नही सभाल सकते?" महावीर को कुलपति की बात नही जची। उन्होंने सोचा– "मेरे यहा रहने से आश्रमवासियों को कष्ट होता है, कुटी की रक्षा का प्रश्न तो एक बहानामात्र है। सचेतन प्राणियो की रक्षा को भुला कर क्या मैं अचेतन कुटी के संरक्षण के लिए ही साधु बना हूं? महल छोड़ कर पर्णकुटीर में बसने का क्या मेरा यही उद्देश्य है कि आपद्ग्रस्त जीवो को जीने में बाधा दूं? और ऐसा न कर सकूं तो अकर्मण्य तथा अनुपयोगी सिद्ध होऊं। मुझे अब यहा नही रहना चाहिये।" ऐसा सोच कर उन्होने वर्षाऋतु के पन्द्रह दिन बीत जाने पर वहा से विहार कर दिया। उस समय प्रभु ने पांच प्रतिज्ञाए[१] ग्रहण कीं। यथा :–

(१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी नही रहूँगा।
(२) सदा ध्यान मे ही रहूँगा।
(३) मौन रखूगा, किसी से नही बोलूगा।
(४) हाथ में ही भोजन करूंगा। और
(५) गृहस्थो का कभी विनय नही करूगा।

मूल शास्त्र मे इन प्रतिज्ञाओ का कही उल्लेख नही मिलता। परम्परा से प्रत्येक तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक प्रायः मौन माने गये हैं। आचाराग के अनुसार महावीर ने कभी परपात्र मे भोजन नही किया।[२] परन्तु मलयगिरी ने प्रतिज्ञा से

---

[१] (क) इमेण तेण पच अभिग्गहा गहिया ......

[आ. मलय नि, पत्र २६८ (१)]

(ख) इमेथ तेण पच अभिग्गहा गहिता .....

[आवश्यक चू, पृ० २७१]

(ग) नाप्रीतिमद् गृहे वास., स्थेय प्रतिमया सह।
न गेहिविनय कार्यो, मौनं पाणौ च भोजनम्॥

[कल्पसूत्र सुबोधा०, पृ० २८८]

[२] नो सेवई य परवत्थ, परपाए वि से न भु जित्था

[आचा., १।९।१, गा० १९]

पूर्व भगवान् का गृहस्थ के पात्र में आहार ग्रहण करना स्वीकार किया है।[1] यह शास्त्रीय परम्परा से विचारणीय है।

अस्थिग्राम में यक्ष का उपद्रव

आश्रम से विहार कर महावीर अस्थिग्राम की ओर चल पड़े। वहा पहुँचते-पहुँचते उनको सध्या का समय हो गया। वहां प्रभु ने एकान्त स्थान की खोज करते हुए नगर के वाहर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में ठहरने की अनुमति ली। उस समय ग्रामवासियों ने कहा – "महाराज! यहां एक यक्ष रहता है, जो स्वभाव से क्रूर है। रात्रि में वह यहां किसी को नही रहने देता। अत. आप कही अन्य स्थान में जाकर ठहरें तो अच्छा रहेगा। पर भगवान् ने परीपह सहने और यक्ष को प्रतिवोध देने के लिए वही ठहरना स्वीकार किया। भगवान् वहा एक कोने में ध्यानावस्थित हो गये।[2]

संध्या के समय पूजा के लिए पुजारी इन्द्रशर्मा यक्षायतन मे आया। उसने पूजा के वाद सव यात्रियो को वहां से वाहर निकाला और महावीर से भी वाहर जाने को कहा किन्तु वे मौन थे। इन्द्रशर्मा ने वहा होने वाले यक्ष के भयंकर उत्पात की सूचना दी फिर भी महावीर वही स्थिर रहे। आखिर इन्द्रशर्मा वहां से चला गया।

रात्रि मे अंवकार होने के पश्चात् यक्ष प्रकट हुआ। भगवान् को ध्यानस्थ देख कर वह वोला – "विदित होता है, लोगो के निषेध करने पर भी यह नही माना। सभवतः इसे मेरे पराक्रम का पता नही है।" इस विचार से उसने भयंकर अट्टहास किया जिससे सारा वन-प्रदेश काप उठा। किन्तु महावीर सुमेरु की तरह अडोल वने रहे। उसने हाथी का रूप वना कर महावीर को दातों से वुरी तरह गोदा और उन्हे पैरो से रौदा फिर भी प्रभु चलायमान नही हुए। तव पिशाच का रूप वना कर उसने तीक्ष्ण नखो व दातो से महावीर के शरीर को नोचा, सर्प वन कर डसा फिर भी महावीर ध्यान मे स्थिर रहे। वाद में उसने महावीर के आख, कान, नासिका, शिर, दात, नख और पीठ इन सात स्थानो मे ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की[3] कि साधारण प्राणी तो छटपटा कर तत्काल प्राण ही छोड दे। पर महावीर सभी प्रकार के कष्टो को शान्त भाव से सहते

---

[1] (क) प्रथम पारणक गृहस्थपात्रे वभूव, तत. पाणिपात्रभोजिना मया भवितव्यमित्यभिग्रहो गृहीतः।

[आव. म टी, प २६८ (२)]

(ख) भगवया पढम पारणगे परपत्तमि भुत्त ॥महावीर चरिय॥

[2] अथ ग्राम्यैरनुज्ञातो, वोधार्हं व्यन्तर विदन्। तदायतनैककोणे, तस्थौ प्रतिमया प्रभुः।

[त्रि. श पु. च, १०।३।२१७]

[3] खोभेउं ताहे पभायसमए सत्तविह वेयणं करेति।

[आव. चू १ भाग, पृ० २७४]

रहे। परिणामस्वरूप यक्ष हार कर प्रभु के चरणो मे गिर पडा और अपने अपराध के लिए क्षमा मागते हुए[1] प्रणाम कर वहा से चला गया। रात्रि के अन्त मे उसके उपसर्ग बन्द हुए।

निद्रा और स्वप्न-दर्शन

मुहूर्त भर रात्रि शेष रहते-रहते महावीर को क्षण भर के लिए निद्रा आई। प्रभु के साधनाकाल मे यह प्रथम तथा अन्तिम निद्रावस्था थी। इस समय प्रभु ने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे :—

(१) एक ताड़-पिशाच को अपने हाथो पछाडते देखा।
(२) श्वेत पुंस्कोकिल उनकी सेवा मे उपस्थित है।
(३) विचित्र वर्ण वाला पुंस्कोकिल सामने देखा।
(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखी।
(५) एक श्वेत गौवर्ग सम्मुख खड़ा देखा।
(६) विकसित पद्म-सरोवर देखा।
(७) अपनी भुजाओ से महासमुद्र को तैरते हुए अपने आपको देखा।
(८) विश्व को प्रकाशित करते हुए सहस्र-किरण-सूर्य को देखा।
(९) वैदूर्य-वर्ण सी अपनी आतो से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा।
(१०) अपने आपको मेरु पर आरोहण करते देखा।

स्वप्न-दर्शन के बाद तत्काल भगवान् की निद्रा खुल गई, क्योकि निद्रा-ग्रहण के समय भगवान् खडे ही थे। उन्होने निद्रावरोध के लिए निरन्तर योग का मोर्चा लगा रखा था, फिर भी उदय के जोर से क्षण भर के लिए निद्रा आ ही गई। साधनाकालीन यह प्रथम प्रसग था जब क्षण भर भगवान् को नीद आई।[2] यह भगवान् के जीवनकाल की अन्तिम निद्रा थी।

निमित्तज्ञ द्वारा स्वप्न-फल कथन

उस गांव मे उत्पल नाम का एक निमित्तज्ञ रहता था। वह पहले भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का श्रमण था किन्तु सयोगवश श्रमण-जीवन से च्युत हो गया। उसने जब भगवान् महावीर के यक्षायतन में ठहरने की बात सुनी तो अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय हिल उठा।

---

[1] चक्रे सर्पे सुधाभूते, भूतराट् सप्तवेदना। · · · · ·
एकापि वेदना मृत्युकारण प्राकृते नरे।
अविसेहे तु ता स्वामी, सप्ताऽपियुगपद्भवा।

[त्रि श पु च, १०।३।१३१ से]

[2] (क) तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परितावितो,
पभायकाले मुहुत्तमेत्त निद्दापमाय गतो।

[आव म., पृ० २७०।१]

प्रात काल वह भी पुजारी के साथ यक्षायतन मे पहुँचा। वहा पर उसने भगवान् को ध्यानावस्था मे अविचल खड़े देखा तो उसके आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही। उसने रात मे देखे हुए स्वप्नों के फल के सम्बन्ध में प्रभु से निम्न विचार व्यक्त किये :-

(१) पिशाच को मारने का फल :- आप मोह कर्म का अन्त करेंगे।
(२) श्वेत कोकिल-दर्शन का फल :- आपको शुक्लध्यान प्राप्त होगा।
(३) विचित्र कोकिल-दर्शन से आप विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना करेंगे।
(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखने के स्वप्न का फल निमित्तज्ञ नही जान सका।
(५) श्वेत गौवर्ग देखने से आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे।
(६) पद्म-सरोवर विकसित देखने से चार प्रकार के देव आपकी सेवा करेंगे।
(७) समुद्र को तैर कर पार करने से आप ससार-सागर को पार करेंगे।
(८) उदीयमान सूर्य को विश्व मे आलोक करते देखा। इससे आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।
(९) आंतो से मानुषोत्तर पर्वत वेष्टित करने से आपकी कीर्ति सारे मनुष्य लोक मे फैलेगी।
(१०) मेरु-पर्वत पर चढने से आप सिंहासनारूढ होकर लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

चौथे स्वप्न का फल निमित्तज्ञ नही जान सका, इसका फल भगवान् ने स्वयं वताया - "दो रत्नमालाओं को देखने का फल यह है कि मैं दो प्रकार के धर्म, साधु धर्म और श्रावक धर्म का कथन करूंगा।" भगवान् के वचनो को सुनकर निमित्तज्ञ अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

अस्थिग्राम के इस वर्षाकाल में फिर भगवान् को किसी प्रकार का उपसर्ग प्राप्त नही हुआ। उन्होंने शान्तिपूर्वक पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास आठ वार किये। इस प्रकार यह प्रथम वर्षावास शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ।[1]

साधना का दूसरा वर्ष

अस्थिग्राम का वर्षाकाल समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने मोराक सन्निवेश की ओर विहार किया। मोराक पधार कर आप एक उद्यान मे विराजे। वहा अच्छंदक नाम का एक अन्यतीर्थी पाषडी रहता था जो ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

[1] आव० चू०, पृ० २७४-२७५

सिद्धार्थ देव ने प्रभु की महिमा बढ़ाने के लिए मोराक ग्राम के अधिकारी से कहा – "यह देवार्य तीन ज्ञान के धारक होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सब बातें जानते हैं।"

सिद्धार्थ देव की यह बात सब जगह फैल गई और लोग बड़ी संख्या में उस उद्यान मे आने लगे जहा पर कि प्रभु ध्यान मे तल्लीन थे। सिद्धार्थ आये हुए लोगो को उनके भूत-भविष्यत् काल की बाते बताता। उससे लोग बड़े प्रभावित हुए और इसके परिणामस्वरूप सिद्धार्थ देव सदा लोगो से घिरा रहता।

उन लोगो मे से किसी ने सिद्धार्थ देव से कहा – "यहा अच्छदक नामक एक अच्छा ज्योतिषी रहता है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने उत्तर दिया – "वह कुछ भी नही जानता। वास्तव मे देवार्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सच्चे जानकार है।"

सिद्धार्थ व्यन्तरदेव ने अच्छदक द्वारा किये गये अनेक गुप्त पापो को प्रकट कर दिया। लोगो द्वारा छानबीन करने पर सिद्धार्थ देव द्वारा कही गई सब बाते सच्ची सिद्ध हुईं। इस प्रकार अच्छंदक की 'सारी' पोपलीला की कलई खुल गई और लोगो पर जमा हुआ उसका प्रभाव समाप्त हो गया। भगवान् महावीर के उज्वल तप से प्रभावित जन-समुदाय दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक सख्या में प्रभु की सेवा में आने लगा।

अच्छंदक इससे बडा उद्विग्न हुआ। और कोई उपाय न देख कर वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा और करुण स्वर मे प्रार्थना करने लगा – "भगवन्! आप तो सर्वशक्तिमान् और निस्पृह है। आपके यहा विराजने से मेरी आजीविका समाप्तप्राय हो रही है। आप तो महान् परोपकारी हैं फिर मेरा वृत्तिछेद जो कि वधतुल्य ही माना गया है – वह आप कभी नही कर सकते। अतः आप मुझ पर दया कर अन्यत्र पधार जाय।"

भगवान् अच्छदक के अन्तर के मर्म को जान कर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वहा से विहार कर उत्तर वाचाला की ओर पधार गये।[१]

सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के कारण 'वाचाला' के उत्तर और दक्षिण दो भाग हो गये थे। सुवर्णकूला के किनारे प्रभु के स्कन्ध का देवदूष्य वस्त्र काटों में उलझ कर गिर पडा। प्रभु ने थोड़ा सा मुड़ कर देखा कि वह वस्त्र कही अस्थान मे तो नही गिर पड़ा है। काटो में उलझ कर गिरे वस्त्र को देख कर प्रभु ने समझ लिया कि शिष्यो को वस्त्र सुगमता से प्राप्त होगे। तदनन्तर प्रभु ने उस देवदूष्य को वही वोसिरा दिया और स्वयं अचेल हो गये और जीवन भर अचेल रहे।

देवदूष्य वस्त्र प्राप्त करने की लालसा से प्रभु के पीछे-पीछे घूमते रहने

[१] आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७७

वाले महाराज सिद्धार्थ के परिचित ब्राह्मण ने उस वस्त्र को उठा लिया[1] और वह अपने घर लौट आया।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

मोराक सन्निवेश से विहार कर प्रभु उत्तर वाचाला की ओर वढते हुए कनकखल नामक आश्रम पर पहुँचे। उस आश्रम से उत्तर वाचाला पहुचने के दो मार्ग थे। एक मार्ग आश्रम के वीच से होकर और दूसरा वाहर से जाता था। भगवान् सीधे मार्ग पर चल पड़े। मार्ग मे उन्हे कुछ ग्वाले मिले और उन्होने प्रभु से निवेदन किया – "भगवन्! जिस मार्ग पर आप वढ रहे हैं वह मार्ग एक भयंकर खतरे से भरा हुआ है। इस पथ पर आगे की ओर वन मे चण्डकौशिक नाम का दृष्टिविप वाला भयकर सर्प रहता है जो पथिको को देखते ही अपने विष से भस्म-सात् कर डालता है। उसकी विषैली फूत्कारो से आकाश के पक्षी भी भूमि पर गिर पडते है। वह इतना भयकर है कि किसी को देखते ही जहर वरसाने लगता है। उस चण्डकौशिक के उग्र विष के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख कर ठूंठ वन चुके है। अतः अच्छा होगा कि आप कृपा कर इस मार्ग को छोड़ कर दूसरे वाहर वाले मार्ग से आगे की ओर पधारे।"

भगवान् महावीर ने उन ग्वालों की वात पर कोई ध्यान न दिया और न कुछ उत्तर ही दिया। अकारण करुणाकर प्रभु ने सोचा कि चण्डकौशिक सर्प भव्य प्राणी है अतः वह प्रतिवोध देने से अवश्यमेव प्रतिबुद्ध होगा। चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए प्रभु उस घोर सकटपूर्ण पथ पर वढ़ चले।

वह चण्डकौशिक सर्प अपने पूर्वभव मे एक तपस्वी था। एक वार तप के पारण के दिन वह तपस्वी अपने एक शिष्य के साथ भिक्षार्थ निकले। भिक्षार्थ भ्रमण करते समय अज्ञात दशा मे उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक मण्डुकी दव गई। यह देख कर शिष्य ने कहा – "गुरुदेव! आपके पैर से दव कर मेढ़की मर गई।"

उन तपस्वी मुनि ने मार्ग मे दवी हुई एक दूसरी मेंढ़की की ओर अपने शिष्य का ध्यान आकर्पिक करते हुए कहा – "क्या इस मेढकी को भी मैंने मारा है?"

शिष्य ने सोचा कि सायकाल के प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव इस पाप की आलोचना कर लेंगे।

सायकाल के प्रतिक्रमण के समय भी तपस्वी मुनि अन्य आवश्यक आलोचनाए कर के वैठ गये और उस मेढकी के अपने पैर के नीचे दव जाने के पाप की आलोचना उन्होने नही की। शिष्य ने यह सोच कर कि गुरुदेव उस पाप की आलोचना करना भूल गये हैं अपने गुरु को याद दिलाते हुए कहा – "गुरुदेव!

---

[1] तत्थ सुवण्णकूलाए वुलिणे त वत्थ कटियाए लग्ग, ताहे त थित त एतेण पितुवतस-धिज्जातितेण गहित। [आवश्यक चूर्णि, पत्र २७७]

मण्डुकी आपके पैर के नीचे दव कर मर गई थी। आप उस पाप की आलोचना करना संभवतः भूल गये है।"

इस पर वे तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो अपने शिष्य को मारने के लिए उठे। क्रोधावेश मे ध्यान न रहने के कारण एक स्तम्भ से उनका शिर टकरा गया। इसके परिणामस्वरूप तत्काल उनके प्राण निकल गये और वे ज्योतिष्क जाति मे देव रूप से उत्पन्न हुए। वहा से आयुष्य पूर्ण कर उस तपस्वी का जीव कनकखल आश्रम के ५०० तापसो के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से वालक के रूप मे उत्पन्न हुआ। वालक का नाम कौशिक रखा गया। कौशिक वाल्यकाल से ही वड़ी चण्ड प्रकृति का था। उस आश्रम में कौशिक नाम के अन्य भी तापस थे इसलिए उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया।

समय पाकर चण्डकौशिक उस आश्रम का कुलपति वन गया। उसकी अपने आश्रम के वन के प्रति प्रगाढ ममता थी। वह तापसो को उस वन से फल नही लेने देता था अत. तापस उस आश्रम को छोड कर इधर-उधर चले गये।

उस आश्रम के वन में जो भी गोपालक आते उनको वह चण्डकौशिक मार-पीट कर भगा देता। एक वार पास की नगरी सेयविया के राजपुत्रों ने वहां आकर वनप्रदेश को उजाड़ कर नष्ट कर दिया। गोपालको ने चण्डकौशिक के वाहर से लौटने पर उसे सारी घटना सुना दी। चण्डकौशिक लकड़ियां डाल कर परशु हाथ मे लिए क्रुद्ध हो कुमारो के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ में लिए उन कुमारो के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे मे गिर पड़ा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन मे दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन मे किसी को नही आने देता था। आश्रम के वहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत वचे थे वे उस आश्रम को छोड़ कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड मे इधर से उधर चक्कर लगाता रहता और पक्षी तक को भी वन में देखता तो उसे तत्काल अपने भयंकर विष से जला डालता।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन मे पहुँचे। उन्होने बिना किसी भय और संशय के उस वन में स्थित यक्षगृह के मण्डप मे ध्यान लगाया। उनके मन में विश्वप्रेम की विमल गगा वह रही थी और विमल दृष्टि मे अमृत का सागर हिलोरें लेरहा था।

उनके मन में सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नही था। प्रभु के मन में चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा मे महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूत्कार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किंचित्मात्र भी असर नही हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश मे आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दष्ट्राघात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एवं अडोल खड़े ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत मधुर धारा वह रही है।

साधारण लोग इस वात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव मे आश्चर्य जैसी कोई वात नही है। देखा जाता है कि पुत्रवती मा के मन मे एक वालक के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

ऐसी दशा मे त्रैलोक्यैकमित्र जिन प्रभु के रोम-रोम मे प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण वात्सल्य हो उनके शरीर का रुधिर दूध सा श्वेत और मधुर हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

चण्डकौशिक चकित हो भगवान् महावीर की सोम्य, शान्त और मोहक मुखमुद्रा को अपलक दृष्टि से देखने लगा। उस समय उसने अनुभव किया कि भगवान् महावीर के रोम-रोम से अलौकिक विश्वप्रेम और शान्ति का अमृतरस वरस रहा है। चण्डकौशिक के विषमय दष्ट्राघात से वे न तो उद्विग्न हुए और न उसके प्रति किसी प्रकार का रोप ही प्रकट किया। चण्डकौशिक का क्रोधानल मेघ की जलधारा से दावानल की तरह शान्त हो गया।

चण्डकौशिक को शान्त देख कर महावीर ध्यान से निवृत्त हुए और वोले – "उवसम भो चण्डकोसिया! हे चण्डकौशिक! शान्त हो, जागृत हो, अज्ञान मे कहा भटक रहा है? पूर्व-जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हे सर्प वनना पड़ा है। अव भी सभलो तो भविष्य नही विगड़ेगा, अन्यथा इससे भी निम्न भव मे भ्रमण करना पड़ेगा।"

भगवान् के इन सुधासिक्त वचनो को सुन कर 'चण्डकौशिक' जागृत हुआ, उसके अन्तर्मन मे विवेक की ज्योति जल उठी। पूर्वजन्म की सारी घटनाए चल-चित्र की भाति एक-एक कर उसके नेत्रो के सामने नाचने लगी।[1] वह अपने कृत कर्म के लिए पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्छल-विमल करुणा के आगे उसका पापाणहृदय भी पिघल कर पानी वन गया। उसने शुद्ध मन से सकल्प किया – "अव मैं किसी को भी नही सताऊगा और न आज से मरणपर्यन्त कभी अशन ही ग्रहण करूगा।"

---

[1] न ड्ही चिता-सरण जोइस कोवाहि जाओऽह-।　　　　[आव नि., गा. ४६७]

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिए इधर-उधर दूर खड़े थे किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नहीं पडा देख कर वह धीरे-धीरे पास आये और प्रभु के अलौकिक प्रभाव को देख कर चकित हो गये। चण्डकौशिक सर्प को प्रतिवोध दे प्रभु अन्यत्र विहार कर गये। सर्प विल में मुह डाल कर पड गया। लोगो ने ककर मार-मार कर उसको चलित-चित्त वनाने का प्रयास किया पर नाग विना हिले-डुले ज्यो का त्यो पडा रहा। उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमा के रूप मे वदल चुका था। नाग के इस वदले हुए जीवन को देख व सुन कर आवाल वृद्ध नर नारी उसकी अर्चा-पूजा करने लगे। कोई उसे दूध शक्कर चढाता तो कोई कु कुम का टीका लगाता। इस तरह मिठास के कारण थोड़े ही समय में वहुत सी चीटिया आ आ कर नाग के शरीर से चिपट गई और काटने लगी, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावो मे आयु पूर्ण कर उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की।[1] भगवान् के उद्‌वोधन से चण्डकौशिक ने अपने जीवन को सफल वनाया। उसका उद्धार हो गया।

विहार और नौकारोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे। वहा उनका नाग सेन के यहा पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ। फिर वहा से विहार कर प्रभु श्वेताम्विका नगरी पधारे। वहा के राजा प्रदेशी ने भगवान् का खूब भावभीना सत्कार किया।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। वीच मे गंगा नदी वह रही थी। अतः गगा पार करने के लिये प्रभु को नौका में वैठना पडा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्योही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुन कर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा – "वडा संकट आने वाला है, पर इस महापुरुष के प्रवल पुण्य से हम सब वच जायेंगे।"[2] थोडी दूर आगे बढते ही आधी के प्रवल झोको मे पड कर नौका भवर मे पड गई। कहा जाता है कि त्रिपृष्ट के भव मे महावीर ने जिस सिह को मारा था उसीके जीव ने वैर-भाव के कारण सुदष्ट्र देव के रूप से गगा मे महावीर के नौकारोहण के वाद तूफान खडा किया। यात्रीगण घवराये पर महावीर निर्भय-अडोल थे। अन्त मे प्रभु की कृपा से आधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी। कम्वल और शम्वल नाम के नागकुमारो ने इस उपसर्ग के निवारण में प्रभु की सेवा की।

पुष्य निमित्तज्ञ का समाधान

नाव से उतर कर भगवान् गगा के किनारे 'स्थूणाक' सन्निवेश पधारे और वहा ध्यान-मुद्रा मे खड़े हो गये। गाव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ को भगवान्

[1] अद्धमासस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो। [आ चू. १, पृ २७६]

[2] आ० चू० पूर्वभाग, पृ० २८०

के चरण-चिह्न देख कर विचार हुआ—"इन चिह्नो वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिये। सभव है सकट मे होने से वह अकेला घूम रहा हो। मैं जाकर उसकी सेवा करू।" इन्ही विचारो से वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ वडी आशा से भगवान् के पास पहुचा। किन्तु भिक्षुकरूप मे भगवान् को खड़े देख कर उसके आश्चर्य का पारावार नही रहा। वह समझ नही पाया कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गगा में वहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा—'पडित! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुप नही, धर्म-चक्रवर्ती है, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रो के वन्दनीय हैं।' पुष्य की शका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।[1]

गोशालक का परिचय

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्पावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहां प्रभु एक तन्तुवाय-शाला मे ठहरे हुए थे। मखलिपुत्र गौशालक भी उस समय वहां वर्पावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आर्कापित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहां हुआ। उस समय पच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश मे देव-दुन्दुभि वजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने ससार परिमित किया और देव-आयु का वन्ध[2] किया। राजगृह मे सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्पाकाल भर के लिये मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके वाद तीसरा मास खमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहा क्षीर से सम्पन्न हुआ।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा—'हे तपस्वी! मुझे आज भिक्षा मे क्या मिलेगा?' सिद्धार्थ ने कहा—'कोदो का वासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।[4]

---

[1] आ० चू० १, पृ० २८२।

[2] विजयस्स गाहावइस्स तेण दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण, तिविहेण तिकरण सुद्धेण दाणेण मए पड़िलाभिए समाणे, देवाउए निवद्धे, संसारे परित्तीकए गिहसि य से, इमाइ पंचदिव्वाइ पाउब्भूयाइ। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

[3] तच्च मासक्खमण पारणगसि ततुवाय सालाओ...... [भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

[4] सिद्धार्थ. स्वामिसक्रान्तो, वभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्याम्ल कोद्रवक्रूरमेक कूट च रूप्यकम्। [त्रि० श० पु० च०, १०।३।३९३ श्लो०]

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलो मे भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर सयोग नही मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पडा। अन्त मे एक लुहार के यहा उसको खट्टी छाछ, वासी भात और दक्षिणा मे एक रुपया प्राप्त हुआ जो वाजार में नकली सिद्ध हुआ। गोशालक के मन पर इस घटना का यह प्रभाव पड़ा कि वह नियतिवाद का भक्त वन गया। उसने निश्चय किया कि जो कुछ होने वाला है, वह पहले से ही नियत होता है।

इधर चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने राजगृही के नालन्दा से विहार किया और 'कोल्लाग' सन्निवेश मे जाकर 'वहुल ब्राह्मण' के यहा अन्तिम मास-खमरण का पारणा किया। गोशालक उस समय भिक्षा के लिये वाहर गया हुआ था। जव वह लौट कर तन्तुवायशाला मे आया और भगवान् को नहीं देखा तो सोचा कि भगवान् नगर मे कही गये होंगे। वह उन्हे नगर मे जाकर ढूंढने लगा। पर भगवान् का कही पता नही चला तो निराश होकर लौट आया और वस्त्र, कुडिका, चित्रफलक आदि अपनी सारी वस्तुएं ब्राह्मणो को देकर तथा शिर मुडवा कर भगवान् की खोज मे निकल पड़ा।[1]

प्रभु को ढूढते हुए वह कोल्लाग सन्निवेश पहुचा और लोगो के मुख से वहुल ब्राह्मण की दान-महिमा सुनकर विचारने लगा कि अवश्य ही यह मेरे धर्माचार्य की महिमा होनी चाहिये। दूसरे का ऐसा तपः प्रभाव नही हो सकता। 'कोल्लाग सन्निवेश' के वाहर प्रणीत-भूमि मे उसने भगवान् के दर्शन किये। दर्शनानन्तर भाव-भीना हो उसने प्रभु को वन्दन किया और वोला – 'आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हू। उसके ऐसा वारम्वार कहने से भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।[2] रागरहित भी भगवान् ने भाविभाव को जानते हुए उसके वचन को स्वीकार किया।[3] इसके वाद छह वर्ष तक गोशालक प्रभु के साथ विचरता रहा।

साधना का तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर प्रभु गोशालक के साथ स्वर्णखल पधारे। मार्ग मे उनको खीर पकाते हुए कुछ ग्वाले मिले। गोशालक का मन खीर देखकर मचल उठा। उसने महावीर से कहा – 'भगवन्! कुछ देर ठहरे तो खीर खाकर चलेगे।' सिद्धार्थ ने कहा – "खीर खाने को नही मिलेगी, क्योकि हडिया फूटने के कारण खीर पकने से पूर्व ही मिट्टी मे मिल जायेगी।"

---

[1] साडियाओ य पाडियाओ य कुडियाओ य पाहणाओ य चित्तफलग च माहणे आयामेति आयामेत्ता सउत्तरोट्ठ मुड करोति •। [भगवती श०, १५।१ स० ५४१ पृ० १२१७]
(ख) आ० चू० १, पृ० २८३।

[2] गोसालस्स मखलिपुत्तस्स एयमट्ठ पडिसुणेमि। [भगवती शतक, १५।१ सूत्र ५४१]

[3] नीरागोऽपि भव्यतार्थं, तद्भाव च विदन्नपि। तद्वच प्रत्यपादीशो, महान्त क्व न वत्सला। [त्रि० श० पु० च०, ।१०।३।४१२]

नियतिवाद

पर गोशालक ग्वालो को सचेत कर स्वयं खीर के लिये रुका रहा। भगवान् आगे प्रयाण कर गये। सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी चावलो के फूलने से हडिया फूट गई और खीर धूल मे मिल गई। गोशालक निराश होकर नन्हा सा मुह लिये महावीर के पास पहुंचा। उसे इस वार दृढ विश्वास हो गया कि होनहार कभी टलता नही। इस तरह वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक वन गया।

कालान्तर मे वहां से विहार कर भगवान् 'ब्राह्मणगांव' पधारे। ब्राह्मणगाव दो भागो मे विभक्त था – एक 'नन्दपाटक' और दूसरा 'उपनन्दपाटक'। नन्द और उपनन्द नाम के दो प्रसिद्ध पुरुषों के नाम पर गांव के भाग पुकारे जाते थे। भगवान् महावीर 'नन्दपाटक' मे नन्द के घर पर भिक्षा को पधारे। वहा उनको दही मिश्रित भात मिला। गोशालक, जो 'उपनन्दपाटक' मे उपनन्द के घर गया था, वहा उपनन्द की दासी उसको वासी भात देने लगी किन्तु गोशालक ने दुर्भाव मे उसे अस्वीकार कर दिया। गोशालक के इस अभद्र व्यवहार से क्रुद्ध हो उपनन्द दासी से बोला – "यदि यह भिक्षा नही ले तो इसके सिर पर फेंक दे।" दासी ने स्वामी की आज्ञा से वैसा ही किया। इस घटना से गोशालक वहुत कुपित हुआ और घर वालो को अभिशाप देकर वहा से चल दिया।

आवश्यक चूर्णिकार के मतानुसार गोशालक ने उपनन्द को उसका घर जल जाने का शाप दिया। भगवान् के तप की महिमा असत्य प्रमाणित न हो इस दृष्टि से निकटवर्ती व्यन्तरों के द्वारा घर जलाया गया और उसका अभिशाप सच्चा ठहरा।[1]

ब्राह्मणगांव से विहार कर भगवान् चपा पधारे और वही पर तृतीय वर्षाकाल पूर्ण किया। वर्षाकाल मे दो-दो मास के उत्कट तप के साथ प्रभु ने विविध आसन व ध्यानयोग की साधना की। प्रथम द्विमासीय तप का पारणा चपा मे और द्वितीय द्विमासीय तप का पारणा चंपा के वाहर किया।[2]

साधना का चतुर्थ वर्ष

अग देश की चम्पा नगरी से विहार कर भगवान् 'कालाय' सन्निवेश पधारे। वहां गोशालक के साथ एक सूने घर मे ध्यानावस्थित हुए। गोशालक वहा द्वार के पास छुप कर वैठ गया और पास आयी हुई 'विद्युन्मती' नाम की दासी के साथ हसी-मजाक करने लगा। दासी ने गाव में जाकर मुखिया से शिकायत की और इसके परिणामस्वरूप मुखिया के पुत्र पुरुषसिंह द्वारा गोशालक पीटा गया।

कालाय सन्निवेश से प्रभु 'पत्तकालय' पधारे। वहा भी एक शून्य स्थान देख कर भगवान् ध्यानारूढ हो गये। गोशालक वहा पर भी अपनी विकृत भावना और चंचलता के कारण जनसमुदाय के क्रोध का शिकार वना।

---

१ आव० चू०, पूर्व भाग, पृ० २८४ 'वाणमतरेहिं मा भगवतो अलिय भवतुत्ति त घर दड्ढ।

२ ज चरिम दो मासियपारणय त वाहिं पारेति। [आव चू, १।२८४]

गोशालक का शाप-प्रदान

'पत्तकालय' से भगवान् 'कुमारक सन्निवेश' पधारे ।[१] वहां चंपगरमणीय नामक उद्यान मे ध्यानावस्थित हो गये। वहा के कूपनाथ नामक कुम्भकार की शाला मे पार्श्वनाथ के सतानीय आचार्य मुनिचन्द्र अपने शिष्यों के संग ठहरे हुए थे। उन्होने अपने एक शिष्य को गच्छ का मुखिया बना कर स्वय जिनकल्प स्वीकार कर रखा था। गोशालक ने भगवान् को भिक्षा के लिए चलने को कहा किन्तु प्रभु की ओर से सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि आज इन्हे नही जाना है।

गोशालक अकेला भिक्षार्थ गांव मे गया और वहां उसने रंग-बिरंगे वस्त्र पहने पार्श्व-परम्परा के साधुओ को देखा। उसने उनसे पूछा – "तुम सब कौन हो?" उन्होंने कहा – "हम सब पार्श्व परम्परानुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ है।" इस पर गोशालक ने कहा – "तुम सब कैसे निर्ग्रन्थ हो? इतने सारे रग-बिरगे वस्त्र और पात्र रख कर भी अपने को निर्ग्रन्थ कहते हो। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो वस्त्र व पात्र से रहित हैं और त्याग-तप के साक्षात् रूप हैं।" पार्श्व सतानीय ने कहा – "जैसा तू, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी, स्वयंगृहीतलिंग होंगे।"[२] इस पर गोशालक क्रुद्ध होकर बोला – "अरे! मेरे धर्माचार्य की तुम निन्दा करते हो। यदि मेरे धर्माचार्य के दिव्य तप और तेज का प्रभाव है तो तुम्हारा उपाश्रय जल जाय।" यह सुन कर पार्श्वापत्यो ने कहा – "तुम्हारे जैसो के कहने से हमारे उपाश्रय जलने वाले नहीं है।"

यह सुन कर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला – "आज मैंने सारंभी और सपरिग्रही साधुओ को देखा। उनके द्वारा आपके अपवाद करने पर मैंने कहा – "धर्माचार्य के दिव्य तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय किन्तु उनका उपाश्रय जला नही। इसका क्या कारण है?" सिद्धार्थ देव ने कहा – "गोशालक! वे पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु हैं। साधुओ का तपस्तेज उपाश्रय जलाने के लिए नही होता।"

उधर आचार्य मुनिचन्द्र उपाश्रय के बाहर खड़े हो ध्यानमग्न हो गये। अर्द्धरात्रि के समय कूपनय नामक कुम्भकार अपनी मित्रमण्डली मे सुरापान कर अपने घर की ओर लौटा। उपाश्रय के बाहर ध्यानमग्न मुनि को देख कर मद्य के नशे में मदहोश उस कुम्भकार ने उन्हे चोर समझ कर अपने दोनों हाथों से मुनि का गला धर दबाया। असह्य वेदना होने पर भी मुनिचन्द्र ध्यान मे अडोल खडे रहे। समभाव से शुक्लध्यान मे स्थित होने के कारण मुनिचन्द्र को तत्काल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और उन्होने निर्वाण प्राप्त किया।

देवो ने पुष्पादि की वर्षा कर केवलज्ञान की महिमा की। जब गोशालक ने देवों को आते जाते देखा तो उसने समझा कि उन साधुओ का उपाश्रय जल रहा है।

---

[१] ततो कुमाराय सनिवेस गता। [आव चू, १। पृ० २८५]

[२] आव चू, पृ० २८५

गोशालक ने भगवान् से कहा – "उन विरोधियो का उपाश्रय जल रहा है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने कहा – "उपाश्रय नही जल रहा है। आचार्य को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है इसलिए देवगण महिमा कर रहे है।"

गन्धोदक और पुष्पो की वर्षा देख कर गोशालक को बड़ा हर्ष हुआ। वह उपाश्रय मे जाकर मुनिचन्द्र के शिष्यो से कहने लगा – "अरे! तुम लोगो को कुछ भी पता नही है, खाकर अजगर की तरह सोये पडे हो। तुम्हे अपने आचार्य के काल-कवलित हो जाने का भी ध्यान नही है। गोशालक की बात सुन कर साधु उठे और अपने आचार्य को कालप्राप्त समझ कर चिरकाल तक अपने आपकी निन्दा करते रहे। गोशालक ने भी अवसर देख कर उन्हे जी भर भला-बुरा कहा।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मुनिचन्द्र को उस समय अवधिज्ञान हुआ और उन्होंने स्वर्गगमन किया।[2]

कुमारक से विहार कर भगवान् 'चोराक सन्निवेश'[3] पधारे। वहा पर चोरो का अत्यधिक भय था। अत वहा के पहरेदार अधिक सतर्क रहते थे। भगवान् उधर पधारे तो पहरेदारो ने उनसे परिचय पूछा पर मौनस्थ होने के कारण प्रभु की ओर से कोई उत्तर नही मिला। पहरेदारो को उनके इस आचरण से संशय और क्रोध दोनो ही हुए। फलत गुप्तचर या चोर समझ कर उनको अनेक प्रकार की यातनाए दी। जब इस बात की सूचना ग्रामवासी 'उत्पल' निमित्तज्ञ की बहिनो, 'सोमा और जयंती' को मिली तो वे घटना-स्थल पर उपस्थित हुई और रक्षक पुरुषो के सामने महावीर का सही परिचय प्रस्तुत किया। परिचय प्राप्त कर आरक्षको ने महावीर को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना की।

चौराक से भगवान् महावीर 'पृष्ठ चपा' पधारे और चतुर्थ वर्षाकाल वही बिताया। वर्षाकाल मे चार मास का दीर्घ तप और अनेक प्रकार की प्रतिमाओ से ध्यान-मुद्रा मे कायोत्सर्ग करते रहे। चार मास की तप-समाप्ति के बाद भगवान् ने चम्पा की बाहिरिका मे पारणा किया।

साधना का पंचम वर्ष

पृष्ठ चम्पा का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् 'कयगला' पधारे।[4] वहा 'दरिद्द थेर' नामक पाषडी के देवल मे कायोत्सर्ग-स्थित हो कर रहे।

कयंगला से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और नगर के बाहर ध्यानस्थित हो गये। कड़कडाती सर्दी पड रही थी फिर भी भगवान् उसकी

---

[1] आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २८६

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, १०।३।४७० से ४७७

[3] गोरखपुर जिले मे स्थित चौराचौरी   [तीर्थंकर महावीर, पृ० १९७]

[4] आव चू, पृ० २८७

परवाह किये विना रात भर ध्यान मे लीन रहे। गोशालक सर्दी नही सह सका और रात भर जाडे के मारे सिमकता रहा। इधर देवल मे धार्मिक उत्सव होने से वहुत से स्त्री-पुरुप मिल कर नृत्य-गान में तल्लीन हो रहे थे। गोशालक ने उपहास करते हुए कहा – "अजी! यह कैसा धर्म, जिसमे स्त्री और पुरुप साथ-साथ लज्जारहित हो गाते व नाचते हैं ?"

लोगो ने उसे धर्म-विरोधी समझ कर वहा से बाहर धकेल दिया। वह सर्दी मे ठिठुरते हुए बोला – "अरे भाई! सच बोलना आजकल विपत्ति मोल लेना है। लोगो ने दया कर फिर उसे भीतर बुलाया। पर वह तो आदत से लाचार था। अत अनर्गल प्रलाप के कारण वह दो-तीन वार बाहर निकाला गया और युवको के द्वारा पीटा भी गया।

वाद मे जन-समुदाय को यह मालूम हुआ कि यह देवार्य महावीर का शिष्य है तो सोचा कि इसे यहा रहने देने मे कोई हानि नही है। वृद्धो ने जोर-जोर से वाजे बजवाने शुरू किये जिससे उसकी वाते न सुनी जा सके। इस प्रकार रात कुशलता से वीत गई।

प्रात काल महावीर वहा से विहार कर श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहां पर 'पितृदत्त' गाथापति की पत्नी ने अपने वालक की रक्षा के लिये किसी निमित्तज्ञ के कथन से किसी एक गर्भ के मास से खीर वनाई और तपस्वी को देने के विचार से गोशालक को दे डाली। उसने भी अनजाने ले ली। सिद्धार्थ ने पहले ही इसकी सूचना कर दी थी। जव गोशालक ने इसे झुठलाने का प्रयत्न किया तो सिद्धार्थ ने कहा – वमन कर। वमन करने पर असलियत प्रकट हो गई। गोशालक भी स्थिति समझ कर पक्का नियतिवादी हो गया।

सावत्थी से विहार कर प्रभु 'हलेदुग' पधारे। गाव के पास ही 'हलेदुग' नाम का एक विशाल वृक्ष था। भगवान् ने उस स्थान को ध्यान के उपयुक्त समझा और वही रात्रि-विश्राम किया। दूसरे अनेक पथिक भी रात्रि मे वहा विश्राम करने को ठहरे हुए थे। उन्होने सर्दी से वचने के लिये रात मे आग जलाई और प्रात काल विना आग बुझाये ही वे लोग चले गये। इधर सूखे घास के सयोग से हवा का जोर पा कर अग्नि की लपटे जलती हुई महावीर के निकट आ पहुँची और उनके पैर आग की लपटों से झुलस गये फिर भी वे ध्यान से चलायमान नही हुए।[1]

मध्याह्न मे ध्यान पूर्ण होने पर भगवान् महावीर ने आगे प्रयाण किया और 'नागला' होते हुए 'आवर्त' पधारे। वहा वलदेव के मदिर मे ध्यानावस्थित हो गये। भगवान् के साथ रहते हुए भी गोशालक अपने चचल स्वभाव के कारण लोगो के बच्चो को डराता-चौकाता, जिसके कारण वह अनेक बार पीटा गया।

आवर्त से विहार कर प्रभु अनेक क्षेत्रो को अपनी चरणरज से पवित्र करते हुए 'चौराक सन्निवेश' पधारे। वहा भी गुप्तचर समझ कर लोगो ने गोशालक

[1] आव० चू०, पृ० २८८।

को पीटा। गोशालक ने रुष्ट होकर कहा – "अकारण यहाँ के लोगो ने मुझे पीटा है अत मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज का प्रभाव हो तो यह मंडप जल जाय" और सयोगवश मडप जल गया।

उसके इस उपद्रवी स्वभाव से भगवान् विहार कर 'कलवुका' पधारे। वहा निकटस्थ पर्वतीय प्रदेश के स्वामी 'मेघ' और 'कालहस्ती' नाम के दो भाइयो मे से कालहस्ती से मार्ग मे महावीर की भेट हुई। 'कालहस्ती' ने उनसे पूछा – "तुम कौन हो ?" महावीर ने कुछ भी उत्तर नही दिया। इस पर कालहस्ती ने उन्हे पकड कर खूव पीटा, फिर भी महावीर नही बोले।

कालहस्ती ने इस पर महावीर को अपने वडे भाई मेघ के पास भिजवाया। मेघ ने महावीर को एक वार पहले गृहस्थाश्रम मे कुडग्राम मे देखा था अत देखते ही वह उन्हे पहचान गया। उसने उठ कर प्रभु का सत्कार किया और उन्हे मुक्त ही नही किया अपितु अपने भाई द्वारा किये गये अभद्र व्यवहार के लिये क्षमा-याचना भी की।[1]

मेघ से मुक्त होने पर भगवान् ने सोचा – "मुझे अभी वहुत से कर्म क्षय करने हैं। यदि परिचित प्रदेश मे ही घूमता रहा तो कर्मो का क्षय विलम्ब से होगा। यहाँ कष्ट से वचाने वाले प्रेमी भी मिलते रहेगे। अत मुझे ऐसे अनार्य प्रदेश मे विचरण करना चाहिये जहां मेरा कोई परिचित न हो।" ऐसा सोच कर भगवान् लाढ देश की ओर पधारे। लाढ या राढ देश उस समय पूर्ण अनार्य माना जाता था। उस ओर सामान्यत मुनियो का विचरना नही होता था। कदाचित् कोई जाते तो वहा के लोग उनकी हीलना-निन्दा करते और कष्ट देते। उस प्रान्त के दो भाग थे। एक वज्र भूमि और दूसरी शुभ भूमि। इनको उत्तर राढ और दक्षिण राढ के नाम से कहा जाता था। उनके बीच अजय नदी[2] वहती थी। भगवान् ने उन स्थानों मे विहार किया और वहा के कठोरतम उपसर्गो को समभाव से सहन किया।

अनार्य क्षेत्र के उपसर्ग

लाढ देश मे भगवान् को जो भयकर उपसर्ग उपस्थित हुए, उनका रोमाचकारी वर्णन आचाराग सूत्र मे आर्य सुधर्मा ने निम्नरूप से किया है –

"वहा उनको रहने के लिये अनुकूल आवास प्राप्त नही हुए। रूखा-सूखा वासी भोजन भी वड़ी कठिनाई से प्राप्त होता। वहा के कुत्ते दूर से ही भगवान् को देखकर काटने को दौडते किन्तु उन कुत्तो को रोकने वाले लोग वहा वहुत कम सख्या मे थे। अधिकाश तो ऐसे ही थे जो छुछुकार कर कुत्तो को काटने के लिये प्रेरित करते।[3] रूक्षभोजी लोग वहा लाठी लेकर विचरण करते। पर भगवान्

---

[1] आव० चू०, पृ० २९०।

[2] आचा० चू०, पृ० २८७।

[3] अह लूहा देसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु निवइसु। [आचा० ६।३। पृ० ८३।८४–]

तो निर्भय थे, वे ऐसे दुष्ट स्वभाव वाले प्राणियो पर भी दुर्भाव नही करते, क्योकि उन्होने शारीरिक ममता को शुद्ध मन से त्याग दिया था। कर्म निर्जरा का हेतु समझ कर ग्रामकटको-दुर्वचनो को सहर्ष सहन करते हुए वे सदा प्रसन्न रहते। वे मन मे भी किसी के प्रति हिसा का भाव नहीं लाते।

जैसे सग्राम मे शत्रुओ के तीखे प्रहारो की तनिक भी परवाह किये बिना गजराज आगे बढता जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी लाढ देश में विभिन्न उपसर्गो की किंचित्मात्र भी परवाह किये विना विचरते रहे।[1] वहाँ उन्हें ठहरने के लिये कभी दूर-दूर तक गाव भी उपलब्ध नही होते। भयकर अरण्य मे ही रात्रिवास करना पडता। कभी गाव के निकट पहुँचते ही लोग उन्हे मारने लग जाते और दूसरे गाव जाने को बाध्य कर देते। अनार्य लोग भगवान् पर दण्ड, मुष्टि, भाला, पत्थर तथा ढेलो से प्रहार करते और इस कार्य से प्रसन्न होकर अट्टहास करने लगते।

वहा के लोगो की दुष्टता असाधारण स्तर की थी। उन्होने विविध प्रहारो से भगवान् के सुन्दर शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। उन्हें अनेक प्रकार के असहनीय भयकर परीषह दिये। उन पर धूल फेकी तथा उन्हे ऊपर उछाल-उछाल कर गेंद की तरह पटका। आसन पर से धकेल कर नीचे गिरा दिया। हर तरह से उनके ध्यान को भग करने का प्रयास किया। फिर भी भगवान् शरीर से ममत्व रहित होकर, विना किसी प्रकार की इच्छा व आकाक्षा के सयम-साधन मे स्थिर रह कर शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करते रहे।[2]

इस प्रकार उस अनार्य प्रदेश मे समभावपूर्वक भयकर उपसर्गो को सहन कर भगवान् ने विपुल कर्मों की निर्जरा की। वहा से जव वे आर्य देश की ओर चरण वढा रहे थे कि पूर्णकलश नाम के सीमाप्रान्त के ग्राम मे उन्हे दो तस्कर मिले। वे अनार्य प्रदेश मे चोरी करने जा रहे थे। सामने से भगवान् को आते देख कर उन दोनो ने अपशकुन समझा और तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भगवान् को मारने के लिये लपके। इस घटना का पता ज्योही इन्द्र को चला, इन्द्र ने प्रकट होकर तस्करो को वहा से दूर हटा दिया।[3]

भगवान् आर्य देश मे विचरते हुए मलय देश पधारे और उस वर्ष का वर्षावास मलय की राजधानी 'भद्दिला नगरी' मे किया। प्रभु ने चातुर्मास मे विविध आसनो के साथ ध्यान करते हुए चातुर्मासिक तप की आराधना की और चातुर्मास पूर्ण होने पर नगरी के वाहर तप का पारणा कर 'कदली समागम' और 'जवू सड' की ओर प्रस्थान किया।

---

[1] आचा०, ९।३।८७।८८। गा० १३

[2] आचा०, ९।३। पृ० ९७

[3] निद्दत्थेण ते असी तेसिं चेव उपरि छूटो, तेसिं सीसाणि छिन्नाणि। अन्ने भणन्ति-सक्केण ओहिणा आभोइत्ता दोवि वज्जेण हता। [आव चू १, पृ० २९०]

साधना का छठा वर्ष

'कदली समागम' और 'जवू सड' मे गोशालक ने दधिकूर का पारणा किया। वहा भी उसका तिरस्कार हुआ। भगवान् 'जवू सड' से 'तवाय' सन्निवेश पधारे। उस समय पार्श्वापत्य स्थविर नन्दिषेण वहा पर विराज रहे थे। गोशालक ने उनसे भी विवाद किया।[1] फिर वहा से प्रभु ने 'कूविय' सन्निवेश की ओर विहार किया, जहा वे गुप्तचर समझ कर पकड़े गये और मौन रहने के कारण वदी वना कर पीटे गये। वहां पर विजया और प्रगल्भा नाम की दो परिव्राजिकाए जो पहले पार्श्वनाथ की शिष्याये थी, इस घटना का पता पाकर लोगो के वीच आयी और भगवान् का परिचय देती हुई वोली – "दुरात्मन्! नही जानते हो कि यह चरम तीर्थंकर महावीर हैं। इन्द्र को पता चला तो वह तुम्हे दण्डित करेगा।" परिव्राजिकाओ की वातें सुन कर उन लोगो ने प्रभु को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।[2]

वहा से मुक्त होकर प्रभु वैशाली की ओर अग्रसर हुए। प्रभु जहा विराजमान थे वहा दो मार्ग थे। गोशालक ने प्रभु से कहा – "आपके साथ मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं और आप मेरा वचाव भी नही करते। इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला ही विहार करू।" इस पर सिद्धार्थ वोले[3] – "जैसी तेरी इच्छा।" वहा से महावीर वैशाली के मार्ग पर वढे और गोशालक राजगृह की ओर चल पडा।

वैशाली पधार कर भगवान् लोहार की 'कम्मशाला' मे अनुमति लेकर ध्यानावस्थित हो गये। कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार ने अस्वस्थता के कारण छह मास से काम वन्द कर रखा था। भगवान् के आने के दूसरे दिन से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगा, अत. औजार लेकर शुभ मुहूर्त मे यन्त्रालय पहुचा। भगवान् को यन्त्रालय मे खडे देख कर उसने अमगल मानते हुए उन पर प्रहार करना चाहा, किन्तु ज्योही वह हथौडा लेकर आगे वढ़ा त्योही दैवी प्रभाव से सहसा उसके हाथ स्तंभित हो गये और प्रहार वेकार हो गया।[4]

वैशाली से विहार कर भगवान् 'ग्रामक सन्निवेश' पधारे और 'विभेलक' यक्ष के स्थान मे ध्यानस्थ हो गये। भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित हो कर यक्ष भी गुण-कीर्तन करने लगा।[5]

व्यंतरी का उपद्रव

'ग्रामक सन्निवेश' से विहार कर भगवान् 'शालि शीर्ष' के रमणीय उद्यान मे पधारे। माघ मास की कडकडाती सर्दी पड रही थी। मनुष्य घरो मे

---

[1] आव चू, पृ० २९१

[2] आव चू, पृ० २९२

[3] सक्केण तस्स उवरि घणो पावियो तह चेव मतो। [आव चू, पृ २९२]

[4] सिद्धार्थोऽथावदत्तुभ्य, रोचते यत्कुरुष्व तत्। [त्रि श पु च, १०।३।५९४]

[5] आव० चू०, पृ० २९२

गर्म वस्त्र पहने हुए भी काप रहे थे। परन्तु भगवान् उस समय भी खुले शरीर ध्यान मे खडे थे। वन मे रहने वाली 'कटपूतना' नाम की व्यन्तरी ने जव भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उसका पूर्वजन्म का वैर जागृत हो उठा और उसके क्रोध का पार नही रहा। वह परिव्राजिका के रूप मे विखरी जटाओ से मेघ-धाराओ की तरह जल वरसाने लगी और भगवान् के कधो पर खड़ी हो तेज हवा चलाने लगी। कडकडाती सर्दी मे वह वर्फ सा शीतल जल, तेज हवा के कारण तीक्ष्ण कांटो से भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हो रहा था, फिर भी भगवान् ध्यान मे अडोल रहे और मन से भी विचलित नही हुए। समभावपूर्वक उस कठोर उपसर्ग को सहन करते हुए भगवान् को परमावधि ज्ञान प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे।[1] भगवान् की सहिष्णुता व क्षमता देख कर 'कटपूतना' हार गई, थक गई और शान्त होकर कृत अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना करती हुई, वन्दन कर चली गई।

'शालिशीर्ष' से विहार कर भगवान् 'भद्रिका'[2] नगरी पधारे। वहा चातुर्मासिक तप से आसन तथा ध्यान की साधना करते हुए उन्होने छट्ठा वर्षाकाल विताया। छह मास तक परिभ्रमण कर अनेक कष्टों को भोगता हुआ आखिर गोशालक भी पुन. वहा आ पहुचा और भगवान् की सेवा मे रहने लगा। वर्षाकाल समाप्त होने पर उन्होने नगर के वाहर पारण किया और मगध की ओर चल पडे।[3]

साधना का सप्तम वर्ष

मगध के विविध भागो मे घूमते हुए प्रभु ने आठ मास विना उपसर्ग के पूर्ण किये। फिर चातुर्मास के लिये 'आलभिया' नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवा चातुर्मास वहा पूर्ण किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के वाहर चातुर्मासिक तप का पारण कर के 'कडाग' सन्निवेश और 'भद्दणा' नाम के सन्निवेश पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा वलदेव के मदिर मे ठहरे। गोशालक ने देवमूर्ति का तिरस्कार किया जिससे वह लोगो द्वारा पीटा गया। 'भद्दणा' से निकल कर भगवान् 'वहुसाल' गाव गये और गाव के वाहर सालवन उद्यान मे ध्यानस्थित हो गये। यहा शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् को अनेक उपसर्ग दिये किन्तु प्रभु के विचलित नही होने से अन्त मे थक कर वह क्षमायाचना करती हुई अपने स्थान को चली गई।

---

[1] वेयण अहियासतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्व लोग पासिउमारद्धो। आ० चू०, पृ० २६३।

[2] "भद्दिया" अग देश का एक नगर था, भागलपुर से आठ मील दूर दक्षिण मे भदरिया ग्राम है, वही पहले भद्दिया थी। तीर्थंकर महावीर, पृ० २०६।

[3] वाहिं पारेत्ता ततो पच्छा मगहविसए विहरति निरुवसग्गं अट्ठ मासे उदुवद्धिए। [आव० चू०, पृ० २६३]

साधना का अष्टम वर्ष

'भद्दगा' से विहार कर भगवान् 'लोहार्गला' पधारे। 'लोहार्गला' के पडौसी राज्यो मे उस समय सघर्ष होने से वहा के सभी अधिकारी आने वाले यात्रियों से पूर्ण सतर्क रहते थे। परिचय के बिना किसी का राजधानी में प्रवेश सभव नही था। भगवान् से भी परिचय पूछा गया। उत्तर नही मिलने पर उनको पकड कर अधिकारी राज-सभा मे 'जितशत्रु' के पास ले गये। वहा 'अस्थिक' गाव का नैमित्तिक उत्पल आया हुआ था। उसने जब भगवान् को देखा तब उठ कर त्रिविध वदन किया और बोला – "यह कोई गुप्तचर नही है, यह तो सिद्धार्थ-पुत्र, धर्म-चक्रवर्ती महावीर है।" परिचय पाकर राजा जितशत्रु ने भगवान् की वदना की और सम्मानपूर्वक विदा किया।[1]

लोहार्गला से प्रभु ने 'पुरिमताल' की ओर प्रयाण किया। नगर के बाहर 'शकटमुख' उद्यान मे वे ध्यानावस्थित रहे। 'पुरिमताल' से फिर 'उन्नाग' और 'गौभूमि' को पावन करते हुए प्रभु राजगृह पधारे। वहा चातुर्मासिक तपस्या ग्रहण कर विविध आसनो और अभिग्रहो के साथ प्रभु ध्यानावस्थित रहे। इस प्रकार आठवा वर्षाकाल पूर्ण कर प्रभु ने नगर के बाहर पारणा ग्रहण किया।

साधना का नवम वर्ष

भगवान् महावीर ने सोचा कि आर्य देश मे जन-मन पर सुसस्कारो के कारण कर्म की अत्यधिक निर्जरा नही होती, इसलिये इस सम्बन्ध मे कुछ उपाय करना चाहिये। जैसे किसी कुटुम्बी के खेत मे शालि उत्पन्न होने पर पथिको को कहा जाता है कि खेत की कटाई करो, इच्छित भोजन मिलेगा, फिर चले जाना। इस बात से प्रभावित होकर, जैसे लोग उसका धान काट देते है वैसे ही उन्हे भी बहुत कर्मो की निर्जरा करनी है। इस कार्य मे सफलता अनार्य देश मे ही मिल सकती है। इस विचार से भगवान् फिर अनार्य भूमि की ओर पधारे और पहले की तरह इस बार भी लाढ और शुभ्र-भूमि के अनार्य-खण्ड मे जाकर विविध कष्टो को सहन किया क्योकि वहा के लोग अनुकम्पारहित, निर्दय थे। योग्य स्थान नही मिलने से वहा वृक्षो के नीचे, खण्डहरो मे तथा घूमते-घामते वर्षाकाल पूर्ण किया। छह मास तक अनार्यदेश मे विचरण कर विभिन्न प्रकार के कष्ट सहते हुए भी भगवान् को इस बात का हर्ष था कि उनके कर्म कट रहे हैं। इस तरह अनार्य देश का प्रथम चातुर्मास समाप्त कर प्रभु फिर आर्य देश मे पधारे।[2]

साधना का दशम वर्ष

अनार्य प्रदेश से विहार कर भगवान् 'सिद्धार्थपुर' से 'कूर्मग्राम' की ओर पधार रहे थे, तब गोशालक भी साथ ही था। उसने मार्ग मे सात पुष्प वाले एक तिल के पौधे को देख कर प्रभु से जिज्ञासा की—"भगवन्! यह पौधा फलयुक्त

---

[1] आव० चू०, पृ० २९४।

[2] आव चू, पृ २९६-"दइव नियोगेण लेहट्ठो आसी वसही वि न लब्भति।"

होगा क्या ?" उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"हां पौधा फलेगा और सातों फूलो के जीव इसकी एक फली मे उत्पन्न होगे।"

गोशालक ने भगवान् के वचन को मिथ्या प्रमाणित करने की दृष्टि से उस पौधे को उखाड़ कर एक किनारे फेंक दिया। सयोगवश उसी समय थोडी वर्षा हुई और तिल का उखडा हुआ पौधा पुनः जड़ जमा कर खडा होगया।[1] फिर भगवान् 'कूर्मग्राम'[2] आये। वहा गाव के बाहर 'वैश्यायन' नाम का तापस प्राणायाम-प्रव्रज्या से सूर्यमडल के सम्मुख दृष्टि रख कर दोनो हाथ ऊपर उठाये आतापना ले रहा था। धूप से सतप्त हो कर उसकी बडी बड़ी जटा से यूकाए नीचे गिर रही थी और वह उन्हे उठा उठा कर पुनः जटाओ मे रख रहा था। गोशालक ने देखा तो कुतूहलवश वह भगवान् के पास से उठकर तपस्वी के पास आया और बोला—"अरे ! तू कोई तपस्वी है, या जूओ का शय्यात्तर (घर)?" तपस्वी चुप रहा। जब गोशालक बार बार इस बात को दुहराता रहा तो तपस्वी को क्रोध आ गया। आतापना भूमि से सात आठ पग पीछे जाकर उसने जोश मे तपोबल से प्राप्त अपनी तेजो-लब्धि गोशालक को भस्म करने के लिये छोड़ दी। अब क्या था गोशालक मारे भय के भागा और प्रभु के चरणो में आकर छुप गया। दयालु प्रभु ने उस समय गोशालक की अनुकम्पा के लिये शीतल लेश्या से उस तेजो लेश्या को शान्त किया। गोशालक को सुरक्षित देख कर तापस ने महावीर की शक्ति का रहस्य समझा और विनम्र शब्दो मे बोला—"भगवन् ! मै इसे आपका शिष्य नही जानता था, क्षमा कीजिये।"[3]

कुछ समय के पश्चात् भगवान् ने पुन 'सिद्धार्थपुर' की ओर प्रयाण किया। तिल के खेत के पास आते ही गोशालक को पुरानी बात याद आ गई। उसने महावीर से कहा—"भगवन् ! आपकी वह भविष्यवाणी कहा गई ?" प्रभु बोले—"बात ठीक है। वह बाजू में लगा हुआ पौधा ही पहले वाला तिल का पौधा है, जिसको तूने उखाड फेका था।" गोशालक को इस पर विश्वास नही हुआ। वह तिल के पौधे के पास गया और फली को तोड़ कर देखा तो महावीर के कथनानुसार सात ही तिल निकले। प्रस्तुत घटना से वह नियतिवाद का पक्का समर्थक बन गया। उस दिन से उसकी मान्यता हो गई कि सभी जीव मर कर पुन अपनी ही योनि मे उत्पन्न होते है। वहा से गोशालक ने भगवान् का साथ छोड दिया और वह अपना मत चलाने की बात सोचने लगा।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पधारे। नगर के बाहर भगवान् को ध्यान-मुद्रा मे देख कर अबोध बालको ने उन्हे पिशाच समझा और अनेक प्रकार की यातनाए दी। सहसा उस मार्ग से राजा सिद्धार्थ के स्नेही मित्र शख, भूपति

---

[1] तेण असद्दहतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाडितो एगते य एडिओ... वुट्ठ।......
[आव चू, पृ. २९७]

[2] भगवती मे कूर्मग्राम के स्थान पर कुडग्राम लिखा है।

[3] भ श श १५, उ १, सू ५४३ समिति।

निकले। उन्होने उन उपद्रवी बालको को हटाया और स्वय प्रभु की वदना कर आगे बढ़े।[1]

वैशाली से भगवान् 'वाणियगाम' की ओर चले। मार्ग मे गडकी नदी पार करने के लिए उन्हे नाव मे बैठना पडा। पार पहुंचने पर नाविक ने किराया मागा पर भगवान् मौनस्थ रहे। नाविक ने क्रुद्ध होकर किराया न देने के कारण भगवान् को तवे सी तपी हुई रेत पर खडा कर दिया। सयोगवश उस समय 'शख' राजा का भगिनी-पुत्र 'चित्र' वहा आ पहुंचा। उसने समझा कर नाविक से प्रभु को मुक्त करवाया।[2]

आगे चलते हुए भगवान् 'वाणियग्राम' पहुचे। वहा 'आनन्द' नामक श्रमणोपासक को अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई थी। वह बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करता था। उसने तीर्थंकर महावीर को देख कर वंदन किया और बोला – "आपका शरीर और मन वज्र सा दृढ है, इसीलिए आप कठोर से कठोर कष्टो को भी मुस्कुराते हुए सहन कर लेते है। आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है।" यह उपासक 'आनन्द' पार्श्वनाथ की परम्परा का था, भगवान् महावीर का अन्तेवासी 'आनन्द' नही।

'वाणियग्राम' से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और विविध प्रकार की तपस्या एवं योग-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वहा पर दशवा चातुर्मास पूर्ण किया।[3]

साधना का ग्यारहवां वर्ष

'सावत्थी' से भगवान् ने 'सानुलट्ठिय' सन्निवेश की ओर विहार किया। वहा सोलह दिन के निरन्तर उपवास किये और भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा और सर्वतोभद्र प्रतिमाओ द्वारा विविध प्रकार से ध्यान की साधना करते रहे। भद्र आदि प्रतिमाओ मे प्रभु ने निम्न प्रकार से ध्यान की साधना की।

भद्र प्रतिमा मे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे चार-चार प्रहर ध्यान करते रहे। दो दिन की तपस्या का बिना पारणा किये प्रभु ने महाभद्र प्रतिमा अगीकार की। इसमे प्रति दिशा मे एक-एक अहोरात्र पर्यंत ध्यान किया। फिर इसका बिना पारणा किये ही सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना प्रारम्भ की। इसमे दश दिशाओं के क्रम से एक-एक अहोरात्र ध्यान करने से दश दिन हो गये। इस प्रकार सोलह दिन के उपवासो मे तीनो प्रतिमाओ की ध्यान-साधना भगवान् ने पूर्ण की।

प्रतिमाए पूर्ण होने पर पभु 'आनन्द' गाथापति के यहा पहुचे। उस समय आनन्द की 'बहुला' दासी रसोईघर के बर्तनो को खाली करने के लिए

---

[1] आव चू, २९९

[2] आव चू, पृ० २९९

[3] आव चू, पृ० ३००

रात्रि का अवशेष दोषीण अन्न डालने को बाहर आयी थी। उसने स्वामी को देख कर पूछा – "क्या चाहिए महाराज!" महावीर ने हाथ फैलाया तो दासी ने बड़ी श्रद्धा से अवशेष वासी भोजन भगवान् को दे डाला। भगवान् ने निर्दोष जान कर उसी वासी भोजन से सहज भाव से पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य प्रकटाये और दान की महिमा से दासी को दासीपन से मुक्त कर दिया।[1]

संगम देव के उपसर्ग

वहां से प्रभु ने 'दृढ भूमि' की ओर प्रयाण किया। नगरी के बाहर 'पैढ़ाल' नाम के उद्यान मे 'पोलास' नाम का एक चैत्य था। वहा अष्टम तप कर भगवान् ने थोडा सा देह को झुकाया और एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ हो गये। फिर सब इन्द्रियो का गोपन कर दोनो पैरो को संकोच कर हाथ लटकाये, एक रात की पडिमा मे स्थित हुए। उस समय देवपति शक्रेन्द्र ने जो बहुत से देव-देवियो के बीच सभा मे विराजमान थे, भगवान् को अवधिज्ञान से ध्यानस्थ देख कर नमस्कार किया और बोले – "भगवान् महावीर का धैर्य और साहस इतना अनूठा है कि मानव तो क्या शक्तिशाली देव और दानव भी उनको साधना से विचलित नही कर सकते।"

सब देवो ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया किन्तु सगम नाम के एक देव के गले मे यह बात नही उतरी। उसने सोचा – "शक्रेन्द्र यो ही झूठी-मूठी प्रशसा कर रहे है। मैं अभी जाकर उनको विचलित कर देता हू।" ऐसा सोच कर वह जहा भगवान् ध्यानस्थ खडे थे वहां आया। आते ही उसने एक-एक से बढ़ कर उपसर्गों का जाल बिछा दिया। शरीर के रोम-रोम में वेदना उत्पन्न कर दी। फिर भी जब भगवान् प्रतिकूल उपसर्गो से किंचित्मात्र भी चलायमान नही हुए तो उसने अनुकूल उपसर्ग आरम्भ किये। प्रलोभन के मनमोहक दृश्य उपस्थित किये। गगनमडल से तरुण, सुन्दर अप्सराए उतरी और हाव-भाव आदि करती हुई प्रभु से काम-याचना करने लगी। पर महावीर पर उनका कोई असर नही हुआ। वे सुमेरु की तरह ध्यान मे अडोल खड़े रहे।

सगम ने एक रात मे निम्नलिखित बीस भयकर उपसर्ग उपस्थित किये–

(१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की।
(२) वज्रमुखी चीटियां उत्पन्न की, जिन्होने काट-काट कर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया।
(३) डास और मच्छर छोड़े जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे।
(४) दीमक उत्पन्न की जो शरीर को काटने लगी।
(५) विच्छुओ द्वारा डक लगवाये।
(६) नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

---

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३०१।

(७) भीमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पो से कटवाया ।

(८) चूहे उत्पन्न किये जो शरीर में काट-काट कर ऊपर पेशाव कर जाते ।

(९-१०) हाथी और हथिनी प्रकट कर उनकी सूंडो से भगवान् के शरीर को उछलवाया और उनके दातों से प्रभु पर प्रहार करवाये ।

(११) पिशाच बन कर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा ।

(१२) वाघ वन कर प्रभु के शरीर का नखो से विदारण किया ।

(१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप वना कर करुणविलाप करते दिखाया ।

(१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरो के बीच आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की ।

(१५) चाण्डाल का रूप वना कर भगवान् के शरीर पर पक्षियो के पिंजर लटकाये जो चौंचो और नखो से प्रहार करने लगे ।

(१६) आंधी का रूप खडा कर कई वार भगवान् के शरीर को उठाया ।

(१७) कलंकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की तरह घुमाया ।

(१८) कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनो तक जमीन मे धस गये ।

(१९) देव रूप से विमान मे बैठ कर आया और बोला – "कहो तुमको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग (मोक्ष) ? और

(२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया किन्तु उसके रागपूर्ण हाव-भाव से भी भगवान् विचलित नही हुए ।

रात भर के इन भयकर उपसर्गों से भी जब भगवान् विचलित नही हुए तो सगम कुछ और उपाय सोचने लगा। महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर 'वालुका' की ओर विहार किया ।[1] भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देख कर सगम लज्जित हुआ । उसे स्वर्ग मे जाते लज्जा आने लगी । इतने पर भी उसका जोश ठंडा नही हुआ । उसने पांच सौ चोरो को मार्ग मे खडा करके प्रभु को भयभीत करना चाहा । 'वालुका' से भगवान् 'सुयोग', 'सुच्छेत्ता', 'मलय' और 'हस्तिशीर्ष' आदि गावो मे जहा भी पधारे वहा सगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा ।[2]

एक वार भगवान् 'तोसलि गाव' के उद्यान मे ध्यानस्थ विरामान थे, तव सगम साधु-वेष वना कर गाव के घरो मे सेंध लगाने लगा । लोगो ने चोर समझ कर जव उसको पकडा और पीटा तो वह बोला – "मुझे क्यो पीटते हो ?

---

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११ ।

[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११ ।

मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है। यदि तुम्हे असली चोर को पकडना है तो उद्यान मे जाओ, जहा मेरे गुरु कपट रूप मे ध्यान किये खड़े हैं और उनको पकड़ो।" उसकी बात से प्रभावित होकर तत्क्षण लोग उद्यान मे पहुचे और ध्यानस्थ महावीर को पकड़ कर रस्सियो से जकड कर गाव की ओर ले जाने लगे। उस समय 'महाभूतिल' नाम के ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया क्योंकि उसने पहले 'कु डग्राम' मे महावीर को देखा था। अत. लोगो को समझा कर महावीर को छुडाया और कहा - "यह सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं, चोर नही।" ऐन्द्रजालिक की बात सुन कर लोगो ने प्रभु से क्षमायाचना की। झूठ बोल कर साधु को चोर कहने वाले सगम को जब लोग खोजने लगे तो उसका कही पता नही चला। इस पर लोगो ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है।[१]

इसके बाद भगवान् 'मोसलि ग्राम' पधारे। सगम ने वहा पर भी उन पर चोरी का आरोप लगाया। भगवान् को पकड कर राज्य-सभा मे ले जाया गया। वहा 'सुमागध' नामक प्रान्ताधिकारी, जो सिद्धार्थ राजा का मित्र था, उसने महावीर को पहचान कर छुडा दिया। यहा भी सगम लोगो की पकड मे नहीं आया और भाग गया। फिर भगवान् लौट कर 'तोसलि' आये और गाव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। सगम ने यहा भी चोरी करके भारी शस्त्रास्त्र महावीर के पास, उन्हे फसाने की भावना से ला रखे और स्वय कही जाकर सेध लगाने लगा। पकड़े जाने पर उसने धर्माचार्य का नाम बता कर भगवान् को पकड़वा दिया। अधिकारियो ने उनके पास शस्त्र देखे तो नामी चोर समझ कर फासी की सजा सुना दी। ज्योंही प्रभु को फासी के तख्ते पर चढ़ा कर उनकी गर्दन मे फदा डाला और नीचे से तख्ती हटाई कि गले का फदा टूट गया। पुन. फदा लगाया गया पर वह भी टूट गया। इस प्रकार सात बार फांसी पर चढ़ाने पर भी फासी का फंदा टूटता ही रहा तो दर्शक एव अधिकारी चकित हो गये। अधिकारी पुरुषो ने प्रभु को महापुरुष समझ कर मुक्त कर दिया।[२]

यहां से भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। वहां भी संगम देव ने महावीर पर चोरी का आरोप लगा कर उन्हे पकड़वाया किन्तु कौशिक नाम के एक अश्व-व्यापारी ने पहचान कर भगवान् को मुक्त करवा दिया।[३]

भगवान् वहा से व्रजगांव पधारे, वहा पर उस दिन कोई महोत्सव था। अत. सब घरो मे खीर पकाई गई थी। भगवान् भिक्षा के लिए पधारे तो संगम ने सर्वत्र 'अनेषणा' कर दी। भगवान् इसे सगमकृत उपसर्ग समझ कर लौट आये और ग्राम के बाहर ध्यानावस्थित हो गये।

इस प्रकार लगातार छ मास तक अगणित कष्ट देने पर भी जब सगम ने देखा कि महावीर अपनी साधना से विचलित नहीं हुए बल्कि वे पूर्ववत् ही

---

[१] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३१२
[२] आवश्यक चूर्णि, पृ ३१३
[३] आवश्यक चू, पृ० ३१३

विशुद्ध भाव से जीवमात्र का हित सोच रहे है तो परीक्षा करने का उसका धैर्य टूट गया, वह हताश हो गया। पराजित होकर वह भगवान् के पास आया और बोला – "भगवन् ! देवेन्द्र ने आपके विषय मे जो प्रशंसा की है, वह सत्य है। प्रभो ! मेरे अपराध क्षमा करो। सचमुच आपकी प्रतिज्ञा सच्ची और आप उसके पारगामी है। अब आप भिक्षा के लिए जायें, किसी प्रकार का उपसर्ग नही होगा।"

सगम की बात सुन कर महावीर बोले – "सगम ! मैं इच्छा से ही तप या भिक्षा-ग्रहण करता हू। मुझे किसी के आश्वासन की अपेक्षा नही है।" दूसरे दिन छह मास की तपस्या पूर्ण कर भगवान् उसी गांव मे भिक्षार्थ पधारे और 'वत्सपालक' बुढिया के यहा परमान्न से पारणा किया। दान की महिमा से वहा पर पच-दिव्य प्रकट हुए। यह भगवान् की दीर्घकालीन उपसर्ग सहित तपस्या थी।

व्रज गांव से 'आलभिया', 'श्वेताम्बिका', 'सावत्थी', 'कोशाम्बी', 'वाराणसी', 'राजगृह' और मिथिला आदि को पावन करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और नगर के बाहर समरोद्यान मे बलदेव के मन्दिर मे चातुर्मासिक तप अगीकार कर ध्यानस्थ हुए। इस वर्ष का वर्षाकाल वही पूर्ण हुआ।

जीर्ण सेठ की भावना

वैशाली मे जिनदत्त नामक एक भावुक श्रावक रहता था। आर्थिक स्थिति क्षीण होने से उसका घर पुराना हो गया और लोग उसको जीर्ण सेठ कहने लगे। वह सामुद्रिक शास्त्र का भी ज्ञाता था। भगवान् की पद-रेखाओ के अनुसंधान मे वह उस उद्यान मे गया और प्रभु को ध्यानस्थ देख कर परम प्रसन्न हुआ।

प्रीतिवश वह प्रतिदिन भगवान् को नमस्कार करने आता और आहारादि के लिए भावना करता। इस तरह निरन्तर चार मास तक चातक की तरह चाह करने पर भी उसकी भव्य भावना पूर्ण नही हो सकी।

चातुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् भिक्षा के लिए निकले और अपने संकल्प के अनुसार गवेषणा करते हुए 'अभिनव' श्रेष्ठी के द्वार पर खड़े रहे। यह नया धनी था, इसका मूल नाम पूर्ण था। प्रभु को देख कर सेठ ने लापरवाही से दासी को आदेश दिया और चम्मच भर कुलत्थ बहराये। भगवान् ने उसी से चार मास की तपस्या का पारणा किया। पच-दिव्य वृष्टि के साथ देव-दुन्दुभि बजी किन्तु जीर्ण सेठ भगवान् के पधारने की प्रतीक्षा मे उत्कट भावना के साथ खडा रहा, उसकी प्रतीक्षा बनी रही, वह भावना की अत्यन्त उच्चतम स्थिति पर पहुच चुका था। इस उत्कट उज्वल भावना से जीर्ण सेठ ने बारहवे स्वर्ग का बन्ध किया। कहा जाता है कि यदि दो घड़ी देव-दुन्दुभि वह नही सुन पाता तो केवलज्ञान प्राप्त कर लेता।

साधना का बारहवां वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरण-ग्रहण

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वहा से 'सुन्सुमार' पधारे। यहा 'भूतानन्द' ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया – "कुछ समय मे आपको केवल-

ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होगी। भूतानन्द की वात सुन कर प्रभु मौन ही रहे।

'सुन्सुमारपुर' मे चमरेन्द्र के उत्पात की घटना और शरण-ग्रहण का भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन है, जो इस प्रकार है :–

भगवान् ने कहा – "जिस समय मै छद्मस्थचर्या के ग्यारह वर्ष विता चुका था उस समय की वात है कि छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारण करते हुए मैं सुन्सुमारपुर के वनखण्ड मे आया और अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर ध्यानावस्थित हो गया। उस समय चमरचचा मे 'पूरण' वाल तपस्वी का जीव इन्द्र रूप से उत्पन्न हुआ। उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य भोग भोगते देखा। यह देख कर उसके मन मे विचार उत्पन्न हुआ – "यह मृत्यु को चाहने वाला लज्जारहित कौन है जो मेरे ऊपर पैर किये इस तरह दिव्य भोग भोग रहा है ?" चमरेन्द्र को सामानिक देवो ने परिचय दिया कि यह देवराज शक्रेन्द्र है, सदा से ये अपने स्थान को भोग रहे है। चमरेन्द्र को इससे सतोष नही हुआ। वह शक्रेन्द्र की शोभा को नष्ट करने के विचार से निकला और मेरे पास आकर वोला – "भगवन् ! मैं आपकी शरण लेकर स्वय ही देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।" इसके वाद वह वैक्रिय रूप वना कर सौधर्म देवलोक मे गया और हुकार करते हुए वोला – "कहा है ? देवराज शक्रेन्द्र कहां है ? चौरासी हजार सामानिक देव और करोड़ों अप्सराये कहा है, उन सवको मैं अभी नष्ट करता हूँ।"

चमरेन्द्र के रोपभरे अप्रिय शब्द सुन कर देवपति शक्रेन्द्र को क्रोध आया और वे भृकुटि चढा कर वोले – "अरे हीन-पुण्य ! असुरेन्द्र ! असुरराज ! तू आज ही मर जायेगा।" ऐसा कह कर शक्रेन्द्र ने सिंहासन पर वैठे-वैठे ही वज्र हाथ मे ग्रहण किया और चमरेन्द्र पर दे मारा। हजारो उल्काओं को छोडता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर वढा। उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र भयभीत हो गया और सिर नीचा व पद ऊपर कर के भागते हुए तेज गति से मेरे पास आया एव अवरुद्ध कण्ठ से बोला – "भगवन् ! आप ही शरणाधार हो" और यह कहते हुए वह मेरे पांवो के बीच गिर पडा।

उस समय शक्रेन्द्र को विचार हुआ कि चमर अपने वल से तो इतना साहस नही कर सकता, इसके पीछे कोई पीठ-बल होना चाहिए। विचार करते हुए उसने अवधिज्ञान से मुझे देखा और जान लिया कि भगवान् महावीर की शरण लेकर यह यहा आया है। अत. ऐसा न हो कि मेरे छोडे हुए वज्र से भगवान् को पीडा हो जाय। यह सोच कर इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और मुझ से चार अगुल दूर स्थित वज्र को उसने पकड लिया।"[1]

---

[1] मम च ण चउरगुल मसपत्त वज्ज पडिसाहरइ।

[भगवती शतक, ३।२।सू १४५।३०२]

भगवान् की चरण-शरण मे होने से शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को अभय दिया और स्वयं प्रभु से क्षमायाचना कर चला गया।

सुन्सुमारपुर से भगवान् 'भोगपुर', 'नदिग्राम' होते हुए 'मेढियाग्राम' पधारे। वहा ग्वालो ने उन्हे अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये।

कठोर अभिग्रह

मेढिया ग्राम से भगवान् कोशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होने एक विकट-अभिग्रह धारण किया जो इस प्रकार है :—

"द्रव्य से उड़द के बाकले सूप के कोने मे हो, क्षेत्र से देहली के बीच खड़ी हो, काल से भिक्षा समय बीत चुका हो, भाव से राजकुमारी दासी बनी हो, हाथ मे हथकड़ी और पैरो मे बेडी हो, मु डित हो, आंखो मे आसू और तेले की तपस्या किये हुए हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नही।"[1]

उपर्युक्त कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर महावीर प्रतिदिन भिक्षार्थ कोशाम्बी मे पर्यटन करते। वैभव, प्रतिष्ठा और भवन से उच्च, नीच एव मध्यम सब प्रकार के कुलो मे जाते और भक्तजन भी भिक्षा देने को लालायित रहते, पर कठोर अभिग्रहधारी महावीर बिना कुछ लिए ही उल्टे पैरो लौट जाते। जन-समुदाय इस रहस्य को समझ नही पाता कि ये प्रतिदिन भिक्षा के लिए आकर यो ही लौट क्यो जाते हैं। इस तरह भिक्षा के लिए घूमते हुए प्रभु को चार महीने बीत गये किन्तु अभिग्रह पूर्ण नही होने के कारण भिक्षा-ग्रहण का सयोग प्राप्त नही हुआ। नगर भर मे यह चर्चा फैल गई कि भगवान् इस नगर की भिक्षा ग्रहण करना नही चाहते। सर्वत्र आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा कि आखिर इस नगर मे कौनसी ऐसी बुराई या कमी है जिससे भगवान् बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

उपासिका नन्दा की चिन्ता

एक दिन भगवान् कोशाम्बी के अमात्य 'सुगुप्त' के घर पधारे। अमात्य-पत्नी 'नन्दा' जो कि उपासिका थी, बडी श्रद्धा से भिक्षा देने को आयी, किन्तु पूर्ववत् महावीर बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट गये। नन्दा को इससे बडा दु.ख हुआ। उस समय दासियो ने कहा — "देवार्य तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते हैं।" तब नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई अभिग्रह ले रखा होगा। नन्दा ने मन्त्री सुगुप्त के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की और बोली — "भगवान् महावीर चार महीनो से इस नगर मे बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं, फिर आपका प्रधान पद किस काम का और किस काम की आपकी बुद्धि जो आप प्रभु के अभिग्रह का पता भी न लगा सके?" सुगुप्त ने आश्वासन दिया कि वह इसके लिए प्रयत्न करेगा। इस प्रसग पर राजा की प्रतिहारी 'विजया' भी उपस्थित थी, उसने महल मे जाकर महारानी मृगावती को सूचित किया। रानी

---

[1] आव० चू०, प्रथम भाग, पृ० ३१६–३१७

मृगावती भी इस बात को सुन कर बहुत दुःखी हुई और राजा से बोली—"महाराज ! भगवान् महावीर बिना भिक्षा लिए इस नगर से लौट जाते हैं और अभी तक आप उनके अभिग्रह का पता नही लगा सके।" राजा शतानीक ने रानी को आश्वस्त किया और कहा कि शीघ्र ही इसका पता लगाने का यत्न किया जायगा। उसने 'तथ्यवादी' नाम के उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात पूछी, मगर वह बता नही सका। फिर राजा ने मत्री सुगुप्त से पूछा तो उसने कहा—"राजन् अभिग्रह अनेक प्रकार के होते है, पर किसके मन में क्या है, यह कहना कठिन है।" उन्होने साधुओं के आहार-पानी लेने-देने के नियमों की जानकारी प्रजाजनों को करा दी, किन्तु भगवान् ने फिर भी भिक्षा नही ली।

भगवान् को अभिग्रह धारण किये पाच महीने पच्चीस दिन हो गये थे। सयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु 'धन्ना' श्रेष्ठी के घर गये, जहा राजकुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी, सूप मे उडद के बाकले लिए हुए धर्मपिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको, सिर मुडित कर, हथकड़ी पहनाये तलघर मे बन्द कर रखा था। भगवान् को आया देख कर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल गया किन्तु भगवान् अभिग्रह की पूर्णता मे कुछ न्यूनता देख कर वहा से लौटने लगे तो चन्दना के नयनो से नीर बह चला। भगवान् ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर राजकुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना की हथकडिया और बेडिया टूट कर बहुमूल्य आभूषणो मे बदल गईं। आकाश में देव-दुन्दुभि बजी, पच-दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तातुर चित्त और अपमान-प्रपीडित-मलिन मुख सहसा चमक उठा।

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना भगवान् की प्रथम शिष्या और साध्वी-संघ की प्रथम सदस्या बनी।

जनपद में विहार

कोशाम्बी' से विहार कर प्रभु सुमंगल, सुछेत्ता, पालक प्रभृति गावो मे होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होने वहीं 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला मे बारहवा चातुर्मास पूर्ण किया।[1]

स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा मे आया करते थे। यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट ज्ञानी हैं जो देव इनकी सेवा मे आते है। ऐसा सोच कर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है?[2] भगवान् ने कहा—"मैं शब्द का जो वाच्यार्थ है वही आत्मा है।" स्वातिदत्त ने कहा—"मैं

[1] आव० चू०, पृ० ३२०।

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१०।

शव्द का वाच्यार्थ किसको कहते हैं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ?" प्रभु वोले – "आत्मा इन अग-उपागो से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है। अरूप होने से इन्द्रिया उसे ग्रहण नही कर पाती। अत शव्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है।" फिर स्वातिदत्त ने कहा – "क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है ?" भगवान् वोले – "ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है। गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते है।"

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान[1] के स्वरूप तथा भेद के वारे मे भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह वहुत ही प्रसन्न हुआ।

ग्वाले द्वारा कानो में कील ठोकना

वहा से विहार कर प्रभु 'जभियग्राम'[2] पधारे। वहा कुछ समय रहने के वाद मेढियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'[3] ग्राम गये और गाव के वाहर ध्यान मे स्थिर हो गये। सध्या के समय एक ग्वाला वहा आया और प्रभु के पास अपने वैल छोड कर कार्य हेतु गाव मे चला गया। वापिस आने पर उसे वैल नही मिले तो उसने महावीर से पूछा किन्तु महावीर मौन थे। उनके उत्तर नही देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनो कानो मे कांस नामक घास की शलाकाए डाली और पत्थर से ठोक कर कान के वरावर कर दी। भगवान् को इस शलाका-छेदन से अति वेदना हो रही थी फिर भी वे इस वेदना को पूर्व-सचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

'छम्माणि' से विहार कर प्रभु 'मध्यम पावा'[4] पधारे और भिक्षा के लिये 'सिद्धार्थ' नामक वणिक् के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र 'खरक' वैद्य से वाते कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर मे कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्त्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनो मित्रो ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नही। वे वहां से चल कर गाव के वाहर उद्यान में आए और ध्यानारूढ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान मे पहुचे। उन्होने भगवान् के शरीर की तेल से खूव मालिश की और फिर सडासी से कानो की शलाकाए खीच कर वाहर निकाली। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली जिससे कि सारा उद्यान गूज उठा। फिर वैद्य

---

1 आव० चू०, पृ० ३२०–३२१
2 आव० चू०, पृ० ३२१।
3 छम्माणि मगध देश मे था, वौद्ध ग्रन्थों मे इसका नाम खाउमत प्रसिद्ध है॥
[वीर विहार मीमासा हिन्दी, पृ० २८]
4 आ० मलय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १६८

खरक ने सरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े

उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सब में कानों से कील निकालने का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयंकर उपसर्ग के सामने 'कटपूतना' का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और संगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों में भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुर्मार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा ही उपस्थित किया गया।

छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधिक साढे बारह वर्ष जितने दीर्घकाल में भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जो भी उपसर्ग, चाहे वे देव सम्बन्धी, मनुष्य सबन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी उत्पन्न हुए, उन अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी उपसर्गों को महावीर ने निर्भय होकर समभावपूर्वक सहन किया। उनकी कठोर साधना और उग्र तपस्या बेजोड़ थी।

भगवान् महावीर ने अपनी तप साधना में कई बार पन्द्रह २ दिन और महीने-महीने तक जल भी नहीं ग्रहण किया। कभी वे दो-दो महीने और अधिक छः, छः महीने तक पानी नहीं पीते हुए रात दिन निस्पृह होकर विचरते रहे। पारणे में भी वे नीरस आहार पाकर संतोष मानते। उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या इस प्रकार है –

(१) एक छः-मासी तप
(२) एक पांच दिन कम छः-मासी तप।
(३) नौ (९) चातुर्मासिक तप।
(४) दो त्रैमासिक तप।
(५) दो (२) सार्धद्वैमासिक तप।
(६) छह (६) द्वैमासिक तप।
(७) (२) सार्धमासिक तप।
(८) बारह (१२) मासिक तप।
(९) बहत्तर पाक्षिक तप।
(१०) एक भद्र प्रतिमा दो दिन की।
(११) एक महाभद्र प्रतिमा चार दिन की।
(१२) एक सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की।
(१३) दो सौ उनतीस छट्ठ भक्त।
(१४) बारह अष्टम भक्त।
(१५) तीन सौ उनचास दिन पारणा
(१६) एक दिन दीक्षा का।[1]

---

[1] कल्पसूत्र, ११६।

आचारांग सूत्र के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्याये भी प्रभु ने की थी। इस प्रकार की कठोर साधना और उग्र तपस्या के कारण ही अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा महावीर की तप साधना उत्कृष्ट मानी गई है। निर्युक्तिकार भद्रवाहु के अनुसार महावीर की तपस्या सबसे अधिक उग्र थी। कहा जाता है कि उनके संचित कर्म भी अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा अधिक थे।

महावीर की उपमा

भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र मे निम्न उपमाओ से वताई गई है। वे :–

(१) कास्य-पात्र की तरह निर्लेप।
(२) शख की तरह निरंजन राग-रहित।
(३) जीव की तरह अप्रतिहत गति।
(४) गगन की तरह आलम्वन रहित।
(५) वायु की तरह अप्रतिवद्ध।
(६) शरद ऋतु के स्वच्छ जल की तरह निर्मल।
(७) कमलपत्र के समान भोग मे निर्लेप।
(८) कच्छप के समान जितेन्द्रिय।
(९) गेंडे की तरह राग-द्वेप से रहित-एकाकी।
(१०) पक्षी की तरह अनियत विहारी।
(११) भारण्ड की तरह अप्रमत्त।
(१२) उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर।
(१३) वृपभ के समान पराक्रमी।
(१४) सिह की तरह दुर्द्धर्प।
(१५) सुमेरु की तरह परीषहो के वीच अचल।
(१६) सागर की तरह गभीर।
(१७) चन्द्रवत् सोम्य।
(१८) सूर्यवत् तेजस्वी।
(१९) स्वर्ण की तरह कान्तिमान्।
(२०) पृथ्वी के समान सहिष्णु। और
(२१) अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तेजस्वी थे।

केवलज्ञान

अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन और अनुत्तर चारित्र आदि गुणो से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढे वारह वर्ष पूर्ण हो गये। तेरहवे वर्ष के मध्य मे ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास एव चतुर्थ पक्ष मे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जिस समय छाया पूर्व की ओर वढ रही थी, दिन के उस पिछले प्रहर मे जृंभिकाग्राम नगर के वाहर ऋजुवालुका नदी के किनारे जीर्ण उद्यान के पास श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र मे शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे। उस समय छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से उन्होंने

[1] कल्पसूत्र, ११७।

क्षपक श्रेणी का आरोहण कर,शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण मे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मो का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग मे केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की उपलब्धि की। अब भगवान् भाव अर्हन्त कहलाये। देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच, चराचर सहित सम्पूर्ण लोक की पर्याय को जानने और देखने वाले, सब जीवो के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावो को जानने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये।

प्रथम देशना

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण पंचदिव्यो की वृष्टि करते हुए ज्ञान की महिमा करने आये। देवताओ ने सुन्दर और विराट् समवशरण की रचना की। यह जानते हुए भी कि यहा सर्वविरति व्रत ग्रहण करने योग्य कोई नही है भगवान् ने कल्प समझ कर कुछ काल उपदेश दिया। वहा मनुष्यो की उपस्थिति नही होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नही किया। तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नही जाता किन्तु महावीर की प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा जो कि अभूतपूर्व होने के कारण आश्चर्य माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम साहित्य मे और शीलाकाचार्य के 'चउवन महापुरिस चरिउम्' को छोडकर प्राय सभी आगमेतर साहित्य मे भी यह सर्वसम्मत मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि भगवान् महावीर की प्रथम देशना अभाविता परिषद् के समक्ष हुई। उसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती तेबीस तीर्थंकरो की प्रथम देशना से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्माओ ने सर्वविरति महाव्रत अगीकार किये उस प्रकार भगवान् महावीर की प्रथम देशना से एक भी व्यक्ति ने सर्वविरति महाव्रत धारण नही किये।

इस सदर्भ मे श्री हेमचन्द्र आदि प्राय सभी आचार्यों का यह अभिमत ध्वनित होता है कि भगवान् की प्रथम देशना के अवसर पर समवशरण में एक भी भव्य मानव उपस्थित नही हो सका था।

पर आचार्य गुणचन्द्र ने अपने 'महावीर चरियम्' मे भगवान् महावीर के प्रथम समवशरण की परिषद् को अभाविता-परिषद् स्वीकार करते हुए भी यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस परिषद् मे मनुष्य भी उपस्थित हुए थे।[1]

शीलाक जैसे उच्च कोटि के विद्वान् और प्राचीन आचार्य ने अपने 'चउवन्न महापुरिस चरियम्' मे 'अभाविता-परिषद्' का उल्लेख तक भी नही करते हुए

---

[1] ताहे तिलोयनाहो थुव्वन्तो देवनरनरिंदेहिं।
सिंहासणे निसीयइ, तित्थपणाम पकाऊण ॥४॥
जइविहु एरिमनाणेण जिणवरो मुणइ जोग्गयारहियं।
कप्पोत्ति तहवि साहइ, खणमेत्त धम्मपरमत्थं ॥५॥
[महावीर चरियम् (आचार्य गुणचन्द्र), प्रस्ताव ७]

'ऋजुवालुका' नदी के तट पर हुई भगवान् महावीर की प्रथम देशना मे ही इन्द्र-भूति आदि ग्यारह विद्वानो के अपने-अपने शिष्यो सहित उपस्थित होने, उनकी मनोगत शंकाओ का भगवान् द्वारा निवारण करने एवं प्रभुचरणो मे दीक्षित हो गणधर-पद प्राप्त करने आदि का विवरण दिया है।[1]

मध्यमापावा मे समवशरण

यहा से भगवान् 'मध्यमापावा' पधारे। वहा पर 'आर्य सोमिल' द्वारा एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था जिसमे कि अनेक उच्च कोटि के विद्वान् निमन्त्रित थे। भगवान् ने वहा के विहार को वडा लाभ का कारण समझा। जव 'जभिय गाव' से आप पावापुरी पधारे तव देवो ने अशोक वृक्ष आदि महाप्रातिहार्यो[2] से प्रभु की महती महिमा की। देवो द्वारा एक भव्य और विराट् समवशरण की रचना की गई। वहा देव-दानव और मानवो आदि की विशाल सभा मे भगवान् उच्च सिहासन पर विराजमान हुए।[3] मेघ-सम गम्भीर ध्वनि मे महावीर ने अर्धमागधी भाषा मे देशना प्रारम्भ की। भव्य भक्तो के मनमयूर इस अलौकिक उपदेश को सुनकर आत्मविभोर हो उठे।

इन्द्रभूति का आगमन

आकाश-मार्ग से देव-देवियो के समुदाय आने लगे। यज्ञस्थल के पण्डितो ने देवगण को विना रुके सीधे ही आगे निकलते देखा तो उन्हे आश्चर्य हुआ। प्रमुख पण्डित इन्द्रभूति को जव मालूम हुआ कि नगर के वाहर सर्वज्ञ महावीर आये हैं और उन्ही के समवशरण में ये देवगण जा रहे है, तो उनके पाण्डित्य को आँच सी आने लगी। वे भगवान् महावीर के अलौकिक ज्ञान की परख करने और उन्हे शास्त्रार्थ मे पराजित करने की भावना से समवशरण मे आये। उनके साथ पाच सौ छात्र और अन्य विद्वान् भी थे।

समवशरण मे आकर इन्द्रभूति ने ज्योही महावीर के तेजस्वी मुख-मण्डल एव छत्रादि अतिशयो को देखा तो अत्यन्त प्रभावित हुए और महावीर ने जव उन्हे "गौतम" कहकर पुकारा तो वे चकित हो गये। इन्द्रभूति ने मन ही मन सोचा – "मेरी ज्ञान विषयक सर्वत्र प्रसिद्धि के कारण इन्होने नाम से पुकार लिया है। पर जव तक ये मेरे अतरग सशयो का छेदन नही कर दे, मैं इन्हे सर्वज्ञ नही मानू गा।"

इन्द्रभूति का शंका-समाधान

गौतम के मनोगत भावो को समझकर महावीर ने कहा – "गौतम! मालूम होता है, तुम चिरकाल से आत्मा के विषय मे शकाशील हो।" इन्द्रभूति अपने

---

[1] आवश्यक, गा० ५३६।

[2] चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, पृ० २६६ से ३०३।

[3] अशोकवृक्ष सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनिश्चामरमासन च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्र, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरस्य॥

आन्तरिक प्रश्न को सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होने कहा – "हा मुझे यह शका है। 'श्रुतियो मे', विज्ञान-घन आत्मा भूत-समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी में पुन. तिरोहित हो जाती है, अतः परलोक की संज्ञा नही, ऐसा कहा गया है। जैसे -- 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य सज्ञास्ति।' इसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतो से पृथक् पुरुष-आत्मा का अस्तित्व कैसे सभव हो सकता है?"

इन्द्रभूति का प्रश्न सुनकर प्रभु महावीर ने शान्तभाव से उत्तर देते हुए कहा- "इन्द्रभूति! तुम 'विज्ञानघन ' इस श्रुतिवाक्य का जिस रूप मे अर्थ समझ रहे हो, वस्तुत. उसका वैसा अर्थ नही है। तुम्हारे मतानुसार विज्ञानघन का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न चेतनापिण्ड है, पर उसका सही अर्थ विविध ज्ञानपर्यायो से है। आत्मा मे प्रतिपल नवीन ज्ञानपर्यायो का आविर्भाव और पूर्वकालीन ज्ञानपर्यायो का तिरोभाव होता रहता है। जैसे कि कोई व्यक्ति एक घट को देख रहा है, उस पर विचार कर रहा है, उस समय उसकी आत्मा मे घट विषयक ज्ञानोपयोग समुत्पन्न होता है। इस स्थिति को घट विषयक ज्ञानपर्याय कहेगे। कुछ समय के वाद वही मनुष्य जव घट को छोडकर पट आदि पदार्थो को देखने लगता है तव उसे पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है और पहले का घट-सम्बन्धी ज्ञान-पर्याय सत्ताहीन हो जाता है। अत कहा जा सकता है कि विविध पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानघन है। यहा भूत शव्द का अर्थ पृथ्वी आदि पंच महाभूत से न होकर जड-चेतन रूप समस्त ज्ञेय पदार्थ से है। 'न प्रेत्य सज्ञास्ति' इस वाक्य का अर्थ परलोक का अभाव नही, पर पूर्व पर्याय की सत्ता नही, यह समझना चाहिये। इस प्रकार जव पुरुप मे उत्तरकालीन ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है तव पूर्वकालीन ज्ञानपर्याय सत्ताहीन हो जाता है। क्योकि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तर पर्याय के समय पूर्व पर्याय की सत्ता नही रह सकती। अत 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' कहा गया है।"

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इस तर्क-प्रधान विवेचना को सुनकर इन्द्रभूति के हृदय का सशय नप्ट हो गया और उन्होने अपने पाच सौ शिप्यो के साथ प्रभु का शिप्यत्व स्वीकार किया। ये ही इन्द्रभूति आगे चलकर भगवान् महावीर के शासन मे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

दिगम्बर-परम्परा की मान्यता

इस सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि भगवान् महावीर को केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर देवो ने पंच-दिव्यो की वृप्टि की और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने वैशाख शुक्ला १० के दिन ही समवशरण की रचना कर दी। भगवान् महावीर ने पूर्वद्वार से समवशरण मे प्रवेश किया और वे सिहासन पर विराजमान हुए।

भगवान् का उपदेश सुनने के लिये उत्सुक देवेन्द्र अन्य देवो के साथ हाथ जोड़े अपने प्रकोष्ठ मे प्रभु के समक्ष बैठ गये। पर प्रभु के मुखारविन्द से दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित नही हुई। निरन्तर कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद भी जब प्रभु ने उपदेश नही दिया तो इन्द्र ने चिन्तित हो सोचा कि आखिर भगवान् के उपदेश न देने का कारण क्या है।

अवधिज्ञान से इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि गणधर के अभाव मे भगवान् का उपदेश नही हो रहा है तो वे उपयुक्त पात्र की खोज मे लगे और विचार करते करते उन्हे उस समय के प्रकाण्ड पण्डित इन्द्रभूति का ध्यान आया।

देवराज शक्र तत्काल शिष्य का छद्मवेश बना कर इन्द्रभूति के पास पहुचे और सादर अभिवादन के पश्चात् बोले – "विद्वन् ! मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ मे अच्छी तरह से नही आ रहा है। मेरे गुरु इस समय मौन धारण किये हुए है अत आप कृपा कर मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।"

उत्तर मे इन्द्रभूति ने कहा – "मै तुम्हे गाथा का अर्थ इस शर्त पर समझा सकता हूँ कि उस गाथा का अर्थ समझ मे आ जाने पर तुम मेरे शिष्य बन जाने की प्रतिज्ञा करो।"

छद्मवेशधारी इन्द्र ने इन्द्रभूति की शर्त सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके सम्मुख यह गाथा प्रस्तुत की –

पचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पच।
अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बध-मोक्खो य ॥

[षट्खण्डागम, पु ६, पृ० १२६]

इन्द्रभूति उक्त गाथा को पढते ही असमंजस मे पड गये। उनकी समझ मे नही आया कि पच अस्तिकाय, षड्जीवनिकाय और अष्ट प्रवचन मात्राए कौन् कौन सी हैं। गाथा में उल्लिखित 'छज्जीवणिकाया' इस शब्द से तो इन्द्रभूति एकदम चकरा गये क्योकि जीव के अस्तित्व के विषय मे उनके मन मे शका घर किये हुए थी। उनके मन में विचारों का प्रवाह उमड पडा।

हठात् अपने विचार-प्रवाह को रोकते हुए इन्द्रभूति ने आगन्तुक से कहा – "तुम मुझे तुम्हारे गुरु के पास ले चलो। उनके सामने ही मैं इस गाथा का अर्थ समझाऊगा।"

अपने अभीप्सित कार्य को सिद्ध होता देख इन्द्र बडा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को अपने साथ लिये भगवान् के समवशरण मे पहुँचा।

गौतम के वहा पहुचते ही भगवान् महावीर ने उन्हे नाम-गोत्र के साथ सम्बोधित करते हुए कहा – "अहो गौतम इन्द्रभूति ! तुम्हारे मन मे जीव के अस्तित्व के विषय मे शंका है कि वास्तव मे जीव है या नहीं। तुम्हारे अन्तर मे

जो इस प्रकार का विचार कर रहा है। वही निश्चित रूप से जीव है। उस जीव का सर्वथा अभाव न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ही।"

भगवान् के मुखारविन्द से कभी किसी के सम्मुख प्रकट नही की हुई अपने मन की शका एव उस शका का समाधान सुन कर इन्द्रभूति श्रद्धा तथा भक्ति के उद्रेक से प्रभुचरणो पर अवनत हो प्रभु के पास प्रथम शिष्य के रूप से दीक्षित हो गये। और इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर केवलज्ञान होने के ६६ दिन बाद श्रावण-कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान् महावीर ने प्रथम उपदेश दिया। यथा –

वासस्स पढममासे, सावणणामम्मि वहुल पडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मिय, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥

[तिलोयपण्णत्ती, १६८]

तीर्थस्थापन

इन्द्रभूति के पश्चात् अग्निभूति आदि अन्य दश पण्डित भी क्रमश. आये और भगवान् महावीर से अपनी शकाओ का समाधान पा कर शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गये। भगवान् महावीर ने उनको "उप्पन्ने इवा, विगमे इवा, धुवे इवा" इस प्रकार त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से इन्द्रभूति आदि विद्वानो ने द्वादशाग और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्व की रचना की[1] और वे गणधर कहलाये।

महावीर की वीतरागतामयी वाणी श्रवण कर एक ही दिन मे उनके इन्द्रभूति आदि चार हजार चार सौ शिष्य हुए। प्रथम पाचो के पाच-पाच सौ, छट्ठे और सातवे के साढे तीन-तीन सौ, और शेष अन्तिम चार पण्डितों के तीन-तीन सौ छात्र थे। इस तरह कुल मिलाकर चार हजार चार सौ हुए। भगवान् के धर्म सघ मे राजकुमारी चन्दनवाला प्रथम साध्वी वनी। शख, शतक आदि ने श्रावक-धर्म और सुलसा आदि ने श्राविका-धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार 'मध्यमपावा' का वह 'महासेन वन' और वैशाख शुक्ला एकादशी का दिन धन्य हो गया जब भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की शिक्षा दे कर साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका रूप चतुर्विध सघ की स्थापना की और स्वय भावतीर्थंकर कहलाये।

महावीर की भाषा

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन अर्धमागधी भापा मे दिया था।[2] भगवान् की भापा को आर्य-अनार्य सभी सरलता से समझ लेते थे।[3] जर्मन

[1] उप्पन्न विगम धुअपय तियम्मि कहिए जगेण तो तेहिं।
सव्वेहिं विय वुद्धीहिं वारस अगाइ रइयाइ ॥ १५६४, महावीर चरित्र, (नेमिचन्द्र रचित)

[2] (क) समवा०, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, सू० ३४, पृ० १४६।

[3] (ग) समवायाग, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, पृ० १४६।

विद्वान् रिचार्ड पिशल ने इसके अनेक प्राचीन रूपो का उल्लेख किया है।[1] निशीथ चूर्णि मे मगध के अर्धभाग मे बोली जाने वाली अठारह देशी भाषाओ[2] मे नियत भाषा को अर्धमागधी[3] कहा है। नवागी टीकाकार अभयदेव के मतानुसार इस भाषा को अर्धमागधी कहने का कारण यह है कि इसमे कुछ लक्षण मागधी के और कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाते है।[4]

तीर्थ-स्थापना के पश्चात् पुनः भगवान् 'मध्यमापावा' से राजगृही को पधारे और इस साल का वर्षावास वही पर पूर्ण किया।

केवलीचर्या का प्रथम वर्ष

मध्यमपावा से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् साधु परिवार के साथ 'राजगृह' पधारे। राजगृह मे उस समय पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुत से श्रावक और श्राविकाएँ रहती थी। भगवान् नगर के बाहर गुणशील चैत्य मे विराजे। राजा श्रेणिक को भगवान् के पधारने की सूचना मिली तो वे राजसी शोभा मे अपने अधिकारियो, अनुचरो और पुत्रो आदि के साथ भगवान् की वन्दना करने को निकले और विधिपूर्वक वन्दन कर सेवा करने लगे। उपस्थित सभा को लक्ष्य कर प्रभु ने धर्म-देशना सुनाई। श्रेणिक ने धर्म सुन कर सम्यक्त्व स्वीकार किया और अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।[5]

नन्दीषेण की दीक्षा

राजकुमार मेघकुमार और नन्दिषेण ने यही पर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की थी, जिसका वर्णन इस प्रकार है –

---

[1] हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'प्राकृत भाषाओ का व्याकरण', पृ० ३३।

[2] (क) वृहत्कल्प भाष्य १ प्र० की वृत्ति १२३१ मे मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, गौड, विदर्भ, आदि देशो की भाषाओ को देशी भाषा कहा है।
(ख) उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला मे, गोल्ल, मगध कर्णाटक, अन्तरवेदी, कीर, टक्क, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ठ और आन्ध्र प्रदेशो की भाषाओ का देशी भाषा के रूप से सोदाहरण उल्लेख किया है।
[डॉ० जगदीशचन्द्र जैन – प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७–४२८]

[3] मगहद्ध विसय भासा, निबद्ध अद्धमागहा अहवा अट्ठारह देसी भासा णियत अद्धमागह ११, ३६१८ निशीथ चूर्णि

[4] (क) व्याख्या प्र०, ५।४ सूत्र १९१ की टीका, पृ० २२१
(ख) औपपातिक, सू० ५६ टी०, पृ० १४८

[5] (क) एमाइ धम्मकह सोउ सेणिय निवाइया भव्वा।
समत्त पडिपन्ना केई पुण देस विरयाई॥ १२९४
[नेमिचन्द्र कृत महावीर चरिय]
(ख) श्रुत्वा ता देशना भर्तु सम्यक्त्व श्रेणिकोऽभवत्।
श्रावकधर्मं त्वभय-कुमाराद्या प्रपेदिरे॥ ३७६
[त्रि० श०, प० १०, स० ६]

महावीर प्रभु की वाणी सुनकर नन्दिषेण ने माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति चाही। श्रेणिक ने भी धर्मकार्य समझकर अनुमति प्रदान की। अनुमति प्राप्त कर ज्यो ही नन्दिषेण घर से चला कि आकाश से एक देवता ने कहा – "वत्स ! अभी तुम्हारे चारित्रावरण का जोर है, अत. कुछ काल घर मे ही रहो, फिर कर्मो के हल्का हो जाने पर दीक्षित हो जाना।" नन्दिषेण भावना के प्रवाह मे वह रहा था अत. वह बोला – "अजी ! मेरे भाव पक्के है तथा मैं सयम मे लीन हूँ फिर मेरा चारित्रावरण क्या करेगा ?" इस प्रकार कह कर वह भगवान् के पास आया और प्रभु-चरणो मे उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। स्थविरो के पास ज्ञान सीखा और विविध प्रकार की तपस्या के साथ आतापना आदि से वह आत्मा को भावित करता रहा। कुछ काल के वाद जव देव ने मुनि को विकट तप करते हुए देखा तो उसने फिर कहा – "नन्दिषेण ! तुम मेरी वात नही मान रहे हो, सोच लो, विना भोग कर्म को चुकाये ससार से त्राण नही होगा, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यो न करो।"

देव के वार-२ कहने पर भी नन्दिषेण ने उस पर ध्यान नही दिया। एक वार वेले की तपस्या के पारण मे वे अकेले भिक्षार्थ निकले और कर्मदोष से वेश्या के घर पहुँच गये। ज्यो ही उन्होने धर्मलाभ की बात कही तो वेश्या ने कहा – "यहा तो अर्थ-लाभ की वात है" और फिर हस पडी। उसका हसना मुनि को अच्छा नही लगा। उन्होने एक तृण खीच कर रत्नो का ढेर कर दिया और "ले यह अर्थ-लाभ" कहते हुए घर से वाहर निकल पडे। वेश्या मुनि नन्दिषेण के पीछे-पीछे दौड़ी और वोली – "प्राणनाथ ! जाते कहां हो ? मेरे साथ रहो, अन्यथा मैं अभी प्राण-विसर्जन कर दूगी।" उसके अतिशय अनुरोध एवं प्रेमपूर्ण आग्रह पर कर्माधीन नन्दिषेण उसके आग्रह को मान गये, किन्तु उन्होने एक शर्त रखी – "प्रतिदिन दश मनुष्यो को प्रतिवोध दूगा तव भोजन करूंगा और जिस दिन ऐसा नही कर सकूगा उसी दिन मे पुन गुरु-चरणो मे दीक्षित हो जाऊंगा।"

देव-वाणी का स्मरण करते हुए और वेश्या के साथ रहते हुए भी मुनि प्रतिदिन दश व्यक्तियो को प्रतिवोध देकर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण करने के लिये भेजते और फिर भोजन करते। एक दिन भोग्य-कर्म क्षीण होने आये। नन्दिषेण ने नौ व्यक्तियो को प्रतिवोध देकर तैयार किया परन्तु दशवा सोनी प्रतिवोध पा कर भी दीक्षार्थ तैयार नही हुआ। भोजन का समय आ गया। अत वेश्या वार वार भोजन के लिये वुलावा भेज रही थी, पर अभिग्रह पूर्ण नही होने से नदिषेण नही उठे। कुछ देर वाद वेश्या स्वय आयी और आग्रह-पूर्वक चलने को वोली, पर नन्दिषेण ने कहा – "दशवां तैयार नही हुआ तो अव मैं ही दशवा होता हू।" ऐसा कह कर वे वेश्यालय से वाहर निकल पडे और भगवच्चरणो मे पुन दीक्षा ले कर विशुद्ध रूप से सयम-साधना मे तत्पर हो

गये।[1] इस प्रकार अनेक भव्य-जीवो का कल्याण करते हुए प्रभु ने तेरहवा वर्षा-काल राजगृह मे ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का द्वितीय वर्ष

राजगृही में वर्षाकाल पूर्ण कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। वे 'ब्राह्मण कुण्ड' पहुचे और पास के 'वहुशाल' चैत्य मे विराजमान हुए। भगवान् के आने की खबर सुन कर पण्डित ऋषभदत्त देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ वदना को निकला और पाच नियमो के साथ भगवान् की सेवा मे पहुंचा।

ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध

भगवान् को देखते ही देवानन्दा का मन पूर्वस्नेह से भर आया। वह आनन्दमग्न एव पुलकित हो गई। उसके स्तनो से दूध की धारा निकल पडी। नेत्र हर्षाश्रु से डव-डवा आये। गौतम के पूछने पर भगवान् ने कहा – "यह मेरी माता है, पुत्र-स्नेह के कारण इसे रोमाञ्च हो उठा है।"[2] भगवान् की वाणी सुन कर ऋषभदत्त और देवानन्दा ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और दोनो ने ११ अगों का अध्ययन किया एव विचित्र प्रकार के तप, व्रतो से वर्षों तक सयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की।[3]

राजकुमार जमालि की दीक्षा

ब्राह्मण कुण्ड के पश्चिम मे क्षत्रियकुण्ड नगर था। वहां के राजकुमार जमालि ने भी भगवान् के चरणो मे पाच सौ क्षत्रिय-कुमारो के साथ दीक्षा ग्रहण की और ग्यारह अगो का अध्ययन कर वे विविध प्रकार के तप कर्मों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।[4] राजकुमार जमालि की पत्नी प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियो के साथ इसी समय दीक्षा ग्रहण की।[5] इस प्रकार जन-गण का विविध उपकार करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल वैशाली मे पूर्ण किया।

---

[1] त्रिषष्टि श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ४०८ से ४३६।

[2] गोयमा! देवाणदा माहणी मम अम्मगा, अहण देवाणदाए माहणीए उत्तए, तएण सा देवाणदा माहणी तेण पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेण आगयपण्हया जाव समूसवियरोमकूवा
[भ, श ६, अ ३३, सू ३८०]

[3] जाव तमट्ठ आसहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।
[भ, श ६, उ ६, सू. ३८२]

[4] भ, श ६, उ. ३३, सू ३८४

[5] भगवती – श ६, ३।६
(क) त्रिप, १०।८ श्लो ३६
(ख) महावीर च, ८ प्र प २६२

केवलीचर्या का तृतीय वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्सदेश की राजधानी 'कोशाम्बी' पधारे और 'चन्द्रावतरण' चैत्य मे विराजमान हुए। कोशाम्बी में राजा सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा वैशाली के गण-राज चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र 'उदयन' राज्य करता था। वहा उदयन की भूआ एव शतानीक की बहिन जयती श्रमणोपासिका थी। भगवान् के पधारने की बात सुन कर 'मृगावती' राजा उदयन और जयती के साथ भगवान् को वन्दना करने गयी। जयती श्राविका ने प्रभु की देशना सुन कर भगवान् से कई प्रश्नोत्तर किये, जो पाठकों के लाभार्थ यहा प्रस्तुत किये जाते है।

जयंती के धार्मिक प्रश्न

जयन्ती ने पूछा – "भगवन्! जीव हल्का कैसे होता और भारी कैसे होता है? उत्तर मे प्रभु ने कहा – 'जयती! अठारह पाप – (१) हिसा, (२) मृषा-वाद-झूठ, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१२) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर परिवाद-निन्दा, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा कपटपूर्वक झूठ और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है तथा चतुर्गतिक ससार मे भ्रमण करता है और इन प्राणातिपात आदि १८ पापो की विरति-निवृति से ही जीव ससार को घटाता है अर्थात् हल्का होकर ससार-सागर को पार करता है।"

"भगवन्! भव्यपन-मोक्ष की योग्यता, जीव मे स्वभावतः होती है या परिणाम से?" जयती ने दूसरा प्रश्न पूछा।

भगवान् ने इसके उत्तर मे कहा – "मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है, परिणाम से नही।"

"क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले है?" यह तीसरा प्रश्न जयती ने किया।

भगवान् ने उत्तर मे कहा – "हा, भव-सिद्धिक सब मोक्ष जाने वाले है।"

जयन्ती ने चौथा प्रश्न किया – "भगवन्! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या ससार कभी भव्य जीवो से खाली, शून्य हो जायेगा?"

इसके उत्तर मे भगवान् ने फरमाया – "जयंती! नही, जैसे सर्व आकाश की श्रेणी जो अन्य श्रेणियो से घिरी हो, एक परमाणु जितना खड प्रति समय निकालते हुए अनन्त काल मे भी खाली नही होती, वैसे ही भव-सिद्धिक जीवो में से निरन्तर मुक्त होते रहे तब भी ससार के भव्य कभी खत्म नही होगे, क्योकि वे अनन्त है।"

टीकाकार ने एक अन्य उदाहरण भी यहा दिया है। यथा – मिट्टी मे घडे वनने की और अच्छे पाषाण मे मूर्ति वनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नही हो सकता कि सबके घडे और मूर्तियां वन जाय और पीछे वैसी मिट्टी और पाषाण न रहे। वीज मे पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नही होता कि कोई भी वीज सीझे विना न रहे। वैसा ही भव्यो के वारे में भी समझना चाहिए।

जयन्ती ने जीवन से सम्वन्धित कुछ और प्रश्न किये जो इस प्रकार है :–

"भगवन्! जीव सोता हुआ अच्छा या जगता हुआ अच्छा ?"

इस पर भगवान् ने कहा – "कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे। जो लोग अधर्म के प्रेमी, अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण मे ही रगे रहते हैं, उनका सोना अच्छा। वे सोने की स्थिति मे वहुत से प्राणभूत जीव और सत्वों के लिए शोक एव परिताप के कारण नही वनते। उनके द्वारा स्वपर की अधर्मवृत्ति नही वढ पाती, अत. उनका सोना अच्छा किन्तु जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी और धर्मयुक्त विचार, प्रचार एव आचार मे रत रहने वाले है, उनका जगना अच्छा है। ऐसे लोग जगते हुए किसी के दु ख और परिताप के कारण नही होते। उनका जगना स्व-पर को सत्कार्य मे लगाने का कारण होता है।"

इसी प्रकार सवल-निर्वल और दक्ष एव आलसी के प्रश्नो पर भी अधिकारी भेद से अच्छा और वुरा वताया गया। इससे प्रमाणित हुआ कि शक्ति, सम्पत्ति और साधनों का अच्छापन एवं वुरापन सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है।

भगवान् के युक्तियुक्त उत्तरो से सतुष्ट होकर उपासिका जयन्ती ने भी सयम-ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।[1]

भगवान् का विहार और उपकार

कोशाम्वी से विहार कर भगवान् श्रावस्ती आए। यहा 'सुमनोभद्र' और 'सुप्रतिष्ठ' ने दीक्षा ग्रहण की। वर्षो सयम का पालन कर अन्त समय मे 'सुमनोभद्र' ने 'राजगृह' के विपुलाचल पर अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की। इसी प्रकार सुप्रतिष्ठ मुनि ने भी सत्ताईस वर्ष सयम का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की।[2]

फिर विचरते हुए प्रभु 'वाणियगाव' पधारे और 'आनन्द' गाथापति को प्रतिवोध देकर उन्हे श्रावक-धर्म का पथिक वनाया। फिर इस वर्ष का वर्षावास 'वाणियग्राम' मे ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का चतुर्थ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणियग्राम से मगध की ओर विहार किया। ग्रामानुग्राम उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह के 'गुण शील' चैत्य मे पधारे।

---

[1] भग, श १२, उ २, सू ४४३।

[2] अन० अणुत्तरो, एन वी वैद्य सम्पादित।

प्रभु ने वहा के जिज्ञासुजनो को शालि आदि धान्यो की योनि एव उनकी स्थिति-अवधि का परिचय दिया। वहा के प्रमुख सेठ 'गोभद्र' के पुत्र शालिभद्र ने भगवान् का उपदेश सुनकर ३२ रमणियो और भव्य भोगो को छोडकर दीक्षा ग्रहण की।

शालिभद्र का वैराग्य

कहा जाता है कि शालिभद्र के पिता 'गोभद्र' जो प्रभु के पास दीक्षित होकर देवलोकवासी हुए थे[1] वे शालिभद्र और अपनी पुत्र-वधुओ को नित नये वस्त्राभूषण एव भोजन पहुँचाया करते थे। शालिभद्र की माता भद्रा भी इतनी उदारमना थी कि व्यापारी से जिन रत्न-कम्बलो को राजा श्रेणिक नही खरीद सका, नगरी का गौरव रखने को वे सारी रत्न-कम्बले उन्होने खरीद ली और उनके टुकडे कर, वधुओ को पैर पोछने को दे दिये।

भद्रा के वैभव और औदार्य से महाराज श्रेणिक भी दग था। शालिभद्र के घर का आमन्त्रण पाकर जब राजा वहा पहुँचा तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गया। राज-दर्शन के लिये भद्रा ने जब शालिभद्र कुमार को बुलाया तो वह अपने अलबेलेपन मे बोला – "माता! मेरे आने की क्या जरूरत है, जो भी योग्य मूल्य हो देकर खरीद लो।" इस पर भद्रा बोली – "पुत्र कोई किराणा नही, यह तो अपना नाथ है, अत: शीघ्र आकर दर्शन कर जाओ।" नाथ शब्द सुनते ही शालिभद्र चौका और सोचने लगा – "इतना बडा वैभव पाने पर भी नाथ से पिण्ड नही छूटा। अवश्य ही मेरी करणी मे कसर है। अब ऐसी करणी अपनाऊ कि सदा के लिये यह पराधीनता छूट जाय।"

शालिभद्र माता के परामर्शानुसार धीरे-धीरे त्याग का साधन करने लगा और इसके लिये उसने प्रतिदिन एक-एक स्त्री छोडने की प्रतिज्ञा की। धन्ना सेठ को जब शालिभद्र की बहिन सुभद्रा से पता चला कि उसका भाई एक-एक स्त्री प्रतिदिन छोडते हुए दीक्षित होना चाहता है तो उसने कहा, छोडना है तो एक-एक क्या छोडता है, यह तो कायरपन है। सुभद्रा अपने भाई की न्यूनता-कमजोरी सुनकर बोल उठी – "पतिदेव! कहना जितना सरल है, उतना करना नही।" बस, इतना सुनते ही चाबुक से चोट खाये उच्च जातीय अश्व की तरह धन्ना स्नान-पीठ से उठ चले। नारियो का अनुनय विनय सब बेकार, उन्होने तत्काल जाकर शालिभद्र को साथ लिया और साला-बहनोई दोनो भगवान् के चरणो मे दीक्षित हो गये। विभिन्न प्रकार की तप साधना करते हुए अन्त मे दोनों ने 'वैभार गिरि' पर अनशन करके काल प्राप्त किया और सर्वार्थ सिद्ध विमान मे उत्पन्न हुए।[2]

---

[1] त्रि० श० पु०, १० प०, १० स०, ८४ श्लो०
(ख) उ० माला, गा० २० भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति।

[2] त्रि० श०, १० प०, १० स०, श्लो० १४९ से १८१।

इस प्रकार सहस्रो नर-नारियो को चारित्र-धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए प्रभु ने इस वर्ष का वर्षावास राजगृह मे पूर्ण किया।

केवलीचर्या का पंचम वर्ष

राजगृह का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और 'पूर्णभद्र यक्षायतन' मे विराजमान हुए। भगवान् के आगमन की वात सुन कर नगर का अधिपति महाराज 'दत्त' सपरिवार वन्दन को आया। भगवान् की अमोघ देशना सुनकर राजकुमार 'महाचन्द्र' प्रतिवुद्ध हुआ। उसने प्रथम श्रावकधर्म ग्रहण किया और कुछ काल के वाद पुन॰ भगवान् के पधारने पर राज-ऋद्धि और पाच सौ रानियो को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।[1]

संकटकाल में भी कल्परक्षार्थ कल्पनीय तक का परित्याग

कुछ समय के पश्चात् भगवान् चम्पा से 'वीतभय' नगरी की ओर पधारे। वहां का राजा 'उद्रायण' जो व्रती श्रावक था, पौपधशाला मे वैठकर धर्म-जागरण किया करता। उद्रायण के मनोगत भावो को जानकर भगवान् ने 'वीत-भय' नगर की ओर प्रस्थान किया। गर्मी के कारण मार्ग मे साधुओ को वडे कष्ट झेलने पडे। कोसो दूर-दूर तक वस्ती का अभाव था। जव भगवान् भूखे-प्यासे शिष्यो के सग विहार कर रहे थे तव उनको तिलो से लदी गाडिया नजर आयी। साधु-समुदाय को देखकर गाड़ी वालो ने कहा – "इनको खाकर क्षुधा शान्त कर लीजिये।" पर भगवान् ने साधुओ को लेने की अनुमति नहीं दी। भगवान् को ज्ञात था कि तिल अचित्त हो चुके हैं। पास के ह्रद का पानी भी अचित्त था फिर भी भगवान् ने साधुओ को उससे प्यास मिटाने की अनुमति नही दी। कारण कि स्थिति क्षय से निर्जीव वने हुए धान्य और जल को सहज स्थिति मे लिया जाने लगा तो कालान्तर मे अग्राह्य-ग्रहण मे भी प्रवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार व्यवस्था मे नियन्त्रण नही रहेगा। अत॰ छद्मस्थ के लिये कहा है कि निश्चय मे निर्दोष होने पर भी लोकविरुद्ध वस्तु का ग्रहण नही करना चाहिये।[2] वीतभय नगरी मे भगवान् के विराजने के समय वहा के राजा उद्रायण ने प्रभु की सेवा का लाभ लिया और कइयो ने त्यागमार्ग ग्रहण किया। फिर वहा से विहार कर भगवान् वाणियग्राम पधारे और यही पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का छठा वर्ष

वाणियग्राम मे वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वाराणसी की ओर पधारे और वहां के 'कोण्ठक चैत्य' मे विराजमान हुए। भगवान् का आगमन सुनकर महाराज जितशत्रु वंदन करने आये। भगवान् ने उपस्थित जन-समुदाय को धर्म-देशना फरमाई। उपदेश से प्रभावित होकर चुल्लिनी-पिता, उनकी भार्या श्यामा

---

[1] विपाक सू०, २ श्रु०, ९ अध्याय।

[2] वृहत्कल्प भा० वृ० भा० २, गा० ९९७ से ९९९, पृ० ३१४–१५।

तथा सुरादेव और उसकी पत्नी धन्या ने भी श्रावक-धर्म ग्रहण किया, जो कि भगवान् के प्रमुख श्रावको मे गिने जाते है। इस तरह प्रभु के उपदेशो से उस समय के समाज का और भी बहुत उपकार हुआ।

वाराणसी से भगवान् 'आलभिया' पधारे और 'शखवन' उद्यान मे शिष्य-मडली सहित विराजमान हुए। भगवान् के पधारने की बात सुनकर आलभिया के राजा जितशत्रु भी वन्दन के लिये प्रभु की सेवा मे आये।

पुद्गल परिव्राजक को बोध

शखवन उद्यान के पास ही 'पुद्गल' नाम के परिव्राजक का स्थान था। वह वेद और ब्राह्मण ग्रन्थो का विशिष्ट ज्ञाता था। निरन्तर छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से आतापना लेते हुए उसने विभग ज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह ब्रह्मलोक तक की देवस्थिति जानने लगा।

एक बार अज्ञानता के कारण उसके मन मे विचार हुआ कि देवो की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट दश सागर की है। इससे आगे न देव है और न उनकी स्थिति है। उसने घूम घूम कर सर्वत्र इस बात का प्रचार किया। फलत. भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने भी सहज में यह चर्चा सुनी। उन्होने भगवान् के चरणो मे आकर पूछा तो प्रभु ने कहा– "गौतम! यह कहना ठीक नही। इनकी उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागर तक है।" पुद्गल ने कर्ण–परम्परा से भगवान् का निर्णय सुना तो वह शकित हुआ और महावीर के पास पूछने को आ पहुचा। वह महावीर की देशना सुन कर प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा मे दीक्षित होकर उसने तप-सयम की आराधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।[1] इसी विहार मे 'चुल्लशतक' ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

वहा से विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे और वहाँ 'मकाई', 'किंकत', अर्जुनमाली एवं काश्यप को मुनि-धर्म की दीक्षा प्रदान की। गाथापति 'वरदत्त' ने भी यही सयम ग्रहण किया और बारह वर्ष तक सयमधर्म की पालना कर, मुक्ति प्राप्त की।[2] इस वर्ष प्रभु का वर्षावास भी राजगृह मे व्यतीत हुआ। 'नदन' मणिकार ने इसी वर्ष श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

केवलीचर्या का सातवां वर्ष

वर्षाकाल के बीतने पर भी भगवान् अवसर जानकर राजगृह में विराजे रहे। एक बार श्रेणिक भगवान् के पास बैठा था कि उस समय कोढी के रूप में एक देव भी वहाँ उपस्थित हुआ। भगवान् को छीक आई तो उसने कहा–"जल्दी मरो।" और जब श्रेणिक को छीक आई तो उसने कहा–"चिरकाल तक जीओ।" अभय छीका तो वह बोला-"जीवो या मरो।" 'कालशौकरिक' के छीकने पर

---

[1] भगवती शतक ११, उ० १२, सू० ४३६।

[2] अन्त कृतदशासूत्र, ६।३,४,६। पृ १०४-१०५। (जयपुर)

उसने कहा – "न जीओ न मरो।" इस तरह कोढ़ी रूप देव ने भिन्न भिन्न व्यक्तियों के छीकने पर भिन्न भिन्न शब्द कहे। भगवान् के लिये 'मरो' कहने से महाराज श्रेणिक रुष्ट हुए। उनकी मुखाकृति वदलते ही सेवक पुरुष उस कोढी को मारने उठे किन्तु तव तक वह अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन श्रेणिक ने उस कोढी एव उसके कहे हुए शब्दो के वारे मे भगवान् से पूछा तो प्रभु ने फरमाया – "राजन्! वह कोढी नही देव था। मुझे मरने को कहा, इसका अर्थ जल्दी मोक्ष जा, ऐसा है। तुम जीते हो तव तक सुख है, फिर नर्क में दुख भोगना होगा, इसलिये तुम्हे कहा – खूव जीओ। अभय का जीवन और मरण दोनों अच्छे है। और कालशौकरिक के दोनों वुरे, उसके लिये न जीने में लाभ और न मरने मे सुख, अत. कहा 'न जीओ, न मरो।"[1]

यह सुनकर श्रेणिक ने पूछा – "भगवन्! मैं किस उपाय से नारकीय दुख से वच सकता हूं, यह फरमाये।" इस पर प्रभु ने कहा – "यदि कालशौकरिक से हत्या छुड़वा दें या 'कपिला' ब्राह्मणी दान दे तो तुम नरक गति से छूट सकते हो।" श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया पर न तो कसाई ने हत्या छोड़ी और न 'कपिला' ने ही दान देना स्वीकार किया। इससे श्रेणिक वडा दुखी हुआ किन्तु प्रभु ने कहा – "चिन्ता मत कर, तू भविष्य मे तीर्थंकर होगा।"

समय पाकर राजा श्रेणिक ने यह घोपणा करवाई – "जो कोई भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, मैं उसे यथोचित सहयोग दूगा, रोकूंगा नही।"[2] घोपणा से प्रभावित हो अनेकों नागरिको के साथ (१) जालि, (२) मयालि, (३) उपालि, (४) पुरुषसेन, (५) वारिपेण, (६) दीर्घदंत, (७) लष्टदत, (८) वेहल्ल, (९) वेहास, (१०) अभय, (११) दीर्घसेन, (१२) महासेन, (१३) लष्टदत, (१४) गूढदत, (१५) शुद्धदत, (१६) हल्ल, (१७) द्रुम, (१८) द्रुमसेन, (१९) महाद्रुमसेन, (२०) सिंह, (२१) सिंहसेन, (२२) महासिंहसेन और (२३) पूर्णसेन इन तेवीस[3] राजकुमारो ने तथा (१) नदा, (२) नंदमती, (३) नदोत्तरा, (४) नदिसेणिया, (५) मरुया, (६) सुमरिया, (७) महामरुता, (८) मरुदेवा, (९) भद्रा, (१०) सुभद्रा, (११) सुजाता, (१२) सुमना, और (१३) भूतदत्ता, इन तेरह रानियो ने दीक्षित होकर भगवान् के संघ मे प्रवेश किया।[4] आर्द्रक मुनि भी भगवान् को वन्दन करने यहीं आये। इस प्रकार इस वर्ष प्रभु ने अनेकों उपकार किये। सहस्रो लोगो को सत्पथ पर लगाया और इस वर्ष का चातुर्मास भी राजगृह मे व्यतीत किया।

---

[1] आवश्यक चू०, उत्तर०, पृ० १६९।

[2] महावीर चरिय, गुणचन्द्र, पत्र ३३४।

[3] अणुत्तरोववाई।

[4] अतगड।

केवलीचर्या का आठवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् कुछ दिनो तक राजगृह में विराजकर भगवान् 'आलभिया' नगरी मे ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के उत्कृष्ट व जघन्य देवायुष्य सम्बन्धी विचारों का समर्थन करते हुए कौशाम्बी पधारे और 'मृगावती' को संकटमुक्त किया। क्योंकि मृगावती के रूपलावण्य पर मुग्ध हो चण्डप्रद्योत उसे अपनी रानी बनाने के लिये कौशाम्बी के चारो ओर घेरा डाले हुए था। उदयन की लघु वय होने से उस समय चडप्रद्योत को भुलावे मे डाल कर रानी मृगावती ही राज्य का सचालन कर रही थी। भगवान् के पधारने की बात सुन कर वह वन्दन करने गई और त्याग-विरागपूर्ण उपदेश सुन कर प्रव्रज्या लेने को उत्सुक हुई और बोली – "भगवन् ! चण्डप्रद्योत की आज्ञा ले कर मैं श्री चरणो में प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।" उसने वही पर चण्डप्रद्योत से जा कर अनुमति के लिये कहा। प्रद्योत भी सभा मे लज्जावश मना नही कर सका[1] और उसने अनुमति प्रदान कर सत्कारपूर्वक मृगावती को भगवान् की सेवा मे प्रव्रज्या प्रदान करवा दी। भगवत् कृपा से मृगावती पर आया हुआ शील-सकट सदा के लिये टल गया। इस वर्ष भगवान् का वर्षावास वैशाली मे व्यतीत हुआ।

केवलीचर्या का नवम वर्ष

वैशाली का वर्षावास पूर्ण कर भगवान् मिथिला होते हुए 'काकंदी' पधारे और सहस्राम्र उद्यान मे विराजमान हुए। भगवान् के आगमन का समाचार सुन कर राजा जितशत्रु भी सेवा मे वन्दन करने गया। 'भद्रा' सार्थवाहिनी का पुत्र धन्यकुमार भी प्रभु की सेवा मे पहुचा। प्रभु का उपदेश सुन कर धन्यकुमार बड़ा प्रभावित हुआ और माता की अनुमति ले कर विशाल वैभव एव ३२ कुलीन सुन्दर भार्याओ को छोड कर भगवान् के चरणो मे दीक्षित हो गया।

राजा जितशत्रु इतने धर्म प्रेमी थे कि उन्होने यह घोषणा करवा दी – "जो लोग जन्म-मरण का बन्धन काटने हेतु भगवान् महावीर के पास दीक्षित होना चाहते हो वे प्रसन्नता से दीक्षा ग्रहण करे, मैं उनके सम्बन्धियो के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लेता हूँ।" माहाराज जितशत्रु ने बडी धूम-धाम से धन्यकुमार की दीक्षा करवाई। दीक्षित हो कर धन्यकुमार ने भी स्थविरो के पास ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

धन्यकुमार ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से प्रभु की अनुमति पा कर उसने प्रतिज्ञा की – "मुझे आजीवन छट्ठ-छट्ठ की तपस्या करते हुए विचरना, और दो दिन के छट्ठ तप के पारणा मे भी आयबिल करना एव उज्झित भोजन ग्रहण करना है।" इस प्रकार की घोर तपश्चर्या करते हुए उनका शरीर सूख कर हड्डियो का ढाचा मात्र शेष रह गया, फिर भी वे मन मे किंचित्मात्र भी खिन्न नही हुए। उनके अध्यवसाय इतने उच्च थे कि भगवान् महावीर ने

[1] आव० चू०, प्र० १, पृ० ६१।

चौदह हजार साधुओ मे धन्यकुमार मुनि को सबसे बढ कर दुष्कर करणी करने वाला बतलाया और श्रेणिक के सम्मुख उनकी प्रशसा की। नव मास की साधु-पर्याय में धन्य मुनि ने अनशनपूर्वक देहत्याग किया और वे सर्वार्थसिद्ध विमान मे देव रूप से उत्पन्न हुए।[1]

'सुनक्षत्रकुमार' भी इसी प्रकार भगवान् के पास दीक्षित हुए और अनशन कर सर्वार्थसिद्ध मे उत्पन्न हुए।

काकदी से विहार कर भगवान् कपिलपुर, पोलासपुर होते हुए वाणिज्यग्राम पधारे। कपिलपुर मे कु डकौलिक ने श्रावकधर्म ग्रहण किया और पोलासपुर मे सद्दालपुत्र ने बारह व्रत स्वीकार किये। इनका विस्तृत विवरण उपासक दशा सूत्र मे उपलब्ध होता है। वाणिज्यग्राम से भगवान् विहार कर वैशाली पधारे और इस वर्ष का वर्षावास भी वैशाली मे पूर्ण किया।

केवलीचर्या का दशम वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् मगध की ओर विहार करते हुए राजगृह पहुँचे। वहाँ भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर 'महाशतक' गाथापति ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। पार्श्वापत्य स्थविर भी यहां पर भगवान् के समवशरण में आये और भगवान् महावीर से अपनी शका का समाधान पा कर सन्तुष्ट हुए। उन्होने महावीर को सर्वज्ञ माना और उनकी वन्दना की एव चतुर्यामधर्म से पचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर विचरने लगे।[2]

उस समय रोहक मुनि ने भगवान् से लोक के विषय मे कुछ प्रश्न किये जो उत्तर सहित इस प्रकार है –

(१) लोक और अलोक मे पहले पीछे कौन है ?

भगवान् ने कहा – "अपेक्षा से दोनों पहले भी है और पीछे भी है। इनमे कोई नियत क्रम नही है।"

(२) जीव पहले है या अजीव पहले ?

भगवान् ने फरमाया – "लोक और अलोक की तरह जीव और अजीव तथा भवसिद्धिक – अभवसिद्धिक और सिद्ध व असिद्ध मे भी पहले पीछे का कोई नियत क्रम नही है।"

(३) ससार के आदिकाल की दृष्टि से रोहक ने पूछा – "प्रभो ! अडा पहले हुआ या मुर्गी पहले ?"

भगवान् ने कहा – "अडा किससे उत्पन्न हुआ ? मुर्गी से। मुर्गी कहा से आई ? तो कहना होगा अडे से उत्पन्न हुई। इसलिये यह नही कहा जा सकता कि

[1] अणुत्तरो०, ३।१०।

[2] भग० श० ५, उ० ९।

कौन पहले और कौन पीछे। इनमे शाश्वतभाव है, यह अनादि परम्परा है अतः पहले पीछे का क्रम नही कह सकते।" इस प्रकार भगवान् ने रोहक की अन्य शकाओ का भी उचित समाधान किया।[1]

इसी प्रसग मे अधिक स्पष्टता के लिये गौतम ने लोक की स्थिति के बारे मे पूछा – "भगवन्! संसार और पृथ्वी किस पर ठहरी हुई है, इस विषय मे विविध कल्पनाए प्रचलित है, कोई पृथ्वी को शेषनाग पर ठहरी हुई कहता है तो कोई वाराह की पृष्ठ पर ठहरी हुई बतलाते हैं। वस्तुस्थिति क्या है, कृपया स्पष्ट कीजिये।"

महावीर ने कहा – "गौतम! लोक की स्थिति और व्यवस्था आठ प्रकार की है, जो इस प्रकार है –

(१) आकाश पर वायु है।
(२) वायु के आधार पर पानी है।
(३) पानी पर पृथ्वी टिकी हुई है।
(४) पृथ्वी के आधार से त्रस-स्थावर जीव हैं।
(५) अजीव जीव के आश्रित है।
(६) जीव कर्म के आधार से विविध पर्यायो मे प्रतिष्ठित है।
(७) मन-भाषा आदि के अजीव पुद्गल जीवो द्वारा सगृहीत है।"
(८) जीव कर्म द्वारा सगृहीत है।

इसको समझाने के लिये भगवान् ने एक दृष्टान्त बतलाया, जैसे किसी मशक को हवा से भरकर मुह बन्द कर दिया जाय और फिर बीच से बाधकर मुह खोल दिया जाय तो ऊपर खाली हो जायेगी। उसमें पानी भरकर मशक खोल दी जाय तो पानी ऊपर ही तैरता रहेगा। इसी प्रकार हवा के आधार पर पानी समझना चाहिये।

हवा से मशक को भरकर कोई अपनी कमर मे बांधे और जलाशय मे घुसे तो वह ऊपर तैरता रहेगा। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी पानी में गिरी हुई सछिद्र नौका जैसा बतलाया। जिस तरह नौका के बाहर-भीतर पानी है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर बधे हुए हैं।[1]

इस प्रकार ज्ञान की गगा बहाते हुए भगवान् ने यह चातुर्मास राजगृह मे पूर्ण किया।

केवलीचर्या का ग्यारहवां वर्ष

भगवान् महावीर की देशना मे जो विश्वमैत्री और त्याग-तप की भावना थी, उससे प्रभावित होकर अनेको वेद परम्परा के परिव्राजको ने भी उनका

---

[1] यथा नौश्च ह्रदोदक चान्योन्यावगाहेन वर्तते एव जीवश्च पुद्गलाश्चेति भावना।
– भगवती श०, १।६।सू० ५५। टीका।

[1] भगवती सूत्र, २।१।सू० ५५।

शिष्यत्व स्वीकार किया। राजगृह से विहार कर जव प्रभु 'कृतगला-कयंगला' नगरी पधारे तो वहां के 'छत्र फ्लाश' उद्यान मे समवशरण हुआ।

उस समय कयंगला के निकट श्रावस्ती नगर मे "स्कदक" नाम का परिव्राजक रहता था जो कात्यायन गोत्रीय 'गर्दभाल' का शिष्य था। वह वेद-वेदाग का विशेषज्ञ था। वहा एक समय पिगल नाम के एक निग्रथ से उसकी भेंट हुई। स्कदक के ग्रावास की ओर से निकलते हुए पिंगल ने स्कदक से पूछा—"हे मागध! लोक अन्त वाला है या अन्तरहित? इसी प्रकार जीव, सिद्धि और सिद्ध अत वाले हैं या अंतरहित? और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता अथवा वढ़ता है? इन चार प्रश्नो का उत्तर दो।"

स्कदक वहुत वार सोच कर भी निर्णय नहीं कर सका कि उत्तर क्या दिया जाय? वह शंकित हो गया। उस समय उसने 'छत्रपलाश' मे भगवान् के पधारने की वात सुनी तो उसने विचार किया कि क्यो नही भगवान् महावीर के पास जाकर हम शकाओ का निराकरण करले। वह मठ मे आया और त्रिदड, कु डिका, गेरुआ वस्त्र आदि धारण कर कयगला की ओर चल पडा।

उधर महावीर ने गौतम को सम्वोधन कर कहा—"गौतम! आज तुम अपने पूर्व-परिचित को देखोगे।"

गौतम ने प्रभु से पूछा—"भगवन्! कौन वह पूर्व-परिचित है, जिसे मै देखूंगा।"

प्रभु ने स्कदक परिव्राजक का परिचय दिया और वतलाया कि वह थोड़े ही समय वाद वहा आने वाला है।

गौतम ने जिज्ञासा की—"भगवन्! क्या वह आपके पास शिष्यत्व ग्रहण करेगा?"

महावीर वोले—"हा गौतम! स्कंदक निश्चय ही मेरा शिष्यत्व स्वीकार करने वाला है।"

स्कंदक के प्रश्नोत्तर

गौतम और महावीर स्वामी के बीच इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था कि परिव्राजक स्कन्दक भी आ पहुचा। गौतम ने स्वागत करते हुए पूछा—"स्कदक! क्या यह सच है कि पिंगल नियठ ने तुमसे कुछ प्रश्न पूछे और उनके उत्तर नही दे सकने से तुम यहां आये हो?"

गौतम की वात सुनकर स्कन्दक वड़ा चकित हुआ और बोला—"गौतम! ऐसा कौन ज्ञानी है, जिसने हमारी गुप्त वात तुम्हे वतला दी?"

गौतम ने भगवान् की सर्वज्ञता की महिमा वतलाई। स्कदक परिव्राजक ने वड़ी श्रद्धा से भगवान् को वन्दन कर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की।

भगवान् ने लोक के विषय मे कहा – "स्कन्दक ! लोक चार प्रकार का है, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक । द्रव्य से लोक एक और सात है, क्षेत्र से लोक असख्य कोटाकोटि योजन का है, वह भी सान्त है । काल से लोक की कभी आदि नही और अन्त भी नही । भाव से लोक वर्णादि अनन्त-अनन्त पर्यायों का भडार है, इसलिये वह अनन्त है । इस प्रकार लोक सान्त भी है और वर्णादि पर्यायो का अन्त नही होने से अनन्त भी है ।

जीव, सिद्धि और सिद्ध भी इसी तरह द्रव्य से एक और अन्त वाले है। क्षेत्र से सीमित क्षेत्र मे हैं, अत' सान्त है । काल एव भाव से कभी जीव या सिद्ध नही था, ऐसा नही है और अनन्त-अनन्त पर्यायो के आधार है, अत. अनन्त हैं ।

मरण विषय मे पूछे गये प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है – बाल-मरण और पण्डित-मरण के रूप मे मरण दो प्रकार का है । बाल-मरण से ससार बढ़ता है और पण्डित के ज्ञानपूर्वक समाधि-मरण से ससार घटता है । बाल-मरण के बारह प्रकार है । क्रोध, लोभ या मोहादि भाव मे अज्ञानपूर्वक असमाधि से मरना बाल-मरण है ।"[1]

उपर्युक्त रीति से समाधान पाकर स्कन्दक ने प्रभु के चरणो मे प्रव्रजित होने की अपनी इच्छा एव आस्था प्रकट की । स्कन्दक को योग्य जानकर भगवान् ने भी प्रव्रज्या प्रदान की तथा श्रमण-जीवन की चर्या से अवगत किया ।

दीक्षा ग्रहण कर स्कन्दक मुनि बन गया । उसने बारह वर्ष तक साधु-धर्म का पालन किया और भिक्षु प्रतिमा व गुण-रत्न-सवत्सर आदि विविध तपो से आत्मा को भावित कर अत मे 'विपुलाचल' पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया ।

कयगला से सावत्थी होते हुए प्रभु 'वाणिय ग्राम' पधारे और वर्षा काल यही पर पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का बारहवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणिय ग्राम से विहार किया और ब्राह्मणकुड के 'बहुशाल' चैत्य मे आकर विराजमान हुए । जमालि अनगार ने यही पर भगवान् से अलग विचरने की अनुमति मागी और उनके मौन रहने पर अपने पाच सौ अनुयायी साधुओ के साथ वह स्वतन्त्र विहार को निकल पडा ।

प्रभु भी वहा से 'वत्स' देश की ओर विहार करते हुए कौशाम्बी पधारे । यहा चन्द्र और सूर्य अपने मूल विमान से वन्दना को आये थे ।[2] आचार्य शीलांक ने चन्द्र सूर्य का अपने मूल विमानो से राजगृह मे आगमन बताकर इसे आश्चर्य बताया है ।[3] कौशाम्बी से महावीर राजगृह पधारे और 'गुणशील' चैत्य में

[1] भगवती सूत्र २।१।सू० ६१ ।

[2] त्रिषष्टिशलाकापुरुष प० १०, स० ८, श्लोक ३३७-३५३

[3] ग पयट्टा रोवि दिणाहिव तारयाहिवइणो सविमाणा चेव भयवओ समीव । ओइण्णा णियय्पणामाओ ॥ च० म० पु च, पृ ३०५

विराजमान हुए। यहा 'तुगिका' नगरी के श्रावको की बड़ी ख्याति थी। एक बार तुगिका में पार्श्वापत्य आनन्दादि स्थविरो ने श्रावको के प्रश्न का उत्तर दिया। जिसकी चर्चा चल रही थी। भगवान् गौतम ने भिक्षा के समय नगर मे सुनी हुई चर्चा का 'निर्णय' प्रभु से चाहा तो भगवान् बोले – "गौतम! पार्श्वापत्य स्थविरो ने जो तप संयम का फल बताया, वह ठीक है। मैं भी इसी प्रकार कहता हूं।"[1] फिर भगवान् ने तथा रूप श्रमण, माहण की पर्युपासना के फल बताते हुए कहा – "श्रमणो की पर्युपासना का प्रथम फल अपूर्वज्ञान श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चखाण-त्याग, पच्चखाण से संयम, सयम से कर्मास्रव का निरोध, अनास्रव से तप, तप से कर्मनाश, कर्मनाश से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धिफल प्राप्त होता है।" इसी वर्ष प्रभु के शिष्य 'वेहास' और 'अभय' आदि ने विपुलाचल पर अनशन कर देवत्व प्राप्त किया। इस बार का वर्षाकाल राजगृह मे ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का तेरहवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् फिर चम्पा पधारे और वहा के 'पूर्णभद्र' उद्यान मे विराजमान हुए। चम्पा मे उस समय 'कौणिक' का राज्य था। भगवान् के आने की बात सुनकर कौणिक बडी सज-धज से वन्दन करने को गया। कौणिक ने भगवान् के प्रवृत्ति-वृत्त (कुशल समाचार) जानने की बडी व्यवस्था कर रक्खी थी।[2] अपने राजपुरुषो द्वारा भगवान् के विहार-वृत्त सुन कर ही वह प्रतिदिन भोजन करता था। भगवान् ने कौणिक आदि उपस्थित जनों को धर्म देशना दी। देशना से प्रभावित हो अनेकों गृहस्थो ने मुनि-धर्म अगीकार किया। उनमे श्रेणिक के पद्म १, महापद्म २, भद्र ३, सुभद्र ४, महाभद्र ५, पद्मसेन ६, पद्मगुल्म ७, नलिनीगुल्म ८, आनन्द ९ और नन्दन १०, ये दस पौत्र प्रमुख थे।[3] इनके अतिरिक्त जिनपालित आदि ने भी श्रमणधर्म अगीकार किया। यही पर पालित जैसे बडे व्यापारी ने श्रावकधर्म स्वीकार किया था। इस वर्ष का चातुर्मास चम्पा मे ही हुआ।

केवलीचर्या का चौदहवां वर्ष

चम्पा से भगवान् ने विदेह की ओर विहार किया। बीच मे काकन्दी नगरी मे गाथा-पति 'खेमक' और 'धृतिधर' ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की। १६ वर्षो का सयम पाल कर दोनो विपुलाचल पर सिद्ध हुए। विहार करते हुए प्रभु मिथिला पधारे और वही पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

---

[1] भगवती शतक (घासीलालजी), श० २, उ० ५, पू, सूत्र १४, पृ ९३७।

[2] औपपातिक सूत्र १३ से २१

[3] निरयावलिका २

[4] ज्ञाता धर्म कथा १, ६

[5] उत्तराध्ययन २१,

फिर वर्षाकाल के पश्चात् प्रभु विहारक्रम से अगदेश होकर चम्पानगरी पधारे और 'पूर्णभद्र' नामक चैत्य मे समवशरण किया। पधारने का समाचार पाकर नागरिक लोग और राजघराने की राजरानियां वन्दन करने को गईं। उस समय वैशाली मे युद्ध चल रहा था। एक ओर १८ गणराजा और दूसरी ओर कौणिक और उसके दस भाई अपने दल-बल सहित जूझ रहे थे।

देशना समाप्त होने पर काली आदि रानियो ने अपने पुत्रों के लिए जिज्ञासा की कि – "भगवन् ! हमारे पुत्र युद्ध मे गए है। उनका क्या होगा ? व कब तक कुशलपूर्वक लौटेंगे ?"

काली आदि रानियों को बोध

उत्तर मे भगवान् द्वारा पुत्रो का मरण सुनकर काली आदि रानियो को अपार दु ख हुआ।[1] पर प्रभु के वचनो से ससार का विनश्वरशील स्वभाव समझ कर वे विरक्त हुईं और कौणिक की अनुमति से भगवान् के चरणो मे दीक्षित हो गईं।

आर्या चन्दना की सेवा मे काली १, सुकाली २, महाकाली ३, कृष्णा ४, सुकृष्णा ५, महाकृष्णा ६, वीरकृष्णा ७, रामकृष्णा ८, पितृसेनकृष्णा ९, और महासेनकृष्णा १०, इन सबने दीक्षित होकर ग्यारह अगों का अध्ययन किया। आर्या चन्दना की अनुमति से काली ने रत्नावली, सुकाली ने कनकावली, महाकाली ने लघुसिह निष्क्रीडित, कृष्णा ने महासिह-निष्क्रीडित, सुकृष्णा ने सप्तसप्तति भिक्षु प्रतिमा, महाकृष्णा ने लघुसर्वतोभद्र, वीरकृष्णा ने महासर्वतोभद्र तप, रामकृष्णा ने भद्रोत्तर प्रतिमा और महासेन कृष्णा ने आयविल-वर्धमान तप किया। अन्त मे अनशनपूर्वक समाधिभाव से काल कर सब ने सब दु.खो का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।[2]

कुछ काल तक चम्पा मे ठहरकर भगवान् फिर मिथिला नगरी पधारे और वही पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पन्द्रहवां वर्ष

फिर चातुर्मास समाप्त कर प्रभु ने वैशाली के पास होकर श्रावस्ती की ओर विहार किया। कौणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल, जिनके कारण वैशाली में युद्ध हो रहा था, किसी तरह वहा से भगवान् के पास आ पहुंचे और श्रमण[3] धर्म की दीक्षा लेकर प्रभु के चरणो मे शिष्य हो गये।

श्रावस्ती पहुचकर भगवान् 'कोष्ठक' चैत्य मे विराजमान हुए। मखलिपुत्र गोशालक भी उन दिनो श्रावस्ती मे ही था। भगवान् महावीर से पृथक् होने के

---

[1] निरयावलिका, अध्ययन १

[2] अतगढ सूत्र, सप्तम व अष्टमवर्ग।

[3] (क) तेवि कुमारा सामिस्स सीसत्ति वोसिरन्ति, देवताए हरिता।
[आव नि जिनदास, दूसरा भाग, पृ० १७४]
(ख) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र १००

वाद वह अधिकाश समय श्रावस्ती के आसपास ही घूमता रहा। श्रावस्ती मे 'हालाहला' कुम्हारिन और अयपुल गाथापति उसके प्रमुख भक्त थे। गोशालक जव कभी आता, हालाहला की भाडशाला मे ठहरता। अव वह 'आजीवक' मत का प्रचारक वनकर अपने को तीर्थंकर वतला रहा था। जव भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम ने नगरी मे यह जनप्रवाद सुना कि श्रावस्ती मे दो तीर्थंकर विचर रहे हैं, एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मखलि गोशालक, तो उन्हें वड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होने भगवान् के चरणो मे पहुचकर इसकी वास्तविकता जाननी चाही और भगवान् से पूछा – "प्रभो ! यह कहा तक ठीक है ?"

गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने गोशालक का प्रारम्भ से सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा – "गौतम ! गोशालक जिन नही पर जिनप्रलापी है।" नगर मे सर्वत्र गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी।

गोशालक का आनन्द मुनि को भयभीत करना

मखलिपुत्र गोशालक जो उस समय नगर के वाहर आतापना ले रहा था, उसने जव लोगो से यह वात सुनी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ वह आतापना भूमि से 'हालाहला' कुम्हारिन की भाडशाला में आया और अपने आजीवक सघ के साथ क्रोधावेश मे वात करने लगा। उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आनन्द अनगार भिक्षाचर्या में घूमते हुए उधर से जा रहे थे। वे सरल और विनीत थे तथा निरन्तर छट्ठ तप किया करते थे। गोशालक ने उन्हे देखा तो वोला – "आनन्द ! इधर आ, जरा मेरी वात तो सुन।" आनन्द के पास आने पर गोशालक ने अपनी वात इस प्रकार कहनी आरम्भ की :–

"पुराने समय की वात है, कुछ व्यवसायी व्यापार के लिए अनेक प्रकार का किराना और विविध सामान गाड़ियो मे भरकर यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में ग्राम-रहित, निर्जल, दीर्घ अटवी मे प्रविष्ट हुए। कुछ मार्ग पार करने पर उनका साथ मे लाया हुआ पानी समाप्त हो गया। तृषा से आकुल लोग परस्पर सोचने लगे कि अव क्या करना चाहिए। उनके सामने वडी विकट समस्या थी। वे चारों ओर पानी की गवेषणा करते हुए एक घने जगल मे जा पहुचे। वहा एक विशाल वल्मीक था। उसके चार ऊंचे-ऊंचे शिखर थे। प्यास-पीड़ित लोगो ने उनमे से एक शिखर को फोडा। उससे उन्हे स्वच्छ, शीतल, पाचक और उत्तम जल प्राप्त हुआ। प्रसन्न हो उन्होंने पानी पिया, वैलों को पिलाया और मार्ग के लिए वर्तनो मे भरकर भी साथ ले लिया। फिर लोभ से दूसरा शिखर भी फोडा। उसमे उनको विशाल स्वर्ण-भडार प्राप्त हुआ। उनका लोभ वढ़ा, उन्होंने तीसरा शिखर फोड डाला, उसमे मणि रत्न प्राप्त हुए। अव तो उन्हे और अधिक प्राप्त करने की इच्छा हुई और उन्होने चौथा शिखर भी फोडने का विचार किया। उस समय उनमे एक अनुभवी और सर्वहितैषी वणिक् था। वह वोला – "भाई !

हमको चौथा शिखर नही फोडना चाहिए। हमारी आवश्यकता पूरी हो गई, अब चतुर्थ शिखर का फोड़ना कदाचित् दुःख और सकट का कारण बन जाय अतः हमको इस लोभ का सवरण करना चाहिए।"

व्यापारियो ने उसकी बात नही मानकर चौथा शिखर भी फोड़ डाला। उसमे से महा भयकर दृष्टिविष कृष्ण सर्प निकला। उसकी विषमय उग्र दृष्टि पड़ते ही सारे व्यापारी सामान सहित जलकर भस्म हो गये। केवल वह एक व्यापारी बचा जो चौथा शिखर फोडने को मना कर रहा था। उसको सामान सहित सर्प ने घर पहुंचाया।

आनन्द! तेरे धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण भगवान् महावीर ने भी इसी तरह श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की है। देव मनुष्यो मे उनकी प्रशसा होती है किन्तु वे मेरे सम्बन्ध मे यदि कुछ भी कहेगे तो मैं अपने तेज से उनको व्यापारियो की तरह भस्म कर दू गा। अत. उनके पास जाकर तू यह बात सुना दे।"

आनन्द मुनि का भ० से समाधान

गोशालक की बात सुनकर आनन्द सरलता के कारण बहुत भयभीत हुए और महावीर के पास आकर सारा वृत्तान्त उन्होने कह सुनाया तथा पूछा— "क्या गोशालक तीर्थंकर को भस्म कर सकता है?"

महावीर ने कहा— "आनन्द! गोशालक अपने तपस्तेज से किसी को भी एक बार मे भस्म कर सकता है, परन्तु अरिहन्त भगवान् को नही जला सकता, कारण कि गोशालक मे जितना तपस्तेज है, अनगार का उससे अनन्त गुना तेज है। अनगार क्षमा द्वारा उस क्रोध का निरोध करने मे समर्थ है। अनगार के तपस्तेज से स्थविर का तप अनन्त गुना विशिष्ट है। सामान्य स्थविर के तप से अरिहन्त का तपोबल अनन्त गुना अधिक है क्योकि उनकी क्षमा अतुल है अतः कोई उनको नही जला सकता। हा, परिताप-कष्ट उत्पन्न कर सकता है। इसलिए तुम जाओ और गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों से यह कह दो कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय वह द्वेषवश म्लेच्छ की तरह दुर्भाव मे है। इसलिए उसकी बातो का कोई कुछ भी जवाब न दे। यहा तक कि उसके साथ कोई धर्म-चर्चा भी न करे और न धार्मिक प्रेरणा ही दे।"

गोशालक का आगमन

आनन्द ने प्रभु का सन्देश सबको सुनाया ही था कि इतने मे गोशालक अपने आजीवक सघ के साथ महावीर के पास कोष्ठक उद्यान मे आ पहुचा। वह भगवान् से कुछ दूर हटकर खड़ा हो गया और थोड़ी देर के बाद बोला— "काश्यप! तुम कहते हो कि मखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य है। बात ठीक है। पर, तुमको पता नही कि वह तुम्हारा शिष्य मृत्यु प्राप्त कर देवलोक मे देव हो चुका है। मैं मखलिपुत्र गोशालक से भिन्न कौडिन्यायन गोत्रीय उदायी हूं। गोशालक का शरीर मैने इसलिए धारण किया है कि वह परीषह सहने मे सक्षम है। यह मेरा सातवा शरीरान्तरप्रवेश है।"

"हमारे धर्म सिद्धान्त के अनुसार जो भी मोक्ष गए है, जाते है, और जाएगे, वे सब चौरासी लाख महाकल्प के उपरात सात दिव्य सयूथ-निकाय, सात सन्नि-गर्भ और सात प्रवृत्त परिहार करके पाच लाख साठ हजार छ सौ तीन (५६०६०३) कर्मांशो का अनुक्रम से क्षय करके मोक्ष गए, जाते है, और जाएगे। महाकल्प का कालमान समझाने हेतु जैन सिद्धान्त के पल्य और सागर के समान आजीवक मत मे सर और महाकल्प का प्रमाण वतलाया है। एक लाख सत्तर हजार छ सौ उनचास (१७०६४६) गंगाओ का एक सर मानकर सौ-सौ वर्ष मे एक-एक वालुका निकालते हुए जितने समय मे सब खाली हो उसको एक सर माना है। वैसे तीन लाख सर खाली हो तव महाकल्प माना गया है।"[1]

"आर्य काश्यप! मैंने कुमार की प्रव्रज्या मे वालवय से ही ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की इच्छा की और प्रव्रज्या स्वीकार की। मैंने निम्न प्रकार से सात प्रवृत्त-परिहार किए, यथा ऐणेयक, मल्लराम, मडिक रोह, भारद्वाज, अर्जुन, गौतमपुत्र, गौशालक मखलिपुत्र।"

"प्रथम शरीरान्तरप्रवेश राजगृह के वाहर मडिकुक्षि चैत्य मे उदायन कौडिन्यायन गोत्री के शरीर का त्यागकर ऐणेयक के शरीर में किया। वाईस वर्ष वहा रहा। द्वितीय शरीरान्तरप्रवेश उद्दण्डपुर के वाहर चन्द्रावतरण चैत्य में ऐणेयक के शरीर का त्याग कर मल्लराम के शरीर मे किया। २१ वर्ष तक उसमे रह कर चपानगरी के वाहर अंग-मन्दिर चैत्य मे मल्लराम का शरीर छोड कर मडिक के देह मे तीसरा शरीरान्तरप्रवेश किया। वहा वीस वर्ष तक रहा। फिर वाराणसी नगरी के वाहर काम महावन चैत्य मे मडिक के शरीर का त्याग कर रोहक के शरीर मे चतुर्थ शरीरान्तरप्रवेश किया। वहां २६ वर्ष रहा। पाचवे मे आलभिका नगरी के वाहर प्राप्त-काल चैत्य मे रोहक का शरीर छोड़-कर भारद्वाज के शरीर मे प्रवेश किया। उसमे १८ वर्ष रहा। छट्ठी वार वैशाली के वाहर कुडियायन चैत्य मे भारद्वाज का शरीर छोड़कर गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर मे प्रवेश किया। वहा सत्रह वर्ष तक रहा। वहा से इस वार श्रावस्ती मे हालाहला कुम्हारिन के कुभकारापण मे गौतमपुत्र का शरीर त्याग-कर गोशालक के शरीर मे प्रवेश किया। इस प्रकार आर्य काश्यप! तुम मुझको अपना शिष्य मखलिपुत्र वतलाते हो, क्या यह ठीक है?'

गोशालक की बात सुन कर महावीर वोले—"गोशालक! जैसे कोई चोर वचाव का साधन नही पाकर तृण की आड मे अपने को छुपाने की चेष्टा करता है किन्तु वह उससे छुप नही सकता फिर भी अपने को छुपा हुआ मानता है। वैसे तू भी अपने को शब्दजाल से छुपाने का प्रयास कर रहा है। तू गोशालक के सिवाय अन्य नही होते हुए भी अपने को अन्य वता रहा है, तेरा ऐसा कहना ठीक नही, तू ऐसा मत कह।"

---

[1] भग० श० १५, उ० १, सूत्र ५५०

भगवान् की बात सुनकर गोशालक अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आक्रोशपूर्ण वचनो से गाली बोलने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाते हुए तिरस्कारपूर्ण शब्दों में बोला – "काश्यप ! तुम आज ही नष्ट, विनष्ट व भ्रष्ट हो जाओगे। आज तुम्हारा जीवन नही रहेगा। अब मुझसे तुमको सुख नही मिलेगा।"

सर्वानुभूति के वचन से गोशालक का रोष

भगवान् महावीर वीतराग थे। उन्होंने गोशालक की तिरस्कारपूर्ण बात सुनकर भी रोष प्रकट नही किया। अन्य मुनि लोग भी भगवान् के सन्देश से चुप थे। पर भगवान् के एक शिष्य 'सर्वानुभूति' अनगार जो स्वभाव मे सरल एव विनीत थे, उनसे यह नही सहा गया। वे भगवद्भक्ति के राग से उठकर गोशालक के पास आए और बोले – "गोशालक ! जो गुणवान् श्रमण माहण के पास एक भी धार्मिक सुवचन सुनता है, वह उनको वन्दन-नमन और सेवा करता है। तो क्या, तुम भगवान् से दीक्षा-शिक्षा ग्रहण कर उनके साथ ही मिथ्या एवं अनुचित व्यवहार करते हो ? गोशालक ! तुमको ऐसा करना योग्य नहीं है। आवेश मे आकर विवेक मत छोडो।"

सर्वानुभूति की बात सुनकर गोशालक तमतमा उठा। उसने क्रोध मे भर-कर तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से सर्वानुभूति अरणगार को जलाकर भस्म कर दिया और पुन. भगवान् के बारे मे निन्दा वचन बोलने लगा। प्रभु के अन्य अन्तेवासी स्थिति को देखकर मौन थे, किन्तु अयोध्या के 'सुनक्षत्र' मुनि ने जो उसके अपलाप सुने तो उनसे भी नही रहा गया। उन्होंने गोशालक को कटु-वचन बोलने से मना किया। इससे रुष्ट होकर गोशालक ने सुनक्षत्र मुनि पर भी उसी प्रकार तेजोलेश्या का प्रहार कर दिया। इस बार लेश्या का तेज मन्द हो गया था। पीडा की भयकरता देखकर सुनक्षत्र मुनि श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और वन्दना कर भगवान् के चरणो मे आलोचनापूर्वक उन्होंने पुन महाव्रतो मे आरोहण किया और फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमा याचना कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त किया।

गोशालक फिर भी भगवान् महावीर को अनर्गल कटुवचन कहता रहा। कुछ काल के बाद भगवान् महावीर ने सर्वानुभूति की तरह गोशालक को समझाया, पर मूर्खों के प्रति उपदेश क्रोध का कारण होता है, इस उक्ति के अनुसार गोशालक प्रभु की बात से अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने उनको भस्म करने के लिए सात आठ कदम पीछे हटकर तेजोलेश्या का प्रहार किया। किन्तु महावीर के अमित तेज के कारण गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या उन पर असर नही कर सकी। वह भगवान् की प्रदक्षिणा करके एक बार ऊपर उछली और गोशालक के शरीर को जलाती हुई, उसी के शरीर मे प्रविष्ट हो गई।

गोशालक अपनी ही तेजोलेश्या से पीडित होकर श्रमण भगवान् महावीर से बोला – "काश्यप ! यद्यपि अभी तुम बच गए हो किन्तु मेरी इस तेजोलेश्या से

पराभूत होकर तुम छः मास की अवधि में ही दाह-पीड़ा से छद्मस्थ अवस्था में काल प्राप्त करोगे। इस पर भगवान् ने कहा – "गोशालक ! मैं तो अभी सोलह वर्ष तक तीर्थंकर पर्याय से विचरण करूँगा पर तुम अपनी तेजोलेश्या से प्रभावित एवं पीड़ित होकर सात रात्रि के अन्दर ही छद्मस्थ भाव से काल प्राप्त करोगे।"[1]

तेजोलेश्या के पुन पुन प्रयोग से गोशालक निस्तेज हो गया और उसका तपस्तेज उसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। महावीर ने निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा – "श्रमणो ! जिस प्रकार अग्नि से जलकर तृण या काष्ठ नष्ट हो जाते है उसी प्रकार गोशालक मेरे वध के लिए तेजोलेश्या निकाल कर अब तेजभ्रष्ट हो गया है। तुम लोग उसके विचारों का खण्डन कर अत्र प्रश्न और हेतुओ से उसे निरुत्तर कर सकते हो।"

निर्ग्रन्थो ने विविध प्रश्नोत्तरों से उसको निरुत्तर कर दिया। अत्यन्त क्रुद्ध होकर भी गोशालक निर्ग्रन्थो को कुछ भी पीडा नही दे सका।

इधर श्रावस्ती नगरी के त्रिकमार्ग और राजमार्ग मे सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि श्रावस्ती के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन परस्पर आलाप-सलाप कर रहे हैं। एक कहता है तुम पहले काल प्राप्त करोगे तो दूसरा कहता है पहले तुम्हारी मृत्यु होगी। इसमे कौन सच्चा और कौन झूठा है ? जानकार प्रधान व्यक्ति बोलते – श्रमण भगवान् महावीर सम्यग्वादी है और गोशालक मिथ्यावादी।[2]

गोशालक की अन्तिम चर्या

अपनी अभिलाषा की सिद्धि मे असफलता के कारण गोशालक इधर-उधर देखता, दीर्घ निश्वास छोड़ता, दाढी के बालो को नोचता, गर्दन खुजलाता, पांवो को पछाडता, हाय मरा – हाय मरा ! चिल्लाता हुआ आजीवक समूह के साथ 'कोष्ठक-चैत्य' से निकल कर 'हालाहला' कुम्हारिन के कुम्भकारापण मे पहुचा। वहा वह अपनी दाह-शान्ति के लिए कच्चा आम चूसता, मद्यपान करता, बार-बार गाता-नाचता और कुम्हारिन को हाथ जोडता हुआ मिट्टी के भाड मे रखे हुए शीतल जल से गात्र का सिंचन करने लगा।

भगवान् महावीर ने निग्रन्थो को आमन्त्रित कर कहा – "आर्यो ! मखलि पुत्र गोशालक ने जिस तेजोलेश्या का मेरे वध हेतु प्रहार किया था वह (१) अग, (२) वंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौजि, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अवाध और (१६) सभुत्तर इन समस्त देशों को जलाने,

---

[1] नो खलु अह गोसाला। तव तवेण तेएण अन्नाइट्ठे समाणे अतो छण्ह जाव काल करिस्सामि, अहन्न अन्नाइ सोलसवासाइ जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तुम्ह ण गोसाला ! अप्पणा चेव सयेण तेएण अणाइट्ठे समाणे सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव काल करिस्ससि।

[2] भग श १५, सूत्र ५५३, पृ० ६७८।

नष्ट करने तथा भस्म करने मे समर्थ थी। अब वह कुम्भकारापण में कच्चा आम चूसता हुआ यावत् ठडे पानी से शरीर का सिचन कर रहा है। अपने दोषों को छुपाने के लिए उसने आठ चरम बतलाये हे, जैसे – (१) चरम-पान, (२) चरम-गान, (३) चरम-नाट्य, (४) चरम-अजलिकर्म (५) चरम-पुष्कलसंवर्त मेघ, (६) चरम-सेचनक गध-हस्ती, (७) चरम-महाशिलाकटक सग्राम और (८) चरम-तीर्थंकर, अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर के रूप से अपना सिद्ध होना।

अपना मृत्यु समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवक स्थविरो को बुला कर कहा – "मैं मर जाऊ तो मेरी देह को सुगन्धित जल से नहलाना, सुगन्धित वस्त्र से देह को पोछना, चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा अलकारो से भूषित करना और शिविका मे बिठा कर यह घोषणा करते हुए ले जाना कि चौबीसवें तीर्थंकर गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए आदि।"[1]

किन्तु सातवी रात्रि मे गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ। उसकी दृष्टि निर्मल और शुद्ध हुई। उसको अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने सोचा – "मैंने जिन नही होकर भी अपने को जिन घोषित किया है। श्रमणो का घात और धर्माचार्य का द्वेष करना वास्तव में मेरी भूल है। श्रमण भगवान् महावीर ही वास्तव मे सच्चे जिन हैं।"

ऐसा सोच कर उसने स्थविरो को बुलाया और कहा – "स्थविरो ! मैंने अपने आप के लिए जो जिन होने की बात कही है, वह मिथ्या है। ऐसा कह कर मैंने तुम लोगो से वचना की है। अत. अब मेरी मृत्यु के बाद प्रायश्चित्त-स्वरूप मेरे बाए पैर मे डोरी बाध कर, तुम मेरे मु ह पर तीन बार थूकना और श्रावस्ती के राजमार्गों मे यह कहते हुए मेरे शव को खीच कर ले जाना कि गोशालक जिन नही था, जिन तो महावीर ही है।" उसने अपनी इस अन्तिम भावना के पालन के लिए स्थविरो को शपथ दिलायी और सातवी रात्रि मे ही उसकी मृत्यु हो गई।

गोशालक के भक्त और स्थविरो ने सोचा – "आदेशानुसार यदि नगरी में पैर बाध कर घसीटते हुए निकालेंगे तो अपनी हल्की लगेगी। और ऐसा नही करने से आज्ञा-भग होगी। ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए ?" उन्होने एक उपाय निकाला – "हालाहला कुम्हारिन के घर मे ही द्वार बन्द कर नगरी और राजमार्ग की रचना करे। उसमे घुमा लेने से आज्ञा-भग और बदनामी दोनों से ही बच जायेंगे।" उन्होने वैसा ही किया। गोशालक के निर्देशानुसार बंद मकान में शव को घुमा कर फिर नगर मे धूम-धाम से शव-यात्रा निकाली और सम्मान पूर्वक उसका अन्तिम सस्कार सम्पन्न किया।

शंका समाधान

गोशालक के द्वारा समवशरण मे तेजोलेश्या-प्रहार के प्रसग से सहज शका उत्पन्न होती है कि महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे गोशालक की तेजोलेश्या से रक्षा

[1] भग श १५, पृ० ६८२, सू ५५४।

की पर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से क्यो नही बचाया ? टीकाकार आचार्य ने इस पर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि महावीर वीतराग होने से निज-पर के भेद और रागद्वेष से रहित थे। केवली होने के कारण उनका व्यवहार निश्चयानुगामी होता था, जबकि छद्मस्थ अवस्था मे व्यवहार से ही निश्चय द्योतित होता और उसका अनुमान किया जाता था। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि का गोशालक के निमित्त से मरण अवश्यभावी था, ऐसा प्रभु ने जान रखा था। दूसरी वात यह भी है कि केवली राग और प्रमाद रहित होने से लब्धि का प्रयोग नही करते इसलिए वे उस अवसर पर तटस्थ रहे। गोशालक के रक्षण के समय मे भगवान् का जीवन किसी एक सूक्ष्म हद तक पूर्णतः रागविहीन और व्यवहार निरपेक्ष जीवन नही था। उस समय शरणागत का रक्षण नही करना अनुकम्पा का प्रत्यनीकपन होता। गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार किये जाने के समय मे प्रभु पूर्ण वीतराग थे। यही कारण है कि सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि के ऊपर प्रहार होने के समय मे गोशालक को न समझा कर प्रभु ने उससे पीछे वात की।

कुछ लोग कहते हैं कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखा कर भगवान् ने बडी भूल की। यदि ऐसा नही करते तो कुमत का प्रचार और मुनि-हत्या जैसी अनर्थमाला नही बढ पाती, किन्तु उनका ऐसा कहना भूल है। सत्पुरुष अनुकम्पाभाव से विना भेद के हर एक का हित करते है। उसका प्रतिफल क्या होगा, यह सौदेवाजी उनमे नही होती। वे जीवन भर अप्रमत्तभाव से चलते रहे, उन्होंने कभी कोई पापकर्म एवं प्रमाद नही किया जैसा कि आचाराग सूत्र मे स्पष्ट निर्देश है- 'छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमाय सइपि कुव्वित्था।'[1]

भगवान् का विहार

श्रावस्ती के 'कोष्ठक चैत्य' से विहार कर भगवान् महावीर ने जनपद की ओर प्रयाण किया और विचरते हुए 'मेढ़ियाग्राम' पहुचे और ग्राम के वाहर 'सालकोष्ठक चैत्य' मे पृथ्वी शिला-पट्ट पर विराजमान हुए। भक्तजन दर्शन-श्रवण एव वंदन करने आये। भगवान् ने धर्म-देशना सुनाई।

जिस समय भगवान् साल कोष्ठक चैत्य मे विराज रहे थे, गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या के निमित्त से भगवान् के शरीर मे असाता का उदय हुआ जिससे उनको दाह-जन्य अत्यन्त पीड़ा होने लगी। साथ ही रक्तातिसार की वाधा भी हो रही थी। पर वीतराग भगवान् इस विकट वेदना मे भी शान्तभाव से सव कुछ सहन करते रहे। उनके शरीर की स्थिति देख कर लोग कहने लगे कि गोशालक की तेजोलेश्या से पीड़ित भगवान् महावीर छह मास के भीतर ही छद्मस्थभाव में कही मृत्यु न प्राप्त कर जाय। उस समय सालकोष्ठक के पास मालुयाकच्छ मे भगवान् का एक शिष्य 'सीहा' मुनि, जो भद्र प्रकृति का था, वेले

---

[1] आचा, श्रु १, अध्ययन ६, उद्देशा ४, गा १५

की तपस्या के साथ ध्यान कर रहा था। ध्यानावस्था में ही उसके मन मे यह विचार हुआ कि मेरे धर्माचार्य को विपुल रोग उत्पन्न हुआ है और वे इसी दशा मे कही काल कर जायेगे तो लोग कहेगे कि ये छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर गये और इस तरह हम सव की हसी होगी। इस विचार से सीहा अनगार फूट-फूट कर रोने लगा।

श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञानयोग से इस प्रसंग को जाना और निर्ग्रन्थों को वुला कर कहा – "आर्यो ! मेरा अन्तेवासी सीहा अनगार जो प्रकृति का भद्र है, मालुयाकच्छ में मेरी वाधा-पीड़ा के विचार से तेज स्वर में रुदन कर रहा है अत जाकर उसे यहां वुला लाओ।" प्रभु के सदेश से श्रमण-निर्ग्रन्थ मालुयाकच्छ गए और सीहा अनगार को भगवान् द्वारा वुलाये जाने की सूचना दी। सीहा मुनि भी निर्ग्रंथो के साथ भगवान् महावीर के पास आये और वन्दना नमस्कार कर उपासना करने लगे। सीहा मुनि को सम्वोधन कर प्रभु ने कहा – "सीहा ! ध्याना-न्तरिका मे तेरे मन मे मेरे अनिष्ट की कल्पना हुई और तुम रोने लगे, क्या यह ठीक है ?" सीहा द्वारा इस तथ्य को स्वीकृत किये जाने पर प्रभु ने कहा – "सीहा ! गोशालक की तेजोलेश्या से पीडित हो कर मैं छह महीने के भीतर मृत्यु प्राप्त करूगा, ऐसी बात नही है। मैं सोलह वर्ष तक जिनचर्या से सुहस्ती की तरह और विचरूगा। अत हे आर्य ! तुम मेढियाग्राम में "रेवती" गाथापत्नी के घर जाओ और उसके द्वारा मेरे लिये तैयार किया हुआ आहार न लेकर अन्य जो वासी विजोरा पाक है, वह ले आओ। व्याधि मिटाने के लिये उसका प्रयोजन है।"

भगवान् की आज्ञा पा कर सीहा अनगार वहुत प्रसन्न हुए और प्रभु को वन्दन कर अचपल एव असभ्रान्त भाव से गौतम स्वामी की तरह शाल कोष्ठक चैत्य से निकल कर, मेढ़ियाग्राम के मध्य मे होते हुए, रेवती के घर पहुचे। रेवती ने सीहा अनगार को विनयपूर्वक वन्दना की और आने का कारण पूछा। सीहा मुनि ने यहा – "रेवति ! तुम्हारे यहा दो औपधिया हैं, उनमे से जो तुमने श्रमण भगवान् महावीर के लिये तैयार की है, मुझे उससे प्रयोजन नहीं किन्तु अन्य जो विजोरापाक है, उसकी आवश्यकता है।"

भगवान् की रोग-मुक्ति

सीहा मुनि की वात सुन कर रेवती आश्चर्य-चकित हुई और वोली – "मुने ! ऐसा कौनसा ज्ञानी या तपस्वी है जो मेरे इस गुप्त रहस्य को जानता है ?" सीहा अनगार ने कहा – "श्रमण भगवान् महावीर जो चराचर के ज्ञाता, द्रष्टा है उनसे मैंने यह जाना है।" फिर तो रेवती श्रद्धावनत एवं भाव-विभोर हो भोजनशाला मे गई और विजोरा-पाक लाकर मुनि के पात्र मे वह सव पाक वहरा दिया। रेवती के यहा से प्राप्त विजोरापाक रूप आहार के सेवन से भगवान् का शरीर पीडारहित हुआ और धीरे-धीरे वह पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा। भगवान् के रोग-निवृत्त होने से श्रमण-श्रमणी और श्रावक-

श्राविका वर्ग ही नहीं अपितु स्वर्ग के देवों तक को हर्ष हुआ। सुरासुर और मानव लोक में सर्वत्र प्रसन्नता की लहर सी दौड गई।[1]

रेवती ने भी इस अत्यन्त विशिष्ट भावपूर्वक दिये गये उत्तम दान से देव-गति का आयुबन्ध एव तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर जीवन सफल किया।

कुतर्कपूर्ण भ्रम

सीहा अरणगार को भगवान् महावीर ने रेवती के घर औषधि लाने के लिये भेजा उसका उल्लेख भगवती सूत्र के शतक १५, उद्देशा १ में इस प्रकार किया गया है :

"... अह रण अण्णाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि, त गच्छह रण तुम सीहा। मिढ़ियागामं रणयरं रेवतीए गाहावयणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अण्णे पारियासी मज्जारकड़ए कुक्कुडमसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो। तएणं..."

इस पाठ को लेकर ई० सन् १८८४ से अर्थात् लगभग ८७ वर्ष से पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो मे अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क चल रहे है। जैन परम्परा से अनभिज्ञ कुछ विद्वानो की धारणा कुछ और ही तरह की रही है कि इस पाठ मे भगवान् महावीर के मासभक्षण का सकेत मिलता है। पर वास्तव मे ऐसी वात नही है। पाठ मे आये हुए शब्दो का सही अर्थ समझाने के लिये हमें प्रसग और तत्कालीन परिस्थिति मे होने वाले शब्द-प्रयोगो को लक्ष्य मे लेकर ही अर्थ करना होगा। उसके लिये सबसे पहले इस वात को ध्यान में रखना होगा कि रेवती श्रमण भगवान् महावीर की परम भक्त श्रमणोपासिका एव सती जयती तथा सुश्राविका मृगावती की प्रिय सखी थी। अत. मत्स्य-मासादि अभक्ष्य पदार्थो से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नही सकता। रेवती ने परम उत्कृष्ट भावना से इस औषधि का दान देकर देवायु और महामहिम तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था।

भगवती सूत्र के पाठ मे आये हुए खास विचारणीय शब्द "कवोयसरीर", "मज्जारकडए कुक्कुडमसए" शब्द है। जिनके लिये भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि ने क्रमश. कुष्माड फल, और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिये विजोरा (वीजपूरक कटाह) अर्थ किया है।

विक्रम सवत् ११२० मे अभयदेव ने स्थानाग सूत्र की टीका वनाई। उस टीका मे उन्होंने अन्य मत का उल्लेख तक नही किया है और उन्होने स्पष्टत निश्चित रूप से "कवोयसरीर का अर्थ कुष्माडपाक और "मज्जारकडए कुक्कुड-मसए" का अर्थ मार्जार नामक वायु की निवृत्त्यर्थ वीजपूरक कटाह अर्थात् विजौरापाक किया है। अभयदेव द्वारा की गई स्थानाग सूत्र की व्याख्या मे किंचित्मात्र ध्वनि तक भी प्रतिध्वनित नही होती कि इन शब्दों का अर्थ

[1] भग श. १५, सू ५५७।

मासपरक भी हो सकता है। जैसा कि स्थानाग की टीका के निम्नलिखित अश से स्पष्ट है :

"भगवाश्च स्थविरैस्तमाकार्योक्तवान् – हे सिह ! यत् त्वया व्यकल्पि न तद्भावि, यत इतोऽह देशोनानि षोडश वर्षाणि केवलिपर्याय पूरयिष्यामि, ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कुष्मांडफल-शरीरे उपस्कृते, न च ताभ्या प्रयोजनम् तथान्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारक कुक्कुटमासक बीजपूरककटाहमित्यर्थ., तदाहर, तेन न प्रयोजनमित्येवमुक्तोऽसौ तथैव कृतवान्,·· ·· "

स्थानाग सूत्र की टीका का निर्माण करने के ८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० स० ११२८ मे अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका का निर्माण किया। उसमे उन्होने भगवती सूत्र के पूर्वोक्त मूल पाठ की टीका करते हुए लिखा है :

"दुवे कवोया" इत्यादे श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहु·—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते, कूष्माडे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतक शरीरे-कूष्माड फले··· 'परिआसिए' त्ति परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थ·, 'मज्जारकडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, अन्ये त्वाहु —मार्जारो वायुविशेपस्तदुपशमनाय कृत-सस्कृतं मार्जारकृतम्, अपरे त्वाहु – मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावित यत्तत्तथा किं तत् इति ? आह 'कुर्कुटक मासक' बीजपूरक कटाहम् ·।"

[भगवती सूत्र अभयदेवकृत टीका, शतक १५, उ० १]

इसमे अभयदेव ने अन्य मत का उल्लेख किया है पर उनकी निजी निश्चित मान्यता इन शब्दो के लिये मासपरक अर्थ वाली किसी भी दशा मे नही कही जा सकती।

अर्थ का अनर्थ करने की कुचेष्टा रखने वाले लोगो को यह बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिये कि सामान्य जैन साधु का जीवन भी 'अमज्जमसासिणो' विशेषण के अनुसार मद्यमास का त्यागी होता है तब महावीर के लिये मासग्रहण की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? इसके साथ ही साथ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी सदा ध्यान मे रखना होगा कि भगवान् महावीर ने अपनी देशना मे नरक गति के कारणो का प्रतिपादन करते हुए मासाहार को स्पष्ट शब्दो मे नरक गति का कारण बताया है।[1]

---

[1] (क) ठाणाग सूत्र, ठा० ४, उ० ४, सू० ३७३

(ख) गोयमा ! महारभायाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेण पचिन्दिय वहेण······ नेरइयाउयकम्मा सरीर जाव पयोग बधे।

[भगवती सू०, शतक ८, उ० ६, सू० ३५०]

(ग) चउर्हि ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति · कुणिमाहारेण।

[औपपातिक सूत्र, सू० ५६]

आचारांग सूत्र में तो श्रमण को यहां तक निर्देश दिया गया है कि भिक्षार्थ जाते समय साधु को यदि यह ज्ञात हो जाय कि अमुक गृहस्थ के घर पर मद्य-मांसमय भोजन मिलेगा तो उस घर मे जाने का साधु को विचार तक नही करना चाहिए।[1]

भगवान् महावीर की पित्तज्वर की व्याधि को देखते हुए भी मास अर्थ अनुकूल नही पड़ता किन्तु विजौरे का गिरभाग जो मास पद से उपलक्षित है, वही हितकर माना गया है। जैसा कि सुश्रुत से भी प्रमाणित होता है—

लघ्वम्लं दीपन हृद्यं मातुलु गमुदाहृतम्।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रमिकफापहा॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्ध मास मारुतपित्तजित्।
मेध्य शूलानिलच्छर्दिकफारोचक नाशनम्॥

निघण्टु में भी विजौरा के गुण इस प्रकार वताये गये है :—

रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम्।
श्वासकासारुचिहरं हृद्य तृष्णाहर स्मृतम्॥१३२॥
वीजपूरो पर· प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी।
मधुकर्कटिका स्वादी रोचनी शीतला गुरु॥१३३॥
रक्तपित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा॥१३४॥

[भावप्रकाश निघण्टु]

वैजयन्ती कोप मे वीजपूरक को मधुकुक्कुटी के नाम से उल्लिखित किया गया है। यथा :—

देविकाया महाशल्का दूष्यागी मधुकुक्कुटी।
अथात्ममूला मातुलु गी पूति पुष्पी वृकाम्लिका॥

[वैजयन्ती कोप, भूमिकाण्ड, वनाध्याय, श्लोक ३३–३४]

पित्तज्वर के उपशमन मे वीजपूरक ही हितावह होता है इसलिए यहाँ पर कुक्कुडमस शव्द से मधुकुक्कुटी अर्थात् विजौरे का गिर ही समझना चाहिए।

जिस सस्कृति मे जीवन निर्वाह के लिए अत्यावश्यक फल, मूल, एवं सचित्त जल का भी भक्ष्याभक्ष्य रूप से विचार किया गया है वहा पर स्वय उस सस्कृति के प्रणेता द्वारा मास जैसे महारम्भी पदार्थ का ग्रहण कभी मानने योग्य नहीं हो सकता।

जिन भगवान् महावीर ने कौशाम्वी पधारते समय प्राणान्त सकट की स्थिति मे भी क्षुधा एव तृषा से पीडित मुनिवर्ग को वन प्रदेश मे सहज सचित्त जल को सम्मुख देख कर भी पीने की अनुमति नही दी, वे परम दयालु महामुनि

[1] से भिक्खू वा जाव समाणे से ज पुण जाणेज्जा ममाइ व मच्छाइ मस खल व मच्छ खल वा मच्छी खल नो अभिसधारिज्ज गमणाए

.....[आचारांग, श्रु. २, अ १, उ. ४, सू. २४५]

स्वय की देह रक्षा के लिए मास जैसे अग्राह्य पदार्थ का उपयोग करे, यह कभी बुद्धिगम्य नही हो सकता। अत. बुद्धिमान् पाठको को शब्दो के बाहरी कलेवर की ओर दृष्टि न रख कर उनके प्रसगानुकूल सही अर्थ अर्थात् बिजोरापाक को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए।

साधु को किस प्रकार का आहार त्याज्य है इस सम्बन्ध मे आचाराग सूत्र के उदाहरणपरक मूल पाठ 'वहु अट्ठिएण मसेण वा मच्छेण वा वहुकण्टएण' को लेकर सर्वप्रथम डॉक्टर हर्मन जैकोबी को भ्रम उत्पन्न हुआ और उन्होने आचाराग के अग्रेजी अनुवाद में यह मत प्रकट करने का प्रयास किया कि इन शब्दो का अर्थ मास ही प्रतिध्वनित होता है। जैन समाज द्वारा हर्मन जैकोबी की इस मान्यता का डट कर उग्र विरोध किया गया और अनेक शास्त्रीय प्रमाण उनके समक्ष रखे गये। उन प्रमाणो से हर्मन जैकोबी की शका दूर हुई और उन्होने अपने दिनाक २४–२–२८ के पत्र मे अपनी भूल स्वीकार करते हुए आचाराग सूत्र के उक्त पाठ को उदाहरणपरक माना। श्री हीरालाल रसिकलाल कापडिया ने 'हिस्ट्री आफ कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज' मे डॉक्टर जैकोबी के उक्त पत्र का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :–

> There he has said that 'वहु अट्ठिएण मसेण वा मच्छेण वा वहुकण्टएण' has been used in the metaphorical sense as can be seen from the illustration of नान्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a Vartika at Panini (III,3,9) and from Vachaspati's com. on Nyayasutra (iv, 1,54), He has concluded . "This meaning of the passage is therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which only a part can be eaten and a greater part must be rejected,"

जिस भक्ष्य पदार्थ का वहुत वड़ा भाग खाने के काम मे न आने के कारण त्याग कर डालना पडे उसके साथ नान्तरीयकत्व भाव धारण करने वाली वस्तु के रूप मे उदाहरणपरक मत्स्य शब्द का प्रयोग किया गया है क्योकि मत्स्य के काटो को बाहर ही डालना पडता है। डॉ० हरमन जैकोबी ने नान्तरीयकत्व भाव के रूप मे उपरोक्त पाठ को माना है।

आचाराग सूत्र के उपरोक्त पाठ का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डॉक्टर स्टेन कोनो ने डॉक्टर वाल्थेर शूब्रिग द्वारा जर्मन भाषा में लिखी गई पुस्तक 'दाई लेह्र देर जैनाज' की आलोचना मे लिखा था –

> "I shall mention only one detail, because the common European view has here been largely resented by the

[1] देखिये भगवान् महावीर का सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतभया नगरी की ओर विहार।

Jainas. The mention of *Bahuasthiyamansa* and *Bahukantakamachha* 'meat' or 'fish' with many bones in Acharanga has usually been interpreted so as to imply that it was in olden times, allowed to eat meat and fish, and this interpretation is given on p. 137, in the Review of Philosophy and Religion, Vol. IV–2, Poona 1933, pp. 75 Prof Kapadia has, however, published a letter from Prof. Jacoby on the 14th February, 1928 which in my opinion settles the matter. Fish of which the flesh may be eaten, but scales and bones must be taken out was a school example of an object containing the substance which is wanted in intimate conexion with much that must be rejected. The words of the Acharanga are consequently technical terms and do not imply that 'meat' and 'fish' might be eaten."[1]

ओस्लो के विद्वान् डाक्टर स्टेन कोनो ने जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी को लिखे गये पत्र में डॉ० हर्मन जैकोबी के स्पष्टीकरण की सराहना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पूर्ण अहिंसावादी और आस्तिक जैनों में कभी मांसाहार का प्रचलन रहा हो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह पत्र इस प्रकार है :–

"Prof. Jacoby has done a great service to scholars in clearing up the much discussed question about meat-eating among Jainas. On the face of which, it has always seemed incredible to me that it had at any time, been allowed in a religion where Ahimsa and also Ascetism play such a prominent role ··· " Prof. Jacoby's short remarks on the other hand make the whole matter clear. My reason for mentioning it was that I wanted to bring his explanation to the knowledge of so many scholars as possible. But there will still, no doubt, be people who stick to the old theory. It is always difficult, to do away with false ditthi but in the end truth always prevails."

इन सब प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि अहिंसा को सर्वोपरि स्थान देने वाले जैन धर्म में मांस-भक्षण को सर्वथा त्याज्य और नर्क में पतन का कारण

[1] तीर्थंकर महावीर भाग २, (जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि) पृ० १८२

माना गया है। इस पर भी जो लोग कुतर्कों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैन आगमों में मास-भक्षण का उल्लेख है, उनके लिए हम इस नीतिवाक्य को दोहराना पर्याप्त समझते हैं :–

"ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्मापि नर न रजयति।"

एक दिन गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा – 'भदन्त ! आपका अन्तेवासी सर्वानुभूति अनगार जो गोशालक की तेजोलेश्या से भस्म कर दिया गया है, यहां कालधर्म को प्राप्त कर कहा उत्पन्न हुआ और उसकी क्या गति होगी ?"

गौतम की जिज्ञासा का समाधान

भगवान् ने उत्तर मे कहा – "गौतम ! सर्वानुभूति अनगार आठवें स्वर्ग मे अठारह सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है और वहा से निकल कर महाविदेह-क्षेत्र में जन्म लेकर वह सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होगा।"

इसी तरह सुनक्षत्र के बारे मे भी गौतम द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने फरमाया – "सुनक्षत्र अनगार बारहवे अच्युत कल्प मे बाईस सागर की देवायु भोग कर महाविदेह-क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और वहा उत्तम करणी करके सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

गौतम ने फिर पूछा – "भगवन् ! आपका कुशिष्य मखलिपुत्र गोशालक काल प्राप्त कर कहां गया और कहा उत्पन्न हुआ ?"

प्रभु ने उत्तर मे कहा – "गौतम ! गोशालक भी अन्त समय की परिणाम शुद्धि से छद्मस्थदशा मे काल कर बारहवे स्वर्ग मे बाईस सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है। वहा से पुन जन्म जन्मान्तर करते हुए वह सम्यग्-दृष्टि प्राप्त करेगा और अन्त समय में दृढ़-प्रतिज्ञ के रूप से वह संयम धर्म का पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा और कर्मक्षय कर सर्व दुखों का अन्त करेगा।[1]

मेढियग्राम से विहार करते हुए भगवान् महावीर मिथिला पधारे और वही पर वर्षाकाल पूर्ण किया। इसी वर्ष जमालि मुनि का भगवान् महावीर से मतभेद हुआ और साध्वी सुदर्शना ढक कुम्हार द्वारा प्रतिबोध पाकर फिर भगवान् के सघ मे सम्मिलित हो गई।[2]

केवलीचर्या का सोलहवां वर्ष

मिथिला का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् हस्तिनापुर की ओर पधारे। उस समय गौतम स्वामी कुछ साधु समुदाय के साथ विचरते हुए श्रावस्ती

---

[1] भग श, १५, सू ५६० पृ० ५६५

[2] पियदसणा वि पइणोऽणुरागओ तमाय चिय पवण्णा।
ढकोवहियागणिदड्ढवत्थ देसा तय भणइ ॥

[विशेषावश्यक, गाथा २३२५ से]

आये और कोष्ठक उद्यान में विराजमान हुए। नगर के बाहर 'तिन्दुक उद्यान' मे पार्श्व-संतानीय 'केशिकुमार' भी अपने मुनि-मडल के साथ ठहरे हुए थे। कुमारावस्था मे ही साधु होने से ये कुमार श्रमण कहलाये। ये ज्ञान तथा क्रिया के पारगामी थे। मति, श्रुति और अवधि रूप तीनो ज्ञानों से वे रूपी द्रव्य के वस्तु-स्वरूप को जानते थे।[1]

श्रावस्ती में केशी और गौतम दोनो के श्रमण समुदाय समाधिपूर्वक विचर रहे थे किन्तु दोनो के बीच दिखने वाले वेष-भूषा और आचार के भेद से दोनो समुदाय के श्रमणो के मन शकाशील थे। दोनो श्रमण-समुदायो के मन मे यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा और वह दूसरा कैसा ? हमारी और इनकी आचार-विधि मे इतना अन्तर क्यो है ? पार्श्वनाथ ने चातुर्याम रूप और वर्द्धमान-महावीर ने पच शिक्षा रूप धर्म कहा है। महावीर का धर्म अचेलक और पार्श्वनाथ का धर्म सचेलक है, ऐसा क्यो ? एक लक्ष्य के लिये चलने वालो के आचार के इस विभेद का कारण क्या है ?

केशी-गौतम मिलन

केशी और गौतम दोनो ने अपने-अपने शिष्यो के मनोगत भावो को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया। केशिकुमार के ज्येष्ठकुल का विचार कर मर्यादाशील गौतम अपनी शिष्य-मडली सहित स्वयं 'तिदुक वन' की ओर पधारे। केशिकुमार ने जब गौतम को आते देखा तो उन्होने भी गौतम का यथोचित रूप से सम्यक् सत्कार किया और गौतम को बैठने के लिये प्राशुक पराल आदि तृण आसन रूप से भेंट किये। दोनो एक दूसरे के पास बैठे हुए ऐसी शोभा पा रहे थे मानो सूर्य चन्द्र की जोडी हो।

दोनो स्थविरों के इस अभूतपूर्व सगम के रम्य दृश्य को देखने के लिये बहुत से व्रती, कुतूहली और सहस्रों गृहस्थ भी आ पहुचे। अदृश्य देवादि का भी बडी संख्या मे समागम हुआ। सबके समक्ष केशिकुमार ने प्रेमपूर्वक गौतम से कहा—"महाभाग ! आपकी इच्छा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।" गौतम की अनुमति पा कर केशी बोले—"पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा और महावीर ने पचशिक्षारूप धर्म, इसका क्या कारण है ?"

उत्तर मे गौतम बोले—"महाराज ! धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिये जिस समय लोगो की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय मे लोग सरल और जड़ थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय मे लोग वक्र और जड हैं, पहले वालो को समझाना कठिन था और पिछले वालो के लिये धर्म का पालन करना कठिन है अतः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पच महाव्रत रूप धर्म बतलाया। मध्य तीर्थंकरो के समय मे लोग सरल और बुद्धिमान होने से

---

[1] उत्तराध्ययन, २३।३

थोड़े मे समझ भी लेते और उसे पाल भी लेते। अत पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा है। आशय यह है कि प्रत्येक को सरलता से व्रतो का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सके, यही चातुर्याम और पंच-शिक्षा रूप धर्म-भेद का दृष्टिकोण है।"

(२) गौतम के उत्तर से केशी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने दूसरी शंका वेष के विषय मे प्रस्तुत की और बोले – 'गौतम ! वर्द्धमान-महावीर ने अचेलक धर्म बतलाया और पार्श्वनाथ ने उत्तरोत्तर प्रधान वस्त्र वाले धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार दो तरह का लिंग-भेद देख कर क्या आपके मन मे विपर्यय नही होता ?"

गौतम ने कहा – "लोगो के प्रत्ययार्थ यानी जानकारी के लिये नाना प्रकार के वेष की कल्पना होती है। संयम-रक्षा और धर्म-साधना भी लिंग-धारण का लक्ष्य है। वेष से साधु की सरलता से पहिचान हो जाती है अत लोक मे बाह्य लिंग की आवश्यकता है। वास्तव मे सद्भूत मोक्ष की साधना मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही निश्चय लिंग है। बाह्य लिंग बदल सकता है पर अन्तर्लिंग एक और अपरिवर्तनीय है। अतः लिंग-भेद से तत्त्वाभिमुख गमन मे संशय करने की आवश्यकता नही रहती।"

(३) फिर केशिकुमार ने पूछा – 'गौतम ! आप सहस्रो शत्रुओ के मध्य में खड़े है, वे आपको जीतने के लिये आ रहे हैं। आप उन शत्रुओ पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं ?"

गौतम स्वामी बोले – "एक शत्रु के जीतने से पाच जीते गये और पाच की जीत से दश तथा दश शत्रुओ को जीतने से मैंने सभी शत्रुओ को जीत लिया है।"

केशिकुमार बोले – "वे शत्रु कौनसे हैं ?"

गौतम ने कहा – "हे महामुने ! नही जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है एव चार कपाय तथा ५ इन्द्रियां भी शत्रुरूप है। एक आत्मा के जय से ये सभी वश मे हो जाते है। जिससे मै इच्छानुसार विचरता हूँ और मुझे ये शत्रु बाधित नही करते।"

(४) केशिकुमार ने पुन. पूछा – "गौतम ! ससार के बहुत से जीव पाशबद्ध देखे जाते है परन्तु आप पाशमुक्त लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं ?"

गौतम स्वामी ने कहा – "महामुने ! राग-द्वेप रूप स्नेह-पाश को मैंने उपायपूर्वक काट दिया है, अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत हो कर विचरता हूँ।"

(५) केशिकुमार बोले – "गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई एक लता है, जिसका फल प्राणहारी विष के समान है। आपने उसका मूलोच्छेद कैसे किया है ?"

गौतम ने कहा – "महामुने ! भव-तृष्णा रूप लता को मैने समूल उखाड कर फेंक दिया है, अत. मै निश्शक होकर विचरता हूँ।"

(६) केशिकुमार बोले—"गौतम! शरीर-स्थित घोर तथा प्रचण्ड कषायाग्नि जो शरीर को भस्म करने वाली है, उसको आपने कैसे बुझा रखा है?"

गौतम ने कहा—"महामुने! वीतरागदेवरूप महामेघ से ज्ञान-जल को प्राप्त कर मैं इसे निरन्तर सींचता रहता हूँ। अध्यात्म-क्षेत्र मे कषाय ही अग्नि और श्रुत-शील एवं तप ही जल है। अतः श्रुत-जल की धारा से परिसिक्त कषाय की अग्नि हमको नही जलाती है।"

(७) केशिकुमार बोले—"गौतम! एक साहसी और दुष्ट घोडा दौड़ रहा है, उस पर आरूढ़ होकर भी आप उन्मार्ग मे किस कारण नही गिरते?"

गौतम ने कहा—"श्रमणवर! दौंडते हुए अश्व का मै श्रुत की लगाम से निग्रह करता हू। अत. वह मुझे उन्मार्ग पर न ले जा कर सुमार्ग पर ही वढाता है। आप पूछेंगे कि वह कौन सा घोडा है, जिसको तुम श्रुत की लगाम से निग्रह करते हो। इसका उत्तर यह है कि मन ही साहसी और दुष्ट अश्व है जिस पर मैं वैठा हूं। धर्मशिक्षा ही इसकी लगाम है, जिससे कि मैं सम्यग्रूप से मन का निग्रह कर पाता हूं।"

(८) केशिकुमार ने पूछा—"गौतम! ससार मे वहुत से कुमार्ग हैं जिनमे लोग भटक जाते हैं किन्तु आप मार्ग पर चलते हैं, मार्गच्युत कैसे नही होते हैं?"

गौतम ने कहा—"महाराज! मैं सन्मार्ग पर चलने वाले और उन्मार्ग पर चलने वाले, दोनो को ही जानता हू, इसलिये मार्ग-च्युत नही होता हूँ। मैंने समझ लिया है कि कुप्रवचन के व्रती सव उन्मार्गगामी हैं, केवल वीतराग जिनेन्द्र-प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है।"

(९) केशिकुमार वोले—"गौतम! जल के प्रवल वेग मे जग के प्राणी वहे जा रहे है, उनके लिये आप शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप किसे मानते है?"

गौतम ने कहा—"महामुने! उस पानी मे एक वहुत वडा द्वीप है, जिस पर पानी नही पहुँच पाता। इसी प्रकार ससार के जरा-मरण के वेग मे वहते हुए जीवो के लिये धर्म रक्षक होने से द्वीप का काम करता है। यही शरण, गति और प्रतिष्ठा है।"

(१०) केशी वोले—"गौतम! वडे प्रवाह वाले समुद्र में नाव उत्पथ पर जा रही है, उस पर आरूढ़ होकर आप कैसे पार जा सकेंगे?"

गौतम ने कहा—"केशी महाराज! नौका दो तरह की होती है. (१) सच्छिद्र और (२) छिद्ररहित। जो नौका छिद्र वाली है वह पार नही करती किन्तु छिद्ररहित नौका पार पहुंचाती है। आप कहेंगे कि ससार मे नाव क्या है,

तो उत्तर है – शरीर नौका और जीव नाविक है। आस्रवरहित शरीर से महर्षि ससार-समुद्र को पार कर लेते है ?"

(११) फिर केशिकुमार ने पूछा – "गौतम ! संसार के बहुत से प्राणी घोर अधकार मे भटक रहे है, लोक मे इन सब प्राणियो को प्रकाश देने वाला कौन है ?"

गौतम ने कहा – "लोक मे विमल प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय हो गया है, जो सब जीवो को प्रकाश-दान करेगा। सर्वज्ञ जिनेश्वर ही वह भास्कर है जो तमसावृत्त ससार को ज्ञान का प्रकाश दे सकते है।"

(१२) तदनन्तर केशी ने सुख-स्थान की पृच्छा करते हुए प्रश्न किया – "ससार के प्राणी शारीरिक और मानसिक आदि विविध दुःखो से पीडित हैं, उनके लिये निर्भय, उपद्रवरहित और शान्तिदायक स्थान कौनसा है ?"

इस पर गौतम ने कहा – "लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है जहा जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और पीडा नही होती। वह स्थान सबको सुलभ नही है। उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एव शिवस्थान आदि नाम से कहते है। उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।"

इस प्रकार गौतम द्वारा अपने प्रत्येक प्रश्न का समुचित समाधान पाकर केशिकुमार बड़े प्रसन्न हुए और गौतम को श्रुतसागर एवं सशयातीत कह उनका अभिवादन करने लगे। फिर सत्यप्रेमी और गुणग्राही होने से घोर पराक्रमी केशी ने शिर नमा कर गौतम के पास पच-महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती मे ज्ञान और शील धर्म का बडा अभ्युदय हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्रवन में अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

शिव राजर्षि

हस्तिनापुर मे उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे – "अहो ! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ़ रहा हू। वर्तमान में शुभ कर्मो का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिये भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशसनीय नही होता। अच्छा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कडाह, कडच्छुल और ताम्रपात्र बनवाकर 'शिवभद्रकुमार' को राज्याभिषिक्त करू और स्वयं गगातटवासी, दिशापोषक वानप्रस्थो के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लू।"

प्रात काल सकल्प के अनुसार उन्होने सेवकजनो को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया और लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर मित्र-ज्ञातिजनो का भोजनादि से उचित सत्कार किया एवं उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी दीक्षा ग्रहण कर उन्होने यह प्रतिज्ञा की – "मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनो बाहें उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूंगा।" प्रात काल होने पर उन्होंने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारणे में शिव राजर्षि वल्कल पहने तपोभूमि से कुटिया मे आये और कठिन सकायिका - बास की छाब को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले – "पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान मे लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करे, और कद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिये अनुज्ञा प्रदान करे।" ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहां से पत्रादि छाब में भरकर तथा दर्भ, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन सयामिका को रखकर प्रथम उन्होने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्भ सहित कलश लिये गगा पर गये। वहा स्नान किया और देव-पितरो का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया मे पहुचे। वहा विधिपूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सक्था, वल्कल, स्थान, शय्या-भाण्ड, कमंडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एव घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-बलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।[1]

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन मे प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे – "मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नही है।" शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर मे जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा – "सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नही है।"

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुर आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर मे भिक्षार्थ निकले तो उन्होने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा – "क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?"

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्बन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा – "इस धरातल पर जबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असख्य समुद्र है।"

---

[1] भग० शतक ११, उ० ६ सू० ४१८।

लोगो ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर मे सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते है कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असख्य है।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शका हुई, सकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा – "अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।" वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य मे होते हुए सहस्राम्र वन पहुचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जब धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पडा। वे विनयपूर्वक बोले-- "भगवन्! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।" उन्होने तापसी उपकरणो को अलग कर भगवच्चरणो मे पच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग मे प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने एकादश अग का अध्ययन किया और अन्त में सकल कर्मो का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[1]

भगवान् के प्रयत्नो से सत्पथ को पहिचानकर यहा कई धर्मार्थियो ने मुनि-धर्म की दीक्षा ली, उनमे पोट्टिल अनगार का नाम उल्लेखनीय है। कुछ काल के बाद महावीर हस्तिनापुर से 'मोका' नगरी होते हुए फिर वाणियग्राम पधारे और वही पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का सत्रहवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होते ही भगवान् विदेह भूमि से मगध की ओर पधारे और विहार करते हुए राजगृह के 'गुणशील' चैत्य मे समवशरण किया। राजगृह में उस समय निर्ग्रन्थ वचन को मानने वालो की संख्या बहुत बड़ी थी फिर भी अन्य मतावलम्बियो का भी अभाव नही था। बौद्ध, आजीवक और अन्यान्य सम्प्रदायों के श्रमण एव गृहस्थ भी अच्छी सख्या मे वहा रहते थे। वे समय-समय पर एक-दूसरे की मान्यताओ पर विचार-चर्चा भी किया करते थे।

एक समय इन्द्रभूति गौतम ने आजीवक भिक्षुओ के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा – "प्रभो! आजीवक, स्थविरो से पूछते है कि यदि तुम्हारे श्रावक का, जब वह सामायिक व्रत मे रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूर्ण कर वह उसकी तलाश करता है या नही? यदि तलाश करता है तो वह अपने भाड की तलाश करता है या पराये की?"

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया – "गौतम! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नही। सामायिक और पोषधोपवास से उसका

[1] भग० श० ११, उ० ६, सूत्र ४१८।

भाण्ड, अभाण्ड नही होता है। केवल जब तक वह सामायिक आदि व्रत मे रहता है तब तक उसका भाण्ड उसके लिये अभाण्ड माना जाता है। आगे चलकर प्रभु ने श्रावक के उनपचास भगो का परिचय देते हुए श्रमणोपासक और आजीवक का भेद बतलाया।

आजीवक अरिहन्त को देव मानते और माता-पिता की सेवा करने वाले होते हैं। वे गूलर, बड़, बोर, शहतूत और पीपल इन पाच फलो और प्याज-लहसुन आदि कंद के त्यागी होते हैं। वे ऐसे बैलो से काम लेते हैं जिनको बधिया नही किया जाता और न जिनका नाक ही वेधा जाता है। जब आजीवक उपासक भी इस प्रकार निर्दोष जीविका चलाते हैं तो श्रमणोपासको का तो कहना ही क्या। श्रमणोपासक पन्द्रह कर्मादानो के त्यागी[1] होते है क्योकि अगारकर्म आदि महा हिंसाकारी खरकर्म श्रावक के लिये त्याज्य कहे गये है।

इस वर्ष बहुत से साधुओ ने राजगृह के विपुलाचल पर अनशन कर आत्मा का कार्य सिद्ध किया। भगवान् का यह वर्षाकाल भी राजगृही में सम्पन्न हुआ।

केवलीचर्या का अठारहवां वर्ष

राजगृह का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् ने चपा की ओर विहार किया और उसके पश्चिम भाग, पृष्ठचम्पा नामक उपनगर मे विराजमान हुए। प्रभु के विराजने की बात सुनकर पृष्ठचम्पा का राजा शाल और उसके छोटे भाई युवराज महाशाल ने भक्तिपूर्वक प्रभु का उपदेश सुना और शालराजा ने संसार से विरक्त होकर प्रभु के चरणों मे श्रमणधर्म स्वीकार करना चाहा। जब उसने युवराज महाशाल को राज्य संभालने की बात कही तो उसने जवाब दिया – "जैसे आप संसार से विरक्त हो रहे हैं वैसे मैं भी प्रभु के उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूं।" इस प्रकार दोनो के विरक्त हो जाने पर शाल ने अपने भानजे 'गागली' नामक राजकुमार को बुलाया और उसे राज्यारूढ कर दोनो ने प्रभु के चरणो मे श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

पृष्ठचम्पा से भगवान् चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य मे पधारे। भगवान् महावीर के पदार्पण की शुभसूचना पाकर वहां के प्रमुख लोग वन्दन करने को गये। श्रमणोपासक कामदेव जो उन दिनो अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सभलाकर विशेष रूप से धर्मसाधना मे तल्लीन था, वह भी प्रभु के चरण-वन्दन हेतु पूर्णभद्र उद्यान में आया और देशना श्रवण करने लगा।

धर्म-देशना पूर्ण होने पर प्रभु ने "कामदेव" को सम्बोधन कर कहा – "कामदेव ! रात मे किसी देव ने तुमको पिशाच, हाथी और सर्प के रूप बनाकर विविध प्रकार के उपसर्ग दिये और तुम अडोल रहे, क्या यह सच है?"

कामदेव ने विनयपूर्वक कहा – "हां भगवन् ! यह ठीक है।"

---

[1] भगवती सूत्र, श० ८, उ० ५।

भगवान् ने श्रमण निर्ग्रन्थो को सम्बोधित कर कहा – "आर्यो ! कामदेव ने गृहस्थाश्रम मे रहते हुए दिव्य, मानुपी और पशु सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन किये है।[1] श्रमण निग्रन्थो को इससे प्रेरणा लेनी चाहिये।" श्रमण-श्रमणियो ने भगवान् का वचन सविनय स्वीकार किया। चम्पा मे इस प्रकार प्रभु ने बहुत उपकार किया।

दशार्णभद्र को प्रतिबोध

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहा का महाराजा आपका बडा भक्त था। उसने बडी धूमधाम से प्रभु-वन्दन की तैयारी की और चतुरग सेना व राज-परिवार सहित सजधजकर वन्दन को निकला। उसके मन में विचार आया कि मेरी तरह इतनी बडी ऋद्धि के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिये कौन आया होगा? इतने में सहसा गगनमंडल से उतरते हुए देवेन्द्र की ऋद्धि पर दृष्टि पड़ी तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया। उसने अपने गौरव की रक्षा के लिये भगवान् के पास तत्क्षण दीक्षा ग्रहण की और श्रमण-सघ मे स्थान पा लिया। देवेन्द्र जो उसके गर्व को नष्ट करने के लिये अद्भुत ऋद्धि से आया हुआ था, दशार्णभद्र के इस साहस को देखकर लज्जित हुआ[2] और उनका अभिवादन कर स्वर्गलोक की ओर चला गया।

सोमिल के प्रश्नोत्तर

दर्शाणपुर से विदेह प्रदेश में विचरण करते हुए प्रभु वाणियग्राम पधारे। वहां उस समय 'सोमिल' नाम का ब्राह्मण रहता था जो वेद-वेदांग का जानकार और पाच सौ छात्रो का गुरु था। नगर के 'दूति पलाश' उद्यान में महावीर का आगमन सुनकर उसकी भी इच्छा हुई कि वह महावीर के पास जाकर कुछ पूछे। सौ छात्रो के साथ वह घर से निकला और भगवान् के पास आकर खड़े-खड़े बोला – "भगवन् ! तुम्हारे विचार से यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार का क्या स्वरूप है ? तुम कैसी यात्रा मानते हो ?"

महावीर ने कहा – "सोमिल ! मेरे मत मे यात्रा भी है, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार भी है। हम तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि क्रियाओ मे यतनापूर्वक चलने को यात्रा कहते है। शुभ योग में यतना ही हमारी यात्रा है।"[3]

सोमिल ने फिर पूछा – "यापनीय क्या है ?"

महावीर ने कहा – "सोमिल यापनीय दो प्रकार का है, इन्द्रिय यापनीय और नो इन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा, और स्पर्शेन्द्रिय को वश मे

[1] उपासक दशा सूत्र, २ अ० सू० ११४।
[2] (क) उत्तराध्ययन १८ अ० की टीका, (ख) त्रिष०, १० प०, १० स०।
[3] भगवती सू०, १८ श०, उ० १०, सू० ६४६ ॥

रखना मेरा इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया, लोभ, को जागृत नही होने देना एव उन पर नियन्त्रण रखना मेरा नो-इन्द्रिय यापनीय है।"

सोमिल ने फिर पूछा – "भगवन् ! आपका अव्यावाध क्या है ?"

भगवान् वोले – "सोमिल ! शरीरस्थ वात, पित्त, कफ और सन्निपात-जन्य विविध रोगातको को उपशान्त करना एव उनको प्रकट नही होने देना, यही मेरा अव्यावाध है।"

सोमिल ने फिर प्रासुक विहार के लिये पूछा तो महावीर ने कहा – "सोमिल ! आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, प्रपा आदि स्त्री, पशु-पण्डक रहित वस्तियो मे प्रासुक एवं कल्पनीय पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक स्वीकार कर विचरना ही मेरा प्रासुक विहार है।"

उपर्युक्त प्रश्नो मे प्रभु को निरुत्तर नही कर सकने की स्थिति मे सोमिल ने भक्ष्याभक्ष्य सम्वन्धी कुछ अटपटे प्रश्न पूछे – "भगवन् ! सरिसव आपके भक्ष्य है या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा – "सोमिल ! सरिसव को मै भक्ष्य भी मानता हूँ और अभक्ष्य भी। वह ऐसे कि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे 'सरिसव' शव्द के दो अर्थ होते है, एक सदृशवय और दूसरा सर्षप याने सरसो। इनमे से समान वय वाले मित्त-सरिसव श्रमण निर्ग्रन्थो के लिये अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव जिसे सर्षप कहते है, उसके भी सचित्त और अचित्त, एपणीय-अनेषणीय, याचित-अयाचित और लव्ध-अलव्ध, ऐसे दो-दो प्रकार होते है। उनमे हम अचित्त को ही निग्रन्थो के लिये भक्ष्य मानते हैं, वह भी यदि एषणीय, याचित और लव्ध हो। इसके विपरीत सचित्त, अनेपणीय आदि प्रकार के सरिसव श्रमणो के लिये अभक्ष्य है। इसलिये मैंने कहा कि सरिसव को मैं भक्ष्य और अभक्ष्य दोनो मानता हूँ।"

सोमिल ने फिर दूसरा प्रश्न रखा – "मास आपके यहा भक्ष्य है या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा – "सोमिल ! सरिसव के समान 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। वह इस तरह कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे मास दो प्रकार के कहे गये हैं, एक द्रव्य मास और दुसरा काल मास। काल मास जो श्रावण से आपाढ पर्यन्त वारह हैं, वे अभक्ष्य है। रही द्रव्य मास की वात, वह भी अर्थ मास और धान्य मास के भेद से दो प्रकार का है। अर्थ मास-सुवर्ण मास और रौप्य मास श्रमणो के लिये अभक्ष्य है। अब रहा धान्य मास उसमे भी शस्त्र परिणत-अचित्त, एपणीय, याचित और लव्ध ही श्रमणो के लिये भक्ष्य हैं। शेप सचित्त आदि विशेषणवाला धान्य मास अभक्ष्य है।"

सरिसव और मास के सतोषजनक उत्तर पाने के वाद सोमिल ने पूछा – "भगवन् ! कुलत्था आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा – "सोमिल ! कुलत्था भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। भक्ष्याभक्ष्य उभयरूप कहने का कारण इस प्रकार है – शास्त्रो मे 'कुलत्था' के

अर्थ कुलीन स्त्री और कुलथी धान्य दो किये गये है। कुल-कन्या, कुल-वधू और कुल-माता ये तीनो 'कुलत्था' अभक्ष्य है। धान्य कुलत्था जो अचित्त, एपणीय, निर्दोष, याचित और लब्ध है वे भक्ष्य हैं। शेष सचित्त, सदोष, अयाचित और अलब्ध कुलत्था निर्ग्रन्थो के लिये अभक्ष्य है।"

अपने इन अटपटे प्रश्नो का सन्तोपजनक उत्तर पा लेने के बाद महावीर की तत्त्वज्ञता को समझने के लिये उसने कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न पूछे - "भगवन्! आप एक है या दो? अक्षय, अव्यय और अवस्थित है या भूत, भविष्यत्, वर्तमान के अनेक रूपधारी हैं?"

महावीर ने कहा - "मै एक भी हूँ और दो भी हूँ। अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित भी हूँ। फिर अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के नाना रूप-धारी भी हूँ।"

अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा - "द्रव्यरूप से मै एक आत्म-द्रव्य हूँ। उपयोग गुण की दृष्टि से ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग रूप चेतना के भेद से दो हूँ। आत्म प्रदेशो मे कभी क्षय, व्यय और न्यूनाधिकता नहीं होती इसलिये अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। पर परिवर्तनशील उपयोग-पर्यायो की अपेक्षा भूत, भविष्य एवं वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ।"[१]

सोमिल ने अद्वैत, द्वैत, नित्यवाद और क्षणिकवाद जैसे वर्षों चर्चा करने पर भी न सुलझने वाले दर्शन के प्रश्न रखे, पर महावीर ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त से उनका क्षणभर मे समाधान कर दिया इससे सोमिल बहुत प्रभावित हुआ। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान् की देशना सुनी और उनके चरणो मे श्रावकधर्म स्वीकार किया तथा वन्दना कर अपने घर चला गया। सोमिल ने श्रावकधर्म की साधना कर अन्त मे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया और स्वर्गगति का अधिकारी बना।

भगवान् का यह चातुर्मास 'वाणियग्राम' मे ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का उन्नीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् कोशल देश के साकेत, सावत्थी आदि नगरो को पावन करते हुए पाचाल की ओर पधारे और कपिलपुर के बाहर सहस्राम्रवन मे विराजमान हुए। कम्पिलपुर में अम्बड़ नाम का एक ब्राह्मण परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यो के साथ रहता था। जब उसने महावीर के त्याग-तपोमय जीवन को देखा और वीतरागमय निर्दोष प्रवचन सुने तो वह शिष्य-मडली सहित जैन-धर्म का उपासक बन गया। परिव्राजक सम्प्रदाय की वेष-भूषा रखते हुए भी उसने जैन देश-विरति धर्म का अच्छी तरह पालन किया।

एक दिन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने अम्बड के लिये सुना कि अम्बड़ सन्यासी कम्पिलपुर मे एक साथ सौ घरो मे आहार ग्रहण करता और सौ ही घरो मे दिखाई देता है।

---

१ भग०, १८ शतक, १० उ०, सूत्र ६४७।

गौतम ने आकांक्षायुक्त होकर भगवान् से पूछा – "भगवन्! क्या यह सच है ?" प्रभु ने उत्तर मे कहा- "गौतम ! अम्बड परिव्राजक विनीत और प्रकृति का भद्र है। निरन्तर छट्ठा तप– वेले-वेले की तपस्या के साथ आतापना करते हुए उसको शुभ परिणामो से वीर्यलब्धि और वैक्रियलब्धि के साथ अवधिज्ञान भी प्राप्त हुआ है। अत. लब्धिवल से वह सौ रूप बना कर सौ घरो मे दिखाई देता और सौ घरो मे आहार ग्रहण करता है, यह ठीक है।"

"गौतम ने पूछा – "प्रभो! क्या वह आपकी सेवा मे श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करेगा ?"

प्रभु ने उत्तर मे कहा– "गौतम ! अम्बड जीवाजीव का ज्ञाता श्रमणोपासक है। वह उपासक जीवन मे ही आयु पूर्ण करेगा। श्रमणधर्म ग्रहण नही करेगा।

अम्बड़ की चर्या

भगवान् ने अम्बड़ की चर्या के सम्बन्ध मे कहा – "गौतम! यह अम्बड़ स्थूल हिंसा, झूठ और अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और संतोषी होकर विचरता है। वह यात्रा मे चलते हुए मार्ग में आए पानी को छोड़कर अन्यत्र किसी नदी, कूप या तालाव आदि मे नही उतरता। रथ, गाडी, पालकी आदि यान अथवा हाथी, घोडा आदि वाहनो पर भी नही बैठता। मात्र चरण-यात्रा करता है। खेल, तमाशे, नाटक आदि नही देखता और न राजकथा, देशकथा आदि कोई विकथा ही करता है। वह हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श भी नही करता। पात्र मे तुम्वा, काष्ठ-पात्र और मृत्तिका-भाजन के अतिरिक्त तांबा, सोना और चांदी आदि किसी धातु के पात्र नही रखता। गेरुआ चादर के अतिरिक्त किसी अन्य रग के वस्त्र धारण नही करता है। एक ताम्रमय पवित्रक को छोड कर किसी प्रकार का आभूषण धारण नही करता। एक कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के पुष्पहार आदि का उपयोग भी नही करता। शरीर पर केसर, चन्दन आदि का विलेपन नही करता, मात्र गगा की मिट्टी का लेप चढाता है। आहार मे वह अपने लिये बनाया हुआ, खरीदा हुआ और अन्य के द्वारा लाया हुआ भोजन भी ग्रहण नही करता। उसने स्नान और पीने के लिये जल का भी प्रमाण कर रखा है। वह पानी भी छाना हुआ और दिया हुआ ही ग्रहण करता है। विना दिया पानी स्वय जलाशय से नही लेता।"

अनेक वर्षों तक इस तरह साधना का जीवन व्यतीत कर अम्बड़ संन्यासी अन्त मे एक मास के अनशन की आराधना कर ब्रह्मलोक-स्वर्ग मे ऋद्धिमान् देव के रूप मे उत्पन्न हुआ।

१ अम्बड के शिष्यो ने भी एक वार जगल मे जल देने वाला नही मिलने से तृषा-पीडित हो गगा नदी के तट पर वालुकामय सथारे पर आजीवन अनशन कर प्राणोत्सर्ग कर दिया और ब्रह्मकल्प मे वीस सागर की स्थिति वाले देवरूप से उत्पन्न हुए। विशेप जानकारी के लिये औपपातिक सूत्र का अम्बड प्रकरण द्रष्टव्य है।

कम्पिलपुर से विचरते हुए भगवान् वैशाली पधारे और यही पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का बीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भूभागो में विचरण करते हुए प्रभु फिर एक वार वाणियग्राम पधारे। वाणियग्राम के दूतिपलाश चैत्य में जव भगवान् धर्म-देशना दे रहे थे, उस समय एक दिन पार्श्व सन्तानीय 'गागेय' मुनि वहां आये और दूर खड़े रहकर भगवान् से निम्न प्रकार बोले --

"भगवन् ! नारक जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?"

भगवान् ने कहा -- "गागेय ! नारक अन्तर से भी उत्पन्न होते है और विना अन्तर के निरन्तर भी उत्पन्न होते है।"

इस प्रकार के अन्यान्य प्रश्नो के भी समुचित उत्तर पाकर गागेय ने भगवान् को सर्वज्ञ रूप से स्वीकार किया और तीन वार प्रदक्षिणा एव वन्दना कर उसने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया। वे महावीर के श्रमणसंघ मे सम्मिलित हो गये।[1]

फिर घूमते हुए भगवान् वैशाली पधारे और वहां पर दूसरा चातुर्मास व्यतीत किया।

केवलीचर्या का इक्कीसवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने वैशाली से मगध की ओर प्रस्थान किया। वे अनेक क्षेत्रो में धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पधारे और गुणशील वन मे विराजमान हुए। गुणशील वन के पास अन्यतीर्थ के वहुत से साधु रहते थे। उनमे समय-समय पर कई प्रकार के प्रश्नोत्तर होते रहते थे। अधिकांश मे वे स्वमत का मडन और परमत का खण्डन किया करते। गौतम ने उनकी कुछ वाते सुनी तो उन्होने भगवान् के सामने जिज्ञासाएं प्रस्तुत कर शंकाओ का समाधान प्राप्त किया। भगवान् ने श्रुतसम्पन्न और शीलसम्पन्न मे कौन श्रेष्ठ है यह वतलाया और जीव तथा जीवात्मा को भिन्न मानने की लोक-मान्यता का भी विरोध किया। उन्होने कहा -- "जीव और जीवात्मा भिन्न नही, एक ही है।"

एक दिन तैर्थिकों में पचास्तिकाय के विषय मे भी चर्चा चली। वे इस पर तर्क-वितर्क कर रहे थे। उस समय भगवान् के आगमन की वात सुनकर राजगृह का श्रद्धाशील श्रावक 'मद्दुक' भी तापसाश्रम के पास से प्रभु-वन्दन के लिये जा रहा था। कालोदायी आदि तैर्थिक जो पंचास्तिकाय के सम्वन्ध मे चर्चा कर रहे थे, मद्दुक श्रावक को जाते देखकर आपस मे वोले -- "अहो अर्हद्भक्त मद्दुक इधर से जा रहा है। वह महावीर के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता है। क्यो नही प्रस्तुत विषय पर उसकी भी राय ले ली जाय।"

---

[1] भग०, ६ श०, ५ उ०।

ऐसा सोचकर वे लोग पास आये और मद्दुक को रोककर बोले– "मद्दुक! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर पच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते हैं। उनमे एक को जीव और चार को अजीव तथा एक को रूपी और पाच को अरूपी वतलाते हैं। इस विषय मे तुम्हारी क्या राय है तथा अस्तिकायो के विषय मे तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं ?"

उत्तर देते हुए मद्दुक ने कहा – "अस्तिकाय अपने-अपने कार्य से जाने जाते हैं। ससार मे कुछ पदार्थ दृश्य और कुछ अदृश्य होते हैं जो अनुभव, अनुमान एव कार्य से जाने जाते हैं।"

तीर्थिक वोले – "मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यो को जानता-देखता नही, फिर उनको मानता कैसे है ?"

मद्दुक ने कहा – "तीर्थिको ! हवा चलती है, तुम उसका रंग रूप देखते हो ?"

तीर्थिको ने कहा – "सूक्ष्म होने से हवा का रूप देखा नही जाता।"

इस पर मद्दुक ने पूछा – "गध के परमाणु जो घ्राणेन्द्रिय के तीन विषय होते है, क्या तुम सव उनका रूप-रग देखते हो ?"

"नही, गध के परमाणु भी सूक्ष्म होने से देखे नही जाते", तीर्थिको ने कहा।

मद्दुक ने एक और प्रश्न रखा – "अरणिकाष्ठ मे अग्नि रहती है, क्या तुम सव अरणि मे रही हुई आग के रग-रूप को देखते हो ? क्या देवलोक मे रहे हुए रूपो को तुम देख पाते हो ? नही, तो क्या तुम जिनको नही देख सको, वह वस्तु नही है ? दृष्टि मे प्रत्यक्ष नही आने वाली वस्तुओं को यदि अमान्य करोगे तो तुम्हे बहुत से इष्ट पदार्थों का भी निषेध करना होगा। इस प्रकार लोक का अधिकतम भाग और भूतकाल की वश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

मद्दुक की युक्तियो से तैर्थिक अवाक् रह गये और उन्हे मद्दुक की वात माननी पडी। अन्य तीर्थियो को निरुत्तर कर जब मद्दुक भगवान् की सेवा मे पहुचा तव प्रभु ने मद्दुक के उत्तरो का समर्थन करते हुए उसकी शासन-प्रीति का अनुमोदन किया। ज्ञातपुत्र भ० महावीर के मुख से अपनी प्रशसा सुनकर मद्दुक वहुत प्रसन्न हुआ और ज्ञानचर्चा कर अपने स्थान की ओर लौट गया।

गौतम को मद्दुक श्रावक की योग्यता देखकर जिज्ञासा हुई और उन्होने प्रभु से पूछा – "प्रभो ! क्या मद्दुक श्रावक आगार-धर्म से अनगार-धर्म ग्रहण करेगा ? क्या यह आपका श्रमण शिष्य होगा ?"

प्रभु ने कहा – "गौतम ! मद्दुक प्रव्रज्या ग्रहण करने मे समर्थ नही है। यह गृहस्थधर्म मे रह कर ही देश-धर्म की आराधना करेगा और अन्तिम समय समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर 'अरुणाभ' विमान मे देव होगा और फिर मनुष्य भव मे सयमधर्म की साधना कर सिद्ध, वुद्ध, मुक्त होगा।"

इसके वाद विविध क्षेत्रो में धर्मोपदेश देते हुए अन्त मे राजगृह मे ही भगवान् ने वर्षाकाल व्यतीत किया। प्रभु के विराजने से लोगो का वड़ा उपकार हुआ।

केवलीचर्या का बाईसवां वर्ष

राजगृह से विहार कर भगवान् हेमन्त ऋतु मे विभिन्न स्थानो मे विचरण करते एव धर्मोपदेश देते हुए पुनः राजगृह पधारे तथा गुणशील चैत्य मे विराजमान हुए।

एक वार जव इन्द्रभूति राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुणशील उद्यान की ओर आ रहे थे तो मार्ग मे कालोदायी, शैलोदायी आदि तैर्थिक पचास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देख कर वे पास आये और वोले—"गौतम! तुम्हारे धर्माचार्य ज्ञातपुत्र महावीर धर्मास्तिकाय आदि पचास्तिकायो की प्ररूपणा करते है, इसका मर्म क्या है? और इन रूपी-अरूपी कायों के सम्वन्ध मे कैसा क्या समझना चाहिये? तुम उनके मुख्य शिष्य हो, अत' कुछ स्पष्ट कर सको तो बहुत अच्छा हो।"

गौतम ने सक्षेप मे कहा—"हम अस्तित्व मे 'नास्तित्व' और 'नास्तित्व' मे अस्तित्व नही कहते। विशेप इस विषय मे तुम स्वय विचार करो, चिंतन से रहस्य समझ सकोगे।"

गौतम तीर्थिको को निरुत्तर कर भगवान् के पास आये, पर कालोदायी आदि तीर्थिको का इससे समाधान नही हुआ। वे गौतम के पीछे-पीछे भगवान् के पास आये। भगवान् ने भी प्रसग पाकर कालोदायी को सम्वोधन कर कहा—"कालोदायी! क्या तुम्हारे साथियो मे पचास्तिकाय के सम्वन्ध में चर्चा चली?"

कालोदायी ने स्वीकार करते हुए कहा—"हा महाराज! जव से हमने आपके सिद्धान्त सुने हैं, तव से हम इस पर तर्क-वितर्क किया करते हैं।"

भगवान् ने उत्तर मे कहा—"कालोदायी! यह सच है कि इन पचास्तिकायो पर कोई सो, बैठ या चल नही सकता, केवल पुद्गलास्तिकाय ही ऐसा है जिस पर ये क्रियाये हो सकती है।"

कालोदायी ने फिर पूछा—"भगवन्! जीवो के दुष्ट-विपाक रूप पापकर्म पुद्गलास्तिकाय मे किये जाते है या जीवास्तिकाय मे?"

महावीर ने कहा—"कालोदायी! पुद्गलास्तिकाय मे जीवो के दुष्ट-विपाक रूप पाप नही किये जाते, किन्तु वे जीवास्तिकाय मे ही किये जाते है। पाप ही नही सभी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय मे ही होते है। जड़ होने से अन्य कार्यों मे कर्म नही किये जाते।"

इस प्रकार भगवान् के विस्तृत उत्तरो से कालोदायी की शका दूर हो गई। उसने भगवान् के चरणो मे निग्रन्थ प्रवचन सुनने की अभिलाषा व्यक्त की। अवसर देख कर भगवान् ने भी उपदेश दिया। उसके फलस्वरूप कालोदायी

निग्रन्थ मार्ग मे दीक्षित हो कर मुनि वन गया। क्रमश ग्यारह अंगो का अध्ययन कर वह प्रवचन-रहस्य का कुशल ज्ञाता हुआ।[1]

उदक पेढ़ाल और गौतम

राजगृह के ईशान कोण मे नालदा नाम का एक उपनगर था। वहा 'लेव' नामक गाथापति निग्रन्थ-प्रवचन का अनुयायी और श्रमणो का वडा भक्त था। 'लेव' ने नालदा के ईशान कोण मे एक शाला का निर्माण कराया जिसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। कहा जाता है कि गृहनिर्माण से वचे हुए द्रव्य से वह शाला वनाई गई थी, अत उसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। उसके निकटवर्ती 'हस्तियाम' उद्यान मे एक समय भगवान् महावीर विराजमान थे। वहा पेढालपुत्र 'उदक' जो पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण थे, इन्द्रभूति – गौतम से मिले और उनसे वोले – "आयुष्मन् गौतम ! मै तुमसे कुछ पूछना चाहता हू।" गौतम की अनुमति पा कर उदक बोले – "कुमार पुत्र श्रमण ! अपने पास नियम लेने वाले उपासक को ऐसी प्रतिज्ञा कराते है – 'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ या चोर को वाधने के अतिरिक्त किसी त्रस जीव की हिंसा नही करूगा।[2]' ऐसा पच्चखाण दुपच्चखाण है यानी इस तरह के प्रत्याख्यान करना-कराना प्रतिज्ञा मे दूपण रूप हैं, क्योकि संसारी प्राणी स्थावर मर कर त्रस होते और त्रस मर कर स्थावर रूप से भी उत्पन्न होते है। इस प्रकार जो जीव त्रस रूप मे अघात्य थे, वे ही स्थावर रूप मे उत्पन्न होने पर घात-योग्य हो जाते है। इसलिये प्रत्याख्यान मे इस प्रकार का विशेपण जोडना चाहिये कि 'त्रसभूत जीवो की हिंसा नही करूगा। भूत विशेषण से यह दोप टल सकता है। हे गौतम ! तुम्हे मेरी यह वात कैसी जंचती है ?"

उत्तर मे गौतम ने कहा – "आयुष्मन् उदक् ! तुम्हारी वात मेरे ध्यान में ठीक नहीं लगती और मेरी समझ से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा कराने वालो को दुपच्चखाण कराने वाला कहना भी उचित नही, क्योकि यह मिथ्या आरोप लगाने के समान है। वास्तव मे त्रस और त्रसभूत का एक ही अर्थ है। हम जिसको त्रस कहते है उस ही को तुम त्रसभूत कहते हो। इसलिये त्रस की हिंसा त्यागने वाले को वर्तमान त्रस पर्याय की हिंसा का त्याग होता है, भूतकाल मे चाहे वह स्थावर रूप से रहा हो या त्रस रूप से इसकी अपेक्षा नही है। पर जो वर्तमान में त्रस पर्यायधारी है उन सवकी हिंसा उसके लिये वर्ज्य होती है।[3]

त्यागी का लक्ष्य वर्तमान पर्याय से है, भूत पर्याय किसी की क्या है, यह ज्ञानी ही समझ सकते हैं। अत. जो लोग सम्पूर्ण हिंसा त्यागरूप श्रामण्य नही स्वीकार कर पाते वे मर्यादित प्रतिज्ञा करते हुए कुशल परिणाम के ही पात्र माने

---

[1] भग० सू०, ७।१०।३०५।

[2] सूत्र कृताग, २।७।७२ सूत्र, (नालदीयाध्ययन)

[3] सूत्र कृताग सू०, २।७, सूत्र ७३-७४। (नालदीयाध्ययन)

जाते हैं। इस प्रकार त्रसहिसा के त्यागी श्रमणोपासक का स्थावर-पर्याय की हिंसा से व्रत-भग नही होता।"

गौतम स्वामी और उदक-पेढाल के बीच विचार चर्चा चल रही थी कि उसी समय पार्श्वापत्य अन्य स्थविर भी वहा आ पहुँचे। उन्हे देख कर गौतम ने कहा – "उदक ! ये पार्श्वापत्य स्थविर आये हे, लो इन्ही से पूछ ले।"

गौतम ने स्थविरो से पूछा – "स्थविरो ! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको जीवनपर्यन्त अनगार-साधु नही मारने की प्रतिज्ञा है। कभी कोई वर्तमान साधु पर्याय मे वर्षो रह कर फिर गृहवास मे चला जाय और किसी अपरिहार्य कारण से वह साधु की हिंसा त्यागने वाला गृहस्थ उसकी हिंसा कर डाले तो उसे साधु की हिंसा का पाप लगेगा क्या ?"

स्थविरो ने कहा – "नही, इससे प्रतिज्ञा का भग नही होता।"

गौतम ने कहा – "निग्रन्थो ! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी गृहस्थ भी स्थावर की हिंसा करता हुआ अपने पच्चखाण का भंग नही करता।"

इस प्रकार अन्य भी अनेको दृष्टान्तो से गौतम ने उदक-पेढाल मुनि की शका का निराकरण किया और समझाया कि त्रस मिट कर सब स्थावर हो जायं या स्थावर सब के सब त्रस हो जाय, यह सभव नही।

गौतम के युक्तिपूर्ण उत्तर और हित-वचनो से मुनि उदक ने समाधान पाया और सरलभाव से विना वन्दन के ही जाने लगा तो गौतम ने कहा – "आयुष्मन् उदक ! तुम जानते हो, किसी भी श्रमण-माहण से एक भी आर्य-धर्म युक्त वचन सुन कर उससे ज्ञान पाने वाला मनुष्य देव की तरह उसका सत्कार करता है।"

गौतम की इस प्रेरणा से उदक समझ गया और बोला – "गौतम महाराज ! मुझे पहले इसका ज्ञान नही था, अत. उस पर विश्वास नही हुआ। अब आपसे सुनकर मैने इसको समझा है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।"

गौतम द्वारा प्रेरित हो कर निग्रन्थ उदक ने पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की और भगवान् के चरणो मे जाकर विनयपूर्वक चातुर्याम परम्परा से पंच महाव्रत रूप धर्म-परम्परा स्वीकार की। अब ये भगवान् महावीर के श्रमण संघ मे सम्मिलित हो गये।[१]

इधर-उधर कई क्षेत्रो मे विचरण करने के पश्चात् प्रभु ने इस वर्ष का चातुर्मास भी नालन्दा मे व्यतीत किया।

केवलीचर्या का तेईसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् नालदा से विहार कर विदेह की राजधानी के पास वाणिज्यग्राम पधारे। उन दिनो वाणिज्यग्राम व्यापार का

[१] सूत्र कृ० २।७ नालदीय, ८१ सू०।

एक अच्छा केन्द्र था। वहा के विभिन्न धनपतियों मे सुदर्शन सेठ एक प्रमुख व्यापारी था। जव भगवान् वाणियग्राम के 'दूति पलाश' चैत्य में पधारे तो नगरवासियो का दर्शनार्थ तांता सा लग गया। हजारो नर-नारी भगवान् को वन्दन करने एव उनकी अमृतमयी वाणी को सुनने के लिये वहाँ एकत्र हुए। सुदर्शन भी उनके वीच सेवा मे पहुंचा। सभाजनो के चले जाने पर सुदर्शन ने वन्दन कर पूछा – "भगवन् ! काल कितने प्रकार का है ?"

प्रभु ने उत्तर मे कहा – "सुदर्शन ! काल चार प्रकार का है :

(१) प्रमाणकाल (२) यथायुष्क-निवृत्तिकाल, (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल।[1]

सुदर्शन ने फिर पूछा – "प्रभो ! पल्योपम और सागरोपम काल का भी क्षय होता है या नही ?"

सुदर्शन को पल्योपम का काल-मान समझाते हुए भगवान् ने उसके पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाया। भगवान् के मुख से अपने वीते जीवन की वात सुनकर सुदर्शन का अंतर जागृत हुआ और चिन्तन करते हुए उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपने पूर्वभव के स्वरूप को देखकर वह गद्गद हो गया। हर्षाश्रु से पुलकित हो उसने द्विगुणित वैराग्य एव उल्लास से भगवान् को वन्दन किया। श्रद्धावनत हो उसने तत्काल वही पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणो मे श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। फिर क्रमश चौदह पूर्वो का अध्ययन कर उसने वारह वर्ष तक श्रमण-धर्म का पालन किया और अन्त मे कर्मक्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[2]

गौतम और आनन्द श्रावक

एक वार गणधर गौतम भगवान् की आज्ञा से वाणिज्यग्राम मे भिक्षा के लिये पधारे। भिक्षा लेकर जब वे 'दूति पलाश' चैत्य की ओर लौट रहे थे कि मार्ग मे 'कोल्लाग सन्निवेश' के पास उन्होने आनन्द श्रावक के अनशन ग्रहण की वात सुनी। गौतम के मन मे विचार हुआ कि आनन्द प्रभु का उपासक शिष्य है और उसने अनशन कर रखा है तो जाकर उसे देखना चाहिये। ऐसा विचार कर वे 'कोल्लाग सन्निवेश' मे आनन्द के पास दर्शन देने पधारे।

गौतम को पास आये देख कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक वोले – "भगवन् ! अव उठने की मेरी शक्ति नही है, अत. जरा चरण मेरी ओर वढाये, जिससे कि मैं उनका स्पर्श और वन्दन कर लू। गौतम के समीप पहुचने पर आनन्द ने वन्दन किया और वार्तालाप के प्रसग से वे वोले – "भगवन् ! घर मे रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान होता है क्या ?"

गौतम ने कहा – "हा"

---

[1] भगवती सूत्र, शतक ११, उ० ११, सूत्र ४२४।

[2] भग० श०, श० ११ उ० ११, सूत्र ४३२।

आनन्द फिर बोले – "मुझे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। मैं लवण समुद्र मे तीनो ओर ५००-५०० योजन तक और उत्तर में चुल्ल हिमवंत पर्वत तक तथा ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे 'लोलच्चुअ' नरकावास तक के रूपी पदार्थों को जानता और देखता हूँ।"

इस पर सहसा गौतम बोले – "आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, पर इतना दूर तक का नही होता। अत: तुमको इसकी आलोचना करनी चाहिये।"

आनन्द बोला – "भगवन् ! जिन-शासन मे क्या सच कहने वालो को आलोचना करनी होती है ?"

गौतम ने कहा – "नही, सच्चे को आलोचना नही करनी पड़ती।"

यह सुन कर आनन्द बोला – "भगवन् ! फिर आपको ही आलोचना करनी चाहिए।"

आनन्द की बात से गौतम का मन शंकित हो गया। वे शीघ्र ही भगवान् के पास 'दूति पलाश' चैत्य मे आये और भिक्षाचर्या दिखाकर आनन्द की बात सामने रखी और बोले – "भगवन् ! क्या आनन्द को इतना अधिक अवधिज्ञान हो सकता है ? क्या वह आलोचना का पात्र नही है ?"

भगवान् ने उत्तर मे कहा – "गौतम ! आनन्द श्रावक ने जो कहा, वह ठीक है। उसको इतना अधिक अवधिज्ञान हुआ है, यह सही है अत. तुमको ही आलोचना करनी चाहिये।"

भगवान् की आज्ञा पाकर विना पारणा किये ही गौतम आनन्द के पास गये और उन्होने अपनी भूल स्वीकार कर, आनन्द से क्षमायाचना की।[1]

ग्राम नगरादि मे विचरते हुए फिर भगवान् वैशाली पधारे और वही पर इस वर्ष का वर्षावास पूर्ण किया।

केवलीचर्या का चौवीसवां वर्ष

वैशाली का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् कोशल भूमि के ग्राम-नगरों मे धर्मोपदेश करते हुए साकेतपुर पधारे। साकेत कोशल देश का प्रसिद्ध नगर था। वहा का निवासी जिनदेव श्रावक दिग्यात्रा करता हुआ 'कोटिवर्ष' नगर पहुचा। उन दिनो वहा म्लेच्छ का राज्य था। व्यापार के लिये आये हुए जिनदेव ने 'किरातराज' को वहुमूल्य रत्न आभूषणादि भेंट किये। अदृष्ट पदार्थों को देखकर किरातराज वहुत प्रसन्न हुआ और बोला – "ऐसे रत्न कहा उत्पन्न होते है ?"

जिनदेव बोला – "राजन् ! हमारे देश मे इनसे भी वढ़िया रत्न उत्पन्न होते है।"

किरातराज ने उत्कण्ठा के स्वर मे कहा – "मै चाहता हूं कि तुम्हारे यहा चलकर उन रत्नो को देखूं, पर तुम्हारे राजा का डर लगता है।"

---
[1] [illegible] १, गाथा ८४।

जिनदेव ने कहा -- "महाराज ! राजा के डर की कोई वात नही है। फिर भी आपकी शका मिटाने हेतु मैं उनकी अनुमति प्राप्त कर लेता हू।"

ऐसा कह कर जिनदेव ने राजा को पत्र लिखा और उनसे अनुमति प्राप्त कर ली। किरातराज भी अनुमति प्राप्त कर साकेतपुर आये और जिनदेव के यहां ठहर गये। सयोगवश उस समय भगवान् महावीर साकेतपुर पधारे हुए थे। नगर मे महावीर के पधारने के समाचार पहुचते ही महाराज शत्रुजय प्रभु को वन्दन करने निकल पड़े। नागरिक लोग भी हजारों की संख्या में भगवान् की सेवा में पहुचे। नगर मे दर्शनार्थियों की वड़ी हलचल थी।

किरातराज ने जनसमूह को देखकर जिनदेव से पूछा - "सार्थवाह ! ये लोग कहां जा रहे हैं ?" जिनदेव ने कहा - "महाराज ! रत्नों का एक वडा व्यापारी आया है, जो सर्वोत्तम रत्नों का स्वामी है। उन्ही के पास ये लोग जा रहे हैं।"

किरातराज ने कहा - "फिर तो हमको भी चलना चाहिये।" यह कह कर वे जिनदेव के साथ धर्म-सभा की ओर चल पड़े। तीर्थंकर के छत्रत्रय और सिंहासन आदि देखकर किरातराज चकित हो गये। किरातराज ने महावीर के चरणों में वन्दन कर रत्नो के भेद और मूल्य के सम्वन्ध में पूछा।

महावीर वोले -- "देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के है, एक द्रव्यरत्न और दूसरा भावरत्न। भावरत्न के मुख्य तीन प्रकार है :-(१) दर्शन रत्न, (२) ज्ञान रत्न और (३) चारित्र रत्न। भावरत्नो का विस्तृत वर्णन करके प्रभु ने कहा- "ये ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं, जो धारक की प्रतिष्ठा वढ़ाने के अतिरिक्त उसके लोक और परलोक दोनो को सुधारते हैं। द्रव्यरत्नो का प्रभाव परिमित है। वे वर्तमान काल मे ही सुखदायी होते हैं पर भावरत्न भवान्तर मे भी सद्गति और सुखदायी होते हैं।"

भगवान् का रत्न-विपयक प्रवचन सुनकर किरातराज वहुत प्रसन्न हुआ। वह हाथ जोडकर वोला - "भगवन् ! मुझे भावरत्न प्रदान कीजिये।" भगवान् ने रजोहरण और मुखवस्त्रिका दिलवाये जिनको किरातराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और वे भगवान् के श्रमण-सघ में दीक्षित हो गये।[1]

फिर साकेतपुर से विहार कर भगवान् पाचाल प्रदेश के कपिलपुर मे पधारे और वहां से सूरसेन देश की ओर प्रस्थान किया। फिर मथुरा, सौरिपुर, नन्दीपुर, आदि नगरो मे भ्रमण करते हुए पुन. विदेह की ओर पधारे और इस वर्ष का वर्षाकाल मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पच्चीसवा वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर प्रयाण किया। गांव-गाव में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह पधारे और वहा के

---

[1] "कोडीवरिस चिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणाय।" आवश्यक निर्युक्ति, दूसरा भाग, गा० १३०५ की टीका देखिये।

'गुणशील' चैत्य मे विराजमान हुए। गुणशील चैत्य के पास अन्य तीर्थियो के बहुत से आश्रम थे। एक वार धर्म-सभा समाप्त होने पर कुछ तैर्थिक वहां आये और स्थविरो से वोले – "आर्यो ! तुम त्रिविध-त्रिविध असयत हो, अविरत हो, यावत् वाल हो।"

अन्य तीर्थिको की ओर से इस तरह के आक्षेप सुनकर स्थविरो ने उन्हे शान्तभाव से पूछा -- "हम असयत और वाल कैसे है ? हम किसी प्रकार भी अदत्त नही लेकर दीयमान ही लेते हैं।" इत्यादि प्रकार से तैर्थिको के आक्षेप का शान्ति के साथ युक्तिपूर्वक उत्तर देकर स्थविरो ने उनको निरुत्तर कर दिया। वहा पर गति प्रपात अध्ययन की रचना की गई।[1]

कालोदायी के प्रश्न

कालोदायी श्रमण ने एक वार भगवान् को वन्दना कर प्रश्न किया – "भगवन् ! जीव अशुभ फल वाले कर्मों को स्वय कैसे करता है ?"

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा -- "कालोदायी ! जैसे कोई दूपित पक्वान्न या मादक पदार्थ का भोजन करता है, तव वह वहुत रुचिकर लगता है। खाने वाला स्वाद मे लुब्ध हो तज्जन्य हानि को भूल जाता है किन्तु परिणाम उसका दुखदायी होता है। भक्षक के शरीर पर कालान्तर मे उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जब जीव हिसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेप आदि पापो का सेवन करता है, तव तत्काल ये कार्य सरल व मनोहर प्रतीत होने के कारण अच्छे लगते है परन्तु इनके विपाक परिणाम बडे अनिष्टकारक होते है, जो करने वालों को भोगने पड़ते है।"

कालोदायी ने फिर शुभ कर्मों के विषय मे पूछा – "भगवन् ! जीव शुभ कर्मों को कैसे करता है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – 'जैसे औषधिमिश्रित भोजन तीखा और कडवा होने से खाने मे रुचिकर नही लगता, फिर भी बलवीर्य-वर्द्धक जान कर बिना मन भी खाया एव खिलाया जाता है और वह लाभदायक होता है। उसी प्रकार अहिसा, सत्य, शील, क्षमा और अलोभ आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तिया मन को मनोहर नही लगती, प्रारम्भ मे वे भारी लगती है। वे दूसरे की प्रेरणा से प्राय बिना मन की जाती है, परन्तु उनका परिणाम सुखदायी होता है।"[2]

कालोदायी ने दूसरा प्रश्न हिसा के विषय मे पूछा – "भगवन् ! समान उपकरण वाले दो पुरुषो मे से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा बुझाता है तो इन जलाने और बुझाने वालो मे अधिक आरम्भ और पाप का भागी कौन होता है ?"

---

[1] भगवती, श० ८, उ० ७, सूत्र ३३७।

[2] भग०, श० ७, उ० १०, सू० ३०६।

भगवान् ने कहा – "कालोदायी ! आग बुझाने वाला अग्नि का आरम्भ तो अधिक करता है, परन्तु पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा कम करता है, होनेवाली हिंसा को घटाता है। इसके विपरीत जलाने वाला पृथ्वी, जल, वायु वनस्पति और त्रस की हिंसा अधिक और अग्नि की कम करता है। अत. आग जलाने वाला अधिक आरम्भ करता है और बुझाने वाला कम। अत आग जलाने वाले से बुझाने वाला अल्पपापी कहा गया है।"[1]

अचित्त पुद्गलो का प्रकाश

फिर कालोदायी ने अचित्त पुद्गलो के प्रकाश के विषय मे पूछा तो प्रभु ने कहा – "अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते है। जब कोई तेजोलेश्याधारी मुनि तेजोलेश्या छोडता है, तब वे पुद्गल दूर-दूर तक गिरते है, वे दूर और समीप प्रकाश फैलाते है। पुद्गलो के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला और प्रयोग हिंसाजनक होता है। पुद्गल मात्र रत्नादि की तरह अचित्त होते है।"[2]

प्रभु के उत्तर से संतुष्ट होकर कालोदायी भगवान् को वन्दन करता हुआ और छट्ठ, अट्ठमादि तप करता हुआ अन्त मे अनशनपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

गणधर प्रभास ने भी एक मास का अनशन कर इसी वर्ष निर्वाण प्राप्त किया।[3] इस प्रकार विविध उपकारो के साथ इस वर्ष भगवान् का चातुर्मास राजगृह मे पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का छब्बीसवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विविध ग्रामो में विचरण कर प्रभु पुनः 'गुणशील' चैत्य मे पधारे। गौतम ने यहा प्रभु से विविध प्रकार के प्रश्न किये, जिनमे परमाणु का सयोग-वियोग, भाषा का भाषापन और दुख की अकृत्रिमता आदि प्रश्न मुख्य थे। भगवान् ने अन्य तीर्थ के क्रिया सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा – "एक समय मे जीव एक ही क्रिया करता है ईर्यापथिकी अथवा सापरायिकी। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सापरायिकी नही और सांपरायिकी क्रिया के समय ईर्यापथिकी नही करता।[4] देखना, बोलना जैसी दो क्रियाए एक साथ हों इसमे आपत्ति नही है, आपत्ति एक समय मे दो उपयोग होने मे है।"

इसी वर्ष अचलभ्राता और मेतार्य गणधरो ने भी अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल नालंदा मे ही व्यतीत किया।

---

[1] भग० सू०, ७।१०, सू० ३०७।

[2] भग० सू०, ७।१०, सू० ३०८।

[3] भगवान् महावीर – कल्याणविजय।

[4] भग० श० १, उ० १०, सू० ८१।

केवलीचर्या का सत्ताईसवां वर्ष

नालन्दा से विहार कर भगवान् ने विदेह जनपद की ओर प्रस्थान किया। विदेह के ग्राम-नगरो मे धर्मोपदेश करते हुए प्रभु मिथिला पधारे। यहां राजा जितशत्रु ने प्रभु के आगमन का समाचार सुना तो वे नगरी के बाहर मणिभद्र चैत्य मे वन्दन करने को आये। महावीर ने उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश दिया। लोग वन्दन एव उपदेश-श्रवण कर यथास्थान लौट गये।

अवसर पाकर इन्द्रभूति-गौतम ने विनयपूर्वक सूर्य चन्द्रादि के विपय में प्रभु से प्रश्न किये। जिनमे सूर्य का मडल-भ्रमण, प्रकाश-क्षेत्र, पौरुपी छाया, सवत्सर का प्रारम्भ, चन्द्र की वृद्धि-हानि, चन्द्रादि ग्रहो का उपपात एव च्यवन, चन्द्रादि की ऊचाई एवं चन्द्र-सूर्य की जानकारी आदि प्रश्न मुख्य है।

इस वर्ष का वर्पाकाल भी भगवान् ने मिथिला मे ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का अट्ठाईसवां वर्ष

चातुर्मास के पश्चात् भगवान् ने विदेह मे विचर कर अनेक श्रद्धालुओ को श्रमण-धर्म मे दीक्षित किया और कइयों को श्रावकधर्म के पथ पर आरूढ़ किया। सयोगवश इस वर्प का चातुर्मास भी मिथिला मे ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का उनतीसवां वर्ष

वर्पाकाल के वाद भगवान् ने मिथिला से मगध की ओर विहार किया और राजगृह पधार कर गुणशील उद्यान मे विराजमान हुए। उन दिनो नगरी मे महाशतक श्रावक ने अन्तिम आराधना करके अनशन कर रखा था। उसको अनशन में अध्यवसाय की शुद्धि से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। आनन्द के समान वह भी चारो दिशाओ मे दूर-दूर तक देख रहा था। उसकी अनेक स्त्रियो मे 'रेवती' अभद्र स्वभाव की थी। उसका शील-स्वभाव श्रमणोपासक महाशतक से सर्वथा भिन्न था। महाशतक की धर्म-साधना से उसका मन असंतुष्ट था।

एक दिन बेभान हो कर वह, जहा महाशतक धर्म-साधना कर रहा था, वहां पहुँची और विविध प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनो से उसका ध्यान विचलित करने लगी। शान्त होकर महाशतक सब कुछ सुनता रहा पर जब वह शिर के वाल विखेर कर अभद्र चेष्टाओ के साथ यद्वा, तद्वा बोलती ही रही तो वे अपने रोष को नही सभाल सके। महाशतक को रेवती के व्यवहार से वहुत लज्जा और खेद हुआ, वह सहसा बोल उठा – "रेवती! तू ऐसी अभद्र और उन्मादभरी चेष्टा क्यो कर रही है? असत्कर्मो का फल ठीक नही होता। तू सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो कर असमाधिभाव मे आयु पूर्ण कर प्रथम नर्क मे जाने वाली है।"

महाशतक के वचन सुन कर रेवती भयभीत हुई और सोचने लगी – "आज सचमुच ये मेरे ऊपर क्रुद्ध है। न जाने मुझे क्या दण्ड देगे।" वह धीरे-धीरे वहा

से पीछे की ओर लौट गई। महाशतक का भविष्यकथन उसके लिये सही निकला और वह दुर्भाव मे मर कर प्रथम नरक की अधिकारिणी वनी।

भगवान् महावीर ने जव महाशतक के विचलित होने की वात जानी तो उन्होने गौतम से कहा – "गौतम ! राजगृह मे मेरा अन्तेवासी उपासक महाशतक पौषधशाला में अनशन करके विचर रहा है। उसको रेवती ने दो-तीन वार उन्माद-पूर्ण वचन कहे, इससे रुष्ट होकर उसने रेवती को प्रथम नरक मे उत्पन्न होने का अप्रिय वचन कहा है। अतः तुम जाकर महाशतक को सूचित करो कि भक्त प्रत्याख्यानी उपासक को सद्भूत भी ऐसे वचन कहना नही कल्पता, इसके लिये उसे आलोचना करनी चाहिये।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम ने जाकर महाशतक से यथावत् कहा और उसने विनयपूर्वक प्रभु-वाणी को सुनकर आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि की।[1]

महावीर ने गौतम के पूछने पर 'वैभार गिरि' के 'महा-तपस्तीर प्रभव' जलस्रोत-कुण्ड की भी चर्चा की। उन्होने कहा – "उसमे उष्ण योनि के जीव उत्पन्न होते और मरते रहते है तथा उष्ण स्वभाव के जल पुद्गल भी आते रहते हैं, यही जल की उष्णता का कारण है।"[2] फिर भगवान् ने वताया कि एक जीव एक समय मे एक ही आयु का भोग करता है। ऐहिक-आयु-भोग के समय परभव की आयु नही भोगता और परभव की आयु के भोगकाल में वह इह भव की आयु नही भोगता। इहभविक या परभविक[3] दोनो आयु सत्ता मे रह सकती है।"

सुख-दुख वताये क्यों नही जा सकते, अन्य तीर्थिको की इस शका को सामने लेकर भगवान् ने कहा – "राजगृह के ही नही, समस्त ससार के भी सुख-दुखो को एकत्र करके कोई वताना चाहे तो सूक्ष्म प्रमाण से भी नही वता सकता।

प्रसग को सरलता से समझाने के लिये प्रभु ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया – "जैसे कोई शक्तिशाली देव सुगध का एक डिव्वा लेकर जम्बूद्वीप के चारो ओर चक्कर काटता हुआ चारो दिशाओ में सुगन्धि विखेर दे, तो वे गध के पुद्गल जम्बूद्वीप मे फैल जायेंगे, किन्तु यदि कोई उन गंध-पुद्गलो को फिर से एकत्र कर दिखाना चाहे तो एक लीख के प्रमाण मे भी उनको एकत्र कर नहीं दिखा सकता। ऐसे ही सुख-दुख के लिये भी समझना चाहिये।"[4] इस प्रकार अनेक प्रश्नो का प्रभु ने समाधान किया।

भगवान् के प्रमुख शिष्य अग्निभूति और वायुभूति नाम के गणधरों ने भी इसी वर्ष राजगृह मे अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् का यह चातुर्मास भी राजगृह मे ही पूर्ण हुआ।

---

[1] उपासक०, अ० ८, सू० २५७, २६१।

[2] भग० २।५ सू० ११३।

[3] भग० ५।३ सूत्र १८३।

[4] भग० ६।१० सूत्र २५३।

केवलीचर्या का तीसवां वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् महावीर कुछ काल तक राजगृह नगर मे विराजे रहे। इसी समय मे उनके गणधर 'अव्यक्त', 'मडित' और 'अकम्पित' गुणशील उद्यान मे एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

दुषमा-दुषम काल का वर्णन

एक समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान मे गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया – "भगवन् ! दुषमा-दुषम काल मे जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र की क्या स्थिति होगी ?"

छट्ठे आरे के समय मे भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रकाश डाला। इसका पूर्ण विवरण 'कालचक्र का वर्णन' शीर्षक में आगे दिया जा रहा है।

इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयी के अचिन्त्य अलौकिक आलोक से असख्य आत्मार्थी भव्य जीवो के अन्तस्तल से अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हुए इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो मे अप्रतिहत विहार कर तीस वर्ष तक देव, मनुष्य और तिर्यंचो को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उन्होने अपने अमोघ उपदेशो के महानाद से जन-जन के कर्णरन्ध्रो मे मानवता का महामंत्र फूक कर जनमानस को जागृत किया और विनाशोन्मुख मानवसमाज को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर किया।

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा मे पधारे।[1] प्रभु का अन्तिम चातुर्मास पावा मे हुआ। सुरसमूह ने तत्काल सुन्दर समवशरण की रचना की। अपार जनसमूह के समक्ष धर्मोपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया कि प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय है। मृत्यु, दुख और अभद्र व्यवहार सब को अप्रिय है अतः प्राणिमात्र का परम कर्त्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिये प्रतिकूल समझता है वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नही करे। दूसरो से जिस प्रकार के सुन्दर एव सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे। यही मानवता का मूल सिद्धान्त और धर्म की आधारशिला है। इस सनातन-शाश्वत धर्म के सतत समाचरण से ही मानव मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है और इस धर्मपथ से स्खलित हुआ प्राणी दिग्विमूढ हो भवाटवी मे भटकता फिरता है।

प्रभु के उपदेशामृत का पान करने के पश्चात् राजा पुण्यपाल ने प्रभु को सविधि वन्दन कर पूछा – "प्रभो ! गत रात्रि के अवसानकाल में मैंने हाथी,

[1] त्रिषष्टि श. पु च, १०।१२। श्लोक ४४०

वन्दर, क्षीरद्रु (क्षीरतरु), कौआ, सिंह, पद्म, वीज और कुभ ये आठ अशुभ स्वप्न देखे है। करुणाकर! मैं वडा चिन्तित हूँ कि कही ये स्वप्न किसी भावी अमगल के सूचक तो नही है।"

भगवान् महावीर ने पुण्यपाल के स्वप्नो का फल सुनाते हुए कहा – "राजन् प्रथम स्वप्न मे जो तुमने हाथी देखा है वह इस भावी का सूचक है कि अव भविष्य के विवेकशील श्रमणोपासक भी क्षणिक समृद्धिसम्पन्न गृहस्थ जीवन मे हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर रहेगे। भयकर से भयकर संकटापन्न स्थिति अथवा पराधीनता की स्थिति में भी वे प्रव्रजित होने का विचार तक भी मन मे नही लायेंगे। जो गृह त्याग कर सयम ग्रहण करेंगे, उनमें से भी अनेक कुसगति मे फसकर या तो सयम का परित्याग कर देगे या अच्छी तरह सयम का पालन नही करेंगे। विरले ही सयम का दृढता से पालन कर सकेंगे।"

दूसरे स्वप्न मे कपि-दर्शन का फल वताते हुए प्रभु ने कहा – "स्वप्न मे जो तुमने वन्दर देखा है, वह इस अनिष्ट का सूचक है कि भविष्य मे वडे वड़े सघपति आचार्य भी वन्दर की तरह चचल प्रकृति के, स्पल्पपराक्रमी और व्रताचरण मे प्रमादी होगे। जो आचार्य या साधु विशुद्ध निर्दोष सयम एव व्रतो का पालन करेगे तथा वास्तविक धर्म का उपदेश करेगे उनकी अधिकाश दुराचाररत लोगो द्वारा यत्र-तत्र खिल्ली उडाई जा कर धर्मशास्त्रो की उपेक्षा ही नही अपितु घोर अवज्ञा भी की जायगी। इस प्रकार भविष्य में अधिकाश लोग वन्दर के समान अविचारकारी, विवेकशून्य और अतीव अस्थिर एव चचल स्वभाव वाले होगे।"

तीसरे स्वप्न मे क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखने का फल वताते हुए प्रभु ने कहा – "राजन्! कालस्वभाव से अव आगामी काल मे क्षुद्र भाव से दान देने वाले श्रावको को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेगे। पाखण्डियो की प्रवचना मे फसे हुए दानी सिंह के समान आचारनिष्ठ साधुओ को शृगालो की तरह शिथिलाचारी और शृगालवत् शिथिलाचारी साधुओ को सिंह के समान आचारनिष्ठ समझेंगे। यत्र-तत्र कण्टकाकीर्ण ववूल वृक्ष की तरह पाखण्डियो का पृथ्वी पर वाहुल्य होगा।"

चौथे स्वप्न मे काक-दर्शन का फल वताते हुए प्रभु ने फरमाया – "भविष्य मे अधिकाश साधु अनुशासन का उल्लघन एव साधु-मर्यादाओ का परित्याग कर कौवे की तरह विभिन्न पाखण्डपूर्ण पथो का आश्रय ले मत-परिवर्तन करते रहेगे। वे लोग कौवे के 'काव-कांव' शब्द की तरह वितण्डावाद करते हुए सद्धर्म के उपदेशको का खण्डन करने मे ही सदा तत्पर रहेगे।"

अपने पाचवें स्वप्न मे राजा पुण्यपाल ने जो सिंह को विपन्नावस्था मे देखा, उसका फल वताते हुए भगवान् महावीर ने कहा – भविष्य मे सिंह के समान तेजस्वी वीतराग-प्ररूपित जैन धर्म निर्वल होगा, धर्म की प्रतिष्ठा से विमुख हो लोग हीन सत्व, साधारण श्वानादि पशुओ के समान मिथ्या मतावलम्वी

साधु वेपधारियो की प्रतिष्ठा करने मे तत्पर रहेगे। आगे चलकर जैन धर्म के स्थान पर विविध मिथ्या-धर्मो का प्रचार-प्रसार एव सम्मान अधिक बढेगा।"

छट्ठे स्वप्न मे कमलदर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा – "समय के प्रभाव से आगामी काल मे सुकुलीन व्यक्ति भी कुसगति मे पड़ कर धर्म-मार्ग से विमुख हो पापाचार मे प्रवृत्त होगे।"

राजा पुण्यपाल के सातवे स्वप्न का फल सुनाते हुए भगवान् ने फरमाया – "राजन्! तुम्हारा वीज-दर्शन का स्वप्न इस भविष्य का सूचक है कि जिस प्रकार एक अविवेकी किसान अच्छे वीज को ऊसर भूमि मे और घुन से वीदे हुए खराव बीज को उपजाऊ भूमि मे वो देता है, उसी प्रकार गृहस्थ श्रमणोपासक आगामी काल मे सुपात्र को छोड़ कर कुपात्र को दान करेगे।"

भगवान् महावीर ने राजा पुण्यपाल के आठवे अन्तिम स्वप्न का फल सुनाते हुए फरमाया – "पुण्यपाल! तुमने अपने अन्तिम स्वप्न मे कुभ देखा है, वह इस आशय का द्योतक है कि भविष्य मे तप, त्याग एव क्षमा आदि गुण-सम्पन्न, आचारनिष्ठ महामुनि विरले ही होगे,। इसके विपरीत शिथिलाचारी, वेषधारी, नाममात्र के साधुओ का वाहुल्य होगा। शिथिलाचारी साधु निर्मल चारित्र वाले साधुओ से द्वेप रखते हुए सदा कलह करने के लिये उद्यत रहेगे। ग्रह-ग्रस्त की तरह प्राय सभी गृहस्थ तत्त्वदर्शी साधुओं और वेषधारी साधुओ के भेद से अनभिज्ञ, दोनो को समान समझते हुए व्यवहार करेगे।"

भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने स्वप्नों के फल के रूप मे भावी विपम स्थिति को सुनकर राजा पुण्यपाल को ससार से विरक्ति होगई। उसने तत्काल राज्यलक्ष्मी और समस्त वैभव को ठुकरा कर भगवान् की चरण-शरण मे श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और तप-सयम की सम्यक् रूप से आराधना कर वह कालान्तर में समस्त कर्म-वन्धनो से विनिर्मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त हुआ।

कालचक्र का वर्णन

कुछ काल पश्चात् भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने प्रभु के चरण-कमलो मे सिर झुकाकर कालचक्र की पूर्ण जानकारी के सम्वन्ध मे अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की।

कालचक्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रभु ने फरमाया – "गौतम! काल दो प्रकार के होते हैं, अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल। क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है और क्रमिक उत्कर्षोन्मुख काल उत्सर्पिणीकाल। इनमे से प्रत्येक दश कोडाकोड़ी सागर का होता है और इस तरह अवसर्पिणी एव उत्सर्पिणी को मिलाकर वीस कोडाकोडी सागर का एक कालचक्र होता है।

अवसर्पिणी काल के क्रमिक अपकर्पोन्मुख काल को छ विभागो मे वाटा जाकर उन छ विभागो को पट् आरक की सज्ञा दी गई है। उन छ आरो का निम्नलिखित प्रकार से नामकरण गुणदोप के आधार पर किया गया है –

१ सुपमा-सुपम	२ सुपम
३. सुपमा-दुपम	४ दुषमा-सुपम
५ दुपम	६ दुपमा-दुपम

प्रथम आरक सुपमा-सुपम एकान्तत सुखपूर्ण होता है। चार कोडाकोडी सागर की अवस्थिति वाले सुपमा-सुपम नामक इस प्रथम आरे मे मानव की आयु तीन पल्योपम की व देह की ऊचाई तीन कोस की होती है। उस समय के मानव का शरीर २५६ पसलियो से युक्त वज्रऋपभ नाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थानमय होता है। उस समय मे माता पुत्र और पुत्री को युगल रूप मे एक साथ जन्म देती है। उस समय के मानव परम दिव्य रूप सम्पन्न, सोम्य, भद्र, मृदुभापी, निर्लिप्त, स्वल्पेच्छा वाले, अपरिग्रही, पूर्णरूपेण शान्त, सरल स्वभाव वाले, पृथ्वी-पुष्प-फलाहारी और क्रोध, मान, मोह, मद, मात्सर्य आदि से रहित होते हैं। उनका आहार चक्रवर्ती के सुस्वादु पौष्टिक पड्रस भोजन से भी कही अधिक सुस्वादु और वल-वीर्यवर्द्धक होता है।

उस समय मे चारो ओर का वातावरण अत्यन्त मनोरम, मोहक, मधुर, सुखद, तेजोमय, शान्त, परम रमणीय, मनोज्ञ एव आनन्दमय होता है। उस प्रथम आरक मे पृथ्वी का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त सम्मोहक, प्राणिमात्र को आनन्दविभोर करने वाला एवं अत्यन्त सुखप्रद होता है। उस समय पृथ्वी का स्वाद मिश्री से कही अधिक मधुर होता है।

भोगयुग होने के कारण उस समय के मानव को जीवनयापन के लिये किचित्मात्र भी चिन्ता अथवा परिश्रम की आवश्यकता नही पडती क्योकि दश प्रकार के कल्पवृक्ष उनकी सभी इच्छाए पूर्ण कर देते है। मतगा नामक कल्पवृक्षो से अमृततुल्य मधुर फल, भिगा नामक कल्पवृक्षो से स्वर्णरत्नमय भोजनपात्र, तुडियगा नामक कल्पवृक्षो से उन्हे उनपचास प्रकार केताललयपूर्ण मधुर सगीत, जोई नामक कल्पवृक्षो से अद्भुत आनन्दप्रद तेजोमय प्रकाश, जिसके कारण कि प्रथम आरक से लेकर तृतीय आरक के तृतीय चरण के लम्बे समय तक चन्द्र-सूर्य तक के दर्शन नही होते, दिव नामक कल्पवृक्षो से उन्हे प्रकाशस्तम्भो के समान दिव्य रगीन रोशनी, चितंगा नामक कल्पवृक्षो से मनमोहक सुगन्धिपूर्ण सुन्दर पुष्पाभरण, चित्तरसा नामक कल्पवृक्षो से अठारह प्रकार के सुस्वादु भोजन, मणवेगा नामक कल्पवृक्षो से स्वर्ण, रत्नादि के दिव्य आभूषण, वयालीस मजिले भव्य प्रासादो की आकृति वाले गिहगारा नामक कल्पवृक्षो से आवास की स्वर्गोपम सुख-सुविधा और अनियगणा नामक कल्पवृक्षो से उन्हे अनुपम सुन्दर, सुखद, अमूल्य वस्त्रो की प्राप्ति हो जाती है।

जीवनोपयोगी समस्त सामग्री की यथेप्सित रूप से सहज ही प्राप्ति हो जाने के कारण उस समय के मानव का जीवन परम सुखमय होता है। उस समय के मानव को तीन दिन के अन्तर से भोजन करने की इच्छा होती है।

प्रथम आरक के मानव छह प्रकार के होते हैं :

(१) पद्मगधा – जिनके शरीर से कमल के समान सुगन्ध निकलती रहती है।
(२) मृगगन्धा – जिनके शरीर से कस्तूरी के समान मादक महक चारो ओर फैलती रहती है।
(३) अममा = ममतारहित।
(४) तेजस्तलिन. = तेजोमय सुन्दर स्वरूप वाले।
(५) सहा = उत्कट साहस करने मे सक्षम।
(६) शनैश्चारण = उत्सुकता के अभाव मे सहज शान्तभाव में रहने वाले।

उनका स्वर अत्यन्त मधुर होता है और उनके श्वासोच्छ्वास से भी कमलपुष्प के समान सुगन्ध निकलती है।

उस समय के युगलिको की आयु जिस समय छह महीने अवशेष रह जाती है उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ४६ दिन प्रतिपालना की जाने के पश्चात् वे नव युगल पूर्ण युवा हो दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करते हुए यथेच्छ विचरण करते हैं।

तीन पल्योपम की आयुष्य पूर्ण होते ही एक को छीक और दूसरे को उवासी आती है और इस तरह युगल दम्पति तत्काल एक साथ विना किसी प्रकार की व्याधि, पीड़ा अथवा परिताप के जीवनलीला समाप्त कर देवयोनि मे उत्पन्न होते है। उनके शवो को क्षेत्राधिष्ठायक देव तत्काल क्षीरसमुद्र मे डाल देते है।"

सुषमा नामक दूसरा आरक तीन कोडाकोडी सागर का होता है। इसमे प्रथम आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्याय की अनन्त गुनी हीनता हो जाती है। इस आरक के मानव की आयु दो पल्योपम, देहमान दो कोस और पसलियां १२८ होती हैं। दो दिन के अन्तर से उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आरक मे पृथ्वी का स्वाद घटकर शक्कर तुल्य हो जाता है।

इस दूसरे आरक मे भी मानव की सभी इच्छाए उपरोक्त १० प्रकार के कल्पवृक्षो द्वारा पूर्ण की जाती हैं अत. उन्हे किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नही होती। जिस समय युगल दम्पति की आयु ६ महीने अवशेष रह जाती है उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ६४ दिन तक प्रतिपालित होने के वाद ही नवयुगल दम्पति रूप मे सुखपूर्वक यथेच्छ विचरण करने लग जाता है।

दूसरे आरे में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। यथा :

(१) एका　　　　(२) प्रचुरजंघा
(३) कुसुमा　　　　(३) सुशमना

आयु की समाप्ति के समय इस आरक के युगल को भी छीक एवं उवासी आती है और वह युगल दम्पति एक साथ काल कर देवगति में उत्पन्न होता है।

सुषमा-दुषम नामक तीसरा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागर के काल प्रमाण का होता है। इस तृतीय आरक के प्रथम और मध्यम त्रिभाग में दूसरे आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की अनन्तगुनी अपकर्पता हो जाती है। इस आरे के मानव वज्रऋषभनाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान, २००० धनुष की ऊंचाई, एक पल्योपम की आयु और ६४ पसलियो वाले होते हैं। उस समय के मनुष्यो को एक दिन के अन्तर से आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। उस समय पृथ्वी का स्वाद गुड़ के समान होता है। मृत्यु से ६ मास पूर्व युगलिनी एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल के रूप मे जन्म देती है। उन वच्चो का ७६ दिन तक माता-पिता द्वारा पालनपोपण किया जाता है। तत्पश्चात् वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो दम्पति के रूप मे स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक आनन्दमय जीवन विताते हैं। उनके जीवन की समस्त आवश्यकताए दश प्रकार के कल्प-वृक्षो द्वारा पूर्ण कर दी जाती हैं। अपने जीवननिर्वाह के लिये उन्हे किसी प्रकार का कार्य अथवा श्रम नही करना पड़ता अतः वह युग भोगयुग कहलाता है। अत समय मे युगल स्त्री-पुरुप को एक साथ एक को छीक और दूसरे को उवासी आती है और उसी समय वे एक साथ आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

यह स्थिति तृतीय आरक के प्रथम त्रिभाग और मध्यम त्रिभाग तक रहती है। उस आरक के अन्तिम त्रिभाग मे मनुष्यो का छह प्रकार का सहनन, छह प्रकार का सस्थान, कई सौ धनुष की ऊचाई, जघन्य सख्यात वर्ष की और उत्कृष्ट असख्यात वर्ष की आयुष्य होती है। उस समय के मनुष्यो मे से अनेक नरक मे, अनेक तिर्यंच योनि मे, अनेक मनुष्य योनि में, अनेक देव योनि मे और अनेक मोक्ष मे जाने वाले होते हैं।

उस तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के समाप्त होने मे जव एक पल्योपम का आठवा भाग अवशेप रह जाता है उस समय भरत क्षेत्र में क्रमशः १५ कुलकर[१] उत्पन्न होते हैं।

उस समय कालदोप से कल्पवृक्ष उस समय के मानवो के लिये जीवनो-पयोगी सामग्री अपर्याप्त मात्रा मे देना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे उनमें शनै -शनै आपसी कलह का सूत्रपात होता है। कुलकर उन लोगो को अनुशासन मे रखते हुए मार्गदर्शन करते है। प्रथम पाच कुलकरो के काल मे हाकार दण्डनीति, छट्ठे

[१] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे भगवान् ऋपभदेव को पन्द्रहवें कुलकर के रूप मे भी माना गया है।

से १०वे कुलकर तक 'माकार' नीति और ग्यारहवे से १५ वे कुलकर तक 'धिक्कार' नीति से लोगो को अनुशासन मे रखा जाता है।

तीसरे आरे के समाप्त होने मे जिस समय चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढे आठ मास अवशेष थे उस समय प्रथम राजा, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने ६३ लाख पूर्व तक सुचारु रूप से राज्यशासन चला कर उस समय के मानव को असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत समस्त विद्याए सिखा कर भोगभूमि को पूर्णरूपेण कर्मभूमि में परिवर्तित कर दिया।

इस अवसर्पिणीकाल मे सर्वप्रथम धर्म-तीर्थ की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। तीसरे आरे मे प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती हुए। तृतीय आरे के समाप्त होने मे तीन वर्ष और साढे आठ मास अवशेष रहे तब भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण हुआ।

दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोडी सागर का होता है। इस आरे मे तृतीय आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायो की तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस चतुर्थ आरक मे मनुष्यो के छहो प्रकार के सहनन, छहो प्रकार के सस्थान, बहुत से धनुष की ऊचाई, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की आयु होती है तथा वे मर कर पांचो प्रकार की गति मे जाते है।

चतुर्थ आरक मे २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते है।"

"गौतम! यह भरतक्षेत्र तीर्थकरो के समय मे सुन्दर, समृद्ध, बडे-बडे ग्रामो नगरो एव जनपदो से सकुल एव धन-धान्यादिक से परिपूर्ण रहता है। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता है। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख-सामग्री से समृद्ध होता है। तीर्थकरकाल मे यहा का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी होता है। उस समय के आचार्य शरदपूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह अगाध ज्ञान की ज्योत्स्ना से सदा प्रकाशमान होते हैं। उन आचार्यों के दर्शन मात्र से जनगण के नयन अतिशय तृप्ति और वाणी-श्रवण से जन-जन के मन परमाह्लाद का अनुभव करते हैं। उस समय के माता-पिता देवदम्पति तुल्य, श्वसुर पिता तुल्य और सासुएं माताओ के समान वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली होती है। तीर्थंकरो के समय के नागरिक सत्यवादी, पवित्र-हृदय, विनीत, धर्म व अधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को समझने वाले, देव और गुरु की उचित पूजा-सम्मान करने वाले एव पर-स्त्री को माता तथा बहिन के समान समझने वाले होते हैं। तीर्थंकर-काल मे विज्ञान, विद्या, कुल-गौरव और सदाचार उत्कृष्ट कोटि के होते है।

न तीर्थंकरो के समय मे डाकुओ, आततायियो और अन्य राजाओ द्वारा आक्रमण का ही किसी प्रकार का भय रहता है और न प्रजा पर करों का भार ही। तीर्थंकरकाल के राजा लोग वीतराग प्रभु के परमोपासक होते हैं और तीर्थंकरो के समय की प्रजा पाखण्डियों के प्रति किंचित्मात्र भी आदर का भाव प्रकट नही करती।"

भगवान् ने पचम आरक की भीपण स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा – "गौतम! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुपम नामक पाचवा आरा प्रारम्भ होगा जो कि इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन तक मेरा धर्म-शासन अविच्छिन्न रूप से चलता रहेगा। लेकिन पाचवे आरे के प्रारम्भ होते ही पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के ह्रास के साथ ही साथ क्रमश ज्यो-ज्यो समय वीतता जायगा त्यों-त्यो लोकों मे धर्म, शील, सत्य, शान्ति, शौच, सम्यक्त्व, सद्बुद्धि, सदाचार, शौर्य, ओज, तेज, क्षमा, दम, दान, व्रत, नियम, सरलता आदि गुणो का क्रमिक ह्रास और अधर्म-वृद्धि का क्रमश अभ्युत्थान होता जायगा। पचम आरक मे ग्राम श्मशान के समान भयावह और नगर प्रेतों की क्रीड़ास्थली तुल्य प्रतीत होगे। उस समय के नागरिक क्रीतदास तुल्य और राजा लोग यमदूत के समान दुखदायी होगे।"

पचम आरक की राजनीति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा – "गौतम! जिस प्रकार छोटी मछलियो को मध्यम आकार-प्रकार की मछलियाँ और मध्यम स्थिति की मछलियो को वृहदाकार की मछलियां खा जाती है, उसी प्रकार पचम आरक मे सर्वत्र 'मत्स्यन्याय' का वोलवाला होगा, राज्याधिकारी प्रजाजनो को लूटेंगे और राजा लोग राज्याधिकारियो को। उस समय सव प्रकार की व्यवस्थाए अस्त-व्यस्त हो जायेंगी। सव देशो की स्थिति भीषण तूफान मे फसी नाव के समान डावाडोल हो जायेगी।"

उस समय की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा – "गौतम! प्रजा को एक ओर तो चोर पीडित करेंगे और दूसरी ओर कमरतोड करो से राज्य। उस समय मे व्यापारीगण प्रजा को दुष्ट ग्रह की तरह पीडित कर देगे और अधिकारीगण वडी-वड़ी रिश्वते लेकर प्रजाजनो का सर्वस्व हरण करेंगे। आत्मीयजनों मे परस्पर सदा गृहकलह घर किये रहेगा। प्रजाजन परस्पर एक दूसरे से द्वेष व शत्रुता का व्यवहार करेंगे। उनमे परोपकार, लज्जा, सत्य-निष्ठा और उदारता का लवलेश भी अवशेप नही रहेगा।

शिष्य गुरुभक्ति को भूल कर अपने-अपने गुरुजनो की अवज्ञा करते हुए स्वच्छन्द विहार करेंगे और गुरुजन भी अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेशादि देना वन्द कर देंगे और अन्ततोगत्वा एक दिन गुरुकुलव्यवस्था लुप्त ही हो जायगी। लोगो मे धर्म के प्रति रुचि क्रमश विल्कुल मन्द हो जायगी। पुत्र अपने पिता

का तिरस्कार करेगे, वहुएं अपनी सासो के सामने काली नागिनो की तरह हर समय फूत्कार करती रहेगी और सासे भी अपनी वहुओं के लिये भैरवी के समान भयानक रूप धारण किये रहेगी। कुलवधुओ मे लज्जा का नितान्त अभाव होगा। वे हास-परिहास, विलास-कटाक्ष, वाचालता और वेष-भूपा मे वेश्याओ से भी वढ़ी-चढी निकलेगी। इस सवके परिणामस्वरूप उस समय किसी को साक्षात् देवदर्शन नही होगा।"

उस समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए वीर प्रभु ने कहा – "गौतम! ज्यो-ज्यो पचम आरे का काल व्यतीत होता जायगा, त्यों-त्यों साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध धर्मसघ क्रमशः क्षीण होता जायगा। झूठ और कपट का सर्वत्र साम्राज्य होगा। धर्म-कार्यो मे भी कूटनीति, कपट और दुष्टता का वोलवाला होगा। दुष्ट और दुर्जन लोग आनन्दपूर्वक यथेच्छ विचरण करेगे पर सज्जन पुरुषो का जीना भी दूभर हो जायगा।"

पचम आरक मे सर्वतोमुखी ह्रास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा – "गौतम! पंचम आरे में रत्न, मणि, माणिक्य, धन-सम्पत्ति, मत्र, तत्र, औषधि, ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, पत्र, पुष्प, फल, रस, रूप-सौन्दर्य, वल-वीर्य, समस्त सुखद-सुन्दर वस्तुओ और शारीरिक शक्ति एव स्थिति का क्रमश. ह्रास ही ह्रास होता चला जायगा। असमय मे वर्षा होगी, समय पर वर्षा नही होगी। इस प्रकार के ह्रासोन्मुख, क्षीणपुण्य वाले कालप्रवाह मे जिन मनुष्यो की रुचि धर्म मे रहेगी उन्ही का जीवन सफल होगा।"

भगवान् ने फिर फरमाया – "इस दुषमा नामक पचम आरे के अन्त मे दु प्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका इन चारो का चातुर्विध सघ शेप रहेगा। इस भारतवर्ष का अन्तिम राजा विमलवाहन और अन्तिम मत्री सुमुख होगा।"

"इस प्रकार पचम आरे के अन्त मे मनुष्य का शरीर दो हाथ की ऊचाई वाला होगा और मानव की अधिकतम आयु वीस वर्ष की होगी। दु प्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका के समय में वड़े से वडा तप वेला (षष्ठभक्त) होगा। उस समय मे दशवैकालिक सूत्र को जानने वाला चतुर्दश पूर्वधर के समान ज्ञानवान् समझा जायगा। आचार्य दु प्रसह अन्तिम समय तक चतुर्विध सघ को प्रतिवोध करते रहेगे। अन्तिम समय मे आचार्य दु प्रसह सघ को सूचित करेगे कि अव धर्म नही रहा तो सघ उन्हे संघ से वहिष्कृत कर देगा। दु प्रसह वारह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय मे रहेगे और आठ वर्ष तक मुनिधर्म का पालन कर तेले के अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प मे देव रूप मे उत्पन्न होगे।"

पचम आरक की समाप्ति के दिन गणधर्म, पाखण्डधर्म, राजधर्म, चारित्र-धर्म और अग्नि का विच्छेद हो जायगा। पूर्वाह्न मे चारित्र धर्म का, मध्याह्न मे

राजधर्म का और अपराह्न मे अग्नि का इस भरतक्षेत्र की धरा से समूलोच्छेद हो जायगा।"[1]

छट्ठे आरे के समय मे भरत क्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध मे गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया[2] – "गौतम ! पंचम आरक की समाप्ति के बाद वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के अनन्त पर्यवो के ह्रास को लिये हुए २१००० वर्ष का दुषमा-दुषम नामक छट्ठा आरक प्रारम्भ होगा। उस छट्ठे आरे मे दशो दिशाए हाहाकार, भाय-भाय (भभाकार) और कोलाहल से व्याप्त होगी। समय के कुप्रभाव के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, कठोर, धूलिमिश्रित, नितान्त असह्य एवं व्याकुल कर देने वाली भयकर आंधियां एव तृण काष्ठादि को उड़ा देने वाली सवर्तक हवाएं चलेगी। समस्त दिशाए निरन्तर चलने वाले अन्धडों व तूफानो के कारण धूमिल तथा अन्धकारपूर्ण रहेगी। समय की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यधिक शीतलता प्रकट करेगा और सूर्य अत्यधिक उष्णता।"

"तदनन्तर रसरहित–अरस मेघ, विपरीत रस वाले–विरस मेघ, क्षार–मेघ, विप मेघ, अम्ल मेघ, अग्नि मेघ, विद्युत् मेघ, वज्र मेघ, विविध रोग एव पीडाएं वढाने वाले मेघ प्रचण्ड हवाओं से प्रेरित हो वड़ी तीव्र एव तीक्ष्ण धाराओ से वर्षा करेंगे। इस प्रकार की तीव्र एव प्रचुर अतिवृष्टियो के कारण भरतक्षेत्र के ग्राम, नगर, आगर, खेडे, कव्वड, मडव, द्रोणमुख, पत्तन, समग्र जनपद, चतुष्पद, गौ आदि पशु, पक्षी, गावो और वनों के अनेक प्रकार के द्विन्द्रियादिक त्रस प्राणी, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, प्रवाल, अकुर, तृण-वनस्पति, वादर वनस्पति, सूक्ष्म वनस्पति, औषधि, वैताढच पर्वत को छोड़कर सव पर्वत, गिरि, डू गर, टीवे, गगा और सिन्धु को छोडकर सव नदिया, झरणे, विषम गड्ढे आदि विनष्ट हो जायेंगे। भूमि सम हो जायगी।"

"उस समय समस्त भरतक्षेत्र की भूमि अगारमय, चिनगारियो के समान, राख तुल्य, अग्नि से तपी हुई वालुका के समान तथा भीषण ताप के कारण अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होगी। धूलि, रेणु, पंक एव धसानवाले दलदलों के वाहुल्य के कारण पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी भूमि पर इधर-उधर वडी ही कठिनाई से चल-फिर सकेंगे।"

छट्ठे आरक मे मनुष्य अत्यन्त कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुखद रस एव स्पर्श वाले अनिष्ट, चिन्तन मात्र से दुखद, हीन-दीन, कर्णकटु अत्यन्त कर्कश स्वर वाले, अनादेय–अशुभ भाषण करने वाले, निर्लज्ज, झूठ-कपट-कलह, वध-वन्ध और वैरपूर्ण जीवन वाले, मर्यादा का उल्लघन करने मे सदा अग्रणी, कुकर्म करने के लिये सदा उद्यत, आज्ञापालन, विनयादि से रहित, विकलाग, वढे हुए रूक्ष नख, केश, दाढी-मूछ व रोमावली वाले, काल के समान काले-कलूठे, फटी हुई

[1] स्थानाग और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर।
[2] भ०श०, श० ७, उ० ६।

दाडिम के समान ऊवड-खावड सिर वाले, रूक्ष, पीले पके हुए वालो वाले, मासपेशियो से रहित व चर्मरोगो के कारण विरूप, प्रथम आयु मे ही वुढापे से घिरे हुए, सिकुडी हुई सलदार चमडी वाले, उडे हुए वाल और टूटे हुए दातों के कारण घड़े के समान मुख वाले, विपम आखो वाले, टेढी नाक, भौहे व नेत्र आदि के कारण वीभत्स मुख वाले, खुजली कुष्ठ आदि के कारण उधडी हुई चमड़ी वाले, कसरे व खसरे के कारण तीखे नखो से निरन्तर शरीर को खुजलाते रहने के कारण घाव वाले, विकृत शरीर वाले, ऊवड़-खावड अस्थिसधियो एव असम अगो के कारण विकृत आकृति वाले, दुर्वल, कुसहनन कुप्रमाण व खराव सस्थान के कारण अत्यन्त कुरूप, कुत्सित स्थान, शय्या और खानपान वाले, अशुचि के भण्डार, अनेक व्याधियो से पीडित, स्खलित एव विह्वल गति वाले, निरुत्साही, सत्त्वहीन, विकृत चेष्टावाले, तेजहीन, निरन्तर शीत, ताप और उष्ण, रूक्ष एव कठोर वायु से पीडित, धूलिधूसरित मलीन अग वाले, अपार क्रोध, मान, माया, लोभ एव मोह वाले, दुखानुवन्धी दु ख के भोगी, अधिकाशतः धर्म-श्रद्धा एव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होगे।"

"उन मनुष्यो का शरीरमान अधिक से अधिक एक हाथ के वरावर होगा, उनकी अधिक से अधिक आयु १६ अथवा २० वर्ष की होगी, वहुतसे पुत्रों, न्यातियो और पौत्रो आदि के परिवार के स्नेहपाश मे वे लोग प्रगाढ रूप से वधे रहेगे।"

"वैताढ्य गिरि के उत्तर-दक्षिण मे गगा एव सिन्धु नदियो के तटवर्ती ७२ विलो मे, अर्थात् उत्तरार्द्ध भरत मे गगा और सिन्धु नदी के तटवर्ती ३६ विलो मे तथा उसी प्रकार वैताढ्य गिरि के दक्षिण मे अर्थात् दक्षिणार्द्ध भरत मे गंगा एव सिन्धु नदियो के तटवर्ती ३६ विलो मे केवल वीज रूप मे मनुष्य एव पशु-पक्षी आदि प्राणी रहेगे।"

"उस समय गगा एव सिन्धु नदियो का प्रवाह केवल रथ-पथ के बराबर रह जायगा और पानी की गहराई रथचक्र की धुरी के वरावर होगी। दोनो नदियो के पानी मे मछलियो और कछुओ का वाहुल्य होगा और पानी कम होगा। सूर्योदय और सूर्यास्त वेला मे वे लोग विलों के अन्दर से शीघ्र गति से निकलेगे। इन नदियो मे से मछलियो और कछुओ को पकड कर तटवर्ती बालू मिट्टी मे गाड देगे। रात्रि की कडकडाती सर्दी और दिन की चिलचिलाती धूप मे वे मिट्टी मे गाडी हुई मछलिया और कछुए पक कर उनके खाने योग्य हो जायेगे।"

"इस तरह २१,००० वर्ष के छट्ठे आरे मे मनुष्य केवल मछलियो और कछुओ से अपना उदर-भरण करेगे।"

"उस समय के निश्शील, निर्व्रत, गुणविहीन, मर्यादारहित, प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि से रहित व प्राय मासभक्षी मनुष्य प्राय नरक और तिर्यंच योनियो मे उत्पन्न होगे। इसी प्रकार उस समय के सिह व्याघ्रादि पशु और ढक, कक आदि पक्षी भी प्राय. नरक और तिर्यंच योनियो मे उत्पन्न होगे।"[1]

[1] भगवती शतक, शतक ७, उद्देशा ६।

उत्सर्पिणीकाल

"अवसर्पिणीकाल के दुपमा-दुषम नामक छट्ठे आरे की समाप्ति पर उत्कर्षोन्मुख उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होगा। उस उत्सर्पिणीकाल मे अवसर्पिणीकाल की तरह छह आरे प्रतिलोम रूप से (उल्टे क्रम से) होगे।"

"उत्सर्पिणी काल का दुपमा-दुपम नामक प्रथम आरक अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे की तरह २१ हजार वर्ष का होगा। उसमे सव स्थिति उसी प्रकार की रहेगी जिस प्रकार की कि अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे मे रहती है।"

"उस प्रथम आरक की समाप्ति पर जव २१ हजार वर्प का दुषम नामक दूसरा आरा प्रारम्भ होगा तव शुभ समय का श्रीगणेश होगा। पुष्कर सवर्तक नामक मेघ निरन्तर सात दिन तक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर मूसलधार रूप मे वरस कर पृथ्वी के ताप का हरण करेगा और फिर अन्यान्य मेघो से धान्य एवं औपधियो की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार पुष्करमेघ, क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ और रस-मेघ सात-सात दिनो के अन्तर से अनवरत वरस कर सूखी धरती की तपन एवं प्यास वुझा कर उसे हरीभरी कर देगे।"

"भूमि की वदली हुई दशा देखकर गुफावासी मानव गुफाओ से वाहर आयेंगे और हरियाली से लहलहाती सस्यश्यामला धरती को देखकर हर्षविभोर हो उठेंगे। वे लोग आपस मे विचारविमर्श कर मासाहार का परित्याग कर शाकाहारी वनेंगे। वे लोग अपने समाज का नवगठन करेंगे और नये सिरे से ग्राम-नगर आदि वसायेंगे। शनै.शनै ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प आदि की अभिवृद्धि होगी।"[1]

२१ हजार वर्प की अवधि वाले दुपम नामक द्वितीय आरक की समाप्ति पर दुषमा-सुपम नामक तीसरा आरा प्रारम्भ होगा। वह वयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर का होगा। उस आरक के तीन वर्प साढे आठ मास वीतने पर उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर का जन्म होगा।

उस तृतीय आरक मे २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ वलदेव, ६ वासुदेव, और ६ प्रतिवासुदेव होगे। उत्सर्पिणीकाल के इस दुपमा-सुषम नामक आरे मे अवसर्पिणीकाल के दुपमा-सुपम नामक चतुर्थ आरे के समान सभी स्थिति होगी।

उत्सर्पिणीकाल का सुपमा-दुपम नामक चतुर्थ आरक दो कोडाकोडी सागर का होगा। इस आरक के आरम्भ मे उत्सर्पिणीकाल के चौवीसवे तीर्थंकर और वारहवे चक्रवर्ती होगे।[2]

---

[1] दूसरे आरे मे ७ कुलकर होंगे इस प्रकार का उल्लेख 'विविध तीर्थ कल्प' के '२१ अपापा वृहत्कल्प' मे है। स्थानाग मे भी प्रथम तीर्थंकर को कुलकर का पुत्र वताया है।

[2] एक मान्यता यह भी है कि उत्सर्पिणीकाल के चतुर्थ आरक के प्रारम्भ में कुलकर होते हैं। यथा

"अण्णे पढति। निस्सेण समाए पढमे तिभाये इमे पणरस कुलगरा समुप्पज्जिस्सति .

[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष० २, प० १६४, शान्तिचन्द्र गणि]

इस चतुर्थ आरक का एक करोड़ पूर्व से कुछ अधिक समय वीत जाने पर कल्पवृक्ष उत्पन्न होगे और तव यह भरतभूमि पुनः भोगभूमि वन जायगी।

उत्सर्पिणीकाल के सुषम और सुषमा-सुषम नामक क्रमशः पांचवे और छट्ठे आरो मे अवसर्पिणी के प्रथम दो आरो के समान ही समस्त स्थिति रहेगी।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के छ-छः आरो को मिलाकर कुल वीस कोडाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।"

गौतम गणधर ने भगवान् से एक और प्रश्न किया – "भगवन्! आपके निर्वाण के पश्चात् मुख्य-मुख्य घटनाए क्या होगी ?"

उत्तर मे प्रभु ने फरमाया – "गौतम! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुषम नामक पाचवा आरा लगेगा। मेरे निर्वाण के चौंसठ (६४) वर्ष पश्चात् अन्तिम केवली जम्वू सिद्ध गति को प्राप्त होगे। उसी समय मन.पर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसपराय, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, और मुक्तिगमन इन वारह स्थानो का भरतक्षेत्र से विलोप हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के पश्चात् मेरे शासन मे पचम आरे के अन्त तक २००४ युगप्रधान आचार्य होगे। उनमे प्रथम आर्य सुधर्मा और अन्तिम दुःप्रसह होगे।"

"मेरे निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् आचार्य भद्रवाहु के स्वर्गारोहण के अनन्तर अन्तिम चार पूर्व, समचतुरस्र सस्थान, वज्रऋषभनाराच सहनन और महाप्राणध्यान इन चार चीजो का भरतक्षेत्र से उच्छेद हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य आर्य वज्र के समय मे दसवा पूर्व और प्रथम संहनन-चतुष्क समाप्त हो जायेगे।"

"मेरे मोक्षगमन के अनन्तर पालक, नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओ के अवसान के पश्चात् अर्थात् मेरे निर्वाण के ४७० वर्ष वीत जाने पर विक्रमादित्य नामक राजा होगा। पालक का राज्यकाल ६० वर्ष, (नव) नन्दो का राज्यकाल १५५ वर्ष, मौर्यो का १०८ वर्ष, पुष्यमित्र का ३० वर्ष, बलमित्र व भानुमित्र का राज्यकाल ६० वर्ष, नरवाहन का ४० वर्ष, गर्दभिल्ल का १३ वर्ष, शक का राज्यकाल ४ वर्ष और उसके पश्चात् विक्रमादित्य का शासन होगा। सज्जन और स्वर्णपुरुष विक्रमादित्य पृथ्वी का निष्कंटक राज्य कर अपना सवत् चलायेगा।"

"मेरे निर्वाण के ४५३ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के राज्य का अन्त करने वाला कालकाचार्य होगा।"[1]

"विशेष क्या कहा जाय, वहुत से साधु भाडो के समान होंगे, पूर्वाचार्यों से परम्परागत चली आ रही समाचारी का परित्याग कर अपनी कपोलकल्पना के

---

[1] तह गद्दभिल्लरज्जस्स ठायगो कालगारियो होही।
तेवग्ग चउसएहिं, गुणसयकलिओ सुअपउत्तो॥

अनुसार समाचारी और चारित्र के नियम वना-वना कर उस समय के अल्पज्ञ मनुष्यों को विमुग्ध कर आगम के विपरीत प्ररूपणा करते हुए आत्मप्रशसा और परनिन्दा मे निरत रहेंगे। विपुल आत्मवल वालो की कोई पूछ नही रहेगी और आत्मवलविहीन लोग पूजनीय वनेंगे।"[1]

"इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप इस ससारचक्र में धर्माराधन करने वाले ही वस्तुत. कालचक्र को पार कर सिद्धि प्राप्त कर पायेगे।"

भगवान् के द्वारा इस तरह ससार-भ्रमण और दुखो की भयकरता का विवरण सुन हस्तिपाल आदि अनेको भव्य आत्माओ ने निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली।

इस वर्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचुर प्रचार एवं विस्तार हुआ[2] और अनेक भव्यात्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

इस प्रकार वर्षाकाल के तीन महीने वीत गये। चौथे महीने मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रात काल 'रज्जुग सभा'[3] मे भगवान् के मुखारविन्द से अन्तिम उपदेशामृत की अनवरत वृष्टि हो रही थी। सभा मे काशी, कोशल के नौ लिच्छवी, नौ मल्ल एव अठारह गणराजा भी उपस्थित थे।

शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना

प्रभु के मोक्ष समय को निकट जानकर शक्र वन्दन करने को आया और अंजलि जोड़कर वोला – "भगवन्! आपके जन्मकाल मे जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्मग्रह सक्रान्त होने वाला है जो कि जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष तक रहेगा। अत. उसके सक्रमणकाल तक आप आयु को वढा लें तो वह निष्फल हो जायेगा।"

भगवान् ने कहा – "इन्द्र! आयु के घटाने-वढ़ाने की किसी मे शक्ति नही है।[4] ग्रह तो केवल आगामी काल मे शासन की जो गति होने वाली है, उसके दिग्दर्शक मात्र है।" इस प्रकार इन्द्र की शका का समाधान कर भगवान् ने उसे संतुष्ट कर दिया।

---

[1] विविध ती० क०, २० कल्प, अभिवान राजेन्द्र, चौथा भाग, पृ० २६०१।

[2] महावीर चरित्र, हेमचन्द्र सूरिकृत।

[3] रज्जुगा–लेहगा, तेंसि सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाण करणसाला।
—कल्पसूत्र, सू० १२२। (टीका)

[4] (क) भयव कुणह पसाय, विगमह एयपि ताव खणमेक्क।
जावेस भासरामिस्स, नूणमुदओ अवक्कमइ ॥१॥ महावीर च०, प्रस्ता० ८, प० ३३८।

(ख) अह जय गुरुणा भणिय सुरिंद, तीयाइतिविहकालेऽवि।
नो भूय न भविस्सइ न हवइ नूण इम कज्ज।
ज आऊकम्म विगमेऽवि, कोऽवि अच्छेज्ज समयमेत्तमवि।
अच्चतारणतविसिट्ठसत्तिपब्भारजुत्तोऽवि।

परिनिर्वाण

भगवान् महावीर का कार्तिक कृष्णा अमावस्या की पिछली रात्रि में निर्वाण हुआ उस समय तक सोलह प्रहर जितने दीर्घकाल पर्यंत प्रभु अनन्त वली होने के कारण विना खेद के प्रवचन करते रहे। प्रभु ने अपनी इस अन्तिम देशना में पुण्यफल के पचपन अध्ययनो का और पापफल विपाक के पचपन अध्ययनो का कथन किया[1], जो वर्तमान मे सुख विपाक और दुख विपाक नाम से विपाक सूत्र के दो खडो मे प्रसिद्ध है। भगवान् महावीर ने इस अन्तिम देशना मे अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस अध्ययन भी कहे[2], जो वर्तमान मे उत्तराध्ययन सूत्र के रूप मे प्रख्यात है। सैतीसवा प्रधान नामक मरुदेवी का अध्ययन फरमाते-फरमाते भगवान् पर्यकासन मे स्थिर हो गये।[3] भगवान् ने वादर काययोग मे स्थित रह क्रमश वादर मनोयोग और वादर वचन योग का निरोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग मे स्थित रह वादर काययोग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। शुक्लध्यान के सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया और समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम के चौथे चरण मे पहुँच अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पाच अक्षरो को उच्चारण करे जितने काल तक शैलेशी–दशा मे रहकर चार अघातिकर्मों का क्षय किया और सिद्ध, वुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गये।[4]

उस समय वर्षाकाल का चौथा मास और सातवा पक्ष अर्थात् कार्तिक कृष्ण पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी।

निर्वाणकाल मे प्रभु महावीर छट्ठभक्त (वेले) की तपस्या से सोलह प्रहर तक देशना करते रहे।[5] देशना के मध्य मे कई प्रश्न और चर्चाए भी हुई।

प्रभु महावीर ने अपना निर्वाण-समय सन्निकट जान प्रथम गणधर इन्द्रभूति को, देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिवोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया। अपने चिर-अन्तेवासी गौतम को दूर भेजने का कारण यह था कि भगवान् के निर्वाण के समय गौतम अधिक स्नेहाकुल न हो। इन्द्रभूति ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार देव शर्मा को प्रतिवोध दिया। प्रतिवोध देने के पश्चात् वे प्रभु के पास लौटना चाहते थे पर रात्रि हो जाने के कारण लौट नही सके। अर्द्धरात्रि के पश्चात् उन्हे भगवान् के निर्वाण का संवाद मिला। भगवान् के निर्वाण का सुनते ही इन्द्रभूति अति खिन्न हो गये और स्नेह विह्वल हो कहने लगे :– "भगवन्!

---

१ (क) समवा०, ५५वा समवाय
(ख) कल्पसूत्र, १४७ सू०

२ (क) कल्पसूत्र, १४७ सू०
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३।

३ सपलिग्रक निसण्णे ··· । समवायाग।

४ कल्पसूत्र, सू० १४७।

५ सौभाग्य पचम्यादि पर्वकथा सग्रह, पृ० १००। "षोडश प्रहरान् यावद् देशना दत्तवान्।"

यह क्या ? आपने मुझे इस अन्तिम समय मे अपने से दूर क्यो किया ! क्या मै आपको मोक्ष जाने से रोकता था, क्या मेरा स्नेह सच्चा नही था, अथवा क्या मै आपके साथ होकर मुक्ति मे आपका स्थान रोकता ? अब मैं किसके चरणों मे प्रणाम करूगा और कहा अपनी मनोगत शंकाओ का समाधान प्राप्त करूगा ? प्रभो ! अब मुझे "गौतम" "गौतम" कौन कहेगा ?" इस प्रकार भावना-प्रवाह मे वहते वहते गौतम ने स्वयं को सम्हाला और विचार किया—"अरे ! यह मेरा कैसा मोह ? भगवान् तो वीतराग है, उनमे कैसा स्नेह ! यह तो मेरा एकपक्षीय मोह है। क्यो नही मैं भी प्रभुचरणो का अनुगमन करूं, इस नश्वर जगत् के दृश्यमान पदार्थों में मेरा कौन है ?" इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसी रात्रि के अन्त मे स्थितप्रज्ञ हो गौतम ने क्षण भर मे केवलज्ञान के अक्षय आलोक को प्राप्त कर लिया।[1] वे त्रिकालदर्शी हो गये।

गौतम के लिये कहा जाता है कि एक वार अपने से छोटे साधुओं को केवल-ज्ञान से विभूषित देखकर उनके मन मे वडी चिन्ता उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि उन्हे अभी तक केवलज्ञान किस कारण से प्राप्त नही हुआ है।

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझ कर कहा—"गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ स्नेह है। अनेक भवों से हम एक दूसरे के साथ रहे है। यहा से आयु पूर्ण कर हम दोनो एक ही स्थान पर पहुँचेगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नही होंगे। मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्मस्नेह ही तुम्हारे लिये केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए है। तुम्हे केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी।"

प्रभु का अन्तिम निर्णय सुनकर गौतम उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

भगवान् के निर्वाण के समय समवसरण मे उपस्थित गण-राजाओं ने भावभीने हृदय से कहा – "अहो ! आज ससार से वस्तुत: भाव उद्योत उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेगे।"

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, जन्म, जरा-मरण के सब बन्धनो को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए, उस समय चन्द्र नाम का सम्वत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास और नन्दिवर्द्धन नाम का पक्ष था। दिन का नाम 'अग्निवेश्म' या 'उपशम' था। देवानन्दा रात्रि और अर्थ नाम का लव था। मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोक था। नागकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त मे स्वाति-नक्षत्र के योग मे भगवान् षष्ठ-भक्त के तप में पर्यंकासन से विराजमान थे।

---

[1] ज रयणि च ण समणे भगव महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्ख पहीणे त रयणि च ण जेट्ठस्स गोयमस्स इदभूइस्स... केवलवरनाणदसणे समुप्पन्ने।

[कल्पसूत्र, सूत्र १२६ — सिवाना सस्करण]

देवादिकृत शरीर-क्रिया

भगवान् का निर्वाण हुआ जान कर स्वर्ग से शक्र आदि इन्द्र और सहस्रो देव-देविया तथा जनगण आये और अश्रुपूर्ण नयनों से भगवान् के पार्थिव शरीर को शिविका मे विराजमान कर चितास्थान पर ले गये। वहा देवनिर्मित गोशीर्ष चन्दन की चिता मे प्रभु के शरीर को रखा। अग्निकुमार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और वायुकुमार ने वायु सचरित कर सुगन्धित पदार्थों के साथ प्रभु के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की। फिर मेघकुमार ने जल बरसा कर चिता शान्त की।

निर्वाणकाल मे उपस्थित अठारह गण-राजाओ ने अमावस्या के दिन पौषध, उपवास किया और प्रभु के निर्वाणान्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप से सस्मरणार्थ द्रव्य-प्रकाश करने का निश्चय किया। कहते है, उस दिन जो दीप जला कर प्रकाश किया गया तब से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।[1]

भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास मे रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय मे साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का सयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु मे मुक्त हुए। समवायाग मे भी बहत्तर वर्ष का सव आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।[2] छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानाग मे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है – बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय मे रहे।[3] पूर्ण आयु सव मे बहत्तर वर्ष मानी गई है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम मे प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा मे तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और वाणिज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालदा मे

---

[1] (क) गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोय करिस्सामो ॥ कल्प सू, सू० १२७ (शिवाना स)
(ख) ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।
– त्रि०, १० प० १३ स० १४८ श्लो० (हरिवश)
(ग) एव सुरगणपहामुज्जय तस्सि दिणे सयल महीमडल दट्ठूण तहच्चेव कीरमाणे जणवएण 'दीवोसवो' त्ति पासिद्धि गओ। च म, पृ ३३४।

[2] समवायाग, समवाय ७२

[3] स्थानाग, ९ स्था० ३ उ० सू० ६९३। दुवालस सवच्छराइ तेरस पक्ख छउमत्थ० ॥ (अमोलक ऋषि द्वारा अनुदित, पृष्ठ ८१६)

चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी मे भगवान् ने छह (६) चातुर्मास किये। भद्दिया नगरी मे दो, आलभिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) मे एक चातुर्मास और पावापुरी मे एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर के चतुर्विध सघ मे निम्नलिखित धर्म-परिवार था –

गणधर एवं गण – गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

केवली	–	सात सौ (७००)
मन पर्यवज्ञानी	–	पाचसौ (५००)
अवधिज्ञानी	–	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	–	तीन सौ (३००)
वादी	–	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	–	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	–	शख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५९,०००)
श्राविकाए	–	सुलसा, रेवती प्रभृति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन मे सात सौ साधुओ और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियो का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त प्रभु के लाखो भक्त थे।

गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार मे नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार है – (१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति (३) वायुभूति, (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचलभ्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।[1] ये सभी गृहस्थ-जीवन मे विभिन्न क्षेत्रो के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रो के साथ ये वहा के यज्ञ मे आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग मे विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण

[1] समवायाग, समवाय ११।

की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा मे आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मडल के साथ भगवान् महावीर के चरणो मे दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होने चतुर्दश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

१. इन्द्रभूति

प्रथम गणधर इन्द्रभूति मगध देश के अन्तर्गत 'गोबर' ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम पृथ्वी था। ये वेद-वेदान्त के पाठी थे। महावीर स्वामी के पास आत्मा विषयक सशय की निवृत्ति पाकर ये पाच सौ छात्रो के साथ दीक्षित हुए।

दीक्षा के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी। इनका शरीर सुन्दर, सुडौल और सुगठित था। महावीर के चौदह हजार साधुओं में मुख्य होकर भी आप वडे तपस्वी थे। आपका विनय गुण भी अनुपम था। भगवान् के निर्वाण के वाद आपने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीस वर्ष तक छद्मस्थ-भाव मे रहने के पश्चात् फिर वारह वर्ष केवली-पर्याय में विचरे। आयुकाल निकट देखकर अन्त में आपने गुणशील चैत्य मे एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया। इनकी पूर्ण आयु वराणवे वर्ष की थी।

२ अग्निभूति

दूसरे गणधर अग्निभूति इन्द्रभूति के मझले सहोदर थे। 'पुरुषाद्वैत' की शका दूर होने पर इन्होने भी पांच सौ छात्रो के साथ ४६ वर्ष की अवस्था मे श्रमण भागवान् महावीर की सेवा मे मुनि-धर्म स्वीकार किया और बारह वर्ष तक छद्मस्थ-भाव मे रह कर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवली-पर्याय मे रहकर इन्होने भगवान् के जीवनकाल मे ही गुणशील चैत्य मे एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की। इनकी पूर्ण आयु चौहत्तर वर्ष की थी।[1]

३. वायुभूति

तीसरे गणधर वायुभूति भी इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के छोटे सहोदर थे। इन्द्रभूति की तरह इन्होने भी 'तज्जीव तच्छरीर-वाद' को छोड़ कर भगवान् महावीर से भूतातिरिक्त आत्मा का वोध पाकर पाच सौ छात्रो के साथ प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उस समय इनकी अवस्था वयालीस वर्ष की थी। दश वर्ष छद्मस्थभाव मे सावना करके इन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया और ये अठारह वर्ष तक केवली रूप से विचरते रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पहले एक मास के अनशन से इन्होने भी सत्तर (७०) वर्ष की अवस्था मे गुणशील चैत्य मे सिद्धि प्राप्त की।

[1] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६५६, पृ० १२३ (१)

४. आर्य व्यक्त

चौथे गणधर आर्य व्यक्त कोल्लाग सन्निवेश के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारुणी और पिता का नाम धनमित्र था। इन्हे शंका थी कि ब्रह्म के अतिरिक्त मारा जगत् मिथ्या है। भगवान् महावीर से अपनी शका का सम्यक् समाधान पाकर इन्होने भी पांच सौ छात्रो के साथ पचास वर्ष की वय में प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ साधना करके इन्होने भी केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर भगवान् के जीवनकाल मे ही एक मास के अनशन से गुणशील चैत्य मे अस्सी वर्ष की वय मे सकल कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त की।

५. सुधर्मा

पञ्चम गणधर सुधर्मा 'कोल्लाग' सन्निवेश के अग्नि वेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल था। इन्होने भी जन्मान्तर विषयक संशय को मिटाकर भगवान् के चरणो में पाच सौ छात्रो के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी आचार्य हुए। ये वीर निर्वाण के वीस वर्ष वाद तक सघ की सेवा करते रहे। अन्यान्य सभी गणधरो ने दीर्घजीवी समझ कर इनको ही अपने-अपने गण सभला दिये थे। आप ५० वर्ष गृहवास में एव ४२ वर्ष छद्मस्थ-पर्याय मे रहे और ८ वर्ष केवली रूप से धर्म का प्रचार कर १०० वर्ष की पूर्ण आयु मे राजगृह नगर मे मोक्ष पधारे।

६. मंडित

छठे गणधर मंडित मौर्य सन्निवेश के वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया देवी था। भगवान् महावीर से आत्मा का संसारित्व समझ कर इन्होने भी गौतम आदि की तरह तीन सौ पचास ३५० छात्रो के साथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाकाल मे इनकी अवस्था तिरेपन वर्ष की थी। चौदह वर्ष साधना कर सतसठ (६७) वर्ष की अवस्था मे इन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के निर्वाण-पूर्व इन्होंने भी सोलह वर्ष केवली-पर्याय मे रह कर तिरासी (८३) वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य मे अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त को।

७ मौर्यपुत्र

सातवे गणधर मौर्यपुत्र मौर्य सन्निवेश के काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था। देव और देव-लोक सम्बन्धी शका की निवृत्ति होने पर इन्होने भी तीन सौ पचास (३५०) छात्रों के साथ पैंसठ वर्ष की वय मे श्रमण दीक्षा स्वीकार को। १४ वर्ष छद्म-स्थ भाव मे रहकर उनासी (७९) वर्ष की अवस्था में इन्होने तपस्या से केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष केवली पर्याय मे रहकर भगवान् के सामने ही

पचानवे (६५) वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य मे अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

८. अकम्पित

आठवे गणधर अकम्पित मिथिला के रहने वाले, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था। नरक और नारकीय जीव सम्बन्धी सशय-निवृत्ति के बाद इन्होने भी अडतालीस वर्ष की अवस्था मे अपने तीन सौ शिष्यो के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। ६ वर्ष तक छद्मस्थ रह कर सत्तावन वर्ष की अवस्था मे इन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष केवली-पर्याय मे रह कर प्रभु के जीवन के अन्तिम वर्ष मे गुणशील चैत्य मे एक मास का अनशन पूर्ण कर अठहत्तर वर्ष की अवस्था मे निर्वाण प्राप्त किया।

९. अचलभ्राता

नवमें गणधर अचलभ्राता कोशला निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वसु था। पुण्य-पाप सम्बन्धी अपनी शका निवृत्ति के बाद इन्होने भी छयालीस वर्ष की अवस्था मे तीन सौ छात्रो के साथ भगवान् महावीर की सेवा मे श्रमण दीक्षा स्वीकार की। बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तप एव ध्यान कर अट्ठावन वर्ष की अवस्था मे आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली-पर्याय मे रह कर बहत्तर वर्ष की वय मे एक मास का अनशन कर गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

१०. मेतार्य

दशवें गणधर मेतार्य वत्स देशान्तर्गत तुगिक सन्निवेश के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वरुणा देवी और पिता का नाम दत्त था। इनको पुनर्जन्म सम्बन्धी शका थी। भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर तीन सौ छात्रों के साथ छत्तीस वर्ष की अवस्था मे इन्होने भी श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। दश वर्ष की साधना के बाद छियालीस वर्ष की अवस्था में इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष केवली-पर्याय मे रह कर भगवान् के जीवनकाल में ही बासठ वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य मे इन्होने निर्वाण प्राप्त किया।

११. प्रभास

ग्यारहवे गणधर प्रभास राजगृह के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम 'अतिभद्रा' और पिता का नाम बल था। मुक्ति विषयक शका का प्रभु महावीर द्वारा समाधान हो जाने पर इन्होने भी तीन सौ शिष्यो के साथ सोलह वर्ष की अवस्था मे भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। आठ वर्ष बाद चौबीस वर्ष की अवस्था मे इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष तक केवली-पर्याय मे रहकर चालीस वर्ष की वय मे गुणशील

चैत्य में एक मास का अनशन कर इन्होने भगवान् के जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त किया। सबसे छोटी आयु मे दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करने वाले ये ही एक गणधर हैं।

ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे व सबका सहनन वज्र ऋषभ नाराच तथा समचतुरस्र सस्थान था। दीक्षित होकर सबने द्वादशाग का ज्ञान प्राप्त किया अतः सब चतुर्दश पूर्वधारी एव विशिष्ट लब्धियो के धारक थे।[1]

एक बहुत बड़ा भ्रम

भगवान् महावीर के छट्ठे गणधर मडित और सातवे गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध मे पूर्वकालीन कुछ आचार्यों और वर्तमान काल के कुछ विद्वानो ने यह मान्यता प्रकट की है कि वे दोनो सहोदर थे। उन दोनो की माता एक थी जिसका कि नाम विजयादेवी था। आर्य मण्डित के पिता का नाम धनदेव और आर्य मौर्यपुत्र के पिता का नाम मौर्य था। आर्य मण्डित को जन्म देने के कुछ काल पश्चात् विजयादेवी ने अपने पति धनदेव का निधन हो जाने पर धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य के साथ विवाह कर लिया और मौर्य के साथ दाम्पत्य जीवन विताते हुए विजयादेवी ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया। मौर्य का अगज होने के कारण वालक का नाम मौर्यपुत्र रखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य मण्डित और आर्य मौर्यपुत्र के मातापिता का परिचय देते हुए 'त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र' मे लिखा है :–

पत्न्या विजयदेवाया, धनदेवस्य नन्दन ।
मण्डकोऽभूत्तत्र जाते, धनदेवो व्यपद्यत ।।५३
लोकाचारो ह्यसौ तत्रेत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत् ।
भार्या विजयदेवा ता, देशाचारो हि न ह्रिये ।।५४
क्रमाद् विजयदेवाया मौर्यस्य तनयोऽभवत् ।
स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नैव पप्रथे ।।५५

[त्रिप० श० पु० च०, प० १०, स० ५]

आचार्य जिनदासगणी ने भी 'आवश्यकचूर्णि' मे इन दोनो गणधरो के सम्बन्ध मे लिखा है :–

" · · · तमि चेव मगहा जणवते मोरिय सन्निवेसे मडिया मोरिया दो भायरो।"······

[आव० चूर्णि, उपोद्घात, पृ० ३३७]

मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. V Part I Sthaviravalı के पृष्ठ १३६ और १३७ पर मडित एव मौर्यपुत्र की माता एक और पिता भिन्न-भिन्न वताते हुए यहा तक लिख दिया है

[1] आव नि., गाथा ६५८-६६०

कि उस समय मौर्य सन्निवेश मे विधवा विवाह निषिद्ध नही था। मुनि श्री द्वारा लिखित पंक्तिया यहाँ उद्धृत की जाती है–

"Besides Sthavira Mandita and Sthavira Mauryaputra were brothers having one mother Vijayadevi, but have different gotras derived from the gotras of their different fathers-the father of Mandit was Dhanadeva of Vasistha-gotra and the father of Mauryaputra was Maurya of Kasyapa-gotra, as it was not forbidden for a widowed female in that country, to have a re-marriage with another person, after the death of her former husband."

वास्तव मे उपरोक्त दोनो गणधरो की माता का एक नाम होने के कारण ही आचार्यो एव विद्वानो की इस प्रकार की धारणा बनी कि इनकी माता एक थी और पिता भिन्न।

उपर्युक्त दोनो गणधरो के जीवन के सम्बन्ध मे जो महत्त्वपूर्ण तथ्य समवायाग सूत्र मे दिये हुए हैं उनके सम्यग् अवलोकन से आचार्यों एव विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई उपरोक्त धारणा सत्य सिद्ध नही होती।

समवायाग सूत्र की तयासीवी समवाय मे आर्य मडित की सर्वायु तयासी वर्ष बताई गई है। यथा

"थेरेण मडियपुत्ते तेसीइ वासाइ सव्वाउय पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।"

समवायाग सूत्र की तीसवी समवाय मे आर्य मडित के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है कि वे तीस वर्ष तक श्रमणधर्म का पालन कर सिद्ध हुए। यथा

"थेरेण मडियपुत्ते तीस वासाइ सामण्णपरियाय पाउणित्ता सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।"

सूत्र के मूल पाठ से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि आर्य मडित ने ५३ वर्ष की अवस्था मे भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

आर्य मौर्यपुत्र के सम्बन्ध मे समवायाग सूत्र की पैसठवी समवाय मे लिखा है कि उन्होने ६५ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की। यथा

"थेरेण मोरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइ आगारमज्झे वसित्ता मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइये।"

सभी ग्यारहो गणधरो ने एक ही दिन भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, यह तथ्य सर्वविदित है। उस दशा मे यह कैसे सभव हो सकता है कि एक ही दिन दीक्षा ग्रहण करते समय बडा भाई ५३ वर्ष की अवस्था का हो और छोटा भाई ६५ वर्ष का अर्थात् बडे भाई से उम्र मे १२ वर्ष बडा हो ?

स्वयं मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने अपने ग्रथ Sramana Bhagvan Mahavira, Vol. IV Part I Sthaveravali' के पृष्ठ १२२ और १२४ पर दीक्षा के दिन आर्य मंडित की अवस्था ५३ वर्ष और आर्य मौर्यपुत्र की अवस्था ६५ वर्ष होने का उल्लेख किया है। यथा :

"Gandhara Maharaja Mandita was fifty-three years old when he renounced the world...... After a period of fourteen years of ascetic life, Mandita acquired Kevala Gnana..... and he acquired Moksha Pada·....when he was eighty three years old." (p. 122)

"Gandhara Maharaja Mauryaputra was sixty-five years old when he renounced the world......After a period of fourteen years of ascetic life, Ganadhara Mauryaputra acquired Kevala Gnana......at the age of seventynine

Ganadhara Maharaja Mauryaputra remained a Kevali for sixteen years and he acquired Moksha Pada......when he was ninety-five years old." (p. 124)

इन सब तथ्यो से उपरोक्त आचार्यों की मान्यता केवल भ्रम सिद्ध होती है। वास्तव में ये सहोदर नही थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी आगमीय वयमान को लक्ष्य में नही रखते हुए केवल दोनो की माता का एक नाम होने के आधार पर ही दोनो को सहोदर मान लिया और 'लोकाचारो हि न ह्रिये' लिख कर अपनी मान्यता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या एवं श्रमणीसघ की प्रवर्तिनी महासती चन्दनबाला थी।

चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी पुत्री थी। मातापिता द्वारा आपका नाम वसुमती रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनबन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रख कर चम्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह में रहने लगा। दधिवाहन बड़े प्रजाप्रिय नरेश थे अतः शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पा नगरी में नियुक्त किये।

कुछ ही दिनो के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरो से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है अतः चार-पांच दिन के अन्दर-अन्दर ही आक्रमण कर दिया जाय। शतानीक तो उपर्युक्त अवसर की प्रतीक्षा में ही था। उसने तत्काल एक बडी सेना के साथ चम्पा पर धावा करने

के लिये जलमार्ग से सैनिक अभियान कर दिया। तेज हवाओ के कारण शतानीक के जहाज बडी तीव्रगति से चम्पा की ओर बढे। एक रात्रि के अल्प समय मे ही शतानीक अपनी सेनाओ के साथ चम्पा जा पहुचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारो ओर से घेर लिया।

इस अनभ्र वज्रपात से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक् रह गये। अपने आप को शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकावला कर सकने की स्थिति मे न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपत्कालीन वैठक वुलाकर गुप्त मन्त्रणा की। अन्त में मन्त्रियो के प्रवल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्याग कर वीहड वनो की राह पकड़नी पडी।

शतानीक ने अपने सैनिको को खुली छूट देदी कि चम्पा के प्राकारो एव द्वारो को तोडकर चम्पा को लूट लिया जाय और जिसे जो चाहिये वह अपने घर ले जाय। इस आज्ञा से सैनिको मे उत्साह और प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और वे द्वारो तथा प्राकारो को तोडकर नगर मे प्रविष्ट हो गये।

शतानीक की सेनाओ ने यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमती सहित शतानीक के एक सैनिक द्वारा पकड ली गई। वह उन दोनो को अपने रथ मे डालकर कौशाम्वी की ओर द्रुत गति से लौट पड़ा। महारानी धारिणी के देवागना तुल्य रूप-लावण्य पर मुग्ध हो सैनिक राह मे मिलने वाले अपने परिचित लोगो से कहने लगा – "इस लूट मे इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सव कुछ पा लिया है। घर पहुचते ही मै इसे अपनी पत्नी बनाऊंगा।"

इतना सुनते ही महाराणी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी। महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक अकिंचन व्यक्ति के मुह से इस प्रकार की वात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुचा। अपने सतीत्व पर आच आने की आशका से धारिणी सिहर उठी। उसने एक हाथ से अपनी जिह्वा को मुख से वाहर खीचकर दूसरे हाथ से अपनी ठुड्डी पर अति वेग से आघात किया। इसके परिणाम स्वरूप वह तत्क्षण निष्प्राण हो रथ मे ही गिरपडी।[1]

धारिणी के आकस्मिक अवसान से सैनिक को अपनी भूल पर आत्म-ग्लानि के साथ साथ वडा दु ख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी अत्युच्च कुल की कुलवधू होने के कारण वह उसके वाग्वाणो से आहत हो मृत्यु की गोद मे सदा के लिये सो गई है।

सैनिक ने इस आशका से कि कही अधखिली पारिजात पुष्प की कली के समान वह सुमनोहर वालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे, उसने वसुमती को मृदु वचनो से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

---

[1] आचार्य हेमचन्द्र ने शोकातिरेक मे धारिणी के प्राण निकलने का उल्लेख किया है। देखिये – [त्रि श पु, पर्व १०, स० ४, श्लो ५२७]

राजकुमारी वसुमती को लिये वह सैनिक कौशाम्बी पहुंचा और उसे विक्रय के लिये बाजार मे चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त हो अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिये खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम सी सुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सैनिक को मुहमागा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसुमती को लेकर अपने घर पहुंचा।

उसने बडे दुलार से उसके मातापिता एव उसका नाम पूछा पर स्वाभिमानिनी वसुमती ने अपना नाम तक भी नही बताया। वह मौन ही रही। अन्त मे लाचार हो धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा – "यह बालिका किसी साधारण कुल की प्रतीत नही होती। इसे अपनी ही पुत्री समझ कर बडे दुलार और प्यार से रखना"

श्रेष्ठिपत्नी मूला ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ मे वसुमती को अपनी पुत्री के समान ही रक्खा। वसुमती श्रेष्ठिपरिवार मे घुलमिल गई। उसके मृदु सम्भाषण, व्यवहार एव विनय आदि सद्गुणों ने श्रेष्ठिपरिवार एव भृत्य वर्ग के हृदय में दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल सुखद स्वभाव के कारण वसुमती उस श्रेष्ठिपरिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

चन्दना ने जब कुछ समय बाद यौवन मे पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढकर उसकी पिण्डलियो से अठखेलिया करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठिपत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पडा। उसके अन्तर में कलुषित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा – "यह अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीन कर गृहस्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते है पर यदि उन्होंने कही इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अत फूलने-फलने से पहले ही इस विषलता को मूलत. उखाड फेंकना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। दिन-प्रति-दिन मूला के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई और वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिये हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप मे चल कर धनावह बाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिये अपने सेवको को पुकारा। पर सयोगवश उस समय कोई भी सेवक वहा उपस्थित नही था। धूप से श्रान्त धनावह को खडे देख कर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुँची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि बिखर गई।

चन्दना के वाल कही कीचड से न सन जावे इस दृष्टि से सहज सन्ततिवात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ मे रही हुई यष्टि से ऊपर उठा लिया और अपने हाथो से उसका जूड़ा वान्ध दिया ।

मूला ने सयोगवश जव यह सव देखा तो उसने अपने सन्देह को वास्तविकता का रूप दे डाला और उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर पश्चात् श्रेष्ठी धनावह जव किसी कार्यवश दूसरे गाव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को बुला कर चन्दना के मस्तक को मुडित करवा दिया । मूला ने बडी निर्दयता से चन्दना को जी भर कर पीटा । तदनन्तर उसके हाथो मे हथकडी एव पैरो मे वेडी डालकर उसे एक भंवारे मे वन्द कर दिया और अपने दास-दासियो एव कुटुम्व के लोगो को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने उन्हे चन्दना के सम्वन्ध मे कुछ भी वता दिया तो वह उसका कोपभाजन वनेगा ।

चन्दना तीन दिन तक तलघर मे भूखी प्यासी वन्द रही । तीसरे दिन जव धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सम्वन्ध मे पूछताछ की । सेवको को मौन देखकर धनावह को शका हुई और उसने क्रुद्ध स्वर में चन्दना के सम्वन्ध मे सच-सच बात वताने के लिये कड़क कर कहा – "तुम लोग मूक की तरह चुप क्यो हो, बताओ पुत्री चन्दना कहा है ?"

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस बटोर कर सारा हाल कह सुनाया । तलघर के कपाट खोलकर धनावह ने ज्यों ही चन्दना को उस दुर्दशा मे देखा तो रो पडा । चन्दना के भूख और प्यास से मुर्झाये हुए मुख को देखकर वह रसोईघर की ओर लपका । उसे सूप में कुछ उडद के वाकलो के अतिरिक्त और कुछ नही मिला । वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुंचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोला – "पुत्री, अभी तुम इन उड़द के वाकलो से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हूँ ।"

यह कह कर धनावह किसी लोहार की तलाश मे तेजी से वाजार की ओर निकला ।

भूख से पीड़ित होते हुए भी चन्दना ने मन मे विचार किया – "क्या मुझ हतभागिनी को इस अति दयनीय विषम अवस्था में आज विना अतिथि को खिलाये ही खाना पडेगा ? मध्याकाश से अब सूर्य पश्चिम की ओर ढल चुका है, इस वेला मे अतिथि कहा ?"

अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आंखो से अश्रुओ की अविरल धारा फूट पडी । उसने अतिथि की तलाश मे द्वार की ओर देखा । सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यो की प्रभा के समान देदीप्यमान मुखमण्डल वाले अति कमनीय, गौर, सुन्दर, सुडौल दिव्य तपस्वी द्वार मे प्रवेश कर उसकी ओर बढ

रहे है। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओ का सागर निमेपार्द्ध में ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरदपूर्णिमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ में लेकर उठी। वेड़ियों से जकड़े अपने एक पैर को बड़ी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्षगद्गद स्वर मे अतिथि से प्रार्थना की—"प्रभो, यद्यपि ये उडद के वाकले आपके खाने योग्य नही हैं, फिर भी मुझ अवला पर अनुग्रह कर इन्हें ग्रहण कीजिये।"

अपने अभिग्रह की पूर्ति मे कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुखित हो चन्दना के मुह से सहसा ही ये शब्द निकल पड़े—"हाय रे दुर्दैव! इससे बढ़कर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आगन मे आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है?" इस शोक के आघात से चन्दना की आंखों से पुनः अश्रुओ की धारा वह चली। अतिथि ने यह देख कर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढ़ा किया। चन्दना ने हर्ष विभोर होकर अत्युत्कट श्रद्धा से सूप मे रक्खे उड़द के वाकलो को अतिथि के करपात्र मे उडेल दिया।

यह अतिथि और कोई नहीं, श्रमण भगवान् महावीर ही थे। तत्क्षण "महा दान, महा दान" के दिव्य घोप और देव दुन्दुभियों के निश्वन से गगन गूज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रो की आकाश से देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवो ने धनावह सेठ के घर पर १२॥ करोड स्वर्ण मुद्राओ की वर्षा की। सुगन्धित मन्द मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्वी के सहस्रो नर-नारी वहा एकत्रित हो गये और चन्दना के भाग्य की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर केशराशि पुन. उद्भूत हो गई। चन्दना के पैरों मे पडी लोहे की वेडिया सोने के नूपुरो में और हाथो की हथकड़िया करककणों के रूप मे परिणत हो गईं। देवियो ने उसे दिव्य आभूपणो से अलकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियो से जड़े मुकुट को धारण किये हुए स्वयं देवेन्द्र वहा उपस्थित हुए और उन्होने भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् चन्दना का अभिवादन किया।

कौशाम्वीपति शतानीक भी महारानी मृगावती एवं पुरजन-परिजन आदि के साथ धनावह के घर आ पहुँचे। उनके साथ वन्दी के रूप मे आये हुए दधि-वाहन के अगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरो पर गिर कर रोने लगा। जव शतानीक और मृगावती को उस अगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अक मे भर लिया।

चन्दना की इच्छानुसार धनावह उन १२।। करोड़ स्वर्ण मुद्राओ का स्वामी वना ।[1]

इन्द्र ने शतानीक से कहा कि यह चन्दनवाला भगवान् को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या वनेगी और इसी शरीर से निर्वाण प्राप्त करेगी, अत इसकी वडी सावधानी से सार-सम्भाल की जाय। यह भोगो से नितान्त विरक्त है इसलिये इसका विवाह करने का प्रयास नही किया जाय। तत्पश्चात् देवेन्द्र एव देवगण अपने-अपने स्थान की ओर लौट गये और महाराजा शतानीक महारानी मृगावती व चन्दनवाला के साथ राजमहलो मे लौट आये।

चन्दनवाला राजप्रासादो मे रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी। आठो प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आये जव भगवान् महावीर को केवलज्ञान हो और वह उनके पास दीक्षित होकर ससार सागर को पार करने के लिये अथक प्रयास करे।

जैसा कि ऊपर कहा जाचुका है भगवान् को केवलज्ञान होने पर चन्दनवाला ने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और भगवान् के श्रमणी सघ का समीचीन रूप से संचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओ से अपने समस्त कर्म-समूह को भस्मसात् कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद

प्रागैतिहासिक काल मे भगवान् ऋषभदेव ने पाच महाव्रतो का उपदेश दिया और उनके पश्चाद्वर्ती अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक के वाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम रूप धर्म की शिक्षा दी। उन्होने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और वहिस्तात्-आदान-विरमण अर्थात् विना दी हुई वाह्य वस्तुओ के ग्रहण का त्याग रूप चार याम वाला धर्म वतलाया।[2]

पार्श्वनाथ के वाद जव महावीर का धर्मयुग आया तो उन्होने फिर पाच महाव्रतो का उपदेश दिया। पाच महाव्रत इस प्रकार है :- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस तरह दोनो के व्रत-विधान मे सख्या का अन्तर होने से यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ऐसा क्यो ?

यही प्रश्न केशिकुमार ने गौतम से भी किया था। इसका उत्तर देते हुए गौतम ने वतलाया कि स्वभाव से प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड होते

---

[1] चउवन्न महापुरिस चरिय

[2] भरत ऐरावत क्षेत्र मे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड कर मध्य के वाईस अरिहन्त भगवान् चातुर्याम-धर्म का प्रज्ञापन करते हैं। यथा :

सर्वथा प्राणातिपात विरमण, सर्वथा मृषावाद विरमण, सर्वथा अदत्तादान विरमण और सर्वथा वहिद्धादान विरमण।

[स्था०, स्था० ४, उ० १, सूत्र २६६, पत्र २०१ (१)]

हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एवं-जड़ तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते है। इस कारण प्रथम तीर्थंकर के साधुओं के लिये जहा मुनि-धर्म के आचार का यथावत् ज्ञान करना कठिन होता वहा चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओ के लिये मुनि-धर्म का यथावत् पालन करना कठिन होता है। पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासनवर्ती साधु व्रतों को यथावत् ग्रहण और सम्यक् रीत्या पालन भी कर लेते हैं। इसी आधार पर तीर्थंकरो के शासन मे व्रत-निर्धारण मे संख्या-भेद पाया जाता है।

उपर्युक्त समाधान से ध्वनित होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने मैथुन को भी परिग्रह के अन्तर्गत माना था।[1]

कुछ लेखको ने चातुर्याम का सम्बन्ध महाव्रत से न वताकर चारित्र से वतलाया है पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नही होता।

वाईस तीर्थंकरो के समय मे सामायिक, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र मे से कोई एक होता है। किन्तु महावीर के समय मे पाच मे से कोई भी एक चारित्र एक साधक को हो सकता है। सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय अन्य चार नही रहते। अत चातुर्याम का अर्थ 'चारित्र' करना ठीक नही।

योगाचार्य पतञ्जलि ऋषि ने भी याम का अर्थ अहिंसा आदि व्रत ही लिया है।[2] डॉ० महेन्द्रकुमार ने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ जी थे।[3]

श्वेताम्बर आगमों की दृष्टि से भी स्त्री को परिग्रह की कोटि में ही शामिल किया गया है। भगवान् द्वारा व्रत-सख्या मे परिवर्तन का कारण समय और वुद्धि का प्रभाव हो सकता है। भगवान् पार्श्व के परिनिर्वाण के पश्चात् और महावीर के तीर्थंकर होने से कुछ पूर्व संभव है इस प्रकार के तर्क का सहारा लेकर साधक डोलायमान होने लगा हो और भगवान् पार्श्व की परम्परा में उस पर पूर्ण दृढ़ अनुशासन नही रखा जा सका हो। वैसी स्थिति मे भगवान् महावीर ने, वक्र स्वभाव के लोग अपनी रुचि के अनुकूल परिग्रह या स्त्री का त्याग कर दूसरे का उपयोग प्रारम्भ न करे, इस भावी हित को ध्यान मे रख कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का स्पष्टत. पृथक् विधान कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की वात नही। संख्या का अन्तर होने पर भी दोनो परम्पराओ के मौलिक आशय मे भेद नही है। केवल स्पष्टता के लिये पृथक्करण किया गया है।

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गाथा २६-२७।
(ख) मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिग्रहीता योषिद् भुज्यते। स्था० वृ०, ४ उ० सू० २६६। पत्र २०२ (१)

[2] अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमा। पतंजलि (योगसूत्र) सू० २०

[3] डा० महेन्द्रकुमार-जैन दर्शन-पृ० ६०

चारित्र

भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे श्रमणवर्ग को सामायिक चारित्र दिया जाता था जब कि भगवान् महावीर ने सामायिक के साथ छेदोपस्थापनीय चारित्र का भी प्रवर्तन किया। चारित्र के मुख्यार्थ समता की आराधना को ध्यान में लेकर भगवान् पार्श्वनाथ ने चारित्र का विभाग नही किया। फिर उन्हे वैसी आवश्यकता भी नही थी। किन्तु महावीर भगवान् के सामने एक विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ, एतदर्थ साधको की विशेष शुद्धि के लिये उन्होने सामायिक के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के निर्विभाग सामायिक चारित्र को विभागात्मक सामायिक के रूप मे प्रस्तुत किया। छेदोपस्थापनीय मे जो चारित्र पर्याय का छेद किया जाता है, पार्श्वनाथ की परम्परा मे सजग साधको के लिये उसकी आवश्यकता ही नही थी अतः उन्होने निर्विभाग सामायिक चारित्र का विधान किया।

भगवती सूत्र के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि जो मुनि चातुर्याम धर्म का पालन करते, उनका चारित्र सामायिक कहा जाता और जब इस परम्परा को बदल कर पच याम धर्म मे प्रवेश किया, तब उनका चारित्र छेदोपस्थापनीय कहलाया।[1]

भगवान् महावीर के समय मे दोनो प्रकार की व्यवस्थाए चलती थी। उन्होने अल्पकालीन निर्विभाग मे सामायिक चारित्र को और दीर्घकाल के लिये छेदोपस्थापनीय चारित्र को मान्यता प्रदान की।

महावीर ने इसके अतिरिक्त व्रतों मे रात्रिभोजन-विरमण को भी अलग व्रत के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उन्होने स्थानाग सूत्र मे स्पष्ट कहा है – "आर्यो मैंने श्रमण-निर्ग्रंथो को स्थविरकल्प, जिनकल्प, मुडभाव, अस्नान, अदतधावन, अछत्र, उपानत् त्याग, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य-वास, भिक्षार्थ परगृहप्रवेश तथा लब्धालब्ध वृत्ति की प्ररूपणा की है। जैसे मैंने श्रमणो को पचमहाव्रतयुक्त सप्रतिक्रमण अचेलक धर्म कहा है, वैसे महापद्म भी कथन करेंगे।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के शासन में दूसरा अन्तर सचेल-अचेल का है, जो इस प्रकार है :–

पार्श्वनाथ की परम्परा मे सचेल-धर्म माना जाता था किन्तु महावीर ने अचेल धर्म की शिक्षा दी। कल्पसमर्थन मे कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर

---

[1] सामाइयमि उ कए, चाउज्जाम अणुत्तर धम्म।
तिविहेण फासयतो, सामाइय सजओ स खलु।
छेत्तूण उ परियाग, पोराण जो ठवेई अप्पाण।
धम्ममि पचजामे, छेदोवट्ठाणो स खलु॥ भग०, श० २५, उ ७।७८६।गा०१।२

[2] स्थानाग, स्थान ६

का धर्म अचेलक है और बाईस तीर्थंकरो का धर्म सचेलक एव अचेलक दोनों प्रकार का है।[1]

अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिये यह विधान है कि वे श्वेत और मानोपेत वस्त्र रखे पर बाईस तीर्थंकरो के श्रमणो के लिये ऐसा विधान नही है। वे विवेकनिष्ठ और जागरूक होने से चमकीले, रंग-बिरंगे और प्रमाण से अधिक भी वस्त्र रख सकते थे, क्योकि उनके मन मे उत्तम वस्त्रो के प्रति आसक्ति नही होती थी।

"अचेलक" पद का सीधा अर्थ वस्त्राभाव होता है किन्तु यहां "अ" का अर्थ सर्वथा अभाव न मान कर अल्प मानना चाहिये। व्यवहार में भी सम्पदाहीन को "अधन" कहते है। साधारण द्रव्य होने पर भी व्यक्ति व्यवहार-जगत् मे "अधन" कहलाता है। आचाराग सूत्र की टीका मे यही अल्प अर्थ मानकर अचेलक का अर्थ "अल्प वस्त्र" किया है।[2] उत्तराध्ययन सूत्र और कल्प की टीका मे भी मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय[3] और श्वेतवस्त्र को अचेल मे माना गया है।

जैन श्रमणो के लिये दो प्रकार के कल्प बताये गये हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह हो सकता है जो वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला हो, कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचारवस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दश पूर्व तक का श्रुतपाठी हो। जिनकल्पी भी पहले स्थविरकल्पी ही होता है।[4]

जिनकल्प के भी दो प्रकार है— (१) पाणिपात्र और (२) पात्रधारी। पाणिपात्र के भी चार भेद बतलाये हैं। जिनकल्पी श्रमण नग्न और निष्प्रतिकर्म शरीरी होने से आख का मल भी नही निकालते। वे रोग-परीषहो को सहन करते, कभी किसी प्रकार की चिकित्सा नही कराते।[5] पात्रधारी हो या पात्ररहित दोनो प्रकार के जिनकल्पी रजोहरण और मुखवस्त्रिका, ये दो उपकरण

---

[1] आचेलुक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, होइ सचेलो अचेलो य॥ [कल्प समर्थन, गा० ३, पृ० १]

[2] अचेल — अल्पचेल। [आचा० टी०, पत्र २२१]

[3] लघुत्व जीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचेलक। [उत्तरा० बृहद् वृत्ति, प० ३५६]

(ख) "अचेलत्वं" श्री आदिनाथ — महावीर साधूना वस्त्र मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय धवल च कल्पते। श्री अजितादि द्वाविंशती तीर्थंकर साधूना तु पचवर्णम्॥ [कल्प सूत्र कल्पलता, प० २११। समयसुन्दर]

[4] जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु।
[विशेषा० बृहद् वृत्ति, पृष्ठ १३, गा० ७ की टीका]

[5] निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलपि न अ अवणिति।
विसहति जिणा रोग, कारिंति कयाइ न तिगिच्छ॥
[विशेषावश्यक प्रथम भाग, प्रथम अश, पृ० १४, गाथा ७ की टीका की गाथा ३]

तो रखते ही हैं। अत. यहा पर अचेलक का अर्थ सम्पूर्ण वस्त्रो का त्यागी नही किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र-धारी समझना चाहिये।

इसी लिये भाष्यकार ने कहा है कि अचेलक दो प्रकार के होते हैं – सदचेल और असदचेल। तीर्थंकर असत्-चेल होते हैं। वे देवदूष्य वस्त्र गिर जाने पर सर्वदा वस्त्ररहित रहते है। शेष सभी जिनकल्पिक आदि साधु सदचेल कहे गये हैं।[1] कम से कम भी रजोहरण और मुखवस्त्रिका का तो उनको सद्भाव रहता ही है।

वस्त्र रखने वाले साधु भी मूर्च्छारहित होने के कारण अचेल कहे गये है क्योकि वे जिन वस्त्रो का उपयोग करते है वे दोपरहित, पुराने, सारहीन और अल्प प्रमाण मे होते है। इसके अतिरिक्त उनका उपयोग भी कदाचित् का होता है जैसे भिक्षार्थ जाते समय देह पर वस्त्र डाला जाता है वह भिक्षा से लौटने पर हटा दिया जाता है। इसी प्रकार कटि-वस्त्र भी रात्रि में अलग कर दिया जाता है।

लोकोक्ति मे जीर्ण-शीर्ण तार-तार हुए फटे वस्त्र को धारण करने वाला नग्न ही कहा जाता है। जैसे कोई बुढिया जिसके शरीर पर पुरानी अनेक स्थानो से फटी हुई साडी लिपटी है, तन्तुवाय से कहती है – "भाई! मेरी साडी जल्दी तैयार कर देना। मैं नगी फिरती हू।"[2]

तो यह फटा पुराना कपड़ा होने पर भी नग्नपन कहा गया है। इसी प्रकार अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि अचेल माना गया है।

मूल बात यह है कि परिग्रह मूर्च्छाभाव में है। मूर्च्छाभावरहित मुनियो को वस्त्रो के रहते हुए भी मूर्च्छाभाव नही होने से अचेलक कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है – "न सो परिग्गहो वुत्तो' वह परिग्रह नही है। परिग्रह मूर्च्छाभाव है – "मूर्च्छा परिग्गहो वुत्तो।"

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के सचेल धर्म का साधुओ मे दुरुपयोग समझा और निमित्त से प्रभावित मंदमति साधक मोह-मूर्च्छा मे न गिरे, इस हेतु अचेल धर्म के उपदेश से साधुवर्ग को वस्त्र-ग्रहण मे नियन्त्रित रखा। उत्तराध्ययन सूत्र मे केशी श्रमण की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि

---

[1] (क) बृह० भा० १ उ० – दुविहो होति अचेलो सताचेलो असतचेलोय तित्थगर असत चेला, सताचेला भवे सेसा॥

(ख) सदसतचेलगोऽचेलगो य ज लोग – समयससिद्धो।
तेणाचेला मुणओ सतेहिं, जिणा असतेहिं॥

[विशेपावश्यक भाष्य, गा० २५६८]

[2] तह थोव-जुन्न-कुच्छिय चेलेहि वि भन्नए अचेलोत्ति।
जहन्तरसालिय लहु दो पोत्ति नग्गिया मोत्ति॥ [वि० २६०१, पृ० १०३५]

[3] जघन्यतोऽपि रजोहरण मुखवस्त्रिका सभवात्॥ [बृ० भा० उ० १]

भगवान् ने वेष धारण के पीछे एक प्रयोजन धर्म-साधना को निभाना और दूसरा साधु रूप को अभिव्यक्त करना कहा है।[1]

डॉ० हर्मन जेकोबी ने भगवान् महावीर की अचेलता पर आजीवक गोशालक का प्रभाव माना है, किन्तु यह निराधार जचता है, क्योकि गोशालक से प्रथम ही भगवान् देवदूष्य वस्त्र गिरने से नग्नत्व धारण कर चुके थे। फिर भगवती सूत्र मे साफ आता है –

"साडियाओ य पाडियाओ य कुडियाओ य पाहणाओय
चित्तफलग च माहणे आयामेति आयामेत्ता स उत्तरोट्ठ मुड करोति।"

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि गोशालक ने भगवान् महावीर का अनुसरण करते हुए उनके साधना के द्वितीय वर्ष मे नग्नत्व स्वीकार किया।

सप्रतिक्रमण धर्म

अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरो के समय मे प्रतिक्रमण दोनो समय करना नियत नही था। कुछ आचार्यों का ऐसा अभिमत है कि इन बाईस तीर्थंकरो के समय मे दैवसिक और राइय ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे शेष नही[2] किन्तु जिनदास महत्तर का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रथम और अतिम तीर्थंकर के समय मे नियमित रूप से उभयकाल प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोष के समय मे भी ईर्यापथ और भिक्षा आदि के रूप मे तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बाईस तीर्थंकरो के शासनकाल मे दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियम रूप से प्रतिक्रमण का उनके लिये विधान नही था।[3] स्थानाग सूत्र मे कहा है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरो का धर्म सप्रति-

---

[1] विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं।
जत्तत्थ गहणत्थ च, लोगे लिंगपओयण। उ० २३

[2] देसिय, राइय, पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्ह पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाण तु दो पढ़मा॥

[सप्ततिशतस्थान प्र०, गा० २८६]

[3] पुरिम पच्छिमएहिं उभओ काल पडिक्कमितव्व इरियावहियमागतेहिं उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेग कातूण पदोस पूच्चूसेसु, वा अतियारो होतु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्व एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाण तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्त वा, अड्ढरत्तो वा ताहेचेव पडिक्कमति। नत्थि तो न पडिक्कमति। जेण ते असढा पण्णवता परिणामगा न य पमादोबहुलो, तेण तेसिं एवं भवति, पुरिमा उज्जुजडा, पच्छिमा वक्कजडा नीसाणाणि मग्गति पमादवहुला य, तेण तेहिं अवस्स पडिकमितव्व।

[आव० चू०, उत्तर भाग, पृ० ६६]

क्रमण है।[1] इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने शिष्यो के लिये दोष लगे या न लगे, प्रतिदिन दोनो सध्या प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बताया है।[2]

स्थित कल्प

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे सभी (१) अचेलक्य, (२) उद्देशिक, (३) शय्यातर पिड, (४) राजपिड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प और (१०) पर्युषणाकल्प अनिवार्य होते है। अत इन्हे स्थितकल्प कहा जाता है। अजितादि बाईस तीर्थंकरो के लिये चार कल्प – (१) शय्यातर, (२) चातुर्याम धर्म का पालन, (३) ज्येष्ठ पर्याय–वृद्ध का वदन और (४) कृतिकर्म, ये चार स्थित और छह कल्प– (१) अचेलक, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिंड, (५) मासकल्प एव (६) पर्युषणा ये अस्थित माने गये है।[3]

भगवान् महावीर के श्रमणो के लिये मासकल्प आदि नियत है। बाईस तीर्थंकरो के साधु चाहे तो दीर्घकाल तक भी रह सकते हैं, पर महावीर के साधु-साध्वी मासकल्प से अधिक विना कारण न रहे, यह स्थितकल्प है। आज जो साधु-साध्वी विना खास कारण एक ही ग्राम–नगर आदि मे धर्म प्रचार के नाम से बैठे रहते हैं, यह शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल नही है।

भगवान् महावीर के निन्हव

भगवान् महावीर के शासन मे सात निन्हव हुए है, जिनमे से दो भगवान् महावीर के सामने हुए, प्रथम जमालि और दूसरा तिष्यगुप्त। जो इस प्रकार है –

जमालि

जमालि महावीर का भानेज और उनकी एकमात्र पुत्री प्रियदर्शना का पति होने से जामाता भी था। श्रमण भगवान् महावीर के पास इसने भी भाव-पूर्वक श्रमण दीक्षा ली और भगवान् के केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर चौदह वर्ष के बाद प्रथम निन्हव के रूप में प्रख्यात हुआ।

जमालि के प्रवचन-निन्हव होने का इतिहास इस प्रकार है –

दीक्षा के कुछ वर्ष बाद जमालि ने भगवान् से स्वतन्त्र विहार करने की आज्ञा मागी। भगवान् ने उसके पूछने पर कुछ भी उत्तर नही दिया। उसने दुहरा-तिहरा कर अपनी बात प्रभु के सामने रखी किन्तु भगवान् मौन ही विराजे

---

[1] (क) मए समणाण निगथाण पचमहव्वइए सपडिक्कमणे .. [स्थानाग, स्था ९]
(ख) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्सय पच्छिमस्स य जिणाण ।। [आव०नि०गा० १२४१]

[2] आचेलक्कुद्देसिय पडिक्कमण रायपिंड मासेसु ।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ।। [अभिधान राजेन्द्र, गाथा १]

[3] मूलाचार–७।१२५ – १२६।

रहे । प्रभु के मौन को ही स्वीकृति समझ कर पाच सौ साधुओ के साथ जमालि अनगार महावीर से पृथक् हो कर जनपद की ओर विहार कर गया ।

अनेक ग्राम-नगरो मे विचरण करते हुए वह 'सावत्थी' आया और वहा के कोष्ठक उद्यान मे अनुमति लेकर स्थित हुआ । विहार मे अन्त, प्रान्त, रूक्ष एव प्रतिकूल आहार के सेवन से जमालि को तीव्र रोगातक उत्पन्न हो गया । उसके शरीर मे जलन होने लगी । भयंकर दाह-पीडा के कारण उसके लिये बैठे रहना भी संभव नही था । उसने अपने श्रमणो से कहा – "आर्यो ! मेरे लिये सथारा कर दो जिससे मैं उस पर लेट जाऊ । मुझसे अब बैठा नही जाता ।" साधुओं ने "तथास्तु" कह कर संथारा-आसन करना प्रारम्भ किया । जमालि पीडा से अत्यत व्याकुल था । उसे एक क्षण का भी विलम्ब असह्य था । अतः उसने पूछा– "क्या आसन हो गया ?" विनयपूर्वक साधुओ ने कहा – "महाराज ! कर रहे हैं, अभी हुआ नही है ।"

साधुओ के इस उत्तर को सुन कर जमालि को विचार हुआ – "श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित एवं क्रियमाण को कृत कहते हैं, वह मिथ्या है । मैं प्रत्यक्ष देख रहा हू कि क्रियमाण शय्या सस्तारक अकृत है । फिर तो चलमान को भी अचलित ही कहना चाहिये । ठीक है, जब तक शय्या-सस्तारक पूरा नही हो जाता तब तक उसको कृत कैसे कहा जाय ?" उसने अपनी इस नवीन उपलब्धि के बारे मे अपने साधुओं को बुला कर कहा – "आर्यो ! श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत आदि कहते है, वह ठीक नही है । चलमान आदि को पूर्ण होने तक अचलित कहना चाहिये ।"

बहुत से साधु जो जमालि के अनुरागी थे, उसकी बात पर श्रद्धा करने लगे और जो भगवद्वाणी पर श्रद्धाशील थे, उन्होने युक्तिपूर्वक जमालि को समझाने का प्रयत्न किया, पर जब यह बात उसकी समझ मे नही आई तो वे उसे छोडकर पुनः भगवान् महावीर की शरण मे चले गये ।

जमालि की अस्वस्थता की बात सुनकर साध्वी प्रियदर्शना भी वहा आई । वह भगवान् महावीर के परमभक्त ढक कुम्हार के यहा ठहरी हुई थी । जमालि के अनुराग से प्रियदर्शना ने भी उसका नवीन मत स्वीकार कर लिया[1] और ढक को भी स्वमतानुरागी बनाने के लिये समझाने लगी । ढक ने प्रियदर्शना को मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त जान कर कहा – "आर्ये ! हम सिद्धान्त की बात नही जानते, हम तो केवल अपने कर्म-सिद्धान्त को समझते है और यह जानते है कि भगवान् वीतराग ने जो कहा है, वह मिथ्या नही हो सकता ।" उसने प्रियदर्शना को उसकी भूल समझाने का मन में पक्का निश्चय किया ।

एक दिन प्रियदर्शना साध्वी ढक की शाला मे जब स्वाध्यायमग्न थी, ढक ने अवसर देखकर उसके वस्त्राचल पर एक अगार का कण डाल दिया ।

---

[1] पियदसणा वि पइणोऽ णुरागओ तम्मय चिय पवण्णा । विशे. २३२५

शाटकाचल जलने से साध्वी बोल उठी – "श्रावक ! तुमने मेरी साडी जला दी।" उसने कहा – "महाराज ! साडी तो अभी आपके शरीर पर है, जली कहा है ? साडी का कोण जलने से यदि उसका जलना कहती हैं तो ठीक नही। आपके मन्तव्यानुसार तो दह्यमान वस्तु अदग्ध कही गई है। अत. कोण के जलने से साडी को जली कहना आपकी परम्परानुसार मिथ्या है। ऐसी बात भगवान् महावीर के अनुयायी कहे तो ठीक हो सकती हैं। जमालि के मत से ऐसी वात ठीक नही होती।" ढक की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर साध्वी प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हो गई।

प्रियदर्शना ने अपनी भूल के लिये "मिथ्या मे दुष्कृत भवतु" कहकर प्रायश्चित्त किया और जमालि को समझाने का प्रयत्न किया तथा जमालि के न मानने पर वह अपनी शिष्याओ के सग भगवान् के पास चली गई। शेप साधु भी धीरे-धीरे जमालि को अकेला छोडकर प्रभु की सेवा मे चले गये। अन्तिम समय तक भी जमालि अपने दुराग्रह पर डटा रहा।[1]

जमालि का मन्तव्य था कि कोई भी कार्य लबे समय तक चलने के वाद ही पूर्ण होता है। अत किसी भी कार्य को 'क्रियाकाल' मे किया कहना ठीक नही। भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' वाला सिद्धान्त 'ऋजुसूत्र' नय की दृष्टि से है। ऋजुसूत्र-नय केवल वर्तमान को ही मानता है। इसमे किसी भी कार्य का वर्तमान ही साधक माना गया है। इस विचार से कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय मे कार्यकारी हो कर दूसरे समय मे नष्ट हो जाती है। प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय मे और दूसरे समय की क्रिया दूसरे समय मे ही कार्य करेगी। इस प्रकार प्रति-समय भावी क्रियाए प्रति समय होने वाली पर्यायो का कारण हो सकती है, उत्तरकाल भावी कार्य के लिये नही अत महावीर का 'करेमाणे कडे' सिद्धान्त सत्य है।

जमालि इस भाव को नही समझ सका। उसने सोचा कि पूर्ववर्ती क्रियाओ मे जो समय लगता है, वह सब उत्तरकालभावी कार्य का ही समय है। पट-निर्माण के प्रथम समय मे प्रथम तन्तु, फिर दूसरा, तीसरा आदि इस प्रकार प्रत्येक का समय अलग अलग है। जिस समय जो क्रिया हुई, उसका फल उसी समय हो गया। विशेषावश्यक भाष्य मे इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जमालि को जिस समय 'वहुरत दृष्टि' उत्पन्न हुई, उस समय भगवान् महावीर चपा मे विराजमान थे। जमालि भी कुछ काल के वाद जव रोग से मुक्त हुआ, तव सावत्थी के कोष्ठक चैत्य से विहार कर चम्पा नगरी आया और पूर्णभद्र उद्यान मे श्रमण भगवान् महावीर के पास खडे होकर बोला "देवानुप्रिय ! जैसे आपके वहुत से शिष्य छद्मस्थ हो कर छद्मस्थ विहार से विचरते हैं, मैं वैसे छद्मस्थ विहार से विचरने वाला नही हू। मैं केवलज्ञान को धारण करने वाला अरहा, जिन केवली होकर विचरता हू।"

[1] विशेप गा० २३०७, पृ० ९३४ से ९३६।

जमालि की असंगत बात सुन कर गौतम ने कहा – "जमालि! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तूप, भित्ति आदि मे कही रुकता नही, तो तुम्हे यदि केवलज्ञान हुआ है तो मेरे दो प्रश्नो का उत्तर दो :–

"(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत? (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत?"

जमालि इन प्रश्नो का कुछ भी उत्तर नही दे सका और शका, काक्षा से मन मे विचलित हो गया।[1]

भगवान् महावीर ने जमालि को सम्बोधित कर कहा – "जमालि! मेरे बहुत से अन्तेवासी छद्मस्थ हो कर भी इन प्रश्नो का उत्तर दे सकते हैं, फिर भी वे अपने को तुम्हारी तरह केवली नही कहते।" बाद में गौतम ने जमालि को लोक का शाश्वतपन और अशाश्वतपन किस अपेक्षा से है, विस्तार से समझाया। बहुत सम्भव है जमालि का यह 'बहुरत' सम्प्रदाय उसके पश्चात् नही रहा, क्योकि उसके अनुयायी उसकी विद्यमानता मे ही साथ छोड़ कर चले गये थे। अत अपने मत को मानने वाला वह अकेला ही रह गया था।[2]

बहुत कुछ समझाने पर भी जमालि की भगवान् के वचनो पर श्रद्धा, प्रतीति नही हुई और वह भगवान् के पास से चला गया। मिथ्यात्व के अभिनिवेश से उसने स्व – पर को उन्मार्गगामी बनाया और बिना आलोचना के मरण प्राप्त कर किल्विषी देव हुआ।

२. (निन्हव) तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर के केवलज्ञान के सोलह वर्ष बाद दूसरा निन्हव तिष्यगुप्त हुआ। वह आचार्य वसु का जो कि चतुर्दश पूर्वविद् थे, शिष्य था। एक बार आचार्य वसु राजगृह के गुणशील चैत्य मे पधारे हुए थे। उनके पास आत्म-प्रवाद का आलापक पढते हुए तिष्यगुप्त को यह दृष्टि पैदा हुई कि जीव का एक प्रदेश जीव नही, वैसे दो, तीन, सख्यात आदि भी जीव नही–किन्तु असख्यात प्रदेश होने पर ही उसे जीव कहना चाहिये। इसमे एक प्रदेश भी कम हो तो जीव नही कहा जा सकता क्योकि जीव लोकाकाश – प्रदेश तुल्य है[3], ऐसा शास्त्र मे कहा है।

इस आलापक को पढते हुए तिष्यगुप्त को नय-दृष्टि का ध्यान नही होने से विपर्यास हो गया। उसने समझा कि अन्तिम प्रदेश मे ही जीवत्व है। गुरु द्वारा विविध प्रकार से समझाने पर भी तिष्यगुप्त की धारणा जब नही बदली तो गुरु ने उसे सघ से बाहर कर दिया।

---

[1] भग०, श० ९, उ ३३।

[2] इच्छामो सवोहणमज्जो, पियदसणादओ ढक।
वोत्तुजमालिमेक्क मोत्तूण गया जिणसगास ॥ वि २३३२।

[3] विशेषावश्यक, गा. २३३३ से २३३६।

स्वच्छन्द विचरता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगरी मे जाकर 'आम्रसालवन मे ठहरा। वहा 'मित्रश्री' नाम का एक श्रावक था। उसने तिष्यगुप्त को निन्हव जानकर समझाने का उपाय सोचा। उसने सेवक-पुरुषो द्वारा भिक्षा जाते हुए तिष्यगुप्त को कहलाया "आज आप कृपा कर मेरे घर पधारे।" तिष्यगुप्त भी भावना समझ कर चला गया। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को बिठा कर बड़े आदर से विविध प्रकार के अन्न – पान – व्यञ्जन और वस्त्रादि लाकर देने को रखे और उनमे से सबके अन्तिम भाग का एक-एक कण लेकर मुनि को प्रतिलाभ दिया। तिष्यगुप्त यह देखकर बोले – "श्रावक! क्या तुम हँसी कर रहे हो या हमको विधर्मी समझ रहे हो?"

श्रावक ने कहा – "महाराज! आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम प्रदेश जीव है, फिर मैंने गलती क्या की है? यदि एक कण मे भोजन नही मानते तो आपका सिद्धान्त मिथ्या होगा।"

मित्रश्री की प्रेरणा से तिष्यगुप्त समझ गये और श्रावक मित्रश्री ने भी विधिपूर्वक प्रतिलाभ देकर तिष्यगुप्त को प्रसन्न किया एव सादर उन्हे गुरु-सेवा मे भेज कर उनको सयम शुद्धि मे सहायता प्रदान की।

महावीर और गोशालक

भगवान् महावीर और गोशालक का वर्षों निकटतम सम्बन्ध रहा है। जैन शास्त्रो के अनुसार गोशालक प्रभु का शिष्य हो कर भी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे रहा है। भगवती सूत्र मे इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। भगवान् ने गोशालक को अपना कुशिष्य कह कर, परिचय दिया है। यहा ऐतिहासिक दृष्टि से गोशालक पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

डॉ० विमलचन्द्र ला ने गोशालक को चित्रकार अथवा चित्रविक्रेता का पुत्र बतलाया है।[१] कुछ इतिहास लेखको ने मखलि का अर्थ बास की लाठी ले कर चलने वाला साधु किया है, पर उपलब्ध प्रमाणो के प्रकाश मे प्रस्तुत कथन प्रमाणित नही होता। वास्तव मे गोशालक का पिता मखलि – मख था। मख का अर्थ चित्रकार या चित्रविक्रेता नही होता। मख केवल शिव का चित्र दिखला कर अपना जीवनयापन करता था।[२] कारपेंटियर ने भी अपना यही मत प्रकट किया है।[३]

जैन सूत्रो मे गोशालक के साथ मखलि-पुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो गोशालक के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भगवती

---

[१] इन्डोलोजिकल स्टडीज सैकिंड, पेज २४५॥

[२] डिक्श० आफ पेटी प्रोपर नेम्स पार्ट १, पेज ४०।

[३] (क) केदारपट्टिक, पृ० २४।१।
(ख) हरिभद्रीय आव० वृ०, पृ० २४१।

सूत्र की टीका में कहा है – "चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा"। इसके अनुसार मंख का अर्थ चित्र-पट्ट हाथ मे रख कर जीविका चलाने वाला होता है। पूर्व समय मे मख एक जाति थी, जिसके लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ मे रख कर अपनी जीविका चलाते थे। आज भी 'डाकोत' जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र दिखा कर जीविका चलाते है।

गोशालक का नामकरण

गोशालक के नामकरण के सम्बन्ध मे भगवती सूत्र मे स्पष्ट निर्देश मिलता है। वहा कहा गया है कि 'मख' जातीय मखली गोशालक का पिता था और भद्रा माता थी। मखली की गर्भवती भार्या भद्रा ने 'सरवरण' ग्राम के गोवहुल ब्राह्मण की गोशाला मे जहा कि मखली जीविका के प्रसग से चलते चलते पहुँच गया था, बालक को जन्म दिया। इसलिए उसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मखलि का पुत्र होने से वह मंखलि-पुत्र और गोशाला मे जन्म लेने के कारण गोशालक[1] कहलाया। बड़ा होने पर चित्रफलक हाथ मे ले कर गोशालक मंखपने से विचरने लगा।

त्रिपिटक मे आजीवक नेता को मंखलि गोशालक कहा गया है। उसके मखलि नामकरण पर बौद्ध परम्परा मे एक विचित्र कथा प्रचलित है। उसके अनुसार गोशालक एक दास था। एक बार वह तेल का घडा उठाये आगे आगे चल रहा था और पीछे पीछे उसका मालिक। मार्ग मे आगे फिसलन होने से मालिक ने कहा – 'तात मखलि! तात मखलि! अरे स्खलित मत होना, देख कर चलना' किन्तु मालिक के द्वारा इतना सावधान करने पर भी गोशालक गिर गया, जिससे घड़े का तेल भूमि पर वह चला। गोशालक स्वामी के डर से भागने लगा तो स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। फिर भी वह वस्त्र छोड़ कर नगा ही भाग चला। तब से वह नग्न साधु के रूप मे रहने लगा और लोग उसे[2] माखलि कहने लगे।

व्याकरणकार 'पाणिनि' और भाष्यकार पतजलि ने 'मखलि' का शुद्ध रूप 'मस्करी' माना है। "मस्कर मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयो" ६।१।२५४ मे मस्करी का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है। भाष्यकार का कहना है कि मस्करी वह साधु नही जो हाथ मे मस्कर या वास की लाठी ले कर चलता है, किन्तु मस्करी वह है जो कर्म मत करो का उपदेश देता है और कहता है –"शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"[3]

---

[1] भगवती सूत्र, श० १५।१।

[2] (क) आचार्य बुद्धघोष, धम्मपद अट्ठकथा १।१४३
(ख) मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, १।४२२।

[3] न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजक । किं तर्हि माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्व श्रेयमीत्याहातो मस्करी परिव्राजक ॥ [पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४]

यहा गोशालक का नाम स्पष्ट नही होने पर भी दोनो का अभिमत उसी ओर सकेत करता है। लगता है, गोशालक जब समाज मे एक धर्माचार्य के रूप से विख्यात हो चुका, तब 'कर्म मत करो' की व्याख्या प्रचलित हुई, जो उसके नियतिवाद की ओर इशारा करती है।

आचार्य गुणचन्द्र रचित 'महावीर चरिय' मे गोशालक की उत्पत्ति विषयक सहज ही विश्वास कर लेने और मानने योग्य रोचक एव सुसंगत विवरण मिलता है। उसमे गोशालक के जीवनचरित्र का भी पूर्णरूपेण परिचय उपलब्ध होता है, इस दृष्टि से आचार्य गुणचन्द्र द्वारा दिये गये गोशालक के विवरण का अविकल अनुवाद यहा दिया जा रहा है :-

"उत्तरापथ मे सिलिन्ध नाम का सन्निवेश था। वहा केशव नाम के एक ग्रामरक्षक की शिवा नाम की प्राणप्रिया एव विनीता पत्नी की कुक्षि से मख नामक एक पुत्र का जन्म हुआ। क्रमश वह मख युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मख अपने पिता के साथ स्नानार्थ एक सरोवर पर गया और स्नान करने के पश्चात् एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहा बैठे-बैठे मख ने देखा कि एक चक्रवाक-युगल परस्पर प्रगाढ प्रेम से लबालब भरे हृदय से अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाए कर रहा है। कभी तो वह चक्रवाक-मिथुन अपनी चचुओ से कुतरे गये नवीन ताजे पद्मनाल के टुकडे की छीना-झपटी करके एक दूसरे के प्रति अपने प्रणय को प्रकट करता था तो कभी सूर्य के अस्त हो जाने की आशंका से एक दूसरे को अपने प्रगाढ आलिगन मे जकड लेता था तो कभी जल मे अपने प्रतिबिम्ब को देख कर विरह की आशका से त्रस्त हो निष्कपट भाव से एक दूसरे को अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए मधुर प्रेमालाप मे आत्मविभोर हो जाता था।

चक्रवाक-युगल को इस प्रकार प्रेमकेलि मे खोये हुए जानकर काल की तरह चुपके से सरकते हुए शिकारी ने आकर्णान्त धनुष की प्रत्यचा खीच कर उन पर तीर चला दिया। दैव सयोग से वह तीर चकवे के लगा और वह उस प्रहार से मर्माहत हो छटपटाने लगा। चक्रवाक की तथाविध व्यथा को देखकर चकवी ने क्षण भर विलाप कर प्राण त्याग दिये। मुहूर्त भर बाद चकवा भी कालधर्म को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार चकवे और चकवी की यह दशा देख कर मख की आखे मुँद गई और वह मूच्छित हो कर धरणितल पर गिर पडा। जब केशव ने यह देखा तो वह विस्मित हो सोचने लगा कि यह अकल्पित घटना कैसे घटी। उसने शीतलोपचारो से मख को आश्वस्त किया और थोडी देर पश्चात् मख की मूर्च्छा दूर होने पर केशव ने उससे पूछा – "पुत्र ! क्या किसी वात दोष से, पित्त दोष से अथवा और किसी शारीरिक दुर्वलता के कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है जिससे कि तुम चेष्टा-रहित हो बडी देर तक मूच्छित पडे रहे ? क्या कारण है, सच सच बतलाओ ?"

मख ने भी अपने पिता की बात सुनकर दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कहा – "तात ! इस प्रकार के चक्रवाक-युगल को देख कर मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। मैंने पूर्वजन्म मे मानसरोवर पर इसी प्रकार चक्रवाक के मिथुन रूप से रहते हुए एक भील द्वारा छोडे गये बाण से अभिहत हो विरह-व्याकुला चकवी के साथ मरण प्राप्त किया था और तत्पश्चात् मैं आपके यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ हूँ। इस समय मै स्मृतिवश अपनी उस चिरप्रणयिनी चकवी के विरह को सहने मे असमर्थ होने के कारण बड़ा दुखी हूँ।"

केशव ने कहा – "वत्स ! अतीत दु ख के स्मरण से क्या लाभ ? कराल काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-संयोग से सुखी नही देख सकता। जैसे कि कहा भी है :–

"स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दु ख से संतप्त होकर मूर्च्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते है, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी जिनका चर्म से मढा हुआ शरीर सभी आपित्तियों का घर है, उनके दु.खो की गणना ही क्या है ? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान मे रखकर यथोचित व्यवहार करो। क्योकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है। इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह ससार असार है, जहा जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बडे-बड़े दु.ख हैं।"

इस प्रकार विविध हेतुओ और युक्तियो से मख को समझा कर केशव किसी तरह उसे घर ले गया। घर पर पहुच कर भी मख विना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणितल की ओर निगाह गडाये, किसी वडे योगी की तरह निष्क्रिय हो कर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा।

मख की ऐसी दशा देख कर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कही कोई छलना-विकार तो नही है, इस विचार से तान्त्रिक लोगो को बुलाकर उन्हे उसे दिखाया। मख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया पर सब निरर्थक।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुप आया और केशव के घर पर ठहरा। उसने जब मख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा – "भद्र ! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यों दिख रहा है ?"

केशव ने उस वृद्ध पुरुप को सारी स्थिति से अवगत किया। वृद्ध पुरुप ने पूछा – "क्या तुमने इस प्रकार के दोप का कोई प्रतिकार किया है ?"

केशव ने उत्तर दिया – "इसे वडे-वडे निष्णात मान्त्रिको और तान्त्रिको को दिखाया है।"

वृद्ध ने कहा – "यह सभी उपक्रम व्यर्थ है, प्रेम के ग्रह से ग्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे ?" कहा भी है –

"भयकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने मे कुशल, सिह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तंभन करने में प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने मे सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने में समर्थ नही होते ।"

केशव ने पूछा – "तो फिर अब इसका क्या किया जाय ?"

वृद्ध ने उत्तर दिया – "यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशवी दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को एक चित्रपट पर अकित करवा लो, जिसमे यह दृश्य अंकित हो कि भील ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पडा, चकवी उस चकवे की इस दशा को देख कर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी मर गया ।"

"इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मख को दो जिसे लिये-लिये यह मख ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह विधिवशात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक पर अकित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति से इसके साथ लग जाय ।"

"प्राचीन शास्त्रों मे इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते हैं। इस उपाय से आशा का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा ।"

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा – "आपकी बुद्धि की पहुंच बहुत ठीक है। आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषो को छोड़कर इस प्रकार के विषम अर्थ का निर्णय कौन जान सकता है ?"

इस प्रकार वृद्ध की प्रशसा कर केशव ने मंख से सब हाल कहा। मख बोला – "तात! इसमें क्या अनुचित है ? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा दीजिये । कुविकल्पो की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही उपक्रम उचित है ।"

मख के अभिप्राय को जान कर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन का चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग मे जीवन-निर्वाह हेतु सबल के रूप मे द्रव्य मख को प्रदान किया ।

मख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ ले कर ग्राम, नगर सन्निवेशादि मे बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत हो घूमने लगा। मख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-चतुष्क एव चौराहो पर ऊचा कर के दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट के विषय मे उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा कह कर वह लोगो को चित्रफलक पर अकित चक्रवाक-मिथुन की ओर इगित कर कहता – "देखो मानसरोवर के तट पर

परस्पर प्रेमकेलि मे निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा छोडे गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से विछुड गया। इस समय यह प्रियमिलन के लिये छटपटा रहा है।"

मंख के मुख से इस प्रकार की कथा सुन कर कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते, कुछ भला वुरा कहते तो कुछ उस पर दयार्द्र हो अनुकम्पा करते।

इस प्रकार मख भी अपने कार्यसाधन मे दत्तचित्त हो घूमता हुआ चम्पा नगरी पहुचा। उसका पाथेय समाप्त हो चुका था अत' जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन न देख मख उसी चित्रफलक को अपनी वृत्ति का आधार वना कर गाने गाता हुआ भिक्षार्थ घूमने लगा और उस भिक्षाटन के कार्य से क्षुधा-शान्ति एवं अपनी प्रेयसी की तलाश, ये दोनो कार्य करने लगा।

उसी नगर मे मखली नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह वाणिज्य कला से नितान्त अनभिज्ञ, नरेन्द्र सेवा के कार्य मे अकुशल, कृषि कार्यों मे सामर्थ्यहीन एवं आलसी तथा अन्य प्रकार के प्राय. सभी सामान्य कष्टसाध्य कार्यो को करने मे भी अविचक्षण था। साराश यह कि वह केवल भोजन का भाण्ड था। वह निरन्तर इसी उपाय की टोह मे रहता था कि किस प्रकार वह आसानी से अपना निर्वाह करे। एक दिन उसने मख को देखा कि वह केवल चित्रपट को दिखाकर प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है।

उसे देखकर मखली ने सोचा – "अहो! इसकी यह वृत्ति कितनी अच्छी है जिसे कभी कोई चुरा नही सकता। नित्यप्रति दूध देने वाली कामधेनु के समान, विना पानी के धान्यनिष्पत्ति की तरह यह एक क्लेशरहित महानिधि है। चिरकाल से जिस वस्तु की मैं चाह कर रहा था उसकी प्राप्ति से मैं जीवन पा चुका हू। यह बहुत ही अच्छा उपाय है।"

ऐसा सोच कर वह मख के पास गया और उसकी सेवा करने लगा। उसने उससे कुछ गाने सीखे और अपने पूर्वभव की भार्या के विरह-वज्र से जर्जरित हृदय वाले उस मख की मृत्यु के पश्चात् मंखली अपने आपको सारभूत तत्त्व का ज्ञाता समझते हुए वडे विस्तृत विवरण के साथ वैसा चित्रफलक तैयार करवाकर अपने घर पहुचा।

मखली ने अपनी गृहिणी से कहा – "प्रिये! अव भूख के सिर पर वज्र मारो और विहार – यात्रा के लिये स्वस्थ हो जाओ।"

मखली की पत्नी ने उत्तर दिया – "मैं तो तैयार ही हू, जहा आपकी रुचि हो वही चलिये।"

चित्रफलक ले कर मखली अपनी पत्नी के साथ नगर से निकल पडा और मंखवृत्ति से देशातर मे भ्रमण करने लगा। लोग भी उसे आया देखकर पहले देखे हुए मख के खयाल से "मख आ गया, यह मख आ गया" इस तरह कहने लगे।

इस प्रकार मख द्वारा उपदिष्ट पासड व्रत मे सवद्ध होने के कारण वह मखली मख कहलाया।

अन्यदा मख परिभ्रमण करते हुए सरवण ग्राम मे पहुचा और गोवहुल ब्राह्मण की गोशाला मे ठहरा। गोशाला मे रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला मे उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया।

अनुक्रम से बढता हुआ गोशालक वाल्यवय को पूर्ण कर तरुण हुआ। वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था अत. सहज मे ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा मे नही चलता और सीख देने पर द्वेप करता। सम्मानदान से सतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूँछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता। विना थके वोलते ही रहने वाले, कूड़ - कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशक हो जाते।

मा के द्वारा यह कहने पर – "हे पाप! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ मे वहन किया और वडे लाड प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी वात क्यो नही मानता ?" गोशालक उत्तर मे यह कहता – "अम्ब! तू मेरे उदर मे प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूंगा।"

जव तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नही कर लेता तव तक उसे खुल कर भोजन करने की इच्छा नही होती। निश्चित रूप से सारे दोप-समूहो से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् मे उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नही होता था।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सव लोगो को अपने से पराड्मुख कर लिया था। लोग उसको दुष्टजनो मे प्रथम स्थान देने लगे। विप-वृक्ष और दृष्टिविप वाले विपधर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयकर प्रतीत होने लगा।

किसी समय पिता के साथ खूव लड-झगड़ कर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला मे चला आया जहा भगवान् महावीर विराजमान थे।

[महावीर चरिय (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

जैनागमो की मौलिकता

इस विपय मे जैनागमो का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मखलि का पुत्र वतलाने के साथ गोशाला मे उत्पन्न होना भी कहा है। पाणिनि कृत – "गोशालाया जातो गोशाल" इस व्युत्पत्ति से भी इस कथन की पुष्टि होती है। वौद्ध आचार्य वुद्धघोप ने 'सामन्न फलसुत्त' की टीका मे गोशालक का जन्म

गोशाला मे हुआ माना है।[1] इतिहास-लेखको ने पाणिनि का काल ई० पूर्व ४०० से ई० पूर्व ४१० माना है।[2] गोशालक के निधन और पाणिनि के रचनाकाल मे लगभग एक सौ बयालीस वर्ष का अन्तर है। सभव है, गोशालक-मत के उत्कर्ष-काल मे यह व्याख्या की गई हो।

गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय मे प्रमुख स्थान रहा है। कुछ विद्वानो ने उसे आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी वताया है। पर सही वात यह है कि आजीवक सम्प्रदाय गोशालक के पूर्व से ही चला आ रहा था। जैनागम एवं त्रिपिटक मे गोशालक की परम्परा को आजीवक या आजीविक कहा है। दोनों का अर्थ एक ही है। प्रतिपक्ष द्वारा निर्धारित इस नाम की तरह वे स्वयं इसका क्या अर्थ करते होगे, यह स्पष्ट नही होता। हो सकता है, उन्होने इसका शुभरूप स्वीकार किया हो।

डॉ० बरुआ ने आजीविक के सम्वन्ध में लिखा है कि यह ऐसे सन्यासियो की एक श्रेणी है, जिनके जीवन का आधार भिक्षावृत्ति है, जो नग्नता को अपनी स्वच्छता एवं त्याग का वाह्य चिह्न वनाये हुए है, जिनका सिर मुडा हुआ रहता है और जो हाथ मे वांस के डडे रखते है। इनकी मान्यता है कि जीवन-मरण, सुख-दुःख और हानि-लाभ यह सव अनतिक्रमणीय है, जिन्हे टाला नही जा सकता। जिसके भाग्य मे जो लिखा है, वह होकर ही रहता है।

गोशालक का महावीर से सम्पर्क

साधना के दूसरे वर्षावास मे जव भगवान् महावीर राजगृह के वाहर नालन्दा मे मासिक तप के साथ चातुर्मास कर रहे थे, उस समय गोशालक भी हाथ मे परम्परानुकूल चित्रपट लेकर ग्राम-ग्राम घूमता हुआ प्रभु के पास तन्तुवाय शाला मे आया। अन्य योग्य स्थान न मिलने के कारण उसने भी उसी तन्तुवाय शाला मे चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया।

भगवान् महावीर ने प्रथम मास का पारणा 'विजय' गाथापति के यहा किया। विजय ने वडे भक्तिभाव से प्रभु का सत्कार किया और उत्कृष्ट अशन-पान आदि से प्रतिलाभ दिया। त्रिविध-त्रिकरण शुद्धि से दिये गये उसके पारण-दान की देवो ने महिमा की, उसके यहा पच-दिव्य प्रकट हुए। क्षण भर मे यह अद्भुत समाचार अनायास नगर भर मे फैल गया और दृश्य देखने को जन-समूह उमड पडा। मखलिपुत्र गोशालक भी भीड के साथ चला आया और द्रव्य-वृष्टि आदि आश्चर्यजनक दृश्य देखकर दग रह गया। वह वहा से लौट कर भगवान् महावीर के पास आया और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके वोला—"भगवन्! आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं। मैंने मन मे भली-भाति

---

[1] सुमगल विलासिनी (दीर्घनिकाय अट्ठकहा) पृ० १४३-४४

[2] वासुदेवशरण अग्रवाल। पाणिनिकालीन भारतवर्ष।

सोचकर ऐसा निश्चय किया है। मुझे अपनी चरण-शरण में लेकर सेवा का अवसर दें।" प्रभु ने सहज में उसकी बात सुन ली और कुछ उत्तर नहीं दिया।

भगवान् महावीर के चतुर्थ मासिक तप का पारणा नालन्दा के पास 'कोल्लाग' गाव में 'बहुल' ब्राह्मण के यहा हुआ था। गोशालक की अनुपस्थिति मे भगवान् गोचरी के लिये बाहर निकले थे अत: गोशालक जब पुन: तन्तुवाय-शाला मे आया तो वहा प्रभु को न देख कर उसने सारी राजगृही छान डाली मगर प्रभु का कुछ पता नही लगा। अन्त मे हार कर उदास मन से वह तन्तुवाय-शाला मे लौट आया और अपने वस्त्र, पात्र, जूते आदि ब्राह्मणों को बाट कर स्वय दाढी मूछ मुडवा कर प्रभु की खोज मे कोल्लाग सन्निवेश की ओर चल दिया।

शिष्यत्व की ओर

मार्ग मे जन-समुदाय के द्वारा 'बहुल' के यहा हुई दिव्य-वृष्टि के समाचार सुनकर गोशालक को पक्का विश्वास हो गया कि निश्चय ही भगवान् यहा विराजमान है, क्योकि उनके जैसे तपस्तेज की ऋद्धि वाले अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके चरण-स्पर्श के बिना इस प्रकार की दिव्य-वृष्टि संभव नही है। इस तरह अनुमान के आधार पर पता लगाते हुए वह महावीर के पास पहुंच गया।

गोशालक ने प्रभु को सविधि वन्दन कर कहा – "प्रभो! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो इस तरह बिना बताये आप यहां चले आये? मैं आपके बिना अब एक क्षण भी अन्यत्र नही रह सकता। मैंने अपना जीवन आपके चरणो मे समर्पित कर दिया है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ।"

प्रभु ने जब गोशालक के विनयावनत अन्तःकरण को देखा तो उसकी प्रार्थना पर "तथास्तु" की मुहर लगा दी। प्रभु के द्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होने पर वह छ वर्ष से अधिक शिष्य रूप मे भगवान् के साथ विभिन्न स्थानो मे विचरता रहा, जिसका उल्लेख महावीर-चर्या के प्रसंग मे यथास्थान किया जा चुका है।

विरुद्धाचरण

प्रभु के साथ विहार करते हुए गोशालक ने कई बार भगवान् की बात को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे कही भी सफलता नही मिली। दुराग्रह के कारण उसके मन मे प्रभु के प्रति श्रद्धा मे कमी आयी किन्तु वह प्रभु से तेजोलेश्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था अत. उस अवधि तक वह मन मसोस कर भी जैसे-तैसे उनके साथ चलता रहा। अन्ततः एक दिन भगवान् से तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि जानकर वह उनसे अलग हो गया और नियतिवाद का प्रबल प्रचारक एव समर्थक बन गया। कुछ दिनो के बाद उसे कुछ मत-समर्थक साथी या शिष्य भी मिल गये, तब से वह अपने को जिन और केवली भी घोषित करने लगा।

भगवान् जिस समय श्रावस्ती मे विराजमान थे, उस समय गोशालक का जिन रूप से अपना प्रचार जोरो से चल रहा था। गोशालक के जिनत्व के सम्बन्ध मे गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर प्रभु ने कहा – "गौतम ! गोशालक जिन नही, जिन-प्रलापी है।" प्रभु की यह वाणी श्रावस्ती नगरी मे फैल गई। गोशालक ने जब यह बात सुनी तो वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर भला-बुरा कहा और स्वय आवेश में प्रभु के पास पहुचकर रोषपूर्ण भाषा बोलने लगा।

महावीर ने पहले से ही अपने श्रमणो को सूचित कर रखा था कि गोशालक यहा आने वाला है और वह अभद्र वचन बोलेगा अत कोई भी मुनि उससे सभाषण नही करे। प्रभु द्वारा इस प्रकार सावचेत करने के उपरान्त भी गोशालक के अनर्गल प्रलाप और अपमानजनक शब्दो को सुनकर भावावेश मे दो मुनि उससे बोल गये। गोशालक ने क्रुद्ध हो उन पर तेजोलेश्या फेकी, जिससे वे दोनो मुनि काल कर गये। भगवान् द्वारा उद्बोधित किये जाने पर उसने भगवान् को भी तेजोलेश्या से पीड़ित किया। वास्तव मे मूढमति पर किये गये उपदेश का ऐसा ही कुपरिणाम होता है, जैसा कि कहा है – "पय पान भुजंगाना केवल विषवर्धनम् ।" विशेष जानकारी के लिये साधनाकालीन विहारचर्या द्रष्टव्य है।

आजीवक नाम की सार्थकता

गोशालक-परम्परा का आजीवक नाम केवल आजीविका का साधन होने से ही पडा हो ऐसी बात नही है। इस मत के अनुयायी भी विविध प्रकार के तप और ध्यान करते थे। जैसे कि जैनागम स्थानाग मे आजीवको के चार प्रकार के तप बतलाये हैं। कल्प चूर्णि आदि ग्रन्थो मे पाच प्रकार के श्रमणो का उल्लेख है, जिसमे एक औष्ट्रिका श्रमण का भी उल्लेख है। ये मिट्टी के बडे बर्तन मे ही बैठ कर तप करते थे।

उपर्युक्त निर्देशो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जाना कठिन है कि आजीवकमती केवल उदरार्थी होते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आत्मवादी, निर्वाणवादी और कष्टवादी होकर भी कट्टर नियतिवादी थे। उनके मत मे पुरुषार्थ कुछ भी कार्यसाधक नही था फिर भी वे अनेक प्रकार के तप और आतापनाये किया करते थे। मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार वे अपनी इस विरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण ही विरोधी लोगो के आक्षेप के पात्र बने। लोग कहने लगे कि ये जो कुछ भी करते है, आजीविका के लिये करते है, अन्यथा नियतिवादी को इसकी क्या आवश्यकता है ?

आजीवक नाम प्रचलित होने के मूल मे चाहे जो अन्य कारण रहे हो पर इस नाम के सर्वमान्य होने का एक प्रमुख कारण आजीविका भी है।

जैनागम भगवती के अनुसार गोशालक निमित्त-शास्त्र का भी अभ्यासी था। वह समस्त लोगो के हानि-लाभ, सुख-दुख एवं जीवन-मरण विषयक भविष्य

बनाने में कुशल और सिद्धहस्त माना जाता था । अपने प्रत्येक कार्य में वह उस ज्ञान की सहायता लेता था। आजीवक लोग इस विद्या के बल से अपनी सुख-सामग्री जुटाया करते थे । इनके द्वारा वे सरलता से अपनी आजीविका चलाते । यही कारण है कि जैन शास्त्रों में इस मत को आजीवक और लिंगजीवी कहा है ।

इस तरह नियतिवादी होकर भी विविध क्रियाओं के करने और आजीविका के लिये निमित्त विद्या का उपयोग करने से वे विरोधियों, खासकर जैनों द्वारा 'आजीवक' नाम से प्रसिद्ध हुए हों, यह संगत प्रतीत होता है ।

आजीवक-चर्या

'मज्झिमनिकाय' के अनुसार निर्ग्रन्थों के समान आजीवकों की जीवन-चर्या के नियम भी कठोर बताये गये हैं। 'मज्झिमनिकाय' में आजीवकों की भिक्षाचरी का प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है – "गांवों-नगरों में आजीवक साधु होते हैं, उनमें से कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से, यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते हैं। संसार-शुद्धि की दृष्टि से जैनों के चौरासी लाख जीव-योनि के सिद्धान्त की तरह वे चौरासी लाख महाकल्प का परिमाण मानते हैं । छः लेश्याओं की तरह गोशालक ने छः अभिजातियों का निरूपण किया है, जिनके कृष्ण, नील, आदि नाम भी बराबर मिलते हैं ।"

भगवती में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का संक्षिप्त परिचय मिलता है, जो इस प्रकार है :–

"गोशालक के उपासक अरिहन्त को देव मानते, माता-पिता की सेवा करते, गूलर, बड़, बेर, अंजीर, एवं पिलखु इन पांच फलों का भक्षण नहीं करते, बैलों को लांछित नहीं करते, उनके नाक, कान का छेदन नहीं करते एवं जिससे त्रस प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते थे ।[1]

आजीवक मत का प्रवर्तक

अभी तक बहुत से जैन-अजैन विद्वान् गोशालक को आजीवक मत का संस्थापक मानते आ रहे हैं । जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक नियतिवाद का समर्थक और आजीवक मत का प्रमुख आचार्य रहा है किन्तु कहीं भी उसका इस मत के संस्थापक के रूप में नामोल्लेख नहीं मिलता ।

जैन शास्त्रों में जो अन्य तीर्थों के चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें नियतिवाद का स्थान गौण है। इससे महावीर के समय में "नियतिवादी"

---

[1] [illegible] अरिहंत देवतागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफल-पडिक्कंता, [illegible]

संघ पूर्व से ही प्रचलित होना प्रमाणित होता है। बौद्धागम 'विनयपिटक' मे बुद्ध के साथ एक 'उपक' नाम के आजीवक भिक्षु के मिलने की बात आती है। यदि आजीवक मत की स्थापना गोशालक से मानी जाय तो उसका मिलना सभव नही होता क्योकि महावीर की बत्तीस वर्ष की वय मे जब पहले पहल गोशालक उनसे मिला तब वह किशोरावस्था में पन्द्रह सोलह वर्ष का था। जिस समय वह महावीर के साथ हुआ, उस समय प्रव्रज्या के दो वर्ष हो चुके थे। इसके बाद उसने नौवे वर्ष मे पृथक् हो, श्रावस्ती मे छ माह तक आतापना ले कर तेजोलेश्या प्राप्त की। फिर निमित्त शास्त्र का अध्ययन कर वह आजीवक सघ का नेता बन गया। निमित्त ज्ञान के लिये कम से कम तीन-चार वर्ष का समय माना जाय तो गोशालक द्वारा आजीवक सघ का नेतृत्व ग्रहण करना लगभग महावीर के तीर्थंकरपद-प्राप्ति के समय हो सकता है। ऐसी स्थिति में बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होने के समय गोशालक के मिलने की बात ठीक नही लगती। फिर बौद्ध ग्रन्थ "दीर्घ निकाय" और मज्झिम निकाय में मखलि गोशालक के अतिरिक्त "किस्स सकिच्च" ओर "नन्दवच्छ" नाम के दो और आजीवक नेताओ के नाम मिलते है। इससे यह अनुमान होता है कि गोशालक से पूर्व ये दोनो आजीवक भिक्षु थे। इन्होने आजीवक मत स्वीकार करने के बाद गोशालक को लब्धिधारी और निमित्त शास्त्र का ज्ञाता जान कर सघ का नायक बना दिया हो, यह संभव है।

आजीवक मत की स्थापना का स्पष्ट निर्देश नही होने पर भी गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त से यह अनुमान लगाया जाता है कि उदायी कुडियायन आजीवक सघ का आदिप्रवर्तक हो, जो गोशालक के स्वर्गवास से १३३ वर्ष पूर्व हो चुका था। गोशालक के सम्बन्ध मे इन वर्षों मे काफी गवेषणा हुई है। पूर्व और पश्चिम के विद्वानो ने भी बहुत कुछ नयी शोध की है, फिर भी यह निश्चित है कि गोशालक विषयक जो सामग्री जैन और बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ विद्वान् इस बात को भूल कर मूल से ही विपरीत सोचते है। उनका कहना है कि जैन दृष्टि गोशालक को महावीर के ढोगी शिष्यों मे से एक मानती है पर वास्तव मे ऐसी बात नही है। डॉ० बरुआ ने अपनी इस धारणा की पृष्ठभूमि मे माना है कि – महावीर पहले तो पार्श्वनाथ के पथ मे थे, किन्तु एक वर्ष बाद वे अचेलक हुए, तब अचेलक पथ मे चले गये।[1] इन्होने यह भी माना है कि गोशालक को महावीर से दो वर्ष पूर्व ही जिनत्व प्राप्त हो गया। उनके ये सब विचार कल्पनाश्रित है, फिर भी साधारण विचारको पर उनका प्रभाव होना सहज है। जैसा कि गोपालदास जीवाभाई पटेल ने बरुआजी के ग्रन्थ से प्रभावित हो कर लिखा – "जैन सूत्रो मे गोशालक के विषय मे जो परिचय मिलता है, उसमे उसको चरित्र-भ्रष्ट तथा महावीर

---

[1] महावीर नो सयम धर्म (सूत्र कृताग का गुजराती सस्करण), पृ० ३४।

का शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया है कि उन लेखो को आधारभूत मानने को मन ही नही मानता।[1]

वास्तव मे गोपालदास ने जैन सूत्रो के भाव को नही समझा, वे पश्चिमी विचार के प्रभाव मे ऐसा लिख गये। असल मे जैन और बौद्ध परम्पराओ से हट कर यदि इसका अन्वेषण किया जाय तो सभव है कि गोशालक नाम का कोई व्यक्ति ही हमे न मिले। जब हम कुछ आधारो को सही मानते हैं, तब किसी कारण से कुछ अन्य को असत्य मान ले, यह उचित प्रतीत नही होता। भले ही जैन और बौद्ध आधार किसी अन्य भाव या भाषा मे लिखे गये हो फिर भी वे हमे मान्य होने चाहिये। क्योकि वे निर्हेतुक नही है, निर्हेतुक होते तो दो भिन्न परम्पराओ के उल्लेख मे एक दूसरे का समर्थन एव साम्य नही होता। यदि जैन आगम उसे शिष्य बतलाते और बौद्ध व आजीवक शास्त्र उसे गुरु लिखते तो यह शका उचित हो सकती थी, पर वैसी कोई स्थिति नही है।

जैन शास्त्र की प्रामाणिकता

जैन आगमो के एतद्विषयक वर्णनो को सर्वथा आक्षेपात्मक समझ बैठना भी भूल होगा। जैन शास्त्र जहा गोशालक एव आजीवक मत की हीनता व्यक्त करते है, वहा वे गोशालक को अच्युत स्वर्ग तक पहुचा कर मोक्षगामी भी बतलाते है, साथ ही उनके अनुयायी भिक्षुओ को अच्युत स्वर्ग तक पहुंचने की क्षमता देकर गौरव प्रदान करते हैं।[2] एकागी विरोध की ही दृष्टि होती तो उस मे ऐसा कभी सभव नही होता।

आजीवक वेष

विभिन्न मतावलम्बियों के विभिन्न प्रकार के वेष होते है। कोई धातु रक्ताम्बर धारण करता है तो कोई पीताम्बर किन्तु आजीवक के किसी विशेष वेष का उल्लेख नही मिलता। बौद्ध शास्त्रो में भी आजीवक भिक्षुओ को नग्न ही बताया है, वहा उनके लिये अचेलक शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके लिंग-धारण पर महावीर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है क्योकि वह जब नालन्दा की तन्तुवायशाला मे भगवान् महावीर से प्रथम बार मिला तब उसके पास वस्त्र थे। पर चातुर्मास के बाद जब भगवान् महावीर नालन्दा से विहार कर गये तब वह भी वस्त्रादि ब्राह्मणो को देकर मुडित हो कर महावीर की खोज मे निकला और कोल्लाग सन्निवेश मे उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

आजीवको के आचार के सम्बन्ध का वर्णन मज्झिम निकाय मे मिलता है। वहा छत्तीसवें प्रकरण मे निग्रन्थ सघ के साधु "सच्चक" के मुख से यह बात निम्न प्रकार से कहलाई गई है –

---

[1] आगम और त्रिपिटक – एक अनुशीलन, पृ० ४४-४५।

[2] भगवती श०, श० १५, सू० ५५६, पत्र ५८८ (१)।

"वे सब वस्त्रो का परित्याग करते है, शिष्टाचारों को दूर रख कर चलते है, अपने हाथो मे भोजन करते है, आदि।" "दीर्घ निकाय" मे भी कश्यप के मुख से ऐसा स्पष्ट कहलाया गया है।

महावीर का प्रभाव

गोशालक की वेष-भूषा और आचार-विचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस पर भगवान् महावीर के आचार का पूर्ण प्रभाव था। "मज्झिम निकाय" मे आजीवको के आचार का निम्न परिचय मिलता है :-

"वे भिक्षा के लिये अपने आने अथवा राह देखने सम्बन्धी किसी की बात नही सुनते, अपने लिये बनवाया आहार नही लेते, जिस बर्तन मे आहार पकाया गया हो, उसमे से उसे नही लेते, देहली के बीच रखा हुआ, ओखली मे कूटा हुआ और चूल्हे पर पकता हुआ भोजन ग्रहण नही करते। एक साथ भोजन करने वाले युगल से तथा सगर्भा और दुधमुंहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नही लेते। जहा आहार कम हो, जहां कुत्ता खड़ा हो और जहा मक्खिया भिनभिनाती हो, वहा से आहार नही लेते। मत्स्य, मास, मदिरा, मैरेय और खट्टी काजी को वे स्वीकार नही करते.. ..। कोई दिन मे एक बार, कोई दो-दो दिन बाद एक बार, कोई सात-सात दिन बाद एक बार और कोई पन्द्रह-पन्द्रह दिन बाद एक बार आहार करते है। इस प्रकार नाना प्रकार के वे उपवास करते है।"

इस प्रकार का आचार निग्रन्थ परम्परा के अतिरिक्त नही पाया जाता। इस उल्लेख से गोशालक पर महावीर के आचार का स्पष्ट प्रभाव कहे बिना नही रहा जा सकता।

निग्रन्थो के भेद

आजीवक और निग्रन्थो के आचार की आशिक समानता देखकर कुछ विद्वान् सोचते है कि इन दोनो के आचार एक हैं, परन्तु वास्तव मे दोनो परम्पराओ के आचार मे मौलिक अन्तर भी है। "मज्झिम निकाय" में जो भिक्षा के नियम बतलाये हैं, संभव है वे सभी आजीवकों द्वारा नही पाले जा कर कुछ विशिष्ट आजीवक भिक्षुओ द्वारा ही पाले जाते हो। मूल मे निग्रन्थ और आजीवको के आचार मे पहला भेद सचित्त-अचित्त सम्बन्धी है। जहा निग्रन्थ परम्परा मे सचित्त का स्पर्श तक भी निषिद्ध माना जाता है, वहा आजीवक परम्परा मे सचित्त फल, बीज और शीतल जल ग्राह्य बताया गया है। अत कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उनमे उग्र तप करने वाले थे, वैसे शिथिलता का प्रवेश भी चरम सीमा पर पहुंच चुका था।

आर्द्रक कुमार के प्रकरण मे आजीवक भिक्षुओ के अब्रह्म सेवन का भी उल्लेख है। इसे केवल आक्षेप कहना भूल होगा क्योकि जैनागम के अतिरिक्त

बौद्ध शास्त्र से भी आजीवको के अब्रह्म-सेवन की पुष्टि होती है।[1] वहा पर निग्रथ ब्रह्मचर्यवास मे और आजीवक अब्रह्मचर्यवास मे गिनाये गये हैं।[2]

गोशालक ने बुद्ध, मुक्त और न बद्ध न मुक्त ऐसी तीन अवस्थाए बतलाई है। वे स्वय को मुक्त – कर्मलेप से परे मानते थे। उनका कहना था कि मुक्त पुरुष स्त्री-सहवास करे तो उसे भय नही।[3] इन लेखो से स्पष्ट होता है कि आजीवको मे अब्रह्म-सेवन को दोष नही माना जाता था।

आजीवक का सिद्धान्त

आजीवक परम्परा के धार्मिक सिद्धान्तो के विषय मे कुछ जानकारी जैन और बौद्ध सूत्रो से प्राप्त होती है। गोशालक ने अपने धार्मिक सिद्धान्त के विषय मे भगवान् महावीर के समक्ष जो विचार प्रकट किये, उनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवे शतक मे उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आजीवको के नियतिवाद का भी विभिन्न सूत्रो मे उल्लेख मिलता है। उपासक दशांग सूत्र के छट्ठे और सातवे अध्ययन मे नियतिवाद की चर्चा है। वहा कहा गया है कि गोशालक मखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति इसलिये सुन्दर है कि उसमे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम आदि आवश्यक नही, क्योकि उसके मत मे सब भाव नियत है। और महावीर के मत मे सब भाव अनियत होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम की आवश्यकता मानी गई है। बौद्ध सूत्र दीर्घ निकाय मे भी इससे मिलता जुलता सिद्धान्त बतलाया गया है, यथा – प्राणियो की भ्रष्टता के लिये निकट अथवा दूर का कोई कारण नही है। वे बिना निमित्त या कारण के ही पवित्र होते हैं। कोई भी अपने या पर के प्रयत्नो पर आधार नही रखता। यहा कुछ भी पुरुष-प्रयास पर अवलम्बित नही है, क्योकि इस मान्यता मे शक्ति, पौरुष अथवा मनुष्य-बल जैसी कोई वस्तु नही है।" प्रत्येक सविचार उच्चतर प्राणी, प्रत्येक सेन्द्रिय-वस्तु, अधमतर प्राणी, प्रत्येक प्रजनित वस्तु (प्राणिमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु – सर्व वनस्पति बलहीन, प्रभावहीन एवं शक्तिहीन है। इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाए विधिवश या स्वभाव-वश होती हैं और षड्वर्गो मे से एक अथवा दूसरे की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख-दु ख के भोक्ता बनते है।

दिगम्बर परम्परा में गोशालक

श्वेताम्बर परम्परा मे गोशालक को भगवान् महावीर का शिष्य बताया गया है किन्तु दिगम्बर परम्परा मे गोशालक का परिचय अन्य प्रकार से मिलता

[1] (क) मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० ५१४।
(ख) एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, डॉ० हार्नले, पृ० २६१।

[2] मज्झिम निकाय, सदक सुत्त, पृ० २३६।

[3] (क) महावीर कथा, गोपालदास पटेल, पृ० १७७।
(ख) श्रीचन्द रामपुरिया, तीर्थंकर वर्द्धमान, पृ० ८३।

है। यहा पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि रूप मे गोशालक का चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि मस्करी गोशालक और पूर्ण काश्यप (ऋषि) महावीर के प्रथम समवशरण मे उपस्थित हुए, किन्तु महावीर की देशना नही होने से गोशालक रुष्ट हो कर चला गया। कोई कहते है कि वह गणधर होना चाहता था किन्तु उसे गणधरपद पर नियुक्त नही करने से वह पृथक् हो गया। पृथक् हो कर वह सावत्थी मे आजीवक सम्प्रदाय का नेता बना और अपने को तीर्थंकर कहने लगा। उसने कहा - "ज्ञान से मुक्ति नही होती, अज्ञान ही श्रेष्ठ है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। देव या ईश्वर कोई नही हैं। अत स्वेच्छापूर्वक शून्य का ध्यान करना चाहिये।[1]

आजीवक और पासत्थ

आजीवक संप्रदाय का मूल स्रोत श्रमण परम्परा मे निहित है।[2] आजीवको और श्रमणो मे मुख्य अन्तर इस बात का है कि वे आजीविकोपार्जन करने के लिये अपनी विद्या का प्रयोग करते हैं, जब कि जैन श्रमण इसका सर्वथा निषेध करते है।[3] आजीवक मूलत पार्श्वनाथ परम्परा से सम्बन्धित माने गये है। सूत्र कृताग मे नियतिवादी को "पासत्थ" कहा गया है।[4] इस पर से भी कुछ विद्वान् आजीवक को पार्श्वनाथ की परम्परा मे मानने का विचार करते हैं। "पासत्थ" का सस्कृत रूप पार्श्वस्थ होता है, पर उसका अर्थ पार्श्वनाथ की परम्परा करना सगत प्रतीत नही होता। भगवान् महावीर द्वारा तीर्थस्थापन कर लेने पर शिथिलतावश जो उनके तीर्थ मे नही आये, उनके लिये चारित्रिक शिथिलता के कारण पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग हो सकता है। सभव है, महावीर के समय मे कुछ साधुओ ने पार्श्वनाथ की परम्परा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द विहार करना स्वीकार किया हो।

पर पार्श्व शब्द केवल पार्श्व-परम्परा के साधुओ के लिये ही नही, किन्तु जो भी स्नेह-बन्धन मे बद्ध हो या ज्ञानादि के बाजू (पार्श्व – सान्निध्य)

---

[1] मसयरि – पूरणरिसिणो उप्पणो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवसरणे, अगहिय झुणिणा नियत्तेण ॥
वहिणिग्गएण उत्त मज्झ, एयार सागधारिस्स।
णिग्गइ झुणीण अरुहो, णिग्गय विस्सास सीसस्स ॥
ण मुणइ जिणकहिय सुय, सपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा, मोक्ख ण णाणाओ ॥
अण्णाणाओ मोक्ख, एव लोयाण पयडमाणो हु।
देवो अ णत्थि कोई, सुण्ण झाएह इच्छाए ॥

[भावसग्रह, गाथा १७६ से १७८]

[2] हिस्टी एण्ड डोक्टराइन्स आफ आजीवकाज, पृ० ९८।

[3] उत्तराध्ययन सूत्र, ८।१३, १५।७।

[4] सूत्र कृताग, १।१।२ गा० ४ व ५।

मे रहता हो वह चाहे महावीर परम्परा का हो या पार्श्वनाथ परम्परा का हो, उसे "पासत्थ" कह सकते हैं। टीकाकार ने इसका अर्थ "सदनुष्ठानाद् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था"[१] अच्छे अनुष्ठान के बाजू – पार्श्व मे रहने वाले। अथवा "साधु गुणानां पार्श्वे तिष्ठति" किया है।

"पासत्थ" साधुओ की दो श्रेणियां की गई है – सर्वत. पार्श्वस्थ और देशत पार्श्वस्थ। भगवान् महावीर के तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् भी जो ज्ञानादि रत्नत्रयी से विमुख हो कर मिथ्या दृष्टि का प्रचार करने मे लगे रहे, उनको सर्वत. पासत्थ कहा गया है।[२] और जो शय्यातर पिंड, अभिहृत पिड राजपिंड, नित्यपिंड, अग्र पिंड आदि आहार का उपयोग करते हो वे देशत. पासत्थ कहलाये।[३]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार "पासत्थ" का अर्थ पार्श्व-परम्परा के साधु ही करना उचित प्रतीत नही होता, क्योकि "पासत्थ" को शास्त्रो में अवन्दनीय कहा है। जैसा कि – "जै भिक्खू पासत्थ पससति, पसत वा साइज्जइ' के अनुसार उनके लिये वदन प्रशसन भी वर्जित किया गया है, किन्तु पार्श्वनाथ की परम्परा का साधु वन्दनीय रहा है। भगवती सूत्र मे तुगिया नगरी के श्रावको ने आनन्द आदि पार्श्व परम्परा के स्थविरो का वन्दन-सत्कार आदि भक्तिपूर्वक किया है।[४] वे गागेय मुनि आदि की तरह भ० महावीर की परम्परा मे प्रव्रजित भी नही हुए थे। यदि पार्श्वनाथ के सन्तानीय श्रमण आजीवक की तरह "पासत्थ" होते तो जैसे सद्दाल-पुत्त श्रावक ने गोशालक के वन्दन-नमन का परिहार किया, उसी तरह पार्श्वनाथ के साधु तुगिका के श्रावको द्वारा अवदनीय माने जाते, पर ऐसा नही है। अत "पासत्थ" का अर्थ पार्श्वस्थ (पार्श्व परम्परा के साधु) करना ठीक नही। आजीवक को पासत्थ इसलिये कहा है कि वे ज्ञानादि-त्रय को पार्श्व मे रखे रहते है। इसलिये पासत्था कहे जाने से आजीवक गोशालक को पार्श्व-परम्परा मे मानना ठीक नही जचता।

जैनागमो से प्राप्त सामग्री के अनुसार गोशालक को महावीर की परम्परा से सम्बन्धित मानना ही अधिक युक्तियुक्त एव उचित प्रतीत होता है।

---

[१] सूत्र कृताग १ श्रु० ३ अ० ४ उ०

[२] दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होई नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जायर कुलादी ॥२२६।
दसण णाणचरित्ते, सत्थो अन्थति तहिं न उज्जमति।
एएण पासत्थो एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२२८।
पासो त्ति बधण ति य, एगट्ठं बधहेयओ पासा।
पासत्थिओ पासत्थो, आण्णो वि य एस पज्जाओ ॥२२९।
[अभिधान राजेन्द्र पृ० ९११ (व्य० भा०)]।

[३] सेज्जायर कुलनिस्सिय, ठवणकल पलोयणा अभिहडेय।
पुव्वि पच्छा सथव, निइअग्गपिंड, भोइ पासत्थो।२३०।।अभि रा० ९११।

[४] तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासति। भग० सू०, सूत्र १०९॥

महावीरकालीन धर्म-परम्पराएं

भगवान् महावीर के समय में इस देश मे किन धर्म-परम्पराओ का किस रूप में अस्तित्व था, इसको जानने के लिये जैन साहित्य और आगम पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। मूल में धर्म-परम्परा चार भागो मे बाटी गई थी – (१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी।[1] स्थानांग और भगवती मे इन्ही को चार समोसरण के नाम से बतलाया गया है। इनकी शाखा-प्रशाखाओ के भेदो-प्रभेदों का शास्त्रों मे विशद वर्णन उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :

क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२। इस तरह कुल मिला कर पापडी-व्रतियो के ३६३ भेद होते हैं।[2]

१. क्रियावादी

क्रियावादी आत्मा के साथ क्रिया का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इनका मत है कि कर्त्ता के बिना पुण्य-पाप आदि क्रियायें नही होती। वे जीव आदि नव पदार्थों को एकान्त अस्ति रूप से मानते हैं। क्रियावाद के १८० भेद इस प्रकार है.– (१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्त्रव, (६) बंध, (७) सवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष – ये नव पदार्थ है। इनमे से प्रत्येक के स्वतः, परतः और नित्य, अनित्य, काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव रूप भेद करने से १८० भेद होते है।

२. अक्रियावादी

इनकी मान्यता है कि क्रिया-पुण्यादि रूप नही है, क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है और उत्पन्न होते ही विनाश होने से संसार मे कोई भी स्थिर पदार्थ नही है। ये आत्मा को भी नही मानते। इनके ८४ प्रकार हैं :

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्त्रव, (४) सवर, (५) निर्जरा, (६) बंध और (७) मोक्ष रूप सप्त पदार्थ, स्व और पर एवं उनके (१) काल, (२) ईश्वर, (३) आत्मा, (४) नियति, (५) स्वभाव और (६) यदृच्छा–इन छ भेदो से गुणन करने पर चौरासी (८४) होते हैं। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही करने से इनके मत मे नित्य-अनित्य भेद नही माने जाते।[3]

---

[1] (क) सूत्र कृता०, गा० ३०, ३१, ३२।
(ख) स्था० ४।४।३४५ सू०।
(ग) भग०, ३० श०, १ उ०, सू० ८२४।

[2] समवायांग, सू० १३७।

[3] इह जीवाइपयाइं पुन्न पाव विणा ठविज्जति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्दुगं ॥९४

तस्सवि अहो लिहिज्जई काल जहिच्छा य पयदुगसमेयं
नियइ स्सहाव ईसर अप्पत्ति इम पय चउक्क ॥९५॥

[प्रवचन सारोद्धार उत्तरार्द्ध सटीक, पत्र ३४४-२]

३ अज्ञानवादी

इनके मत से ज्ञान मे झगडा होता है, क्योकि पूर्ण ज्ञान तो किसी को होता नही और अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतो की उत्पत्ति होती है। अत. ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है। अज्ञान से ही जगत् का कल्याण है।

इनके ६७ भेद बताये गये हैं। जीवादि ९ पदार्थों के (१) सत्व, (२) असत्व, (३) सदसत्व, (४) अवाच्यत्व, (५) सदवाच्यत्व, (६) असदवाच्यत्व और (७) सदसदवाच्यत्व रूप सात भेद करने से ६३ तथा उत्पत्ति के सत्त्वादि चार विकल्प जोडने से कुल ६७ भेद होते हैं।[1]

४. विनयवादी

विनयपूर्वक चलने वाला विनयवादी कहलाता है। इनके लिंग और शास्त्र पृथक् नही होते। ये केवल मोक्ष को मानते है। इनके ३२ भेद है – (१) सुर, (२) राजा, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) स्थविर, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता। इन सब के प्रति मन, वचन, काया से देश-कालानुसार उचित दान दे कर विनय करे।[2] इस प्रकार ८ को चार से गुणा करने पर ३२ होते हैं। आचाराग मे भी चार वादो का उल्लेख है, यथा – "कायावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।"[3] इसके अतिरिक्त सभाष्य निशीथ चूर्णि मे उस समय के निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिको का भी उल्लेख है :–

(१) आजीवक, (२) ईसरमत, (३) उलूग, (४) कपिलमत, (५) कविल, (६) कावाल, (७) कावालिय, (८) चरग, (९) तच्चन्निय, (१०)

---

[1] सत १ मसत २ सतासत ३ भवत्तव्व ४ सयअवत्तव्व। ५
असय अवत्तव्व ६ सयवत्तव्व ७ च सत्तपया ॥९९
जीवाइ नवपयाण अहोकमेण इमाइ ठविऊण।
जइ कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००
सतो जीवो को जाणइ अहवा किं व तेण नाएण।
सेसपएहिवि भगा इय जाया सत्त जीवस्स।
एवमजीवाईणऽवि पत्तेय सत्त मिलिय ते सट्ठी।
तह अन्नेऽवि हु भगा चत्तारि इमे उ इह हुति।
सती भावुप्पत्ती को जाणइ किं च तीए नायाए।
[वही]

[2] सुर १ निवइ २ जइ ३ नाई ४ थविराड ५ वम ६ माई ७ पहमु ८ एएसि मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो कीरए विणओ ।५७।
अट्ठवि चउक्कगुणिया, वत्तीसा हवति वेणइय भेया।
सव्वेहिं पिंडिएहिं, तिन्नि सया हुति ते सट्ठा ॥
[प्रव० सारो० सटीक, उत्तरार्ध, पत्र ३४४ (२)]

[3] आचा० सटीक, श्रु० १, अ० १, उ० १, पत्र २०।

परिव्वायग, (११) पडरंग, (१२) वोडित, (१३) भिच्छुग, (१४) भिक्खू, (१५) रत्तपड, (१६) वेद, (१७) सक्क, (१८) सरक्ख, (१९) सुतिवादी, (२०) सेयवड़, (२१) सेय भिक्खू, (२२) शाक्यमत, (२३) हट्ठसरक्ख ।[1]

बिम्बसार-श्रेणिक

महाराज श्रेणिक अपर नाम बिम्बसार अथवा भम्भासार इतिहास-प्रसिद्ध शिशुनाग वश के एक महान् यशस्वी और प्रतापी राजा थे। वाहीक प्रदेश के मूल निवासी होने के कारण इनको वाहीक कुल का कहा गया है।

मगधाधिपति महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के भक्त राजाओ मे एक प्रमुख महाराजा थे। इनके पिता महाराज प्रसेनजित पार्श्वनाथ परम्परा के उपासक सम्यग्दृष्टि श्रावक थे।[2] उन दिनो मगध की राजधानी राजगृह नगर मे थी और मगध राज्य की गणना भारत के शक्तिशाली राज्यो मे की जाती थी। श्रेणिक-बिम्बसार जन्म से जैन धर्मावलम्वी होकर भी अपने निर्वासन-काल में जैनधर्म के सम्पर्क से हट गये हो ऐसा जैन साहित्य के कुछ कथा-ग्रन्थो में उल्लेख प्राप्त होता है। इसका प्रमाण है महारानी चेलना से महाराज श्रेणिक का धार्मिक सघर्ष। यदि महाराज श्रेणिक सिंहासनारूढ होने के समय से ही जैन धर्म के उपासक होते तो महारानी चेलना के साथ उनका धार्मिक सघर्ष नही होता।

अनाथी मुनि के साथ हुए महाराज श्रेणिक के प्रश्नोत्तर एव उनके द्वारा अनाथी मुनि को दिये गये भोग-निमन्त्रण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उस समय तक जैन धर्मानुयायी नही थे अन्यथा मुनि को भोग के लिये निमत्रित नही करते। अनाथी मुनि के त्याग, विराग एव उपदेश से प्रभावित होकर श्रेणिक निर्मल चित्त से जैन धर्म मे अनुरक्त हुए।[3] यही से श्रेणिक को जैन धर्म का वोध मिला, यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। जैनागम-दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर जव राजगृह पधारे तव कौटुम्बिक पुरुषों ने आकर श्रेणिक को भगवान् के शुभागमन का शुभ-सवाद सुनाया। महाराज श्रेणिक इस सवाद को सुन कर वडे सतुष्ट एव प्रसन्न हुए और सिंहासन से उठ कर जिस दिशा मे प्रभु विराजमान थे उस दिशा मे सात-आठ पैर (पद) सामने जाकर उन्होंने प्रभु को वन्दन किया। तदनन्तर वे महारानी चेलना के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने गये और भगवान् के उपदेशामृत का पान कर वडे प्रमुदित हुए। उस समय महाराज श्रेणिक एवं महारानी चेलना के अलौकिक सौंदर्य को देख कर कई साधु-साध्वियो ने नियाणा (निदान) कर लिया।

---

[1] .. . निशथी सूत्र० चू० भा० १, पृ० १५।

[2] श्रीमत्पार्श्वजिनाधीशशासनाभोजषट्पद ।
सम्यग्दर्शन पुण्यात्मा, सोऽणुव्रतवरोऽभवत् ॥ [त्रिष, १० प, ६ स० श्लोक ८]

[3] धम्माणुरत्तो विमलेण चेअमा ॥ उत्तराध्ययन २०

महावीर प्रभु ने साधु-साध्वियो के निदान को जाना और उन्हे निदान के कुफल से परिचित कर पतन से बचा लिया।

श्रेणिक और चेलना को देखकर त्यागी वर्ग का चकित होना इस बात को सूचित करता है कि वे साधु-साध्वियो के साक्षात्कार मे पहले-पहल उसी समय आये हो।

श्रेणिक की धर्मनिष्ठा

महाराज श्रेणिक की निर्ग्रन्थ धर्म पर बड़ी निष्ठा थी। मेघकुमार की दीक्षा के प्रसग में उन्होने कहा कि निर्ग्रन्थ धर्म सत्य है, श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, मुक्तिमार्ग है, तर्कसिद्ध और उपमा-रहित है।[1] भगवान् महावीर के चरणों मे महाराज श्रेणिक की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति थी कि उन्होने एक बार अपने परिवार, सामन्तो और मन्त्रियो के बीच यह घोषणा की – "कोई भी पारिवारिक व्यक्ति भगवान् महावीर के पास यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे नही रोकूगा।"[2] इस घोषणा से प्रेरित हो श्रेणिक के जालि, मयालि आदि २३ (तेवीस) पुत्र दीक्षित हुए[3] और नन्दा आदि तेवीस रानिया भी साध्विया बनीं।[4] केवलज्ञान के प्रथम वर्ष मे भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो उस समय श्रेणिक ने सम्यक्त्व-धर्म तथा अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[5] मेघकुमार और नन्दिसेन की दीक्षा भी इसी वर्ष होती है।[6]

श्रेणिक के परिवार मे त्याग-वैराग्य के प्रति अभिरुचि की अभिवृद्धि उनके देहावसान के पश्चात् भी चलती रही। भगवान् महावीर जब चम्पा नगरी पधारे तो श्रेणिक के पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्दन नामक १० पौत्रो ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय मे सलेखना के साथ काल कर क्रमश. सौधर्म आदि देवलोकों मे वे देवरूप से उत्पन्न हुए। इस प्रकार महाराज श्रेणिक की तीसरी पीढी तक श्रमण धर्म की आराधना होती रही। नेमिनाथ के शासनकाल मे कृष्ण की तरह महावीर

---

[1] ज्ञाताधर्म कथा १।१

[2] गुणचन्द्र कृत महावीर चरिय, पृ ३३४

[3] अनुत्तरोववाइय, १।१–१० अ। २–१–१३।

[4] अतगड दसा, ७ व, ८ व.

[5] (क) श्रुत्वा ता देशना भर्तुः, सम्यक्त्व श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावकधर्मंत्वभयकुमाराद्या प्रपेदिरे॥

[त्रिष श, १० प, ६ स०, ३१६ श्लोक]

(ख) एमाई धम्मकह, सोउ सेणिय निवाइया भव्वा।
समत्त पडिवन्ना, केइ पुण देस विरयाइ॥

[नेमिचन्द्रकृत महावीर चरियम्, गा. १२६४]

[6] तीर्थंकर महावीर दूसरा भाग।

के शासन में श्रेणिक की शासन-सेवा व भक्ति उत्कृष्ट कोटि की मानी जाकर उनकी वीर-शासन के मूर्धन्य सेवकों मे गणना की जाती है।

महाराज श्रेणिक ने अपने शासनकाल में ही उस समय का सर्वश्रेष्ठ सेचनक हाथी और देवता द्वारा प्रदत्त अमूल्य हार चेलना के कूणिक से छोटे दो पुत्रो हल्ल और विहल्ल कुमार को दे दिये थे जिनका मूल्य पूरे मगध राज्य के बराबर आका जाता था। वीर निर्वाण से १७ वर्ष पूर्व कूणिक ने अपने काल, महाकाल आदि दश भाइयो को अपनी ओर मिलाकर महाराज श्रेणिक को कारागृह मे बन्द कर दिया और स्वय मगध के सिंहासन पर आसीन हो गया। कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक को विविध प्रकार की यातनाए दी।

एक दिन कूणिक की माता चेलना ने जब उसे श्रेणिक द्वारा उसके प्रति किये गये महान् उपकार और अनुपम प्यार की घटना सुनाई तो उसको अपने दुष्कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कूणिक के हृदय में पिता के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा और वह एक कुल्हाड़ी ले पिता के बन्धन काटने के लिये बड़ी तेजी से कारागार की ओर बढा।

श्रेणिक ने समझा कि कूणिक उन्हे मार डालने के लिये कुल्हाडी लेकर आ रहा है। अपने पुत्र को पितृहत्या के घोर पापपूर्ण कलक से बचाने के लिये महाराज श्रेणिक ने अपनी अंगूठी में रखा कालकूट विष निगल लिया। कूणिक के वहा पहुँचने से पहले ही आशुविष के प्रभाव से श्रेणिक का प्राणान्त हो गया और पूर्वोपार्जित निकाचित कर्मबन्ध के कारण वे प्रथम नरक मे उत्पन्न हुए।

जैनेतर विद्वानो ने भी श्रेणिक का जैन होना स्वीकार किया है। डॉ० वी.ए. स्मिथ ने लिखा है – "वह अपने आपमे जैन धर्मावली प्रतीत होता है। जैन परम्परा उसे सप्रति के समान जैन धर्म का प्रभावक मानती है।"

श्रेणिक ने महावीर के धर्मशासन की बडी प्रभावना की थी। अव्रती होकर भी उन्होने शासन-सेवा के फलस्वरूप तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित किया। प्रथम नारक भूमि से निकल कर वह पद्मनाभ नाम के अगली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर रूप से उत्पन्न होंगे। वहा भगवान् महावीर की तरह वे भी पच-महाव्रत रूप सप्रतिक्रमण धर्म की देशना करेंगे।

भगवान् महावीर के शासन मे श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना मे जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नही रहा।

राजा चेटक

श्रेणिक की तरह राजा चेटक भी जैन परम्परा मे दृढधर्मी उपासक माने गये है, वह भगवान् महावीर के परम भक्त थे। आवश्यक चूर्णि मे इनको व्रतधारी[1] श्रावक बताया (माना) गया है। महाराजा चेटक की सात कन्याए

[1] सो चेडग्रो सावग्रो। आ० चू०, पृ० २४५।

थी, वे उस समय के प्रख्यात राजाओ को व्याही गई थी। इनकी पुत्री प्रभावती वीतभय के राजा उदायन को, पद्मावती अग देश के राजा दधिवाहन को, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक को, शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत को, सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के भाई नन्दिवर्धन को और चेलना मगधराज बिम्ब-सार को ब्याही गई थी। इनमे से सुज्येष्ठा ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

चेटक वैशाली के गणतन्त्र के अध्यक्ष थे। वैशाली गणतन्त्र के ७७०७ सदस्य थे[1] जो राजा कहलाते थे। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी इनमे से एक थे।[2] डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार चेटक के दस पुत्र थे जिनमे से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगण का प्रसिद्ध सेनापति था।[3]

महाराज चेटक हैहयवशीय राजा थे। वे भगवान् महावीर के परम भक्त श्रावक होने के साथ-साथ अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय के कट्टर पक्षपाती थे। उन्होने अपने राज्य, कुटुम्ब और प्राणो पर सकट आ पडने पर भी अन्तिम दम तक अन्याय के समक्ष सिर नही झुकाया। अपनी शरण मे आये हुए हल्ल एव विहल्ल कुमार की उन्होने न केवल रक्षा ही की अपितु उनके न्यायपूर्ण पक्ष का बडी निर्भीकता के साथ समर्थन किया। अपनी शरणा-गतवत्सलता और न्यायप्रियता के कारण महाराज चेटक को चम्पाधिपति कूणिक के आक्रमण का विरोध करने के लिए बडा भयकर युद्ध करना पडा और अन्त मे वैशाली पतन से निर्वेद प्राप्त कर उन्होने अनशन कर समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

कूणिक के साथ चेटक के युद्ध का और वैशाली के पतन आदि का विवरण आगे कूणिक के प्रसग मे दिया जा रहा है।

यहा पर अब कुछ ऐतिहासिक तथ्य समक्ष आ रहे है जिनसे इतिहास-प्रसिद्ध कलिग नरेश चण्डराय, क्षेमराज (जिनके साथ भीषण युद्ध कर अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की) और महामेघवाहन-खारवेल आदि का महाराज चेटक के वशधर होने का आभास मिलता है। इन तथ्यो पर इस पुस्तक के दूसरे भाग मे यथासभव विस्तृत विवेचन किया जायगा। आशा की जाती है कि उन तथ्यो से भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडेगा और एक लम्बी अवधि का भारत का धूमिल इतिहास सुस्पष्ट हो जायगा।

अजातशत्रु कूणिक

भगवान् महावीर के भक्त राजाओ मे कूणिक का भी प्रमुख स्थान है। महाराज श्रेणिक इनके पिता और महाराणी चेलना माता थी। माता ने सिंह

[1] जातक अट्ठकथा।

[2] तीर्थंकर महावीर भाग १।

[3] भारतीय इतिहास — एक दृष्टि — पृ० ५६।

का स्वप्न देखा। गर्भकाल मे उसको दोहद उत्पन्न हुआ कि श्रेणिक राजा के कलेजे का मास खाऊ। बौद्ध परम्परानुसार बाहु का रक्तपान करना माना गया है। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। गर्भकाल मे बालक की ऐसी दुर्भावना देखकर माता को दु:ख हुआ। उसने गर्भस्थ बालक को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया पर बालक का कुछ नही बिगड़ा। जन्म के पश्चात् चेलना ने उसको कचरे की ढेरी पर डलवा दिया। एक मुर्गे ने वहा उसकी कनिष्ठा अगुली काटली जिसके कारण अगुली मे मवाद पड़ गई। अगुली की पीडा से बालक क्रदन करने लगा। उसकी चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और पुत्र-मोह से व्याकुल हो उसे उठाकर फिर महल मे लाया गया। बालक की वेदना से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस-चूम कर अगुली का मवाद निकाला और उसे स्वस्थ किया। अगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रक्खा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का वैर अभी उपशान्त नही हुआ था अतः बड़े होकर कूणिक के मन मे राज्य करने की इच्छा हुई। उसने अन्य दश भाइयो को साथ लेकर अपना राज्याभिषेक कराया, और महाराज श्रेणिक को कारावास मे डलवा दिया।

एक दिन कूणिक माता के चरण-वदन को गया तो माता ने उसका चरण-वन्दन स्वीकार नही किया। कूणिक ने कारण पूछा तो बोली-"जो अपने उपकारी पिता को कारावास मे बद कर स्वय राज्य करे वैसे पुत्र का मुह देखना भी पाप है।" उपकार की बात सुनकर कूणिक का पितृ-प्रेम जागृत हुआ और वह तत्काल हाथ मे परशु लेकर पिता के बन्धन काटने कारागृह की ओर बढ़ा। श्रेणिक ने परशु हाथ मे लिये कूणिक को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से सोचा – "यह मुझे मारे इसकी अपेक्षा मैं स्वय अपना प्राणान्त करलू तो यह मेरा पुत्र पितृहत्या के कलक से बच जायगा।" यह सोच कर श्रेणिक ने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण त्याग दिये।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक को बडा अनुताप हुआ। वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पडा। क्षणभर बाद सचेत हुआ और आर्त स्वर मे रुदन करने लगा – "अहो! मैं कितना अभागा एव अधन्य हूँ कि मेरे निमित्त से देवतुल्य पिता श्रेणिक कालगत हुए। शोकाकुल हो कूणिक ने राजगृह छोडकर चम्पा मे मगध को राजधानी बसायी और वही रहने लगा।

कूणिक की रानियो मे पद्मावती,[1] धारिणी,[2] और सुभद्रा[3] प्रमुख थी। आवश्यक चूणि मे आठ राजकन्याओं से विवाह करने का भी उल्लेख है।[4] पर

---

[1] तस्सण कुणियस्स रण्णो पउमावई नाम देवी होत्था। [निरयावली, सूत्र ८]

[2] उववाई सूत्र ७।

[3] उववाई सूत्र २३।

[4] कुणियस्स अट्ठहि रायवर कन्नाहि सम विवाहो कतो। [आव० चूणि उत्त०, पत्र १६७]

उनके नाम उपलब्ध नही होते। महारानी पद्मावती का पुत्र उदाई था[1] जो कूणिक के वाद मगध के राज-सिंहासन पर वैठा। इसी ने चम्पा से अपनी राजधानी हटाकर पाटलिपुत्र मे स्थापित की।[2]

चेलना के संग और सस्कारो ने कूणिक के मन मे भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भर दी थी।

आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि जैन ग्रन्थो मे महाराज कूणिक का एक दूसरा नाम अशोकचन्द्र भी उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर के प्रति उसके हृदय मे कितनी प्रगाढ भक्ति और अनुपम श्रद्धा थी इसका अनुमान औपपातिक सूत्र के अधोलिखित पाठ से सहज ही मे लगाया जा सकता है :-

तस्स ण कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकय-वित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवो तद्देवसिअ पवित्तिं णिवेएइ, तस्स ण पुरिसस्स वहवे अण्णे पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसिय पवित्तिं णिवेदेंति।"

[औपपातिक सूत्र, सूत्र ८]

सूत्र के इस पाठ से स्पष्ट है कि कूणिक ने भगवान् महावीर की दैनिक विहारचर्या आदि की सूचनाए प्रतिदिन प्राप्त करते रहने की दृष्टि से एक कुशल अधिकारी के अधीन अलग स्वतत्र रूप से एक विभाग ही खोल रखा था और इस पर वह पर्याप्त धनराशि व्यय करता था।

एक समय भगवान् महावीर का चम्पा नगरी के उपवन मे शुभागमन हुआ। प्रवृत्ति वार्ता-निवेदक (सवाददाता) से जव भभसार (विम्बसार) के पुत्र कूणिक ने यह शुभ समाचार सुना तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नयन-नीरज खिल उठे। प्रसन्नता की प्रभा से उसका मुख-मंडल प्रदीप्त हो गया। वह शीघ्रतापूर्वक राज्य सिंहासन से उठा। उसने पादुकाएं खोली और खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् एव चामर रूप सभी राज्यचिह्न उतार दिये। वह एक साटिक उत्तरासग किये अजलिवद्ध होकर भगवान् महावीर के पधारने की दिशा मे सात-आठ कदम आगे गया। उसने वायें पैर को सकुचित कर, दाये पैर को मोड़ कर धरती पर रखा। फिर थोडा ऊपर उठ कर हाथ जोड, अजलि को मस्तक पर लगा कर "णमोत्थुण" से अभिवादन करते हुए वह वोला – "तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर, जो सिद्ध गति के अभिलाषी और मेरे धर्माचार्य तथा उपदेशक है, उन्हे मेरा नमस्कार हो। मै तत्र विराजित प्रभु को यही से वन्दन करता हू और वे वही से मुझे देखते है।"[3]

इस प्रकार श्रद्धा सहित वन्दन कर राजा पुन. सिंहासनारूढ हुआ। उसने सवाददाता को एक लाख आठ हजार रजत-मुद्राओ का प्रीतिदान दिया और

[1] आवश्यक चूर्णि, पत्र १७१।
[2] आवश्यक चूर्णि, पत्र १७७।
[3] उववाइ और महावस्तु।

कहा – "जव भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य मे पधारे प्रथम दिवस का सूचना देना।" ...तान्त की

प्रात.काल जव भगवान् नगरी मे पधारे और सम्वाददाता ने कूणि...तिये यह हर्षवर्द्धक समाचार सुनाया तो कूणिक ने हर्षातिरेक से तत्काल साढ़े वारहे लाख रजत-मुद्राओ का प्रीतिदान किया।

तदनन्तर कूणिक ने अपने नगर मे घोपणा करवा कर नागरिको को प्रभु के शुभागमन के सुसम्वाद से अवगत करवाया और अपने समस्त अन्त.पुर, परिजन, पुरजन, अधिकारी-वर्ग एव चतुरगिणी सेना के साथ प्रभु-दर्शन के लिये प्रस्थान किया।

दूर से ही प्रभु के छत्रादि अतिशय देखकर कूणिक अपने हस्तिरत्न से नीचे उतरा और समस्त राजचिह्न उतार कर प्रभु के समवशरण मे पहुँचा। उसने आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ वड़ी भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और त्रिविध उपासना करने लगा।[1] भगवान् की अमृततुल्य दिव्यध्वनि को सुनकर कूणिक आनन्दविभोर हो वोला – "भगवन्! जो धर्म आपने कहा है वैसा अन्य कोई श्रमण या व्राह्मण नही कह सकता।"

तत्पश्चात् कूणिक भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने परिवार सहित राजप्रासाद की ओर लौट गया।

कूणिक प्रारम्भ से ही वडा तेजस्वी और शौर्यशाली था। उसने अपने शासनकाल में अनेक शक्तिशाली और दुर्जय शत्रुओ को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त की अत वह अजातशत्रु के नाम से कहा जाने लगा और इतिहास मे आज इसी नाम से विख्यात है।

कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण

कूणिक का वैशाली गणतन्त्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ वडा भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध के कारण हुए भयकर नरसंहार मे मृतको की सख्या एक करोड, अस्सी लाख वताई गई है।

इस युद्ध का उल्लेख गोशालक ने चरम रथ–मूसळ सग्राम के रूप मे किया है। वौद्ध ग्रन्थो मे भी इस युद्ध का कुछ विवरण दिया गया है पर जैन आगम 'भगवती सूत्र' मे इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उलपव्ध होता है।

यह तो पहले वताया जा चुका है कि श्रेणिक की महारानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी और कूणिक महाराजा चेटक का दौहित्र। अपने नाना चेटक के साथ कूणिक के युद्ध का कारण जैन साहित्य मे यह वताया गया है कि श्रेणिक द्वारा जो हाथी एव हार हल्ल और विहल्ल कुमार को दिये गये थे उनके कारण वे दोनो राजकुमार वड़े सौभाग्यशाली और समृद्ध समझे जाते थे।

---

[1] उववाई सूत्र।

उनके नाम उपलब्ध कुमार अपनी रानियो के साथ उस हस्ती-रत्न पर आरूढ़ हो के बाद मगगा नदी के तट पर जलक्रीडा करने जाते। देवप्रदत्त देदीप्यमान हार हटाकर किये उनको उस सुन्दर गजराज पर बैठे देख कर नागरिक मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशसा करते और कहते कि राज्य-श्री से भी बढ कर देवोपम वैभव का उपभोग तो ये दोनो कुमार कर रहे हैं।

हल्ल-विहल्ल के सौभाग्य की सराहना सुनकर कूणिक की महारानी पद्मावती ने हल्ल-विहल्ल से हार और हाथी हथियाने का कूणिक के सम्मुख हठ किया। प्रारम्भ मे तो कूणिक ने यह कह कर टालना चाहा कि पिता द्वारा उन्हे प्रदत्त हार तथा हाथी उनसे लेना किसी तरह न्यायसगत नही होगा पर अन्त मे नारी-हठ के समक्ष कूणिक को झुकना पडा।

कूणिक ने हल्ल और विहल्ल कुमार के सामने सेचनक हाथी और देवदिन्न हार उसे देने की बात रखी।

हल्ल और विहल्ल ने उत्तर मे कहा कि पिताजी द्वारा दिये गये हार और हाथी पर उन दोनो भाइयो का वैधानिक अधिकार है। इस पर भी चम्पा-नरेश लेना चाहते है तो उनके बदले मे आधा राज्य दे दे।

कूणिक ने अपने भाइयो की न्यायोचित माग को अस्वीकार कर दिया। इस पर हल्ल और विहल्ल बल-प्रयोग की अशंका से अपने परिवार सहित सेचनक पर सवार हो, हार लेकर वैशाली नगर मे अपने नाना चेटक के पास चले गये।

हल्ल-विहल्ल के सपरिवार वैशाली चले जाने की सूचना पा कर कूणिक बडा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेज कर कहलवाया कि हार एवं हाथी के साथ हल्ल और विहल्ल कुमार को उसके पास भेज दिया जाय।

महाराज चेटक ने दूत के साथ कूणिक के पास सन्देश भेजा कि दोनो कुमार उनके शरणागत है। एक क्षत्रिय से कभी यह आशा नही की जा सकती कि वह अपनी शरण मे आये हुए को अन्याय मे पिलने के लिये असहाय के रूप मे छोड़ दे। चम्पाधीश यदि हार और हाथी चाहते है तो उनके बदले मे चम्पा का आधा राज्य दोनो कुमारो को दे दे।

महाराज चेटक के उत्तर से क्रुद्ध हो अपनी और अपने दश भाइयो की प्रबल सेनाओ के साथ कूणिक ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। महाराजा चेटक भी अपनी, काशी तथा कोशल के नौ लिच्छवी और नौ मल्ली गणराजाओ की विशाल वाहिनी के साथ रणागण मे आ डटे। अपने भाई काल कुमार को कूणिक ने सेनापतिपद पर अभिषिक्त किया। काल कुमार ने गरुडव्यूह की रचना की और महाराज चेटक ने शकटव्यूह की। रणवाद्यो के तुमुलघोष से आकाश को आलोडित करती हुई दोनो सेनाए आपस मे भिड़ गई। दोनो ओर के अगणित योद्धा रणक्षेत्र मे जूझते हुए धराशायी हो गये पर दोनो सेनाओं की व्यूह-रचना अभेद्य बनी रही।

विना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने ही जा रहा है यह देख कर कूणिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी वढाया और उन्हे युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिवली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कूणिक की ओर वढाने का आदेश दिया। दोनो योद्धाओ की आयु मे आकाश-पाताल का सा अन्तर था। वुढापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनो ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा – "देवार्य ! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।"

घन-गम्भीर स्वर में चेटक ने कहा – "वत्स ! पहले तुम्हे ही प्रहार करना पडेगा क्यों कि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।"

कालकुमार ने आकर्णान्त कोदण्ड की प्रत्यंचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य वना अपनी पूरी शक्ति से सर छोडा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सव को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्धचन्द्राकार फळ वाले वाण से काल कुमार के तीर को अन्तराळ मार्ग (वीच राह) मे ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुप की प्रत्यचा पर सर-सधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा – "कुमार ! अव इस वृद्ध के सर-प्रहार से अपने प्राणो का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मु ह मोड कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर वनो।"

काल कुमार अपने शैलेन्द्र–शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र मे डटा रहा।

दोनों ओर की सेनाएं श्वास रोके यह सव दृश्य देख रही थी। अनिष्ट की आशका से कूणिक के सैनिको के हृदय धड़कने लगे। क्योकि सव इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन मे केवल एक ही वाण चलायेंगे पर उनका वह सरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना वना कर अपने अमोघ सर का प्रहार किया। रक्षा के सव उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस सर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अपने हाथी के होदे पर सदा के लिए सो गये।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट मे हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाए शोक सागर मे डूवी हुई और वैशाली की सेनायें हर्ष सागर मे हिलोरे लेती हुई अपने-अपने शिविरो को ओर लौट गई।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेप ६ भाई भी प्रतिदिन एक के वाद एक क्रमश कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिपिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र मे जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ६ ही भाई प्रतिदिन एक एक सर के प्रहार से ६ दिनो मे यमधाम पहुँचा दिये गए।

दश दिनो में ही अपने दुर्द्धर्प योद्धा दश भाइयो और सेना का सहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा मे परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर मे निमग्न हो गया। अन्त मे उसने दैविशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोशित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्व-जन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनो इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होने उससे उन्हे याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा – "यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्यो कि मैने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णत विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधो से हल हकवाऊगा, अन्यथा उत्तु ग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ वाणो से मेरे दश भाइयो को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा – "प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी वन्धु चेटक को मैं मार तो नही सकता पर उसके अमोघ वाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करू गा।"

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव मे कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को 'महाशिला कटक' नामक एक भीपण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक प्रलयकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंको से भी कही अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) वनाने व उनके प्रयोग की विधि वताई।

महाशिला-कंटक युद्ध

चमरेन्द्र के निर्देशानुसार कूणिक महाशिलाकंटक नामक महान् सहारक अस्त्र (प्रक्षेपणास्त्र) को लेकर उद्वेलित सागर की तरह भीपण, विशाल चतु-रगिणी सेना के साथ रणागण मे उतरा। काशी कोशल के ६ मल्ली और ६ लिच्छवी, इन १८ गणराज्यो की और अपनी दुर्दान्त सेना के साथ महाराज चेटक भी रणक्षेत्र मे कूणिक की सेना से लोहा लेने आ डटे। दोनो सेनाओ मे वडा लोमहर्पक युद्ध हुआ। कूणिक की सहायता के लिए शक्र और चमरेन्द्र भी उनके साथ युद्धस्थल मे उपस्थित थे। देखते ही देखते युद्धभूमि दोनो पक्षो के योद्धाओ के

रुण्ड-मुण्डो से आच्छादित हो गयी। चेटक और १८ गणराजाओ की सेनाओ ने बड़ी वीरता के साथ डट कर कूणिक की सेना के साथ युद्ध किया।

चेटक ने अपने हाथी को आगे बढाया। अपने धनुप पर सरसन्धान कर प्रत्यचा को अपने कान तक खीचा और कूणिक पर अपना अमोघ तीर चला दिया। पर इस बार वह तीर शक्र द्वारा प्रदत्त कूणिक के वज्र कवच से टकरा कर टुकडे-टुकडे हो गया। अपने अमोघ वाण को मोघ हुआ देख कर भी सत्यसन्ध चेटक ने उस दिन दूसरा वाण नही चलाया।

कूणिक ने चमरेन्द्र द्वारा विकुर्वित 'महाशिला कटक' अस्त्र का प्रयोग किया। इस यत्र के माध्यम से जो तृण, काष्ठ, पत्र, लोष्ठ अथवा वालुका-कण वैशाली की सेना पर फेके जाते उनके प्रहार विस्तीर्ण शिलाओ के प्रहारो से भी अति भयकर होते। कुछ ही समय मे वैशाली के लाखो योद्धा धराशायी हो गये। कूणिक की सेना मे इन शिलोपम प्रहारो से भगदड़ मच गई। अठारहो मल्ली और लिच्छवी गणराजाओ की सेनाए इस प्रलय से वचने के लिये रणक्षेत्र में पीठ दिखा कर भाग गईं।

इस एक दिन के महाशिलाकटक सग्राम मे ८४ लाख योद्धा मारे गये। 'महाशिलाकटक' नामक नरसहारक युद्धोपकरण का प्रयोग किये जाने के कारण इस दिन का युद्ध 'महाशिलाकटक सग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

रथमूसल संग्राम

दूसरे दिन कूणिक 'रथमूसल' नामक प्रलयकर स्वचालित यंत्र लेकर अपनी सेनाओ के साथ रणक्षेत्र मे पहुचा।

महाराज चेटक और उनके सहायक १८ गणराज्यो की सेनाओ ने वडी देर तक कूणिक की सेनाओ के साथ प्राणपण से युद्ध किया। चेटक ने आगे बढ़ कर कूणिक पर एक वाण का प्रहार किया पर चमरेन्द्र के आयस पट्ट से टकरा कर वह टूक-टूक हो गया। दृढ प्रतिज्ञ चेटक ने उस दिन फिर कोई दूसरा वाण नही चलाया।

जिस समय युद्ध उग्र रूप धारण कर रहा था उस समय कूणिक ने वैशाली की सेनाओं पर 'रथमूसल' अस्त्र का प्रयोग किया। प्रलय के दूत के समान दैत्याकार लोहसार का वना स्वचालित रथमूसल यन्त्र विना किसी वाहन, वाहक और अरोही के, अपनी प्रलयकालीन घनघोर मेघ घटाओ के समान घर्राहट से धरती को धुजाता हुआ विद्युत्वेग से वैशाली की सेनाओ पर झपटा। उसमे लगे यमदण्ड के समान मूसल स्वतः ही अनवरत प्रहार करने लगे। उसकी गति इतनी तीव्र थी कि वह एक ही क्षण मे चारो ओर सब जगह शत्रुओ का सहार करता हुआ दिखाई दे रहा था।

तपस्वी १२ व्रतधारी श्रावक योद्धा नाग का पौत्र वरुण पष्टभक्त का पारण किये विना ही अष्टम भक्त तप कर चेटक आदि के अनुरोध पर

रथमूसल अस्त्र को विनष्ट करने की इच्छा लिये सग्राम मे आगे वढा। कूणिक के सेनापति ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। वरुण ने कहा कि वह श्रावक होने के कारण किसी पर पहले प्रहार नही करता। इस पर कूणिक की सेना के सेनापति ने वरुण के मर्मस्थल पर तीर का तीक्ष्ण प्रहार किया। मर्माहत होते हुए भी वरुण ने एक ही सरप्रहार मे उस सेनापति को मौत के घाट उतार दिया। अपनी मृत्यु सन्निकट जान कर वह युद्धभूमि से दूर चला गया और आलोचना-अनशनादिपूर्वक प्राण त्याग कर प्रथम स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ।

उधर तीव्रगति से चारो ओर घूमते हुए रथमूसल यत्र ने वैशाली की सेना को पीस डाला। युद्ध के मैदान में चारो ओर रुधिर और मास का कीचड ही कीचड दृष्टिगोचर हो रहा था।

रथ मूसल अस्त्र द्वारा किये गये प्रलयोपम भीषण नरसहार व रुधिर, मास और मज्जा के कर्दम के वीभत्स एव हृदयद्रावक दृश्य को देखकर मल्लियो और लिच्छवियो के १८ गणराज्यो की सेनाओ के अवशेष सैनिक भयभीत हो प्राण वचाकर अपने २ नगरो की ओर भाग गये।

इस एक दिन के रथमूसल सग्राम मे ९६ लाख सैनिको का संहार हुआ। इस दिन के युद्ध मे 'रथमूसल' अस्त्र का उपयोग किया गया इसलिये इस दिन का युद्ध 'रथमूसल सग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

सब सैनिको के मैदान छोडकर भाग खडे होने पर और कोई उपाय न देख महाराज चेटक ने भी वचे खुचे अपने योद्धाओ के साथ वैशाली मे प्रवेश किया और नगर के सव द्वार वन्द कर दिये।

कूणिक ने अपनी सेनाओ के साथ वैशाली के चारो ओर घेरा डाल दिया। जैन आगम और आगमेतर साहित्य से ऐसा आभास होता है कि कूणिक ने काफी लम्बे समय तक वैशाली को घेरे रखा। रात्रि के समय मे हल्ल और विहल्ल कुमार अपने अलौकिक सेचनक हाथी पर आरूढ हो नगर के वाहर निकल कर कूणिक की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रो की वर्षा करते और कूणिक के सैनिको का सहार करते। उस दिव्य हस्तिरत्न पर आरूढ हल्ल विहल्ल का कूणिक के सैनिक वाल तक बाका नही कर सके।

वैशाली के अभेद्य प्राकार को तोडने हेतु कूणिक ने अनेक प्रकार के उपाय और प्रयास किये पर उसे किंचित् मात्र भी सफलता नही मिली। उधर प्रत्येक रात्रि को सेचनक हाथी पर सवार हो हल्ल विहल्ल द्वारा कूणिक की सेना के सहार करने का क्रम चलता रहा जिसके कारण कूणिक की सेना की बडी भारी क्षति हुई। कूणिक दिन प्रतिदिन हताश हो चिन्तित रहने लगा।

अन्ततोगत्वा किसी अदृष्ट शक्ति से कूणिक को वैशाली के भंग करने का उपाय विदित हुआ कि चम्पा की मागधिका नाम की वारागना यदि कूलवालक नामक तपस्वी श्रमण को अपने प्रेमपाश में फसा कर ले आये तो वह कूलवालक

श्रमण वैशाली का भग करवा सकता है। कूणिक ने अनेक प्रलोभन देकर इस कार्य के लिए मागधिका को तैयार किया। चतुर गणिका मागधिका ने परम श्रद्धालु श्राविका का छद्म-वेप वना कर कूलवालक श्रमण को अपने प्रेमपाश मे वाध लिया और श्रमण धर्म से भ्रष्ट कर उसे मगधेश्वर कूणिक के पास प्रस्तुत किया। कूणिक अपनी चिर-अभिलपित आशालता को फलवती होते देख वडा प्रसन्न हुआ। और कूलवालक के वैशाली मे प्रविष्ट होने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी वीच हल्ल विहल्ल द्वारा प्रतिरात्रि की जा रही अपनी सैन्यशक्ति की क्षति के सम्वन्ध मे कूणिक ने अपने मन्त्रियो के साथ मत्रणा की। मत्रणा के निष्कर्ष स्वरूप सेचनक के आगमन की राह मे एक खाई खोदकर खैर के जाज्वल्यमान अंगारो से उसे भर दिया और उसे लचीली धातु के पत्रों से आच्छादित कर दिया गया।

रात्रि के समय शस्त्रास्त्रो से सन्नद्ध हो हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरूढ हो वैशाली से वाहर आने लगे तो सेचनक अपने विभंग-ज्ञान से उस खाई को अगारो से भरी जान कर वही रुक गया। इस पर हल्ल विहल्ल ने कुपित हो सेचनक पर वाग्वाणो की बौछार करते हुए कहा – "कायर! तू युद्ध से कतरा कर अड गया है। तेरे लिये हमने अपने नगर एव परिजन को छोडा, देवोपम पूज्य नानाजी को घोर सकट मे ढकेला पर आज तू युद्ध से डर कर स्वामिभक्ति से मुह मोड़ रहा हैं, तुझ से तो एक कुत्ता ही अच्छा जो मरते दम तक भी स्वामिभक्ति से विमुख नही होता।"

अपने स्वामी के असह्य वाग्वाणो से सेचनक तिलमिला उठा। मूक पशु वोलता तो क्या उसने अपनी पीठ पर से दोनो कुमारो को उतारा और तत्काल प्रच्छन्न आग मे कूद पडा। हल्ल और विहल्ल के देखते ही देखते वह धधकती हुई आग मे जलकर राख हो गया। हल्ल और विहल्ल को यह देख कर वडा पश्चात्ताप हुआ। उन्हे अपने जीवन से घृणा हो गई। उन्होने निश्चय किया कि यदि भगवान् महावीर के चरणों की शरण मे नही पहुँच सके तो वे दोनो अपने जीवन का अन्त कर लेंगे।

जिनशासन-रक्षिका देवी ने उन्हे अन्तर्मन से दीक्षित समझ कर तत्काल प्रभु की चरण-शरण मे पहुचा दिया। हल्ल और विहल्ल कुमार ने प्रभु महावीर के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उधर कूलवालक ने नैमित्तिक के रूप में वडी सरलता से वैशाली मे प्रवेश पा लिया।

सभव है उसने वैशाली भंग के लिये नगरी मे घूम कर श्रद्धालु नागरिक-जनो में भेद डालने और कूणिक को आक्रमण के लिए सुविधा प्रदान करने की भूमिका का निर्माण किया हो। वौद्ध साहित्य मे वस्सकार द्वारा वैशाली के सुसगठित नागरिको मे फूट डालने के उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है।

पर आवश्यक निर्युक्ति और चूर्णिकार ने वैशाली भग मे कूलवालक द्वारा स्तूप के पतन को कारण माना हे जो इस प्रकार है :–

"कूल वालक ने वैशाली मे घूम कर पता लगा लिया कि भगवान् मुनिसुव्रत के एक भव्य स्तूप के कारण वैशाली का प्राकार अभेद्य बना हुआ है।

दुश्मन के घेरे से ऊबे हुए नागरिको ने कूलवालक को नैमित्तिक समझकर बड़ी उत्सुकता से पूछा – "विद्वन् ! शत्रु का यह घेरा कब तक हटेगा ?"

कूलवालक ने उपयुक्त अवसर देख कर कहा – "यह स्तूप बड़े अशुभ मुहूर्त मे बना है। इस ही के कारण नगर के चारो ओर घेरा पडा हुआ है। यदि इसे तोड दिया जाय तो शत्रु का घेरा तत्काल हट जायगा।

कुछ लोगो ने स्तूप को तोडना प्रारम्भ किया। कूलवालक ने कूणिक को सकेत से सूचित किया। कूणिक ने अपने सैनिको को घेरा-समाप्ति का आदेश दिया। स्तूप के ईषत् भग का तत्काल चमत्कार देखकर नागरिक बडी सख्या मे स्तूप का नामोनिशा तक मिटा देने के लिये टूट पडे। कुछ ही क्षणों मे स्तूप का चिह्न तक नही रहा।

कूलवालक से इष्टसिद्धि का सकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया। उसे इस बार वैशाली का प्राकार भग करने मे सफलता प्राप्त हो गई।

कूणिक ने अपनी सेना के साथ वैशाली मे प्रवेश किया और बड़ी निर्दयता-पूर्वक वैशाली के वैभवशाली भवनो की ईंट से ईंट बजा दी।

वैशाली भग का समाचार सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राण-त्याग किया और वे देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुए।

उधर कूणिक ने वैशाली नगर की उजाडी गई भूमि पर गधो से हल फिरवाये और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सेना के साथ चम्पा की ओर लौट गया।

परम प्रामाणिक माने जाने वाले 'भगवती सूत्र' और 'निरयावलिका' मे दिये गये इस युद्ध के विवरणो से यह सिद्ध होता है कि वैशाली के उस युद्ध मे आज के वैज्ञानिक युग के प्रक्षेपणास्त्रो और टैंको से भी अति भीषण सहार-कारक 'महाशिलाकटक' और 'रथमूसल' अस्त्रो का उपयोग किया गया। इनके सम्बन्ध मे भगवती सूत्र के दो मूल पाठ पाठको के विचारार्थ यहा दिये जा रहे है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा –

"से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चई महासिलाकंटए सगामे ?"

भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा प्रश्न करने पर फरमाया – "गोयमा ! महासिलाकंटए ण सगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा तणेणवा, पत्तेण वा, कट्ठेण वा, सक्कराए वा अभिहम्मइ सव्वे से जाणइ महासिलाए अह अभिहए, से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चई महासिला-कटए सगामे।" –

[भगवती, श० ७, उ० ६]

इस एक दिन के महाशिलाकटक युद्ध में मृतको की सख्या के सम्वन्ध मे गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया – "गोयमा ! चउरासीइ जणसयसाहस्सियाओ वहियाओ ।"

इसी प्रकार गौतम गणधर ने रथमूसल सग्राम के सम्वन्ध मे प्रश्न किये – "से केणट्ठेण भते ! एवं वुच्चइ रहमुसळे सगामे ?"

उत्तर मे भगवान् महावीर ने फरमाया – "गोयमा ! रहमुसलेण सगामे वट्टमाणे एगे रहे अणासए, असारहिए, अणारोहए, समुसले, महयामहया जणक्खय, जणवह, जणप्पमद्द, जणसवट्टकप्प रुहिरकद्दमं करेमाणे सव्वओ समता परिधाविस्था, से तेणट्ठेण जाव रहमुसले सगामे ।"

गौतम द्वारा 'रथमूसल सग्राम' मे मृतको की संख्या के सम्वन्ध मे किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु महावीर ने कहा – "गोयमा ! छण्णउई जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ।"

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरणो से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रलय के समान शक्ति रखने वाले वे दोनो अस्त्र कितने भयकर होगे ।

उन दो महान् शक्तिशाली युद्धास्त्रो को पाकर कूणिक अपने आपको विश्वविजयी एव अजेय समझने लगा तथा सभव है इसी कारण उसके हृदय मे अधिक महत्त्वाकाक्षाए जगी और उसके सिर पर चक्रवर्ती वनने की धुन सवार हुई ।

उन दिनो भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य मे विराजमान थे । कूणिक भगवान् महावीर की सेवा मे पहुंचा । सविधि वन्दन के प्रश्चात् उसने भगवान् से पूछा – "भगवन् ! क्या मैं भरत-क्षेत्र के छह खण्डो को जीत कर चक्रवर्ती वन सकता हू ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "नही कूणिक ! तुम चक्रवर्ती नही वन सकते । प्रत्येक उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल मे वारह-वारह चक्रवर्ती होते हैं । प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के वारह चक्रवर्ती हो चुके है अत तुम चक्रवर्ती नही हो सकते ?"

कूणिक ने पुन. प्रश्न किया – "भगवन् ! चक्रवर्ती की पहचान क्या है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "कूणिक ! चक्रवर्ती के यहा चक्रादि चौदह रत्न होते है ।"

कूणिक ने भगवान् महावीर से चक्रवर्ती के चौदह रत्नो के सम्वन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त की और प्रभु को वन्दन कर वह अपने राजप्रासाद में लौट आया ।

कूणिक भली भाति जानता था कि भगवान् महावीर त्रिकालदर्शी है किन्तु वह वैशाली के युद्ध मे महाशिलाकटक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र का अत्यद्भुत चमत्कार देख चुका था अत उसके हृदय मे यह अहम् घर कर गया कि उन दो कल्पान्तकारी यन्त्रो के रहते ससार की कोई भी शक्ति उसे चक्रवर्ती वनने से

नही रोक सकती। उसने उस समय के श्रेष्ठतम शिल्पियो से चक्रवर्ती के चक्रादि कृत्रिम रत्न बनवाये और अष्टम भक्त कर षट्खण्ड-विजय के लिये उन अद्भुत शक्तिशाली यन्त्रों एव प्रबल सेना के साथ निकल पडा।

महाशिलाकण्टक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय दिग्दिगन्त मे कूणिक की धाक जम चुकी थी अत ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष और अडोस-पडोस की कोई राज्यशक्ति कूणिक के समक्ष प्रतिरोध करने का साहस नही कर सकी। कूणिक अनेक देशो को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्र गुफा के द्वार तक पहुच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्र गुफा के द्वार पर दण्ड-प्रहार किया।

तिमिस्र गुफा के द्वाररक्षक देव ने अदृश्य रहते हुए पूछा – "द्वार पर कौन है?"

कूणिक ने उत्तर दिया – "चक्रवर्ती अशोकचन्द्र।"[1]

देव ने कहा – "चक्रवर्ती तो बारह ही होते है और वे हो चुके है।"

कूणिक ने कहा – "मैं तेरहवा चक्रवर्ती हू।"

इस पर द्वाररक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुकार की और कूणिक तत्क्षण वही भस्मसात् हो गया। मर कर वह छट्ठे नरक मे उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का परमभक्त होते हुए भी कूणिक स्वार्थ और तीव्र लोभ के उदय से मार्गच्युत हो गया और तीव्र आसक्ति के कारण दुर्गति का अधिकारी बना। कूणिक की सेना कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देख कर भयभीत हो चम्पा की ओर लौट गई।

वस्तुत. कूणिक जीवन भर भगवान् महावीर का ही परमभक्त रहा। कूणिक के महावीर-भक्त होने मे ऐतिहासिको के विचार इस प्रकार है –

डॉ० स्मिथ कहते है — "बौद्ध और जैन दोनो ही अजातशत्रु को अपना अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है जैनो का दावा अधिक आधारयुक्त है।"

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार – "महावीर और बुद्ध की वर्तमानता मे तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।" उन्होने यह भी लिखा है – "जैसा प्राय देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदाइभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते है, क्योकि दोनो जैन धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थो मे उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।

---

[1] कूणिक का वास्तविक नाम अशोकचन्द्र था। अगुली के व्रण के कारण सब उसे कूणिक कहते थे।

[आव० चूर्णि]

इन सब प्रमाणो से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कूणिक अजात शत्रु जीवन भर भगवान् महावीर का परमभक्त रहा।

महाराजा उदायन

भगवान् महावीर के उपासक, परमभक्त अनेकानेक शक्तिशाली छत्रपतियो की गणना मे श्रेणिक, कूणिक और चेटक की तरह महाराजा उदायन भी अग्र-गण्य नरेश माने गये हैं।

महाराजा उदायन सिन्धु-सौवीर राज्य के शक्तिशाली एव लोकप्रिय नरेश थे। आपके राज्य मे सोलह बड़े बड़े जनपद एवं ३६३ सुन्दर नगर और इतनी ही वडी वडी खदाने थी। दश छत्र-मुकुटधारी महिपाल और अनेक छोटे-मोटे अवनिपति एव सार्थवाह आदि महाराज उदायन की सेवा मे निरन्तर निरत रहते थे। सिन्धु-सौवीर राज्य की राजधानी वीतिभय नगर था जो उस समय के नगरो मे वडा विशाल, सुन्दर और सव प्रकार की समृद्धि से सम्पन्न था। महाराज उदायन की महारानी का नाम प्रभावती और पूत्र का नाम अभीच कुमार था। केशी कुमार नामक इनका भानजा भी उनके पास ही रहता था। उदायन का उस पर वड़ा स्नेह था।[1]

महाराजा उदायन एक महान् शक्तिशाली राज्य के एकछत्र अधिपति होते हुए भी वडे धर्मानुरागी और भगवद्भक्त थे। वे भगवान् महावीर के वारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके न्याय-नीतिपूर्ण शासन मे प्रजा पूर्णरूपेण सुखी थी। महाराज उदायन की भगवान् महावीर के वचनो पर वडी श्रद्धा थी।

एक समय महाराजा उदायन अपनी पौपधशाला मे पौषध किये हुए जव रात्रि के समय धर्मचिंतन कर रहे थे उस समय उनके मन मे भगवान् महावीर के प्रति उत्कृष्ट भक्ति के उद्रेक से इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई – "धन्य है वह नगर जहा श्रमण भगवान् महावीर विराजमान है। अहोभाग्य हैं उन नरेशो और भव्य नागरिको का जो भगवान् के दर्शनो से अपना जीवन सफल करते और उनके पतितपावन चरणारविन्दो में सविधि वन्दन करते हैं, उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करके कृतकृत्य हो रहे हैं तथा भगवान् की भवभयहारिणी सकल कलमप विनाशिनी अमृतमयी अमोघ वाणी सुन कर भवसागर से पार हो रहे है। मेरे लिए वह सुनहरा दिन कव उदित होगा जव मैं अपने इन नेत्रो से जगद्गुरु श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन करूगा, उन्हे सविधि वन्दन करूगा, पर्युपासना-सेवा करूगा और उनकी पीयूषवर्पिणी वाणी सुन कर अपने कर्ण-रन्ध्रो को पवित्र करूगा।

महाराज उदायन की इस प्रकार की उत्कृप्ट अभिलापा त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु से कैसे छुपी रह सकती थी। प्रभु दूसरे ही दिन चम्पा नगरी के पूर्ण-

[1] भगवती शतक, श० १३, उ० २।

भद्र उद्यान से विहार कर क्रमश वीतभया नगरी के मृगवन नामक उद्यान मे पधार गये। सत्य ही है – उत्कृष्ट अभिलाषा सद्य फलप्रदायिनी होती है।

भगवान् के शुभागमन का सुसवाद सुन कर उदायन के आनन्द का पारावार नही रहा। इच्छा करते ही जिस व्यक्ति के सम्मुख स्वय कल्पतरु उपस्थित हो जाय उसके आनन्द का कोई क्या अनुमान कर सकता है। उदायन ने प्रभु के आगमन का सवाद सुनते ही सहसा सिहासन से समुत्थित हो सात आठ डग उस दिशा की ओर बढ कर, जिस दिशा मे त्रिलोकीनाथ प्रभु विराजमान थे, प्रभु को तीन वार भावविभोर हो सविधि वन्दन किया और तत्क्षण सकल परिजन, पुरजन तथा अधिकारिगण सहित वह प्रभु की सेवा मे मृगवन उद्यान में पहुँचा। यथाभिलषित सविधि वन्दना, पर्युपासना के पश्चात् उसने प्रभु का हृदयहारी, पुनीत प्रवचन सुना।

भगवान् महावीर ने ससार की क्षणभगुरता एव असारता, वैराग्य की अभयता-महत्ता तथा मोक्ष-साधन की परम उपादेयता का चित्रण करते हुए ज्ञानादि की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की कि सभी सभासद चित्रलिखित से रह गये। महाराजा उदायन पर भगवान् के वीतरागतामय उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह ससार के भोगोपभोगो को विषतुल्य हेय समझ कर अक्षय शिव-सुख की कामना करता हुआ भगवान् से निवेदन करने लगा – "भगवन्! मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये है, मुझे यह ससार दावानल के समान दिख रहा है। प्रभो! मैं अपने पुत्र अभीचि कुमार को राज्य सौप कर श्रीचरणो मे दीक्षित होना चाहता हूँ। प्रभो! आप मुझे अपने पावन चरणो में स्थान दीजिये।"

प्रभु ने फरमाया - "जिस कार्य से सुख प्राप्त हो उस कल्याणकारी कार्य मे प्रमाद मत करो।"

महाराजा उदायन परम सतोप का अनुभव करते हुए प्रभु को वन्दन कर नगर की ओर लौटे। मार्ग मे उनके मन मे विचार आया – "जिस राज्य को महा दुखानुबन्ध का कारण समझ कर मैं छोड रहा हू उस राज्य का अधिकारी अगर मैंने अपने पुत्र अभीचि कुमार को वना दिया तो वह अधिक मोही होने से राज्य-भोगो मे अनुरक्त एव गृद्ध हो कर न मालूम कितने अपरिमित समय तक भवभ्रमण करता हुआ जन्म-मरण के असह्य दुखो का भागी वन जायगा अत उसका कल्याण इसी मे है कि उसे राज्य न दे कर मेरे भानजे केशिकुमार को राज्य दे दू। तदनुसार राजप्रासाद मे आकर महाराज उदायन ने अपने अधीनस्थ सभी राजाओ और सामन्तो को अपना निश्चय सुनाया और अपने भानजे केशिकुमार को अपने विशाल राज्य का अधिकारी वना कर स्वय भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये।

पिता द्वारा अपने जन्मसिद्ध पैत्रिक अधिकार से वचित किये जाने के कारण अभीचि कुमार के हृदय पर वड़ा गहरा आघात पहुचा फिर भी कुलीन

होने के कारण उसने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। वह किसी प्रकार के सघर्ष मे नही उलझा और अपनी चल सम्पत्ति ले सकुटुम्ब मगध-सम्राट् कूरिणक के पास चम्पा नगरी में जा बसा। सम्राट् कूरिणक ने उसे अपने यहा ससम्मान रखा। अभीचि कुमार के मन में पिता द्वारा अपने अधिकार से वचित रखे जाने की कसक जीवन भर काटे की तरह चुभती रही। वह भगवान् का श्रद्धालु श्रमणोपासक रहा पर उसने कभी अपने पिता महाश्रमण उदायन को नमस्कार तक नहीं किया और इस वैर को अन्तर्मन मे रखे हुए ही श्रावकधर्म का पालन करते हुए एक मास की सलेपना से आयुष्य पूर्ण कर पिता के प्रति अपनी दुर्भावना की आलोचना नही करने से असुर कुमार देव हुआ। असुर कुमार की आयु पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र मे मानवभव प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

महाश्रमण उदायन ने दीक्षित होने के पश्चात् एकादश अगो का अध्ययन किया और कठोर तपस्या से वे अपने कर्म-बन्धनों को काटने में तत्परता से सलग्न हो गये। विविध प्रकार की घोर तपस्याओ से उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। अन्त-प्रान्तादि प्रतिकूल आहार से राजर्षि उदायन के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। वे वैद्यो के अनुरोध से औषधि-रूप मे दधि का सेवन करने लगे।

एकदा भगवान् की आज्ञा से राजर्षि उदायन एकाकी विचरते हुए वीतभय नगर पहुचे। मंत्री को मालूम हुआ तो उसने दुर्भाव से महाराज केशी के मन को बदलने के लिये कहा कि परीषहो से पराजित हो राजर्षि उदायन पुन॰ राज्य लेने के लिये यहा आ गये है। केशी ने कहा – "कोई बात नही, यह राज्य उन्ही का दिया हुआ है, यदि वे चाहेगे तो मैं समस्त राज्य उन्हे लौटा दूंगा।" दुष्ट मन्त्री ने अनेक प्रकार से समझाते हुए केशी कुमार से कहा – 'राजन्! यह राजधर्म नही है, हाथ मे आई हुई राज्यलक्ष्मी का जो निरादर करता है वह कहीं का नही रहता। अत येन-केन-प्रकारेण विष प्रयोगादि से उदायन को मौत के घाट उतारने मे ही अपना कल्याण है।"

मत्री की घृणित राय से केशी भी आखिर सहमत हो गया और उदायन को विषमिश्रित भोजन देने का षड्यन्त्र रचा गया। एक ग्वालिन के द्वारा राजर्षि उदायन को विषमिश्रित दधि तीन बार बहराया गया पर राजर्षि के भक्त एक देव द्वारा तीनों ही बार उस दही का अपहरण कर लिया गया और मुनि उसे नही खा सके। किन्तु एक बार देव की असावधानी से मुनि को विषमिश्रित दही गूजरी द्वारा बहरा ही दिया गया। दही के अभाव मे मुनि के शरीर मे असमाधि रहने लगी थी अत. उन्होने दही ले लिया। दही खाने के थोडी ही देर बाद विष का प्रभाव होते देख राजर्षि उदायन सम्हल गये और उन्होने समभाव से सथारा–आमरण अनशन धारण कर शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो केवलज्ञान प्राप्त किया और एक मास की सलेपना से ध्रुव, अक्षय, अव्याबाध शाश्वत निर्वाण प्राप्त किया।

यही राजर्षि उदायन भगवान् महावीर द्वारा अन्तिम मोक्षगामी राजा बताये गये है। धन्य है उनकी परम निष्ठा, अविचल श्रद्धा व समता को।

भगवान् महावीर के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

पोत्तनपुर नगर की बात है, एक बार भगवान् महावीर वहा के मनोरम नामक उद्यानस्थ समवशरण मे विराजमान थे। पोत्तनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र प्रभु को वन्दन करने आये और उनका वीतरागतापूर्ण उपदेश सुनकर सासारिक भोगो से विरक्त हो दीक्षित हुए तथा स्थविरो के पास विनयपूर्वक ज्ञानाराधन करते हुए सूत्रार्थ के पाठी हो गये।

कुछ काल के बाद पोत्तनपुर से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। मुनि प्रसन्नचन्द्र जो विहार मे भगवान् के साथ थे, राजगृह मे भगवान् से कुछ दूर जाकर एकान्त मार्ग पर ध्यानावस्थित हो गये। सयोगवश भगवान् को वन्दन करने के लिये राजा श्रेणिक अपने परिवार व सैन्य सहित उसी मार्ग से गुजरे। उन्होने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को मार्ग पर एक पैर से ध्यान में खडे देखा। भक्ति से उन्हे प्रणाम कर वे महावीर प्रभु के पास आये और सविनय वदन कर बोले – "भगवन्! नगरी के बाहर जो राजर्षि उग्र तप के साथ ध्यान कर रहे हैं वे यदि इस समय काल धर्म को प्राप्त करे तो कौनसी गति मे जाये ?"

प्रभु ने कहा – "राजन्! वे सप्तम नरक मे जाये।"

प्रभु की वाणी सुनकर श्रेणिक को बडा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे – क्या ऐसा उग्र तपस्वी भी नरक मे जाये, यह सभव हो सकता है ? उन्होने क्षणभर के बाद पुन जिज्ञासा करते हुए पूछा – "भगवन्! वे यदि अभी कालधर्म को प्राप्त करे तो कहा जायेगे ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "सर्वार्थसिद्ध विमान मे।"

इस उत्तर को सुनकर श्रेणिक और भी अधिक विस्मित हुए और पूछने लगे – "भगवन्! दोनो समय की बात मे इतना अन्तर क्यो ? पहले आपने सप्तम नरक कहा और अब सर्वार्थसिद्ध विमान फरमा रहे है ? इस अन्तर का कारण क्या है ?"

भगवान् महावीर बोले – "राजन्! प्रथम बार जब तुमने प्रश्न किया था, उस समय ध्यानस्थ मुनि अपने प्रतिपक्षी सामन्तो से मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद के प्रश्नकाल मे वे ही अपनी भूल के लिये आलोचना कर उच्च विचारो की श्रेणी पर आरूढ हो गये थे। इसलिये दोनो प्रश्नो के उत्तर मे इतना अन्तर दिखाई दे रहा है।"

श्रेणिक ने उनकी भूल का कारण जानना चाहा तो प्रभु ने कहा – "राजन्! वन्दन को आते समय तुम्हारे दो सेनापतियो ने राजर्षि को ध्यानमग्न देखा। उनमे से एक "सुमुख" ने राजर्षि के तप की प्रशसा की और कहा – "ऐसे घोर तपस्वी

को स्वर्ग या मोक्ष दुर्लभ नही है।" पर दूसरे साथी "दुर्मुख" को उसकी यह वात नही जची। वह वोला – "अरे! तू नही जानता, इन्होने वडा पाप किया है। अपने नादान वालक पर राज्य का भार देकर स्वय साधु रूप से ये ध्यान लगाये खड़े हैं। उधर विरोधी राज्य द्वारा, इनके अवोध शिशु पर, जिस पर कि मत्री का नियन्त्रण है, आक्रमण हो रहा है। संभव है, वालकुमार को मंत्री राज्यच्युत कर स्वय राज्याधिकार प्राप्त कर ले या शत्रु – राजा ही उसे वन्दी वना ले।

दुर्मुख की वात ध्यानमग्न तपस्वी के कानो मे पड़ी और वे ध्यान की स्थिति मे ही अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। वे मन ही मन पुत्र की ममता से प्रभावित होकर विरोधी राजा एव अपने धूर्त मत्री के साथ घोर युद्ध करने लगे। परिणामो की उस भयकरता के समय तुमने प्रश्न किया अतः उन्हे सातवी नरक का अधिकारी वताया गया, किन्तु कछ ही काल के वाद राजर्षि ने अपने मुकुट से शत्रु पर आघात करना चाहा और जव सिर पर हाथ रखा तो उन्हे सिर मु डित प्रतीत हुआ। उसी समय ध्यान आया – "मैं तो मुनि हू। मुझे राज-ताज के हानि-लाभ से क्या मतलव ?" इस प्रकार आत्मालोचन करते हुए जव वे अध्यव-सायों की उच्च श्रेणी पर आरूढ हो रहे थे तव सर्वार्थसिद्ध विमान की गति वतलाई गई।"

इधर जव भगवान् श्रेणिक को अपने कथन के रहस्य को समझा रहे थे उसी समय आकाश मे दुन्दुभि-नाद सुनाई दिया। श्रेणिक ने पूछा – "भगवन्! यह दुन्दुभि-नाद कैसा ?"

प्रभु ने कहा – "वही प्रसन्नचन्द्र मुनि जो सर्वार्थसिद्ध विमान के योग्य अध्यवसाय पर थे, शुक्ल-ध्यान की विमल श्रेणी पर आरूढ़ हो मोह कर्म के साथ ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का भी क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी वन गये है। उसीकी महिमा मे देवो द्वारा दुन्दुभि वजायी जा रही है।" श्रेणिक प्रभु की सर्वज्ञता पर मन ही मन प्रमुदित हुए।

दूसरी घटना राजगृही नगरी की है। एक वार भगवान् महावीर वहां के उद्यान मे विराजमान थे। उस समय एक मनुष्य भगवान् के पास आया और चरणो पर गिर कर वोला – "नाथ! आपका उपदेश भवसागर से पार लगाने मे जहाज के समान है। जो आपकी वाणी श्रद्धापूर्वक सुनते और तदनुकुल आचरण करते है, वे धन्य है।"

"मुझे एक वार आपकी वाणी सुनने का लाभ मिला था और उस एक वार के ही उपदेश ने मेरे जीवन को सकट से वचा लिया है। आज तो हृदय खोल कर मैं आपकी अमृतमयी वाणी के श्रवण का लाभ उठाऊगा।"

इस तरह मन मे दृढ निश्चय कर उसने प्रभु का उपदेश सुना। उपदेश-श्रवण के प्रभाव से उसके मन मे वैराग्यभाव उदित हो गया। उसको अपने पूर्वकृत्यो पर अत्यत पश्चात्ताप तथा ग्लानि हुई। उसने हाथ जोड कर प्रभु से

निवेदन किया – "भगवन् ! क्या एक चोर और अत्याचारी भी मुनि-धर्म पाने का अधिकारी हो सकता है ? मेरा पूर्व-जीवन कुकृत्यो से काला बना हुआ है । क्या उसकी सफाई या निर्मलता के लिए मैं आपकी पुनीत सेवा मे स्थान पा सकता हू ।"

उसके इस निश्छल वचन को सुन कर भगवान् ने कहा – "रोहिणेय अन्त:-करण के पश्चात्ताप से पाप की कालिमा धुल जाती है । अत अब तू श्रमणपद पाने का अधिकारी बन गया है । तेरे मन के वे सारे कलुप जो अब तक के तुम्हारे कुकृत्यो से सचित हुए थे, आत्मालोचना की भट्टी में जल कर राख हो गये हैं ।"

प्रभु की वाणी से प्रख्यात चोर रोहिणेय देखते ही देखते साधु बन गया और अपने सत्कृत्यो और तपश्चर्या से बहुत आगे बढ गया । ठीक ही है पारस का सयोग लोहे को भी सोना बना देता है । उसी प्रकार वीतराग प्रभु की वाणी पापी को भी धर्मात्मा बना देती है । निर्मल अन्त करण या सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति यदि प्रव्रज्या ग्रहण करे, व्रत-विधान का पालन करे तो यह कोई बड़ी बात नही है । किन्तु जब एक जन्मजात कुख्यात चोर प्रभु के प्रताप और उपदेश के प्रभाव से पूज्य पुरुप बन जाय तो निश्चित रूप से यह एक बड़ी और असाधारण बात है ।

राजगृही के प्रांगण से अभयकुमार

राजगृही के महाराज श्रेणिक और उनके परिवार की भगवान् महावीर के प्रति भक्ति उल्लेखनीय रही है । उसमे राज-मत्री अभयकुमार का बड़ा योगदान रहा । भभसार – श्रेणिक की नन्दा रानी से "अभय" का जन्म हुआ ।[1] नन्दा "वेन्नातट" के "धनावह" सेठ की पुत्री थी ।

अभयकुमार श्रेणिक – भभसार का परममान्य मत्री भी था ।[2] उसने कई बार राजनैतिक सकटो से श्रेणिक की रक्षा की । एक बार उज्जयिनी के राजा चडप्रद्योत ने चौदह राजाओ के साथ राजगृह पर आक्रमण किया । अभय ने ही उस समय राज्य का रक्षण किया था । उसने जहां शत्रु का शिविर लगना था, वहां पहले ही स्वर्ण मुद्राएं गडवा दी । जब चण्डप्रद्योत ने आकर राजगृह को घेरा तो अभय ने उसे सूचना करवाई – "मैं आपका हितैषी होकर एक सूचना कर रहा हूँ कि आपके साथी राजा श्रेणिक से मिल गये है । अत. वे आपको पकड़ कर श्रेणिक को सभलाने वाले है । श्रेणिक ने उनको बहुत धनराशि दी है । विश्वास न हो तो आप अपने शिविर की भूमि खुदवा कर देख ले ।"

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो उसे उस स्थान पर गडी हुई स्वर्ण-मुद्राए मिली । भय खा कर वह ज्यो का त्यो ही उज्जयिनी लौट गया ।[3]

---

[1] सेणियस्स रन्नो पुत्ते नदाए देवीए अत्तए अभए नाम कुमारे होत्था ।
[निरयावलिका, सू० २३]

[2] भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पृ० ३८ ।

[3] (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष, पृ० १० – ११, श्लो० १८४ ।
(ख) आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध ।

राजगृही मे एक वार एक द्रुमक लकड़हारा सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। जब वह भिक्षा के लिए नगरी मे गया तो लोग उसका उपहास करते हुए वोले – "ये आये है वडे त्यागी पुरुष, कितना वड़ा वैभव छोड़ा है इन्होने ?" लोगो के इस उपहास वचन से नवदीक्षित मुनि व्यथित हुए। उन्होने सुधर्मा स्वामी से आकर कहा। द्रुमक मुनि की खेद-निवृत्ति के लिए सुधर्मा स्वामी ने भी अगले ही दिन वहा से विहार करने का सोच लिया।

अभयकुमार को जव इस वात का पता चला तो उसने आर्य सुधर्मा को ठहरने के लिए निवेदन किया तथा नगर मे आकर एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओ की तीन राशिया लगवाईं और नगर के लोगो को आमत्रित किया। उसने नगर मे घोषणा करवाई कि जो जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और पानी का परित्याग करे, वह इन तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राओ को ले सकता है।

स्त्री, अग्नि और पानी छोडने के भय से कोई स्वर्ण लेने को नही आया, तव अभय कुमार ने कहा – "देखो वह द्रुमक मुनि कितने वडे त्यागी है। उन्होने जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और सचित्त जल का परित्याग कर दिया है।" अभय की इस बुद्धिमत्ता से द्रुमक मुनि के प्रति लोगो की व्यग्य-चर्चा समाप्त होगई।[1] अभयकुमार की धर्मसेवा के ऐसे अनेको उदाहरण जैन साहित्य मे भरे पडे है।

भगवान् महावीर जव राजगृह पधारे तो अभयकुमार भी वन्दन के लिए उद्यान मे आया। देशना के अन्त मे अभय ने भगवान् से सविनय पूछा – "भगवन् ! आपके शासन मे अन्तिम मोक्षगामी राजा कौन होगा ?"

उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा – "वीतभय का राजा उदयन, जो मेरे पास दीक्षित मुनि है, वही अन्तिम मोक्षगामी राजा है।"

अभयकुमार ने सोचा – "मैं यदि राजा वन कर दीक्षा ग्रहण करूगा तो मेरे लिए मोक्ष का रस्ता ही वन्द हो जायगा। अत. क्यो न मै कुमारावस्था मे ही दीक्षा ग्रहण कर लू ।"

अभयकुमार वैराग्य-भावना से [श्रेणि]क के पास आया और अपनी दीक्षा की वात कही। श्रेणिक ने कहा – "वत्स ! दीक्षा ग्रहण का दिन तो मेरा है, तुम्हे तो अभी राज्य-ग्रहण करना चाहिए। अभयकुमार द्वारा विशेष आग्रह किये जाने पर श्रेणिक ने कहा – "जिस दिन मैं तुमको रुष्ट हो कर कहूँ – 'जा मुझे आगे मु ह नही दिखाना,' उसी दिन तुम प्रव्रजित हो जाना।"

कालान्तर मे फिर भगवान् महावीर राजगृह पधारे। उस समय भीषण शीतकाल था। एक दिन राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ घूमने गये। सायकाल उपवन से लौटते हुए उन्होने नदी के किनारे एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। रात्रि के समय रानी जगी तो उसे मुनि की याद हो आई। सहसा उसके मु ह से निकला – "आह ! वे क्या करते होगे ?" रानी के वचन सुन कर राजा के

[1] धर्मरत्न प्रकरण – 'अभयकुमार कथा।"

मन मे उसके प्रति अविश्वास हो गया। प्रातःकाल भगवद्-वन्दन को जाते हुए उन्होने अभयकुमार को आदेश दिया – "चेलना का महल जला दो, यहा दुराचार बढता है।"

अभयकुमार ने महल से रानियों को निकाल कर उसमे आग लगवा दी।

उधर श्रेणिक ने भगवान् के पास रानियो के आचार-विषयक जिज्ञासा रखी तो महावीर ने कहा – "राजन्! तेरी चेलना आदि सारी रानियां निष्पाप हैं, शीलवती है।" भगवान् के मुख से रानियो के प्रति कहे गये वचन सुन कर राजा अपने आदेश पर पछताने लगा। वह इस आशका से कि कही कोई हानि न हो जाय सहसा महल की ओर लौट चला।

मार्ग मे ही अभयकुमार मिल गया। राजा ने पूछा – "महल का क्या किया?"

अभय ने कहा – "आपके आदेशानुसार उसे जला दिया।"

"अरे मेरे आदेश के बावजूद भी तुम्हे अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये था," खिन्न हृदय से राजा बोला।

यह सुन कर अभय बोला – "राजाज्ञा-भग का दण्ड प्राण-नाश होता है, मैं इसे अच्छी तरह जानता हू।"

"फिर भी तुम्हे कुछ रुक कर, समय टाल कर आदेश का पालन करना चाहिये था," व्यथित मन से राजा ने कहा।

इस पर अभय ने जवाब दिया – "इस तरह बिना सोचे समझे आदेश ही नही देना चाहिये। हमने तो अपने से बड़ो की आज्ञा के पालन को ही अपना धर्म समझा है और आज तक उसी के अनुकूल आचरण भी किया है।"

अभय के इस उत्तर-प्रत्युत्तर एव अपने द्वारा दिये गये दुष्टादेश से राजा अत्यत क्रुद्ध हो उठा। दूसरा होता तो राजा तत्क्षण उसके सिर को धड से अलग कर देता किन्तु पुत्र के ममत्व से वह ऐसा नही कर सका। फिर भी उसके मुख से सहसा निकल पडा – "जा रे अभय! यहां से चला जा। भूल कर भी कभी मुझे अपना मु ह मत दिखाना।"

अभय तो ऐसा चाहता ही था। अंधा जैसे आंख पाकर गद्गद हो जाता है, अभय भी उसी तरह परम प्रसन्न हो उठा। वह पितृ-वचन को शिरोधार्य कर तत्काल वहां से चल पडा और भगवान् के चरणों मे जाकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

राजा श्रेणिक ने जब महल एव उसके भीतर रहने वालो को सुरक्षित पाया तो उसको फिर एक बार अपने सहसा दिये गये आदेश पर दुःख हुआ। उसे यह समझने मे किंचित् भी देर नही लगी कि आज के इस आदेश से मैंने अभय जैसे चतुर पुत्र एव राज-कार्य मे योग्य नीतिज्ञ मंत्री को खो दिया है। वह आशा के बल पर शीघ्रता से लौट कर पुन महावीर के पास आया। वहा उसने देखा कि अभयकुमार तो दीक्षित हो गया है। अब पछताने के सिवा और क्या होता।

ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल

जैन परम्परा के प्राय प्राचीन एव अर्वाचीन सभी प्रकार के ग्रन्थो मे इस प्रकार के पुप्ट और प्रवल प्रमाण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं जिनके आधार पर पूर्ण प्रामाणिकता के साथ यह माना गया है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ वे वर्प मे हुआ।

आधुनिक ऐतिहासिक शोधकर्त्ता विद्वानो ने भी इस विपय मे विभिन्न दृष्टियो से गहन गवेपणाए करने का प्रयास किया है। उन विद्वानो मे सर्वप्रथम डॉ० हर्मन जैकोवी ने जैन सूत्रो की भूमिका मे इस विपय पर चर्चा की है। भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण प्रसग पर डॉ० जैकोवी ने दो स्थानो पर चर्चा की है पर वे दोनो चर्चाएं परस्पर विरोधी है।

पहली चर्चा में डॉ० जैकोवी ने भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है। इसके प्रमाण मे उन्होने लिखा है – "जैनो की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि जैन सूत्रो की वाचना वल्लभी मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान मे हुई। इस घटना का समय वीर निर्वाण से ९८० अथवा ९९३ वर्प पश्चात् का है अर्थात् ई० सन् ४५४ या ४६७ का है, जैसा कि कल्पसूत्र की गाथा १४८ में उल्लिखित है।"[1]

यहां पर डॉ० जैकोवी ने वीर-निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है क्योकि ५२६ मे ४५४ जोडने पर ९८० और ४६७ जोड़ने पर ९९३ वर्प होते हैं।

इसके पश्चात् डॉ० जैकोवी ने दूसरे खण्ड की भूमिका मे भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्वन्ध मे विचार करते हुए भगवान् महावीर के निर्वाणकाल पर पुन दूसरी वार चर्चा की है। उस चर्चा के निष्कर्ष के रूप मे उन्होने अपनी पहली मान्यता के विपरीत अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि वुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ मे हुआ था तथा महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ मे हुआ था।[2]

डॉ. जैकोवी ने अपने इस परिवर्तित निर्णय के औचित्य के सम्वन्ध मे कोई भी प्रमाण अथवा आधार प्रस्तुत नही किया। उनके द्वारा वुद्ध को वड़ा और महावीर को छोटा मानने मे प्रमुख तर्क यह रखा गया है कि कूणिक का चेटक के साथ जो युद्ध हुआ उसका जितना विवरण वौद्ध शास्त्रो मे मिलता है, उससे अधिक विस्तृत विवरण जैन आगमो मे मिलता है। जहा वौद्ध शास्त्रो मे अजातशत्रु के अमात्य वस्सकार द्वारा बुद्ध के समक्ष वज्जियो पर विजय प्राप्ति के लिए केवल योजना प्रस्तुत करने का उल्लेख है वहा जैन आगमो मे कूणिक और चेटक के वीच हुए 'महाशिलाकटक सग्राम', 'रथमूसल सग्राम' और वैशाली के प्राकार-भग तक स्पप्ट विवरण मिलता है। इस तर्क के आधार पर डॉ जैकोवी

---

[1] एस वी ई वोल्यूम २२, इन्ट्रोडक्टरी, पृ ३७।
[2] 'श्रमण' वर्प १३, अक ६।

ने कहा है – "इससे यह प्रमाणित होता है कि महावीर बुद्ध के बाद कितने ही वर्षो तक जीवित रहे थे।"

वास्तव मे बौद्ध शास्त्रो के सम्यक् पर्यवेक्षण से डॉ. जैकोबी का यह तर्क विल्कुल निर्बल और नितान्त पगु प्रतीत होगा क्योकि वस्सकार की कूटनैतिक चाल के माध्यम से वज्जियो पर कूणिक की विजय का जैनागमो मे दिये गये विवरण से भिन्न प्रकार का विवरण बौद्ध शास्त्रो मे उपलब्ध होता है।

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय अट्ठकहा मे वस्सकार द्वारा छलछद्म से वज्जियो मे फूट डाल कर कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण करने, वज्जियो की पराजय व कूणिक की विजय का सक्षेप मे पूरा विवरण उल्लिखित है। बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि एकता के सूत्र मे वधे हुए वज्जियो मे फूट, द्वेष और भेद उत्पन्न करने का लक्ष्य रख कर वस्सकार वड़े नाटकीय ढग से वैशाली गया। वह वज्जी गणतन्त्र मे अमात्य का पद प्राप्त करने मे सफल हुआ। वस्सकार ३ वर्ष तक वैशाली मे रहा और अपनी कूटनैतिक चालो से वज्जियो में ईर्ष्या-विद्वेष फैलाकर वज्जियो की अजेय शक्ति को खोखला और निर्बल वना दिया।

अन्ततोगत्वा जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है वस्सकार से सकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रवल आक्रमण किया और वज्जियो को परास्त कर दिया। केवल 'रथमूसल' और 'महाशिलाकटक' सग्राम का परिचय बौद्ध साहित्य मे नही है।

वस्तु स्थिति यह है कि राजा कूणिक भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसने अपने राजपुरुषो द्वारा भगवान् महावीर की दैनिक चर्या के सम्बन्ध मे प्रतिदिन की सूचना प्राप्त करने की व्यवस्था कर रखी थी। भगवान् महावीर के बाद सुधर्मा स्वामी की परिषद् मे भी वह सभक्ति उपस्थित हुआ।[1] अत जैनागमो मे उसका अधिक विवरण होना और बौद्ध साहित्य मे सक्षिप्त निर्देश होना स्वाभाविक है।

डॉ० जैकोबी ने महावीर के पूर्व निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध शास्त्रो में मिलने वाले तीन प्रकरणो को अयथार्थ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्राप्त सामग्री के अनुसार वह ठीक नही है। बौद्ध साहित्य में इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कही भी ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण को प्रमाणित करता हो, अपितु ऐसे अनेको प्रसग उपलब्ध होते हैं जो बुद्ध का छोटा होना और महावीर का ज्येष्ठ होना प्रमाणित करते हैं। अत. डॉ० जैकोबी का वह दूसरा निर्णय प्रामाणिक नही कहा जा सकता। डॉ० जैकोबी ने अपने दूसरे मन्तव्य मे महावीर का निर्वाण ४७७ ई० पू० और बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ माना है। पर उन्होने उस सारे लेख मे यह वताने का यत्न नही किया कि यही तिथिया मानी जायं, ऐसी अनिवार्यता क्यो पैदा हुई ? उन्होने वताया है कि जैनो की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार

[1] परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो० १५-५४

चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुआ था परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष पश्चात् हुआ। इतिहास के विद्वानो ने इसे श्री हेमचन्द्राचार्य की भूल माना है। इस विषय मे सर्वाधिक पुष्ट धारणाए है कि भगवान् महावीर जिस दिन निर्वाण को प्राप्त होते है उसी दिन उज्जैन में पालक राजा गद्दी पर बैठता है। उसका राज्य ६० वर्ष तक चला, उसके बाद १५५ (एक सौ पचपन) वर्ष तक नन्दो का राज्य और तत्पश्चात् मौर्य राज्य का प्रारम्भ[1] होता है, अर्थात् महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठता है। यह प्रकरण 'तित्थोगाली पइन्नय' का है जो परिशिष्ट पर्व से बहुत प्राचीन माना जाता है। बाबू श्री पूर्णचन्द्र नाहर तथा श्री कृष्णचन्द्र घोष के अनुसार हेमचन्द्राचार्य की गणना में असावधानी से पालक राज्य के ६० वर्ष छूट गये है।[2]

संभव है जिस श्लोक (३३९) के आधार पर डॉ० जैकोबी ने महावीर निर्वाण के समय को निश्चित किया है उसमे भी वैसी ही असावधानी रही हो। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने अपने समकालीन राजा कुमारपाल का काल बताते समय महावीर निर्वाण का जो समय माना है, वह ई० पू० ५२७ का ही है, न कि ई० पू० ४७७ का। हेमचन्द्राचार्य लिखते है कि जब भगवान् महावीर के निर्वाण से १६६९ वर्ष बीतेंगे तब चौलुक्य कुल मे चन्द्रमा के समान राजा कुमारपाल होगा।[3]

अब यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमा
ई० सन् ११४३ मे हुआ। हेमचन्द्राचार्य के कथन से यह काल महावीर के
से १६६९ वर्ष का है। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वा
१६६९–११४२ ई० पू० ५२७ ही माना है।

डॉ० जैकोबी की धारणा के बाद ३२ वर्ष के इस सुदीर्घ काल मे इ
बहुत कुछ नई उपलब्धिया की है इसलिए भी डॉ० जैकोबी के निर्णय को
रूप से मान लेना यथार्थ नही है।

करणो
काय —
णो की
न्द और
माना है
इसलिए
त मे नही
जहाँ तक
गो की
गैर

[1] जं रयणि सिद्धिगओ अरहा तित्थकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तिए, अभिसित्तो पालओ राया॥
पालग रण्णो सट्ठी, पण पण सय वियाणि णंदाणम्।
मुरियाण सट्ठिसय, तीसा पुण पूसमित्ताणम्॥ [तित्थोगाली पइन्नय ६२०–२१]

[2] Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of King Palaka after Mahaveera,
[Epitome of Jainism Appendix A, P IV]

[3] अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यमय षोडश।
नव षष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा॥
कुमारपाल भूपालो, चौलुक्यकुलचन्द्रमा।
भविष्यति महाबाहु, प्रचण्डाखण्डशासन॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. च, पर्व १०, सर्ग १२, श्लो० ४५–४६]

डॉ० के पी जायसवाल ने भी महावीर निर्वाण को वुद्ध से पूर्व माना है। इनका कहना है कि वौद्धागमो मे वर्णित महावीर के निर्वाण प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यो के निर्धारण मे किसी प्रकार उपेक्षा के योग्य नहीं है। सामगाम सुत्त में वुद्ध महावीर-निर्वाण के समाचार सुनते है और प्रचलित धारणाओं के अनुसार इसके २ वर्ष वाद वे स्वय निर्वाण प्राप्त करते है।[१] (वौद्धो की दक्षिणी परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५४६ मे होता है और बुद्ध निर्वाण ई० पू० ५४४ मे।)

डॉ० जायसवाल ने महावीर निर्वाण सम्वन्धी वौद्ध उल्लेखो की उपेक्षा न करने की जो वात कही है वह ठीक है, पर सामगाम सुत्त के आधार पर वुद्ध से २ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मानना और महावीर के ४७० वर्ष वाद विक्रमादित्य की मान्यता मे १८ वर्ष जोडकर महावीर और विक्रम के मध्य काल की अवधि निश्चित करना पुष्ट प्रमाणो पर आधारित नही है। उन्होने सरस्वती-गच्छ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण और विक्रम-जन्म के वीच का अन्तर ४७० वर्ष माना है और फिर १८ वे वर्ष मे विक्रम के राज्यासीन होने पर सम्वत् का प्रचलन हुआ, इस दृष्टि से वीर निर्वाण से ४७० वर्ष वाद विक्रम संवत्सर मानने की वात को भूल कहा है। किन्तु इतिहासकारो का कथन है कि यह मान्यता किसी भी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नही है। आचार्य मेरुतुंग[२] मेर निर्वाण और विक्रमादित्य के वीच ४७० वर्ष का अन्तर माना है। वह विक्रम के जन्मकाल से नही अपितु शक राज्य की समाप्ति और विक्रम की था से सम्वन्धित है।[३]

प्रा डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (हिन्दू सभ्यता) मे के ायसवाल की तरह भगवान् महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण-प्राप्ति जैन क्तपूर्वक समर्थन किया है। पुरातत्व गवेषक मुनि जिन विजयजी ने भी होन यसवाल के मतानुसार भगवान् महावीर की ज्येष्ठता स्वीकार की है।[४]

श्री धर्मानन्द कौशाम्वी का निश्चित मत है कि तत्कालीन सातो धर्माचार्यों वा वुद्ध सवसे छोटे थे। प्रारम्भ मे उनका संघ भी सवसे छोटा था।[५] कौशाम्वीजी

---

१ जर्नल आफ विहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, १ १०३

२ विक्कम रज्जारभा परओ मिरि वीर निव्वुइ भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कम कालाउ जिण कालो ॥ विचार श्रेणी पृ० ३-४

3 The suggestion can hardly be said to rest on any reliable tradition Merutunga places the death of the last Jina or Teerthankara 470 years before the end of Saka Rule and the Victory and not birth of the traditional Vikrama [An Advanced History of India by R. C Majumdar, H C Roy Chaudhari & K K Dutta, Page 85]

४ वीर निर्वाण सवत् और जैन काल गणना – भूमिका पृ० १

५ भगवान् वुद्ध, पृ० ३३-१५५

ने कालक्रम की वात को यह कह कर गौण कर दिया है कि बुद्ध की जन्म तिथि मे कुछ कम या अधिक अन्तर पड़ जाता है तो भी उससे उनके जीवन-चरित्र में किसी प्रकार का गौणत्व नही आ सकता।[1]

इसी प्रकार डॉ० हर्नले ने अपने "हेस्टिंगाका एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स" ग्रन्थ मे भी इसकी चर्चा की है। उनके मतानुसार बुद्ध निर्वाण महावीर से ५ वर्ष वाद होता है। तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से ३ वर्ष पूर्व होता है।

मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास, १५ दिन पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे यानि भगवान् महावीर से बुद्ध आयु मे लगभग २२ वर्ष वडे थे। बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४२ (मई) और महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२८ (नवम्बर)[2] होता है। भगवान् महावीर का निर्वाण उन्होने ई० पू० ५२७ माना है जो परम्परा सम्मत भी है और प्रमाण सम्मत भी।

श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखित तीर्थंकर महावीर मे भी विविध प्रमाणो के साथ भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२७ ही प्रमाणित किया गया है।

भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का विचार जिन आधारो पर किया गया है उन सव में साक्षात् व स्पष्ट प्रमाण वौद्ध पिटको का है। जिन प्रकरणो में निर्वाण की चर्चा है वे क्रमश मज्झिमनिकाय-सामगामसुत्त, दीर्घनिकाय–पासादिक सुत्त और दीर्घनिकाय–संगीति पर्याय सुत्त है। तीनो प्रकरणो की आत्मा एक है पर उनके ऊपर का ढाचा निराला है। इनमे वुद्ध ने आनन्द और ग्न्द से भगवान् महावीर के निर्वाण की वात कही है। कुछ लेखको ने माना है इन प्रकरणो मे विरोधाभास है। डॉ० जैकोवी ने उक्त प्रकरणो को इसलिए रमाणित माना है कि इनमे से कोई समुल्लेख महापरिनिव्वाण सुत्त मे नही सिसे कि वुद्ध के अन्तिम जीवन प्रसगो का व्योरा मिलता है।[3] जहाँ तक ने भगवान् महावीर के पूर्व निर्वाण का प्रश्न है हमे इन प्रकरणो की विकता मे इसलिए भी सदेह नही करना चाहिए कि जैन आगमो मे महावीर ण के सबंध मे इससे कोई विरोवी उल्लेख नही मिल रहा है। यदि जैन मों मे भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण की पूर्वापरता के सम्वन्ध मे स्पष्ट उल्लेख होता तो हमे भी इन प्रकरणो की वास्तविकता के सबध मे सन्देह हो सकता था। फिर वौद्ध शास्त्रो मे भी इन तीन प्रकरणो के अतिरिक्त कोई ऐसा प्रकरण होता जो महावीर निर्वाण से पूर्व वुद्ध निर्वाण की बात कहता

[1] भगवान् वुद्ध – भूमिका, पृ० १२

[2] ईस्वी पूर्व ५२८ के नवम्वर महीने मे और ई० पू० ५२७ मे केवल २ महीने का ही अन्तर है अत महावीर निर्वाण का काल सामान्यत ई० पू० ५२७ का ही लिखा जाता है।

[3] श्रमण वर्ष १३ अक ६।

तो भी हमे गम्भीरता से सोचना होता। किन्तु ऐसा कोई बाधक कारण दोनो ओर के साहित्य मे नही है। ऐसी स्थिति मे उन्हे प्रमाण-भूत मानना असंगत प्रतीत नही होता। इसमें जो कालावधि का भेद है उसे हम आगे स्पष्ट कर रहे है कि भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ।

मुनि नगराजजी के अनुसार महावीर की ज्येष्ठता को प्रमाणित करने के लिए और भी अनेक प्रसग बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध होते है जिनमें बुद्ध स्वयं अपने को तात्कालिक सभी धर्मनायको मे छोटा स्वीकार करते है। वे इस प्रकार है –

(१) एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती मे अनाथ पिडिक के जेत्तवन मे विहार कर रहे थे। राजा प्रसेनजित (कोशल) भगवान् के पास गया और कुशल पूछकर जिज्ञासा व्यक्त की – "गौतम ! क्या आप भी यह अधिकारपूर्वक कहते है कि आपने अनुत्तर सम्यक् सबोधि को प्राप्त कर लिया है ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया – "महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् सबुद्ध कहे तो वह मुझे ही कह सकता है, मैंने ही अनुत्तर सम्यक् संबोधि का साक्षात्कार किया है।"

प्रसेनजित् ने कहा – "गौतम ! दूसरे श्रमण ब्राह्मण जो सघ के अधिपति, गणाधिपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर और बहुजन सम्मत, पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नायपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त, प्रकुद्ध कात्यायन, अजितकेश कम्बली आदि से भी ऐसा पूछे जाने पर वे अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकारपूर्वक कथन नही करते। आप तो अल्प-वयस्क व सद्य-प्रव्रजित है, फिर यह कैसे कह सकते है ?"

बुद्ध ने कहा – "क्षत्रिय, सर्प, अग्नि व भिक्षु को अल्प-वयस्क समझकर कभी उनका पराभव या अपमान नही करना चाहिये।" (सयुत्तनिकाय, दहर सुत्त पृ० १।१ के आधार से)

उस समय के सब धर्मनायको मे बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक प्रबल प्रमाण है।

(२) एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन मे विहार कर रहे थे। उस समय एक देव ने आकर सभिय नामक एक परिव्राजक को कुछ प्रश्न सिखाये और कहा कि जो इन प्रश्नो का उत्तर दे उन्ही का तू शिष्य होना। सभिय; श्रमण, ब्राह्मण सघनायक, गणनायक, साधुसम्मत पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित-केश कम्बली, प्रकुद्ध कात्यायन, सजय वेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नायपुत्त के पास क्रमश गया और उनसे प्रश्न पूछे। सभी तीर्थंकर उसके प्रश्नो का उत्तर नही दे सके और सभिय के प्रति कोप, द्वेष एव अप्रसन्नता ही व्यक्त करने लगे। सभिय परिव्राजक इस पर बहुत असतुष्ट हुआ, उसका मन विविध ऊहापोह से भर गया। उसने निर्णय किया – "इससे तो अच्छा हो कि गृहस्थ होकर सासारिक

आनन्द लूटूं ।"

सभिय के मन मे आया कि श्रमण गौतम भी सघी, गणी, वहुजन सम्मत हैं, क्यो न मैं उनसे भी प्रश्न पूछू । उसका मन तत्काल ही आशका से भर गया। उसने सोचा "पूरण काश्यप और निगण्ठ नायपुत्त जैसे धीर, वृद्ध, वयस्क, उत्तरावस्था को प्राप्त, वयातीत, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित[1] सघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर, वहुजन सम्मानित, श्रमण ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नो का उत्तर नही दे सके, उल्टे अप्रसन्नता व्यक्त कर मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं; तो श्रमण गौतम मेरे प्रश्नो का उत्तर क्या दे सकेंगे । वे तो आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं । फिर भी श्रमण युवक होते हुए भी महर्द्धिक और तेजस्वी होते है अत. श्रमण गौतम से भी इन प्रश्नो को पूछूं ।"[2] (सुत्तनिपात महावग्ग सभिय सुत्त के आधार से)

यहां वुद्ध की अपेक्षा सभी धर्मनायको को जिण्णा, वुद्धा, महल्लका, अद्धगता, वयोअनुपत्ता, थेरा, रत्तभू, चिरपव्वजिता विशेपण दिये है ।

(३) फिर एक समय भगवान् (वुद्ध) राजगृह मे जीवक कौमार भृत्य के आम्रवन मे १२५० भिक्षुओ के साथ विहार कर रहे थे उस समय पूर्णमासी के उपोसथ के दिन चातुर्मास की कौमुदी से पूर्ण पूर्णिमा की रात को राजा मागध अजातशत्रु वैदेही पुत्र आदि राजामात्यो से घिरा हुआ प्रासाद के ऊपर वैठा हुआ था। राजा ने जिज्ञासा की – "किसका सत्सग करे, जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे ?"

राजमत्री ने कहा – "पूरण काश्यप से धर्मचर्चा करे। वे चिरकाल के साधु व वयोवृद्ध हैं ।"

दूसरे मत्री ने कहा – मक्खलि गोशाल सघस्वामी हैं ।"

अन्य ने कहा – "अजित केश कम्वली सघस्वामी है ।"

फिर दूसरे मत्री ने प्रकुद्ध कात्यायन का और इससे भिन्न मंत्री ने सजय वेलट्ठिपुत्त का परिचय दिया। एक मत्री ने कहा – "निगण्ठ नायपुत्त सघ के स्वामी है। उनका सत्सग करे ।"

सव की वात सुनकर मगध-राज चुप रहे। उस समय जीवक कौमार भृत्य से अजातशत्रु ने कहा कि तुम चुप क्यो हो ? उसने कहा . "देव ! भगवान् अर्हंत् मेरे आम के वगीचे मे १२५० भिक्षुओ के साथ विहार कर रहे हैं । उनका सत्संग करें। आपके चित्त को प्रसन्नता होगी ।"

यहां पर भी पूरण काश्यप आदि को चिरकाल से साधु और वयोवृद्ध कहा गया है ।

इन तीनो प्रकरणो मे महावीर का ज्येष्ठत्व प्रमाणित किया गया है। वह भी केवल वयोमान की दृष्टि से ही नही अपितु ज्ञान, प्रभाव और प्रव्रज्या

[1] सुत्त निपात, महावग्ग ।

[2] पण्हे पुट्ठो व्याकरिस्सति ! समणो हि गौतमो दहरो चेव, जातिया नवो च पव्वज्जायाति । [सुत्त निपात, सभिय सुत्त, पृ० १०६]

की दृष्टि से भी ज्येष्ठत्व वतलाया गया है। इनमे स्पष्टतः बुद्ध को छोटा स्वीकार किया गया है।

इन सब आधारो को देखते हुए महावीर के ज्येष्ठत्व और पूर्व निर्वाण मे कोई सदेह नही रह जाता।

इस तरह जहा तक भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का प्रश्न है वह पारम्परिक और ऐतिहासिक दोनो दृष्टियों व आधारो से ई० पू० ५२७ सुनिश्चित ठहरता है।

इसी विषय में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इतिहास के क्षेत्र मे सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना गया है।[1] इतिहासकार इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण वातावरण मे इसे एक प्रकाशस्तभ मानते है। यह समय सर्वमान्य और प्रामाणिक है। इसी को केन्द्रविन्दु मानकर इतिहास शताब्दियो पूर्व और पश्चात् की घटनाओ का समय निर्धारण करता है।

जैन परम्परा मे मेरुतुग की – "विचार श्रेणी", तित्थोगाली पइन्नय तथा तीर्थोद्धार प्रकीर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थो मे चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर-निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् माना है। वह राज्यारोहण अवन्ती का माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र राज्यारोहण के दश वर्ष पश्चात् अपना राज्य स्थापित किया था।[2]

इस प्रकार जैन काल गणना और सामान्य ऐतिहासिक धारणा से महावीर निर्वाण का समय ई० पू० ३१२+२१५=५२७ होता है।

ऐसे अनेक इतिहास के विशेषज्ञो ने भी महावीर-निर्वाण का असदिग्ध समय ई० पू० ५२७ माना है। महामहोपाध्याय रायवहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (श्री जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष २, अक ४,५ पृ० २१७-८१ व "भारतीय प्राचीन लिपिमाला" पृ० १६३), प० वलदेव उपाध्याय (धर्म और दर्शन, पृ० ८९), डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (तीर्थंकर भगवान् महावीर, भाग २, भूमिका पृ० १९), डॉ० हीरालाल जैन (तत्त्व समुच्चय, पृ० ६), महामहोपाध्याय प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ (भारत का प्राचीन राजवश खण्ड २, पृ० ४३६) आदि विद्वान् उपर्युक्त निर्वाणकाल के निर्णय से सहमत प्रतीत होते है।

---

१ Dr Radha Kumud Mukherji, Chandragupta Maurya & his Times, pp 44-6

(ख) श्री नेम पाण्डे, भारत का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग – प्राचीन भारत, चतुर्थ सस्करण, पृ० २४२।

२ (क) The date 313 B C for Chandragupta accession, if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Malva, as the chronological Datum is found in verse where the Maurya King finds mention in the list of succession of Palak, a king of Avanti [H C Ray Chaudhary – Political History of Ancient India, P 295]

(ख) The Jain date 313 B C if based on correct tradition may refer to acquisition of Avanti, (Malva)

[An Advanced History of India, P 99]

इन सबके अतिरिक्त ई० पूर्व ५२७ में भगवान् महावीर के निर्वाण को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करने वाला सबसे प्रबल और सर्वमान्य प्रमाण यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी प्राचीन आचार्यो ने एकमत से महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास पश्चात् शक सवत् के प्रारम्भ होने का उल्लेख किया है। यथा :-

छहिं वासाणसएहि, पचहिं वासेहिं पच मासेहिं ।
मम निव्वाणगयस्सउ उपज्जिसइ सगो राया ।।

[महावीर चरियं, (आचार्य नेमिचन्द्र) रचनाकाल वि० स० ११४१]

पण छस्सयवस्स पणमासजुदं ।
गमिय वीरनिव्वुइदो सगराओ ।। ८४८

[त्रिलोकसार, (नेमिचन्द्र) रचनाकाल ११ वी शताब्दी]

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसुँ ।
पणमासेसु गदेसुँ सजादो सगणिओ अहवा ।।

[तिलोय पण्णत्ती, भा० १, महाधिकार ४, गा० १४९९]

आचार्य यति वृषभ ने उपर्युक्त गाथा से पूर्व की गाथा सख्या १४९६, १४९७ और १४९८ मे वीर निर्वाण के पश्चात् क्रमश ४६१ वर्ष, ९७८५ वर्ष तथा ५ मास और १४७९३ वर्ष व्यतीत होने पर भी शक राजा के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। अनेक विद्वान् यति वृषभ द्वारा उल्लिखित मतवैभिन्य को देखकर असमंजस मे पड जाते हैं पर वास्तव में विचार मे पडने जैसी कोई बात नही है। ४६१ मे जिस शक राजा के होने का उल्लेख है वह वीर निर्वाण सं० ४६६ मे हो चुका है जैसा कि इसी पुस्तक के पृ० ४६८ पर उल्लेख है। इससे आगे की २ गाथाए किन्ही भावी शक राजाओं का संकेत करती हैं जो क्रमशः वीर निर्वाण सवत् ९७८५ और १४७९३ में होने वाले है।

उपरिलिखित सब प्रमाणो से यह पूर्णत सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण शक सवत्सर के प्रारम्भ से ६०५ वर्ष और ५ मास पूर्व हुआ। इसमें शंका के लिये कोई अवकाश ही नही रहता क्योकि भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से प्रारम्भ होकर सभी प्राचीन जैन आचार्यो की काल-गणना शक सवत्सर से आकर मिल जाती है। वीरनिर्वाण-कालगणना और शक सवत् का शक सवत् के आरम्भ काल से ही प्रगाढ सवन्ध रहा है और इन दोनो काल-गणनाओ का आज तक वही सुनिश्चित अन्तर चला आ रहा है।

इन सब पुष्ट प्रमाणो के आधार पर वीरनिर्वाण-काल ई० पूर्व ५२७ ही असदिग्ध एव सुनिश्चित रूप से प्रमाणित होता है। वीर-निर्वाण सवत् की यही मान्यता इतिहाससिद्ध और सर्वमान्य है।

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण

भगवान् महावीर और बुद्ध समसामयिक थे अत. इनके निर्वाणकाल का निर्णय करते समय प्राय: सभी विद्वानो ने दोनो महापुरुषो के निर्वाणकाल को

एक दूसरे का निर्वाणकाल निश्चित करने मे सहायक मान कर साथ-साथ चर्चा की है। इस प्रकार के प्रयास के कारण यह समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक जटिल वनी है।

वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् महावीर का निर्वाणकाल जितना सुनिश्चित, प्रामाणिक और असदिग्ध है उतना ही बुद्ध का निर्वाणकाल आज तक भी अनिश्चित, अप्रामाणिक एव सदिग्ध वना हुआ है। बुद्ध के निर्वाणकाल के सवन्ध मे इतिहास के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओ की आज भिन्न-भिन्न वीस प्रकार की मान्यताए ऐतिहासिक जगत् मे प्रचलित है। भारत के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ रायवहादुर पडित गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' मे 'बुद्ध निर्वाण सवत्' की चर्चा करते हुए लिखा है –

"बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष मे हुआ, इसका यथार्थ निर्णय अव तक नही हुआ। सीलोन[1] (सिंहल द्वीप, लका), ब्रह्मा और स्याम मे बुद्ध का निर्वाण ई० सवत् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है और ऐसा ही आसाम के राजगुरु मानते है।[2] चीन वाले ई० स० पूर्व ६३८ मे उसका होना मानते हैं।[3] चीनी यात्री फाहियान् ने, जो ई० सन् ४०० मे यहा आया था, लिखा है कि इस समय तक निर्वाण के १४९७ वर्ष व्यतीत हुए है।[4] इससे बुद्ध के निर्वाण का समय ई० सन् पूर्व (१४९७-४००)=१०९७ के आस-पास मानना पडता है। चीनी यात्री हुएनत्साग ने निर्वाण से १००वे वर्ष मे राजा अशोक (ई० सन् पूर्व २६९ से २२७ तक) का राज्य दूर-दूर फैलना वतलाया है।[5] जिससे निर्वाणकाल ई. स. पूर्व चौथी शताब्दी के वीच आता है। डॉ० वूलर ने ई स पूर्व ४८३-२ और ४७२-१ के वीच[6], प्रोफेसर कर्न[7] ने ई स पूर्व ३८८ मे, फर्गुसन[8] ने ४८१ मे, जनरल कनिंग्हाम[9] ने ४७८ मे, मैक्समूलर[10] ने ४७७ मे, पडित भगवानलाल इन्दरजी[11] ने ६३८ मे (गया के लेख के आधार पर), मिस डफ[12] ने ४७७ मे,

---

१ कार्प्स इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स (जनरल कनिंग्हाम सपादित), जि १ की भूमिका, पृ० ३

२ प्रि एँ जि २ यूसफुल टेवल्स, पृ० १६५।

३ वही

४ बी बु रे वे व, जि १ की भूमिका, पृ. ७५

५ वी बु रे वे व, जि १, पृ १५०

६ इ एँ, जि. ६, पृ १५४

७ साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया, जि १, पृ ४९२

८ कार्प्स इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स जि १ की भूमिका, पृ ९

९ वही

१० मॅ हि ए स लि; पृ २९८

११ इ एँ जि १०, पृ ३४६

१२ ड कॉ इ, पृ ६

डॉ. वार्नेट[1] ने ४८३ में, डॉ. फ्लीट[2] ने ४८३ में और वी. ए. स्मिथ[3] ने ई. स. पू ४८७ या ४८६ मे निर्वाण होना अनुमान किया है।"

मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना मे अपनी ओर से प्रवल तर्क रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा वुद्ध भगवान् महावीर से वय मे २२ वर्ष ज्येष्ठ थे और वुद्ध के निर्वाण से १४ वर्ष, ५ मास और १५ दिन पश्चात् भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। इससे वुद्ध निर्वाण ई स. पूर्व ५१२ मे होना पाया जाता है।

ख्यातनामा चीनी यात्री हुएनत्सांग ई सन् ६३० मे भारत आया था। उसने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में लिखा है–

"श्री वुद्ध देव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय मे वहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है। सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं। कोई कहते है कि निर्वाण को १२०० वर्ष हो गए। किन्ही का कथन है कि १५०० वर्ष वीत गए। कोई कहते है अभी निर्वाणकाल को ६०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।[4]

मुनि नगराजजी ने भगवान् महावीर और वुद्ध के निर्वाणकाल के सम्वन्ध मे वडे विस्तार से चर्चा करते हुए अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भगवान् महावीर वुद्ध से १७ वर्ष ज्येष्ठ थे और वुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५ वर्ष पश्चात् हुआ। उन्होने अपने इस अभिमत की पुष्टि मे अशोक के एक शिलालेख, वर्मी इत्जाना सवत् की कालगणना में वुद्ध के जन्म, गृहत्याग, वोधिलाभ एव निर्वाण के उल्लेख और अवन्ती नरेश प्रद्योत एवं वुद्ध की समवयस्कता सम्वन्धी तिव्वती परम्परा, ये तीन मुख्य प्रमाण दिये हैं। पर इन प्रमाणो के आधार पर भी वुद्ध के निर्वाण का कोई एक सुनिश्चित काल नही निकलता।

इस प्रकार वुद्ध के निर्वाणकाल के सम्वन्ध मे अनेक मनीषी इतिहास-वेत्ताओ ने जो उपर्युक्त वीस तरह की भिन्न-भिन्न मान्यताए रखी है उनमें से अधिकांशतः तर्क और अनुमान के वल पर ही आधारित है। किसी ठोस, अकाट्य निष्पक्ष और सर्वमान्य प्रमाण के अभाव मे कोई भी मान्यता वलवती नहीं मानी जा सकती।

हम यहां उन सव विद्वानो की मान्यताओ के विश्लेषण की चर्चा मे न जाकर केवल उन तथ्यो और निष्पक्ष ठोस प्रमाणो को रखना ही उचित समझते हैं जिनसे कि वुद्ध के सही-सही निर्वाण समय का पता लगाया जा सकता है।

---

[1] वा एँ इ, पृ. ३७

[2] ज रॉ. ए, सो, ई स १९०६, पृ ६६७

[3] स्मि अ. हि इ., पृ ४७, तीसरा सस्करण

[4] भगवान् वुद्ध, पृ ८६, भूमिका पृ. १२

हमे आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की घटना के सम्वन्ध मे निर्णय करना है। इसके लिये हमे भारत की प्राचीन धर्म-परम्पराओं के धार्मिक एव ऐतिहासिक साहित्य का अन्तर्वेधी और तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करना होगा।

यह तो सर्वविदित है कि उस समय सनातन, जैन और वौद्ध ये तीन प्रमुख धर्म-परम्पराएं मुख्य रूप से थी जो आज भी प्रचलित हैं।

वुद्ध के जीवन के सम्वन्ध मे जैनागमो में कोई विवरण उपलब्ध नही होता। वौद्ध शास्त्रो और साहित्य मे बुद्ध के निर्वाण के सम्वन्ध मे जो विवरण उपलब्ध होते है वे वास्तव मे इतने अधिक और परस्पर विरोधी हैं कि उनमे से किसी एक को भी तव तक सही नही माना जा सकता जव तक कि उसको पुष्ट करने वाला प्रमाण बौद्धे तर अथवा वौद्ध साहित्य मे उपलब्ध नही हो जाता।

ऐसी दशा मे हमारे लिये सनातन धर्म के पौराणिक साहित्य मे वुद्ध विषयक ऐतिहासिक सामग्री को खोजना आवश्यक हो जाता है। सनातन परम्परा के परम माननीय ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ६ के श्लोक सख्या २४ मे बुद्ध के सम्वन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण तथ्य उपलब्ध होता है जिसकी ओर सभवत. आज तक किसी इतिहासज्ञ की सूक्ष्म-दृष्टि नही गई। वह श्लोक इस प्रकार है—

तत कलौ सप्रवृत्ते, सम्मोहाय सुरद्विपाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुत', कीकटेपु भविष्यति।।

अर्थात् उसके वाद कलियुग आजाने पर मगध देश (विहार) मे देवताओ के द्वेषी दैत्यो को मोहित करने के लिए अजन (आजनी) के पुत्ररूप में आपका वुद्धावतार होगा।

इस श्लोक मे प्रयुक्त 'नाम्नाजनसुत' यह पाठ किसी लिपिकार द्वारा अशुद्ध लिखा गया है ऐसा गीता प्रेस से प्रकाशित श्रीमद्‌भागवत प्रथम खंड के पृष्ठ ५६ पर दिये गये टिप्पण से प्रमाणित होता है। इस श्लोक पर टिप्पण सख्या १ में लिखा है— "प्रा० पा० — जिनसुत.।"

जिन शब्द का अर्थ है—राग-द्वेष से रहित। राग-द्वेष से रहित पुरुप के पुत्रोत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। वास्तव मे यह शब्द था 'आंजनि-सुत.' जिसकी न पर लगी इ की मात्रा ज पर किसी प्राचीन लिपिकार द्वारा लगा दी गई। तदनन्तर किसी विद्वान् लिपिकार ने किसी जिन के पुत्र होने की संभावना को आकाश-कुसुम की तरह असभव मानकर 'अजनसुत' लिख दिया।

ऐतिहासिक घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से यह प्रमाणित होता है कि वास्तव मे इस श्लोक का मूल पाठ 'बुद्धो नाम्नाजनिसुत' था। श्रीमद्‌भागवत और अन्य पुराणो मे प्राचीन इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन प्रतापी राजाओ का किसी घटनाक्रम के प्रसग मे नामोल्लेख किया गया है।

वस्तुत· उपर्युक्त श्लोक मे महाभारतकार ने वुद्ध के प्रसग मे उस समय के प्रतापी राजा 'अंजन' के नाम का उल्लेख किया है। वौद्ध, जैन, सनातन और भारत की उस समय की अन्य सभी धर्मपरम्पराओ के साहित्यो में वुद्ध सम्वन्धी विवरणों मे वुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन लिखा गया है अत· श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित श्लोक के आधार पर वुद्ध को अजन का पुत्र मानना तो श्रीमद्भागवतकार की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा क्योकि वास्तव मे भागवतकार ने वुद्ध को राजा अजन की सुता-आजनी का पुत्र वताया है।

ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त पाठ मे अनुस्वार के लोप और 'इ' की मात्रा के विपर्यय वाले पाठ को शुद्ध कर "वुद्धो नाम्नाऽऽजनिसुत·" के रूप में पढा जाय तो वह शुद्ध और युक्तिसगत होगा। किसी लिपिकार द्वारा प्रमादवश अथवा वास्तविक तथ्य के ज्ञान के अभाव मे अशुद्ध रूप मे लिपिवद्ध किये गये उपर्यंकित अशुद्ध पाठो को शुद्ध कर देने पर एक नितान्त नया ऐतिहासिक तथ्य ससार के समक्ष प्रकट होगा कि महात्मा वुद्ध महाराज अंजन के दौहित्र थे। अजन-सुता के सुत वुद्ध का श्रीमद्भागवतकार ने आजनिसुत के रूप मे जो परिचय दिया है वह व्याकरण के अनुसार भी विलकुल ठीक है। जिस प्रकार रामायणकार ने जनक की पुत्री जानकी, मैथिल की पुत्री मैथिली के रूप मे सीता का परिचय दिया है ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकार ने भी अजन की पुत्री का आजनी के रूप में उल्लेख किया है।

यह सव केवल कल्पना की उड़ान नही है अपितु वर्मी वौद्ध परम्परा इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है। वर्मी वौद्ध परम्परा के अनुसार वुद्ध के नाना (मातामह) महाराज अंजन शाक्य क्षत्रिय थे। उनका राज्य देवदह प्रदेश मे था। महाराजा अजन ने अपने नाम पर ई० सन् पूर्व ६४८ मे १७ फरवरी को आदित्य-वार के दिन ईत्ज़ाना संवत् चलाया।[१] वर्मी भाषा के 'ईत्ज़ाना' शव्द का अर्थ है अजन।

वर्मी वौद्ध परम्परा मे वुद्ध के जन्म, गृहत्याग, वोधि-प्राप्ति और निर्वाण का तिथिक्रम ईत्ज़ाना सवत् की कालगणना मे इस प्रकार दिया है —

१ वुद्ध का जन्म ईत्ज़ाना[२] सवत् के ६८वें वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा को शुक्रवार के दिन विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा के योग के समय मे हुआ।

२. वुद्ध ने दीक्षा ईत्ज़ाना[३] संवत् ६६ की आषाढी पूर्णिमा, सोमवार के दिन चन्द्रमा का उत्तराषाढा नक्षत्र के साथ योग होने के समय मे ली।

---

१. Prabuddha Karnnataka a Kannada Quarterly published by the Mysore University Vol XXVII (1945-46) No 1 PP 92-93 The Date of Nirvana of Lord Mahavira in Mahavira Commemoration Volume, PP, 93-94

२ Ibid Vol 11 PP 71-72

३. Life of Gaudama, by Bigandet Vol 1 PP 62-63

३ बुद्ध को बोधि-प्राप्ति ईत्जाना[1] सवत् १०३ की वैशाखी पूर्णिमा को बुधवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय मे हुई।

४ बुद्ध का निर्वाण ईत्जाना संवत् १४८ की वैशाखी पूर्णिमा को मंगलवार के दिन चन्दमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय मे हुआ।

एम गोविन्द पाई[2] ने बुद्ध के जीवन सबधी ऊपर वर्णित किये गये ईत्जाना सवत् के कालक्रम को ई० सन् पूर्व के अधोवर्णित कालक्रम के रूप मे आवद्ध किया है :-

बुद्ध का जन्म	ई० पू० ५८१, मार्च ३०, शुक्रवार।
बुद्ध द्वारा गृहत्याग :	ई० पू० ५५३, जून १८, सोमवार।
बुद्ध को बोधिलाभ ·	ई० पू० ५४६, अप्रेल ३, बुधवार।
बुद्ध का निर्वाण ·	ई० पू० ५०१, अप्रेल १५, मगलवार।[3]

इस प्रकार श्रीमद्भागवत और वर्मी बौद्ध परम्परा के उल्लेखो से बुद्ध के मातामह (नाना) राजा अजन एक ऐतिहासिक राजा सिद्ध होते है तथा वर्मी परम्परा के अनुसार ईत्जाना सवत् के आधार पर उल्लिखित बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओ के कालक्रम से बुद्ध की सर्वमान्य पूर्णायु ८० वर्ष की सिद्ध होने के साथ २ यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्ध ने २८ वर्ष की अवस्था होते ही ई० पूर्व ५५३ मे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के ८ वर्ष पश्चात् ई० पूर्व ५४६ मे जव वे ३५ वर्ष के हुए तव उन्हे बोधि-प्राप्ति हुई और ४५ वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के पश्चात् ई० पूर्व ५०१ मे ८० वर्ष की आयु पूर्ण करने पर उनका निर्वाण हुआ।

बुद्ध के जन्म, बुद्धत्वलाभ और निर्वाणकाल को निर्णायक रूप से प्रमाणित करने वाला दूसरा प्रमाण वायुपुराण का है, जो कि आवश्यक चूर्णि और तिव्वती बौद्ध परम्परा द्वारा कतिपय अशो मे समर्थित है। सनातन, जैन और बौद्ध परम्पराओ के युगपत् पर्यवेक्षण से बुद्ध के जन्म, बोधिलाभ और निर्वाण सम्बन्धी अव तक के विवादास्पद जटिल और पहेली बने हुए प्रश्न का सदा सर्वदा के लिये हल निकल आता है।

इस जटिल समस्या को सुलझाने मे सहायक होने वाले वायुपुराण के वे श्लोक इस प्रकार हैं :-

वृहद्रथेष्वतीतेषु वीतहोत्रेषु वर्तिषु ।।१६८।।
मुनिक · स्वामिन हत्वा, पुत्रं समभिषेक्ष्यति ।
मिषता क्षत्रियाणा हि प्रद्योतो मुनिको वलात् ।।१६९।।

१ Ibid Vol 1 P 97 Vol II PP 72-73

२ Ibid, Vol II P 69

३ Prabuddha Karnataka, a Karnatak Quarterly published by the Mysore University, Volume XXVII (1945-46) No 1 PP 92-93 the Date of Nirvana of Lord Mahaveera in Mahaveera Commemmoration Volume PP 93-94

स वै प्रणतसामन्तो, भविष्ये नयवर्जितः ।
त्रयोविंशत्समा राजा भविता स नरोत्तम ॥१७०॥

अर्थात् वार्हद्रथो (जरासंध के वंशजो) का राज्य समाप्त हो जाने पर वीतहोत्रो के शासनकाल मे मुनिक सव क्षत्रियों के देखते-देखते अपने स्वामी की हत्या कर अपने पुत्र को अवन्ती के राज्यसिंहासन पर वैठायेगा। हे राजन्! वह प्रद्योत सामन्तों को अपने वश मे कर तेवीस वर्ष तक न्याय-विहीन ढग से राज्य करेगा।

अन्तिम श्लोक मे जो यह उल्लेख है कि प्रद्योत २३ वर्ष तक राज्य करेगा यह तथ्य वस्तुत बुद्ध के साथ भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य अथवा वोधि, निर्वाण तथा पूर्ण आयु आदि कालमान को निर्णायक एव प्रामाणिक रूप से निश्चित करने वाला तथ्य है।

तिव्वती बौद्ध परम्परा की यह मान्यता है कि जिस दिन वुद्ध का जन्म हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का भी जन्म हुआ और जिस दिन चण्डप्रद्योत का अवन्ती के राज्यसिंहासन पर अभिषेक हुआ उसी दिन वुद्ध को वोधिलाभ हुआ।

वुद्ध की पूर्ण आयु ८० वर्ष थी, उन्होंने २८ वर्ष की उम्र मे गृहत्याग किया और ३५ वर्ष की आयु में उन्हें वोधि-प्राप्ति हुई – इन ऐतिहासिक तथ्यों को सभी इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं।

जिस दिन वुद्ध को वोधिलाभ हुआ उस दिन वुद्ध ३५ वर्ष के थे इस सर्वसम्मत अभिमत के अनुसार वुद्ध और प्रद्योत के समवयस्क होने के कारण यह स्वतः प्रमाणित है कि प्रद्योत ३५ वर्ष की आयु मे अवन्ती का राजा बना। वायुपुराण के इस उल्लेख से कि प्रद्योत ने २३ वर्ष तक राज्य किया, यह स्पष्ट है कि प्रद्योत ५८ वर्ष की आयु तक शासनारूढ रहा। उसके पश्चात् प्रद्योत का पुत्र पालक अवन्ती का राजा वना।

जैन परम्परा के सभी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थो मे यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर का जिस दिन निर्वाण हुआ उसी दिन प्रद्योत के पुत्र पालक का उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती में राज्याभिषेक हुआ।

इस प्रकार सनातन, जैन और वौद्ध इन तीनों मान्यताओ द्वारा परिपुष्ट प्रमाणों के समन्वयन से यह सिद्ध होता है कि जिस दिन भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया उस दिन प्रद्योत का ५८ वर्ष की उम्र में देहावसान हुआ और उस दिन वुद्ध ५८ वर्ष के हो चुके थे। वुद्ध की पूर्ण आयु ८० वर्ष मानी गई है। इससे वुद्ध का जन्मकाल भगवान् महावीर के जन्म से १४ वर्ष पश्चात्, वुद्ध का दीक्षाकाल महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के आसपास, वोधिप्राप्ति भगवान् महावीर की केवली-चर्या के आठवे वर्ष मे और वुद्ध का निर्वाणकाल भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् का सिद्ध होता है।

चण्डप्रद्योत भगवान् महावीर से उम्र मे छोटे थे इस तथ्य की पुष्टि श्रीमज्जिनदासगरिण महत्तर रचित आवश्यक चूर्णी से भी होती है। चूर्णिकार ने लिखा है कि जिस समय भगवान् २८ वर्ष के हुए उस समय उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। तदनन्तर महावीर ने अपने अभिगह के अनुसार प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की पर नन्दीवर्द्धन आदि के अनुरोध पर सयम के साथ विरक्त की तरह दो वर्ष गृहवास मे रहने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वीकार किया। महावीर द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति के पश्चात् श्रेणिक और प्रद्योत आदि कुमार वहा से विदा हो अपने-अपने नगर की ओर लौट गये। इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार के मूल शब्द इस प्रकार है –

"... ताहे सेरिणयपज्जोयादयो कुमारा पडिगता, ण एस चक्किकत्ति।"

चूर्णिकार के इस वाक्य पर वायुपुराण और महावीर-निर्वाणकाल के सदर्भ मे विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रद्योत की आयु महागज सिद्धार्थ और त्रिशला देवी के स्वर्गगमन के समय १४ वर्ष की थी। तदनुसार ५२७ ई० पूर्व भगवान् महावीर का प्रामारिणक निर्वारणकाल मानने पर महावीर का जन्म ई० पूर्व ५९९ मे और बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५८५ मे होना सिद्ध होता है।

इन सब तथ्यो को एक दूसरे के साथ जोड कर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पूर्व ५२७ में हुआ और बुद्ध का निर्वाण भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व ५०५ मे हुआ।

अशोक के शिलालेखो मे अकित २५६ के अंक जो विद्वानों द्वारा बुद्ध-निर्वाण वर्ष के सूचक माने जाते है, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५०५ मे हुआ। इस सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :–

अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट से मिले है,[1] उनमे शिलालेखो के खुदवाने के काल तिथि के स्थान पर केवल २५६ का अक खुदा हुआ है। इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों का अभिमत है कि ये अंक बुद्ध के निर्वाणकाल के सूचक ही हो सकते हैं। उनका अनुमान है कि जिस दिन ये शिलालेख लिखवाये गये उस दिन बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के २५६ वर्ष वीत चुके थे।

इतिहास-प्रसिद्ध राजा अशोक का राज्याभिषेक ई० पूर्व २६९ मे हुआ इससे सभी इतिहासज्ञ सहमत हैं। अपने राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात् अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। कलिंग के युद्ध मे हुए भीषण नरसहार को देख कर अशोक को युद्ध से वडी घृणा हो गई और वह वौद्ध धर्मानुयायी वन गया।

---

[1] जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख।

अशोक ने उपरोक्त १ स० के शिलालेख मे यह स्वीकार किया है कि बौद्ध बनने के २½ वर्ष पश्चात् तक वह कोई अधिक उद्योग नही कर सका। उसके एक वर्ष पश्चात् वह संघ मे आया।

संघ उपेत होने के पश्चात् अशोक ने अपनी और अपने राज्य की पूरी शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार मे लगादी। उसने भारत और भारत के बाहर के राज्यो से बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए सन्धिया की। बौद्ध संघ की काफी अशों मे अभ्युन्नति करने और अपनी महान् धार्मिक उपलब्धियो के पश्चात् उसने स्थान-स्थान पर अपनी धार्मिक आज्ञाओ को शिलाओ पर टकित करवाया। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यो मे कम से कम नौ-दस वर्ष तो अवश्य लगे ही होगे। तो इस तरह उपरोक्त शिलालेख अपने राज्याभिषेक से बीसवें वर्ष मे अर्थात् ई० सन् से २४६ वर्ष पूर्व तैयार करवाये होगे, जिस दिन कि बुद्ध का निर्वाण हुए २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इस प्रकार के अनुमान और कल्पना के बल पर बुद्ध का निर्वाण ई० सन् ५०५ मे होना पाया जाता है।

यह अनुमान प्रमाण वायुपुराण मे उल्लिखित प्रद्योत के राज्यकाल के आधार पर प्रमाणित बुद्ध के निर्वाणकाल का समर्थन करता है। इस प्रकार तीन बड़ी धार्मिक परम्पराओ मे उल्लिखित विभिन्न तथ्यो के आधार पर प्रमाणित एवं अशोक के शिलालेखो से समर्थित होने के कारण बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ ही प्रामाणिक ठहरता है।

उक्त तीनो परम्पराओ के प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थो मे प्रद्योत को युद्धप्रिय और उग्र स्वभाव वाला बताया है यह उल्लेखनीय समानता है। प्रद्योत के जन्म के साथ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ और उसके देहावसान के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, यह कितना अद्भुत संयोग है, जिसने प्रद्योत को एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक राजा के रूप मे भारत के इतिहास में अमर बना दिया है।

इन सब अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर असदिग्ध एवं प्रामाणिक रूप से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५२७ में और बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ मे हुआ।

निर्वाणस्थली

डॉ० जैकोबी ने बौद्ध शास्त्रो मे वर्णित महावीर-निर्वाणस्थली पावा को शाक्यभूमि में होना स्वीकार किया है, जहा कि अन्तिम दिनो मे बुद्ध ने भी प्रवास किया था। पर जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की निर्वाण-स्थली पटना जिले के अन्तर्गत राजगृह के समीपस्थ पावा है, जिसे आज भव्य मन्दिरो ने एक जैन तीर्थ बना दिया है। किन्तु इतिहासकार इससे सहमत प्रतीत नही होते क्योकि भगवान् महावीर के निर्वाण-अवसर पर मल्लो और लिच्छवियो

के अठारह गण-राजा उपस्थित थे, जिनका उत्तरी बिहार की पावा मे ही होना सभव जचता है, कारण कि उधर ही उन लोगो का राज्य था, दक्षिण बिहार की पावा तो उनका शत्रु-प्रदेश था।

प० राहुल साकृत्यायन ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[1] उनका कहना है कि भगवान् महावीर का निर्वाण वस्तुत. गगा के उत्तरी अचल मे आई हुई पावा मे ही हुआ था जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले के अन्तर्गत पपुहर नामक ग्राम है। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी ऐसी ही संभावना व्यक्त की है।[2]

---

[1] दर्शन दिग्दर्शन, पृ०५५५, टिप्पण ३।
[2] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १८६।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

तीर्थंकर परिचय पत्र

पितृ नाम

क्र सं	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		समवायाग	हरिवश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
१	ऋषभदेव	नाभि	नाभि	नाभि	नाभिराय
२	अजितनाथ	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु
३	सभवनाथ	जितारी	जितारि	दृढराज्य	जितारि
४	अभिनन्दन	सवर	सवर	स्वयंवर	सवर
५	सुमतिनाथ	मेघ	मेघप्रभ	मेघरथ	मेघप्रभ
६	पद्मप्रभ	धर	धरण	धरण	धरण
७	सुपार्श्वनाथ	प्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
८	चन्द्रप्रभ	महासेन	महासेन	महासेन	महासेन
९	सुविधिनाथ	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
१०	शीतलनाथ	दृढरथ	दृढ़रथ	दृढरथ	दृढरथ
११	श्रेयासनाथ	विष्णु	विष्णुराज	विष्णु	विष्णु
१२	वासुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य
१३	विमलनाथ	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा
१४	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन
१५	धर्मनाथ	भानु	भानुराज	भानु	भानुनरेन्द्र
१६	शान्तिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन
१७	कुथुनाथ	सूर	सूर्य	सूरसेन	सूर्यसेन
१८	अरनाथ	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन
१९	मल्लिनाथ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ
२०	मुनिसुव्रत	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र
२१	नमिनाथ	विजय	विजय	विजय	विजयनरेन्द्र
२२	अरिष्टनेमि	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय
२३	पार्श्वनाथ	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन
२४	महावीर	सिद्धार्थ*	सिद्धार्थ†	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ

*सत्तरिसयद्वार, प्रवचन सारोद्धार और आव० नि गा ३८७ से ३८९ मे यही नाम दिये है।

†श्लो० १८२ से २०५

मातृ नाम

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		समवायग	प्रवचन	आवश्यक नि०	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी
२	अजितनाथ	विजया	विजया	विजया	विजया	विजयसेना	विजया
३	सभवनाथ	सेना	सेना	सेणा	सेना	सुषेणा	सुसेना
४	अभिनन्दन	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था
५	सुमतिनाथ	मगला	मगला	मगला	सुमगला	मगला	मगला
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा
७	सुपार्श्वनाथ	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथिवीषेणा	पृथिवी
८	चन्द्रप्रभ	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	(लक्ष्मणा) लक्ष्मीमती
९	सुविधिनाथ	रामा	रामा	श्यामा	रामा	जयरामा	रामा
१०	शीतलनाथ	नन्दा	नन्दा	नन्दा	सुनन्दा	सुनन्दा	नन्दा
११	श्रेयासनाथ	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णुश्री	सुनन्दा	वेणुदेवी
१२	वासुपूज्य	जया	जया	जया	जया	जयावती	विजया
१३	विमलनाथ	सामा	सामा	रामा	शर्मा	जयश्यामा	जयश्यामा
१४	अनन्तनाथ	सुजशा	सुजशा	सुजशा	सर्वयशा	जयश्यामा	सर्वयशा
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुप्रभा	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	अचिरा	अचिरा	ऐरा	ऐरा	ऐरा (अइराए)
१७	कुंथुनाथ	श्री	श्री	श्री	श्रीमती	श्रीकान्ता	श्रीमतीदेवी
१८	अरनाथ	देवी	देवी	देवी	मित्रा	मित्रसेना	मित्रा
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	प्रभावती	प्रभावती	रक्षिता	प्रजावती	प्रभावती
२०	मुनिसुव्रत	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	सोमा	पद्मा
२१	नमिनाथ	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्पिला	वप्रिला
२२	अरिष्टनेमि	शिवा	शिवा	शिवा	शिवा	शिवदेवी	शिवदेवी
२३	पार्श्वनाथ	वामा (वम्मा)	वामा	वम्मा	वर्मा	ब्राह्मी	वर्मिला (वामा)
२४	महावीर	त्रिशला	त्रिशला	त्रिशला	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी

जन्म-भूमि

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		सत्तरिसय द्वार	आवश्यक नि०	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
१	ऋषभदेव	इक्ष्वाकुभूमि	इक्ष्वाकुभूमि	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या
२	अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेत
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
४	अभिनन्दन	अयोध्या	विनीता	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
५	सुमतिनाथ	अयोध्या	कोसलपुर	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
६	पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी
७	सुपार्श्वनाथ	वाणारसी	वाराणसी	काशी	वाराणसी	वाराणसी
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी
१०	शीतलनाथ	भद्दिलपुर	भद्दिल्लपुरी	भद्दिलापुरी	भद्रपुर	भद्दलपुर
११	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहनादपुर	सिंहपुर	सिंहपुरी
१२	वासुपूज्य	चम्पा	चम्पा	चम्पापुरी	चम्पा	चम्पानगरी
१३	विमलनाथ	कापिल्य	कपिलपुर	कपिल्यपुर	काम्पिल्यपुर	कपिलापुरी
१४	अनन्तनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्यानगरी	अयोध्या	अयोध्यापुरी
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर
१६	शान्तिनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१७	कुंथुनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१८	अरनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगरी	मिथलापुरी
२०	मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृही	कुशाग्रनगर	राजगृह	राजगृह
२१	नमिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथलापुरी
२२	अरिष्टनेमि	सोरियपुर	सौर्यपुरम्	सूर्यपुरनगर	द्वारावती	शोरीपुर
२३	पार्श्वनाथ	वाणारसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी
२४	महावीर	कुडपुर	कुण्डलपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुडलपुर

च्यवन-तिथि

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		सत्त०द्वार १४ गा ५९ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	आषाढ़ कृ० ४	—
२	अजितनाथ	वैशाख शु० १३	ज्येष्ठ कृ० १५
३	संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	फाल्गुन शु० ८
४	अभिनन्दन	वैशाख शु० ४	वैशाख शु० ६
५	सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	श्रावण शु० २
६	पद्मप्रभ	माघ कृ० ६	माघ कृ० ६
७	सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद कृ० ८	भाद्रपद शु० ६
८	चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	चैत्र कृ० ५
९	सुविधिनाथ	फाल्गुन कृ० ९	फाल्गुन कृ० ९
१०	शीतलनाथ	वैशाख कृ० ६	चैत्र कृ० ८
११	श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	ज्येष्ठ कृ० ६
१२	वासुपूज्य	ज्येष्ठ शु० ९	आषाढ कृ० ६
१३	विमलनाथ	वैशाख शु० १२	ज्येष्ठ कृ० १०
१४	अनन्तनाथ	श्रावण कृ० ७	कार्तिक कृ० १
१५	धर्मनाथ	वैशाख शु० ७	वैशाख शु० १३
१६	शान्तिनाथ	भाद्रपद कृ० ७	भाद्रपद कृ० ७
१७	कुंथुनाथ	श्रावण कृ० ९	श्रावण कृ० १०
१८	अरनाथ	फाल्गुन शु० २	फाल्गुन कृ० ३
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु० ४	चैत्र शु० १
२०	मुनिसुव्रत	श्रावण शु० १५	श्रावण कृ० २
२१	नमिनाथ	आश्विन शु० १५	आश्विन कृ० २
२२	अरिष्टनेमि	कार्तिक कृ० १२	कार्तिक शु० ६
२३	पार्श्वनाथ	चैत्र कृ० ४	वैशाख कृ० २ विशाखा
२४	महावीर	आषाढ शु० ६	आषाढ शु० ६

च्यवन-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तरापाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	सम्भवनाथ	मृगशीर्ष	मृगशीर्ष
४	अभिनन्दन	पुनर्वसु	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वापाढा	पूर्वापाढा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिशा	शतभिशा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	रेवती
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	उत्तरापाढा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराषाढा

च्यवन-स्थल

क्र स	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ	
		सत० द्वार १२ गाथा ५४–५६	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा ५२२–२५
१	ऋषभदेव	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
२	अजितनाथ	विजय विमान	विजय विमान	विजय से
३	सभवनाथ	सातवा ग्रैवेयक	सुदर्शन विमान प्रथम ग्रैवेयक	अधोग्रैवेयक
४	अभिनन्दन	जयत विमान	विजय विमान	विजय से
५	सुमतिनाथ	जयत विमान	वैजयन्त	जयन्त
६	पद्मप्रभ	नौवा ग्रैवेयक	उर्ध्व गैवेयक प्रीतिकर विमान	ऊर्ध्व ग्रैवेयक
७	सुपार्श्वनाथ	छठा ग्रैवेयक	मध्य ग्रैवेयक	मध्य ग्रैवेयक
८	चन्द्रप्रभ	वैजयत विमान	वैजयन्त	वैजयत विमान
९	सुविधिनाथ	आनत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग	आरण युगल
१०	शीतलनाथ	प्राणत स्वर्ग	आरण १५वा स्वर्ग	आरण युगल
११	श्रेयांसनाथ	अच्युत स्वर्ग	अच्युत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान
१२	वासुपूज्य	प्राणत स्वर्ग	महाशुक्र विमान	महाशुक्र
१३	विमलनाथ	सहस्रार	सहस्रार स्वर्ग	शतारकल्प से
१४	अनन्तनाथ	प्राणत	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान
१५	धर्मनाथ+	विजय विमान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१६	शान्तिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१७	कुथुनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१८	अरनाथ	सर्वार्थसिद्ध	जयत	अपराजित
१९	मल्लिनाथ	जयत विमान	अपराजित विमान	अपराजित विमान
२०	मुनिसुव्रत	अपराजित विमान	प्राणत	आनत विमान
२१	नमिनाथ	प्राणत स्वर्ग	अपराजित	अपराजित विमान
२२	अरिष्टनेमि	अपराजित विमान	जयन्त	अपराजित
२३	पार्श्वनाथ	प्राणत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग (इन्द्र)	प्राणत कल्प
२४	महावीर	प्राणत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान

+श्री धर्मनाथ ने स्वर्ग की मध्यम आयु और शेष तीर्थंकरो ने उत्कृष्ट आयु भोगी।

जन्म तिथि

क्र.स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		सत्त० २१ द्वा. गा. ७८ से ८१		हरिवंश पुराण गा. १९९-१८०	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गा. ५२६-५४९
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ ८		चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ ९
२	अजितनाथ	माघ शु ८	माघ शु. १०	माघ शु. ९	माघ शु. १०	माघ शु. १०
३	संभवनाथ	मार्ग. शु. १४	फाल्गुन शु ८	मार्ग. शु १५	कार्तिक शु. १५	मंगसर शु. १५
४	अभिनन्दन	माघ शु २		माघ शु १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु ८	चैत्र शु. ११	श्रावण शु. ११	चैत्र शु. ११	श्रा. शु. ११
६	पद्मप्रभ	कार्तिक कृ १२		कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ १३	आसोज कृ. १३
७	सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १२		ज्येष्ठ शु १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १२		पौष कृ. ११	पौष कृ ११	पौष कृ. ११
९	सुविधिनाथ	मार्गशी. कृ. ५		मार्गशी. शु १	मार्गशीर्ष शु. १	मार्गशी. शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ. १२		माघ कृ १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२
११	श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृ. १२		फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन शु. ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. १४		फाल्गुन कृ १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन शु. १४
१३	विमलनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १४	माघ शु. ४*	माघ शु. १४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १३		ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ १२	ज्येष्ठ कृ. १२
१५	धर्मनाथ	माघ शु. ३		माघ शु १३	माघ शु १३	माघ शु. १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १३		ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु १२
१७	कुन्थुनाथ	वैशाख कृ. १४		वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	मार्गशी. शु. १०		मार्गशी शु १४	मार्गशी शु. १४	मिग. शु. १४
१९	मल्लिनाथ	मार्गशी. शु. ११		मार्गशी. शु ११	मार्ग शु ११	मिग. शु ११
२०	मुनिसुव्रत	ज्येष्ठ कृ. ८		आश्विन शु. १२	×	आश्विन शु १२
२१	नमिनाथ	श्रावण कृ ८		आषाढ़ कृ. १०	आषाढ़ कृ १०	आषाढ शु १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु. ५		वैशाख शु १३	श्रावण शु ६	वैशाख शु. १३
२३	पार्श्वनाथ	पौष कृ १०		पौष कृ. ११	पौष कृ ११ पर्व ७३ श्लो. ९०	पौष कृ. ११
२४	महावीर	चैत्र शु. १३		चैत्र शु. १३	चैत्र शु. १३	चैत्र शु. १३

*कुछ प्रतियों के अनुसार माघ शु १४। × श्री मुनिसुव्रतस्वामी की जन्मतिथि उत्तर पुराण मे दी ही नहीं है।

जन्म-नक्षत्र

क्र०स०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	सभवनाथ	मृगशीर्ष	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयासनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपदा	पूर्वाभाद्रपदा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रोहिणी
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी

वर्ण

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा ४६	आव० नि०	हरिवश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	स्वर्ण के समान
२	अजितनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	सुवर्ण के समान पीत
३	सभवनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	—
४	अभिनन्दन	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	चन्द्रमा के समान
५	सुमतिनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	तपाये स्वर्ण के समान
६	पद्मप्रभ	लाल	लाल	लाल	लालवर्ण	मूगे के समान रक्त वर्ण	लाल कमल के समान
७	सुपार्श्वनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	हरितवर्ण	हरितवर्ण	चन्द्रमा के समान
८	चद्रप्रभ	गौर श्वेत	गौर श्वेत	चद्र गौर	गौर श्वेत	कुन्द पुष्प	चन्द्र गौर
९	सुविधिनाथ	,, ,,	,, ,,	चद्र गौर	शख के समान	,,	—
१०	शीतलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान
११	श्रेयासनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	सुवर्ण के समान
१२	वासुपूज्य	लाल	लाल	लाल	लालवर्ण	मूगे के समान रक्त वर्ण	कुकुम के समान
१३	विमलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान

क स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा ४६	ग्राव० नि०	हरिवश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१४	ग्रनतनाथ	तपे सोने की तरह गौरवर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के ममान
१५	धर्मनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१६	शान्तिनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१७	कुथुनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१८	ग्ररनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१९	मल्लिनाथ	प्रियगु (नीले)	प्रियगु (नीले)	प्रियगु नील	,,	,,	स्वर्ण के समान
२०	मुनिसुव्रत	काला	काला	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण (मयूर के कठ के समान)
२१	नमिनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान	सुवर्ण के समान
२२	ग्ररिष्टनेमि	काला (श्याम)	काला (श्याम)	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण
२३	पार्श्वनाथ	प्रियगु (नीले)	प्रियगु (नीले)	प्रियगु नील	श्यामल	हरितवर्ण	हरित
२४	महावीर	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीले	—

लक्षण

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्वर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्वर संदर्भ-ग्रंथ
		प्रवचन० द्वार २६ गा. ३७६-८०	सत्त० द्वा ४२ गाथा १२१-१२२	तिलोयपण्णत्ती गा ६०४-६०५
१	ऋषभदेव	वृषभ	वृषभ	वैल
२	अजितनाथ	गज	गज	गज
३	संभवनाथ	तुरय (अश्व)	अश्व	अश्व
४	अभिनन्दन	वानर	वानर	वन्दर
५	सुमतिनाथ	कुञ्च (क्रौच)	कुञ्च	चकवा
६	पद्मप्रभ	कमल	रक्त कमल	कमल
७	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	स्वस्तिक	नद्यावर्त
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्र	चन्द्र	अर्द्धचन्द्र
९	सुविधिनाथ	मगर	मगर	मगर
१०	शीतलनाथ	श्रीवत्स	श्रीवत्स	स्वस्तिक
११	श्रेयांसनाथ	गण्डय खडी (गेंडा)	गेंडा	गेंडा
१२	वासुपूज्य	महिष	महिष	भैंसा
१३	विमलनाथ	वराह	वराह	शूकर
१४	अनन्तनाथ	श्येन	श्येन	सेही
१५	धर्मनाथ	वज्र	वज्र	वज्र
१६	शान्तिनाथ	हरिण	हरिण	हरिण
१७	कुथुनाथ	छाग	छाग	छाग
१८	अरनाथ	नद्यावर्त	नद्यावर्त	तगर कुसुम (मत्स्य)
१९	मल्लिनाथ	कलश	कलश	कलश
२०	मुनिसुव्रत	कूर्म	कूर्म	कूर्म
२१	नमिनाथ	नीलोत्पल	नीलोत्पल	उत्पल (नील कमल)
२२	अरिष्टनेमि	शख	शख	शख
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	सर्प	सर्प
२४	महावीर	सिंह	सिंह	सिंह
				पृ० २१९

शरीर मान

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आव० नि०	सप्ततिशत गाथा ४६	समवायाग	हरिवश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तरपुराण
१	ऋषभदेव	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष
२	अजितनाथ	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,
३	सभवनाथ	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,
४	अभिनन्दन	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,
५	सुमतिनाथ	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,
६	पद्मप्रभ	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,
७	सुपार्श्वनाथ	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,
८	चन्द्रप्रभ	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,
९	सुविधिनाथ	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,
१०	शीतलनाथ	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,
११	श्रेयासनाथ	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,
१२	वासुपूज्य	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,
१३	विमलनाथ	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,
१४	अनन्तनाथ	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,
१५	धर्मनाथ	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	१८० हाथ
१६	शान्तिनाथ	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० धनुष
१७	कुथुनाथ	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,
१८	अरनाथ	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,
१९	मल्लिनाथ	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,
२०	मुनिसुव्रत	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,
२१	नमिनाथ	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,	१५ ,,	१५ ,,
२२	अरिष्टनेमि	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,
२३	पार्श्वनाथ	९ हाथ	९ हाथ	९ हाथ (रत्नी)	९ हाथ	९ हाथ	९ हाथ
२४	महावीर	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ (रत्नी)	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ

कौमार्य जीवन

स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि० गा २६६-३२२	सत्तरि० द्वार ५४ गा. १३५ से १३७	हरिवंश पुराण ३३० से ३३१	तिलोय पण्णत्ती गा ५८३-५८५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व
२	अजितनाथ	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व
३	संभवनाथ	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व
४	अभिनन्दन	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व
५	सुमतिनाथ	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
६	पद्मप्रभ	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व
७	सुपार्श्वनाथ	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व
८	चन्द्रप्रभ	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व
९	सुविधिनाथ	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व
१०	शीतलनाथ	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ण	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष
१५	धर्मनाथ	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष
१७	कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष
१९	मल्लिनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष
२१	नमिनाथ	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
२४	महावीर	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
				पृ० ७३१-७३२	पृ० २१० से २१६	

राज्य काल

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि गा २६६-३२२	सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	हरिवश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	—
२	अजितनाथ	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग
३	सभवनाथ	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग
४	अभिनन्दन	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व और ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६५००००
५	सुमतिनाथ	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग
६	पद्मप्रभ	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपार्श्वनाथ	१४ लाख पूर्व २० अग	१४ लाख पूर्व २० अग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग
९	सुविधिनाथ	५० हजार पूर्व २८ अग	५० हजार पूर्व २८ अग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग
१०	शीतलनाथ	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व
११	श्रेयासनाथ	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	५० लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष[1]

[1] एव पचखपक्षाब्धिमितसवत्सरावधौ, राज्यकालेऽयमन्येद्युर्वसन्तपरिवर्तनम् ।। उत्तर पु, अ ५७ श्लो ४३

क्र.सं	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि. गा. २९९-३२२	सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१९	उत्तर पुराण
१२	वासुपूज्य*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
१३	विमलनाथ	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५००००० वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ ह वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती
१७	कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माड. इतना ही चक्र	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माडलिक २३७५० वर्ष चक्रवर्ती
१८	अरनाथ	२१००० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष माड इतना ही चक्र	२१००० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१ हजार वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१ हजार वर्ष मांडलिक २१ हजार वर्ष चक्रवर्ती
१९	मल्लिनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२०	मुनिसुव्रत	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष
२१	नमिनाथ	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२३	पार्श्वनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२४	महावीर*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव

* ताराकित ५ तीर्थंकरो ने राज्य का उपभोग ही नहीं किया

दीक्षा-तिथि

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		
		सत्त द्वार ५६, गाथा १४५ से १४७	हरिवंश पुराण गाथा २२६-२३६	तिलोयपण्णत्ती गाथा ६४४-६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ ८	चैत्र कृ ६	चैत्र कृ ६	चैत्र कृ. ६
२	अजितनाथ	माघ शु ६	माघ शु ६	माघ शु. ६	माघ शु ६
३	सभवनाथ	मार्गशीर्ष शु १५	मार्गशीर्ष शु १५	मार्गशीर्ष शु १५	—
४	अभिनन्दन	माघ शु १२	माघ शु १२	माघ शु १२	माघ शु १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु ६	मार्गशीर्ष कृ १०	वैशाख शु. ६	वैशाख शु. ६
६	पद्मप्रभ	कार्तिक कृ १३	कार्तिक कृ १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ १३
७	सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शु १३	ज्येष्ठ कृ १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ १३	पौष कृ ११	पौष कृ. ११	पौष कृ ११
९	सुविधिनाथ	मार्गशीर्ष कृ ६	मार्गशीर्ष शु १	पौष शु ११	मार्गशीर्ष शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ १२	माघ कृ १२	माघ कृ १२	माघ कृ. १२
११	श्रेयासनाथ	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ १३	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन कृ ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ ३०	फाल्गुन कृ १४	फाल्गुन कृ १४	फाल्गुन कृ १४
१३	विमलनाथ	माघ शु ४	माघ शु ४	माघ शु ४	माघ शु ४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ १४	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ १२	ज्येष्ठ कृ १[illegible]
१५	धर्मनाथ	माघ शु १३	माघ शु १३	भाद्रपद शु १३	माघ शु १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ १३	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुंथुनाथ	वैशाख कृ. ५	वैशाख शु. १	वैशाख शु १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	मार्गशीर्ष शु ११	मार्गशीर्ष शु १०	मार्गशीर्ष शु १०	मार्गशीर्ष शु १०
१९	मल्लिनाथ	मार्गशीर्ष कृ ११	मार्गशीर्ष शु ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु ११
२०	मुनिसुव्रत	ज्येष्ठ शु १२	वैशाख कृ ६	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ १०
२१	नमिनाथ	श्रावण कृ ६	आषाढ कृ १०	आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु ६	श्रावण शु ४	श्रावण शु ६	—
२३	पार्श्वनाथ	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	माघ शु. ११	पौष कृ. ११
२४	महावीर	चैत्र शु. १०	मार्गशीर्ष कृ १०	मार्गशीर्ष कृ १०	मार्गशीर्ष कृ. १०

तीर्थंकरों के दीक्षा-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	सभवनाथ	अभिजित	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	मृगशीर्ष	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	अनुराधा
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	मूल
११	श्रेयासनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपदा	उत्तराभाद्रपदा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तरा

दीक्षा साथी

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन सारोद्धार गाथा ३८३ से ३८४	सत्तरिसय गाथा १५३-५५	समवायाग समवाय २५	हरिवंश पुराण गाथा ३५०-३५१	तिलोय-पण्णत्ती गा. ६६८ से ६६९	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
३	सभवनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
४	अभिनन्दन	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
५	सुमतिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
६	पद्मप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
७	सुपार्श्वनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१०	शीतलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
११	श्रेयासनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०६	६७६	६७६
१३	विमलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१६	शान्तिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१७	कुथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१९	मल्लिनाथ	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२३	पार्श्वनाथ	३०० पुरुष	३००	३००	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२४	महावीर	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	१०००*

* गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥

— उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१२

प्रथम तप

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		सम गा २६, प्र० सा० ४३ द्वा०	आवश्यक नि०	सत्त द्वार ६३ गाथा १४६	हरिवंश पुराण गाथा २१६ से २२०	तिलोय पण्णत्ती गाथा ६४४ से ६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	वेला (छट्ठभक्त)	वेला	वेला	छमास अनसन	षष्ठ उपवास	—
२	अजितनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला(छट्ठ भक्त)	अष्टम भक्त	वेला
३	सभवनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	—
४	अभिनन्दन	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
५	सुमतिनाथ	नित्यभक्त	वेला	नित्यभक्त	तेला	तेला	वेला
६	पद्मप्रभ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
७	सुपार्श्वनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
८	चन्द्रप्रभ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
९	सुविधिनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
१०	शीतलनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
११	श्रेयासनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तेला	वेला
१२	वासुपूज्य	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	एक उपवास	एक उपवास	वेला
१३	विमलनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	वेला
१४	अनन्तनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	वेला
१५	धर्मनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	वेला
१६	शान्तिनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	वेला
१७	कुंथुनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	तेला
१८	अरनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	तेला
१९	मल्लिनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	तीन उपवास	षष्ठ भक्त	वेला
२०	मुनिसुव्रत	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	वेला
२१	नमिनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	वेला
२२	अरिष्टनेमि	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	तेला
२३	पार्श्वनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	एक उपवास	षष्ठभक्त	तेला
२४	महावीर	वेला	वेला	वेला	वेला	तीन उपवास	तेला

प्रथम पारणा-दाता

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		आवश्यक नि० गा ३२३ से ३२६	सत्त० द्वार ७७ गा. १६३-१६५	समवायाग गा. ७६-७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६६	हरिवंश पुराण ७२४
१	ऋषभदेव	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस
२	अजितनाथ	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्माराजा	ब्रह्मदत्त
३	संभवनाथ	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त
४	अभिनन्दन	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्तराजा	इन्द्रदत्त
५	सुमतिनाथ	पद्म	पद्म	पद्म	पद्मराजा	पद्मक
६	पद्मप्रभ	सोमदेव	सोमदेव	सोमदेव	सोमदत्तराजा	सोमदत्त
७	सुपार्श्वनाथ	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्रदत्त राजा	महादत्त
८	चन्द्रप्रभ	सोमदत्त	सोमदत्त	सोमदत्त	सोमदत्तराजा	सोमदेव
९	सुविधिनाथ	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्यमित्रराजा	पुष्पक
१०	शीतलनाथ	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसुराजा	पुनर्वसु
११	श्रेयांसनाथ	पूर्णनंद	नंद	पूर्णनंद	नंदराजा	सुनन्द
१२	वासुपूज्य	सुनन्द	सुनन्द	सुनन्द	सुन्दरराजा	जय
१३	विमलनाथ	जय	जय	जय	कनकप्रभु	विशाख
१४	अनन्तनाथ	विजय	विजय	विजय	विशाखराजा	धर्मसिंह
१५	धर्मनाथ	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धन्य	सुमित्र
१६	शान्तिनाथ	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्रराजा	धर्ममित्र
१७	कुंथुनाथ	व्याघ्रसिंह (वग्गसीह)	व्याघ्रसिंह	वग्गसिंह	धर्ममित्रराजा	अपराजित
१८	अरनाथ	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजितराजा	नन्दिषेण
१९	मल्लिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	नन्दीषेण	वृषभदत्त
२०	मुनिसुव्रत	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ऋषभसेन	वृषभषेन	दत्त
२१	नमिनाथ	दिन्न	दिन्न	दिन्न	दत्तराजा	वरदत्त
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदिन्न	वरदत्त	वरदत्त	नृपति
२३	पार्श्वनाथ	धन्य	धन्य	धन्य	धन्यराजा	धन्य
२४	महावीर	बहुल	बहुल	बहुल	कूल	बकुल

प्रथम पारणा-स्थल

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्वर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रथ	
		आव निर्युक्ति ३२३ से ३२९	सत्त० द्वार ७६ गा० १६०-१६१	समवायाग ७६—७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६६	हरिवश पु० पृ० ७२४
१	ऋषभदेव	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
२	अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी	अयोध्या
३	सभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
४	अभिनन्दन	साकेतपुर	अयोध्या	साकेतपुर	साकेत (अयोध्या)	विनीता
५	सुमतिनाथ	विजयपुर	विजयपुर	विजयपुर	सौमनस नगर	विजयपुर
६	पद्मप्रभ	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	वर्द्धमान नगर	मगलपुर
७	सुपार्श्वनाथ	पाटलिखड	पाटलिखड	पाटलिखड	सोमखेट नगर	पाटलिखड
८	चन्द्रप्रभ	पद्मखड	पद्मखड	पद्मखड	नलिन नगर	पद्मखण्ड
९	सुविधिनाथ	श्रेय.पुर	श्रेय पुर	श्रेय पुर	शैलपुर नगर	श्वेतपुर
१०	शीतलनाथ	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	अरिष्ठ नगर	अरिष्ठपुर
११	श्रेयासनाथ	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थनगर	सिद्धार्थपुर
१२	वासुपूज्य	महापुर	महापुर	महापुर	महानगर	महापुर
१३	विमलनाथ	धान्यकड	धान्यकड	धान्यकड	नन्दनपुर	धान्यवटपुर
१४	अनन्तनाथ	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	साकेतपुर	वर्द्धमानपुर
१५	धर्मनाथ	सौमनस	सौमनस	सौमनस	पाटलिपुत्र	सौमनसपुर
१६	शान्तिनाथ	मदिरपुर	मदिरपुर	मदिरपुर	मदिरपुर	मदिरपुर
१७	कुथुनाथ	चक्रपुर	चक्रपुर	चक्रपुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१८	अरनाथ	राजपुर	राजपुर	राजपुर	चक्रपुरनगर	चक्रपुर
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगर	मिथिला
२०	मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह नगर	राजगृह
२१	नमिनाथ	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर
२२	अरिष्टनेमि	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारवती
२३	पार्श्वनाथ	कोपकट	कोपकट	कोपकट	गुल्मखेट	काम्यकृत
२४	महावीर	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कूलग्राम	कुंडपुर

छद्मस्थ-काल

क्र स	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		सत्त० ८४ द्वा गा १७२-१७४	आ० नि० २३८-२४०	हरिवंश पुराण श्लो. ३३७-३४०	तिलोय पण्णत्ती गा. ६७५-६७८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष
२	अजितनाथ	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष
३	सभवनाथ	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष
४	अभिनन्दन	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष
५	सुमतिनाथ	वीस वर्ष	वीस वर्ष	वीस वर्ष	वीस वर्ष	वीस वर्ष
६	पद्मप्रभ	छ महीना	छ महीना	छ मास	छ मास	छ मास
७	सुपार्श्वनाथ	नव महीना	नव महीना	नव वर्ष	नव वर्ष	नव वर्ष
८	चन्द्रप्रभ	तीन महीना	तीन महीना	तीन मास	तीन मास	तीन मास
९	सुविधिनाथ	चार महीना	चार महीना	चार मास	चार वर्ष	चार वर्ष
१०	शीतलनाथ	तीन महीना	तीन महीना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
११	श्रेयासनाथ	दो महीना	दो महीना	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१२	वासुपूज्य	एक महीना	एक महीना	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१३	विमलनाथ	दो महीना	दो महीना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
१४	अनन्तनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१५	धर्मनाथ	दो वर्ष	दो वर्ष	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१६	शान्तिनाथ	एक वर्ष	एक वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१७	कुन्थुनाथ	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१८	अरनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१९	मल्लिनाथ	* एक अहोरात्र	एक अहोरात्र	छ दिन	छ दिन	छ दिन
२०	मुनिसुव्रत	ग्यारह महीना	ग्यारह महीना	ग्यारह मास	ग्यारह मास	ग्यारह मास
२१	नमिनाथ	नव महीना	नव मास	नव वर्ष	नव मास	नव वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	चौपन दिन	चौपन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन
२३	पार्श्वनाथ	चौरासी दिन	चौरासी दिन	चार मास	चार मास	चार मास
२४	महावीर	साढे बारह वर्ष पन्द्रह दिन	साढे बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष

* ज चेव दिवस पव्वइये तस्सेव दिवसस्स पुव्वावरह्लकालसमयसि ' केवलवर नाणदसणे समुप्पन्ने ।

— ज्ञाता, श्रु. १, अ ८, सूत्र ८४

केवलज्ञान-तिथि

स	नाम-तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आव० नि०	सत्त० द्वार ८७ गा १७६-८३	तिलोय पण्णत्ती चौ. महा गाथा ६७६ से ७०१	हरिवंश पुराण ४२५ पृ	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	फा कृ. ११ उत्तरा	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन कृ.११
२	अजितनाथ	पो. शु. ११ रोहिणी	पोष शु ११	पोष शु १४	पौष शु १४	पौष शु. ११
३	समवनाथ	का. कृ, ५ मृग	कार्तिक कृ ५	कार्तिक कृ ५	कार्तिक कृ ५	कार्तिक कृ.४
४	अभिनन्दन	पो.शु १४अभि.	पोष शु १४	कार्तिक शु. ५	पौष शु. १५	पौष शु १४
५	सुमतिनाथ	चै शु ११ मघा.	चैत्र शु ११	पोष शु. १५	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११
६	पद्मप्रभ	चै शु.१५ चित्रा	चैत्र शु. १५	वैशाख शु १०	चैत्र शु १०	चैत्र शु. १५
७	सुपार्श्वनाथ	फा कृ ६ विशा	फा कृ ६	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ ६
८	चन्द्रप्रभ	फा कृ.७ अनु	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ ७	फाल्गुन कृ ७	फाल्गुन कृ.७
९	सुविधिनाथ	का शु ३ मूल	कार्तिक शु ३	कार्तिक शु ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु २
१०	शीतलनाथ	पो कृ १४पू. पा	पोष कृ. १४	पोष कृ १४	पौष कृ १४	पौष कृ. १४
११	श्रेयासनाथ	माघ कृ ३०श्रव	माघ कृ ३०	माघ कृ ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०
१२	वासुपूज्य	मा. शु २ शत	माघ शु २	माघ शु २	माघ शु २	माघ शु. २
१३	विमलनाथ	पो शु ६ उ भा	पोष शु. ६	पोष शु १०	पौष कृ १०	माघ शु. ६
१४	अनन्तनाथ	वै. कृ १४रेवती	वैशाख कृ १४	चैत्र कृ ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ ३०
१५	धर्मनाथ	पो.शु.१५ पुष्य	पोष शु १५	पोष शु १५	पौष शु १५	पौष शु १५
१६	शान्तिनाथ	पो शु ६ भरणी	पोष शु ६	पोष शु ११	पौष शु. ११	पौष शु १०
१७	कुंथुनाथ	चै. शु ३ कृत्ति	चैत्र शु ३	चैत्र शु ३	चैत्र शु ३	चैत्र शु. ३
१८	अरनाथ	का शु १२रेव	कार्तिक शु १२	कार्तिक शु.१२	कार्तिक शु १२	कार्तिक शु १२
१९	मल्लिनाथ	मृ शु ११अश्वि	मृगशीर्ष शु ११	फाल्गुन कृ १२	फाल्गुन कृ ११	मार्ग शु ११
२०	मुनिसुव्रत	फा कृ १२श्रवण	फाल्गुन कृ १२	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन. कृ ६	वैशाख कृ ९
२१	नमिनाथ	मृ शु ११अश्वि	मृगशीर्ष शु ११	चैत्र शु. ३	चैत्र शु ३	मार्ग शु ११
२२	अरिष्टनेमि	आश्विन कृ ३० चित्रा	आसोज कृ ३०	आसोज शु १	आश्विन शु.१	आसोज कृ ३०
२३	पार्श्वनाथ	चै कृ ४ विशा	चैत्र कृ ४	चैत्र कृ ४	चैत्र कृ ४	चैत्र कृ. १३
२४	महावीर	वै शु १०हस्तो०	वैशाख शु १०	वैशाख शु १०	वैशाख शु १०	वैशाख शु.१०
		गा.२६३से२७४		पृ २२७-२३०		

तीर्थंकरों के केवलज्ञान-नक्षत्र

क्र०स०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	सभवनाथ	मृगशीर्ष	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	अभिजित	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	हस्त
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयासनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तरभाद्रपद	उत्तराषाढा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	मघा

केवलज्ञान-स्थल

क्रम	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		सप्ततिशतस्थान गा. १८४-१८५	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा ६७६-७०१
१	ऋषभदेव	पुरिमताल नगरी (शकटमुख उद्यान)	पुरिमताल	पुरिमतालनगर
२	अजितनाथ	अयोध्यानगरी	—	सहेतुकवन
३	सभवनाथ	श्रावस्ती	सहेतुकवन	सहेतुकवन
४	अभिनन्दन	अयोध्या	अगउद्यान	उग्रवन
५	सुमतिनाथ	अयोध्या	सहेतुकवन	सहेतुकवन
६	पद्मप्रभ	कौशाम्बी	—	मनोहर उद्यान
७	सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	सहेतुकवन	सहेतुकवन
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	सर्वर्तुकवन	सर्वार्थवन
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	पुष्पकवन	पुष्पवन
१०	शीतलनाथ	भद्दिलपुरी	—	सहेतुकवन
११	श्रेयासनाथ	सिंहपुर	मनोहरउद्यान	मनोहरउद्यान
१२	वासुपूज्य	चम्पा	मनोहरउद्यान	मनोहरउद्यान
१३	विमलनाथ	कपिलपुर	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१४	अनन्तनाथ	अयोध्या	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर (शालवन)	सहेतुकवन
१६	शान्तिनाथ	गजपुरम्	सहस्राम्रवन	आम्रवन
१७	कुंथुनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन (हस्तिनापुर)	सहेतुकवन
१८	अरनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	श्वेतवन (मिथिला)	मनोहरउद्यान
२०	मुनिसुव्रत	राजगृही	नीलवन (राजगृह)	नीलवन
२१	नमिनाथ	मिथिला	चैत्रवनउद्यान (मिथिला)	चित्रवन
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयन्त	रैवतक	ऊर्जयतगिरि
२३	पार्श्वनाथ	वाराणसी	अश्ववन (वाराणसी)	शक्रपुर
२४	महावीर	जृंभिका नगरी ऋजु वालिका नदी पृष्ठ ४५	ऋजुकूला नदी (मनोहरवन)	ऋजुकूला नदी पृ २२७-२३०

तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्ष

क्र.म	तीर्थंकर नाम	ऊंचाई	श्वेताम्बर	दिगम्बर
			समवा गा. ३३-३७	हरिवंश पृ. ७१९-७२१
१	ऋषभदेव	३ गव्यूति	न्यग्रोध के नीचे ज्ञानोत्पत्ति	वट
२	अजितनाथ	शरीर की ऊंचाई से बारह गुना	शक्तिपर्ण	सप्तपर्ण
३	संभवनाथ		शाल	शाल
४	अभिनन्दन	,,	पियय	सरल
५	सुमतिनाथ	,,	प्रियंगु	प्रियंगु
६	पद्मप्रभ	,,	छत्राभ	प्रियंगु
७	सुपार्श्वनाथ	,,	सिरीश	सिरीश
८	चन्द्रप्रभ	,,	नागवृक्ष	नागवृक्ष
९	सुविधिनाथ	,,	माली	शाली
१०	शीतलनाथ	,,	पिलक्खु	प्लक्ष
११	श्रेयांसनाथ	,,	तिन्दुक	तिन्दुक
१२	वासुपूज्य	,,	पाटल	पाटला
१३	विमलनाथ	,,	जम्बु	जामुन
१४	अनन्तनाथ	,,	अश्वत्थ	पीपल
१५	धर्मनाथ	,,	दधिपर्ण	दधिपर्ण
१६	शान्तिनाथ	,,	नन्दिवृक्ष	नन्दिवृक्ष
१७	कुंथुनाथ	,,	पिलक्खु	पिलक्खु
१८	अरनाथ	,,	आम्र	आम्र
१९	मल्लिनाथ	,,	अशोक	अशोक
२०	मुनिसुव्रत	,,	चम्पक	चम्पक
२१	नमिनाथ	,,	बकुल	बकुल
२२	अरिष्टनेमि	,,	वेतस	मेढासीगी
२३	पार्श्वनाथ	,,	धातकी	धव
२४	महावीर	३२ धनुष	साल	शाल

गणधर समुदाय

क्र स	नाम तीर्थंकर	आव० नि० गा २६६ से ६८	समवायाग	प्रवचन सारोद्धार द्वार १५	हरिवंश पुराण गा ३४१ से ४५	तिलोय पण्णत्ती गा ३५९ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४	८४	८४	८४	८४	८४
२	अजितनाथ	९५	९०	९५	९०	९०	९०
३	संभवनाथ	१०२	१०२	१०२	१०५	१०५	१०५
४	अभिनन्दन	११६	११६	११६	१०३	१०३	१०३
५	सुमतिनाथ	१००	१००	१००	११६	११६	११६
६	पद्मप्रभ	१०७	१०७	१०७	१११	१११	११०
७	सुपार्श्वनाथ	९५	९५	९५	९५	९५	९५
८	चन्द्रप्रभ	९३	९३	९३	९३	९३	९३
९	सुविधिनाथ	८८	८६	८८	८८	८८	८८
१०	शीतलनाथ	८१	८३	८१	८१	८१	८७
११	श्रेयांसनाथ	७२	६६	७६	७७	७७	७७
१२	वासुपूज्य	६६	६२	६६	६६	६६	६६
१३	विमलनाथ	५७	५६	५७	५५	५५	५५
१४	अनंतनाथ	५०	५४	५०	५०	५०	५०
१५	धर्मनाथ	४३	४८	४३	४३	४३	४३
१६	शान्तिनाथ	३६	९०	३६	३६	३६	३६
१७	कुंथुनाथ	३५	३७	३५	३५	३५	३५
१८	अरनाथ	३३	३३	३३	३०	३०	३०
१९	मल्लिनाथ	२८	२८	२८	२८	२८	२८
२०	मुनिसुव्रत	१८	१८	१८	१८	१८	१८
२१	नमिनाथ	१७	—	१७	१७	१७	१७
२२	अरिष्टनेमि*	११	—	११	११	११	११
२३	पार्श्वनाथ	१०	८	१०	१०	१०	१०
२४	महावीर	११	११	११	११	११	११

* (क) कल्पसूत्र मे भगवान् अरिष्टनेमि के गणधरो की सख्या १८ दी गई है।

(ख) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते। प्रव०, पृ० ८६, भाग – १

प्रथम-शिष्य

क्र स	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: प्रवचन सारोद्धार ८ द्वार गा ३०४-३०६	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: समवायांग गा ३९-४१	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: सत्तरि. द्वा, १०२ द्वा गा २१४-२१५	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: हरिवंश गा ३४६-३४९	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: तिलोय प गा ९६४-९६६
१	ऋषभदेव	उषभसेन	उषभसेन	पुण्डरीक	वृषभसेन	वृषभसेन
२	अजितनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	केसरीसेन
३	संभवनाथ	चारु	चारु	चारु	चारुदत्त	चारुदत्त
४	अभिनन्दन	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रचमर
५	सुमतिनाथ	चमर	चमर	चमरगणी	चमर	वज्र
६	पद्मप्रभ	प्रद्योत	सुव्रत	सुज्ज-सुद्योत	वज्र चमर	चमर
७	सुपार्श्वनाथ	विदर्भ	विदर्भ	विदर्भ	बली	बलदत्त
८	चन्द्रप्रभ	दिन्न पहुव	दिन्न	दिन्न	दत्त	वैदर्भ
९	सुविधिनाथ	वराह	वराह	वराह	विदर्भ	नाग
१०	शीतलनाथ	प्रभुनंद	आनन्द	नंद	अनगार	कुंथु
११	श्रेयांसनाथ	कौस्तुभ	गोस्तुभ	कुच्छुभ	कुंथु	धर्म
१२	वासुपूज्य	सुभोम	सुधर्मा	सुभूम	सुधर्म	मन्दिर
१३	विमलनाथ	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दरार्य	जय
१४	अनन्तनाथ	यश	यश	यश	जय	अरिष्ठ
१५	धर्मनाथ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठसेन	सेन
१६	शान्तिनाथ	चक्रायुध	चक्राभ	चक्रायुध	चक्रायुध	चक्रायुध
१७	कुंथुनाथ	सव	सयंभू	सव	स्वयंभू	स्वयंभू
१८	अरनाथ	कुम्भ	कुंभ	कुम्भ	कुन्थु	कुम्भ
१९	मल्लिनाथ	भिसय	इन्द्र	भिसग	विशाख	विशाख
२०	मुनिसुव्रत	मल्ली	कुम्भ	मल्ली	मल्ली	मल्ली
२१	नमिनाथ	सुभ	शुभ	शुभ	सोमक	सुप्रभ
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त
२३	पार्श्वनाथ	अजदिन्न	दिन्न	आर्यदत्त	स्वयंभू	स्वयंभू
२४	महावीर	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति

प्रथम शिष्या

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		समवायाग	प्रव सा. गा ३०७-९	सत्त द्वा १०४ गा. २१६-२१७	हरि पुराण परि ५९	तिलोय प गा. ११७८ से ११८०	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी
२	अजितनाथ	फलगू	फलगू (फग्गू)	फग्गुणी	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा
३	सभवनाथ	श्यामा	सामा	श्यामा	धर्मश्री	धर्मश्री	धर्मार्या
४	अभिनन्दन	अजीता	अजिया	अजीता	मेरूसेना	मेरूपेणा	मरूपेणा
५	सुमतिनाथ	कासवी	कासवी	कासवी	अनन्ता	अनन्ता	अनन्तमती
६	पद्मप्रभ	रति	रति	रति	रतिसेना	रतिषेणा	रात्रिपेणा
७	सुपार्श्वनाथ	सोमा	सोमा	सोमा	मीना	मीना	मीना
८	चन्द्रप्रभ	सुमना	सुमणा	सुमणा	वरुणा	वरूणा	वरुणा
९	सुविधिनाथ	वारूणी	वारूणी	वारुणी	घोषा	घोषा	घोषा
१०	शीतलनाथ	सुलसा	सुजसा	सुजसा	धरणा	धरणा	धरणा
११	श्रेयासनाथ	धारणी	वारिणी	धारिणी	चारणा	चारणा	धारणा
१२	वासुपूज्य	धरणी	धरिणी	धरणी	वरसेना	वरसेना	सेना
१३	विमलनाथ	धरणीधरा	वरा	धरा	पद्मा	पद्मा	पद्मा
१४	अनन्तनाथ	पद्मा	पद्मा	पद्मा	सर्वश्री	सर्वश्री	सर्वश्री
१५	धर्मनाथ	शिवा	अज्जासिवा	अज्जासिवा	सव्रता	सुव्रता	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	सुयी (श्रुती)	सुहा	सुई	हरिसेना	हरिपेणा	हरिपेणा
१७	कुथुनाथ	अजुया भावितात्मा	दामणी	दामिणी	भाविता	भाविता	भाविता
१८	अरनाथ	रखी	रक्खी	रक्खिआ	कुतुसेना	कुथुसेना	यक्षिला
१९	मल्लिनाथ	वधुमती	वधुमती	वधुमती	मधुसेना	मधुसेना	वधुपेणा
२०	मुनिसुव्रत	पुष्पवती	पुप्पवती	पुष्पवती	पूर्वदत्ता	पूर्वदत्ता	पुष्पदन्ता
२१	नमिनाथ	अमिला	अनिला	अनिला	मार्गिणी	मार्गिणी	मगिनी
२२	अरिष्टनेमि	जखिणी (जक्षिणी)	जक्खदिन्ना	जक्खदिन्ना	यक्षी	यक्षिणी	यक्षी
२३	पार्श्वनाथ	पुप्पचूला	पुप्पचूला	पुप्पचूला	सुलोका	सुलोका	सुलोचना
२४	महावीर	चन्दना	चन्दना	चन्दनवाला	चन्दना	चन्दना	चन्दना

पृ० २९८

साधु-संख्या

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक निर्यु गा २५६-२५६	प्रवचन सार गाथा ३३१-३३४	सत्त द्वार ११२ गा २३२-२३४	हरिवंश पुराण गा. ३५२-३५६	तिलोय प गा. १०६२ से १०६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०८४
२	अजितनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००
३	सभवनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००
४	अभिनन्दन	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००
५	सुमतिनाथ	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००
६	पद्मप्रभ	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००
७	सुपार्श्वनाथ	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००
९	सुविधिनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	शीतलनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००
११	श्रेयासनाथ	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००
१२	वासुपूज्य	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००
१३	विमलनाथ	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००
१४	अनन्तनाथ	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००
१५	धर्मनाथ	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००
१६	शान्तिनाथ	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००
१७	कुथुनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
१८	अरनाथ	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
१९	मल्लिनाथ	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
२०	मुनिसुव्रत	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००
२१	नमिनाथ	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२२	अरिष्टनेमि	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००
२३	पार्श्वनाथ	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००
२४	महावीर	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००

साध्वी-संख्या

क्र स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्र. सा द्वा. १७ गा ३३५-३६	सत्त. द्वा ११३ गा २३५-२३६	हरिवंश पुराण गा ४३२-४४०	तिलोय पण्णत्ती गा ११६६ से ११७६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	३०००००	३०००००	३५००००	३५००००	३५००००
२	अजितनाथ	३३००००	३३००००	३२००००	३२००००	३२००००
३	सम्भवनाथ	३३६०००	३३६०००	३३००००	३३००००	३२००००
४	अभिनन्दन	६३००००	६३००००	३३००००	३३०६००	३३०६००
५	सुमतिनाथ	५३००००	५३००००	३३००००	३३००००	३३००००
६	पद्मप्रभ	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००
७	सुपार्श्वनाथ	४३००००	४३००००	३३००००	३३००००	३३००००
८	चन्द्रप्रभ	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००
९	सुविधिनाथ	१२००००	१२००००	३८००००	३८००००	३८००००
१०	शीतलनाथ	१००००६	१००००६	३८००००	३८००००	३८००००
११	श्रेयांसनाथ	१०३०००	१०३०००	१२००००	१३००००	१२००००
१२	वासुपूज्य	१०००००	१०००००	१०६०००	१०६०००	१०६०००
१३	विमलनाथ	१००८००	१००८००	१०३०००	१०३०००	१०३०००
१४	अनन्तनाथ	६२०००	६२०००	१०८०००	१०८०००	१०८०००
१५	धर्मनाथ	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००
१६	शान्तिनाथ	६१६००	६१६००	६०३००	६०३००	६०३००
१७	कुंथुनाथ	६०६००	६०६००	६०३५०	६०३५०	६०३५०
१८	अरनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
१९	मल्लिनाथ	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००
२०	मुनिसुव्रत	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
२१	नमिनाथ	४१०००	४१०००	४५०००	४५०००	४५०००
२२	अरिष्टनेमि	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
२३	पार्श्वनाथ	३८०००	३८०००	३८०००	३८०००	३६०००
२४	महावीर	३६०००	३६०००	३५०००	३६०००	३६०००

श्रावक-संख्या

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रन्थ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		
		प्र सा द्वा २४ गा ३६४-६७	आ० नि०	सत्त द्वा ११४ गा. २४०-२४२	हरि पु. गा ४४१	तिलोय पण्णत्ती गा ११८१ से ११८२	उत्तर पुराण
१	ऋपभदेव	३०५०००	३०५०००	३०५०००	३०००००	३०००००	३०००००
२	अजितनाथ	२९८०००	२९८०००	२९८०००	३०००००	३०००००	३०००००
३	सभवनाथ	२९३०००	२९३०००	२९३०००	३०००००	३०००००	३०००००
४	अभिनन्दन	२८८०००	२८८०००	२८८०००	३०००००	३०००००	३०००००
५	नुमतिनाथ	२८१०००	२८१०००	२८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
६	पद्मप्रभ	२७६०००	२७६०००	२७६०००	३०००००	३०००००	३०००००
७	नुपार्श्वनाथ	२५७०००	२५७०००	२५७०००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	३०००००	३०००००	३०००००
९	सुविविनाथ	२२९०००	२२९०००	२२९०००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	शीतलनाथ	२८९०००	२८९०००	२८९०००	,,	,,	२०००००
११	श्रेयासनाथ	२७९०००	२७९०००	२७९०००	,,	,,	२०००००
१२	वासुपूज्य	२१५०००	२१५०००	२१५०००	,,	,,	२०००००
१३	विमलनाथ	२०८०००	२०८०००	२०८०००	,,	,,	२०००००
१४	अनन्तनाथ	२०६०००	२०६०००	२०६०००	,,	,,	२०००००
१५	घर्मनाथ	२०४०००	२०४०००	२०४०००	,,	,,	२०००००
१६	शान्तिनाथ	२९००००	२९००००	२९००००	,,	,,	२०००००
१७	कुयुनाथ	१७९०००	१७९०००	१७९०००	१०००००	१०००००	२०००००
१८	अरनाथ	१८४०००	१८४०००	१८४०००	,,	,,	१६००००
१९	मल्लिनाथ	१८३०००	१८३०००	१८३०००	,,	,,	१०००००
२०	मुनिसुव्रन	१७२०००	१७२०००	१७२०००	,,	,,	१०००००
२१	नमिनाथ	१७००००	१७००००	१७००००	,,	,,	१०००००
२२	अरिष्टनेमि	१७१०००	१६९०००	१६९०००	,,	,,	१०००००
२३	पार्श्वनाथ	१६४०००	१६४०००	१६४०००	,,	,,	१०००००
२४	महावीर	१५९०००	१५९०००	१५९०००	,,	,,	१०००००

श्राविका-संख्या

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रथ			दिगम्वर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्र सा द्वा २५ गा. ३६८-७२	समवायाग	सत्त. द्वा. ११५ गा. २४३-२४६	हरिवश पुराण गा. ४४२	तिलोय प गा ११८३	उत्तर पुराण
१	ऋपभदेव	५५४०००	५५४०००	५५४०००	५०००००	५०००००	५०००००
२	अजितनाथ	५४५०००	५४५०००	५४५०००	,,	,,	५०००००
३	सभवनाथ	६३६०००	६३६०००	६३६०००	,,	,,	५०००००
४	अभिनन्दन	५२७०००	५२७०००	५२७०००	,,	,,	५०००००
५	सुमतिनाथ	५१६०००	५१६०००	५१६०००	,,	,,	५०००००
६	पद्मप्रभ	५०५०००	५०५०००	५०५०००	,,	,,	५०००००
७	सुपार्श्वनाथ	४९३०००	४९३०००	४९३०००	,,	,,	५०००००
८	चन्द्रप्रभ	४९१०००	४९१०००	४९१०००	,,	,,	५०००००
९	सुविधिनाथ	४७१०००	४७१०००	४७१०००	४०००००	४०००००	५०००००
१०	शीतलनाथ	४५८०००	४५८०००	४५८०००	,,	,,	३०००००
११	श्रेयासनाथ	४४८०००	४४८०००	४४८०००	,,	,,	४०००००
१२	वासुपूज्य	४३६०००	४३६०००	४३६०००	,,	,,	४०००००
१३	विमलनाथ	४२४०००	४२४०००	४२४०००	,,	,,	४०००००
१४	अनन्तनाथ	४१४०००	४१४०००	४१४०००	,,	,,	४०००००
१५	धर्मनाथ	४१३०००	४१३०००	४१३०००	,,	,,	४०००००
१६	शान्तिनाथ	३९३०००	३९३०००	३९३०००	,,	,,	४०००००
१७	कुथुनाथ	३८१०००	३८१०००	३८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
१८	अरनाथ	३७२०००	३७२०००	३७२०००	,,	,,	३०००००
१९	मल्लिनाथ	३७००००	३७००००	३७००००	,,	,,	३०००००
२०	मुनिसुव्रत	३५००००	३५००००	३५००००	,,	,,	३०००००
२१	नमिनाथ	३४८०००	३४८०००	३४८०००	,,	,,	३०००००
२२	अरिप्टनेमि	३३६०००	३३६०००	३३६०००	,,	,,	३०००००
२३	पार्श्वनाथ	३३९०००	३२७०००	३३९०००	,,	,,	३०००००
२४	महावीर	३१८०००	३१८०००	३१८०००	,,	,,	३०००००

केवल-ज्ञानी

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन. द्वा २१६ गा ३५१-३५४	सत्त द्वा ११६ गा. २४७-२४८	ज्ञाता	हरिवंश पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ११००-११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव*	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२	अजितनाथ	"	"	"	"	"	"
३	संभवनाथ	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००
४	अभिनन्दन	१४०००	१४०००	१४०००	१६०००	१६०००	१६०००
५	सुमतिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
६	पद्मप्रभु	१२०००	१२०००	१२०००	१२८००	१२०००	१२०००
७	सुपार्श्वनाथ	११०००	११०००	११०००	११३००	११०००	११०००
८	चन्द्रप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१८०००	१००००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७०००
१०	शीतलनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
११	श्रेयांसनाथ	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००
१२	वासुपूज्य	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१३	विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५००५
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शान्तिनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१७	कुंथुनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१८	अरनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	३२००	२६५०	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि*	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ*	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर*	७००	७००	७०००	७००	७००	७००

*जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति कालाधिकार में भगवान् ऋषभदेव की ४०००० आर्यिकाओं के सिद्ध होने का उल्लेख है।

कल्प सूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि की ३०००, भगवान् पार्श्वनाथ की २००० और भगवान् महावीर की १४०० साध्वियों के मुक्त होने का उल्लेख है।

उपरिवर्णित सूचिपट्ट में श्वेताम्बर संदर्भ ग्रन्थों के अनुसार केवल पुरुष केवलियों की संख्या दी हुई है।

मन:पर्यवज्ञानी

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्र द्वा २२ गाथा ३५५-३५६	समवायाग	सत्त द्वा ११७ गा २५०-२५४	हरि पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय प. गा. ११०१ से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
२	अजितनाथ	१२५००	१२५००	१२५००	१२४००	१२४५०	१२४५०
३	सभवनाथ	१२१५०	१२१५०	१२१५०	१२०००	१२१५०	१२१५०
४	अभिनन्दन	११६५०	११६५०	११६५०	११६५०	२१६५०	११६५०
५	सुमतिनाथ	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४००	१०४००	१०४००
६	पद्मप्रभ	१०३००	१०३००	१०३००	१०६००	१०३००	१०३००
७	सुपार्श्वनाथ	९१५०	९१५०	९१५०	९६००	९१५०	९१५०
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	६५००	७५००	७५००
१०	शीतलनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००
११	श्रेयासनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपूज्य	"	"	"	"	"	६०००
१३	विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	९०००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शान्तिनाथ	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
१७	कुंथुनाथ	३३४०	८१००	३३४०	३३५०	३३५०	३३००
१८	अरनाथ	२५५१	२५५१	२५५१	२०५५	२०५५	२०५५
१९	मल्लिनाथ	१७५०	५७००	१७५०	२२००	१७५०	१७५०
२०	मुनिसुव्रत	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२१	नमिनाथ	१२६०	१२६०	१२५०	१२५०	१२५०	१२५०
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	९००	९००	९००
२३	पार्श्वनाथ	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०
२४	महावीर	५००	५००	५००	५००	५००	५००

अवधि ज्ञानी

क स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा. २० गा. ३४८–३५०	सत्त रि द्वा ११८ गा. २५५–२५७	समवायाग	हरिवंश पुराण गाथा ३५८–४३१	तिलोय पण्णती गा ११०० से ११६१	उत्तर (महा) पुराण
१	ऋषभदेव	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
२	अजितनाथ	९४००	९४००	९४००	९४००	९४००	९४००
३	सभवनाथ	९६००	९६००	९६००	९६००	९६००	९६००
४	अभिनन्दन	९८००	९८००	९८००	९८००	९८००	९८००
५	सुमतिनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
६	पद्मप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
७	सुपार्श्वनाथ	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००
१०	शीतलनाथ	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००
११	श्रेयासनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपूज्य	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००
१३	विमलनाथ	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००
१४	अनन्तनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१५	धर्मनाथ	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००
१६	शान्तिनाथ	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००
१७	कुंथुनाथ	२५००	२५००	९१००	२५००	२५००	२५००
१८	अरनाथ	२६००	२६००	२६००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	५९००	२२००	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	३९००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
२४	महावीर	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
					पृ० ७३५ से ७३९	पृ० २८७ से २९६	

वैक्रियलब्धि-धारी

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रथ		
		प्रवचन., द्वारा २१८ गाथा २६१–२६३	सत्तरिसय द्वा १२० गाथा २६१–२६३	हरिवश पुराण श्लो ३५८–४३१	तिलोय-पण्णत्ती गा ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००
२	अजितनाथ	२०४००	२०४००	२०४५०	२०४००	२०४००
३	सभवनाथ	१९८००	१९८००	१९८५०	१९८००	१९८००
४	अभिनन्दन	१९०००	१९०००	१९०००	१९०००	१९०००
५	सुमतिनाथ	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००
६	पद्मप्रभ	१६८००	१६८००	१६३००	१६८००	१६८००
७	सुपार्श्वनाथ	१५३००	१५३००	१५१५०	१५३००	१५३००
८	चन्द्रप्रभ	१४०००	१४०००	१०४००	६००	१४०००
९	सुविधिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
१०	शीतलनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००
११	श्रेयासनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
१२	वासुपूज्य	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
१३	विमलनाथ	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
१४	अनन्तनाथ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
१५	धर्मनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
१६	शान्तिनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१७	कुथुनाथ	५१००	५१००	५१००	५१००	५१००
१८	अरनाथ	७३००	७३००	४३००	४३००	४३००
१९	मल्लिनाथ	२९००	२९००	१४००	२९००	२९००
२०	मुनिसुव्रत	२०००	२०००	२२००	२२००	२२००
२१	नमिनाथ	५०००	५०००	१५००	१५००	१५००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	११००	११००	११००
२३	पार्श्वनाथ	११००	११००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर	७००	७००	९००	९००	९००
				पृ ७३५–७३९	पृ. २८७–२९६	

पूर्वधारी

क स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा २३ गा. ३६०–३६३	समवायाग	सत्त. द्वा ११९ गा २५८–२६०	हरिवश पुराण गाथा ३५८–४३१	तिलोय पण्णती गा ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०
२	अजितनाथ	३७२०	३७२०	२७२०	३७५०	३७५०	३७५०
३	सभवनाथ	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०
४	अभिनन्दन	१५००	१५००	१५००	२५००	२५००	२५००
५	सुमतिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
६	पद्मप्रभ	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००
७	सुपार्श्वनाथ	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०
८	चन्द्रप्रभ	२०००	२०००	२०००	२०००	४०००	२०००
९	सुविधिनाथ	१५००	१५००	१५००	५०००	१५००	१५०० (श्रुत केवली
१०	शीतलनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
११	श्रेयासनाथ	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
१२	वासुपूज्य	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
१३	विमलनाथ	११००	११००	११००	११००	११००	११००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	९००	९००	९००	९००	९००	९००
१६	शान्तिनाथ	८००	९३०	८००	८००	८००	८००
१७	कुथुनाथ	६७०	६७०	६७०	७००	७००	७००
१८	अरनाथ	६१०	६१०	६१०	६००	६१०	६१०
१९	मल्लिनाथ	५६८	५६८	६६८	७५०	५५०	५५०
२०	मुनिसुव्रत	५००	५००	५००	५००	५००	५००
२१	नमिनाथ	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०
२२	अरिष्टनेमि	४००	४००	४००	४००	४००	४००
२३	पार्श्वनाथ	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०
२४	महावीर	३००	३००	३००	३००	३००	३००
					पृ. ७३५–७३९	पृ २८७–२९६	

वादी

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्वर संदर्भ-ग्रथ			दिगम्वर संदर्भ-ग्रथ		
		प्रवचन द्वा १९ गा. ३४४-३४७	समवायाग	सत्त द्वा १२१ गा. २६४-२६६	हरिवश पुराण श्लो. ३५८ ४३१	तिलोय प गा ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१२६५०	१२६५०	१२६५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
२	अजितनाथ	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००
३	सभवनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२१००	१२०००	१२०००
४	अभिनन्दन	११०००	११०००	११०००	११६५०	९०००	११०००
५	सुमतिनाथ	१०६५०	१०६५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०
६	पद्मप्रभ	९६००	९६००	९६००	९०००	९६००	९६००
७	सुपार्श्वनाथ	८४००	८६००	८४००	८०००	८६००	८६००
८	चन्द्रप्रभ	७६००	७६००	७६००	७६००	७०००	७६००
९	सुविधिनाथ	६०००	६०००	६०००	७६००	६६००	६६००
१०	शीतलनाथ	५८००	५८००	५८००	५७००	५७००	५८००*
११	श्रेयासनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
१२	वासुपूज्य	४७००	४७००	४२००	४२००	४२००	४२००
१३	विमलनाथ	३२००	३२००	३६००	३६००	३६००	३६००
१४	अनन्तनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१५	धर्मनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१६	शान्तिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
१७	कुथुनाथ	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०५०
१८	अरनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
१९	मल्लिनाथ	१४००	१४००	१४००	२२००	१४००	१४००
२०	मुनिसुव्रत	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	८००	८००	८००	८००	८००	८००
२३	पार्श्वनाथ	६००	६००	६००	६००	६००	६००
२४	महावीर	४००	४००	४००	४००	४००	४००
					पृ ७३५ से ७३९	पृ. २८७ से २९६	

*शून्य द्वयर्द्धिपञ्चोक्त वादि मुख्यार्चितक्रम. ।। उत्तर पुराण, पर्व ५६ श्लो० ५३

साधक जीवन

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		आवश्यक निर्युक्ति गा २९४-२९८	सत. १४५ गाथा २९९-३०१	हरिवंश पुराण पृ० ७३२
१	ऋषभदेव	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व
२	अजितनाथ	१ लाख पूर्व एक पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम
३	सभवनाथ	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम
४	अभिनन्दन	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम
५	सुमतिनाथ	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम
६	पद्मप्रभ	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपार्श्वनाथ	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम
९	सुविधिनाथ	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम
१०	शीतलनाथ	२५००० पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयासनाथ	२१००००० वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	साढे सात लाख वर्ष	साढे सात लाख वर्ष	साढे सात लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	ढाई लाख वर्ष	ढाई लाख वर्ष	ढाई लाख वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष
१७	कुथुनाथ	२३ हजार सात सौ पचास वर्ष	२३ हजार ७५० वर्ष	२७३५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४९०० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	साढे सात हजार वर्ष	साढे सात हजार वर्ष	साढे सात हजार वर्ष
२१	नमिनाथ	ढाई हजार वर्ष	ढाई हजार वर्ष	ढाई हजार वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	सित्तर वर्ष	सित्तर वर्ष	सित्तर वर्ष
२४	महावीर	४२ वर्ष	४२ वर्ष	४२ वर्ष

आयु प्रमाण

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आव. नि. गाथा ३२५-३२७	सत्त द्वा ४६ गाथा ३०२-३०३	प्र गा. ३८५-३८७	हरि पुराण गा ३१२ से ३१६	ति प गा. ५७६ से ५८२	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४ लाख पू	८४ लाख पू	८४ लाख पू	८४ लाख पू	८४ लाख पू	८४ लाख पू
२	अजितनाथ	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ लाख पू
३	संभवनाथ	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,
४	अभिनन्दन	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,
५	सुमतिनाथ	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० लाख पू
६	पद्मप्रभ	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० लाख पू
७	सुपार्श्वनाथ	२० ,, ,,	२० ,, ,,	२० , ,,	२० ,, ,,	२० ,, ,,	२० लाख पू.
८	चन्द्रप्रभ	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० लाख पू
९	सुविधिनाथ	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ लाख पू.
१०	शीतलनाथ	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ लाख पू.
११	श्रेयासनाथ	८४ लाख व	८४ लाख व	८४ लाख व	८४ लाख व.	८४ लाख व	८४ लाख व
१२	वासुपूज्य	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ लाख व
१३	विमलनाथ	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० लाख व
१४	अनन्तनाथ	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० लाख व
१५	धर्मनाथ	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० लाख व
१६	शान्तिनाथ	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ लाख व
१७	कुंथुनाथ	९५ ह वर्ष	९५ ह. वर्ष	९५ ह वर्ष	९५ ह वर्ष	९५ ह वर्ष	९५ ह वर्ष
१८	अरनाथ	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४००० वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५,००० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	३० ,, ,,	३० , ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३०,००० वर्ष
२१	नमिनाथ	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१०,००० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१,००० वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
२४	महावीर	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष

तीर्थंकरों के माता-पिता की गति

क्रमांक	तीर्थंकर नाम	माता का नाम	माता की गति	पिता का नाम	पिता की गति
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	सिद्ध	नाभि	नागकुमार
२	अजितनाथ	विजया	"	जित शत्रु	दूसरे देवलोक इशान मे
३	सभवनाथ	सेना	"	जितारि	"
४	अभिनन्दन	सिद्धार्थी	"	सवर	"
५	सुमतिनाथ	मगला	"	मेघ	"
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	"	धर	"
७	सुपार्श्वनाथ	पृथिवी	"	प्रतिष्ठ	"
८	चन्द्रप्रभ	लक्षणा	"	महासेन	"
९	सुविधिनाथ	रामा	तृतीय सनत्कुमार देवलोक मे	सुग्रीव	तीसरे देवलोक सनत्कुमार मे
१०	शीतलनाथ	नन्दा	"	दृढरथ	"
११	श्रेयासनाथ	विष्णुदेवी	"	विष्णु	"
१२	वासुपूज्य	जया	"	वसुपूज्य	"
१३	विमलनाथ	श्यामा	"	कृतवर्मा	"
१४	अनतनाथ	सुयशा	"	सिहसेन	"
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	"	भानु	"
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	"	विश्वसेन	"
१७	कुथुनाथ	श्री	चौथे माहेन्द्र देवलोक मे	शूर	चौथे देवलोक माहेन्द्र मे
१८	अरनाथ	देवी	"	सुदर्शन	"
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	"	कुम्भ	"
२०	मुनिसुव्रत	पद्मावती	"	सुमित्र	"
२१	नमिनाथ	वप्रा	"	विजय	"
२२	अरिष्टनेमि*	शिवा	"	समुद्रविजय	"
२३	पार्श्वनाथ	वामा	"	अश्वसेन	"
२४	महावीर	१ त्रिशला	"	१ सिद्धार्थ	आचाराग सूत्र मे इन दोनो का बारहवे स्वर्ग मे जाने का उल्लेख है
		२ देवानन्दा	२ सिद्ध	२ ऋषभदत्त	२ सिद्ध

(१) जितशत्रु शिव प्राप, सुमित्रस्त्रिदिव गत ॥

(२) महावीर के प्रथम माता-पिता के मुक्त होने का · · मत्तरिसय द्वार आदि मे उल्लेख है ।

तीर्थंकरो के पिता एव माताओ की गति के सम्बन्ध मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा मे मूल भेद तो यह है कि दिगम्बर परम्परा स्त्री-मुक्ति नही मानती ।

निर्वाण-तप

क्र० सं०	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रथ		दिगम्बर सदर्भ-ग्रथ
		प्रवचन द्वार ४५ गा ४५६	सत्त १५३ द्वार गा० ३१७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६ उपवास	६ उपवास	चौदह दिन
२	अजितनाथ	मासिक तप	मासिक तप	मासिक तप
३	संभवनाथ	" "	" "	" "
४	अभिनन्दन	" "	" "	" "
५	सुमतिनाथ	" "	" "	" "
६	पद्मप्रभ	" "	" "	" "
७	सुपार्श्वनाथ	" "	" "	" "
८	चन्द्रप्रभ	" "	" "	" "
९	सुविधिनाथ	" "	" "	—
१०	शीतलनाथ	" "	" "	" "
११	श्रेयासनाथ	" "	" "	" "
१२	वासुपूज्य	" "	" "	" "
१३	विमलनाथ	" "	" "	" "
१४	अनन्तनाथ	" "	" "	" "
१५	धर्मनाथ	" "	" "	" "
१६	शान्तिनाथ	" "	" "	" "
१७	कुंथुनाथ	" "	" "	" "
१८	अरनाथ	" "	" "	" "
१९	मल्लिनाथ	" "	" "	" "
२०	मुनिसुव्रत	" "	" "	" "
२१	नमिनाथ	" "	" "	" "
२२	अरिष्टनेमि	" "	" "	" "
२३	पार्श्वनाथ	" "	" "	" "
२४	महावीर	२ उपवास	२ उपवास	—

निर्वाण-तिथि

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		
		प्रवच०	सत्त द्वा १४७ गा. ३०६-३१०	हरिवश पुराण गा. २६६-२७५	तिलोय प. गा ११८४-१२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	माघ कृ १४	माघ कृ १३	माघ कृ १४	माघ कृ १४	माघ कृ १४
२	अजितनाथ	चैत्र शु ५	चैत्र शु ५	चैत्र शु ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५
३	सभवनाथ	चैत्र शु ६	चैत्र शु ५	चैत्र शु ६	चैत्र शु ६	चैत्र शु ६
४	अभिनन्दन	वैशाख शु ७	वैशाख शु ८	वैशाख शु ७	वैशाख शु ७	वैशाख शु ६
५	सुमतिनाथ	चैत्र शु १०	चैत्र शु ९	चैत्र शु १०	चैत्र शु १०	चैत्र शु ११
६	पद्मप्रभ	फाल्गुन कृ. ४	मार्गशीर्ष कृ ११	फाल्गुन कृ ४	फाल्गुन कृ ४	फाल्गुन कृ ४
७	सुपार्श्वनाथ	फाल्गुन कृ ६	फाल्गुन कृ ७	फाल्गुन कृ ६	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ ७
८	चन्द्रप्रभ	भादवा शु ७	भादवा कृ ७	भादवा शु ७	भादवा शु. ७	फाल्गुन शु. ७
९	सुविधिनाथ	भादवा शु ८	भादवा शु ९	भादवा शु. ८	आसोज शु ८	भादवा शु. ८
१०	शीतलनाथ	आश्विन शु ५	वैशाख कृ २	आश्विन शु ५	कार्तिक शु. ५	आश्विन शु. ८
११	श्रेयासनाथ	श्रावण शु १५	श्रावण कृ ३	श्रावण शु. १५	श्रावण शु. १५	श्रावण शु १५
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन शु. ५	आषाढ़ शु १४	फाल्गुन शु ५	फाल्गुन कृ ५	भाद्रपद शु. १४
१३	विमलनाथ	आषाढ कृ ८	आषाढ कृ. ७	आषाढ कृ ८	आषाढ़ शु. ८	आषाढ़ कृ. ८
१४	अनन्तनाथ	चैत्र कृ ३०	चैत्र शु ५	चैत्र कृ ३०	चैत्र कृ ३०	चैत्र कृ ३०
१५	धर्मनाथ	ज्येष्ठ शु ४	ज्येष्ठ शु ५	ज्येष्ठ शु ४	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ शु. ४
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ १३	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुथुनाथ	वैशाख शु. १	वैशाख कृ १	वैशाख शु १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	चैत्र कृ १५	मार्गशीर्ष शु १०	चैत्र कृ ३०	चैत्र कृ ३०	चैत्र कृ. ३०
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु १०	फाल्गुन शु १२	फाल्गुन शु ५	फाल्गुन कृ ५	फाल्गुन शु ५
२०	मुनिसुव्रत	फाल्गुन कृ १२	ज्येष्ठ कृ. ९	फाल्गुन कृ. १२	फाल्गुन कृ १२	फाल्गुन कृ. १२
२१	नमिनाथ	वैशाख कृ १४	वैशाख कृ १०	वैशाख कृ १४	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १४
२२	अरिष्टनेमि	आषाढ शु ८	आषाढ शु ८	आषाढ शु ८	आषाढ कृ ८	आषाढ़ शु. ७
२३	पार्श्वनाथ	श्रावण शु ७	श्रावण शु ८	श्रावण शु ७	श्रावण शु. ७	श्रावण शु. ७
२४	महावीर	कार्तिक कृ १४	कार्तिक कृ. ३०	कार्तिक कृ १४	कार्तिक कृ. १४	
				पृ ७२५ से ७२६	पृ २९९ से ३०२	

तीर्थंकरों के निर्वाण नक्षत्र

क्र स	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्वर परम्परा	दिगम्वर परम्परा
१	ऋषभदेव	अभिजित	उत्तरापाढा
२	अजितनाथ	मृगशीर्ष	भरणी
३	संभवनाथ	आर्द्रा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	पुनर्वसु	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	अनुराधा	अनुराधा
८	चन्द्रप्रभ	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयासनाथ	घनिष्ठा	घनिष्ठा
१२	वासुपूज्य	उत्तरा भाद्रपदा	अश्विनी
१३	विमलनाथ	रेवती	पूर्वभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	भरणी	भरणी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	स्वाति	स्वाति

निर्वाणस्थल

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वार. ३४ गा ३९२	सत्त १५० द्वा गा ३१५	हरिवंश पुराण श्लो. १८२ से २०५	उत्तर पुराण	तिल्लोय पण्णत्ती गा ११८४ से १२०८
१	ऋषभदेव	अष्टापद	अष्टापद	कैलाश	कैलाश	कैलाश
२	अजितनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदाचल	सम्मेदाचल	सम्मेदशिखर
३	सभवनाथ	"	"	"	"	"
४	अभिनन्दन	"	"	"	"	"
५	सुमतिनाथ	"	"	"	"	"
६	पद्मप्रभ	"	"	"	"	"
७	सुपार्श्वनाथ	"	"	"	"	"
८	चन्द्रप्रभ	"	"	"	"	"
९	सुविधिनाथ	"	"	"	"	"
१०	शीतलनाथ	"	"	"	"	"
११	श्रेयासनाथ	"	"	"	"	"
१२	वासुपूज्य	चपा	चपा	चम्पापुरी	मन्दरगिरि मनोहरोद्यान	चम्पापुरी
१३	विमलनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर
१४	अनन्तनाथ	"	"	"	"	"
१५	धर्मनाथ	"	"	"	"	"
१६	शान्तिनाथ	"	"	"	"	"
१७	कुंथुनाथ	"	"	"	"	"
१८	अरनाथ	"	"	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	"	"	"	"	"
२०	मुनिसुव्रत	"	"	"	"	"
२१	नमिनाथ	"	"	"	"	"
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयत गिरि	रेवताचल	उज्जयत गिरि	(रैवतक) गिरनार	उज्जयत गिरि
२३	पार्श्वनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदाचल	सम्मेदशिखर
२४	महावीर	पावापुरी	पावापुरी	पावापुरी		पावापुरी
				पृ ७१९ से ७२०		पृ. २९९ से ३०२

निर्वाण साथी

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन ३३ द्वार गाथा ३८८–३९१	आव० नि० गा ३०६	सत्त द्वार १५४ गाथा ३१८–३२०	हरिवंश पुराण श्लो २८३–२८५	तिलोय पण्णत्ती गाथा ११८५ से १२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	अनेक
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	—
३	संभवनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	१०००
४	अभिनन्दन	,,	,,	,,	,,	,,	अनेक
५	सुमतिनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	१०००
६	पद्मप्रभ	३०८	३०८	३०८	३८००	३२४	१०००
७	सुपार्श्वनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१०	शीतलनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
११	श्रेयांसनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०१	६०१	९४
१३	विमलनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६००	८६००
१४	अनन्तनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	६१००
१५	धर्मनाथ	८००	८००	८००	८०१	८०१	८०९
१६	शान्तिनाथ	९००	९००	९००	९००	९००	९०००
१७	कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१९	मल्लिनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	५०००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	,,	,,	,,	,	,,	,,
२२	अरिष्टनेमि	५३६	५३६	५३६	५३६	५३६	५३३
२३	पार्श्वनाथ	३३	३३	३३	५३६	३६	३६
२४	महावीर	१	१	एकाकी	२६	एकेले	१०००[1]
					पृ० ७२६ से ७२७	पृ० २९९ से ३०२	

[1] गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् । [उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो. ५१२]

पूर्वभव-नाम

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ	
		समवायाग	सत्त द्वार ७ गा. ४४-४६	हरिवशपुराण श्लो. १५०-१५५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभि	
२	अजितनाथ	विमल	विमल वाहन	विमल	विमलवाहन
३	सभवनाथ	विमल वाहन	विपुल वल	विपुल वाहन	विमल वाहन
४	अभिनन्दन	धर्मसिह	महावल	महावल	महावल
५	सुमतिनाथ	सुमित्र	अतिवल	अतिवल	रतिषेण
६	पद्मप्रभ	धर्ममित्र	अपराजित	अपराजित	अपराजित
७	सुपार्श्वनाथ	सुन्दरवाहु	नदिसेन	नदिषेण	नदिषेण
८	चन्द्रप्रभ	दीर्घवाहु	पद्म	पद्म	पद्मनाभ
९	सुविधिनाथ	युगवाहु	महापद्म	महापद्म	महापद्म
१०	शीतलनाथ	लष्टवाहु	पद्म	पद्मगुल्म	पद्मगुल्म
११	श्रेयासनाथ	दिन्न	नलिनीगुल्म	नलिन गुल्म	नलिन प्रभ
१२	वासुपूज्य	इन्द्रदत्त	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर
१३	विमलनाथ	सुन्दर	पद्मसेन	पद्मासन	पद्मसेन
१४	अनन्तनाथ	माहिन्द्र	पद्मरथ	पद्म	पद्मरथ
१५	धर्मनाथ	सिहरथ	दृढरथ	दशरथ	दशरथ
१६	शान्तिनाथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ
१७	कुथुनाथ	रूक्मी (रुप्पी)	सिहावह	सिहरथ	सिहरथ
१८	अरनाथ	सुदर्शन	धनपति	धनपति	धनपति
१९	मल्लिनाथ	नदन	वैश्रमण	वैश्रवण	वैश्रवण
२०	मुनिसुव्रत	सिहगिरि	श्रीवर्मा	श्रीधर्म	हरिवर्मा
२१	नमिनाथ	अदीन शत्रु	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ
२२	अरिष्टनेमि	शख	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
२३	पार्श्वनाथ	सुदर्शन	आनद	आनंद	आनन्द
२४	महावीर	नन्दन	नदन	नदन	नन्द

पृ० ७१७ से ७१८

तीर्थंकरों का अन्तरालकाल श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा सम्मत

१	ऋषभदेव	तीसरे आरे के निवासी पक्ष अर्थात् ३ वर्ष साढे आठ मास शेष रहे तब मुक्ति पधारे
२	अजितनाथ	पचास लाख करोड सागर
३	सभवनाथ	तीस लाख करोड सागर
४	अभिनन्दन	दश लाख करोड सागर
५.	सुमतिनाथ	नव लाख करोड सागर
६	पद्मप्रभ	नव्वे हजार करोड सागर
७	सुपार्श्वनाथ	नव हजार करोड सागर
८	चन्द्रप्रभ	नव सौ करोड सागर
९	सुविधिनाथ	नव्वे करोड सागर
१०	शीतलनाथ	नव करोड सागर
११	श्रेयासनाथ	छासठ लाख छव्वीस हजार एक सौ सागर कम एक करोड सागर
१२	वासुपूज्य	चौवन सागर
१३	विमलनाथ	तीस सागर
१४	अनन्तनाथ	नव सागर
१५	धर्मनाथ	चार सागर
१६	शान्तिनाथ	पौन पल्योपम कम तीन सागर
१७	कुथुनाथ	अर्द्ध पल्य
१८	अरनाथ	एक हजार करोड वर्ष कम पाव पल्य
१९	मल्लिनाथ	एक हजार करोड वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	चौवन लाख वर्ष
२१	नमिनाथ	छ लाख वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	पाच लाख वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष
२४	महावीर	दो सौ पचास वर्ष वाद महावीर सिद्ध हुए

तीर्थंकर और धर्म विच्छेद

१ सुविधिनाथ और शीतलनाथ के अन्तरालकाल मे $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ (धर्म) का विच्छेद। गुणभद्र ने शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग मे काल दोष से धर्म का नाश माना है।

२ भगवान् शीतलनाथ और श्रेयासनाथ के अन्तरालकाल मे $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

३ भगवान् श्रेयासनाथ और वासुपूज्य के अन्तरालकाल मे (पल्योपम सम्बन्धिनस्त्रयचतुर्भागा) पौन पल्योपम तीर्थ विच्छेद।

४ भगवान् वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तरालकाल मे $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

५ भगवान् विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तरालकाल मे पौन पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद रहा। जैसे कि पल्योपम सम्बन्धिनस्त्रयचतुर्भागास्तीर्थ विच्छेद.।

६ भगवान् अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तरालकाल मे $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

७ धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तरालकाल मे $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

तिलोयपण्णत्ती मे सुविधिनाथ से सात तीर्थों मे धर्म की विच्छित्ति मानी गयी है। इन सात तीर्थों मे क्रम से पाव पल्य, अर्ध पल्य, पौन पल्य, पल्य, पौन पल्य, अर्ध पल्य और पाव पल्य कुल ४ पल्य धर्म तीर्थ का विच्छेद रहा। उस समय धर्म रूप सूर्य अस्त हो गया था।

(तिलोय ४) १२७८।७६।पृ० ३१३

गुणभद्र के उत्तरपुराण के अनुसार उस समय मलय देश के राजा मेघरथ का मत्री सत्यकीर्ति जैन धर्मानुयायी था। राजा द्वारा दान कैसा हो जिज्ञासा करने पर शास्त्रदान, अभयदान और त्यागी मुनियों को अन्नदान की श्रेष्ठता बतलाई। राजा कुछ अन्य दान करना चाहता था उसको मत्री की बात से सतोष नही हुआ। उस समय भूति शर्मा ब्राह्मण के पुत्र मुडशालायन ने कहा महाराज! ये तीन दान तो मुनि या दरिद्र मनुष्य के लिये हैं। बडी इच्छा वाले राजाओ के तो दूसरे उत्तमदान हैं। शापानुग्रह समर्थ ब्राह्मण को पृथ्वी एव सुवर्णादि का दान दीजिये। ऋषि प्रणपीत शास्त्रो मे भी इसकी महिमा बताई है उसने राजा को प्रसन्न कर अपना भक्त बना लिया। मंत्री के बहुत समझाने पर भी राजा को उसकी बात पसद नही आयी। उसने मुडशालायन द्वारा बतलाये कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान इन १० दानो का प्रचार किया।[१] सभव है राज्याश्रित विरोधी प्रचार और दान के प्रलोभनो से नये जैन नही बने हो और प्राचीन लोगो ने शनै-शनै धर्म परिवर्तन कर लिया हो।

[उत्तर० पर्व ७६ पृ० ६६ से ७८। श्लो० ६४ से ६६ तक]

आगामी उत्सर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकर

१	महापद्म	(श्रेणिक का जीव)*
२	सुरदेव	(सुपार्श्व का जीव)*
३	सुपार्श्व	उदायी*
४.	स्वयप्रभ	(पोट्टिल अरणगार)*
५	सर्वानुभूति	(दृढायु)*
६.	देवश्रुति	(कार्तिक)
७	उदय	(शख)*
८	पेढालपुत्र	(नद)
९	पोट्टिल	(सुनन्द)
१०	शतकीर्ति	शतक*
११	मुनिसुव्रत	देवकी
१२	अमम	कृष्ण
१३	सर्वभावित	सात्यकि
१४.	निष्कपाय	वलदेव (कृष्ण के वडे भाई नही)
१५	निष्पुलाक	रोहिणी
१६	निर्मम	सुलसा*
१७	चित्रगुप्त	रेवती*
१८	समाधि	शताली
१९	संवर	भयाली
२०.	अनिवृत्ति	कृष्ण द्वैपायन
२१.	विजय	नारद
२२.	विमल	अम्वड
२३	देवोपपात	दारुमृत
२४.	अनन्त विजय	स्वातिवुद्ध

---

* ताराकित पुण्यात्माओ ने भगवान् महावीर के शासनकाल मे तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया, यथा – "समणस्स भगवउ महावीरस्स तित्थसि नवहिं जीवेहिं तित्थकर-नामगोयकम्मे निवित्तिए तजहा सेणिएण, सुपासेणं, उदाइणा, पुट्टलेण अणगारेण, दढाउणा, सखेणं, सयएण, सुलसाए, सावियाए रेवईए।"

[स्थानाग, ठाणा ९, (अभयदेव सूरि) पत्र ५२०, ५२१]

चक्रवर्तियों के नाम व उनका काल -

१	भरत	(प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय मे)
२	सगर	(द्वि० तीर्थंकर अजितनाथ के समय मे)
३	मघवा	(पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथजी और १६वे तीर्थंकर शान्तिनाथजी के अन्तराल काल मे)
४	सनत्कुमार	,, ,, ,,
५	शान्तिनाथ	(सोलहवें तीर्थंकर)
६.	कुन्थुनाथ	(सत्रहवे तीर्थंकर)
७	अरनाथ	(अठारहवें तीर्थंकर)
८.	सुभूम	(अठारहवे तीर्थंकर व ७वें चक्रवर्ती अरनाथ व १६वें ती० मल्लिनाथ के अन्तराल काल मे)
६	पद्म	(२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय मे)
१०	हरिषेण	(इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय मे)
११	जयसेन	(नमिनाथ और अरिष्टनेमि के अन्तराल काल मे)
१२	ब्रह्मदत्त	(अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के अन्तराल काल मे)

अवसर्पिणीकाल के बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव

वलदेव	वासुदेव	प्रतिवासुदेव	तीर्थंकरकाल
(१) विजय	(१) त्रिपृष्ठ	(१) अश्वग्रीव	भ. श्रेयासनाथ के तीर्थ-काल मे
(२) अचल	(२) द्विपृष्ठ	(२) तारक	भ वासुपूज्य ,, ,, ,,
(३) सुवर्म	(३) स्वयम्भू	(३) मेरक	भ विमलनाथ ,, ,, ,,
(४) सुप्रभ	(४) पुरुषोत्तम	(४) मधुकैटभ	भ अनन्तनाथ ,, ,, ,,
(५) सुदर्शन	(५) पुरुषसिंह	(५) निशुम्भ	भ. धर्मनाथ ,, ,, ,,
(६) नन्दी	(६) पुरुष पुण्डरीक	(६) बलि	भ. अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल काल मे
(७) नन्दिमित्र	(७) दत्त	(७) प्रह्लाद*	,, ,,
(८) राम	(८) नारायण	(८) रावण	भ मुनिसुव्रत और भ नमिनाथ के अन्तराल काल मे
(९) पद्म	(९) कृष्ण	(९) जरासध	भ नेमिनाथ के शासनकाल मे

* तिलोय पण्णत्ती मे प्रह्लाद के स्थान पर प्रहरण नाम उल्लिखित है ।

परिशिष्ट २

तिलोयपण्णत्ती में कुलकर

तिलोयपण्णत्ती मे १४ कुलकरो का वर्णन करते हुए आचार्य ने उस समय के मानवो की अपने-अपने समय मे आई हुई समस्याओ का कुलकरो द्वारा किस प्रकार हल हुआ, इसका वडे विस्तार के साथ सुन्दर ढग से वर्णन किया है। वह सक्षेप मे यहा दिया जा रहा है :—

जव उस समय के मानवो ने सर्वप्रथम आकाश मे चन्द्र और सूर्य को देखा तो किसी आकस्मिक घोर विपत्ति की आशका से वे वडे त्रस्त हुए। तव प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने निर्णय करते हुए लोगो को कहा कि अनादिकाल से ये चन्द्र और सूर्य नित्य उगते एवं अस्त होते हैं पर इतने दिन तेजाग जाति के प्रकाशपूर्ण कल्पवृक्षो के कारण दिखाई नही देते थे। अव उन कल्पवृक्षो का प्रकाश कालक्रम से मन्द पड गया है अत ये प्रकट दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी ओर से किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नही है।

प्रथम मनु प्रतिश्रुति के देहावसान के कुछ काल पश्चात् सन्मति नामक द्वितीय मनु उत्पन्न हुए। उनके समय मे 'तेजाग' जाति के कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो गये। अत सूर्यास्त के पश्चात् अदृष्टपूर्व अन्धकार और चमचमाते तारामण्डल को देखकर लोग वडे दु खित हुए। 'सन्मति' कुलकर ने भी लोगो को निर्भय करते हुए उन्हे यह समझाकर आश्वस्त किया कि प्रकाश फैलाने वाले कल्पवृक्षो के सर्वथा नष्ट हो चुकने से सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार हो जाता है और तारामण्डल जो पहले उन वृक्षो के प्रकाश के कारण दृष्टिगोचर नही होता था, अव दिखने लगा है। वास्तविक तथ्य यह है कि सूर्य, चन्द्र और तारे अपने मण्डल में मेरु पर्वत की नित्य ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इसमे भय करने की कोई वात नही है।

कालान्तर मे तृतीय कुलकर 'क्षेमकर' के समय मे व्याघ्रादि पशु समय के प्रभाव से क्रूर स्वभाव के होने लगे तो लोग वडे त्रस्त हुए। 'क्षेमकर' ने उन लोगो को व्याघ्रादि पशुओ का विश्वास न करने की और समूह वनाकर निर्भय रहने की सलाह दी।

इसी तरह चौथे कुलकर 'क्षेमधर' ने अपने समय के लोगो को सिंहादि हिंसक जानवरो से वचने के लिये दण्डादि रखकर वचाव करने की शिक्षा दी।

पाचवें कुलकर 'सीमकर' के समय मे कल्पवृक्ष अल्प मात्रा मे फल देने लगे। अत स्वामित्व के प्रश्न को लेकर उन लोगो मे परस्पर झगडे होने लगे तो 'सीमकर' ने सीमा आदि की समुचित व्यवस्था कर उन लोगो को सघर्ष से वचाया।

इन पाचो कुलकरो ने भोग-युग के समाप्त होने और कर्म-युग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव-समुदाय को आने वाले कर्म-युग के अनुकूल जीवन वनाने की शिक्षा दी। अपराधियो के लिये ये 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे।

छट्ठे कुलकर 'सीमधर' ने अपने समय के कल्पवृक्षो के स्वामित्व के प्रश्न को लेकर लोगो मे परस्पर होने वाले झगडो को शान्त कर वृक्षो को चिह्नित कर सीमाए नियत कर दी।

'विमल वाहन' नामक सातवें कुलकर अथवा मनु ने लोगो के गमनागमन आदि की समस्याओ का समाधान करने हेतु उन्हे हाथी आदि पशुओ को पालतू वनाकर उन पर सवारी करने की शिक्षा दी।

आठवे मनु 'चक्षुष्मान' के समय मे भोगभूमिज युगल अपनी बाल-युगल सतान को देखकर बड़े भयभीत होते । चक्षुष्मान उन्हे समझाते कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्रोपम मुखो को देखो । मनु के इस उपदेश से वे स्पष्ट रूप मे अपने बाल-युगल को देखते और बच्चो का मुह देखते ही मृत्यु को प्राप्त हो विलीन हो जाते ।

नवम मनु 'यशस्वी' ने युगलो को अपनी सन्तान के नामकरण महोत्सव करने की शिक्षा दी । उस समय के युगल अपनी युगल-सतति का नामकरण-सस्कार कर थोड़े समय बाद कालकर विलीन हो जाते थे ।

दशम कुलकर 'अभिचन्द' ने कुलो की व्यवस्था करने के साथ-साथ बालको के रुदन को रोकने, उन्हे खिलाने, बोलना सिखाने, पालन-पोषण करने आदि की युगलियो को शिक्षा दी । ये युगल थोडे दिन बच्चो का पोषण कर मृत्यु को प्राप्त करते ।

छट्ठे से दशवे ५ कुलकर 'हा' और 'मा' दोनो दण्ड-नीतियो का उपयोग करते थे ।

ग्यारहवें 'चन्द्राभ' नामक मनु के समय मे अति शीत, तुषार और तीव्र वायु से दुखित हो भोग-भूमिज मनुष्य तुषार से आच्छन्न चन्द्रादिक ज्योतिष समूह को भी नही देख पाने के कारण भयभीत हो गये । मनु 'चन्द्राभ' ने उन्हे समझाया कि अब भोग-युग की समाप्ति होने पर कर्म-युग निकट आ रहा है । यह शीत और तुषार सूर्य की किरणो से नष्ट होगे ।

बारहवे कुलकर 'मरुदेव' के समय मे बादल गडगडाहट और बिजली की चमक के साथ बरसने लगे । कीचडयुक्त जल-प्रवाह वाली नदिया प्रवाहित होने लगीं । उस समय का मानव-समाज यह सत्य और अभूतपूर्व घटनाए देखकर बडा भय-भ्रान्त हुआ । 'मरुदेव' ने उन लोगो को काल-विभाग के सम्बन्ध मे समझाते हुए कहा कि अब कर्म-भूमि (कर्मक्षेत्र) तुम्हारे सन्निकट आ चुकी है । अत निडर होकर कर्म करो । 'मरुदेव' ने नावो मे नदिया पार करने, पहाडो पर सीढिया बनाकर चढने एव वर्षा आदि से बचने के लिये छाता आदि रखने की शिक्षा दी ।

तेरहवे मनु 'प्रसेनजित' के समय मे जरायु से वेष्टित युगल बालको के जन्म से उस समय के मानव बडे भयभीत हुए । 'प्रसेनजित' ने जरायु हटाने और बालको का समुचित रूप से पालन करने की उन लोगो को शिक्षा दी ।

चौदहवें मनु 'नाभिराय' के समय मे बालको का नाभि नाल बहुत लम्बा होता था । उन्होंने लोगो को उसके काटने की शिक्षा दी । इनके समय मे कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और सहज ही उत्पन्न विविध औषधियाँ, धान्यादिक और मीठे फल दृष्टिगोचर होने लगे । नाभिराय ने भूखे भयाकुल लोगो को स्वत उत्पन्न शालि, जौ, वल्ल, तुवर, तिल और उडद आदि के भक्षण से क्षुधा की ज्वाला शान्त करने की शिक्षा दी ।

[तिलोयपण्णत्ती, महाधिकार ४, गा० ४२१–५०६, पृ० १९७–२०६]

पंचम आरक (दिगम्बर मान्यता)

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार एक-एक हजार वर्ष से एक-एक कल्की और पाच-पाच सौ वर्षों से एक-एक उपकल्की होता है। कल्की अपने-अपने शासनकाल मे मुनियो से भी अग्रपिंड मागते हैं। मुनिगण उस काल के कल्की को समझाने का पूरा प्रयास करते हैं कि अग्रपिंड देना उनके श्रमण-आचार के विपरीत और उनके लिये अकल्पनीय है पर अन्ततोगत्वा कल्कियो के दुराग्रह के कारण उस समय के मुनि अग्रपिंड दे निराहार रह जाते हैं। उन मुनियो मे से किसी एक मुनि को अवधिज्ञान हो जाता है। कल्की भी क्रमश समय-समय पर असुर द्वारा मार दिए जाते हैं। प्रत्येक कल्की के समय मे चातुर्वर्ण्य सघ भी वडी स्वल्प सख्या मे रह जाता है।

इस प्रकार धर्म, आयु, शारीरिक अवगाहना आदि की हीनता के साथ-साथ पचम आरे की समाप्ति से कुछ पूर्व इक्कीसवा कल्की होगा। उसके समय मे वीरागज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, अग्निदत्त (अग्निल) श्रावक और पगुश्री श्राविका होंगे। कल्की अनेक जनपदो पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपने मत्री से पूछेगा – "क्या मेरे राज्य मे ऐसा भी कोई व्यक्ति है जो मेरे वश मे नही है?" उत्तर मे मत्री कहेगा – "राजराजेश्वर! केवल एक मुनि आपके वश मे नही है।"

कल्की यह सुनते ही तत्काल अपने अधिकारियो को मुनि से अग्रपिण्ड लेने का आदेश देगा। वीरागज मुनि राज्याधिकारियो को अग्रपिण्ड देकर स्थानक की ओर लौट पड़ेंगे। उन्हे उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो जायगा और वे अग्निल श्रावक, पगुश्री श्राविका और सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर कहेगे – "अव दुष्षमकाल का अन्त आ चुका है। तुम्हारी और मेरी अव केवल तीन दिन की आयु शेष है। इस समय जो यह राजा है, यह अन्तिम कल्की है। अत प्रसन्नतापूर्वक हमे चतुर्विध आहार और परिग्रह आदि का त्याग कर आजीवन सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।"

वे चारो तत्काल आहार, परिग्रह आदि का त्याग कर सन्यास सहित कार्तिक कृष्णा अमावस्या को स्वाति नक्षत्र मे समाधि-मरण को प्राप्त होंगे और सौधर्म कल्प मे देवरूप से उत्पन्न होंगे। उसी दिन मध्याह्न मे कुपित हुए असुर द्वारा कल्की मार दिया जायगा और सूर्यास्तवेला मे भरत क्षेत्र से उसकी सत्ता विलुप्त हो जायगी। कल्की नरक मे उत्पन्न होगा। उस दिवस के ठीक तीन वर्ष और साडे आठ मास पश्चात् महाविषम दुष्षमादुष्षम नामक छठा आरक प्रारम्भ होगा।

[तिलोयपण्णत्ती, ४।१५१६–१५३५]

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दार्थानुक्रमणिका

अंग — तीर्थंकरो से अर्थ (वाणी) सुनकर गणधरो द्वारा ग्रथित सूत्र ।

अकल्पनीय — सदोष अग्राह्य वस्तु ।

अघाती-कर्म — आत्मिक गुणो की हानि नही करने वाले आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय नामक चार कर्म ।

अतिशय — सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट गुण ।

अन्तराय-कर्म — लाभ आदि मे बाधा पहुचाने वाला कर्म ।

अनुत्तरोपपातिक — अनुत्तर-विमान मे जाने वाले जीव ।

अपूर्वकरण गुणस्थान — आठवे गुणस्थान मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और गुणसक्रमण आदि अपूर्व क्रियाए होती हैं । अत उसे अपूर्वकरण कहते हैं ।

अभिग्रह — गुप्त प्रतिज्ञा ।

अवग्रह — पाच इन्द्रियो एव मन से ग्रहण किया जाने वाला मति ज्ञान का एक भेद ।

अवसर्पिणीकाल — कालचक्र का दस कोटाकोटि सागर की स्थिति वाला वह अर्द्धभाग, जिसमे पुद्गलो के वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श एव प्राणियो की आयु, अवगाहना, सहनन, सस्थान, वल-वीर्य आदि का क्रमिक अपकर्ष होता है ।

अयोगी-भाव — योगरहित चौदहवें गुणस्थान मे होने वाली आत्मपरिणति ।

आचाम्लव्रत — वह तपस्या जिसमे रूखा भोजन दिन मे एक वार अचित जल के साथ ग्रहण किया जाता है ।

आरा-अथवा-आरक — अवसर्पिणी एव उत्सर्पिणी के छ-छ काल-विभाग ।

उत्सर्पिणी-काल — अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणीकाल के प्रतिलोम (उल्टे) क्रम से उत्कर्षोन्मुख दस कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला काल ।

उपांग — द्वादशागी मे वर्णित विपय को स्पष्ट करने हेतु श्रुतकेवली अथवा पूर्वधर आचार्यो द्वारा रचित आगम ।

कल्पवृक्ष — भोग-युग के मानव को सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री देने वाले वृक्ष ।

क्षपक श्रेणी — क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मोह-कर्म की प्रकृतियो को क्रमिक क्षय करने की पद्धति ।

कालचक्र — दस कोडाकोडी सागर के एक अवसर्पिणीकाल और दस कोडाकोडी सागर के एक उत्सर्पिणीकाल को मिलाने पर बीस कोड़ाकोडी सागर का एक कालचक्र कहलाता है ।

कुलकर — कुल की व्यवस्था करने वाला विशिष्ट पुरुष ।

केवलज्ञान — ज्ञानावरणीय कर्म को पूर्णरूपेण क्षय करने पर बिना मन और इन्द्रियो की सहायता के केवल आत्मसाक्षात्कार से सम्पूर्ण ससार के समस्त पदार्थों की तीनों काल की सभी पर्यायो को हस्तामलक के समान युगपद् जानने वाला सर्वोत्कृष्ट पूर्णज्ञान ।

गच्छ — एक आचार्य का श्रमण परिवार ।

गाथापति — एक अत्यन्त वैभवशाली सम्पन्न परिवार का गृहस्वामी ।

घाती-कर्म — आत्मिक गुणो की हानि करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म ।

च्यवन — देव-गति की आयु पूर्ण कर प्राणी का अन्य गति मे जाना ।

छद्मस्थ — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार छद्म (घाती) कर्मो के आवरणो से आच्छादित आत्मा ।

जातिस्मरण-ज्ञान — मति-ज्ञान का वह भेद, जिसके द्वारा प्राणी को अपने एक से लेकर नौ पूर्व-भवो का ज्ञान हो जाता है ।
— एक मान्यता यह भी है कि जातिस्मरण ज्ञान से प्राणी को अपने ९०० पूर्व भवो तक का स्मरण हो सकता है ।

जिन — राग-द्वेष पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने वाली आत्मा ।

देवानुप्रिय — देवो का प्रिय । एक स्नेह पूर्ण सम्बोधन ।

द्वादशांगी — गणधरो द्वारा ग्रथित बारह अग शास्त्र ।

निकाचित-कर्म — प्रगाढ चिक्कण कर्म-बन्ध, जिसका फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पडता है ।

परिणामी-नित्य — विविध अवस्थाओ मे परिणमन (परिवर्तन) करते हुए भी मूल द्रव्य रूप से विद्यमान रहना ।

परिषह-परीषह — क्षुधा आदि कष्ट जो साधुओ द्वारा सहन किये जायें ।

पल्योपम — एक योजन (४ कोस) लम्बे, चौडे और गहरे कुए को एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले उत्तरकुरु के यौगलिक शिशुओ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म केश-खण्डो से (प्रत्येक केश के असख्यात

खण्ड कर) इस प्रकार कूट-कूट कर ठसाठस भर दिया जाय कि यदि उस पर से चक्रवर्ती की पूरी सेना निकल जाय तो भी वह अंश मात्र लचक न पाये, न उस मे जल प्रवेश कर सके और न अग्नि ही जला सके। उसमे से एक-एक केश-खण्ड को सौ-सौ वर्षो के अन्तर से निकालने पर जितने समय मे वह कूआ केश-खण्डो से पूर्णरूपेण रिक्त हो, उतने असख्यात वर्षो का एक पल्योपम होता है।

पूर्व – सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड वर्ष का एक पूर्व।

पौषध – एक दिन व एक रात तक के लिये चारो प्रकार के आहार व अशुभ-प्रवृत्तियो का त्याग धारण करना।

पौषध-शाला – वह स्थान जहां पर पौषध आदि धर्म-क्रिया की जाय।

प्रतिक्रमण – अशुभ योगो को त्याग कर शुभ योगो में जाना।

माण्डलिक-राजा – एक मण्डल का अधिपति।

युग – कृत या सत्ययुग १७,२८,००० वर्ष
– त्रेतायुग १२,९६,००० वर्ष
– द्वापरयुग ८,६४,००० वर्ष
– कलियुग ४,३२,००० वर्ष

कुल ४३,२०,००० वर्ष

ऐसा माना जाता है कि युगो की उत्तरोत्तर घटती हुई अवधि के अनुसार शारीरिक और नैतिक शक्ति भी मनुष्यो मे बराबर गिरती गई है, सम्भवतः इसीलिये कृतयुग को स्वर्णयुग और कलियुग को लोहयुग कहते है।

[सस्कृत-हिन्दी कोष वामन शिवराम आप्टे कृत, पेज ८३६, सन् १९६६, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित]

[सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी, पेज ८५४, एम मोन्योर विलियम कृत, १९७० एडीशन]

[युगचतुष्टय सम्बन्धी विस्तृत विवेचन 'शब्द कल्पद्रुम', चतुर्थ काण्ड, पृष्ठ ४३–४४ पर भी देखें]

रजोहरण – भूमि आदि के प्रमार्जन हेतु काम मे आने वाला जैन श्रमणो का एक उपकरण-विशेष।

लोकान्तिक – ब्रह्म नाम के पाचवें देवलोक के छ प्रतरो (मजिलो) मे से तीसरे अरिष्ट नामक प्रतर के पास दक्षिण दिशा मे स्थित त्रसनाड़ी के अन्दर आठो दिशा-विदिशाओ की आठ-कृष्ण, राजियो मे तथा मध्यभाग मे स्थित (१) अर्चि (२) अर्चिमाल, (३) वैरोचन,

(४) प्रभकर, (५) चन्द्राभ, (६) सूर्याभ, (७) शुक्राभ, (८) सुप्रतिष्ठ और (९) रिष्टाभ नामक नौ लोकान्तिक विमानो मे रहने वाले देवो मे से मुख्य ९ देव जो शाश्वत परम्परा के अनुसार तीर्थंकरो द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से एक वर्ष पूर्व उनसे दीक्षा ग्रहण करने एव ससार का कल्याण करने की प्रार्थना करने के लिये उनके पास आते है। ये देव एक भवावतारी होने के कारण लोकान्तिक और विषय-वासना से प्राय विमुक्त होने के कारण देवर्षि भी कहलाते हैं।

वर्षीदान – दीक्षा-ग्रहण से पूर्व प्रतिदिन एक वर्ष तक तीर्थंकरो द्वारा दिया जाने वाला दान।

विद्याधर – विशिष्ट प्रकार की विद्याओ से युक्त मानव जाति का व्यक्ति-विशेष।

शुक्लध्यान – राग-द्वेष की अत्यन्त मन्द स्थिति मे होने वाला चतुर्थ ध्यान।

शैलेशी अवस्था – चौदहवे गुणस्थान मे मन, वचन एव काय-योग का निरोध होने पर शैलेन्द्र-मेरु-पर्वत के समान निष्कम्प-निश्चल ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई स्थिति।

सम्यक्त्व – सम्यक्रूपेण यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान।

स्थविर – दीक्षा, आयु एव ज्ञान की दृष्टि से स्थिरता-प्राप्त व्यक्ति। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं – (१) प्रव्रज्यास्थविर, जिनका २० वर्ष का दीक्षाकाल हो, (२) वय-स्थविर, जिनकी आयु ६० वर्ष या इससे अधिक हो गई हो तथा (३) श्रुत-स्थविर, जिन साधुओ ने स्थानाग, समवायाग आदि शास्त्रो का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

सागर–सागरोपम – दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर या सागरोपम कहलाता है।

शब्दानुक्रमणिका

[क] तीर्थंकर, आचार्य, मुनि, राजा, श्रावकादि

(ख)

(ग)

(ह)

[ख] ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

(अ)

(आ)

(इ)

(ई)

(उ)

(ऋ)

(ओ)

(क)

(ह)

[ग] सूत्र, ग्रथादि

(अ)

(आ)

(प)

(ब)

(भ)

(म)

[घ] मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
अंतगड़ दशा	१ अमोलक ऋषिजी महाराज २. आ० हस्तीमलजी महाराज
अग्निपुराण	व्यास
अणुत्तरोववाइय	श्री घासीलाल जी महाराज
अभिधान चिन्तामणि	आ० हेमचन्द्र
अभिधान राजेन्द्र कोष–भाग १–७	राजेन्द्र सूरि
अमरकोष	अमरसिंह
अरिहन्त अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण	श्रीचन्द रामपुरिया
अशोक के धर्म लेख	जनार्दन भट्ट
आगम और त्रिपिटक–एक अनुशीलन	मुनि श्री नगराजजी
आचारागसूत्र टीका	
आचारांग सूत्र, भाग १ व २	सम्पा पुप्फ भिक्खु
आचाराग सूत्र टीका	
आदिपुराण	आचार्य जिनसेन
आप्टे की सस्कृत इग्लिश डिक्शनरी	
आर्य मजूश्री	
आवश्यक-चूर्णि दोनो भाग	आचार्य जिनदास गणि
आवश्यक-निर्युक्ति	मलयगिरि
आवश्यक-निर्युक्तिदीपिका	माणिक्य शेखर
आवश्यक मलयवृत्ति, भाग १–३	मलयगिरि
आवश्यक हारिभद्रीय	
इण्डियन एण्टीक्वेरी, वोल्यूम ६	
इण्डियन फिलोसोफी, वोल्यूम १	डॉ० राधाकृष्णन्
ईशान सहिता	
उत्तर पुराण	आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
उत्तराध्ययन सूत्र	स० घासीलाल जी महाराज
उपासकदशा (टीका)	आ० अभयदेव सूरि
उववाई (टीका)	,, ,, ,,
ऋग्वेद	
ऋग्वेद-सहिता	
ऋषभदेव—एक अनुशीलन	देवेन्द्र मुनि शास्त्री

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
एकविंशतिस्थान प्रकरण	
एन एड्वान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया	आर. सी मजूमदार, एच सी. राय चौधरी और के के दत्ता
एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स	डॉ हार्नले
एन्शियेन्ट जोग्राफी ऑफ इण्डिया	
एपिटोम ऑफ जैनिज्म, एपेंडिक्स ए पी ४	
औपपातिक सूत्र	आ० घासीलालजी
कम्पेरेटिव स्टडीज दी परिनिव्वान सुत्त एण्ड इट्स चाइनीज वर्शन	Faiub
कल्प-समर्थन	
कल्पसूत्र–अंग्रेजी अनुवाद	
कल्पसूत्र (गुजराती)	मुनि श्री पुण्य विजयजी
कल्पसूत्र, हिन्दी अ०	श्री देवेन्द्र मुनि
कल्पसूत्र किरणावली	
कल्पसूत्र सुबोधा	
कल्पसूत्र (बंगला)	वसत कुमार
कालमाधवीय नागर खण्ड	
कूर्मपुराण	
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १	
गौतम धर्मसूत्र	
चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम	डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी
चउप्पन्न महापुरिस चरिय	आचार्य शीलांक
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	आ० अमोलक ऋषिजी
जर्नल ऑफ बिहार-एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी	
ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र	श्री घासीलालजी महाराज
जातक अट्ठकहा	
जैन-दर्शन	महेन्द्र कुमार
जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास	कामता प्रसाद
जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास	प० हीरालाल
जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १ व २	त्रिपुटी महाराज
जैन सूत्र (एस बी ई), भाग १	
तित्थोगालीपइन्नय	
तिलोय-पण्णत्ती, भाग १ व २	आचार्य यतिवृषभ
त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पर्व १–१०	आ० हेमचन्द्र
तीर्थंकर महावीर, भाग १ व २	विजयेन्द्र सूरि

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
तीर्थंकर वर्धमान	श्रीचन्द रामपुरिया
दर्शन दिग्दर्शन	
दर्शनसार	देवसेनाचार्य
दशवैकालिक अगस्त्य चूर्णि	
दशभक्ति	आचार्य पूज्यपाद
दी फिलोसफी ऑफ इण्डिया	
धम्मपद अट्ठकहा	आचार्य बुद्धघोष
धर्मरत्न प्रकाश	
नन्दीश्वर भक्ति	
नारद पुराण	
निरयावलिका	
निशीथसूत्र चूर्णि	
पउम-चरियं	मुनि पुण्य विजयजी
परिशिष्ट पर्व	आ हेमचन्द्र
प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, पूर्व और उत्तर भाग	सिद्धसेन सूरि
प्रश्न व्याकरण	
प्राकृत साहित्य का इतिहास	
पाणिनिकालीन भारत	वासुदेवशरण अग्रवाल
पातंजल महाभाष्य	
पार्श्वनाथ	श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म	धर्मानन्द कौशाम्बी
पार्श्वनाथ चरित्र	सकलकीर्ति
पार्श्वनाथ चरित्र	अभय देव सूरि
पासनाह चरिय	पद्मकीर्ति
पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियेण्ट इण्डिया	एच सी राय चौधरी
ब्रह्माण्ड पुराण	
बालकाण्ड (वाल्मीकीय रामायण)	
बिलोंग्स ऑफ बुद्धा, भाग २	
भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, भाग १ व २	मुनि श्री ज्ञान सुन्दरजी
भगवती सूत्र, हिन्दी अ०	आगमोदय समिति
भगवती सूत्र अभयदेवीया वृत्ति	
भगवान् महावीर	मुनि कल्याण विजयजी
भगवान् महावीर (अंग्रेजी मे) १२ जिल्दें	रत्नप्रभ विजयजी
भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध	कामता प्रसाद जैन
भरतेश्वरबाहुबली-वृत्ति	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
भागवत श्रीमद्	व्यास
भारत का वृहत् इतिहास	नेम पाण्डे
भारतीय इतिहास—एक दृष्टि	
भारतीय प्राचीन लिपिमाला	रायबहादुर पं० गौरिशंकर हीराचन्द ओझा
भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान	
भाव संग्रह	
मज्झिम निकाय	
मनुस्मृति	
महापुराण	आचार्य जिनसेन
महाभारत, १से १८ पर्व	व्यास
महावीर कथा	प० गोपाल दास
महावीर चरित्र	आ० नेमिचन्द्र
महावीर चरियं	आ० गुणभद्र
महावीर नो संयम धर्म	
मूलाचर	
मोन्योर मोन्योर संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी	सर एम मोन्योर
यजुर्वेद	दामोदर सातवलेकर संस्करण
योगसूत्र	पतंजलि
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	
रायपसेणी	
लिंगपुराण	
लोक-प्रकाश	
वशिष्ठ स्मृति	
वसुदेव हिण्डी,प्रथम खण्ड	संघदास गणि
वसुदेव हिण्डी, द्वितीय खण्ड	,,
वृहत्कल्प भाष्य	
वाजसनेयि माध्यदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता	
वायुपुराण	
वाराहपुराण	
विचार-श्रेणी	
[illegible]ाकसूत्र	
[illegible]विध तीर्थकल्प	
विशेषावश्यक भाष्य	हेमचन्द्र सूरि
विशेषावश्यक वृहद् वृत्ति	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
विष्णु-पुराण	व्यास
वीर विहार मीमांसा	
वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना	मुनि कल्याण विजयजी
वैजयन्ती कोष	
शब्दरत्न समन्वय कोष	
शिवपुराण	
षट् खण्डागम	
सत्तरिसय प्रकरण	सोमतिलक सूरि
समवायागसूत्र	प० घासीलाल जी द्वारा सपादित
समवायाग वृत्ति	
स्कन्ध-पुराण	
स्थानांगसूत्र	अमोलक ऋषिजी
स्थानागसूत्र-टीका	
साइनो इण्डियन स्टडीज, वोल्यूम १ जुलाई, १९४५	
सुत्तनिपात	
सुत्तागमे	धर्मोपदेष्टा फूलचन्जी म०
सुमंगल विलासिनी (दीर्घकाय अट्ठकहा)	
सूत्र कृताग	
सेक्रेड वुक्स ऑफ दी ईस्ट	
हरिवंशपुराण	आचार्य जिनसेन
हरिवश पुराण	व्यास
हिस्टोरिकल विगिनिंग्स ऑफ जैनिज्म	
हिस्ट्री एण्ड डोक्टराइन्स ऑफ आजीवकाज	ए एल वाशम

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	स्कम्भ	तीर्थंकर पद प्राप्ति	कुलकर : तुलनात्मक विश्लेषण
८	६ नीचे से	महाविकारी	महाविकार
१३	६	वक्रवर्ती	चक्रवर्ती
१६	५	से जन्म	जन्म से
२३	१४	चक्क	चक्क
३१	टि० १	षण्मासानशन	षण्मासानशन
३१	,, ,,	योगैकाग्रय	योगैकाग्र्य
३८	२०	अतिशत	अतिशय
४७	स्कम्भ	ब्राह्मी और सुन्दरी	परिव्राजक मत का प्रारम्भ
५६	२	ज्ञाता थे ।[1]	ज्ञाता थे ।[1] उनकी ४० हजार श्रमणिया मुक्त हुईं ।
११५	१२	स्वय	स्वय ने
१८१	टि० १ प० ३	महाम्वोधे	महाम्भोधे
२६४	२६	ज्ञानाभाव से विरक्त	ज्ञानभाव से विरक्त
३०४	१०	सवरवार	सवरद्वार
३३६	२५	ततस्तस्नयसिति	ततस्त्र्यशीति
३६३	टिप्पण ३	पाललणए	पारणय
३६५	१	थधु-वोर	मधु-वोर
३७१	२६	आर्कपिक	आर्कपित
३७८	३	कूपनाथ	कूपनय
३८१	२१	शुभ भूमि	शुभ्र भूमि
३९८	४	निर्यंच	निर्यञ्च
४०५	टि० ३	आसहेत्ता	आराहेत्ता
४११	२७	सुमरिया	सुमरुया
४१२	१८	अगमन	आगमन
४३७	१४	सयामिका	कायिका
४४३	३	६,ठ्ठा	छट्ठ
४४५	१४	तीन	दो
४५०	३	मैं	मे
४५[illegible]	२	मिथ्ना	मिथ्या
४[illegible]८	३१	मणवेगा	मणणिअ
[illegible]८७	टि० १	पच्छिस्स	पच्छिमस्स

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०३	१६	द्दष्टव्य	द्रष्टव्य
५०७	२	कश्यप	काश्यप
५१०	८	अभिहृत	अभिहृत
५१०	१२	पसतं	पन्नसत
५१२	१५	कायावादी	आयावादी
५१२	टि० १	भवत्तव्व	भन्तव्व
५१२	,,	जइ	जह
५१५	२१	धर्मावलो	धर्मावलम्वी
५१८	१२	भगवो	भगवओ
५१८	२४	खड्ग	खड्ग आदि
५२०	१७	अगका	आशका
५२२	६	उपोशित	उपोपित
५२२	१८	स्वावर्मी	स्वधर्मी
५३०	३२	केशिकुमार	भानजे केशिकुमार
५३०	३३	भानजे महावीर	महावीर
५३२	२४	इनना	इतना